ॐ

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार सिद्धि

भाग-८

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
उन्नीसवीं बार के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन
(गाथा २३७ से २८७ तथा कलश १६३ से १७९)
प्रवचन क्रमांक ३१३ से ३५६

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग-सर्वज्ञ परम देवादिदेव श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यदेशना का अपूर्व संचय करके भरतक्षेत्र में लानेवाले, सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञान साम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकालसर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केलि करनेवाले, चलते-फिरते सिद्ध - ऐसे आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव हुए, जो संवत् 49 में सदेह महाविदेहक्षेत्र में गये और आठ दिन वहाँ रहे थे। महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्म चर्चाओं का अमूल्य भण्डार लेकर भरतक्षेत्र में पधारकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें से एक श्री समयसारजी, द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अध्यात्म के प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहन रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञानहृदय को खोलनेवाले श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सिद्धपद-साधक मुनिसम्पदा को आत्मसात करके, निजस्वरूप के अलौकिक अनुभव से, सिद्धान्त शिरोमणि शास्त्र समयसार की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। उन्होंने श्रीसमयसारजी में निहित सूक्ष्म और गम्भीर रहस्य को, अपूर्व शैली से आत्मख्याति नामक टीका बनाकर, स्पष्ट किया है; साथ ही 278 मंगल कलश तथा परिशिष्ट की रचना भी की है।

इस शास्त्र का भावार्थ जयपुर निवासी सूक्ष्म ज्ञानोपयोगी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्राय: लुप्त हो गया था, सर्वत्र मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था, जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त का अभ्यास छूट गया था, परमागम विद्यमान होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था - ऐसे विषम काल में जैनशासन के गगन

मण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मदृष्टा, आत्मज्ञ सन्त, अध्यात्म युगपुरुष, निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावी तीर्थाधिनाथ परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का उदय हुआ। जिन्होंने इन आचार्यों के ज्ञानहृदय में संचित गूढ़ रहस्यों को अपने ज्ञान-वैभव द्वारा रसपान करके आचार्यों की महा सूक्ष्म गाथाओं में विद्यमान अर्थ गाम्भीर्य को स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा सरल सुगम भाषा में चरम सीमा तक मूर्तिवन्त किया।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिए एक तेजस्वी अध्यात्म दीपक का स्वर्णमय उदय हुआ, जिसने अपनी दिव्यामृत चैतन्य रसीली वाणी द्वारा अध्यात्म सिन्धु के अस्खलित सातिशय शुद्ध प्रवाह को आगे बढ़ाया। आपश्री जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को अति स्पष्टरूप से, अति दृढ़तापूर्वक भवताप विनाशक और परम शान्ति प्रदायक प्रवचन गंगा द्वारा फैलाते रहे; विरोधियों के विरोध का भी, जंगल में विचरते केशरी सिंह की तरह, अध्यात्म के केशरी सिंह बनकर निडररूप से, तथापि निष्कारण करुणावन्त भाव से झेलते रहे। विरोधियों को भी 'भगवान आत्मा' है - ऐसी दृष्टि से देखकर जगत् के जीवों के समक्ष अध्यात्म के सूक्ष्म न्यायों को प्रकाशित करते रहे।

श्री समयसारजी शास्त्र, पूज्य गुरुदेवश्री के कर-कमल में विक्रम संवत् 1978 के फाल्गुन माह में आया था। इस समयसारजी शास्त्र के हाथ में आते ही कुशल झवेरी की पारखी नजर समयसार के सूक्ष्म भावों पर पड़ी और सहज ही अन्तर की गहराई में से भावनाशील कोमल हृदय बोल उठा - 'अरे! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' अनादि का अप्रतिबुद्ध जीव प्रतिबुद्ध कैसे हो? - उसका सम्पूर्ण रहस्य और शुद्धात्मा का सम्पूर्ण वैभव इस परमागम में भरा है।

इस शास्त्र का रहस्य वास्तव में तो अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हाथ में यह शास्त्र आने के पश्चात् ही चरम सीमा से प्रकाशित और प्रदर्शित हुआ है। पैंतालीस वर्ष तक स्वर्णपुरी / सोनगढ़ में अध्यात्म की मूसलधार वर्षा हुई है जो सर्व विदित है। पूज्य गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1978 से 1991 - इस तरह तेरह वर्षों तक गूढ़ मन्थन करके जिनवाणी का सम्पूर्ण निचोड़ इस शास्त्र में से ढूँढ़ निकाला और फरमाया है कि —

- समयसार तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट / सर्वोच्च आगमों का भी आगम है।
- समयसार तो सिद्धान्त शिरोमणि, अद्वितीय अजोड़ चक्षु और अन्धे की आँख है।
- समयसार तो संसार विष-वृक्ष को छेदने का अमोघ शस्त्र है।
- समयसार तो कुन्दकुन्दाचार्य से कोई ऐसा शास्त्र बन गया; जगत् का भाग्य कि ऐसी चीज भरतक्षेत्र में रह गयी। धन्य काल!

- समयसार की प्रत्येक गाथा और आत्मख्याति टीका ने आत्मा को अन्दर से डुला दिया है। समयसार की आत्मख्याति जैसी टीका दिगम्बर में भी दूसरी किसी शास्त्र में नहीं है। इसके एक-एक पद में इतनी गम्भीरता (कि) खोलते-खोलते पार न आये - ऐसी बात अन्दर है।
- समयसार तो सत्य का उद्घाटक है! भारत का महारत्न है!! समयसार.... जिसके थोड़े शब्दों में भावों की अद्भुत और अगाध गम्भीरता भरी है!
- समयसार तो भरतक्षेत्र का प्रवचन का सर्वोत्कृष्ट बादशाह है, यह सार शास्त्र कहलाता है।
- समयसार तो जगत् का भाग्य.... समयसाररूपी भेंट जगत् को दिया, स्वीकार नाथ! अब स्वीकार! भेंट भी दे वह भी नहीं स्वीकारे?
- समयसार तो वैराग्य प्रेरक परमात्मस्वरूप को बतलानेवाली वीतरागी वीणा है।
- समयसार में तो अमृतचन्द्राचार्य ने अकेला अमृत बहाया है, अमृत बरसाया है।
- समयसार एक बार सुनकर ऐसा नहीं मान लेना कि हमने सुना है, ऐसा नहीं बापू! यह तो प्र... वचनसार है अर्थात् आत्मसार है, बारम्बार सुनना।
- समयसार भरतक्षेत्र की अन्तिम में अन्तिम और उत्कृष्टतम सत् को प्रसिद्ध करनेवाली चीज है। भरतक्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञान सूर्य है। समयसार ने केवली का विरह भुलाया है।
- समयसार की मूलभूत एक-एक गाथा में गजब गम्भीरता! पार न पड़े ऐसी चीज है। एक-एक गाथा में हीरा-मोती जड़े हैं।
- समयसार में तो सिद्ध की भनकार सुनायी देती है। यह तो शाश्वत् अस्तित्व की दृष्टि करानेवाला परम हितार्थ शास्त्र है। समयसार तो साक्षात् परमात्मा की दिव्यध्वनि / तीन लोक के नाथ की यह दिव्यध्वनि है।

ऐसे अपूर्व समयसार में से पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने निज समयसाररूपी शुद्धात्मा का अनुभव करके फरमाया कि आत्मा आनन्द का पर्वत है; ज्ञायक तो मीठा समुद्र / आनन्द का गंज और सुख का समुद्र है। न्यायों का न्यायाधीश है, धर्म का धोध ऐसा धर्मी है, ध्रुव प्रवाह है, ज्ञान की धारा है, तीन लोक का नाथ चैतन्यवृक्ष-अमृत फल है, वास्तविक वस्तु है। सदा विकल्प से विराम ही ऐसी निर्विकल्प जिसकी महिमा है - ऐसा ध्रुवधाम ध्रुव की धखती धगश है। भगवान आत्मा चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष और कामधेनु है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय और स्वभाव का सागर है।

सनातन दिगम्बर मुनियों ने परमात्मा की वाणी का प्रवाह जीवन्त रखा है। जैनधर्म सम्प्रदाय-बाड़ा-गच्छ नहीं; अपितु वस्तु के स्वरूप को जैनधर्म कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्र का अर्थ करने की जो पाँच प्रकार की पद्धति — शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ है, उसे अपनाकर कहाँ, किस अपेक्षा से कथन किया जाता है - उसका यथार्थ ज्ञान अपने को-मुमुक्षु समुदाय को कराया है। इस प्रवचन गंगा से बहुत से आत्मार्थी अपने निजस्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, बहुत से स्वरूप के निकट आये हैं और इस वाणी के भाव ग्रहण करके बहुत से आत्मार्थी अवश्य आत्मदर्शन को प्राप्त होंगे ही - यह सुनिश्चित है।

पूज्य गुरुदेवश्री समयसार में फरमाते हैं कि समयसार दो जगह है - एक अपना शुद्धात्मा है वह समयसार है और दूसरा उत्कृष्ट निमित्तरूप समयसारजी शास्त्र है। इस शास्त्र में अपना निज समयसाररूपी शुद्धात्मा बतलाया गया है। प्रत्येक गाथा का अर्थ करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ऐसे भावविभोर हो जाते हैं कि उसमें से निकलना उन्हें सुहाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि पंचम काल के अन्त तक जो कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा, उसे यह वीतराग की वाणी निमित्त होगी, यह सीधी सीमन्धर भगवान की वाणी है, इसमें एक अक्षर फिरे तो सब फिर जायेगा।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन, अपने वचनामृत में पूज्य गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में फरमाती हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री का द्रव्य तो अलौकिक और मंगल है; उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारक है। आपश्री मंगलमूर्ति, भवोदधि तारणहार और महिमावन्त गुणों से भरपूर हैं। उन्होंने चारों ओर से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उनका अपार उपकार है, वह कैसे भूला जाये? पूज्य गुरुदेवश्री को तीर्थंकर जैसा उदय वर्तता है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अन्तर से मार्ग प्राप्त किया, दूसरों को मार्ग बतलाया; इसलिए उनकी महिमा आज तो गायी जाती है परन्तु हजारों वर्षों तक गायी जाएगी।

पूज्य निहालचन्दजी सोगानी, जिनको पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनते हुए भव के अभावरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई - वे फरमाते हैं कि पूज्य गुरुदेव के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी-पूरी बात आ जाती है। सभी बात का स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री ने तैयार करके दिया है; इस कारण कोई बात का विचार नहीं करना पड़ता, वरना तो साधक हो तो भी सब तैयारी करनी पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने सभा में समयसार उन्नीस बार पढ़ा और एकान्त में तो सैंकड़ों बार पढ़ा है, तो उन्हें इसमें कितना माल दिखता होगा! कभी डेढ़ वर्ष, कभी दो वर्ष, कभी ढाई वर्ष; इस प्रकार

उन्नीस बार पैंतालीस वर्षों में सार्वजनिक पढ़ा है। ये प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री की पैंतालीस वर्ष की सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई साधना के निचोड़रूप मक्खन है। जैसे-जैसे ज्ञानी की ज्ञानस्थिरता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे एक ही गाथा पर बारम्बार प्रवचन किये जायें तो भी नये-नये भाव आते हैं; इसलिए प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस ग्रन्थ में अपूर्व, अनुपम श्री समयसारजी शास्त्र के बन्ध अधिकार की गाथा 237 से 287, कलश 163 से 179 पर पूज्य गुरुदेवश्री के उन्नीसवीं बार के धारावाही प्रवचन नम्बर 313 से 356 प्रकाशित किये जा रहे हैं।

प्रवचन-प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दशः लिख लिया जाता है; तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्ठक भरा जाता है। प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य में श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट का उल्लेखनीय सहयोग रहा है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्ततः समयसारस्वरूप निज शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक सभी जीव परम शान्ति को प्राप्त हों - इसी भावना के साथ.....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़




श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवज़्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुज़्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।




श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भज़्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमिज़ो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज़्रवाणी छूटे,
जे वज़्रे सुमुमुक्षु सज़्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चिज़मां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शज़्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है—

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती

फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा

विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते

थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय,

आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

अनुक्रमणिका

प्रवचन नम्बर	तारीख	गाथा/कलश नं.	पृष्ठ क्रं.
३१३	१७-०९-१९७९	कलश-१६३	००१
३१४	१८-०९-१९७९	गाथा-२३७ से २४१	०१७
३१५	१९-०९-१९७९	गाथा-२३७ से २४१, कलश-१६४	०३८
३१६	२०-०९-१९७९	गाथा-२४२ से २४६, कलश-१६४-१६५	०५५
३१७	२२-०९-१९७९	कलश-१६५ से १६७	०७३
३१८	२३-०९-१९७९	गाथा-२४७ से २४९, कलश-१६७	०९२
३१९	२४-०९-१९७९	गाथा-२४९ से २५३	११०
३२०	२५-०९-१९७९	गाथा-२५३ से २५६	१३०
३२१	२६-०९-१९७९	कलश - १६८-१६९	१५०
३२२	२७-०९-१९७९	गाथा-२५७ से २६२, कलश - १७०	१६७
३२३	२८-०९-१९७९	गाथा-२६२ से २६५	१९९
३२४	३०-०९-१९७९	गाथा-२६५	२११
३२५	०१-१०-१९७९	गाथा-२६५	२२६
३२६	०२-१०-१९७९	गाथा-२६५-२६६	२४१
३२७	०३-१०-१९७९	गाथा-२६६-२६७	२५८
३२८	०३-१०-१९७९	गाथा-२६७ से २६९, कलश-१७१	२७५
३२९	०४-१०-१९७९	गाथा-२७०, कलश-१७२	२९३
३३०	०७-१०-१९७९	गाथा-२७०	३१०
३३१	०८-१०-१९७९	गाथा-२७०	३२३
३३२	०९-१०-१९७९	गाथा-२७०, २७१	३३५
३३३	१०-१०-१९७९	गाथा-२७१, कलश-१७३	३५१

३३४	१९-१०-१९७९	गाथा-२७२	३६८
३३५	२०-१०-१९७९	गाथा-२७२	३८४
३३६	२१-१०-१९७९	गाथा-२७३	४००
३३७	२२-१०-१९७९	गाथा-२७४, २७५	४१७
३३८	२३-१०-१९७९	गाथा-२७५	४३७
३३९	२३-१०-१९७९	गाथा-२७५ से २७७	४५२
३४०	२५-१०-१९७९	गाथा-२७६-२७७	४७२
३४१	२६-१०-१९७९	गाथा-२७६-२७७	४८६
३४२	२७-१०-१९७९	गाथा-२७६ से २७९, कलश-१७४	५०३
३४३	२८-१०-१९७९	गाथा-२७८-२७९, कलश-१७५-१७६	५२२
३४४	३०-१०-१९७९	गाथा-२८०, कलश-१७७	५४२
३४५	३१-१०-१९७९	गाथा-२८१ से २८५	५५८
३४६	०१-११-१९७९	गाथा-२८३ से २८५	५७७
३४७	०२-११-१९७९	गाथा-२८३ से २८५	५९४
३४८	१६-११-१९७९	गाथा-२८३ से २८५	६१२
३४९	१८-११-१९७९	गाथा-२८३ से २८५	६२८
३५०	२०-११-१९७९	गाथा-२८३ से २८५	६४३
३५१	२१-११-१९७९	गाथा-२८३ से २८५	६५७
३५२	२२-११-१९७९	गाथा-२८३ से २८५	६७२
३५३	२३-११-१९७९	गाथा-२८३ से २८५	६८५
३५४	२४-११-१९७९	गाथा-२८६-२८७	६९८
३५५	२५-११-१९७९	गाथा-२८६-२८७, कलश-१७८	७१४
३५६	३०-११-१९७९	कलश-१७८-१७९	७२८

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री समयसार परमागम पर

अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

समयसार सिद्धि

(भाग - ८)

—७—

बन्ध अधिकार

कलश - १६३

अथ प्रविशति बन्धः।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्,
क्रीडन्तं रसभाव-निर्भर-महा-नाट्येन बन्धं धुनत्।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्,
धीरोदार-मनाकुलं निरुपधि-ज्ञानं समुन्मज्जति ।।१६३।।

रागादिकतैं कर्म कौ, बन्ध जानि मुनिराय।
तजैं तिनहिं समभाव करि, नमूँ सदा तिन पाँय।।

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब बन्ध प्रवेश करता है।' जैसे नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है, उसी प्रकार रंगभूमि में बन्धतत्त्व का स्वाँग प्रवेश करता है।

उसमें प्रथम ही, सर्व तत्त्वों को यथार्थ जाननेवाला सम्यग्ज्ञान बन्ध को दूर करता हुआ प्रगट होता है, इस अर्थ का मंगलरूप काव्य कहते हैं:-

श्लोकार्थ : [राग-उद्गार-महारसेन सकलं जगत् प्रमत्तं कृत्वा] जो (बन्ध) राग के उदयरूपी महा रस (मदिरा) के द्वारा समस्त जगत को प्रमत्त (-मतवाला) करके, [रस-भाव-निर्भर-महानाट्येन क्रीडन्तं बन्धं] रस के भाव से (रागरूपी मतवालेपन से) भरे हुए महा नृत्य के द्वारा खेल (नाच) रहा है, ऐसे बन्ध को [धुनत्] उड़ाता-दूर करता हुआ, [ज्ञानं] ज्ञान [समुन्मज्जति] उदय को प्राप्त होता है। वह ज्ञान [आनन्द-अमृत-नित्य-भोजि] आनन्दरूपी अमृत का नित्य भोजन करनेवाला है, [सहज-अवस्थां स्फुटं नाटयत्] अपनी ज्ञातृक्रियारूप सहज अवस्था को प्रगट नचा रहा है, [धीर-उदारम्] धीर है, उदार (अर्थात् महान विस्तारवाला, निश्चल है) है, [अनाकुलं] अनाकुल है, (अर्थात् जिसमें किंचित् भी आकुलता का कारण नहीं है) [निरुपधि] उपाधिरहित (अर्थात् परिग्रहरहित या जिसमें कोई परद्रव्य सम्बन्धी ग्रहण-त्याग नहीं है ऐसा) है।

भावार्थ : बंधतत्त्व ने 'रंगभूमि में' प्रवेश किया है, उसे दूर करके जो ज्ञान स्वयं प्रगट होकर नृत्य करेगा, उस ज्ञान की महिमा इस काव्य में प्रगट की गई है। ऐसा अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहो।।१६३।।

प्रवचन नं. ३१३, श्लोक-१६३, सोमवार, भाद्रपद कृष्ण १२
दिनाङ्क - १७-०९-१९७९

समयसार, सातवाँ बन्ध अधिकार। **अथ प्रविशति बन्धः** थोड़ा हिन्दी है।

रागादिकतैं कर्म कौ, बन्ध जानि मुनिराय।
तजैं तिनहिं समभाव करि, नमूँ सदा तिन पाँय।।

टीकाकार मांगलिक करते हैं। टीका अर्थात् इस अर्थ के करनेवाले। **रागादि...** राग-द्वेष और मिथ्यात्वादि कर्म का बन्ध। रागादि से कर्म का बन्ध है। शुभ-अशुभराग और राग का उपयोग, मेरा राग—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह कर्मबन्ध का कारण है। **बन्ध जानि मुनिराय। तजैं...** इन रागादिक भावों को तजे। वह (भी) समभाव से (तजे)।

अन्तर का समभाव (अर्थात्) वीतरागस्वरूप आत्मा, उसके आश्रय से हुआ वीतरागभाव, उससे रागादि को तजे। आहा!

(अज्ञानी जीव) बाह्य क्रियाएँ और बाह्य निमित्त को मिटाने का उपाय करते हैं, परन्तु वह तो पर्याय में तो है नहीं। शरीर, मन और वचन, वह आत्मा की पर्याय में तो नहीं। कर्म जो जड़ है, वह आत्मा की पर्याय में नहीं तो फिर यह स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा, मकान, वह तो आत्मा की पर्याय में है नहीं। वे तो अभावस्वरूप ही हैं; अब उनका अभाव किस प्रकार करना? आहाहा! परपदार्थ का पर्याय में अत्यन्त अभाव है। उसका अभाव करना नहीं है। यह तो अभी कितने ही कहते हैं न? 'यह सब छोड़ा, इतनी आकुलता टूटी, एक शरीर रहा, तो उसकी आकुलता नहीं रखना।' ऐसा नहीं है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी ने लिया है कि अनादि से अज्ञानी बाह्य क्रिया और बाह्य निमित्तों को मिटाने का उपाय रखता है। सातवें अधिकार में है। परन्तु वह बाह्य क्रिया और बाह्य पदार्थ तो पर्याय में है ही नहीं। वह पर्याय द्रव्य-गुण में तो नहीं, इसलिए द्रव्य-गुण में तो परपदार्थ नहीं, परन्तु इसकी पर्याय में भी नहीं। आहाहा! मन के परमाणु, वाणी के और जड़ शरीर, इनकी क्रिया और इनका स्वरूप, यह आत्मा की पर्याय में नहीं। अरे! अजीवतत्त्व को और परतत्त्व को पर्याय में (अपना) मानना, उसे छोड़कर मेरी पर्याय निर्मल होगी (-ऐसा मानता है।) आहाहा! (परन्तु) उससे तो रहित ही है। निर्मल क्यों नहीं? समझ में आया? उनसे तो रहित ही है। निर्मल क्यों नहीं हुई? उनसे रहित ही इसका स्वभाव है। यह कहीं पर का अभाव हो, इसलिए मलिनता का अभाव हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इसलिए कहा, **'तजैं तिनहिं समभाव करि'** इन रागादि परिणामों में जो विकार है, उसे अन्तर का स्वभाव के आश्रय से समभाव प्रगट करके, उससे उसे (विकार को) तजे। आहाहा! पर्याय में जो रागादि... यहाँ तो आगे कहेंगे, उपयोग में रागादि करे, वही मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? आगे (२४१) गाथा में कहेंगे—**रागादि उपओगे कुव्वंतो**—पर को अपना करे, यह माने, वह तो इसकी मान्यता है। वह कहीं इसमें है नहीं। आहाहा! वह तो इसकी पर्याय में राग-द्वेष-मिथ्यात्व है। आहाहा! उसे अपने ज्ञानस्वभाव के उपयोग

में अपना माने, उसे करे (अर्थात्) उस राग का मैं कर्ता हूँ, (यही मिथ्यात्व है।) पर का तो कर नहीं सकता। पर तो इसमें है नहीं। अब राग और द्वेष के परिणाम रहे, उन्हें मैं करूँ—ऐसा जो भाव, तो ज्ञायकतत्त्व है, उससे भिन्न पुण्य-पाप तत्त्व है, वह भिन्न तत्त्व है। यह ज्ञायकतत्त्व अपने उपयोग में उसे करे, यह तो मिथ्यात्व है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं **'रागादिकतैं कर्म कौ, बन्ध जानि मुनिराय...'** पर के कारण बन्ध (होता है), संयोग बहुत हैं, इसलिए बन्ध होता है—ऐसा नहीं है; और संयोगों का अभाव-कम हुए, इसलिए बन्ध घटा—ऐसा नहीं है। आहाहा! वह विद्यासागर ऐसा कहते हैं न? जवान व्यक्ति है न! उनके गुरु ने आचार्यपद दिया है। 'यह सब घट गया है, अब एक शरीर गया, सब घटा दिया, उतनी आकुलता घट गयी। अब शरीर रहा, उसके प्रति राग घटाओ।' (-ऐसा कहते हैं)। अरेरे! शरीर और बाह्य चीज़ तो पर्याय में है ही नहीं, फिर अभाव (करना), मिटाना, यह प्रश्न ही कहाँ है? अरे! ऐसी बात है। क्या हो? वास्तविक तत्त्व की मर्यादा क्या है, इसकी खबर नहीं।

भगवान आत्मा की पर्याय में, उसके क्षेत्र के आँगन में परद्रव्य का तो अभाव है। अभाव करूँ तो अभाव हो—ऐसा नहीं है। आहाहा! परन्तु इसकी पर्याय में जो राग-द्वेष और मिथ्यात्व है, वह इसकी पर्याय में है। है, उसमें से टालना से है न? दूसरा तो इसमें नहीं, उसे टालना क्या? आहाहा! यह **'तजैं तिनहिं समभाव करि,'** परन्तु उसे तजे कैसे? अपना शुद्ध चैतन्यस्वभाव ज्ञायकभाव की पहिचान करके, उसमें स्थिर हो, समभाव प्रगट करे, उससे ये रागादि टलते हैं। कोई बाहर की क्रिया सुधारने जाए और बाहर का छोड़ने जाए तो राग घटे—ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई!

'नमूँ सदा तिन पाँय।' जिसने आत्मा के समभाव के वीतरागभाव से इन रागादि भावों को छोड़ा है, व्यय किया है। जिसने समभाव की उत्पत्ति की, ध्रुवस्वरूप तो त्रिकाल है; उसके आश्रय से जो समभाव प्रगट किया, इससे उसे रागादि का त्याग हुआ, उन मुनि को मैं वन्दन करता हूँ। आहाहा! यह हिन्दी टीका करनेवाले स्वयं कहते हैं। आहा!

वहाँ **प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब बन्ध प्रवेश करता है।'** नाटक के जैसा दृष्टान्त दिया है न? आहाहा! **जैसे नृत्यमंच पर...** नाचने के क्षेत्र में **स्वाँग प्रवेश**

करता है; उसी प्रकार रंगभूमि में बन्धतत्त्व का स्वाँग प्रवेश करता है। आहाहा! वह यह बन्ध अर्थात् कर्म का नहीं। विकारी परिणाम राग-द्वेष का भावबन्ध है, वह आता है। वह एक स्वाँग है, जीव का वह स्वाँग है। जड़कर्म, वह कहीं जीव का स्वाँग नहीं है। आहाहा! समझ में आया? उसमें जो राग और द्वेष और मिथ्यात्वभाव (होता है), वह बन्ध का तत्त्व (है और) वह उसका स्वाँग है। आहाहा! **जैसे नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है, उसी प्रकार रंगभूमि में बन्धतत्त्व का स्वाँग प्रवेश करता है।** इसी प्रकार यहाँ बन्ध तत्त्व प्रवेश करता है। नाटक में दूसरे लोग नृत्य करनेवाले आते हैं; वैसे यह नाचने आया है।

उसमें प्रथम ही, सर्व तत्त्वों को यथार्थ जाननेवाला... आहाहा! मांगलिक किया है। यह शुभ-अशुभराग, वह मेरा नहीं है। मेरे तत्त्व का वह स्वरूप नहीं है, ऐसा जिसने आत्मज्ञान और सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है... आहाहा! यह **प्रथम ही, सर्व तत्त्वों को यथार्थ जाननेवाला...** सर्व तत्त्वों को यथार्थ जाननेवाला (कहा)। स्व तत्त्व है, वह ज्ञायक है, ऐसा जाननेवाला; राग है, वह विकार तत्त्व है—ऐसा जाननेवाला; अजीव है, वह पर है—ऐसा जाननेवाला। आहाहा! वह **सर्व तत्त्वों को यथार्थ जाननेवाला...** सर्व तत्त्व आये हैं न? जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि जिस प्रकार हैं... आहाहा! उस प्रकार से वह जाननेवाला **सम्यग्ज्ञान बन्ध को दूर करता हुआ...** आहाहा! पर को दूर करता हुआ नहीं। आहाहा! लोगों का प्रयास सब यह—बाहर से स्त्री छोड़ी, पुत्र छोड़े, दुकान छोड़ी... परन्तु (वे तो) छूटे हुए ही हैं, कब तेरी पर्याय में आये हैं? आहाहा!

इस शरीर-विषय की क्रिया है, इसे छोड़ना। वह भी जड़ की क्रिया है। आहाहा! परन्तु अन्दर जो राग-द्वेष और विकारीभाव (होते हैं), वे तेरी पर्याय में अस्तित्व है। उन्हें पूर्ण अस्तित्व का आश्रय लेकर... आहाहा! समझ में आया? यह तेरी पर्याय में राग-द्वेष का अस्तित्व है, आहाहा! उसे पूर्ण अस्तित्व की सत्ता का आश्रय लेकर क्षणिक अस्तित्व का त्याग करता है, त्रिकाली अस्तित्व का आश्रय-आदर करता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं, भाई! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है, बापू! आहाहा! है?

मुमुक्षु : निर्जरा के बाद बन्ध क्यों आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्जरा के पश्चात् बन्ध कहा इस बाजू में, क्योंकि निर्जरा हुई है, वह किसकी निर्जरा की ?—कि बन्ध की। यह अब समझाते हैं। किसी जगह पहले बन्ध और पश्चात् निर्जरा—ऐसा भी आता है, परन्तु यहाँ निर्जरा के पश्चात् बन्ध का वास्तविक तत्त्व इसे बतलाते हैं, ऐसा। बन्ध है, वह राग-द्वेष का बन्ध है। उसे जब आत्मा के आश्रय से टाला है, निर्जरा (प्रगट की है), तब उसे बन्ध का ज्ञान यथार्थ होता है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य ने यह शैली ली है। आहा!

बन्ध को दूर करता हुआ... यह राग जो शुभ-अशुभ विकार (होता है), उसे निर्विकारी द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेकर, समभाव प्रगट करके, विषमभाव का त्याग करके... आहाहा! जो ज्ञान प्रगट होता है। **इस अर्थ का मंगलरूप काव्य कहते हैं:-** आहाहा! मंगल प्रवेश करता है। सम्यग्ज्ञानरूपी मांगलिक प्रवेश करता है (और) बन्ध के स्वाँग को जान लेता है। आहाहा!

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्,
क्रीडन्तं रसभाव-निर्भर-महा-नाट्येन बन्धं धुनत्।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्,
धीरोदार-मनाकुलं निरुपधि-ज्ञानं समुन्मज्जति ।।१६३।।

आहाहा! **'रागोद्गारमहारसेन सकलं जगत् कृत्वा प्रमत्तं'** अरे रे! राग के विकार के उदयरूप महामदिरा। ओहो! विकारी परिणाम जो शुभाशुभराग, उसकी जिसने मदिरा पी है। आहाहा! उस द्वारा समस्त जगत को गाफिल कर डाला है। आहाहा! जैसे मदिरा पीकर मस्तक खोटा होता है और गाफिल हो जाता है; उसी प्रकार भगवान आत्मा आनन्दामृत स्वभाव से भरपूर, उसे भूलकर, उससे विरुद्ध पुण्य-पाप के विकारी भाव, वे मेरे हैं—ऐसी जिसने मदिरा पी है, वह जगत पागल हो गया है। वह जगत गहल-पागल है, कहते हैं। आहाहा! परन्तु यह होशियार का पुत्र बड़ा कहलाये! करोड़पति कहलाये, ऐसे बुद्धिवाला कहलाये, बुद्धि प्रयोग कर पैसे इकट्ठे किये, मैंने ऐसा किया, धूल की... ऐसी बातें करते हैं ? आहाहा! भगवान कहते हैं कि वे चतुर नहीं। आहाहा! वे तो पागल हैं।

जिसे राग और पुण्य-पाप के भाव, जिससे द्रव्य और गुण पवित्रता के पिण्ड में जो

नहीं, उन्हें अपना मानकर गाफिल, गहल-पागल हुआ है। 'पर को अपना मानकर'—ऐसा यहाँ नहीं कहा। समझ में आया? आहाहा! रागादि में भले वह पर निमित्त हो, परन्तु पर को अपना माने तो भी वह पर कहीं इसका नहीं होता। यह तो पर्याय में मान्यता में इसका माना है। वस्तु में नहीं। पर्याय में राग-द्वेष और पुण्य-पाप मेरे हैं—ऐसा पर्याय में माना है, यह मान्यता है, वस्तु में नहीं। आहाहा! पर मेरा है—ऐसा माना है, तो भी वह पर तुझमें नहीं। इसी प्रकार राग-द्वेष मेरे हैं—ऐसा माना है, तो भी वस्तु में नहीं। आहाहा!

जो (बन्ध) राग के उदयरूपी महा रस (मदिरा) के द्वारा... बन्ध की व्याख्या (की)। भावबन्ध, हों! आहाहा! भगवान आत्मा तो अबन्धस्वरूप है, प्रभु तो अबन्धस्वरूप है। उसे राग के, पुण्य-पाप के प्रेम में रस में गाफिल, गहल-पागल हो गया है, करते हैं। आहाहा! उसे सत्य क्या है, यह सूझता नहीं, आहाहा! जहाँ हो, वहाँ राग, पुण्य और पाप के भाव मेरे और मैंने किये, ऐसी मिथ्यात्व की मदिरा पी है। आहाहा!

वह राग के **'उद्गार'** है न? **उदयरूपी...** है न? **'उद्गार'** शब्द है न? उदय। यह विकार का भाव प्रगट होता है... आहाहा! जो स्वभाव में नहीं है। उस महामदिरा द्वारा। रस है न? रस। रस अर्थात् राग में एकाकार हो गया है। आहाहा! महारस की मदिरा द्वारा **समस्त जगत...** पूरा जगत, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह दिगम्बर मुनि हुआ हो, पंच महाव्रत पालता हो, अट्ठाईस मूलगुण पालता हो, जगत का—स्त्री-पुत्र का त्याग किया हो, परन्तु वह राग की क्रिया मेरी है, यह राग मेरा है—ऐसी जो मदिरा पी है, वह मिथ्यात्व से गहल-पागल है, कहते हैं। अरर्र! समझ में आया? आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्तों की वाणी तो देखो! आहाहा!

कहते हैं, प्रभु! तू तो आनन्द के अमृत का सागर है न! उसमें यह पुण्य और पाप के राग को तूने तेरा माना है, प्रभु! यह तो पागलपन है। तू पागल हो गया। आहाहा! जो जिसका नहीं, उसे उसका मानना, वह तो पागल है, कहते हैं। आहाहा! **प्रमत्त (मतवाला)...** जगत, पूरा जगत, हों! है? **'सकलं जगत् प्रमत्तं कृत्वा', 'सकलं जगत् प्रमत्तं कृत्वा'** आहाहा! बड़े मानधाता साधु नाम धरावे, राजपाट छोड़कर, हजारों रानियों का त्याग किया हो, परन्तु अन्दर राग का भाव है, वह मेरा है, यह भाव छोड़ा नहीं। आहाहा! सकल जगत में यह भी आ गया। द्रव्यलिंगी मुनि (आ गया)। आहाहा! देखो! यह वीतरागमार्ग! आहा!

यह राग का भाव है—चाहे तो दया, दान और व्रत का भाव हो, परन्तु वह राग है। वह मेरा है, उसने राग के उदय (रूपी) मदिरा पी है। वही मेरा स्वरूप है—ऐसा मानकर वहाँ रुक गया है। आहाहा! महाप्रभु रागरहित अमृत का सागर अन्दर प्रभु, उसकी तो इसे खबर नहीं होती। आहाहा! अन्दर महापुरुष भगवान विराजमान है, उसकी भेंट करने की दरकार नहीं होती। राग की भेंट करके रुक गया है। आहाहा! सकल जगत को प्रमत्त करके... आहाहा!

'रस-भाव-निर्भर-महानाट्येन क्रीडन्तं बन्धं' रस के भाव से (रागरूपी मतवालेपन से)... आहाहा! यह पुण्य और पाप का भाव जो राग, उसके रस से अर्थात् गहलता से। आहाहा! है? **भरे हुए महा नृत्य के द्वारा**... आहाहा! विकारी भाव से नाच रहा है, कहते हैं। आहाहा! **खेल रहा है**... रागादि से भरपूर बड़े नृत्य द्वारा नाच रहा है। आहाहा! **ऐसे बन्ध को**... यह भावबन्ध की बात है, हों! आहाहा! —कि जो इसकी पर्याय में है, ऐसे भावबन्ध को। आहाहा! **'धुनत्' उड़ाता**... उस भावबन्ध को **'धुनत्'** अर्थात् **उड़ाता-दूर करता हुआ, ज्ञान**... भगवान आत्मा। आहाहा! जो कुछ राग और पुण्य के परिणाम का स्वाद था, उनमें गहलता से। आहाहा! अरेरे! ऐसी बातें सुनने को मिलना मुश्किल पड़े। प्रभु! तेरे घर की बात है न! आहा! कहते हैं, घर में से बाहर निकलकर बाहर चलो हुआ, वह राग में बाहर चलो होकर तू (उसे) मेरा माने, प्रभु! यह तुझे क्या हुआ? आहा!

करोड़ाधिपति व्यक्ति हो और उसका लड़का किसी निम्नवर्ग की स्त्री के साथ चलता हो और घर में से पैसा ले जाता हो, वह इसे कहता है—भाई! यह अपना घर नहीं टिकेगा। आहा! तू किस रास्ते चढ़ा? भाई! घर में खानदानी लड़की, आँख ऊँची करे नहीं; उसे छोड़कर तू यह क्या करता है? आहाहा! यहाँ परमात्मा, सन्त कहते हैं, प्रभु! तेरा आनन्द का सागर अन्दर घर में भरा है न! आहाहा! उसे छोड़कर इस बाहर के व्यभिचार में, पुण्य-पाप में चला गया, प्रभु! तुझे शर्म नहीं आती? कहते हैं। शान्तिभाई! ऐसी बातें हैं, प्रभु! आहाहा! अरे! दुनिया ऐसा माने, ऐ... सोनगढ़ का ऐसा है। प्रभु! सोनगढ़ का नहीं है। इस सुवर्ण को जंग नहीं होती, वैसे भगवान को मैल नहीं होता। उसे मैलरूप से माने, वह पागल है, कहते हैं। आहाहा! आया है न? ७२ गाथा में, नहीं? शुभ-अशुभभाव, वे

अशुचि-मैल है। शरीर अशुचि है (-ऐसा) वहाँ नहीं कहा। क्योंकि (वह तो) परचीज़ है, इसकी पर्याय में नहीं है, इसलिए उसका प्रश्न नहीं है।

यह रोग है, वह आत्मा की पर्याय में नहीं आता। समझ में आया? शरीर की रोग अवस्था, वह तो शरीर में पर्याय रही। वह रोग अवस्था आत्मा की पर्याय में नहीं आती। कभी अज्ञानी को भी नहीं आती। आहाहा! जिसकी पर्याय में शरीर नहीं, उसकी पर्याय में शरीर का रोग कहाँ से आवे? आहाहा! उसे तो राग का रोग लगा है। आहाहा! जहाँ राग का उदय आया और अन्दर उसमें रस चढ़ गया। आहाहा! अन्दर प्याला फट गया (अभिमान चढ़ गया)। हमें बड़े गृहस्थ हैं और हम पैसेवाले हैं, हम इज्जतवाले हैं, हम पुण्यशाली हैं। क्या हुआ तुझे प्रभु यह? आहाहा! रसिकभाई! ऐसी बातें हैं, भाई! हैं? ऐसी बात है। अरेरे!

भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव (कहते हैं), यह राग का प्रेम है, उसकी एकताबुद्धि है, वह पागलपन है। जिसने वह एकता तोड़कर स्वभाव की एकता का ज्ञान प्रगट किया... आहाहा! उस ज्ञान द्वारा राग को भिन्न कर डाला। भले थोड़ा रहा, परन्तु भिन्न कर डाला। आहाहा! ऐसा सम्यग्ज्ञान **उदय को प्राप्त होता है।** उसमें था न? **'राग-उद्गार'** वहाँ भी था न? **'राग-उद्गार'** यहाँ ऐसा कहा **'ज्ञानं समुन्मज्जति'** आहाहा! क्या कहा? जो पुण्य और पाप का राग उदय पाता है और उसमें 'मेरापन' मानकर गहलता हो गयी, पागल है। अब यहाँ ज्ञान उदय को प्राप्त होता है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह तो वीतरागी बातें हैं, बापू! यह कहीं वार्ता-कथा नहीं है। आहाहा! तीन लोक के नाथ के श्रीमुख से निकली हुई बात, तीन लोक के नाथ के श्रीमुख से निकली हुई बात, जो इन्द्र सुनते हैं... बापू! आहाहा! वह कोई साधारण बात नहीं है। अरेरे! भरतक्षेत्र, जैसा साधारण क्षेत्र आया, इससे क्या कहीं वस्तु बदल जाती है? आहाहा!

जिसे राग का उदय था, उसमें रस चढ़ गया था, पागल (था)। अब उसे छोड़कर जिसे सम्यग्ज्ञान का उदय हुआ, ऐसे उदय हुआ। आहाहा! मैं तो आनन्दकन्द प्रभु ज्ञानस्वरूपी प्रभु हूँ; राग मेरी चीज़ नहीं है, राग मुझमें नहीं है, मैल तुझमें नहीं है। मेरा महल तो निर्मलानन्द है, यह मैल नहीं। आहाहा! क्या कहा यह?

'ज्ञानं समुन्मज्जति' सामने लिया। उसमें कहा न? **'राग-उद्गार'** तो यह **'ज्ञानं**

समुन्मज्जति' अब, वहाँ ऐसा कहा था कि '**महारसेन सकलं जगत् प्रमत्तं कृत्वा**' अब यहाँ ज्ञान जहाँ प्रगट हुआ, चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा आनन्द का नाथ हूँ, ऐसी जहाँ अन्तर में दृष्टि होकर ज्ञान—सम्यग्ज्ञान—सत्यज्ञान पर्याय में प्रगट हुआ... आहाहा! अब (कहते हैं) आहाहा! वह, '**आनन्द-अमृत-नित्य-भोजि**' आहाहा! उस राग को वेदता जगत पागल हो गया था। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु है। राग तो क्षणिक कृत्रिम मैल है, वह मैं नहीं। आहाहा! यह कहीं बातों से नहीं मिलता ऐसा। बापू! बातों से बड़ा हो, ऐसा नहीं है। आहा! अन्तर में स्वभाव से भरपूर भगवान है।

कहते हैं कि जहाँ ज्ञान का उदय हुआ। वह भी उदय हुआ और यह भी उदय हुआ। आहाहा! सूर्य का उदय हुआ, वहाँ अन्धकार का नाश कर डाला। आहाहा! ज्ञान का उदय हुआ (तो) राग के बन्ध का जिसने नाश कर डाला। आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है, परन्तु बहुत तत्त्ववाली है, भाई! बन्ध अधिकार का वर्णन भी अलौकिक है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, वे तो परमात्मा जैसे हैं। पंचम काल के भगवान हैं। आहाहा! है?

मुमुक्षु : मुनिराज भगवान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान परमेष्ठी हैं, पंच परमेष्ठी हैं, परम इष्ट। आहाहा! जिन्होंने इष्ट प्रगट किया है, अनिष्ट जिन्होंने नाश किया है, आता है न? प्रवचनसार। आहाहा! इष्ट जिन्होंने प्राप्त किया है। इष्ट ऐसा आनन्द का नाथ भगवान, उसमें एकाकार होकर जिन्होंने दशा प्रगट की है और अनिष्ट का जिन्होंने नाश किया है। आहाहा! बन्ध के भाव का जिन्होंने नाश किया है। अबन्धभावी भगवान को जिन्होंने प्रगट किया है। आहाहा! अरे! प्रभु! ऐसी बात सुनते हुए कितनों को (ऐसा लगता है कि) यह तो निश्चय की (बात) है। अरे! प्रभु! परन्तु सुन तो सही! बापू! निश्चय अर्थात् यह परम सत्य की बातें हैं। वह तो क्रिया करो और यह करो और वह करो... इसमें रुककर मर गया। राग के रस की क्रिया (में रुक गया)। कहा न, बाह्य क्रिया और निमित्त मिटाने का उपाय रखता है, परन्तु राग और द्वेष के मिटाने का उपाय क्या है—उसे समझता भी नहीं। आहाहा!

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अध्याय में है। आहाहा! कितने ही अब उसे नहीं मानते। बाह्य क्रिया और पर मिटाने का उपाय रखता है। पर मिटाया, इतने तो हम त्यागी हुए

या नहीं ? ऐसा मनवाना है। समझ में आया ? इसलिए इस शास्त्र को मानते नहीं। ना करते हैं कि नहीं, टोडरमलजी का नहीं, पंचाध्यायी नहीं, बनारसीदासजी का नहीं। क्योंकि उन्होंने ऐसा खुल्ला कर डाला है। ऐसी भाषा है न उसमें ? सातवें अध्याय में है। क्योंकि उन लोगों को वह कठिन पड़ता है। वे तो कहें—बाहर से मिटाया, इसलिए हम बहुत त्यागी हो गये, सब छोड़ दिया। स्त्री-पुत्र (छोड़ दिये)। अब एक शरीर रहा है।

देखो! 'आस्रव का अधिकार' है न ? आस्रव। तथा राग-द्वेष-मोहरूप ही आस्रवभाव है। उनके नाश करने की तो चिन्ता नहीं है। आहाहा! ऐसा पढ़ना नहीं। और बाह्य क्रिया (अर्थात्) यह जड़ की क्रिया। इस देह को पूजा-भक्ति में रोका और यह क्रिया, और बाह्य निमित्त मिटाने का उपाय रखता है, परन्तु वह मिटने से आस्रव नहीं मिटते। वे तो मिटे हुए, अभावस्वरूप ही हैं, तथापि आस्रव है। आहाहा! है ? क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि अन्य देवादिक की सेवा नहीं करता। देखा ? जैन दिगम्बर साधु थे, द्रव्यलिंगी-मिथ्यादृष्टि। अन्य देव को माने नहीं; हिंसा-विषयों में प्रवर्तते नहीं; क्रोधादि करते नहीं; मन-वचन-काया को रोकते हैं, तो भी उन्हें मिथ्यात्वादि चारों आस्रव होते हैं। आहाहा! क्योंकि राग की एकताबुद्धि और राग का रस चढ़ा है, उसे मिथ्यात्वादि चारों सभी आस्रव पड़े हैं। आहाहा! समझ में आया ?

कहते हैं कि जिसे राग के उदय में पुण्य का भाव हो या चाहे तो कैसा भी शुभभाव (हो), परन्तु उसका रस जिसे चढ़ गया है... रस अर्थात् उसमें एकाकार (होना) 'रस' शब्द पड़ा है न ? उसमें एकाकारता का रस पड़ा है, वह मिथ्यादृष्टि पागल हो गया है। आहा..! परन्तु जिसे राग के रस को तोड़नेवाला भगवान आत्मा का ज्ञानरस चढ़ा है, स्वरूप भगवान आत्मा अनन्त आनन्द का सागर, जिसमें यह दया, दान के विकल्प का भी त्रिकाली अभाव है। आहाहा! ऐसे भगवान के अवलम्बन से जो सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, उसने उस राग को दूर किया है। परन्तु करके हुआ क्या ? उस समय राग के उदय में राग-द्वेष का वेदन था। समझ में आया ? अनादि राग और पुण्य-पाप के प्रेम में राग का वेदन था, विकार का वेदन था; तो वह बदला, तब कुछ वेदन हुआ या नहीं ? आहाहा! जिसने राग का रस छोड़कर जिसने आत्मा का, ज्ञानानन्द का रस प्रगट किया है, उसका वेदन बदला या नहीं ? आहाहा!

यह सम्यग्ज्ञान प्रगट (हुआ) उसे कहते हैं कि **'आनन्द-अमृत-नित्य-भोजि'** आहाहा! वह आनन्दामृत का नित्यभोजी है। वह (अज्ञान में) राग का भोक्ता और भोजी था। आहाहा! ऐसी अन्दर की बात बैठना (कठिन पड़ती है)। बाहर की सिरपच्ची में पड़े हैं। बाहर का जानना और बाहर का मानना तथा बाहर में छोड़ने और बाहर में ग्रहण करने की सब बातें। आहाहा! हें?

मुमुक्षु : यह बाहर में तो कुछ कर सकता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर कब सकता है? इसकी पर्याय में नहीं, उसका क्या करे? पर्याय में राग-द्वेष करे और या राग-द्वेष छोड़े, यह है। आहाहा! स्त्री, पुत्र, परिवार, मकान—यह कहीं आत्मा की पर्याय में है? यह तो पर में है। आहाहा! जो पर्याय में विकार, पुण्य-पाप और मिथ्या भ्रम है, उसे छोड़ने का तो प्रयत्न नहीं और यह (सब) छोड़ा, इसलिए त्यागी हो गया। आहाहा! शान्तिभाई! समझ में आया यह? ऐसी बातें हैं। आहाहा!

अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर मुनि अमृतभोजी कहते हैं, देखो! **'आनन्द-अमृत-नित्य-भोजि'** आहाहा! कलश टीका में राजमलजी ने ऐसा अर्थ किया है, अमृत अर्थात् अपूर्व—ऐसा लिखा है। अपूर्व—पूर्व में नहीं था, ऐसा अनुभव किया, ऐसा। आनन्द का, हों! आहाहा! कलश टीका में 'अपूर्वलब्धि' शब्द प्रयोग किया है। आनन्द अमृत का अर्थ अपूर्व लब्धि (किया है)। अपूर्वलब्धि—पूर्व में कभी प्राप्त नहीं हुई—ऐसी आनन्द की लब्धि प्रगट हुई है। सम्यग्ज्ञान होने पर... आहाहा! राग के रस की एकताबुद्धि तोड़ने पर, सम्यग्ज्ञान से राग को दूर करने पर और आनन्द के नाथ को समीप लाने पर... आहाहा! जो दूर था, राग के प्रेम में भगवान दूर था, उसने आत्मा के आनन्द के प्रेम में राग को दूर करके... आहाहा! जिसने भगवान आत्मा के समीप में भगवान को लिया... कहते हैं कि **'आनन्द-अमृत-नित्य-भोजि' आनन्दरूपी अमृत का नित्य भोजन करनेवाला है।** आहाहा! धन्य अवतार!! आहाहा!

सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, उसने राग को—बन्ध को दूर किया तो फिर उसमें उसे हुआ क्या? आहाहा! राग को दूर किया, यह तो व्यय किया, परन्तु उत्पन्न क्या हुआ अब?

आहाहा! **'आनन्द-अमृत-नित्य-भोजि'** अतीन्द्रिय आनन्दरूपी अमृत—अपूर्व लब्धि। अपूर्व लब्धि—कभी प्रगट नहीं हुई, ऐसी प्राप्ति (हुई)। आहाहा! आहा! **आनन्दरूपी अमृत का नित्य भोजन करनेवाला है,...** वापस देखा? आहाहा! उस आनन्द का स्वादिया, आनन्द के स्वाद को नित्य लेनेवाला। आहाहा! आहाहा! मांगलिक किया है। आहाहा! आहाहा! नाटक में बन्ध आया, उसे ज्ञान ने देख लिया है, जान लिया है। यह बन्ध का वेश, वह मेरा नहीं है। आहा! मेरा वेश तो आनन्दामृत का वेश, वह मेरा है। संवर-निर्जरा को वेश कहा है न? संवर-निर्जरा को वेश कहा है, मोक्ष को वेश कहा है। आहाहा! समझ में आया?

आनन्दरूपी अमृत का नित्य... वापस, हों! आहाहा! क्षणिक अनुभव आया और वापस चला गया, ऐसा नहीं है, कहते हैं। भाई चले गये? हरिभाई है न? गये। आहाहा! **आनन्दरूपी अमृत का नित्य भोजन करनेवाला है,...** देखो! भेदज्ञान होने पर राग को दूर करने से, भगवान को समीप लाने पर... आहाहा! भगवान को हाजिरी दी। वह (अज्ञान में) राग की हाजिरी थी। आहाहा! अब ऐसी बातें। भगवान को हाजिरी दी। ज्ञानानन्द हो? हाँ। नित्यानन्द हो? हाँ। हाजिर हूँ। राग को गैरहाजिर कर डाला और आत्मा के आनन्द को हाजिर किया। आहाहा! कहो, हिम्मतभाई! ऐसी बातें हैं। हैं? आहाहा! अरे! ऐसी बातें कहाँ हैं? प्रभु! किसके साथ विरोध और किसके साथ... आहाहा! भगवान है, भाई! आहा! भूला है, वह (एक) समय की भूल है। वह मिटेगी, प्रभु! आहा! सर्व जगत मिटायेगा, ऐसा कहा है न? ३८ गाथा। मिटायेगा, प्रभु! सब मिटाओ! आहाहा! अरे! विरोधी हो, परन्तु कहते हैं कि वह मेरा विरोधी नहीं है। तू भले मान। भगवान! तू भी पूर्णानन्द का नाथ है, उसे प्राप्त कर जा, आहा! आहा! यहाँ न रुक, प्रभु! आहाहा! अमृतचन्द्राचार्यदेव की भाषा तो देखो!

सम्यगदर्शन-सम्यग्ज्ञान होने पर आनन्द का अनुभव होता है, ऐसा कहते हैं। अनादि से कर्मचेतना का जो अनुभव था, राग-विकार कर्मचेतना, हों! उसे यहाँ शुद्ध ज्ञानचेतना का वेदन आया। आहाहा! यह आता है कि अनादि से कर्मचेतना, कर्मफलचेतना का ही वेदन है। आहाहा! जिसके बाहर के रस, राग का रस जिसके उड़ गया है, प्रभु!

आहाहा! उसे चक्रवर्ती का राज हो तो भी उसका रस नहीं है। वह तो मेरी पर्याय में भी नहीं, फिर प्रश्न कहाँ? आहा! यह तो पर्याय में जो राग और पुण्य के भाव की मलिनता का जो पड़ाव डाला था, उस पड़ाव को उठा दिया। ज्ञान ने पड़ाव डाला। आहाहा! आहाहा! कहो, शान्तिभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! तीन लोक के नाथ वीतराग जिनेश्वरदेव का फरमान है। सन्त वह फरमान जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! यह कहीं ऐसे-वैसों की बातें नहीं हैं, प्रभु! आहाहा!

'आनन्द-अमृत-नित्य-भोजि' आहाहा! **आनन्दरूपी अमृत का नित्य भोजन करनेवाला है,...** कौन? सम्यग्ज्ञान। सम्यग्ज्ञान जो हुआ... किसे सम्यग्ज्ञान कहना? कि जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का नित्य भोजन है, वह अतीन्द्रिय आनन्द का ग्रास लेता है। आहाहा! पहले राग के रस के ग्रास लेता (था)। यह (जीमने के-भोजन के) ग्रास तो नहीं लेता था। वह पर्याय में है नहीं, फिर प्रश्न क्या? दाल, भात, रोटी इसकी पर्याय में नहीं, फिर लेता है और देता है—यह बात ही कहाँ है? आहाहा! **आनन्दरूपी अमृत का नित्य भोजन करनेवाला है,...** कौन? ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ है, वह। आहाहा!

'सहज-अवस्थां स्फुटं नाटयत्' अपनी ज्ञातृक्रियारूप सहज अवस्था को प्रगट नचा रहा है,... आहाहा! एक तो सहज अवस्था त्रिकाली भी है। अब उसमें से **'सहज-अवस्थां स्फुटं नाटयत्'** जाननक्रिया, आनन्दक्रियारूप सहज अवस्था को प्रगट परिणम रहा है, नचा रहा है। आहाहा! अरे! भगवान! तूने कहाँ किया? कहीं न कहीं अटका रहे, सत्य का विरोध करे। प्रभु! यह तू क्या करता है? इसका (स्वयं का) विरोध करता है, भाई! आहाहा! क्रियाकाण्ड करना नहीं और यह करना है (-ऐसा कहता है)। अरे! सुन न प्रभु! क्रियाकाण्ड का राग है, वह तो दुःख है, दुःख है। आहा! उसे जिसने आत्मा से सम्यग्ज्ञान और आनन्द द्वारा दूर किया है। थोड़ा रहा है (परन्तु) भिन्न कर डाला है। आहा! दूर किया—ऐसा कहा न? आहा! दूर करके (-ऐसा) कहा है। अभी अत्यन्त अभाव नहीं किया। शुरुआत हुई और चारित्र की पूर्णता भी इसमें कहेंगे। आहाहा!

मुनियों के शब्द बहुत गम्भीर... बहुत गम्भीर! दिगम्बर सन्त कहीं है नहीं। बहुत गम्भीर, बहुत गम्भीर (बात)! महा वीतरागी मुनि सिद्धों के साथ बातें करनेवाले। आहाहा!

जंगल में भी स्वयं सिद्ध की जाति के—नात के हैं। आहाहा! वे सिद्ध के झुण्ड में जानेवाले हैं। आहाहा! कदाचित् एक-दो भव हो। आहाहा!

ऐसा भगवान आत्मा कहते हैं कि अन्दर चैतन्यमूर्ति भगवान का आश्रय लेकर जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह ज्ञान; और उस ज्ञान में आनन्द का अनुभव साथ में हो, उसे सम्यग्ज्ञान कहने में आता है। आहाहा! यह पढ़ाई का ज्ञान, ग्यारह अंग आदि का, यह सब तो दुःख के वेदन के साथ का (ज्ञान) है। आहाहा! क्या कहा यह? शास्त्र के जानपने आदि के भाव, वे सब राग के दुःख के वेदन के काल में वे हैं। आहाहा! अरे! प्रभु! थोड़ा-बहुत जाने, वहाँ उसे ऐसा हो जाता है कि आहाहा! अपन ने जाना और अपन ऐसे हैं। अरे! प्रभु! धीर हो, धीर हो, धीर हो। आहाहा! जिसके ज्ञान में राग का वेदन है, वह ज्ञान ही नहीं है। आहाहा!

'सहज-अवस्थां स्फुटं नाटयत्' अपनी स्वाभाविक क्रिया। आनन्द की और ज्ञान की क्रिया। **अवस्था को प्रगट नचा रहा है,...** आहाहा! धीर, उदार, अनाकुल-तीन शब्द हैं। यह ज्ञान धीर है। आहाहा! आकुलतारहित है, उदार है, विस्तार है। आहाहा! इस ज्ञान की धारा प्रगट हुई, वह तो विशाल है। तीन लोक-तीन काल को जानने की विशालता से भरपूर ज्ञान है। भले श्रुतज्ञान हो। आहाहा! **धीर है,...** धीर है, शान्त है, शाश्वत् है। यह पर्याय प्रगट हुई, वह भी (अमेय है)। आया है न? चारित्र अधिकार, नहीं? अक्षय, अमेय। प्रभु... प्रभु!

कहते हैं कि आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु जहाँ पर्याय में जागता है, तब वह पर्याय अक्षय और अमेय हो जाती है। आहाहा! वह पर्याय अब नाश पानेवाली नहीं है और मर्यादारहित पर्याय है। स्वभाव की तो क्या बात करना!! आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अष्टपाहुड़ में—चारित्रपाहुड़ में आता है (कि) पर्याय प्रगटी है, वह अक्षय, अमेय है। आहाहा! हमारी जो पर्याय प्रगटी है, वह अब वापस पड़नेवाली नहीं है। आहाहा! अमेय है—मर्यादारहित है। आहाहा! उदार है। उदार व्यक्ति, चाहे जितना देना हो तो उदारता से दे सकता है, ऐसा वह उदार है। चाहे जितना निकालना हो, तो अन्तर से निकाल सकता है। आहाहा!

अनाकुल है,... आकुलता का कारण जरा भी नहीं। आहाहा! ज्ञान सम्यक् हुआ न? वहाँ आकुलता कैसी? आहाहा! **'निरुपधि'** है। परिग्रहरहित है, पकड़रहित है। **(जिसमें कोई परद्रव्य सम्बन्धी ग्रहण-त्याग नहीं है ऐसा) है।** जिस ज्ञान में पर का ग्रहण-त्याग है ही नहीं। आहाहा! पर के ग्रहण-त्याग से तो रहित है। आहाहा! पर को तो कभी ग्रहण किया नहीं और उसे छोड़ा नहीं। आहाहा! ऐसा जो ज्ञानस्वरूप भगवान पर्याय में जो निर्मल सम्यग्दर्शनसहित का (ज्ञान) प्रगट हुआ, वह धीर है, उदार है, और अनाकुल है तथा उपाधिरहित अर्थात् ऐसा अस्ति है और पर की उपाधि का अभाव है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

भावार्थ : बंधतत्त्व ने 'रंगभूमि में' प्रवेश किया है, उसे दूर करके जो ज्ञान स्वयं प्रगट होकर नृत्य करेगा उस ज्ञान की महिमा इस काव्य में प्रगट की गई है। ऐसा अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा... अनन्त ज्ञानस्वरूप जो आत्मा **सदा प्रगट रहो।** आहाहा! यह मांगलिक किया। लो! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २३७ से २४१

जह णाम को वि पुरिसो णेहब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेदि सत्थेहिं वायामं।।२३७।।

छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाण-मुवघादं।।२३८।।

उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणा-विहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो।।२३९।।

जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण काय-चेट्ठाहिं सेसाहिं।।२४०।।

एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहु-विहासु चिट्ठासु।
रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रएण।।२४१।।

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले।
स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रेर्व्यायामम्।।२३७।।

छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवन्शपिण्डीः।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम्।।२३८।।

उपघातं कुर्वतस्तस्य नाना-विधैः करणैः।
निश्चयतश्चिन्त्यतां खलु किम्प्रत्ययिकस्तु रजोबन्धः।।२३९।।

यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबन्धः।
निश्चयतो विज्ञेयं न काय-चेष्टाभिः शेषाभिः।।२४०।।

एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहु-विधासु चेष्टासु।
रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा।।२४१।।

इह खलु यथा कश्चित् पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः, स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ

स्थितः, शस्त्रव्या-यामकर्म कुर्वाणः, अनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा बध्यते।

तस्य कतमो बन्धहेतुः?

न तावत्स्वभावत एव रजोबहुला भूमिः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसङ्गात्।

न शस्त्रव्यायामकर्म, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मात् तत्प्रसङ्गात्।

नानेकप्रकारकरणानि, स्नेहानभ्यक्तानामपि तैस्तत्प्रसङ्गात्।

न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मिन्स्तत्प्रसङ्गात्।

ततो न्यायबलेनैवैतदायातं, यत्तस्मिन् पुरुषे स्नेहाभ्यङ्करणं स बन्धहेतुः।

एवं मिथ्यादृष्टिः आत्मनि रागादीन् कुर्वाणः, स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणः, अनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन्, कर्मरजसा बध्यते।

तस्य कतमो बन्धहेतुः ?

न तावत्स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुलो लोकः, सिद्धानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसङ्गात्।

न कायवाङ्मनःकर्म, यथाख्यातसंयतानामपि तत्प्रसङ्गात्। नानेकप्रकारकरणानि, केवल-ज्ञानिनामपि तत्प्रसङ्गात्। न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, समितितत्पराणामपि तत्प्रसङ्गात्। ततो न्यायबलेनैवैतदायातं, यदुपयोगे रागादिकरणं स बन्धहेतुः।।२३७-२४१।।

अब बन्धतत्त्व के स्वरूप का विचार करते हैं; उसमें पहिले, बन्ध के कारणों को स्पष्टतया बतलाते हैं:-

जिस रीत कोई पुरुष मर्दन आप करके तेल का।
व्यायाम करता शस्त्र से, बहु रजभरे स्थानक खड़ा।।२३७।।

अरु ताड़, कदली, बांस आदिक छिन्नभिन्न बहू करे।
उपघात आप सचित्त अवरु अचित्त द्रव्यों का करे।।२३८।।

बहु भाँति के करणादि से उपघात करते उसहिको।
निश्चयपने चिंतन करो, रजबंध है किन कारणों?।।२३९।।

यों जानना निश्चयपनें-चिकनाइ जो उस नर विषैं।
रजबंधकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है।।२४०।।

चेष्टा विविध में वर्तता, इस भाँति मिथ्यादृष्टि जो।
उपयोग में रागादि करता, रजहि से लेपाय वो।।२४१।।

गाथार्थ : [यथा नाम] जैसे-[कः अपि पुरुषः] कोई पुरुष [स्नेहाभ्यक्तः तु] (अपने शरीर में) तेल आदि स्निग्ध पदार्थ लगाकर [च] और [रेणुबहुले] बहुत सी धूलिवाले [स्थाने] स्थान में [स्थित्वा] रहकर [शस्त्रैः] शस्त्रों के द्वारा [व्यायामम् करोति] व्यायाम करता है, [तथा] तथा [तालीतलकदलीवंशपिंडीः] ताड़, तमाल, केल, बांस, अशोक इत्यादि वृक्षों को [छिनत्ति] छेदता है [भिनत्ति च] भेदता है, [सचित्ताचित्तानां] सचित्त तथा अचित्त [द्रव्याणाम्] द्रव्यों का [उपघातम्] उपघात (नाश) [करोति] करता है; [नानाविधैः करणैः] इस प्रकार नाना प्रकार के करणों के द्वारा [उपघातं कुर्वतः] उपघात करते हुए [तस्य] उस पुरुष के [रजोबंधः तु] धूलिका बंध (चिपकना) [खलु] वास्तव में [किंप्रत्ययिकः] किस कारण से होता है [निश्चयतः] यह निश्चय से [चिंत्यतां] विचार करो। [तस्मिन नरे] उस पुरुष में [यः सः स्नेहभावः तु] जो वह तेल आदि की चिकनाहट है [तेन], उससे [तस्य] उसे [रजोबंधः] धूलि का बन्ध होता है (-चिपकती है) [निश्चयतः विज्ञेयं] ऐसा निश्चय से जानना चाहिए, [शेषाभिः कायचेष्टाभिः] शेष शारीरिक चेष्टाओं से [न] नहीं होता। [एवं] इसीप्रकार-[बहुविधासु चेष्टासु] बहुत प्रकार की चेष्टाओं में [वर्तमानः] वर्तता हुआ [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि [उपयोगे] (अपने) उपयोग में [रागादीन् कुर्वाणः] रागादि भावों को करता हुआ [रजसा] कर्मरूपी रज से [लिप्यते] लिप्त होता है-बँधता है।

टीका : जैसे-इस जगत में वास्तव में कोई पुरुष स्नेह (-तेल आदि चिकने पदार्थ) से मर्दनयुक्त हुआ, स्वभावतः ही बहुत सी धूलिमय भूमि में रहा हुआ, शस्त्रों के व्यायामरूपी कर्म (क्रिया) को करता हुआ अनेक प्रकार के करणों के द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, (उस भूमि की) धूलि से बद्ध होता है-लिप्त होता है। (यहाँ विचार करो कि) उसमें से उस पुरुष के बंध का कारण कौन है? पहले, जो स्वभाव से ही बहुत सी धूलि से भरी हुई भूमि है, वह धूलिबंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है, ऐसे उस भूमि में रहे हुए पुरुषों को भी धूलिबन्ध का प्रसंग आ जाएगा। शस्त्रों का व्यायामरूपी कर्म भी

धूलिबंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है, उनके भी शस्त्र व्यायामरूपी क्रिया के करने से धूलिबन्ध का प्रसंग आ जाएगा। अनेक प्रकार के करण भी धूलिबन्ध के कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है, उनके भी अनेक प्रकार के करणों से धूलिबन्ध का प्रसंग आ जाएगा। सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात भी धूलिबन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया, उन्हें भी सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करने से धूलिबन्ध का प्रसंग आ जाएगा।

इसलिए न्याय के बल से ही यह फलित (-सिद्ध) हुआ कि, उस पुरुष में तैल का मर्दन करना बन्ध का कारण है। इसी प्रकार-मिथ्यादृष्टि अपने में रागादिक करता हुआ, स्वभाव से ही जो बहुत से कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ है, ऐसे लोक में काय-वचन-मन का कर्म (क्रिया) करता हुआ, अनेक प्रकार के करणों के द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, कर्मरूपी रज से बँधता है। (यहाँ विचार करो कि) इनमें से उस पुरुष के बन्ध का कारण कौन है? प्रथम, स्वभाव से ही जो बहुत से कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ है, ऐसा लोक बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो सिद्धों को भी-जो कि लोक में रह रहे हैं, उनके भी बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। काय-वचन-मन का कर्म (अर्थात् काय-वचन-मन की क्रियास्वरूप योग) भी बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो यथाख्यातसंयमियों के भी (काय-वचन-मन की क्रिया होने से) बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। अनेक प्रकार के *करण भी बन्ध के कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानियों के भी (उस करणों से) बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात भी बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जो समिति में तत्पर हैं, उनके (अर्थात् जो यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं, ऐसे साधुओं के) भी (सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं के घात से) बंध का प्रसंग आ जाएगा। इसलिए न्यायबल से ही यह फलित हुआ कि उपयोग में रागादिकरण (अर्थात् उपयोग में रागादिक का करना), बन्ध का कारण है।

भावार्थ : यहाँ निश्चयनय को प्रधान करके कथन है। जहाँ निर्बाध हेतु से सिद्धि होती है, वही निश्चय है। बन्ध का कारण विचार करने पर निर्बाधतया यही सिद्ध हुआ कि - मिथ्यादृष्टि पुरुष जिन राग-द्वेष-मोहभावों को अपने उपयोग में करता है, वे

* करणों=इन्द्रियाँ।

रागादिक ही बन्ध के कारण हैं। उनके अतिरिक्त अन्य-बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से परिपूर्ण लोक; मन-वचन-काय के योग; अनेक करण; तथा चेतन-अचेतन का घात-बन्ध के कारण नहीं हैं; यदि उनसे बन्ध होता हो तो सिद्धों के; यथाख्यातचारित्रवानों के; केवलज्ञानियों के; और समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों के बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। परन्तु उनके तो बन्ध होता नहीं है। इसलिए इन हेतुओं में (-कारणों में) व्यभिचार (दोष) आया। इसलिए यह निश्चय है कि बन्ध के कारण रागादिक ही हैं।

यहाँ समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों का नाम लिया गया है और अविरत, देशविरत का नाम नहीं लिया, इसका यह कारण है कि-अविरत तथा देशविरत के बाह्यसमितिरूप प्रवृत्ति नहीं होती; इसलिए चारित्रमोह सम्बन्धी राग से किंचित् बन्ध होता है; इसलिए सर्वथा बन्ध के अभाव की अपेक्षा में उनका नाम नहीं लिया। वैसे अंतरंग की अपेक्षा से तो उन्हें भी निर्बन्ध ही जानना चाहिए।

प्रवचन नं. ३१४, गाथा - २३७ से २४१, मंगलवार, भाद्र कृष्ण १३
दिनाङ्क - १८-०९-१९७९

समयसार, बन्ध अधिकार। पहली पाँच गाथायें हैं।

जह णाम को वि पुरिसो णेहब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेदि सत्थेहिं वायामं।।२३७।।

छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाण-मुवघादं।।२३८।।

उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणा-विहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो।।२३९।।

जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण काय-चेट्ठाहिं सेसाहिं।।२४०।।

एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहु-विहासु चिट्ठासु।
रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रएण।।२४१।।

नीचे हरिगीत

जिस रीत कोई पुरुष मर्दन आप करके तेल का।
व्यायाम करता शस्त्र से, बहु रजभरे स्थानक खड़ा।।२३७।।

अरु ताड़, कदली, बांस आदिक छिन्नभिन्न बहू करे।
उपघात आप सचित्त अवरु अचित्त द्रव्यों का करे।।२३८।।

बहु भाँति के करणादि से उपघात करते उसहिको।
निश्चयपने चिंतन करो, रजबंध है किन कारणों?।।२३९।।

यों जानना निश्चयपनें-चिकनाइ जो उस नर विषैं।
रजबंधकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है।।२४०।।

चेष्टा विविध में वर्तता, इस भाँति मिथ्यादृष्टि जो।
उपयोग में रागादि करता, रजहि से लेपाय वो।।२४१।।

टीका – इसकी टीका है न? जरा सूक्ष्म बात है। **जैसे-इस जगत में वास्तव में कोई पुरुष स्नेह (-तेल आदि चिकने पदार्थ) से मर्दनयुक्त हुआ,...** तेल आदि चिकने (पदार्थ से) मर्दन (युक्त) हुआ, **स्वभावतः ही बहुत सी धूलिमय भूमि में रहा हुआ,...** स्वभाव से बहुत धूली हो, उसमें वह रहा हो; **शस्त्रों के व्यायामरूपी कर्म (क्रिया) को करता हुआ...** शस्त्रों से-हथियार से व्यायाम करे; **अनेक प्रकार के करणों के द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ,...** सूक्ष्म बात है। **(उस भूमि की) धूलि से बद्ध होता है-लिप्त होता है। (यहाँ विचार करो कि) उसमें से उस पुरुष के बंध का कारण कौन है?**

पहले, जो स्वभाव से ही बहुत सी धूलि से भरी हुई भूमि है, वह धूलिबंध का कारण नहीं है;... दोनों बन्ध का कारण नहीं है। धूलि भरी है, वह बन्ध का कारण नहीं है; तेलमर्दन है, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! **क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है, ऐसे उस भूमि में रहे हुए पुरुषों को भी धूलिबन्ध का प्रसंग आ जाएगा।** जिसे तेल की चिकनाहट-स्निग्धता नहीं है, वह धूल में रहे तो भी बन्ध नहीं होता। वह (बन्ध) तेलमर्दन के कारण से है। तेलमर्दन न किया

हो, वह धूल में रहे तो भी धूल चिपकती नहीं है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव जिनेश्वर, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक जाने हैं, वे बन्ध का कारण क्या है, (उसे) सन्त, सर्वज्ञ के आड़तिया होकर कहते हैं। आहाहा!

कहते हैं कि वह धूल में रहा हो और तेलमर्दन किया है तो किसके कारण से बन्ध हुआ? धूल के कारण से होता है? (यदि धूल के कारण से होता हो तो) जिसने मर्दन नहीं किया, उसे धूल से बन्धन नहीं होता। एक बात। शस्त्रों से व्यायाम (करता हो), शस्त्र जो हथियार है, उसका व्यायाम करता है, वह (व्यायाम) धूलि बन्ध का कारण नहीं है। **क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है...** तेल का मर्दन नहीं किया और शस्त्र से व्यायाम करे तो धूल चिपकती नहीं। आहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है।

अनेक प्रकार के करण भी धूलिबन्ध के कारण नहीं हैं;... पाँच इन्द्रियाँ हैं। क्योंकि आत्मा की पर्याय में ये इन्द्रियाँ नहीं हैं। व्यायाम, अधिकरण जो शस्त्र हैं, वे आत्मा की पर्याय में नहीं हैं। वे तो भिन्न हैं। समझ में आया? आत्मा की पर्याय में तो जो राग-द्वेष करता है, वह चिकनाई है, उससे बन्ध है। समझ में आया? यह धूल है, वह कहीं आत्मा की पर्याय में नहीं है। शस्त्र होते हैं, वे कहीं आत्मा की पर्याय में नहीं हैं; वे तो पर-जड़ में हैं। आहा! समझ में आया?

सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात भी धूलिबन्ध का कारण नहीं है;... आहाहा! सूक्ष्म बात है। सचित जीव और अचित का घात हो, परन्तु तेलमर्दन न किया हो तो उसे बन्धन नहीं होता। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! **क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया, उन्हें भी सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करने से धूलिबन्ध का प्रसंग आ जाएगा।** बात यह कहते हैं कि आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु का उपयोग जो वर्तमान परिणाम है, उसमें राग और द्वेष की चिकनाई अपने में करता है, वह बन्ध का कारण है। बाह्य चीज़ कोई बन्ध का कारण नहीं है। बाह्य चीज़ भले बन्ध में निमित्त हो, परन्तु वह बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त काल से भटकता प्राणी चौरासी के अवतार में दुःखी... दुःखी... दुःखी है। क्यों दुःखी है? और क्यों भटकता है? वह कोई बाहर के कारण से नहीं। आहाहा! यह कहते हैं, देखो!

इसलिए न्याय के बल से ही यह फलित (–सिद्ध) हुआ कि, उस पुरुष में तैल का मर्दन करना बन्ध का कारण है। तेल का मर्दन, वह बन्ध का कारण है, वह बन्ध का कारण है। कोई शस्त्र आदि या सचित-अचित घात आदि, इन्द्रियाँ आदि बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! क्योंकि आत्मा की पर्याय में वह शरीर, वाणी, इन्द्रियाँ हैं नहीं। पर्याय में है नहीं; वे तो भिन्न है। भिन्न की क्रिया होने से आत्मा की पर्याय में बन्ध हो - ऐसा है नहीं - ऐसा कहते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

इसी प्रकार–मिथ्यादृष्टि अपने में रागादिक करता हुआ,... यह सिद्धान्त है। जिसकी दृष्टि में द्रव्य ज्ञायकस्वभाव पूर्णानन्द का नाथ जिसकी दृष्टि में नहीं आया और जिसकी दृष्टि में राग और उपयोग वर्तमान पर्याय दृष्टि में है, वह राग और पुण्य-पाप के भाव चाहे तो दया, दान, व्रतादि के हों, वह अपने उपयोग में राग की एकता करता है, वह मिथ्यादृष्टि बन्ध का कारण है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

भगवान! तेरी चीज़ तो अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु है। आहाहा! परन्तु उसकी दृष्टि का अभाव और वर्तमान पर्याय—अवस्था पर तेरी दृष्टि है तो उस दृष्टि से तुझे तो रागादि उत्पन्न होते हैं, उस राग का उपयोग में एकत्व करता है। आहाहा! जो त्रिकाली वीतरागस्वरूप प्रभु, उसमें राग के भाव को अपना करना, चिकनाहट को जोड़ना, वह मिथ्यादृष्टि बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया?

सचित-अचित का घात हो, परन्तु वह अपनी पर्याय में कहाँ है? द्रव्य-गुण में तो है ही नहीं; द्रव्य-गुण तो पवित्र त्रिकाल है। सच्चिदानन्दस्वरूप सत् सत्य चिदानन्द ज्ञानानन्दस्वभाव भगवान आत्मा... आहाहा! उसमें तो वह परचीज़ है ही नहीं, परन्तु इसकी पर्याय में वह परचीज़ नहीं है। सुमेरुमलजी! ऐसी बातें हैं, प्रभु! आहाहा! यदि पर्याय में वह चीज़ नहीं तो वह चीज़ बन्ध का कारण नहीं। आहा! तब कहते हैं, बन्ध का कारण है कौन? मिथ्यादृष्टि अपने में रागादि करता (हुआ)। भगवान वीतरागमूर्ति ज्ञायकस्वभाव शुद्ध चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का दल भगवान आत्मा, उसमें अपनी पर्याय में राग-द्वेष विकार करता है, वह मिथ्यात्वभाव बन्ध का कारण है। आहाहा! भागचन्दजी! ऐसी बात है, भगवान!

सब भगवान है, भाई! वस्तु से तो भगवानस्वरूप ही है। आहाहा! उसमें शरीर नहीं, कर्म नहीं, अरे! उसमें राग नहीं, अरे! उसमें पर्याय नहीं। ऐसे भगवन्तस्वरूप प्रभु में दृष्टि नहीं करके; अपना सत् साहेब प्रभु परमात्मा अन्दर है। आत्मा परमेश्वर है। आहाहा! ऐसी दृष्टि नहीं करके; पामर एक समय की पर्याय जो जानने-देखने का उपयोग है, उसमें राग और द्वेष विकारी परिणाम को अपने करना, निर्मलानन्द के नाथ में मलिन पर्याय को अपनी करना, (वह बन्ध का कारण है)। आहाहा! ऐसी बातें कहाँ है? आहाहा! प्रभु! भगवन्तस्वरूप, आनन्दस्वरूप भगवानस्वरूप ही तेरा प्रभु है और अन्दर में तो सब भगवान ही हैं, परन्तु उस भगवत्स्वरूप की दृष्टि का अनादि से अभाव है। आहाहा! और अनादि से पर्याय अर्थात् वर्तमान दशा पर जिसकी दृष्टि है, तो वह राग को अपना करता है। यहाँ जो (अपनी) चीज़ है, उसे अपनी की नहीं। आहाहा!

'उपयोग में उपयोग है'—आता है न? 'संवर अधिकार' में? शुद्धपरिणति में आत्मा जानने में आता है, इसलिए उपयोग में उपयोग है। शुद्ध निर्मल अविकारी परिणति के आधार से भगवान पूर्णानन्द का नाथ जानने में आता है। उस पूर्णानन्द की परिणति नहीं करके, रागादि की परिणति करता है तो उसमें आत्मा भासित नहीं होता, आत्मा ख्याल में नहीं आता। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! मार्ग बहुत अलौकिक है। आहाहा! समझ में आया?

मिथ्यादृष्टि अपने में, अपने में; जो चीज़ भगवत्स्वरूप आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु सत्-सत्य, सत्-सत्य, वह सत्यस्वरूप है, त्रिकाली परमात्मस्वरूप भगवान, उसकी दृष्टि नहीं करके... आहाहा! पर्याय में, उपयोग में राग को; चाहे तो शुभभाव हो या अशुभभाव हो, उस पर्याय में—उपयोग में राग को अपना करता है। पर्याय में त्रिकाली को अपना करना चाहिए, (वह नहीं करता)। जिसकी पर्याय है, उसे अपना करना चाहिए। आहाहा! समझ में आया? उसे छोड़कर, अपने त्रिकाली भगवान को पर्याय में अपना करने का छोड़कर... आहाहा! चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो, परन्तु है राग। उस राग को वीतरागी भगवानस्वरूप में उपयोग में राग को अपना करता है, वह मिथ्यादृष्टि, यह महा चिकनाहट जिसने उत्पन्न की है, वह बन्ध का कारण है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा मार्ग है, प्रभु! आहाहा!

जो बहुत से कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ है, ऐसे लोक में काय-वचन-मन का कर्म (क्रिया) करता हुआ,... यह नहीं, यह बन्ध का कारण नहीं। **अनेक प्रकार के करणों...** अर्थात् इन्द्रियों का, सचित-अचित वस्तुओं का घात। आहाहा! एकेन्द्रियादि सचित प्राणी का घात हो, यदि उससे बन्ध होता हो तो (कोई) मुनि है, समिति से ऐसे चलते हैं, उन्हें घात होने पर भी बन्ध नहीं है। आहाहा! आनन्दस्वरूप का ध्यान है, वीतरागस्वरूपी प्रभु हूँ—ऐसा ध्यान है और विकल्प उठा है तो जरा देखकर चलते हैं, इससे सचित-अचित का वहाँ घात हो जाए तो भी बन्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि को; ज्ञानी चौथे या पाँचवें (गुणस्थान में) हो, उसे अभी रागभाव है; एकताबुद्धि नहीं। समझ में आया? उन मुनि को तो राग है ही नहीं, ऐसा बताया है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है, धर्मी है, आत्मा का भान हुआ है, परन्तु वीतरागता नहीं है तो अस्थिरता का राग है, परन्तु उस राग की एकत्वबुद्धि नहीं मानता। आहाहा! कहो, भागचन्दजी! कहाँ उसमें है, तुम्हारे स्थानकवासी में कब था? ऐसी बात है।

यह तो तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान की वाणी है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ गये थे। प्रभु केवलीरूप से विराजमान हैं। वहाँ से आकर ये शास्त्र रचे हैं। आहाहा! भगवान का यह सन्देश है कि बाह्य की क्रिया-प्रवृत्ति, वह आत्मा की पर्याय में नहीं तो वह बन्ध का कारण नहीं। आत्मा की पर्याय में जो राग और द्वेष है, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! आहाहा! द्रव्य-गुण बन्ध का कारण नहीं। वह द्रव्य और गुण तो भगवान अबन्धस्वरूप है। आहाहा! पर्याय भी निर्मल है, वह बन्ध का कारण नहीं है। मलिन पर्याय, जो निर्मलानन्द के नाथ के साथ यह शुभराग—दया, दान, व्रत का भले शुभराग हो, परन्तु वीतरागमूर्ति आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, निर्मलानन्द के नाथ के साथ पर्याय में राग की एकता करना, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! अरे! इसने अनन्त काल में ध्यान दिया नहीं। अनन्त काल... 'अनन्त काल में भटक रहा, बिना भान भगवान, सेये नहीं गुरु-सन्त को...' गुरु-सन्त के वहाँ कहीं पैर दबाना है? आहाहा! वे जो वीतरागभाव बताते हैं, उसकी सेवा नहीं की (-ऐसा कहना है) और राग तथा पुण्य और पाप की सेवा की, वह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

तीन लोक का नाथ, आनन्द का सागर प्रभु, सच्चिदानन्द सत्यसाहेब ऐसा सत्य

जिसका स्वरूप पूरा त्रिकाल है। ऐसे सत्यस्वरूप की दृष्टि न करके, राग और पुण्य-पाप असत्य—कायम रहनेवाली चीज़ नहीं; वह तो विकृत है। उस विकृत अवस्था को अपनी पर्याय में 'मेरी है' ऐसा करता है। आहाहा! और भगवान आत्मा का स्वभाव अपना है, उसे छोड़ देता है, उसको बन्धन होता है। समझ में आया? आहाहा! हमारे रतनलालजी को प्रेम है। कहा, रतनलालजी आयेंगे, उन्हें बहुत प्रेम है। भाई कहते थे। तुम्हारे कलकत्ता के है न? वह कलकत्ता है न? मोहनलालजी पाटनी वहाँ मुख्य है। वे कहते थे, रतनलालजी को बहुत रस है। यहाँ आवे तो ऐसे धुने। यह तो बापू! आत्मा की बात है, प्रभु! यह कहीं कोई पक्ष और पन्थ की बात नहीं है। आहाहा!

तीन लोक का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु अनन्त-अनन्त शक्तियों का सागर, अनन्त स्वभाव का समुद्र, अनन्त गुण का धाम, गम्भीर बड़ा गोदाम! आहाहा! अनन्त गुण का गोदाम भगवान है। आहाहा! उसकी दृष्टि नहीं की, ऐसा सत्य स्वरूप है, उसका स्वीकार नहीं किया और पर्याय में राग और विकार क्षणिक दुःखरूप, जो राग दुःखरूप दशा है, (उसका स्वीकार किया)। धर्मी को भी सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी... आहाहा! जितना राग रहता है, वह दुःख है। आहाहा! उस राग को एकत्व करना, इसका नाम यहाँ मिथ्यात्व और बन्ध का कारण कहा है। समझ में आया? उसे अस्थिरता है, उसे गौण गिन डाली है। आहाहा! यहाँ मुनिदशा की मुख्यता से बात ली है न!

(यहाँ विचार करो कि) इनमें से उस पुरुष के बन्ध का कारण कौन है? प्रथम, स्वभाव से ही जो बहुत से कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ है, ऐसा लोक बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो सिद्धों... सिद्धभगवान हैं, वहाँ कर्म के थोक पड़े हैं। भगवान जो सिद्ध हैं, वहाँ भी कर्म के योग्य परमाणु बहुत पड़े हैं। वह कर्म के योग्य धूलि बन्ध का कारण होवे तो सिद्धों को भी बन्ध होगा। समझ में आया? जहाँ सिद्धपरमात्मा राग से भिन्न होकर पूर्ण वीतरागदशा-सर्वज्ञदशा प्रगट करके जहाँ से मुक्त हुए, वहाँ ऊपर है, यहाँ के अनन्त मुक्त हुए हैं। वे सिद्ध भगवान हैं, वहाँ बहुत धूलि पड़ी है। वहाँ निगोद के जीव भी उनके पेट में हैं। निगोद! पूरे लोक में निगोद भरे हैं न! तो सिद्ध भगवान तो अपने आनन्द में है। उनके क्षेत्र में अन्दर निगोद भी पड़े हैं। आहाहा! परन्तु वे अपने नहीं हैं। अपना तो आनन्द के नाथ की अमृतधारा जो पूर्ण बहती है, उसका

अनुभव करते हैं। समझ में आया? यह धूलि वहाँ है, वह बन्ध का कारण नहीं है। **क्योंकि यदि ऐसा हो तो सिद्धों को भी-जो कि लोक में रह रहे हैं, उनके भी बन्ध का प्रसंग आ जाएगा।** सिद्ध लोक में है न? सिद्ध इस लोक में है न, लोक में? वहाँ कर्म की रज, परमाणु बहुत हैं। यदि वे बन्ध का कारण हो तो (सिद्ध) लोक में ही है तो उन्हें भी बन्ध होगा। जरा न्याय का विषय है, भाई! आहाहा!

काय-वचन-मन का कर्म (अर्थात् काय-वचन-मन की क्रियास्वरूप योग) भी बन्ध का कारण नहीं है;... आहाहा! **क्योंकि यदि ऐसा हो तो यथाख्यात-संयमियों के...** चारित्र जो यथाख्यात है; यथा—जैसा स्वरूप है, वैसी जिसे आत्मख्याति पूर्ण प्रगट हो गयी है, परमात्मा यथाख्यातचारित्र को (प्राप्त हो गये)। आहाहा! उन्हें मन-वचन-काया है, तो भी बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि यथाख्यातचारित्र प्रगट हुआ है। आहाहा! भारी बातें, भाई!

अनेक प्रकार के करण भी बन्ध के कारण नहीं हैं;... इन्द्रियाँ। यह जड़ इन्द्रियाँ हैं, शरीर के अवयव, वे पाँच इन्द्रियाँ हैं। शरीर है, वह आत्मा की पर्याय में नहीं है। शरीर, शरीर में है, तो इन्द्रियाँ शरीर की पर्याय है, आत्मा की पर्याय में शरीर नहीं तो इन्द्रियाँ भी नहीं। आहाहा! समझ में आया? परन्तु उसकी पर्याय में स्वभाव की दृष्टि नहीं होने से राग और द्वेष है, उसे अपना मानता है, वह बन्ध का कारण है। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा!

जड़, इन्द्रियाँ तो शरीरपरिणाम है। इन्द्रियाँ तो शरीरपरिणाम को प्राप्त है; वे आत्मपरिणाम नहीं। वे तो पुद्गल के परिणाम हैं। इसलिए 'शरीरपरिमाण'—ऐसा लिया है न? इन्द्रियाँ शरीरपरिणाम को प्राप्त है—यह ३१ (गाथा में) लिया है न? भाई! द्रव्येन्द्रिय। है न? ख्याल है न? ३१ गाथा। यह पाँच इन्द्रियाँ तो शरीरपरिणाम को प्राप्त है, प्रभु! वे तेरी पर्याय में नहीं है। आहाहा! यह शरीर तेरे द्रव्य-गुण में तो नहीं, परन्तु तेरी पर्याय में नहीं। तेरी पर्याय में आनादि से तू राग और द्वेष करता है, वह तेरी पर्याय में है और उन्हें तूने तेरा माना है, यह मिथ्यादृष्टिपना संसार बन्ध का कारण है। आहाहा! अब काम ऐसा कठिन काम। है? देखो न! नीचे करण का अर्थ इन्द्रियाँ किया है न?

करण भी बन्ध के कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानियों के भी (उस करणों से) बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। केवलज्ञानियों को भी इन्द्रियाँ तो हैं। सर्वज्ञ परमात्मा बिराजते हैं, शरीर तो है, पाँच इन्द्रियाँ हैं। (यदि) इन्द्रियाँ बन्ध का कारण होवे तो भगवान को बन्ध का कारण हो, (परन्तु ऐसा नहीं है)। वे तो केवलज्ञानी हैं। आहाहा! अरेरे! परम सत्य की बातें सुनने को मिलती नहीं। अरे! वह कब अन्दर काम करे? कहीं न कहीं सब रुक गये। एक तो संसार के काम, पूरा दिन पाप में (जाता है)। थोड़ा समय मिले, निद्रा में (जाता है) और थोड़ा समय मिले तो स्त्री-पुत्र को प्रसन्न रखने में (जाता है)। आहाहा! उसमें एकाध घण्टा मिले और सुनने जाए, वहाँ कुगुरु मिले, वह लूट लेता है, व्रत करो, और अपवास करो और... आहाहा! यहाँ कहते हैं कि व्रत और अपवास जो विकल्प, राग है, वह अपनी पर्याय में है। 'वह मेरा है और मुझे लाभ कर्ता है'—ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! बहुत कठिन काम, भाई! आहाहा!

अनन्त काल का संसार; चौरासी लाख योनियाँ, एक-एक योनि में अनन्त बार जन्म लिया है। आहाहा! अनन्त-अनन्त काल... भूतकाल देखो तो भवरहित का भूतकाल है? क्या कहा? आज पहले के भव देखो तो किसी समय भवरहित आत्मा है? है? यह भव... यह भव... यह भव... यह भव... भव... भव... भव अनन्त... आहाहा! भव कलंक है। भगवान अखण्डानन्द को भव, वह तो कलंक है। योगीन्द्रदेव ने कहा है। योगीन्द्रदेव के दोहे (योगसार) है न? भव धारण करना, वह कलंक है। तीन लोक का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु भव और भव के भावरहित चीज़ है। आहाहा! उसमें भव अनन्त काल से करता आया है। उसका कारण कि अन्तर में परमात्मस्वरूप है, उसकी दृष्टि का अभाव है और पर्याय में राग-द्वेष करता है, उनकी सत्ता का स्वीकार—'ये मेरे हैं'—ऐसा स्वीकार (है, वह परिभ्रमण का कारण है)। आहाहा! दूसरे प्रकार से कहें तो उसे पर्यायबुद्धि कहा है। उपयोग में राग का करना, अर्थात् इसका अर्थ कि पर्यायबुद्धि है। आहाहा! सूक्ष्म है, भगवन्त! तेरे घर की बातें हैं, भाई! आहाहा! उस घर में कैसे जाया जाए और घर में क्यों नहीं जाता, यह बात चलती है। आहाहा!

कहते हैं कि यदि मन-वचन और काया बन्ध का कारण होवे तो केवलियों को भी बन्ध का कारण होना चाहिए। **सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात भी बन्ध का**

कारण नहीं है;... आहाहा! अरे! एकेन्द्रिय जीव का घात हो। अरे! मुनि हैं, वीतरागी सन्त हैं... आहा! यहाँ मुख्य तो उन्हें लिया है। समकिती को—ज्ञानी को थोड़ा राग है न? और राग है, उतना दुःख भी है। इसलिए यहाँ मुनि की मुख्यता ली है। गौणरूप से तो सम्यग्दृष्टि को—ज्ञानी को भी राग की एकता नहीं है; अस्थिरता है। समझ में आया? आहाहा! आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि को राग की एकता टूट गयी है, स्वभाव की एकता प्रगट हो गयी है, परन्तु अभी अस्थिरता गयी नहीं। आसक्ति—चारित्रदोष है। आहाहा! इसलिए उन्हें यहाँ मुख्य में नहीं लिया। आहाहा!

सचित्त तथा अचित्त... भाषा देखो! आहाहा! सचित्त—एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय का घात हो जाए। मुनि ऐसे चलते हों, वीतरागी मुनि हैं, अन्दर विकल्प आया और सूक्ष्म बारीक अण्डे धूल में बहुत सूक्ष्म हों, पंचेन्द्रिय अण्डा हो, वह मर जाए, परन्तु उपयोग में समिति से प्रवर्तते हैं, इसलिए बन्ध का कारण नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : बन्ध तो अपने दोष से होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, भाव से, राग से। यह कहा न, क्या कहा? राग की परिणति की एकताबुद्धि अथवा अस्थिरता। उस अस्थिरता को यहाँ मुख्य नहीं लिया। यहाँ मुख्य तो राग को उपयोग में एकत्व करना, वह मुख्य लिया है। मिथ्यात्व (लिया है)। यह आयेगा, उपयोग में राग को करना, वह मिथ्यात्व है, बस! यह बात है। आहाहा! उपयोग में परमात्मा का जो उपयोग चैतन्य है, त्रिकाली उपयोग भगवान है, उसे उपयोग में न लेकर, उपयोग में राग को लेना, वह बन्ध का कारण है। पामर को प्रभु के साथ जोड़ देना और प्रभु के साथ जोड़-तोड़ डालना, (वह बन्ध का कारण है)। सुमेरुमलजी! आहाहा! सुमेरु—आत्मा ऐसा है अन्दर, हिले नहीं। आहाहा!

परन्तु उसकी दृष्टि का ठिकाना नहीं, इसलिए (भटकता है)। आहाहा!

कहते हैं कि **सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात भी बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो...** मुनि को मुख्य लिया है। **जो समिति में तत्पर हैं...** महामुनि पर्याय में वीतरागी आनन्द की धारा बहती है। आहा! सम्यग्दृष्टि को भी आनन्द का अंश आता है। मुनि को तो अतीन्द्रिय प्रचुर आनन्द है। पाँचवीं गाथा में है, पाँचवीं गाथा

में कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं, मैं तो प्रचुर आनन्द से—मेरे निज वैभव से मैं कहूँगा। यह निज वैभव, हों! यह धूल का पैसा-बैसा (वैभव नहीं है)। भागचन्दजी! मेरा निज वैभव अतीन्द्रिय आनन्द जो प्रचुर वेदन में आया है, वह मेरा निज वैभव है। प्रगट, हों! पूरी चीज़ तो है। आहाहा! परन्तु वेदन में न आवे तो वह चीज़ मेरे किस काम की?—ऐसा कहते हैं। मेरी चीज़ का आश्रय करके जो निर्मल पर्याय, आनन्द की धारा-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की धारा आयी, उसका मुझे वेदन हुआ, वह मेरा निज वैभव है। आहाहा!

यह सब पैसेवालों की धूलधाणी निकाल डाली। सुमेरुमलजी! पैसेवाला, स्त्रीवाला, पुत्रवाला... कितने वाला*? एक वाला पैर में निकले (तो चिल्लाहट मचाता है)। कोई पानी अपथ्य होता है न? पानी ठीक न हो, उसमें से वाला निकलता है। एक वाला निकले तो चिल्लाहट मचाता है, (तो यह तो) तुझे कितने 'वाला' लगे हैं? प्रभु! क्या है तुझे यह? राग मेरा, पुण्य मेरा, पाप मेरा, शरीर मेरा, पुण्यवाला, पापवाला, रागवाला, शरीरवाला, कर्मवाला, स्त्रीवाला, पुत्रवाला, इज्जतवाला... अरे! प्रभु! इन सबमें तो राग की एकता काम करती है। आहाहा! समझ में आया? कठिन बातें, बापू! यह उपदेश कोई अलग प्रकार का है, भाई! जगत में अभी सम्प्रदाय में प्रवाह चलता है, उससे यह बात अलग है, भगवान! स्थानकवासी में कहते हैं सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो। मन्दिरमार्गी में कहते हैं भक्ति करो, यात्रा करो। दिगम्बर में (कहते हैं) वस्त्र छोड़ो और प्रतिमा लो न! अरे! आहाहा! वैष्णव में कहते हैं कि ईश्वर की भक्ति करो।

आये नहीं थे तुम्हारे? इसके सेठ हैं मुम्बई में। पचास करोड़ रुपये। वैष्णव हैं, पचास करोड़ रुपये। दर्शन करने आया था। महिलाएँ सब मन्दिरमार्गी जैन हैं और आदमी सब वैष्णव, पूरा घर। पचास करोड़। आया था। (उससे कहा)—भाई! तुम्हारे 'नरसिंह मेहता' तो ऐसा कहते हैं कि 'ज्यां लगी आत्मतत्त्व चिह्नयो नहीं', वहाँ ऐसा नहीं कहा (कि) 'ज्यां लगी ईश्वर मान्या नहीं।' सुमेरुमलजी! आता है? आहाहा! बहिन माता को तो सब खबर है। आहाहा! 'नरसिंह मेहता' में आता है—'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिह्नयों नहीं, त्यां लगी साधना (सर्व झूठी)'। तूने ईश्वर को माना और पूजा, भक्ति तथा व्रत, तप

* एक प्रकार का रोग।

सब एक बिना के शून्य हैं। 'शु थयुं तप ने तीर्थ करवा थकी...' उसमें—वैष्णव में आता है। 'नरसिंह मेहता' जूनागढ़, नहीं? जूनागढ़ में हो गये हैं। मैंने कहा, भाई! देखो! नरसिंह मेहता तो ऐसा कहते हैं। परन्तु पैसे के कारण रच-पच गये हैं। पचास करोड़ रुपये। ऐसे बेचारा आया था, हजार रुपये रखे, नारियल रखा। आहाहा! घर पधारो न! महिलाएँ सब जैन हैं न! इसलिए महिलाओं को बहुत प्रेम। महाराज! मेरे यहाँ (पधारना)। कहा, भाई! आयेंगे, हों! वहाँ गये, तब पन्द्रह सौ रुपये रखे, नारियल रखा। परन्तु यह बात समझ में नहीं आती। धूल रखी, उसमें क्या? आहाहा! अनन्त काल का आग्रह जो झूठा है, उसे छोड़ना, वह छोड़ने योग्य है। बाकी तो सब ठीक है। आहा!

यहाँ कहते हैं, सचित्त और अचित्त का घात। पंचेन्द्रिय अण्डा नीचे मर जाए। आहाहा! सूक्ष्म जीव (हो), मुनि चलते हों और ऐसे सूक्ष्म जन्तु आवे, चलते हुए एकदम आ गये, दूर से पैर के नीचे आ जाए, परन्तु उन्हें उसका बन्ध नहीं है। खेत में होते हैं न? खेत, जमीन। किसी जगह जुगनू हो, सुक्ष्म जुगनू। आज थे न? दिशा जाते थे। इतने जुगनू... इतने जुगनू आते थे। आहाहा! यह देखो! भगवान अन्दर है, कहा। अभी यह शरीर (मिला है)। वह कुछ आया है, प्रकाश। क्या कहलाता है? काँच का एक आया है। भाई एक बड़ी बैटरी लाये हैं। अलग प्रकार की नयी बैटरी है। भाई लाये हैं। आहाहा! इतने प्रकाश में जुगनू दौड़ादौड़ करे।

अरे! प्रभु! चैतन्य का प्रकाश अन्दर है। वहाँ जाता नहीं और यह क्या करता है? आज जंगल गये थे, (तब की बात है)। आहाहा! अरे! वह आत्मा कब मनुष्य हो? जुगनू बेचारा, मरकर वापस तिर्यंच में जाए। क्योंकि कुछ भान नहीं होता; इसलिए उसी में और उसी में अवतरित हो। पशु में जाए, गाय में, घोड़ा (जाए)। आहाहा! अरेरे! ऐसे अवतार प्रभु! तूने अनन्त किये हैं न! आहा! भूल गया, इसलिए नहीं था—ऐसा कैसे कहा जाए? जन्मने के बाद बारह महीने क्या था? माता ने कैसे दूध पिलाया? कैसे नहलाया, तुझे खबर है? खबर नहीं, इसलिए नहीं था? ऐसे कैसे कहा जाए? इसी प्रकार भवभ्रमण, खबर नहीं थी, इसलिए नहीं था—ऐसा कैसे कहा जाए? आहाहा! अनन्त काल हुआ, प्रभु! इस राग और पुण्य-पाप की एकताबुद्धि करते हुए मिथ्यात्व से अनन्त भव किये। यह मिथ्यात्व-राग की एकताबुद्धि, वह संसार का मूल है, यह चौरासी के अवतार का मूल है। वह फिर

समकिती को अस्थिरता होती है, परन्तु उसका बन्ध थोड़ा है, उसकी गिनती कम गिनी है और उतना दुःख भी है। समकिती को जितना राग आता है, उतना दुःख भी है। जितना आत्मा का आनन्द प्रगट हुआ, उतना आनन्द है और साथ में दुःख भी है, मिश्र (दशा) है। सर्वज्ञ परमात्मा को अकेला आनन्द है। मिथ्यादृष्टि को अकेला दुःख है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को दुःख और आनन्द दोनों इकट्ठे हैं, अभी पूर्ण (दशा) नहीं है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि जो मुनि है, तीन कषाय का अभाव (हुआ है), देखकर समिति से चलने का भाव है, उनके पैर से सचित्त-अचित्त घात हो जाए तो भी बन्ध नहीं है। समझ में आया? क्योंकि घात का जो रागभाव है, वह उन्हें नहीं है। उनका उपयोग तो अपने में शुद्ध है। शुद्ध उपयोग है और जरा चलने का विकल्प उठा है, वह भी शुभ है। आहाहा! ऐसे देखकर चलते हुए कोई आ गया। यह कहते हैं, है?

सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात भी बन्ध का कारण नहीं है;... आहाहा! भाई चले गये? लड़का था न? 'खेड़ा... खेड़ा'! है? गये वे? 'खेड़ा' का लड़का था। वह बेचारा घबरा गया था। पाँच सौ-छह सौ का वेतन है, नौकरी (करता है)। स्थानकवासी है और वापस वहाँ पानी बहुत घात हो। छह काय के जीवों का घात हो, उसमें मस्तिष्क ऐसा हो गया है। भाई! एक लड़का था। दो-तीन दिन रहे, चला गया लगता है। उसके भाईबन्ध इसमें नौकर है। शैलेष है न? शैलेष। हिम्मत का भाई शैलेष नौकर है, उसमें वह नौकर है। उसे लेकर आया। नरम व्यक्ति, लड़का जवान। पाँच सौ का वेतन, परन्तु यन्त्र में पानी का घात हो, इसलिए ऐसे... एकदम पागलपन जैसा हो जाए। (कहा), बापू! उलझ नहीं, भाई! वह मेरी चीज़ नहीं—ऐसा पहले निर्णय करना। समझ में आया? वह चीज़ मेरी नहीं है और फिर उसमें होनेवाला राग है, वह भी मेरा नहीं है। आहाहा! पहले यह करना है, उलझना नहीं। कहा।

आत्मा के अतिरिक्त दूसरे पदार्थ अनन्त चाहे जो हों, देव-गुरु और शास्त्र हों, परन्तु वह मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी, मकान आदि मेरी चीज़ नहीं है। वे मेरी (चीज़) नहीं है। वह ममता छोड़ और फिर आसक्ति का राग होता है, उसे भी हेयबुद्धि से जान; उपादेय तो भगवान (आत्मा) है। आहाहा!

बेचारा उलझन में था। बहिन लाये थे। मरघाबेन। वहाँ उतरे थे। जवान व्यक्ति है, २६ वर्ष की उम्र। उलझन में आ जाए। स्थानकवासी, (इसलिए)! पानी का घात हो, छह काय का घात (हो), परन्तु छह काय में तू है या नहीं? यह पर को करता हूँ और राग करता हूँ, वह मेरा है—यही तेरा घात हुआ। आहाहा! पर की दया पाल सकता हूँ, यही मिथ्यात्वभाव, वही आत्मा का घात है। भाई! तुझे खबर नहीं। पर की हिंसा कर सकता हूँ, यह तो है ही नहीं। पर प्राणी की पर्याय को दूर करना, वह कहीं आत्मा की ताकत है? यह राग करे, परन्तु परप्राणी का नाश कर सके, हिंसा कर सके, यह तीन काल में नहीं कर सकता। तथा पर की दया पाल सके? पर की दया का भाव-राग आता है, परन्तु पर की—परद्रव्य की दया पाल सके? एक द्रव्य परद्रव्य की पर्याय कर सके? बहुत कठिन काम।

यहाँ कहते हैं, प्रभ! एक बार सुन! मुनिराज समिति में चलते हैं, उनके पैर तले कोई एकेन्द्रिय, सूक्ष्म पंचेन्द्रिय जीव आ जाए (तो भी) उन्हें बन्ध नहीं है। समझ में आया? सचित्त-अचित्त के घात से बन्ध होता हो तो उन मुनि को बन्ध होना चाहिए, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? मुनि का मुख्यरूप से दृष्टान्त दिया है, क्योंकि समकिती है, ज्ञानी है, धर्मी है, परन्तु उसे अभी राग, अव्रत का राग है। आहाहा! इसलिए उन्हें यहाँ मुख्यरूप से गिना नहीं है। नीचे भावार्थ में कहेंगे। आहाहा!

जिसने राग की एकता तोड़ी है और सम्यग्दर्शन हुआ है, उस जीव को राग की एकता का मिथ्यात्व का बन्ध अब नहीं है। समझ में आया? परन्तु जितनी अस्थिरता है, (उतना बन्ध है)। दसवें गुणस्थान तक बन्ध है। दसवें गुणस्थान में एक लोभ का अंश है न? दसवीं भूमिका। चौथे-पाँचवें में तो वह होता ही है। आहा! दसवें गुणस्थान में लोभ का अंश है। दसवें में छह कर्म बँधते हैं। चौथे-पाँचवें में तो सात-आठ कर्म बँधते हैं। आहाहा! समझ में आया? इसलिए उसे रागभाग है। मुनि की मुख्यता दी है, उसका कारण यह है कि उन्हें राग नहीं है। समझ में आया? आहाहा! बन्ध में कहेंगे।

समिति में तत्पर हैं, उनके (अर्थात् जो यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं, ऐसे साधुओं के) भी (सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं के घात से) बंध का प्रसंग आ जाएगा। इसलिए न्यायबल से ही यह फलित हुआ... न्याय से यह बात सिद्ध हुई कि **उपयोग में**

रागादिकरण (अर्थात् उपयोग में रागादिक का करना), बन्ध का कारण है। आहाहा! अपना जो उपयोग है—जानन-देखन पर्याय, उसमें विकार और राग को अपना करना, वही मिथ्यात्वभाव और बन्ध का कारण है। आहाहा! मुख्यरूप से गिना न? मुनि को लिया है न? आहाहा!

बाकी तो सम्यग्दृष्टि को भी जितना राग है, उतना कर्ता-भोक्ता है। ४७ नय में आ गया है। प्रवचनसार ४७ नय। समकिती है। सच्चा अनुभवी धर्मी, ज्ञानी पाँचवें गुणस्थान में है, उसे भी थोड़ा राग आता है, उसका कर्ता भी है। परिणमन है न? करनेयोग्य है—ऐसा नहीं। करनेयोग्य है—ऐसा कर्ता नहीं, परन्तु परिणमन है, इसलिए कर्ता है। अरेरे! ऐसी बातें! नय में आ गया है और उतना भोक्ता भी है। समकिती ज्ञानी धर्मात्मा जितना राग है, उतना दुःख का भोक्ता भी है। आहाहा! ४७ नय में आ गया है। अन्तिम अधिकार से पहले आ गया है। आहाहा!

यहाँ मुख्यरूप से मुनि लिये हैं कि जिन्हें वीतरागीदशा है। आहा! जो अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में झूलते हैं, उन्हें मुनि कहते हैं। उन्हें बाह्य में वस्त्र का धागा भी नहीं होता, अन्दर में राग का कण अल्प हो, परन्तु उसके स्वामी नहीं होते। आहा! अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में पवित्र आनन्द जो भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु (है), उसके अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में अन्दर में झूलते हैं। आहाहा! क्षण में विकल्प आवे तो छठवाँ गुणस्थान, क्षण में विकल्प टूट जाए तो सातवाँ गुणस्थान। बापू! यह मुनिपना है। आहाहा! अभी तो कहाँ (मुनि है)। आहा! यह मुनि का दृष्टान्त यहाँ दिया है। ऐसे मुनि वीतरागभाव में वर्तते हैं और समिति से प्रवर्तते हैं। इतना शुभ विकल्प है। उनके पैर से कोई सचित्त-अचित्त जीवघात हो जाए तो बन्ध नहीं है। आहाहा!

तब बन्ध का कारण क्या? **न्यायबल से ही यह फलित हुआ कि उपयोग में रागादिकरण...** आहाहा! यह पूरा सिद्धान्त। जिस ज्ञान के उपयोग में उपयोगस्वरूप आना चाहिए... 'संवर अधिकार', भाई! जिस उपयोग—शुद्ध उपयोग में—शुद्धपरिणति में आत्मा आना चाहिए, उसे न लाकर उपयोग में राग लाया। आहाहा! वह राग चाहे तो दया, दान और व्रत, भक्ति का हो, परन्तु उस उपयोग में राग का करण, वह बन्ध का कारण है।

भाई! सुमेरुमलजी! समझ में आता है? आहाहा! भागचन्दजी! ऐसा कहीं नहीं था। स्थानकवासी में ४५ वर्ष रहे हैं। शरीर को ९१ चलते हैं, गर्भ के (गिनकर) ९१ (चलते हैं)। शरीर के, हों! गर्भ के। जन्म के इस बैशाख शुक्ल २ पर जन्म का लगेगा। गर्भ के गिने जाते हैं न? उस भव से आये हैं, उसे अभी ९१ वर्ष चलते हैं। महाविदेह में से आये हैं न! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! तू सुन तो सही! तेरी उम्र नहीं, तेरी स्थिति नहीं, आहाहा! तेरा राग नहीं। एक व्यक्ति को मैंने पूछा था, जवान व्यक्ति था। यहाँ कितने ही हमारे पास आते हैं न? महाराज को सुनेंगे तो अपना धन्धा-बन्धा ठीक चलेगा। ऐसे बहुत आते हैं। एक जवान आया था, बीस-पच्चीस लाख की दुकान करनी थी। मैंने कहा—इस आयुष्य का प्रमाण कहते हैं, वह देह का है या आत्मा का? वह कहे—मुझे कुछ खबर नहीं। ३५-४० वर्ष का जवान था। २५ लाख की दुकान खोलनी थी। यह उम्र कहलाती है, २५-५०-६०-७० (वर्ष), यह शरीर की उम्र होगी या आत्मा की? तो कहे, यह खबर नहीं। यह (शरीर) तो जड़-मिट्टी है, इसकी क्या उम्र है? भगवान की उम्र तो अनादि-अनन्त है। सुमेरुमलजी! आहाहा! प्रभु तो सच्चिदानन्दनाथ अन्दर अनादि-अनन्त है, उसे उम्र कैसी? यह तो इसकी अवधि है कि इतने वर्ष हुए और फिर इतने वर्ष में छूट गया। आहा!

यहाँ तो भगवान आचार्य कहते हैं कि प्रभु! शरीर मेरा है, यह बात यहाँ नहीं है, वह परचीज़ है। वह तेरी पर्याय में है नहीं। तेरी पर्याय में राग और द्वेष, पुण्य और पाप विकार आता है, उसे अपना करना; जो स्वभाव में नहीं है, उसे अपना करना, वही बन्ध का कारण मिथ्यात्व है। आहाहा! कहो, पाटनीजी! ऐसा है। साधारण समाज नहीं है, प्रभु! कोई कहे कि साधारण समाज में ऐसा? अरे! प्रभु! साधारण नहीं है; वह भगवानस्वरूप है, पूर्णानन्द का नाथ है। आहा! भगवत्स्वरूप अन्दर विराजता है, उसकी इसे खबर नहीं है। आहाहा! ऐसे स्वरूप की खबर बिना जो राग की खबर करके, राग मेरा है—ऐसा मानता है... आहा! उस मिथ्यादृष्टि को संसार का बन्ध होता है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! सन्तों ने क्या शैली की है!!

दिगम्बर सन्त कहते हैं, प्रभु! तू पूर्णानन्द का नाथ है न! यह तेरी पर्याय वहाँ जाती

नहीं, इसलिए तेरी पर्याय में राग को अपना करता है, यह संसार है, प्रभु! आहाहा! चाहे तो ग्यारह अंग का ज्ञान किया हो, और पंच महाव्रत चुस्त, निर्मल पालता हो, उसके लिये बनाया हुआ आहार प्राण जाए तो भी न ले। आहाहा! परन्तु वह सब राग की क्रिया है। उस राग को अपने उपयोग में (लाता है); भगवान को उपयोग में न लाकर उपयोग में राग को लाना... आहाहा! तीन लोक का नाथ बादशाह परमात्मा, उसे पर्याय में न पधराकर, उस पर्याय में तूने राग को पधराया। आहाहा! उसकी तूने प्रतिष्ठा की। हैं? तूने प्रभु की प्रतिष्ठा छोड़ दी। आहाहा! बहुत कठिन काम। अभी तो जगत में ऐसा प्रवाह चला है कि क्रियाकाण्ड और बाहर का जानपना, वाँचन और यह प्रतिमा लेना और यह लेना और यह लेना... एक व्यक्ति राजकोट में कहता था कि आठ प्रतिमा लेकर बैठे हैं, परन्तु ग्यारह प्रतिमा बिना हमारा आदर नहीं होगा, इसलिए ग्यारह लेनी पड़ेगी। कहो, अरे! भगवान! तू क्या करता है? अरेरे! आहाहा!

यहाँ परमात्मा अन्त में (कहते हैं), बन्ध का कारण जो चिकनाई है, वह है; धूल नहीं, हथियार नहीं, इन्द्रियाँ नहीं, सचित्त-अचित्त घात नहीं। ऐसे धर्मात्मा को, मुनि है, समिति से चलनेवाले को सचित्त-अचित्त का घात होने पर भी उन्हें बन्ध नहीं है, उसका उन्हें बन्ध नहीं है। इसी प्रकार जो आत्मा के उपयोग में भगवान को नहीं लाकर... आहाहा! अपने उपयोग में भगवान की प्रतिष्ठा नहीं करके राग को अपना मानकर प्रतिष्ठा करता है, वह मिथ्यादृष्टि संसार को बढ़ाता है। मालचन्दजी! यह माल है, यह। अरेरे! सुनने को मिले नहीं। क्या करे? समय चला जाता है, भाई! महीना, समय जो जाता है, वह मृत्यु के समीप जाता है। हैं? आहाहा! मृत्यु निश्चित है। जिस समय में देह छूटनी है, वह निश्चित है। उसमें कोई आगे-पीछे होनेवाला नहीं है। आहाहा! काल चला जाता है। उसमें यदि समझ—ज्ञान का डोरा नहीं पिरोया तो प्रभु! डोरा बिना की सुई खो जाएगी। डोरा समझे? धागा-धागा। आहाहा! बन्ध का कारण यह है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३१५, कलश - २३७ से २४१, श्लोक-१६४ बुधवार, भाद्र कृष्ण १३
दिनाङ्क - १९-०९-१९७९

समयसार, बन्ध अधिकार की पाँच गाथाओं का भावार्थ है। भावार्थ है न? **यहाँ...** सूक्ष्म बात है। अनन्त काल से पर्यायबुद्धि अर्थात् वर्तमान अवस्था की दृष्टि करके राग के ऊपर उसका लक्ष्य जाता है। वस्तु अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु है, शुद्ध आनन्दकन्द अखण्ड, उस पर अनादि से दृष्टि नहीं है। दृष्टि वर्तमान पर्याय-अवस्था, अंश जो है, उस पर इसकी अनादि से क्रीड़ा है। पर्याय अंश में। पर्यायबुद्धि है तो पर्याय पर लक्ष्य जाता है तो राग हो जाता है। राग चाहे तो शुभ हो या अशुभ हो, वह शुभ-अशुभराग अपनी पर्याय अर्थात् उपयोग में करना, वही मिथ्यात्व और संसार है। सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। क्योंकि वस्तु जो है सच्चिदानन्द प्रभु, पूर्णानन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शान्ति, पूर्ण प्रभुता, ऐसी अनन्त शक्ति का संग्रहालय प्रभु भगवान आत्मा है। उस द्रव्य पर तो कभी दृष्टि की नहीं। वह है तो अनादि का है और है, वह निरावरण है, परिपूर्ण है, जिसमें विपरीतता अथवा अपूर्णता है नहीं। आहाहा! परन्तु यह बात सुनने को नहीं मिली और सुनने को मिली तो पर्यायबुद्धि में सुनकर निकाल डाली कि यह है। आहाहा!

कहते हैं कि अपना स्वरूप शुद्ध परम पवित्रता का पिण्ड प्रभु, वह वस्तु अनादि की है (और) पर्यायबुद्धि भी अनादि की है। समझ में आया? वह पर्याय अर्थात् एक समय की व्यक्त जो प्रगट दशा है, उस पर अनादि की सब क्रीड़ा है। दया, दान, व्रत, भक्ति, काम-क्रोध, पाँच जड़ इन्द्रियों से जानना, उन इन्द्रियों से जड़ जानने में आता है। समझ में आया? पर्याय में—वर्तमान अवस्था में जिसकी दृष्टि है, उसे पाँच इन्द्रियों से जड़—पर जानने में आता है। आहाहा! मन है, उसे एक ओर रखो और ऐसे देखो तो अन्दर में पर्यायबुद्धि से अंशबुद्धि है, तो उसका लक्ष्य जाता है तो राग के ऊपर जाता है। राग है न? चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो। उस राग का एकत्व करना, अपनी पर्याय में—उपयोग में एकत्वबुद्धि करना, वही मिथ्यात्व है, संसार और जन्म-मरण का मूल है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, प्रभु!

यह कहते हैं **यहाँ निश्चयनय को प्रधान करके कथन है।** भावार्थ है न?

निश्चय अर्थात् यथार्थदृष्टि से यह कथन है। **जहाँ निर्बाध हेतु से सिद्धि होती है,...** जिसमें कोई भी अपवाद नहीं चलता, (ऐसी) निर्बाध युक्ति से वस्तु की सिद्धि होती है। **वही निश्चय है।** यह निश्चय की व्याख्या की। समझ में आया? निश्चय अर्थात् जिसमें कोई अपवाद नहीं, कोई बाधा नहीं, कोई विरोध नहीं, कोई अन्याय नहीं। सत्य वस्तु जैसी है, वैसी कहना, जानना, वह निश्चयनय है।

बन्ध का कारण विचार करने पर निर्बाधतया... विघ्न बिना यथार्थरूप से **यही सिद्ध हुआ कि-मिथ्यादृष्टि पुरुष...** आहाहा! जिसकी बुद्धि पर्याय के ऊपर है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! पर्यायमूढ़ा परसमया, ऐसा प्रवचनसार में ज्ञेय अधिकार में है। अहा! **मिथ्यादृष्टि पुरुष...** पुरुष अर्थात् आत्मा। स्त्री का आत्मा हो या पुरुष का (हो)। आत्मा तो आत्मा है, उसमें स्त्री-पुरुष है नहीं। आहा!

मिथ्यादृष्टि पुरुष जिन राग-द्वेष-मोहभावों को अपने उपयोग में करता है... यह राग-द्वेष, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम अज्ञानी अपने परिणाम-उपयोग में करता है। आहाहा! जो उसका स्वरूप नहीं है, उसके स्वभाव में नहीं है—ऐसे जो पुण्य और पाप, राग और द्वेष, मोह-मिथ्यात्व (है, उसे) अपने उपयोग में एकत्व करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! **रागादिक ही बन्ध के कारण हैं।** वह अपनी पर्याय में—जानने-देखने के उपयोग में रागादि को अपना करना, वही बन्ध का कारण है, वही संसार की जड़ है, जिसमें चौरासी लाख योनि उत्पन्न करने का गर्भ-ताकत है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई!

इसने कभी पर्यायबुद्धि छोड़कर अन्तर क्या चीज़ है, पूर्ण शुद्ध चैतन्य आनन्दघन है, ऐसी दृष्टि कभी नहीं की। समझ में आया? कहीं न कहीं किसी भी कारण से बाहर में अटक गया। अटकने के कारण अनन्त और छूटने का कारण एक। अन्तर भगवान पूर्णानन्द के नाथ को अन्दर में जानना, वह एक ही छूटने का कारण है। आहाहा! निजघर में जाना। आहा! यहाँ कहते हैं **रागादिक ही बन्ध के कारण हैं।** (रागादिक) क्या? अकेला राग यहाँ नहीं लिया। यहाँ उपयोग में रागादिक का करना, वह बन्ध का कारण है। समझ में आया?

उनके अतिरिक्त अन्य-बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से परिपूर्ण लोक,... भरा है।

कर्मयोग्य परमाणुओं से दुनिया भरी है, वह बन्ध का कारण नहीं है। **मन-वचन-काय के योग,...** बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! **अनेक करण...** अर्थात् इन्द्रियाँ। इन्द्रियाँ भी बन्ध का कारण नहीं है। **चेतन-अचेतन का घात बन्ध के कारण नहीं हैं; यदि उनसे बन्ध होता हो तो सिद्धों के,...** क्या कहते हैं? कि कर्मयोग्य परमाणु हैं, उनसे यदि बन्ध होता हो तो सिद्धभगवान जहाँ बिराजते हैं, वहाँ कर्मवर्गणा तो पड़ी है। समझ में आया? यदि कर्मवर्गणा बन्ध का कारण होवे तो सिद्धभगवान बिराजते हैं, वह कर्मवर्गणा तो पड़ी है, (परन्तु सिद्ध भगवान को बन्ध नहीं है, इसलिए कर्म परमाणु) बन्ध का कारण नहीं है। परमात्मा जहाँ विराजते हैं न? मुक्ति-लोकाग्र में सिद्ध... सिद्ध (विराजते हैं)। आहाहा! वहाँ लोक में भी कर्म होने के योग्य परमाणु अनन्त हैं, अनन्त निगोद जीव भी उस क्षेत्र में है। परमात्मस्वरूप के क्षेत्र में तो निगोद के जीव भी हैं। आहाहा! वह कहीं बन्ध का कारण नहीं है।

अनेक करण... (अर्थात्) इन्द्रियाँ। मन-वचन-काया का योग बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि मन-वचन-काया तो यथाख्यातचारित्रवन्त को भी है, तो वह बन्ध का कारण नहीं है। इन्द्रियाँ; केवली को इन्द्रियाँ हैं। पाँच जड़ इन्द्रियाँ। सर्वज्ञ परमात्मदशा प्राप्त हुई, उन्हें यह जड़ इन्द्रिय शरीर तो है, परन्तु इन्द्रियाँ बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! **चेतन-अचेतन का घात-बन्ध के कारण नहीं हैं; यदि उनसे बन्ध होता हो तो सिद्धों के,...** बन्ध होगा। **यथाख्यात चारित्रवानों के,...** बन्ध होगा, **केवलज्ञानियों के...** (भी बन्ध होगा)।

यदि सचित्त-अचित्त के घात से बन्ध होवे तो **समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों के बन्ध का प्रसंग आ जाएगा।** पहले आया था न? मुनि आत्मध्यान आनन्दकन्द प्रभु में (लीन हैं)। सम्यग्दर्शन में आनन्द का अनुभव होता है, परन्तु मुनिपने में तो अतीन्द्रिय आनन्द की पर्याय में बाढ़ आती है। जैसे समुद्र में किनारे पानी की बाढ़ आती है.. आहाहा! अरे! प्रभु! वैसे आत्मा की पर्याय में—अवस्था में मुनि को इतनी अतीन्द्रिय (आनन्द की) बाढ़ आती है, प्रचुर स्वसंवेदन होता है। आहा! वे समितिपूर्वक चलते हैं। कोई सचित्त-अचित्त जीव का घात हो जाए (तो भी) बन्ध नहीं होता। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! **परन्तु उनके तो बंध होता नहीं है। इसलिए इन हेतुओं में (कारणों**

में) व्यभिचार (दोष) आया। यदि पर से बन्ध होवे तो व्यभिचार आता है, सत्य बात रहती नहीं, असत्य हो जाता है। समझ में आया? आहाहा! **इसलिए यह निश्चय है कि बन्ध के कारण रागादिक ही हैं।**

यहाँ समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों का नाम लिया गया है और अविरत, देशविरत का नाम नहीं लिया... सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में है। ज्ञानी है, आत्मा का अनुभव है। पाँचवें गुणस्थान में श्रावक है। यह वाड़ा के श्रावक की बात नहीं है। अन्तर श्रवण-मनन करके जिसने राग से विवेक अर्थात् भिन्न करके भेदज्ञान की स्थिरता प्रगट की है, (वह श्रावक है)। आहाहा! उस श्रावक का नाम यहाँ नहीं लिया। क्यों? चौथे गुणस्थान, पाँचवें गुणस्थान की बात नहीं ली। आहाहा! है? इसका कारण है।

अविरत तथा देशविरत के बाह्यसमितिरूप प्रवृत्ति नहीं होती... अविरति है, उसे अभी अव्रत के परिणाम हैं, राग है, अस्थिरता का राग है। सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, तो भी ज्ञानी को एक अनन्तानुबन्धी का राग नहीं, परन्तु अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन ऐसे तीन कषाय का राग है। आहाहा! समझ में आया? और जितना राग है, उतना ज्ञानी को दुःख भी है। ज्ञानी को! कहो, बालचन्दजी! ज्ञानी को दुःख नहीं होता—ऐसा कहते हैं न? सुमेरुमलजी! बड़े भ्रम में पड़े हैं। यह बात ही नहीं है, भाई! यहाँ तो कहते हैं, चौथे गुणस्थान में, पाँचवें गुणस्थान में भी... चौथे गुणस्थान में तीन कषाय का राग है, पाँचवें में दो कषाय का राग है तो उसे उतना बन्ध का कारण है। आहाहा! और उसका उतना दुःख भी है। जितना राग है, उतना दुःख ज्ञानी को भी है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु वह राग है, उसकी बात यहाँ नहीं ली। यहाँ तो मुनि की बात ली है। जिन्हें अन्तर वीतरागता प्रगट हुई है। भावलिंगी सन्त। यह कहते हैं, देखो!

चारित्रमोह संबंधी राग से किंचित् बंध होता है;... देखो! सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को और पाँचवें गुणस्थानवाले सच्चे श्रावक, समकिती, अनुभवी को भी **चारित्रमोह संबंधी राग से किंचित् बंध होता है;...** है? वीतरागता नहीं न! भले अनुभव हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, ज्ञानी हुए परन्तु अभी राग है; वह राग, चारित्रमोह सम्बन्धी राग है, मिथ्यात्व सम्बन्धी नहीं। राग की एकताबुद्धि सहित का राग नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

अस्थिरता का राग—चारित्रमोह का दोष समकिती और श्रावक—सच्चे श्रावक पंचम गुणस्थानवाले (को है)। (ऐसे) श्रावक ढाई द्वीप के बाहर तो असंख्य तिर्यंच हैं, सिंह और बाघ, मगरमच्छ और बन्दर पंचम गुणस्थानवाले असंख्य (तिर्यंच) बाहर हैं। समझ में आया? हजार योजन के मच्छ, उनकी आत्मानुभव और अनुभव उपरान्त पंचम गुणस्थान की दशा है। ढाई द्वीप के बाहर तिर्यंच है न? उनसे असंख्यगुने मिथ्यादृष्टि हैं। तिर्यंचों की संख्या बहुत बड़ी है। जितनी तिर्यंच की संख्या असंख्य है, उससे असंख्यातवें भाग समकिती पंचम गुणस्थानवाले हैं। आहाहा! मच्छ पानी में रहे हैं। पानी तो सचेतन है। समझ में आया? चौथे गुणस्थानवाले को तीन प्रकार का राग है—अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी, संज्वलन। पाँचवें गुणस्थानवाले को दो (प्रकार का) राग है। अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानी का नाश हुआ है। प्रत्याख्यान और संज्वलन का राग है तो उसे भी बन्ध का कारण है। आहाहा!

चारित्रमोह संबंधी राग से किंचित् बन्ध होता है;... थोड़ा बन्ध होता है। मिथ्यात्व का बन्ध जो अनन्त संसार का कारण है, वह नहीं। आहाहा! समझ में आया? भाई! बहुत सूक्ष्म बात! वीतराग का तत्त्व समझने के लिये बहुत प्रयत्न चाहिए। बहुत वाँचन, श्रवण होवे तो इसे ख्याल में आवे; इसके बिना यह वस्तु (ख्याल में नहीं आती)। **राग से किंचित् बन्ध होता है; इसलिए सर्वथा बन्ध के अभाव की अपेक्षा में...** यहाँ तो सर्वथा बन्ध की अपेक्षा से बात है न? मुनि को बन्ध होता ही नहीं। मुनि को जितना राग है, उतना बन्ध होता है, परन्तु उसे यहाँ गिना नहीं है। छठवें गुणस्थान में मुनि हैं, समिति पालते हैं, परन्तु जितना शुभविकल्प है (कि) किसी को दुःख न हो, वह विकल्प तो बन्ध का कारण है। परन्तु तीन कषाय का अभाव है तो गिनने में आया नहीं, वह राग गिनने में आया नहीं; और समकिती तथा श्रावक को अभी तीन कषाय का राग और दो कषाय का राग है तो सर्वथा बन्ध के अभाव में उन्हें गिनने में नहीं आया। समझ में आया? आहाहा!

समकिती छह खण्ड के राज्य में दिखायी दे। चौथे गुणस्थान में भरत चक्रवर्ती। आहा! समकिती आत्मज्ञानी, अनुभवी सहोदर—एक गर्भ से उत्पन्न हुए बाहुबली पर चक्र चलाया। राग है न! सम्यग्दृष्टि है, परन्तु चारित्रमोह का राग है। आहा! रामचन्द्रजी समकिती थे, अनुभवी थे, उसी भव में मोक्ष जानेवाले परम पुरुषोत्तम पुरुष थे, परन्तु जब तक

गृहस्थाश्रम में थे, (तब) रावण सीताजी को ले गया, (तब) पर्वतों से जाकर पूछते हैं— 'मेरी सीता... मेरी सीता...' (कहाँ) ? वह चारित्र का दोष है; समकित का नहीं। समकिती तो ज्ञानी है, परन्तु अभी वीतरागीदशा प्रगट नहीं हुई थी।

मुमुक्षु : पर्वतों को पूछे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पर्वतों को पूछे।

मुमुक्षु : उन्हें खबर नहीं कि यह जड़ है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्हें एकदम राग (आता है), चारित्र का दोष है न! आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा तो अज्ञानी भी नहीं पूछता ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह चारित्र का दोष है। आहाहा! वासुदेव जब गुजर जाते हैं, तब बलदेव कन्धे पर उठाते हैं। समकिती है। बलदेव समकिती है, आत्मज्ञानी है, अनुभवी है, ज्ञानी है, परन्तु चारित्रदोष का राग है तो भाई की देह को छह महीने तक कन्धे पर उठाते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : चारित्रमोह का दोष जीव को पागल बना दे!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पागल नहीं; वह है तो ज्ञानी, परन्तु चारित्रमोह की अपेक्षा से पागलपन कहने में आता है। समाधिशतक में कहा है न ? समाधिशतक में पूज्यपादस्वामी मुनि, महामुनीन्द्र कहते हैं। आहाहा! यह समझाने का विकल्प है, वह उन्मत्तता है, राग है। समाधिशतक में कहा है। राग है। मुनि कहते हैं। जिसे यहाँ निषेध किया है कि (उनको) बन्ध का अभाव है। कहते हैं कि हमें अभी समझाने का विकल्प आता है, वह विकल्प है, राग है, दोष है, वह पागलपन है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! देखो! मुनिराज पूज्यपादस्वामी दिगम्बर सन्त वनवासी (जिन्हें) तीन कषाय का अभाव है, आनन्द का प्रचुर वेदन है... विकल्प आता है। आहाहा! वह हमारा पागलपन है। चारित्रदोष की अपेक्षा से (बात है), दृष्टि की अपेक्षा से नहीं।

भगवान पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु का अनुभव तो हुआ, परन्तु स्थिरता हुई नहीं। अन्दर में स्थिरता—जम जाना, वह हुआ नहीं। आहाहा! गृहस्थाश्रम में है, स्त्री-कुटुम्ब है, राज है, चक्रवर्ती है, छह खण्ड का राज है। सगे भाई को मारने के लिये चक्र

चलाया, परन्तु वह चारित्र का दोष है, समकित का नहीं। एक गुण का दोष दूसरे गुण के दोष में लगावे तो समकित रहता नहीं। आहाहा! समझ में आया? भाई! चारित्र का दोष समकित में लगावे तो समकित रहता नहीं, ऐसा नहीं है। आहाहा!

बाहुबलीजी समकिती थे। चक्र आया, अरे! संसार!! अनुभवी समकिती तो थे। यह संसार छोड़। अन्तर में राग का त्याग करके स्थिरता में आ गये। समझ में आया? आहाहा! पश्चात् भी ध्यान में थोड़ा राग रह गया कि अरेरे! भरत की जमीन पर खड़ा हूँ। ऐसा राग, खटक... खटक... खटक राग का विकल्प रह गया। मुनि हैं, तीन कषाय का अभाव है। राग—खटक रह गयी। उसमें भरत आते हैं। ओहो! भरत को तो कुछ है नहीं, (ऐसा लगा वहाँ) राग की खटक एकदम छूट गयी। अन्दर गये और एकदम... केवलज्ञान हो गया। जलहल ज्योति चैतन्य भगवान परमानन्द की पूर्ण दशा की प्राप्ति हो गयी। आहाहा! समझ में आया? भरत और बाहुबली।

इसी तरह रामचन्द्रजी मुनिपने में आनन्द में रमते थे। (वहाँ) सीताजी स्वर्ग में से डिगाने के लिये आये, (तथापि) आनन्द... आनन्द... आनन्द में हैं। एकदम स्थिर होकर केवलज्ञान (लिया)। पूर्णानन्द का नाथ जागृत हो गया, रामचन्द्रजी ने परमात्मदशा प्राप्त की। आहाहा! सीताजी डिगाने आये। मैं तुम्हारी स्त्री हूँ। स्त्री का वेष धारण किया। है तो देव, वहाँ तो देव है। आहाहा! इस राग के ऐसे खेल हैं। यह राग दोष है। चाहे तो समकिती हो, चाहे तो सच्चा श्रावक हो, अरे! चाहे तो मुनि हो, परन्तु जितना राग आता है, उतना चारित्र का दोष है। समकित का दोष नहीं। समझ में आया? आहाहा!

सम्यग्दृष्टि छियानवें हजार स्त्रियों का भोग लेता है। वह राग है या वीतराग है? राग है, परन्तु वह राग चारित्र का दोष है और इस कारण उसे उतना बन्ध होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन में दोष नहीं है। वह तो जैसा सिद्ध का समकित है, वैसा समकिती का सम्यक्त्व है। तिर्यंच को भी समकित है, वह सिद्धके समकित जैसा है। टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी में आया है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, चौथे गुणस्थान में या पाँचवें गुणस्थान में चारित्रमोह सम्बन्धी राग का अंश है। **इसलिए सर्वथा बन्ध के अभाव की अपेक्षा में उनका नाम नहीं लिया।**

पाठ में। आहा! **वैसे अंतरंग की अपेक्षा से...** देखो तो समकिती राग से भिन्न पड़ गये हैं और सम्यग्दृष्टि का विषय तो अबन्धस्वरूप भगवान है। पूर्णानन्द का नाथ मुक्तस्वरूप विराजमान है, मुक्तस्वरूप है। परमात्मा जो आत्मा है, वह तो मुक्तस्वरूप ही है। आहाहा! मुक्तस्वरूप है तो पर्याय में मुक्त होगा। मुक्तस्वरूप है। आहाहा! ऐसी दृष्टि जब हुई, तो उस दृष्टि की अपेक्षा से, मुक्तस्वरूप की अपेक्षा से उसे—समकिती को अबन्ध कहा गया है। आहाहा! समझ में आया? मार्ग बहुत सूक्ष्म है। **अंतरंग की अपेक्षा से तो उन्हें भी निर्बन्ध ही जानना चाहिए।** चारित्र का दोष है, उतना बन्ध है, परन्तु अन्तर दृष्टि में दृष्टि के विषय की अपेक्षा से ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है—ऐसा कहा है। भोग निर्जरा का हेतु है? भोग तो राग है, दुःख का कारण है, परन्तु दृष्टि में आनन्द का नाथ अन्दर तैरता है। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उस दृष्टि के विषय में वहाँ दृष्टि पड़ी है, इस कारण से उसे राग आया तो भी उसको अबन्ध कहा गया है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। भगवान का स्याद्वादमार्ग है। आहाहा!

कलश - १६४

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(पृथ्वी)

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा,
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।
यदैक्य-मुपयोभूः समुपयाति रागादिभिः,
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम्।।१६४।।

श्लोकार्थ : [बन्धकृत्] कर्मबन्ध को करनेवाला कारण [न कर्मबहुलं जगत्] न तो बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है, [न चलनात्मकं कर्म वा] न चलनस्वरूप कर्म (अर्थात् मन-वचन-काय की क्रियारूप योग) है, [न नैककरणानि] न अनेक प्रकार के कारण हैं, [वा न चिद्अचिद्-वधः] और न चेतन-अचेतन का घात है।

किन्तु [उपयोगभूः रागादिभिः यद्-ऐक्यम् समुपयाति] 'उपयोगभू' अर्थात् आत्मा रागादि के साथ जो ऐक्य को प्राप्त होता है, [सः एव केवलं] वही एकमात्र (-मात्र रागादिक के साथ एकत्व प्राप्त करना वही) [किल] वास्तव में [नृणाम् बंधहेतुः भवति] पुरुषों के बन्ध कारण हैं।

भावार्थ : यहाँ निश्चयनय से एकमात्र रागादि को ही बन्ध का कारण कहा है।।१६४।।

कलश - १६४ पर प्रवचन

श्लोक, श्लोक १६४

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा,
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।
यदैक्य-मुपयोभूः समुपयाति रागादिभिः,
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम्।।१६४।।

श्लोकार्थ :- कर्मबन्ध को करनेवाला कारण न तो बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है... बन्ध का कारण यह कर्म का लोक नहीं है। लोक भले कर्म से भरा हो, उसमें आत्मा को क्या? आहा! वह बन्ध का कारण नहीं है। **'न चलनात्मकं कर्म'** कर्म। मन-वचन-काय की क्रिया बन्ध का कारण नहीं है। **'न नैककरणानि'** अर्थात् अनेक प्रकार के कारण अर्थात् इन्द्रियाँ बन्ध का कारण नहीं है। **चेतन-अचेतन का घात...** बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! परन्तु **'उपयोगभूः'** आहाहा! भगवान उपयोगस्वरूप भगवान की भूमिका में, भगवान आत्मा उपयोग, उसकी तो त्रिकाल आनन्दकन्द शुद्ध चैतन्य ज्ञान उपयोग भूमिका है। उस उपयोग भूमिका में पर्याय में राग का एकत्व करना... आहाहा!

'रागादिभिः यद्-ऐक्यम्' 'उपयोगभू' अर्थात् आत्मा रागादि के साथ जो ऐक्य को प्राप्त होता है... आहाहा! चाहे तो यह दया, दान का विकल्प हो, परन्तु राग के साथ उपयोग में एकत्व करता है, वह बन्ध का कारण है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

समझ में आया ? मूल बात की खबर नहीं होती और बाहर के दया, दान और व्रत, भक्ति और प्रतिमा कर लिये। अभी सम्यग्दर्शन कैसा होता है, उसकी खबर नहीं। आहा! अरेरे! ऐसा प्रवाह चला है न!

यहाँ परमात्मा तीन लोक के नाथ का पुकार है। ये सन्त आड़तिया होकर उनकी बात करते हैं। माल तो भगवान के घर का है। कहते हैं, **'उपयोगभू'** आहाहा! दया पाले, व्रत पाले, भक्ति करे, पूजा करे—यह राग। आहाहा! इस राग का अन्तरस्वरूप भगवान उपयोगस्वरूप की भूमिका—पर्याय में एकत्व करता है। आहाहा!

दूसरी दृष्टि से कहें तो उसकी दृष्टि पर्याय के ऊपर है तो पर्याय में राग की एकता करता है। आहाहा! चाहे तो दया का, दान का, व्रत का विकल्प हो, परन्तु उस राग के साथ पर्याय में एकत्व करना, वही मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! ऐसी बात लोगों को कठिन पड़ती है। क्या हो ? भाई! भगवन्त! तेरा स्वरूप ही कोई अलग प्रकार का है। आहाहा! वह तो आनन्दकन्द शुद्ध चैतन्यप्रभु है। आहा! वह चैतन्यप्रभु पवित्रता का पिण्ड प्रभु, उसकी पर्याय की भूमिका में वह चाहे तो शुभराग दया, दान का हो परन्तु (उसके साथ) एकत्व करना कि, 'यह मेरी चीज़ है, यह मुझे लाभदायक है'—यह मिथ्यात्वभाव बन्ध का कारण है। आहाहा! भागचन्दजी! ऐसी बात है, प्रभु! कठिन काम है, बापू!

अनन्त काल से भटकता है। चौरासी के अवतार नरक के, निगोद के, अरे! स्वर्ग के (भव किये)। नरक के भव की अपेक्षा स्वर्ग के भव असंख्यगुने अनन्त किये हैं। समझ में आया ? थोड़े में थोड़े मनुष्य के भव अनन्त। अनन्त काल में एकबार मनुष्यपना मिले, तो भी अनन्त बार मिला; और अनन्त भव नरक की गति अपेक्षा से, मनुष्य के जो अनन्त (भव हुए) उससे असंख्यगुने अनन्त नरक के भव किये, भाई! सातवाँ नरक, पहला नरक, सबमें अनन्त भव किये! आहाहा! मनुष्य के अनन्त भव की संख्या की अपेक्षा नरक के भव की संख्या असंख्यगुनी अनन्त है। आहाहा! यह गतकाल की... और उसकी अपेक्षा असंख्यगुने अनन्त स्वर्ग के भव किये। आहाहा! जब दया, दान, व्रत, पुण्य किया होगा, तो गया होगा न ? आहाहा! क्या कहा ? प्रभु! नरकगति के जो असंख्यगुने अनन्त मनुष्यभव की अपेक्षा (भव) किये, उससे असंख्यगुने अनन्त स्वर्ग के भव किये। आहाहा! कठिन काम है। समझ में आया ?

चार गतियों में अनन्त भव किये हैं न? परमात्मा उनकी संख्या की... करते हैं। परमात्मा! मनुष्य के जो अनन्त भव किये, अनन्त किये, अनन्त काल में एकबार मिला तो भी अनन्त किये हैं, परन्तु इससे असंख्यगुने अनन्त तो तूने नारकी के भव किये हैं, प्रभु! वह तो पाप के (फल में किये)। आहाहा! परन्तु इससे असंख्यगुने अनन्त स्वर्ग के (भव) किये। तूने इतने पुण्य किये हैं। आहाहा! सुमेरुमलजी! शान्तिभाई! क्या कहा?

नारकी के जो अनन्त भव किये, वह मनुष्य की संख्या की अपेक्षा असंख्यगुने अनन्त। अनन्त तो दोनों। मनुष्य के भी अनन्त और नारकी के भी अनन्त, परन्तु मनुष्य के अनन्त की अपेक्षा नारकी के असंख्यगुने अनन्त (भव किये)। अब तीसरी बात, इस स्वर्ग के भव भी, प्रभु! तूने नरक के भव की अपेक्षा असंख्यगुने अनन्त किये। तो यह पाप करके वहाँ गया होगा? दया, दान, व्रत (किये), परन्तु मिथ्यादृष्टि-दृष्टि मिथ्यात्व (थी)। आहाहा! समझ में आया? मनुष्यपने में सेठाई की, अरबोंपति अनन्त बार हुआ, परन्तु उससे असंख्यगुने अनन्त नारकी के भव किये। आहाहा! उससे असंख्यगुने अनन्त स्वर्ग के किये। ऐसा परमात्मा के सिद्धान्त में, वीतराग की वाणी में है। आहाहा!

वह परमात्मा ऐसा कहते हैं, प्रभु! तूने स्वर्ग के भव अनन्त किये। वे कहीं पुण्य के बिना नहीं किये। परन्तु राग की एकताबुद्धि—मिथ्यात्व टाला नहीं, इसलिए तेरा एक भी भव नहीं घटा। आहाहा! समझ में आया? और जो असंख्यगुने अनन्त (भव) स्वर्ग के किये, उससे अनन्तगुने-अनन्तगुने निगोद के भव किये। स्वर्ग के भव की अपेक्षा अनन्तगुने अनन्त निगोद के भव (किये)। आहा! निगोद समझे? यह लहसुन, प्याज, यह काई, काई, काई होती है न? आहाहा! असंख्यगुने अनन्त, उससे अनन्त-अनन्त भव किये। वह मात्र राग की एकताबुद्धि के मिथ्यात्व के कारण से (किये)। आहा! बाकी तो दया, दान और व्रत तो इतनी बार किये कि नरक की अपेक्षा असंख्यगुने अनन्त बार किये। आहाहा! अरे! इसे खबर नहीं। निगोद भी पशु कहलाता है न? तिर्यंच में गिना जाता है न? मिथ्यादृष्टि निगोद में जाता है। पशु में जाता है अर्थात् निगोद में जाता है। आहाहा! अनन्त भव किये।

यहाँ यह कहते हैं, उपयोग में रागादि के साथ ऐक्यपने को पाता है, **वही एक (मात्र...)** वही एकमात्र **(-मात्र रागादिक के साथ एकत्व प्राप्त करना वही) वास्तव**

में पुरुषों के बन्ध कारण हैं। आहाहा! है ? प्रभु! देखो! अन्दर है। अन्दर भगवान है, भाई! परन्तु यह भूल गया। हैं ? आहा! कैसी बात है, देखो न! यह एक ही बन्ध का कारण है, दूसरा नहीं, दूसरा नहीं। पाठ है ?

'किल' 'सः एव केवलं', 'सः एव केवलं' है ? आहाहा! यह राग का, दया, दान, व्रतादि का विकल्प जो राग, उसके साथ आत्मा के उपयोग का एकत्व किया, वह एक ही केवल बन्ध का कारण है। आहाहा! है ? **'सः एव' वही...** वही एकमात्र, ऐसा कहा न ? **वही...** ऐसा कहा न ? वही— **'केवलं' वही... 'केवलं'** अर्थात् एक। एक ही मात्र राग के साथ एकत्वबुद्धि ऐसा मिथ्यात्व बन्ध का कारण है। वास्तव में बन्ध का कारण यह है। आहा! समझ में आया ? यह तो अभी बन्ध समझाते हैं। आहाहा! अरे! क्या हो, प्रभु! इसने अनन्त काल से ऐसे दुःख (भोगे हैं)। बहाने निकालकर कुछ करता हूँ, धर्म करता हूँ, व्रत पालता हूँ, मैंने भक्ति की, मैंने दान किया, मन्दिर बनाये, दुनिया को समझाकर मैंने बहुतों को धर्म में रखा। कौन समझावे ? सुन न, भाई! वह तो विकल्प है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! आत्मा को अनादि से यदि कोई बन्ध का कारण होवे तो वह भगवान पूर्णानन्द का नाथ पवित्रता के साथ पर्याय में राग की अपवित्रता के साथ एकता करना, वही संसार है, वही बन्ध है। आहाहा! समझ में आया ? द्रव्यदृष्टि से उस मिथ्यात्व का नाश हुआ। मैं पूर्णानन्द का नाथ हूँ, ऐसे पर्याय आत्मा में ढल गयी। जो पर्याय राग में ढलती थी, जो पर्याय-वर्तमान दशा राग में एकत्व करती थी, वह पर्याय वहाँ रही, बाद की पर्याय जो आयी, वह पर्याय द्रव्य के प्रति झुका दिया। आहाहा! यह एक सम्यग्दर्शन अबन्ध का कारण है; यह बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! फिर राग रहता है, यह तो कहा न ? किंचित् बन्ध है, दोष है, दुःख है परन्तु उसकी यहाँ गिनती नहीं गिनना। समझ में आया ? सर्व बन्ध की अपेक्षा से होने पर भी विशेष गिनने में आया नहीं। बाकी तो दसवें गुणस्थान तक (बन्ध है)।

आत्मज्ञानी चारित्रवन्त क्षपकश्रेणी में चढ़े हों... ओहोहो! दसवें गुणस्थान में लोभ, आंशिक राग रहता है, उसे छह कर्म बँधते हैं। वह लोभ राग है। राग से वहाँ छह कर्म बँधते हैं। दसवें गुणस्थान—आत्मा की श्रेणी चढ़ते हैं न ? निसरणी को क्या कहते हैं ? सीढ़ी। ऐसे

अन्तर ध्यान की श्रेणी में चढ़ते-चढ़ते छठवें-सातवें में सच्चे मुनि हैं, अन्दर आनन्दकन्द में जहाँ स्थिरता जम गयी, मोक्ष की पर्याय प्रगट करने को श्रेणी-धारा चली, जहाँ दसवें गुणस्थान में आये, आहाहा! उन्हें भी अभी अव्यक्तरूप से लोभ का राग है। लोभ है, वह राग का भाग है।

भाई! उन्होंने कहा न? 'लोभान्त' शब्द प्रयोग किया है। हुकमचन्दजी ने। क्योंकि अन्तिम लोभ का नाश होता है। द्वेष का नाश तो पहले हो जाता है। द्वेष का नाश पहले होता है। समकिती को, मुनि को आगे चढ़ते हुए... परन्तु राग तो दसवें गुणस्थान तक (रहता है)। 'लोभान्त'—ऐसा शब्द प्रयोग किया है। लोभान्त—लोभ का अन्त अन्त में। वहाँ भी परमात्मा तो ऐसा पुकार करते हैं, इतना लोभ का अंश है, धारा चली है, आनन्द की धारा में जरा लोभ है तो छह कर्म बँधते हैं। पश्चात् आगे जाने पर बारहवें गुणस्थान में छूट जाता है। वीतराग... वीतराग... वीतराग (हो गये)। पहले वीतराग हो, फिर केवलज्ञान होता है। पहले केवलज्ञान हो और फिर वीतराग हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! पहले वीतराग होता है। आहा..!

बालक जन्मता है न? बालक, जन्मता है, वह देखा है कभी? जन्मता है तो पहले नौ महीने, सवा नौ महीने पेट में रहता है। जब बाहर निकलता है, तब आँख बन्द हो, मुँह फाड़कर ऊँ... वा.. करता है, पहली आवाज यह करता है। सुमेरुमलजी! यहाँ तो सब (खबर है)। बालक जन्मे, अभी उसकी माँ, (यह) लड़का है या लड़की है, यह देखने से पहले तो ऊँ... वा... करता है। आँखें बन्द रखे, आँखें उघाड़े नहीं। ऊँ...वा... (करे)। इसी प्रकार पहले वीतरागदशा हो, पश्चात् केवलज्ञान प्रगट होता है। समझ में आया? अन्तरदशा में पूर्ण वीतरागता हुई, पश्चात् केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान का जन्म हुआ। आहाहा! धन्य दशा! उसका कारण वीतरागता है। वीतरागता स्वद्रव्य के अवलम्बन से उत्पन्न होती है, पर के लक्ष्य से वीतरागता उत्पन्न नहीं होती। अरे! प्रभु! बात तो बहुत सूक्ष्म है, आहाहा! परम सत्य। प्रभु! आहाहा! ओहो!

'उपयोगभू'... शब्द प्रयोग किया है, देखा? पर्यायभूमि इसकी है न? भगवान त्रिकाली है, परन्तु उसकी पर्यायभूमिका है। आहाहा! उसमें शुभ विकल्प हो, चाहे तो दया,

दान, व्रत, भक्ति, पूजा के विकल्प के साथ में उपयोग में एकता करता है। आहाहा! वही मिथ्यात्वभाव बन्ध का कारण है। आहाहा! और उस विकल्प की एकता तोड़कर स्वभाव की एकता करता है, वह सम्यग्दर्शन अबन्ध का कारण है। समझ में आया? थोड़ा राग है, बन्ध का कारण है परन्तु उसे गौण करके ऐसा कहा है। सर्वथा एकान्त मान ले तो ऐसा नहीं है। आहाहा! अरे! भाग्य बिना सत्य वस्तु कान में पड़ना मुश्किल है। आहा! 'भवि भागन जोग' आता है न? भगवान की वाणी भव्य के भाग्य के योग से निकलती है। आहा! परम सत्य का प्रवाह! आहाहा! प्रभु! इसमें कोई अभिमान की आवश्यकता नहीं है। इसे तो निर्मानता की आवश्यकता है। आहाहा!

यहाँ तो शब्द यह प्रयोग किया न? **'उपयोगभू' 'उपयोगभूः'** संस्कृत है। एक उपयोगभू, भगवान पूर्णानन्द का नाथ जो उपयोग शुद्ध स्वरूप है, उसकी पर्याय में जो ज्ञान का उपयोग है, उसके साथ राग की एकता करना, चाहे तो शुभराग दया, दान, व्रत का हो, परन्तु वह मुझे लाभदायक है अथवा उसके साथ आत्मा का एकत्व है, ऐसी बुद्धि मिथ्यात्व है; वह मिथ्यात्व बन्ध का कारण है। अरेरे! पहली चीज़ यह है। उसका नाश करना नहीं और बाहर में यह करो, यह करो... बेचारा भ्रमणा में चढ़ गया।

कल दोपहर में अपने आया था कि राग का ग्रहण-त्याग है। पर का ग्रहण-त्याग आत्मा में है ही नहीं। अपनी पर्याय में पर तो है नहीं। पर है नहीं तो त्याग करना, यह नहीं। आहाहा! (आजकल तो कहते हैं), पर का इतना त्याग किया, सब किया, मात्र एक शरीर रहा, इसलिए आकुलता घट गयी। धूल भी नहीं, सुन न! नग्न हो गया, घर छूट गया, अरे! एक भी छूटा नहीं। सुन तो सही! अन्दर में दया, दान, राग के विकल्प के साथ एकताबुद्धि है, तो तेरा मिथ्यात्व छूटा नहीं और पर छोड़ा तो पर तो छूटा हुआ ही पड़ा है। पर को ग्रहण कहाँ किया था कि तू छोड़े? तूने राग की एकताबुद्धि ग्रहण की थी, उसे छोड़। आहाहा! ऐसी बात है।

मात्र... भाषा ऐसी है न? **'केवलं', 'केवलं'** अर्थात् मात्र। **'एव'** एक ही है। आहाहा! पुण्य और पाप के साथ एकत्व प्राप्त करना, वही **'किल', 'किल'** अर्थात् निश्चय से, वास्तव में। **'नृणाम्' पुरुषों के...** अर्थात् आत्मा को **बन्ध कारण हैं।** आहाहा! बहुत

सरस बात। उसे गुलाँट मारे। पर्याय और राग के साथ एकता करे, वह संसार, बन्ध, मिथ्यात्व है और वह पर्याय स्वभाव के साथ एकता करे, वह संसार से रहित होने का मुक्ति का उपाय है। आहाहा! यह क्रियाकाण्ड कोई मुक्ति का उपाय नहीं है।

यह कल आया है। एकान्त नियतवाद है। पुण्य भी धर्म है। अरे! प्रभु! क्रमबद्ध की व्याख्या आती है, वह लोगों को कठिन लगती है। परन्तु भाई करेंगे, हिन्दी में आ गया। क्रमबद्ध की व्याख्या। मुम्बई में पूछा था न! बहुत सरस! सबको दिया है, उस दिन दिया है। क्रमबद्धपर्याय की व्याख्या आयेगी।

प्रत्येक द्रव्य में क्रमसर एक के बाद एक पर्याय होती है, आगे-पीछे नहीं होती और स्वकाल में होती है। ऐसा पाठ है। प्रवचनसार। देखो, १०२ गाथा। 'निजक्षण' 'निजक्षण'। प्रत्येक द्रव्य में जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह स्वकाल से, अपने काल से उत्पन्न होती है। पर की अपेक्षा नहीं, द्रव्य-गुण की नहीं, निमित्त की नहीं। आहाहा! इस क्रमबद्ध में लोगों को नियतवाद लगता है। प्रभु! इस क्रमबद्ध में नियतवाद है सही, परन्तु अकेला नियतवाद नहीं है। इस क्रमबद्ध का निर्णय करने जाता है, तो आत्मा का ज्ञायकभाव अकर्ता है, यह निर्णय हो जाता है। वहाँ अकर्ता सिद्ध करना है। यह बात आयी है। अभी मुम्बई में हिन्दी में की थी। रात्रिचर्चा (की थी)। उसमें—समयसार में पाठ है। यह क्रमबद्ध तो बाद में कहा, परन्तु अकर्तापना सिद्ध करना है, ऐसा संस्कृत पाठ है।

अकर्ता का अर्थ (यह कि) पर का तो कर्ता नहीं, राग का तो कर्ता नहीं, वास्तव में तो निश्चय से द्रव्य, पर्याय का भी कर्ता नहीं। अरे! ऐसी बात है। सूक्ष्म बात, भाई! वीतरागमार्ग गहन है। आहाहा! कल 'जैनदर्शन' (पत्रिका) आया है। नियतवाद के सामने लिखो, यहाँ का नियत है। यहाँ का नाम नहीं लिखा परन्तु कहने का अर्थ यह है। अरे! भगवान! यह बात हमारे तो (संवत्) १९७२ के वर्ष से चलती है। समझ में आया? ७२... ७२... कितने वर्ष हुए? है? ६३ वर्ष हुए। ६३ वर्ष पहले यह बात चलती थी।

सम्प्रदाय में हमारे एक गुरुभाई थे। वे कहें—केवलज्ञानी ने देखा, तब कल्याण होगा, अपने क्या करना है? ऐसा कहते थे। बारम्बार कहे। दो वर्ष तो सुना, (संवत्) १९७० में दीक्षा ली थी। १९७२ में प्रश्न हुआ। यह क्या कहते हो? केवलज्ञानी ने देखा,

वैसा होगा, अपने क्या करना? कहा—केवलज्ञान जगत में है—ऐसा निर्णय है तुम्हें? केवलज्ञान है, सर्वज्ञ है, जगत में सर्वज्ञ है-ऐसी प्रतीति है पहले? फिर सर्वज्ञ ने देखा, वैसा होगा। तो सर्वज्ञ जगत में है, ज्ञान की एक पर्याय में तीन काल-तीन लोक जानने की ताकतवाली पर्याय जगत में है, ऐसा निर्णय जब तुम करने जाते हो तो वह निर्णय पर्याय के लक्ष्य से नहीं होता। पर के लक्ष्य से नहीं होता, पर्याय के लक्ष्य से नहीं होता। इतनी अधिक बात नहीं कही थी (परन्तु ऐसा कहा कि) उसका लक्ष्य ज्ञान में घुस जाए, तब सर्वज्ञ की पर्याय का निर्णय हो जाता है, ऐसा कहा था। यह तो ६३ वर्ष पहले (कहा था)। आहा! नियत में यह है।

सर्वज्ञ ने देखा है, वैसा होगा, इससे कौन इंकार करता है? परन्तु सर्वज्ञ है, केवलज्ञानी है, एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाननेवाले हैं—ऐसी प्रतीति आयी है? और वह प्रतीति कब आयेगी? पर्याय के लक्ष्य से आयेगी? पूरा ज्ञानमूर्ति भगवान अन्दर सर्वज्ञस्वभावी है। तब उस समय तो ज्ञान कहा था, परन्तु वह सर्वज्ञस्वभावी भगवान अन्दर है, उस पर दृष्टि जाए, तब भगवान ने देखा, वैसा होगा, इसका सच्चा निर्णय होता है। आहाहा! यह तो २५ वर्ष की उम्र में (कहा था)। अभी तो ९१ चलता है। संस्कार थे न! (प्रवचनसार की) ८० गाथा का भाव अन्दर से आया। प्रवचनसार में है न? **'जो जाणदि अरहंतं'**। जो अरिहन्त को जाने, वह आत्मा को जाने। अरिहन्त के केवलज्ञान को वास्तविक जाने, वह आत्मा के साथ मिलान करे कि मेरी पर्याय में क्यों अरिहन्तपना नहीं है? क्या है? पर्याय कहाँ से उत्पन्न होती है? द्रव्य में से। द्रव्य क्या है? पूर्णानन्द के नाथ द्रव्य पर दृष्टि पड़ने से क्रमबद्ध का और केवलज्ञान का निर्णय तब होता है। यह पुरुषार्थ है। आहा! भागचन्दजी! थोड़ा समझ में आता है? सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा!

गजसुकुमार भगवान के पास गये, गजसुकुमार। श्रीकृष्ण की गोद में हाथी के होदे (बैठकर गये)। ऐसा कहते होंगे? मैंने देखा, तब होगा, तुझसे कुछ नहीं होगा, ऐसा भगवान ने कहा होगा? भगवान ने तो ऐसा उपदेश दिया कि गजसुकुमार एकदम जागृत हो गये। प्रभु! आपकी आज्ञा से मैं आज मुनिपना लेता हूँ। श्रीकृष्ण के भाई गजसुकुमार। हाथी के तलवे जैसा कोमल शरीर। प्रभु! मैं तो मुनिपना लेना चाहता हूँ। आहाहा! माता के पास

जाते हैं और कहते हैं, माता! मुझे आज्ञा दे, माँ! माता रोने लगी। जनेता! एक बार रोना हो तो रो ले, फिर से माता-जनेता नहीं करूँगा, फिर से अवतार नहीं लूँगा। आहाहा! भगवान के पास आते हैं, महाराज! मुनिपना (प्रदान करो)। मुनिपना लिया। फिर कहे—महाराज! आपकी आज्ञा हो तो द्वारिका के महाश्मशान में ध्यान में बैठूँ। द्वारिका के महाश्मशान में। आहाहा! बारहवीं प्रतिमा कहलाती है, साधु की बारहवीं प्रतिमा। बारहवीं प्रतिमा लेकर बैठे। वहाँ उनका ससुर आया। पाल बाँधी। अन्दर उतर गये, केवलज्ञान! आहाहा! अन्दर भरा है न! ऐसी बात और (तुम कहते हो), केवलज्ञानी ने देखा होगा, वैसा होगा, अपन क्या पुरुषार्थ करें? ऐसी बातें तुम करते हो? एक दिन तो सम्प्रदाय छोड़ दिया, सम्प्रदाय छोड़ दिया। यह गुरु नहीं चाहिए, यह वाणी नहीं चाहिए। फिर तो सब सेठिया आये और...

यहाँ कहते हैं कि उपयोग में राग को एकता करना, वही मिथ्यात्व बन्ध का कारण है और स्वभाव की एकता करना, वह समकित और अबन्ध का कारण है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २४२ से २४६

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिदे संते।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं।।२४२।।

छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाण-मुवघादं।।२४३।।

उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणा-विहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किं पच्चयगो ण रयबंधो।।२४४।।

जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।।२४५।।

एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे रागादी ण लिप्पदि रएण।।२४६।।

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति।
रेणु-बहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामम्।।२४२।।

छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवन्शपिण्डीः।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणा-मुपघातम्।।२४३।।

उपघातं कुर्वतस्तस्य नाना-विधैः करणैः।
निश्चयतश्चिन्त्यतां खलु किम्प्रत्ययिको न रजोबन्धः।।२४४।।

यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजो-बन्धः।
निश्चयतो विज्ञेयं न काय-चेष्टाभिः शेषाभिः।।२४५।।

एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहु-विधेषु योगेषु।
अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा।।२४६।।

यथा स एव पुरुषः, स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति, तस्यामेव स्वभावत एव रजोबहुलायां

भूमौ तदेव शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणः, तैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन्, रजसा न बध्यते, स्नेहाभ्यङ्गस्य बन्धहेतोरभावात्; तथा सम्यग्दृष्टिः, आत्मनि रागादी न कुर्वाणः सन्, तस्मिन्नेव स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके तदेव कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणः, तैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् कर्मरजसा न बध्यते, रागयोगस्य बन्धहेतोरभावात् ।।२४२-२४६ ।।

सम्यग्दृष्टि उपयोग में रागादि नहीं करता, उपयोग का और रागादि का भेद जानकर रागादि का स्वामी नहीं होता, इसलिए उसे पूर्वोक्त चेष्टा से बन्ध नहीं होता- यह कहते हैं:-

जिस रीत फिर वो ही पुरुष, उस तेल सबको दूर कर।
व्यायाम करता शस्त्र से, बहु रज भरे स्थानक ठहर।।२४२।।

अरु ताड़, कदली, बाँस, आदिक, छिन्न भिन्न बहू करे।
उपघात आप सचित्त अवरु, अचित्त द्रव्यों का करे।।२४३।।

बहुभाँति के करणादि से, उपघात करते उसहि को।
निश्चयपने-चिंतन करो, रजबंध नहिं किन कारणों।।२४४।।

यों जानना निश्चयपने-चिकनाइ जो उस नर विषैं।
रजबन्धकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है।।२४५।।

योगों विविध में वर्तता, इस भाँति सम्यग्दृष्टि जो।
उपयोग में रागादि न करे, रजहि नहिं लेपाय वो।।२४६।।

गाथार्थ : [यथा पुनः] और जैसे-[सः च एव नरः] वही पुरुष, [सर्वस्मिन् स्नेहे] समस्त तेल आदि स्निग्ध पदार्थ को [अपनीते सति] दूर किए जाने पर, [रेणुबहुले] बहुत धूलिवाले [स्थाने] स्थान में [शस्त्रैः] शस्त्रों के द्वारा [व्यायामम् करोति] व्यायाम करता है, [तथा] और [तालीतलकदलीवंशपिंडीः] ताड़, तमाल, केल, बाँस, और अशोक आदि वृक्षों को [छिनत्ति] छेदता है, [भिनत्ति च] और भेदता है, [सचित्ताचित्तानां] सचित्त तथा अचित्त [द्रव्याणाम्] द्रव्यों का [उपघातम्] उपघात [करोति] करता है; [नानाविधैः करणैः] ऐसे नाना प्रकार के करणों के द्वारा [उपघातं कुर्वतः] उपघात करते हुए [तस्य] उस पुरुष को [रजोबन्धः] धूलि का बन्ध [खलु] वास्तव में [किंप्रत्ययिकः] किस

कारण से [न] नहीं होता [निश्चयतः] यह निश्चय से [चिंत्यतां] विचार करो। [तस्मिन् नरे] उस पुरुष में [यः सः स्नेहभावः तु] जो वह तेल आदि की चिकनाई है [तेन] उससे [तस्य] उसके [रजोबंधः] धूलि का बन्ध होना [निश्चयतः विज्ञेयं] निश्चय से जानना चाहिए, [शेषाभिः कायचेष्टाभिः] शेष काय की चेष्टाओं से [न] नहीं होता। (इसलिए उस पुरुष में तेल आदि की चिकनाहट का अभाव होने से ही धूलि इत्यादि नहीं चिपकती।) [एवं] इस प्रकार-[बहुविधेषु योगेषु] बहुत प्रकार के योगों में [वर्तमानः] वर्तता हुआ [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [उपयोगे] उपयोग में [रागादीन् अकुर्वन्] रागादि को न करता हुआ [रजसा] कर्मरज से [न लिप्यते] लिप्त नहीं होता।

टीका : जैसे वही पुरुष, सम्पूर्ण चिकनाहट को दूर कर देने पर, उसी स्वभाव से ही अत्यधिक धूलि से भरी हुई उसी भूमि में वही शस्त्रव्यायामरूपी कर्म को (क्रिया को) करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकार के करणों के द्वारा, उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, धूलि से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसके धूलि के लिप्त होने का कारण जो तैलादि का मर्दन है, उसका अभाव है; इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि, अपने में रागादि को न करता हुआ, उसी स्वभाव से बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरे हुए लोक में, वही मन-वचन-काय की क्रिया करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकार के करणों के द्वारा, उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, कर्मरूपी रज से नहीं बँधता, क्योंकि उसके बन्ध के कारणभूत राग के योग का (राग में जुड़ने का) अभाव है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त सर्व सम्बन्ध होने पर भी राग के सम्बन्ध का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं होता। इसके समर्थन में पहले कहा जा चुका है।

प्रवचन नं. ३१६, गाथा - २४२ से २४६, श्लोक-१६४-१६५, गुरुवार, भाद्र कृष्ण १४
दिनाङ्क - २०-०९-१९७९

समयसार, पहली पाँच गाथायें पूरी हो गयी। यह बात है न? अन्तिम आ गया न? एक लाईन है। भावार्थ :- **यहाँ निश्चयनय से एकमात्र रागादि को ही बन्ध का कारण कहा है।** क्या कहा? भगवान आत्मा आनन्द-ज्ञानस्वरूप है। उसमें पुण्य और पाप के भाव जो राग है, उस राग को अपने में करना, वह एक ही बन्ध का कारण है। वह संसार का मूल है, कोई बाह्य चीज़ बन्ध का कारण नहीं है। यह सब आया न?

अन्तर आत्मा शुद्धस्वरूपी प्रभु और उसका उपयोग शुद्ध होना चाहिए। उस शुद्धोपयोग के बदले शुभ और अशुभराग की एकत्वबुद्धि, वह मिथ्यात्वभाव है, वह संसार में परिभ्रमण का कारण है। आहा! ऐसी बात है। यह निश्चयनय से एकमात्र, एक ही कहा न? आहा! भगवान वीतरागस्वरूप आत्मा, अनाकुल आनन्दस्वरूप में राग आकुलता और दु:खस्वरूप है। उस राग को आत्मा की पर्याय में (एकत्व करना); द्रव्य में तो कभी एकत्व होता नहीं, पर्याय में उपयोग भूमिका में... आहा! चाहे तो वह दया, दान, व्रत के परिणाम हो, परन्तु उन परिणामों को अपने परिणाम उपयोग में एकत्व करना... सूक्ष्म बात है, प्रभु! वह मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्व अनन्त संसार (का कारण है)। मिथ्यात्व के गर्भ में अनन्त संसार, नरक और निगोद के भव पड़े हैं।

अब इससे सुलटा (कहते हैं)। **सम्यग्दृष्टि उपयोग में रागादि नहीं करता,...** आहा! धर्मी-सम्यगदृष्टि (कि जिसे) धर्म की पहली सीढ़ी—पहली शुरुआत (हुई है)। वह अपने आनन्दस्वरूप भगवान वीतरागमूर्ति प्रभु के उपयोग अर्थात् परिणाम में, यह दया, दान, व्रतादि के परिणाम या अशुभ रागादिभाव को अपना नहीं करता। राग की एकता तोड़कर स्वभाव की एकता करता है, वह सम्यग्दृष्टि है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! अभी जगत को बहुत मुश्किल पड़ गयी। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति और तप करे, वह तो राग है।

यहाँ तो कहते हैं कि अपने परिणाम में; द्रव्य में तो नहीं, द्रव्य में तो कहीं राग की एकता होती नहीं, आहाहा! वह उपयोगस्वरूप त्रिकाल भगवान है। शुद्ध आनन्द, ज्ञान, दर्शन का पिण्ड प्रभु, उसकी पर्याय में राग का, पुण्य का, पाप का विकार (होता है), उसे अपना करना, वही मिथ्यात्वभाव निश्चय से संसार का कारण है। सम्यग्दृष्टि उससे उल्टा है।

सम्यग्दृष्टि उपयोग में रागादि नहीं करता,... क्या कहते हैं? त्रिकाली द्रव्य में तो कोई रागादि कर सकता ही नहीं। त्रिकाली जो द्रव्य-वस्तु है, वह तो त्रिकाली निरावरण मुक्तस्वरूप है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, अनाकुल शान्तरस का कन्द द्रव्य को तो आवरण भी नहीं, उसमें पर्याय भी है नहीं। आहाहा! परन्तु उसकी जो पर्याय—वर्तमान परिणमन—पर्याय है, जानने-देखने के उपयोग की पर्याय है... सूक्ष्म बात है, प्रभु! उसमें इन पुण्य-पाप के राग के भाव को अपने उपयोग में एकत्व करना और स्वभाव को छोड़

देना, वह मिथ्यात्व है। सम्यग्दृष्टि अपने उपयोग में राग को अपना नहीं करता। आहाहा! ऐसी बात है।

चारित्रधर्म प्रगट होने से पहले सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम ही अपने उपयोग में रागादि; 'रागादि' शब्द से दया, दान, व्रत यह राग, काम-क्रोध के भाव, राग-द्वेष के परिणाम... आहाहा! अपने में करता नहीं। सम्यग्दृष्टि—सम्यक्-सत्यदृष्टि अपने शुद्धस्वरूप की जिसे दृष्टि हुई है, वह अपने परिणाम में—उपयोग में पुण्य-पाप के राग को एकत्व नहीं करता। आहाहा! ऐसी बात है। है?

सम्यग्दृष्टि उपयोग में... उपयोग में (कहा है)। द्रव्य में नहीं, भाई! पण्डितजी! द्रव्य में नहीं। द्रव्य तो द्रव्य है। आहा! द्रव्य तो त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु शुद्ध ध्रुव है। ध्रुव में एकत्व करना (या) नहीं करना, वह कुछ है नहीं। उसका उपयोग जो जानने-देखने के परिणाम उपयोग है, उसमें राग और द्वेष के परिणाम को एकत्व नहीं करता। एकत्व करता है, वह मिथ्यादृष्टि है और एकत्व नहीं करता, वह सम्यग्दृष्टि है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, प्रभु!

सम्यग्दृष्टि उपयोग में रागादि नहीं करता,... ऐसा है न? भाई! आहाहा! क्या सन्तों की शैली! द्रव्य में तो कभी रागादि होते नहीं। द्रव्य तो त्रिकाली निरावरण भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, परमस्वभावभाव, आहाहा! ज्ञायकभाव तो त्रिकाल निरावरण है, परन्तु उसका उपयोग—वर्तमान परिणाम जो जानने-देखने के हैं, उस उपयोग में जब राग की दृष्टि—पर्यायदृष्टि थी, तब तो राग को अपना करता था परन्तु जब पर्यायदृष्टि छूटकर स्वभाव दृष्टि हुई तो राग को अपने परिणाम में एकत्व नहीं करता। भागचन्दजी! ऐसी बातें हैं, प्रभु! आहाहा!

इसके पहले एक आता था हम पढ़ते थे तब, यह तो ७५ वर्ष पहले की बात है। विद्यालय में दलपतराम की कविता आती 'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी...' वह तो ईश्वर को कहते थे परन्तु यहाँ तो अपने इस (अध्यात्म में लेते हैं।) 'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी मुझ रो मुझ रोग ले हरि' प्रभु! तू पूर्णानन्द का नाथ, प्रभुता तेरी कैसी प्रभुता? कि मैं आत्मा भगवान स्वरूप हूँ, ऐसी दृष्टि जब होती तो प्रभुता की पर्याय में राग की एकता नहीं होती। हैं? पर्याय

की बात है, द्रव्य में तो कहाँ (राग का एकत्व होता है) ? सूक्ष्म बात है, प्रभु! मार्ग तो बहुत सूक्ष्म अलौकिक है।

अरे! अनन्त-अनन्त काल व्यतीत हुआ, अनन्त बार मनुष्यपना मिला, अनन्त बार स्वर्ग गया, अनन्त बार दिगम्बर जैन साधु हुआ। हैं ? नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया। इस पुरुष के आकार लोक—चौदह ब्रह्माण्ड है। यह चौदह राजुलोक असंख्य योजन में पुरुष के आकार है। उसमें ग्रीवा है, ग्रीवा। ग्रैवेयक के नौ पासड़ा हैं। ग्रैवेयक—ग्रीवा के स्थान में ग्रैवेयक देव हैं, वहाँ इकतीस सागर की स्थिति है। एक सागर में दस क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपम, एक पल्य के असंख्यवें भाग में असंख्य अरब वर्ष, ऐसे इकतीस सागर में अनन्त बार गया। नग्न दिगम्बर मुनि होकर, पंच महाव्रत पालन करके अनन्त बार (वहाँ गया), परन्तु वह तो राग की क्रिया थी। आहाहा! कान्तिभाई!

यह लोग बाह्य त्याग में चले गये हैं न ? प्रभु! वह वस्तु नहीं, भाई! बाह्य का त्याग-ग्रहण आत्मा में है ही नहीं। यह तो आ गया न ? पहले, दोपहर में आ गया। राग का ग्रहण-त्याग आत्मा में है। पर का ग्रहण-त्याग आत्मा में नहीं है। पर को क्या ग्रहण करे ? परद्रव्य तो भिन्न है। कर्म को क्या ग्रहे और छोड़े ? शरीर को क्या ग्रहे और छोड़े ? पैसे को क्या ग्रहे और छोड़े ? स्त्री, कुटुम्ब को क्या ग्रहे और छोड़े ? वह तो ग्रहण-त्यागरहित चीज़ है। आहाहा! उसने मात्र यह किया कि अपना शुद्धस्वरूप वीतरागमूर्ति प्रभु भगवन्त, सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप की पर्याय में, जो उसके स्वभाव में नहीं, उसके शक्ति-गुण में नहीं, ऐसी पर्याय में राग की एकता करना, वही संसार है और उस राग की एकता न करना, वह सम्यग्दर्शन है। आहाहा! समझ में आया ?

इसका अर्थ क्या हुआ ? कि जो ज्ञायकस्वरूप भगवान पूर्णानन्द प्रभु, दृष्टि ने उसका आश्रय लिया, तब सम्यग्दर्शन हुआ, तब उसमें राग की एकता टूट गयी। भगवान आत्मा वीतराग पूर्णानन्द प्रभु की एकता हुई तो राग की एकता टूट गयी। पर्याय की बात है, हों! वस्तु तो वस्तु त्रिकाल है परन्तु पर्याय में जब राग की एकता थी, तब संसार—मिथ्यात्व था और पर्याय में राग की एकता टूटकर स्वभाव की एकता पर्याय में हुई, आहाहा! समझ में आया ? भाषा तो सादी है, प्रभु! भाषा ऐसी कोई संस्कृत और व्याकरण ऐसी नहीं है। सुमेरुमलजी! प्रभु! तेरी बात तो सीधी है।

कहते हैं कि **सम्यग्दृष्टि उपयोग में...** उपयोग में, हों! उसके परिणाम में रागादि करता नहीं। वह चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हो परन्तु राग को अपनी पर्याय में एकत्व नहीं करता। आहाहा!

मुमुक्षु : इसमें तो परिणाम नहीं करता, ऐसा लिखा है, एकत्व नहीं करता ऐसा कहाँ लिखा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कहा न? रागादि नहीं करता। उपयोग का और रागादि का भेद करता है। अपना ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य का उपयोग और राग को अपने परिणाम में भिन्न करता है। द्रव्य तो ध्रुव है, वह तो नित्य है। कूटस्थ है। समझ में आया? भाई! सूक्ष्म बात है। लिखा है न? इसके स्वाध्याय में तो पहले वाँचन, पृच्छन, पर्यटन करे। धर्मकथा तो अन्तिम आती है। उपदेश तो अन्तिम आता है। पहले वाँचन करना, वाँचन के बाद पूछना। वाँचन किये बिना पूछे तो क्या (पूछे)? समझा न हो। समझ में आया? इसमें लिखा है।

मैंने तो एक बार कहा था। हमारे मास्टर थे, ७५ वर्ष पहले। एक नरोत्तम मास्टर थे। स्त्री नहीं थी, फिर वे पकाते हों न... दस बजे पकावें। तब लड़कों में से चतुर अच्छे मस्तिष्क वाले हों, उन्हें बुलावे। दो-चार लड़कों को (बुलावे) और ऐसा कहे, तुम यह पाठ पढ़कर आना। पढ़कर फिर तुम क्या समझे और मैं इसका अर्थ क्या करता हूँ, यह अन्तर तुम्हें पड़ेगा। यह तो संसार की बात है। यह पढ़ने के पाठ (की बात है)।

यहाँ ऐसा कहते हैं, पहले थोड़ा शास्त्र का वाँचन हो, पश्चात् उस वाँचन में से प्रश्न करे तब तो उसका प्रश्न यथार्थ कहलाये। समझ में आया? और प्रश्न के पश्चात् वाँचन, पृच्छन, पर्यटन। उसे बारम्बार याद रखना, उसका मर्म (याद रखना), पश्चात् धर्मकथा तो अन्तिम (आती है)। अनुप्रेक्षा, विचारना। अनुप्रेक्षा, विचार करना। पश्चात् धर्मकथा। यह तो धर्मकथा समझे बिना उपदेश देने लगता है। अरे! भगवान! स्वाध्याय का क्रम है, उसे भी तू नहीं समझता। समझ में आया? कोई भी व्यक्ति चाहे जो उपदेश देने लगता है।

यहाँ कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन तो सही। हमारे उपदेश में यह बात आयी, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। भगवान आत्मा सम्यग्दृष्टि जो है, सत्यदृष्टि, सम्यक् अर्थात् सत्य। सत्य अर्थात् पूर्ण सत्यस्वरूप भगवान, सत्य सच्चिदानन्द प्रभु, सत्ज्ञान और आनन्दादि

स्वभाव का पूर्ण सत् सत्य, सत् का सत्त्व सत्य, ऐसी जिसे अन्तर्दृष्टि हुई... आहाहा! पूर्णानन्द के नाथ का जिसने स्वीकार किया, उसने राग की एकता तोड़ डाली। यहाँ मैत्री की तो वहाँ से तोड़ डाला; यहाँ से जोड़ी तो वहाँ से तोड़ डाली। समझ में आया? पुण्य और दया दान के राग की एकता तोड़ दी, भगवान आत्मा के साथ जोड़ दी। लड़के नहीं खेलते? कट्टी करते हैं न? उसी प्रकार जिसने राग की एकता की, उसने स्वभाव की कट्टी कर डाली। बराबर है? आहाहा! ऐसी बातें हैं। जिसने स्वभाव की पर्याय में एकता की, द्रव्य तो द्रव्य है, आहा! उसने राग की कट्टी कर डाली, राग की एकता तोड़ डाली। राग थोड़ा है परन्तु एकता टूट गयी। समझ में आया? ऐसी प्रधानता से यहाँ कथन है। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि उपयोग में... ओहोहो! **रागादि नहीं करता,...** यह राग मेरा कर्तव्य है, ऐसी दृष्टि समकित दृष्टि को नहीं होती। आहाहा! राग को अपने स्वभाव उपयोग में भिन्न करके मैं शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ—ऐसी दृष्टि हुई, उसकी राग की एकता टूट गयी। इसके बिना राग की एकता नहीं टूटती। आहाहा! पंच महाव्रत पालन करे, अट्ठाईस मूलगुण पालन करे, दिगम्बर साधु हो, अनन्त बार हुआ परन्तु राग की एकता नहीं तोड़ी। आहाहा! उपयोग में जो राग की एकता है, वह टूटे बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

उपयोग का और रागादि का भेद जानकर... देखो! है न? जानना-देखना—ऐसा ज्ञान-दर्शन उपयोग और राग मलिन है, इन दो का भेद जानकर। आहाहा! जानकर है न? यह ज्ञान की पर्याय। **रागादि का स्वामी नहीं होता,...** वह मेरी चीज़ नहीं, मैं तो परमानन्द का नाथ पूर्णानन्द प्रभु हूँ। आहाहा! यह रंक राग मेरा नहीं है, मैं उसका स्वामी नहीं हूँ। वह मेरी चीज़ नहीं है, मैं उसका स्वामी नहीं हूँ। ऐसी बातें हैं, प्रभु! आहाहा! कहो, भागचन्दजी! वहाँ स्थानकवासी में ऐसा सब सुना था? हम भी उसमें थे न, हम भी पहले ऐसा करते थे। आहाहा! बात दूसरी, बापू! आहाहा! एक लाईन में कितना भरा है!

उपयोग का और रागादि का... आहाहा! जानन-देखन त्रिकाल उपयोग का लक्ष्य हुआ तो उपयोग में राग की एकता टूट गयी, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव। **इसलिए उसे पूर्वोक्त चेष्टा से बन्ध नहीं होता....** वह चाहे तो देह की क्रिया हो, सचित्त-अचित्त का घात हो, परन्तु राग की एकता टूट गयी, इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को उस प्रकार का बन्ध नहीं होता। (अब) पाँच गाथायें।

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिदे संते।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं।।२४२।।

छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाण-मुवघादं।।२४३।।

उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणा-विहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किं पच्चयगो ण रयबंधो।।२४४।।

जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।।२४५।।

एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे रागादी ण लिप्पदि रएण।।२४६।।

नीचे हरिगीत—

जिस रीत फिर वो ही पुरुष, उस तेल सबको दूर कर।
व्यायाम करता शस्त्र से, बहु रज भरे स्थानक ठहर।।२४२।।

अरु ताड़, कदली, बाँस, आदिक, छिन्न भिन्न बहू करे।
उपघात आप सचित्त अवरु, अचित्त द्रव्यों का करे।।२४३।।

बहुभाँति के करणादि से, उपघात करते उसहि को।
निश्चयपने-चिंतन करो, रजबंध नहिं किन कारणों।।२४४।।

यों जानना निश्चयपने-चिकनाइ जो उस नर विषैं।
रजबन्धकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है।।२४५।।

योगों विविध में वर्तता, इस भाँति सम्यग्दृष्टि जो।
उपयोग में रागादि न करे, रजहि नहिं लेपाय वो।।२४६।।

टीका, टीका है न? **जैसे वही पुरुष, सम्पूर्ण चिकनाहट को दूर कर देने पर,...** उनमें (पहले की पाँच गाथाओं में) चिकने तेल को लगाकर फिर रजकण आदि संयोग में (व्यायाम करता था)। उस चिकनाई को **दूर कर देने पर,...** जिसने तेल की चिकनाई दूर की है। **उसी स्वभाव से ही अत्यधिक धूलि से भरी हुई उसी भूमि में...**

कर्म के परमाणु पूरे लोक में भरे हैं। **(अर्थात् स्वभाव से ही अत्यधिक धूलि से भरी हुई उसी भूमि में) वही शस्त्रव्यायामरूपी कर्म को (क्रिया को) करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकार के करणों...** (अर्थात् इन्द्रियों) **द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ,...** उन शरीरादि की क्रिया होती हो, ऐसा कहते हैं। अन्दर में राग की एकता नहीं, सम्यग्दृष्टि है, पूर्णानन्द के नाथ का स्वामी हुआ है, इस कारण से वह राग का स्वामी नहीं होता, तो उसे बन्धन नहीं है। समझ में आया? आहाहा! धूलि से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसके धूलि से लिप्त होने का कारण जो तेलादि का मर्दन है, उसका अभाव है। यह दृष्टान्त है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि,... जीव। आहाहा! **अपने में रागादि को न करता हुआ,...** अपने में—परिणाम में रागादि को नहीं करता हुआ। क्यों? कि वस्तुस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन है, उसके अनुभव में दृष्टि है, इस कारण से अपने परिणाम में शुद्धस्वभाव से विरुद्ध राग के साथ एकता नहीं करता। ऐसी बातें हैं, ऐसी बड़ी शर्तें हैं। आहाहा!

पहले तो यह करना है, कहते हैं बाकी तो सब व्यर्थ है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो तो पहली चीज़ यह है। आहाहा! वह सम्यग्दृष्टि, चीज़ किस प्रकार उत्पन्न होती है? कि अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव का आश्रय लेकर परिणाम में शुद्धता प्रगट हो और अशुद्धता का एकत्व टूट जाए, तब उसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। आहाहा! अरे! ऐसी बातें हैं।

इसी प्रकार... उसी प्रकार अर्थात् क्या? जैसे जिसने चिकनाई—तेल दूर किया और फिर व्यायाम, इन्द्रिय आदि का कार्य होता है, सचित्त-अचित्त का घात होता है परन्तु चिकनाई नहीं है तो उसे बन्धन नहीं होता—धूल नहीं चिपकती। **इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि, अपने में रागादि को न करता हुआ,...** आहाहा! शुद्ध चैतन्य भगवान पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु का जहाँ अन्तर्दृष्टि में स्वीकार हुआ तो उसकी पर्याय में जो रागादि है, उनके साथ एकता नहीं करता। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! अपूर्व बात है। आहाहा!

ज्ञान सहजानन्द प्रभु, सहजात्मस्वरूप... वह 'सहजानन्द' 'स्वामी नारायण' का नहीं, हों! सहजात्म कहते हैं, इसलिए कितनों को स्वामी नारायण का (लगता है)। स्वामी

नारायण की बात नहीं है। यह तो सहजात्मस्वरूप भगवान अनादि-अनन्त निर्मल, अनादि है, अनन्त काल रहनेवाली चीज़ है, वह सहजात्मस्वरूप अविकारी स्वरूप, वीतरागस्वरूप मूर्ति प्रभु आत्मा, आहाहा! वह चैतन्य वीतरागी चैतन्य प्रतिमा भगवान है। चैतन्य प्रतिमा! आहाहा! उसकी जहाँ अन्तर्दृष्टि हुई, स्वीकार हुआ तो दृष्टि में से राग की एकता टूट गयी। सुमेरुमलजी! समझ में आया? भाई! आहाहा! बापू! प्रभु! तेरा मार्ग यह है। आहाहा!

परमात्मा का पुकार है, वीतरागी सन्तों का पुकार। प्रभु! तेरा स्वरूप जो पूर्ण शुद्ध चैतन्यघन है, नाथ! भगवन्त! तेरा स्वभाव-स्वरूप महिमावन्त है, उसकी जिसे दृष्टि हुई तो अपने परिणाम में राग की एकता थी, वह टूट गयी। भगवान मिल गया। वीतरागस्वरूप परमात्मा की भेंट हुई तो रंक को साथ में क्यों रखे? आहाहा! कहो, रसिकभाई! ऐसी बातें हैं, प्रभु! यह तो दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, पूजा करो, मन्दिर बनाओ, दो-पाँच-दस लाख का दान दो... अब, भाई! सुन न! यह सब क्रियायें बाहर की होती हैं, उनमें राग (मन्द) होवे तो शुभ है, वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु निर्विकल्प चैतन्यघन में जिसकी एकताबुद्धि हुई, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। भगवान की जिसने भेंट की। अनादि से राग की भेंट करके पामर होकर भटकता था। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

सम्यग्दृष्टि, अपने में रागादि को न करता हुआ,... कैसे करे? पूर्णानन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन, जहाँ दृष्टि में दौलत आयी, आहाहा! दृष्टि में खजाना देखा, अब उस खजाने में एकत्व हुआ, ताला खुल गया। राग की एकता थी तो ताला बन्द था। राग को तोड़कर (स्वभाव में) एकता हुई तो ताला खुल गया, खजाना खुल गया। आहाहा! भगवान अनन्त आनन्द का खजाना है। अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुण का खजाना है। समझ में आया? उसकी दृष्टि हुई, स्वभाव सन्मुख हुआ (तो) राग से विमुख हुआ। बराबर है, प्रभु! आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा! कान्तिभाई! यह समझ में आये ऐसा है, बापू! भाई!

भगवन! तू चौरासी के अवतार में दुःखी होकर भटकता है। कोई शरण नहीं। हैं? आहाहा! जिसे पुण्य-पाप का भी शरण नहीं। वह तो विकार है। आहाहा! शरण आत्मा

है, उसकी तो खबर नहीं। आहाहा! मांगलिक में चत्तारि शरणम् आता है न? वह शरण यह आत्मा। केवलिपण्णत्तो धम्मो शरणम्... यह पर्याय की बात है। आहाहा!

जिसने राग की एकता तोड़कर प्रभु स्वभाव की एकता की, वह सम्यग्दृष्टि राग परिणाम में एकत्व नहीं करता। भगवान की भेंट हुई, वहाँ पामर विकार के साथ एकत्व कैसे करे? वह तो कंकर है। आहाहा! राग तो कंकर, मैल, दुःख है। भगवान तो आनन्दमूर्ति प्रभु है। अतीन्द्रिय आनन्द, सच्चिदानन्द उसका स्वरूप है। आहाहा! कठिन काम लगे। ऐसी चीज़ है। आहाहा!

मुमुक्षु : अनभ्यास से कठिन लगता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभ्यास नहीं है इसलिए। आहाहा! यह बात अभी सुनने को मिलती नहीं।

मुमुक्षु : कठिन तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन तो इस प्रकार से—इसे अभ्यास नहीं है इसलिए। आहाहा!

मुमुक्षु : कलश टीका में तो कठिन कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन है, कहा है न! तो भी अशक्य नहीं है। दुर्लभ है। समझ में आया? कठिन का अर्थ कि इसके लिये अभ्यास चाहिए। अभ्यास के बिना कठिन है। अभ्यास से सरल है। गीताजी में ऐसा कहे, अभ्यास चाहिए, परन्तु इसका अभ्यास। हैं? आहाहा! पहले अभ्यास करे, श्रवण करे, मनन करे, आहाहा! वाँचन करे, पृच्छना करे, यथार्थ तत्त्व जानने के लिये पर्यटन करे, बारम्बार लक्ष्य में धारण करे। आहाहा! फिर अन्तर में उतरे।

सम्यग्दृष्टि, **इसी प्रकार...** अर्थात् समझ में आया? जैसे चिकनाई दूर करके मनुष्य रजकण में व्यायाम करता हो तो बन्धन नहीं होता। चिकनाहट छूट गयी तो बन्धन नहीं होता। **इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि,...** जीव को **अपने में रागादि को न करता हुआ,...** आहाहा! इष्ट-अनिष्ट में जो राग-द्वेष होते थे, वे राग-द्वेष अपने में नहीं करता हुआ, भिन्न रखता हुआ। आहाहा! वे कंकर हैं, माल नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

उसी स्वभाव से बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरे हुए लोक में... हो, भले हो। यहाँ लोक में कर्म परमाणु भरे हुए हैं, भरे हों। आहाहा! **मन-वचन-काय की क्रिया करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकार के करणों के द्वारा...** इन्द्रियों द्वारा **सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, कर्मरूपी रज से नहीं बँधता,...** परन्तु राग की एकता नहीं है, इसलिए कर्म से नहीं बँधता। चिकनाहट होवे तो धूल से बँधता है, चिकनाहट न होवे तो धूल से नहीं बँधता। उसी प्रकार राग की एकता होवे तो बन्धन होता है, राग की एकता नहीं तो बन्धन नहीं है। आहाहा! भाषा तो सरल है परन्तु भाव तो (गम्भीर है)। भगवान! इसने अनन्त काल से किया नहीं न! धर्म के नाम से भी गड़बड़ ही की है। हैं! आहाहा! अरे रे! प्रभु! तू ठगा गया है। आहाहा! बाहर में ठगा जाए तो उसका जरा दुःख होता है, यह अन्तर में ठगा गया है। खबर नहीं है।

वैयावृत्य की व्याख्या ली है, पैर दबाना वह वैयावृत्य है? पैर दबानेवाले को वैयावृत्य हो, दाबनेवाले को नहीं। और यदि दबानेवाले को वैयावृत्य (हो) कहो तो उसने तो हाथ ऐसे-ऐसे किया। वह वास्तव में व्यवहार वैयावृत्य भी नहीं है। निश्चय वैयावृत्य तो उसे कहते हैं... आहाहा! अपने स्वरूप में शुद्ध उपयोग प्रगट करना, वह वैयावृत्य है। शुभ और अशुभ उपयोग को छोड़कर... सूक्ष्म बात है, प्रभु! है न उसमें डाला है। बहुत लिखा है, ऐसी छनावट तो... इस बार आया था परन्तु मैंने पढ़ा नहीं था। ऐसे बहुत बार साधारण महिमा करते हैं परन्तु यह पढ़कर तो... ओहो! उनका क्षयोपशम...! जिसकी हो वह बात (की जाती है)। परन्तु घमण्ड नहीं है, निर्मान है। अन्तिम बोल गया था तब कि मुझमें कुछ भूल होवे तो बताओ। खबर है? अन्त में (आता है) मुझमें कुछ त्रुटि हो तो बताना। क्या कहते हैं, समझ में आया?

धर्मी उसे कहते हैं, अन्तर में जो पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति का राग आता है, उससे मेरी चीज़ भिन्न है। आहाहा! मैं रागमय नहीं, आहाहा! यह बात कभी सुनी नहीं। दुनिया ऐसी की ऐसी अनन्त काल से भटका करती है। भगवान की भक्ति का राग, यात्रा का राग, व्रत का राग, पूजा का राग, इस राग से मेरी चीज़ भिन्न है, यह राग मैं नहीं हूँ। आहाहा! **सम्यग्दृष्टि (जीव) अपने में रागादि को न करता हुआ,...** है शब्द? आहाहा!

धर्म की पहली शुरुआत, धर्म की पहली सीढ़ी जो कोई दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम राग है, वह मेरी चीज़ नहीं है, वह बन्ध का कारण है; मैं नहीं। आहाहा! मैं तो अबन्धस्वरूपी भगवान आत्मा हूँ, ऐसी जिसे दृष्टि सम्यक् हुई, वह राग की क्रिया को, राग के परिणाम को अपने में नहीं करता। जड़ की क्रिया तो अपनी है ही नहीं, इस शरीर का हलन-चलन (होता है), वह तो जड़ की क्रिया है। उसे आत्मा नहीं कर सकता और नहीं छोड़ सकता। यह ग्रहण-त्याग तो है नहीं। समझ में आया? मात्र दया, दान, व्रत, यात्रा, भक्ति के परिणाम जो राग, उस राग को अपने स्वरूप में एकत्व करना, वह मिथ्यात्व, अज्ञान, मूढ़ता है। वह संसार है और उस राग की एकता तोड़कर ज्ञानानन्द सहजात्मप्रभु आत्मा में एकता करने से राग की एकता टूटती है। आहाहा! कठिन काम, भाई! यह है?

उन्हीं अनेक प्रकार के करणों के द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, कर्मरूपी रज से नहीं बँधता,... आहाहा! जिसे अपना ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप परमात्मा जिनेश्वरदेव ने जो आत्मा कहा, वह आत्मा पूर्णानन्द शुद्ध चैतन्यघन है, उसकी जिसने दृष्टि की, सम्यग्दर्शन हुआ, अनुभव हुआ, राग मेरी चीज़ नहीं, ऐसा भान हुआ, तब उसे कर्म बन्धन नहीं होता। आहाहा! कान्तिभाई! ऐसा कभी वहाँ सुना नहीं। भावनगर में अपना दिगम्बर धर्म है न? (उसके) प्रमुख हैं। पुराने दिगम्बर। अपने नये दिगम्बर का मन्दिर अलग है। यह हमारे हिम्मतभाई, उसके प्रमुख थे, अभी ये प्रमुख हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि, सम्यग्दृष्टि अर्थात् धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म का पहला सोपान... आहाहा! अपना स्वभाव चैतन्यमूर्ति भगवान, उसकी दृष्टि होने से स्वरूप में राग नहीं तो राग की एकता करना टूट जाता है। आहाहा! शर्तें बहुत हैं। यह शर्त कि राग परिणाम है, राग है, वह मेरी चीज़ नहीं। मेरी चीज़ तो आनन्दकन्द प्रभु है। आहाहा! शुद्ध सच्चिदानन्द प्रभु तो अन्दर है, जो प्रभु सर्वज्ञ परमेश्वर ने आत्मा को देखो, निज सत्ता से शुद्ध, मेरी सत्ता शुद्ध है—ऐसा भगवान ने देखा है। समझ में आया? 'प्रभु तुम जाणग रीति, सौ जग देखता हो लाल, निज सत्ता से शुद्ध हमको देखता हो लाल...' प्रभु! हमारा आत्मा पवित्र शुद्ध है, ऐसा तुम देखते हो। राग, वह आत्मा नहीं, ऐसा आप देखते हो। बराबर है? आहाहा!

भगवान! तेरे घर की बात है न, प्रभु! आहाहा! 'अब हम कबहूँ न निजघर आये,'

आता है ? आहाहा! 'अब हम कबहूँ न निजघर आये, पर घर भ्रमत अनेक नाम धराये।' मैंने पुण्य किया, मैंने दया की, मैंने पाप किया और यह किया, पर का भला किया, पर का अहित किया—ऐसे नाम तूने धराये, प्रभु! 'पर घर भ्रमत अनेक नाम धराये, अब हम कबहुँ न निज घर आये।' यह निजघर भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर ने जो आत्मा कहा, वह आत्मा दया, दान के विकल्प से भिन्न है। नवतत्त्व है या नहीं ? तो नव तत्त्व में पुण्य-पाप तत्त्व भिन्न है, आत्मतत्त्व भिन्न है। नौ है न ? आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थान में हो, ... जिसने आत्मा आनन्द स्वरूप की एकता हुई है और राग की एकता टूट गयी है, वह कर्मबन्धन नहीं करता। समझ में आया ? है ? **क्योंकि उसके बन्ध के कारणभूत राग के योग का (राग में जुड़ने का) अभाव है।** है अन्त में ? अपने शुद्धस्वरूप परमात्मा में पर्याय को जोड़ दिया है। राग में जुड़ान टूट गया है। अनादि काल से परिभ्रमण करता हुआ भटकता दुःखी प्राणी अज्ञानी है। आहाहा! उसे परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ का पुकार है। एक बार तू सम्यग्दर्शन प्रगट कर, कि जिस सम्यग्दर्शन में तुझे पूर्णानन्द के नाथ का अनुभव होगा। तब तुझे राग की क्रिया से भिन्न तेरा भान होगा। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा!

राग के योग... शब्द पड़ा है न ? यह राग का जुड़ान। राग भले थोड़ा हो परन्तु जुड़ान है, वह टूट जाता है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! वीतराग जिनेश्वर का मार्ग कोई अलौकिक अलग है। अभी तो सब दूसरे प्रकार से चलता है। अजैन को जैन मान बैठे हैं। आहाहा! जैन कोई सम्प्रदाय—वाड़ा नहीं, वस्तु का स्वरूप है। 'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, यह वचन से समझ ले, जिन वचन का मर्म।' आहाहा! समझ में आया ? 'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।' रागादि कर्म है, वह आत्मा नहीं। 'यह वचन से समझ ले, जिन वचन का मर्म।' तीन लोक के नाथ वीतराग की वाणी का मर्म यह है। इसके बिना सब व्यर्थ है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **क्योंकि उसके बन्ध के कारणभूत राग के योग का (राग में जुड़ने का)...** शुभ-अशुभराग के साथ एकत्व जोड़ना, वह बुद्धि सम्यग्दृष्टि को टूट गयी है। समझ में आया ? राग लंगड़ा रह गया। जैसे बिल्ली की कमर टूट जाए तो वह ऐसे चले,

परन्तु कमर भले टूट गयी है। आहाहा! उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भले चक्रवर्ती के राज में हो, समकिती तीर्थंकर सोलहवें शान्तिनाथ आदि तीन ज्ञान के धनी समकिती थे, चक्रवर्ती थे। आहाहा! शान्तिनाथ कामदेव थे। आहाहा! अन्तर में राग की एकता टूटकर आनन्द का अनुभव है। आहाहा! उसे राग की एकताबुद्धि से जो मिथ्यात्व था और बन्ध पड़ता था, वह बन्ध नहीं है। अस्थिरता का थोड़ा (बन्ध) है, वह दूसरी बात है। समझ में आया? माँगीलालजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा! क्या कहा?

सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव में राग की एकता नहीं करता, राग के साथ जुड़ान नहीं करता होने से उसे कर्मबन्ध का अभाव है। आहाहा! है? **कर्मरूपी रज से नहीं बँधता, क्योंकि उसके बन्ध के कारणभूत राग के योग...** राग का जुड़ान—राग का सम्बन्ध। सम-बन्ध—सम्यक् प्रकार से राग का बन्ध। आहाहा! राग के साथ नाता बाँधा है, वह नाता समकिती ने तोड़ डाला है। समझ में आया? आहाहा! उस राग के योग का अभाव है, राग के जुड़ान का अभाव है। धर्मी चौथे गुणस्थान में। आहाहा! कहाँ खबर है? कुछ भान नहीं होता। धर्म क्या है और धर्म कैसे हो? आहाहा!

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त... पूर्व में कहे अनुसार **सर्व सम्बन्ध होने पर भी...** बाहर का सब सम्बन्ध हो। राजपाट, कुटुम्ब, शरीर भले हो, सचित्त-अचित्त का घात भी हो, कहते हैं। आहाहा! **राग के सम्बन्ध का अभाव होने से...** बाहर का सर्व सम्बन्ध होने पर भी अन्दर में राग के सम्बन्ध का अभाव होने से। आहाहा! **कर्मबन्ध नहीं होता।** सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन के प्रताप से मिथ्यात्व से जो बन्ध होता था, वह बन्धन नहीं होता। अनन्त संसार का कारण तो मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व, वह संसार है। सम्यग्दर्शन, वह मोक्ष का मार्ग, वह मोक्ष है। आहाहा! समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त सर्व सम्बन्ध होने पर भी... भले बाहर के सम्बन्ध हों, कहते हैं। आहाहा! **राग के सम्बन्ध का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं होता। इसके समर्थन में पहले कहा जा चुका है।** पहले बात आ गयी है।

कलश - १६५

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादी-नुपयोग-भूमि-मनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम्।।१६५।।

श्लोकार्थ : [कर्मततः लोकः सः अस्तु] इसलिए वह (पूर्वोक्त) बहु कर्मों से (कर्मयोग्य पुद्गलों से) भरा हुआ लोक है, सो भले रहो, [परिस्पन्दात्मकं कर्म तत् च अस्तु] वह मन-वचन-काय का चलनस्वरूप कर्म (योग) है, सो भी भले रहो, [तानि करणानि अस्मिन् सन्तु] वे (पूर्वोक्त, करण भी उसके भले रहें) [च], और [तत् चिद्-अचिद्-व्यापादनं अस्तु] वह चेतन-अचेतन का घात भी भले हो, परन्तु [अहो] अहो! [अयम् सम्यग्दृग्-आत्मा] यह सम्यग्दृष्टि आत्मा, [रागादीन् उपयोगभूमिम् अनयन्] रागादि को उपयोगभूमि में न लाता हुआ, [केवलं ज्ञानं भवन्] केवल (एक) ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ, [कुतः अपि बन्धम् ध्रुवम् न एव उपैति] किसी भी कारण से निश्चयतः बन्ध को प्राप्त नहीं होता। (अहो! देखो! यह सम्यग्दर्शन की अद्भुत महिमा है।)

भावार्थ : यहाँ सम्यग्दृष्टि की अद्भुत महिमा बताई है, और यह कहा है कि - लोक, योग करण, चैतन्य-अचैतन्य का घात-वे बन्ध के कारण नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि परजीव की हिंसा से बन्ध का होना नहीं कहा, इसलिए स्वच्छन्द होकर हिंसा करनी। किन्तु यहाँ यह आशय है कि अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीव का घात भी हो जाए तो उससे बन्ध नहीं होता। किन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक जीवों को मारने के भाव होंगे वहाँ अपने उपयोग में रागादि का अस्तित्व होगा और उससे वहाँ हिंसाजन्य बन्ध होगा ही। जहाँ जीव को जिलाने का अभिप्राय हो, वहाँ भी अर्थात् उस अभिप्राय को भी निश्चयनय में मिथ्यात्व कहा है, तब फिर जीव को मारने का अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों न होगा? अवश्य होगा। इसलिए कथन को नयविभाग से यथार्थ समझकर श्रद्धान करना चाहिए। सर्वथा एकान्त मानना मिथ्यात्व है।।१६५।।

कलश - १६५ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:- १६५

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादी-नुपयोग-भूमि-मनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम्।।१६५।।

देखो! सम्यग्दर्शन का माहात्म्य! **श्लोकार्थ - 'कर्मततः लोकः सः अस्तु' बहु कर्मों से (कर्मयोग्य पुद्गलों से) भरा हुआ लोक है सो भले रहो,...** हमें क्या? भले चीज़ हो **'परिस्पन्दात्मकं'** मन, वचन, काया की योग की क्रिया भी भले हो मन-वचन, काया की। **'तानि करणानि अस्मिन् सन्तु'** करण-इन्द्रिया भी भले हो। **'तत् चिद्-अचिद्-व्यापादनं अस्तु'** चेतन-अचेतन का घात भी हो, भले हो, मुझे क्या? आहाहा! यह मुनिराज कहते हैं, पंच महाव्रतधारी दिगम्बर सन्त कहते हैं कि भले घात हो। हो का अर्थ ज्ञान कराते हैं। परन्तु राग की एकता नहीं तो उससे कुछ बन्ध नहीं होता, ऐसा कहते हैं। चिमनभाई! ऐसी बातें हैं। सूक्ष्म बहुत, बापू! धर्म की शुरुआत ही कोई अपूर्व है। फिर चारित्र की बात तो अलौकिक है। सम्यग्दर्शन के बिना तो धर्म की शुरुआत नहीं होती और यह सम्यग्दर्शन पूर्णानन्द के नाथ को अनुभव में ले और राग की एकता टूटे, तब सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! उस समय उसे **किसी भी कारण से निश्चयतः बन्ध को प्राप्त नहीं होता।** आहाहा! है?

सम्यग्दृष्टि आत्मा, रागादि को उपयोगभूमि में न लाता हुआ,... देखो! उपयोगभूमि—पर्याय की भूमि, हों! द्रव्य में कहाँ (राग है)? जानने-देखने का जो उपयोग है, उसमें राग नहीं लाता। त्रिकाली तो ध्रुव है। वहाँ तो राग-छोड़ना कुछ है नहीं, वह तो ध्रुव है। अपने जो परिणाम—उपयोग है, उसमें राग-द्वेष को नहीं लाता। आहाहा! समझ में आया? और अज्ञानी उपयोग में राग-द्वेष लाता था। द्रव्य में लाता था, यह तो है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

वस्तु जो भगवान त्रिलोकनाथ जो द्रव्य है, वह तो त्रिकाल निरावरण है। सच्चिदानन्द प्रभु नित्य ध्रुव की बात तो यहाँ है नहीं। वह तो निरावरण है, उसमें कोई राग का लाना, राग को छोड़ना—ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! पर्याय में राग की एकता करना और पर्याय में राग को तोड़ना, यह बात है। आहाहा! भाषा तो सादी है न, प्रभु! भाव भले कठिन है। आहाहा! कठिन काम है, भाई!

कहते हैं, **केवल (एक) ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ,...** रागादि को उपयोग भूमिका में नहीं करता हुआ। है? पुण्य-पाप के भाव को उपयोग भूमिका में नहीं करता हुआ, नहीं लाता हुआ। **'केवलं ज्ञानं भवन्'** मैं अकेला ज्ञातादृष्टा हूँ, आहाहा! **ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ,...** पहले रागरूप परिणमता था, अब ज्ञानरूप परिणमता हुआ। राग से भिन्न हो गया तो स्वरूप जो आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्द है तो पर्याय में ज्ञानरूप परिणमित हुआ। पर्याय में, हों! आहाहा! **'कुतः अपि बन्धम् ध्रुवम् न एव उपैति' किसी भी कारण से निश्चयतः बन्ध को प्राप्त नहीं होता। (अहो! देखो! यह सम्यग्दर्शन की अद्भुत महिमा है।)** (अहो देखो!) यह सम्यग्दर्शन की अद्भुत महिमा है। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३१७, श्लोक-१६५ से १६७ शनिवार, असोज शुक्ल १
दिनाङ्क - २२-०९-१९७९

समयसार, १६५ कलश का भावार्थ है। **यहाँ सम्यग्दृष्टि की अद्भुत महिमा बताई है,...** जिसे आत्मदृष्टि हुई है, शुद्धचैतन्य परमानन्दस्वरूप प्रभु का अन्तर अनुभव में स्वीकार होकर प्रतीति हुई है, उस सम्यग्दृष्टि की अलौकिक महिमा है। समझ में आया? यह कहते हैं। **और लोक,...** लोक में भले कर्म होने के योग्य परमाणु हों, परन्तु चिकनाई नहीं है तो बन्ध नहीं है, इसी प्रकार जगत में भले सम्यग्दृष्टि को बाह्य की क्रिया होती है परन्तु अन्तर में राग से भिन्न अपनी दृष्टि है, इस कारण से उसे लोक... है न? **लोक, योग,...** मन, वचन, काया का योग भी उसे बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! **करण,...**

इन्द्रियाँ भी बन्ध का कारण नहीं हैं। **चैतन्य-अचैतन्य का घात-वे बन्ध के कारण नहीं हैं।** आहाहा!

उन समाजवाद और अपरिग्रहवाद की व्याख्या रखी है, गजब किया है! भारी क्षयोपशम! आहाहा! बात तो सत्य है, बराबर है। ऐसा (लिखा है), पूर्व के पुण्य के कारण पैसा मिलता है, वह कहीं पाप के कारण नहीं मिलता। चक्रवर्ती का राज मिले, वह पुण्य के कारण मिलता है परन्तु वह वस्तु है, वह पाप है और उसे भोगने का भाव करे तो वह पाप है। आहाहा!

मुमुक्षु : और खर्च करे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभभाव में खर्च करे तो पुण्य है, धर्म नहीं। समझ में आया? इतना विस्तार किया है, बहुत! आज ही आया है। वह तुलसी कहता है न? कि समाज में पैसे का वितरण नहीं है, इसलिए दूसरे के पास समान पैसा नहीं है। यह कहे, ऐसा नहीं है। समाजवाद और अपरिग्रहवाद भिन्न चीज़ है। अपरिग्रहवादी जगत में पूर्ण चक्रवर्ती का राज आदि हो, तथापि मुनि तो एक वस्त्र का धागा भी नहीं रखते। इसलिए वहाँ वितरण करना या इन सबको है, इसलिए मुझे हो... गजब बात की है! इतना स्पष्टीकरण किया है। समाजवाद तो ऐसा मानता है कि सबको समान हो, ऐसा रखना। समान हो, सबके बड़ा हो तो मुनिपना रखे। है? समाजवाद और अपरिग्रहवाद पूरा अन्तर है।

सम्यग्दृष्टि है, उसे बाहर की प्रवृत्ति योग की बहुत होने पर भी वह बन्ध का कारण नहीं है, ऐसा कहा। अन्तर परिग्रहबुद्धि मिथ्यात्व की छूट गयी है न! है? आहाहा! अपरिग्रह भगवानस्वरूप परमात्मा की जिसे अन्तर्दृष्टि हुई है, उसे मिथ्यात्व का परिग्रह छूट गया है। आहाहा! फिर उसे भरत चक्रवर्ती का राज हो तो भी वह है तो धर्मी, सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से। पैसा कुछ अन्यत्र खर्च करे तो वह पुण्य है। मिला है पुण्य के कारण, वस्तु है पाप। आहाहा! परन्तु इससे पाप का उदय है, इसलिए पापी है, ऐसा नहीं है। यहाँ तो सम्यग्दृष्टि को शरीर में रोग हो, आदि अनेक प्रकार का होने पर भी वह उसकी चीज़ नहीं है। आहाहा! समझ में आया? शरीर में क्षयरोगादि आये। सनतकुमार को सात सौ वर्ष गलित कोढ़ (रहा), इससे वह पापी है? पाप का उदय है, इसलिए पापी है? और पूर्व के पुण्य

का उदय है, इसलिए पैसे मिले, इसलिए पुण्यवान कहें ? ऐसा नहीं है। आहाहा! वह वर्तमान में शुभभाव करे तो पुण्यबन्ध है और वर्तमान में राग का, कषाय का त्याग करके बाह्य का पूर्ण त्याग करे तो पूर्ण अपरिग्रही धर्मात्मा है। दुनिया के पास भले ढ़ेर हों। समाजवाद की अपेक्षा से तो मुनि को सबके साथ समान रखना चाहिए। समाजवाद और जैन परमेश्वर का अपरिग्रहवाद कोई अलग प्रकार है। आहाहा! समझ में आया ?

वह यहाँ कहते हैं, सम्यग्दृष्टि को यदि लोक हो, साधन हो, योग हो, अरे! इन्द्रियाँ हों, चैतन्य-अचैतन्य का घात भी कदाचित् इन्द्रियों से हो जाए, आहाहा! (तथापि) वह बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि मिथ्यात्व, वह महाबन्ध का कारण है। मिथ्यात्व जो विपरीत मान्यता, राग मेरी चीज़ है, मैं राग हूँ, यह मिथ्यात्व महापरिग्रह और संसार है। आहाहा! समझ में आया ? तो कहते हैं कि **वे बन्ध के कारण नहीं हैं।**

इसका अर्थ यह नहीं है... अब कहते हैं कि इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि **परजीव की हिंसा से बन्ध का होना नहीं कहा। इसलिए स्वच्छन्द होकर हिंसा करनी।** ऐसा नहीं है। आहाहा! हिंसा करने का भाव, मैं हिंसा कर सकता हूँ, यह तो मिथ्यात्व है। समझ में आया ? पर की हिंसा मैं कर सकता हूँ, यह तो मिथ्यात्व है और हिंसा करूँ, यह भाव पाप है। यहाँ तो सम्यग्दृष्टि की महिमा बतायी कि जिसकी दृष्टि में परमात्मा बसता है, उसे बाह्य के संयोग से बन्ध हो, ऐसा नहीं है, इतना कहा। संयोग की क्रिया बड़ी चक्रवर्ती के राज की हो, तथापि उसे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का बन्धन है नहीं। आहाहा! समझ में आया ? सूक्ष्म वीतरागमार्ग बहुत अलौकिक है। आहाहा!

यहाँ यह आशय है कि अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीव का घात भी हो जाए... अबुद्धिपूर्वक, **तो उससे बन्ध नहीं होता। किन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक जीवों को मारने के भाव होंगे...** आहाहा! समझ में आया ? बुद्धिपूर्वक जीवों को मारने का भाव, हों! **वहाँ अपने उपयोग में रागादि का अस्तित्व होगा...** उपयोग में राग की अस्ति स्वयं की है, वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा! **उससे वहाँ हिंसाजन्य बन्ध होगा ही।** स्वच्छन्दरूप से हिंसा करे... आहाहा! तो रागादि का अस्तित्व है तो हिंसा से बन्ध भी होगा।

जहाँ जीव को जिलाने का अभिप्राय हो... आहाहा! क्या कहते हैं? मैं दूसरे जीव को जिला सकता हूँ, मैं पर को जीवन दे सकता हूँ, दूसरे को जिला सकता हूँ... आहाहा! **उस अभिप्राय को भी निश्चयनय में मिथ्यात्व कहा है...** क्या कहा? मैं परजीव को जिला सकता हूँ, यह तो मिथ्यात्व है। किसी परजीव को आत्मा जिला नहीं सकता। पर की पर्याय तो क्या करे? उसका आयुष्य हो तो जीवे, आयुष्य न होवे तो मरे। यह कहे कि मैं उसे जिला सकता हूँ, यह भी जहाँ मिथ्यात्व है। आहाहा! कठिन काम है।

मुमुक्षु : स्वच्छन्द हुआ, वहाँ मिथ्यात्व हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व हुआ वहाँ स्वच्छन्द हुआ न! स्वच्छन्दता हुई! आत्मा में भानसहित है और अबुद्धिपूर्वक कोई हिंसादि हो जाए तो बन्ध नहीं है, ऐसा कहा है। परन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक मैं हिंसा करूँ, ऐसा भाव है, अरे! समकिती को भी जितना पर की हिंसा का (भाव); हिंसा कर सकता हूँ, ऐसा नहीं परन्तु हिंसा का भाव जितना होता है, उतना बन्ध का कारण उसे भी है। मिथ्यात्व नहीं है। समझ में आया? आहाहा! पर का जीवन हो या मरण, उसके आयुष्य के कारण से है। ज्ञानी ऐसा मानता है मैं तो निमित्तमात्र हूँ। उसे राग का जरा भाव आया तो उतना बन्ध है परन्तु मिथ्यात्व का बन्ध नहीं है, राग की एकताबुद्धि का उसे बन्ध नहीं है, इस अपेक्षा से बन्ध नहीं है—ऐसा कहा है। आहाहा! अब ऐसी बातें। समझ में आया? क्या कहा?

जीव को जिलाने का अभिप्राय... मैं परजीव की दया पाल सकता हूँ, (ऐसा अभिप्राय)। तो यह सब तुम्हारे क्या (आता है)? 'दया वह सुख की बेलड़ी'। स्थानकवासी में आता था न? नहीं? 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया वह सुख की खान; अनन्त जीव मुक्ति गये...' दया, वह पर की दया, हों! यह तो हमें खबर है। आहाहा! अरे!

यहाँ तो कहते हैं, पर को जिलाने का पर का भाव; जिला सकता हूँ—ऐसी मान्यता वह मिथ्यात्व है। आहाहा! क्योंकि वह तो उसकी आयुष्य प्रमाण जीता है। तो क्या तूने उसे आयु दी? समझ में आया? और मरता है तो उसका आयुष्य पूरा हुआ तो मर गया, वह उसका आयुष्य हर लिया? आहाहा! कठिन बात, भाई! सत्य के सिद्धान्त इतने सूक्ष्म हैं। आहाहा! परजीव को जिलाने का (भाव), आहाहा! मैं स्त्री, कुटुम्ब, परिवार को निभाता

हूँ... आहाहा! यह मिथ्यात्व है। वे तो उनके कारण से निभते हैं और उन्हें अनुकूलता मिले, वह उनके सातावेदनीय के कारण से मिलती है तथा प्रतिकूलता मिलती है, वह उनकी असातावेदनीय के कारण से मिलती है। तू उसे कहाँ अनुकूलता दे सकता है? आहाहा! बहुत कठिन बात, अलौकिक बात है, भाई! दुनिया से पूरा अलग प्रकार है।

पर **जीव को जिलाने का अभिप्राय...** अभिप्राय, हो! पर को जिलाने का भाव है, जिला सकता नहीं परन्तु भाव है, वह शुभराग है। परन्तु पर को जिला सकता हूँ, यह तो मिथ्यात्व है। समझ में आया? दया का भाव आता है, वह राग है परन्तु मैं पर की दया पाल सकता हूँ, ऐसा नहीं है। आहाहा! भागचन्दजी! ऐसा माल कब सुना था? ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा! पर को दुःख न देना या जिलाने का भाव (आवे), वह भाव राग है, परन्तु मैं जिला सकता हूँ, यह भाव मिथ्यात्व है। समझ में आया? आहाहा!

एक भाई ने पूछा था। पोपटभाई नहीं थे? पोपटभाई, लींबड़ीवाले। उनका साला शान्तिलाल खुशाल। दो अरब चालीस करोड़ रुपये। है न अभी है, वह मर गया, उसके लड़के हैं। गोवा, गोवा में हैं। दो अरब चालीस करोड़ रुपये। अपने पोपटभाई आते हैं, उनके वे साले होते हैं। पैसेवाले साले और यह बहनोई। यह भी ठीक है परन्तु वह बड़े पैसेवाला, ढाई अरब। एक बार पोपटभाई ने कहा कि तुम इतनी अधिक उपाधि किसलिए करते हो? तब उसने क्या जवाब दिया? मैं क्या मेरे लिये करता हूँ? लोगों का निर्वाह चले, उसके लिये मैं करता हूँ। आहाहा! समझ में आया? ऐ.. वजुभाई! आहाहा! ऐसा कहते थे, लो! पैसा बहुत, मस्तिष्क फट गया (मान चढ़ गया)।

मुमुक्षु : पैसे से मस्तिष्क फट जाए?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे से नहीं, मिथ्याभ्रम से फट जाता है। पैसा तो जड़ है। मैं सबका निर्वाह करता हूँ। यह मिलवाले और प्रेसवाले बहुत पाप करते हैं न? तो भी वे कहते हैं कि हजारों लोग निभते हैं न हमारे कारण? एकदम मिथ्या बात है। आहाहा!

जिलाने का अभिप्राय हो, वहाँ भी अर्थात् उस अभिप्राय को भी निश्चयनय में मिथ्यात्व कहा है, तब फिर जीव को मारने का अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों न होगा? मैं मार सकता हूँ। समझ में आया? पर को मारता हूँ, पर को मार सकता हूँ, यह

तो मिथ्यात्व है। गजब बात है। पर को मार भी नहीं सकता और पर को जिला भी नहीं सकता। पर को जिलाने का भाव हो परन्तु जिला नहीं सकता। दया का राग है, वह पुण्यबन्ध का कारण है। पर को मार सकता हूँ, ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है परन्तु पर को मारने का भाव आया परन्तु पर को मार सकता हूँ, (ऐसा अभिप्राय) नहीं है तो वह भाव है, वह पाप है, मिथ्यात्व नहीं। अरे! इतना अन्तर अब कहाँ... ? है ?

मुमुक्षु : अभी दो-चार दृष्टान्त दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पैसा रखना कहा न, लो! पैसा अधिक रखे, वह पापी है—ऐसा है ? और पैसा थोड़ा रखो, वह धर्मी है—ऐसा है ? उसके साथ सम्बन्ध क्या ? आहाहा! पैसा मैं रख सकता हूँ, यह दृष्टि मिथ्यात्व है। समझ में आया ? और मैं पैसा छोड़ सकता हूँ, यह भी मिथ्यात्व है। पैसे को क्या छोड़े ? गजब बात है, प्रभु! ऐसी बातें कहाँ हैं ?

परन्तु परिग्रह का परिमाण करे, सम्यग्दृष्टि जीव, अपने ज्ञानस्वरूप का भान है पश्चात् परिग्रह का परिमाण-माप करे तो जितना घटावे, उतना पुण्य है, अन्तर में जितना अपरिग्रहभाव प्रगट हुआ हो तो धर्म है। आहाहा! बहुत अन्तर, भाई! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर सकता है, उससे क्या... यह नहीं कहते ? 'कर्ता-हर्ता नहीं पर का' गायन नहीं गाते ? मालचन्दजी गाते थे। गायन नहीं बनाया था ? पर का कोई कर्ता-हर्ता नहीं है।

मुमुक्षु : देश का कार्य करनेवाले तो सबका बहुत कार्य करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं करते। रामजीभाई करते थे, सब ममता करते थे। रामजीभाई सबको जवाब देते थे। यह क्या कहलाता है वह ? देशसेवा। देश का कैसा... ? ढ़ेबरभाई, इनकी सलाह लेने आते थे तो सलाह देते थे। सेवा की होगी ? यह तो घर का दृष्टान्त। आहाहा! यह लोग मानते हैं। पूरी लाईन फेर, बापू! वीतरागमार्ग और बाहर का समाजवाद, बड़ा अन्तर। आहाहा! विरुद्ध, परस्पर विरुद्ध है। ओहोहो!

सम्यग्दृष्टि राजपाट करता है तो मैं कर सकता हूँ—ऐसी बुद्धि नहीं है। मात्र राग होता है, आसक्ति का राग होता है। चक्रवर्ती का राज है, उतनी आसक्ति तो है न ? राज मेरा है, ऐसा नहीं। उसके प्रति प्रेम-राग है न, उतना चारित्र का दोष है। परन्तु वह राग मेरा है, ऐसा मिथ्यात्व का दोष नहीं है। आहाहा!

जब जीव को जिलाने के **अभिप्राय को भी निश्चयनय में मिथ्यात्व कहा है तब फिर जीव को मारने का अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों न होगा?** मैं मारता हूँ, मार सकता हूँ। आहाहा! यह पर को मारने का आत्मा का अधिकार नहीं है। उसका आयुष्य पूरा हो तो मरे, तथापि मैं मार सकता हूँ, यह पाप है, मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व अवश्य होगा। **इसलिए कथन को नयविभाग से...** नयविभाग से, नय के प्रकार से, **यथार्थ समझकर श्रद्धान करना चाहिए। सर्वथा एकांत मानना मिथ्यात्व है।** पर को मारे, मारने का भाव हो, (कहे) हम से मरा नहीं, हम तो सम्यग्दृष्टि हैं तो वह स्वच्छन्दी है, स्वच्छन्दी है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को भी परिग्रह का भाव, रागादि तो है न? न होवे तो अपरिग्रही हो जाये, मुनि हो जाए। जितना परिग्रह का भाव है, वह मेरा भाव है, ऐसा नहीं। वह भाव मेरा नहीं और वह परिग्रह मेरा नहीं। ऐसा नहीं। परन्तु उसमें आसक्ति का भाव आता है, उतना पाप है। चारित्रदोष है, मिथ्यात्व का नहीं। आहाहा!

अज्ञानी पर को जिला सकता हूँ, पर की दया पाल सकता हूँ, बिल्कुल सब छोड़ दिया हो, तो भी पर की दया पाल सकता हूँ, ऐसा मानता होवे तो मिथ्यात्व का परिग्रह पड़ा है। एक भी परिग्रह छोड़ा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। और यहाँ छह खण्ड का राज हो तो भी अन्तर में वह मेरी चीज़ नहीं है, ऐसा मिथ्यात्व का परिग्रह छोड़ दिया है। आहाहा! समकित का अपरिग्रहभाव प्रगट किया। पश्चात् राग रहा तो वह राग चारित्र का दोष है। समझ में आया? समकिती को राग तो होता है।

तीर्थंकर शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ चक्रवर्ती थे। युद्ध करने गये। तीन ज्ञान थे, समकिती थे, क्षायिक समकिती थे। दोनों भाई लड़े—बाहुबली और भरत, परन्तु वह राग का दोष है। चारित्र दोष है, मिथ्यात्व का नहीं। आहाहा! मिथ्यात्व के दोष और चारित्र के दोष में बड़ा अन्तर है। मिथ्यात्व—मैं, पर को जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ, सुखी कर सकता हूँ, पर को अनुकूल सामग्री देकर सुखी कर सकता हूँ, प्रतिकूल सामग्री देकर दुःखी कर सकता हूँ, यह सब मिथ्यात्व भाव है। आहाहा! समझ में आया? पर की अनुकम्पा करके जो शुभभाव हुआ, वह पुण्य है। मैं पर को जिला नहीं सकता परन्तु मुझे अनुकम्पा का भाव आया, वह शुभभाव है। वह भाव भी बन्ध का कारण है। मिथ्यात्व का (बन्ध) नहीं। ऐसी बात है।

कलश - १६६

अब उपरोक्त भावार्थ में कथित आशय को प्रगट करने के लिए, व्यवहारनय की प्रवृत्ति कराने के लिए, काव्य कहते हैं:-

(पृथ्वी)

तथापि न निरर्गलं चरितु-मिष्यते ज्ञानिनां,
तदायतन-मेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकाम-कृत-कर्म तन्मत-मकारणं ज्ञानिनां,
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च।।१६६।।

श्लोकार्थ : [तथापि] तथापि (अर्थात् लोक आदि कारणों से बन्ध नहीं कहा और रागादिक से ही बन्ध कहा है तथापि) [ज्ञानिनां निरर्गलं चरितुम् न इष्यते] ज्ञानियों को निरर्गल (स्वच्छन्दतापूर्वक) प्रवर्तनायोग्य नहीं है, [सा निरर्गला व्यापृतिः किल तद्-आयतनम् एव] क्योंकि वह निरर्गल प्रवर्तन वास्तव में बन्ध का ही स्थान है। [ज्ञानिनां अकाम-कृत-कर्म तत् अकारणम् मतम्] ज्ञानियों के वांछारहित कर्म (कार्य) होता है, वह बन्ध का कारण नहीं कहा है, क्योंकि [जानाति च करोति] जानता भी है और (कर्म को) करता भी है-[द्वयं किमु न हि विरुध्यते] यह दोनों क्रियाऐं क्या विरोधरूप नहीं हैं? (करना और जानना निश्चय से विरोधरूप ही है।)

भावार्थ : पहले काव्य में लोक आदि को बन्ध का कारण नहीं कहा, इसलिए वहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि बाह्यव्यवहारप्रवृत्ति का बन्ध के कारणों में सर्वथा ही निषेध किया है; बाह्यव्यवहारप्रवृत्ति रागादि परिणाम की-बन्ध के कारण की-निमित्तभूत है, उस निमित्तता का यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिए। ज्ञानियों के अबुद्धिपूर्वक -वांछारहित-प्रवृत्ति होती है, इसलिए बन्ध नहीं कहा है, उन्हें कहीं स्वच्छन्द होकर प्रवर्तने को नहीं कहा है; क्योंकि मर्यादारहित (निरंकुश) प्रवर्तना तो बन्ध का ही कारण है। जानने में और करने में तो परस्पर विरोध है; ज्ञाता रहेगा तो बन्ध नहीं होगा, कर्ता होगा तो अवश्य बन्ध होगा।।१६६।

कलश - १६६ पर प्रवचन

अब उपरोक्त भावार्थ में कथित आशय को प्रगट करने के लिए,... व्यवहारनय की प्रवृत्ति कराने के लिए, **काव्य कहते हैं:-** १६६

तथापि न निरर्गलं चरितु-मिष्यते ज्ञानिनां,
तदायतन-मेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकाम-कृत-कर्म तन्मत-मकारणं ज्ञानिनां,
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च।।१६६।।

आहाहा! श्लोकार्थ :- **तथापि (अर्थात् लोक आदि कारणों से बन्ध नहीं कहा और रागादिक से ही बन्ध कहा है तथापि)... 'ज्ञानिनां निरर्गलं चरितुम् न इष्यते' ज्ञानियों को निरर्गल (स्वच्छन्दतापूर्वक) प्रवर्तनायोग्य नहीं है,...** समकिती को निरर्गल हिंसा होती हो तो होओ, भोग हो तो होओ, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो आसक्ति आ जाती है, उसमें कोई पाप ही नहीं, चाहे जो भोग करे, चाहे जो जीव (हिंसा पाओ), ऐसी निर्गल प्रवृत्ति समकिती को नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? यह तो भाई जिसे जगत से भिन्न पड़ना हो, जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, उसकी बात है। आहाहा! बाकी तो दुनिया पूरी अरबोंपति और करोड़ोंपति सब माँगण-भिखारी हैं। भिखारी हैं, भिखारी। माँगण समझे? भिखारी। लाओ, लाओ, लाओ। भीख माँगते हैं, भिखारी हैं। पचास लाख और पच्चीस लाख और करोड़ तथा दो करोड़... धूल। अभी तो अमेरिका में अरबोंपति बहुत है, अरबोंपति।

मुमुक्षु : त्यागी की दृष्टि से बराबर है, परन्तु लौकिक दृष्टि से....

पूज्य गुरुदेवश्री : लौकिक दृष्टि मूढ़ है। लौकिक दृष्टि, वह समाजवाद की बात तो पहले कही। समाजवाद नहीं, वह तो संसारवाद है। आहाहा! पंचाध्यायी में सामने लिखा है न? भाई ने फूलचन्दजी ने, ऐसा कि पैसा समान बाँटते नहीं, इसलिए पैसा मिलता नहीं। ऐसा नहीं है। पैसादि मिलना वह तो पूर्व के पुण्य (के कारण से मिलते हैं), परन्तु चीज़ मिली है, वह तो पाप है। बाह्य परिग्रह है न! वह वस्तु परिग्रह है न? अपनी माने, वह तो

और मिथ्यात्व हुआ। समझ में आया? परन्तु वह परिग्रह है और उसकी जो आसक्ति है, उतना पाप है। धर्मी को-ज्ञानी को भी उतना पाप है। आहाहा! परिग्रह मेरा है और पैसा मेरा है, ऐसी ज्ञानी की बुद्धि नहीं है। यदि ऐसी बुद्धि होवे, तब तो मिथ्यात्व है। आहाहा! इसी तरह विषयसुख में उसे बुद्धि आती है परन्तु विषयसुख सुख है, ऐसी बुद्धि ज्ञानी की नहीं है। क्या कहते हैं? विषय की वासना आती है और समकिती विषय भी सेवन करता है परन्तु वह क्रिया मैं करता हूँ, ऐसा नहीं है। तथा विषय की वासना में सुख है, ऐसी बुद्धि ज्ञानी की नहीं होती। आहाहा! और उसमें सुखबुद्धि हो जाए तो मिथ्यादृष्टि है। चाहे तो त्यागी हो। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! सुख तो भगवान आत्मा में है और इसके अतिरिक्त कहीं पर में सुख माने तो मूढ़ है। भाव आता है, परन्तु सुखबुद्धि नहीं है। समकिती को उसमें सुखबुद्धि नहीं है। आहाहा! शुभभाव आता है, अशुभभाव भी आता है।

मुमुक्षु : सुखबुद्धि नहीं है तो तिजोरी में रुपये किसलिए रखता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह राग की मन्दता है तो आते हैं। मन्द पुरुषार्थ है न! वीतरागता कहाँ हुई है? आहाहा! सम्यग्दृष्टिपूर्वक वीतरागता हुई है, चारित्रदोष का त्याग नहीं है। वह आता है, इतना दोष आता है। आहाहा!

(स्वच्छन्दतापूर्वक) प्रवर्तनायोग्य नहीं है,... सम्यग्दृष्टि को पर की हिंसा करना या पर को बचाना, ऐसा स्वच्छन्दतापूर्वक नहीं है। वह तो हो जाता है, उस राग को जानता है। जयसेनाचार्यदेव की टीका में तो ऐसा लिया है कि सम्यग्दृष्टि जीव पर को सामग्री देता है तो जानता है कि मैं तो निमित्तमात्र हूँ। वह तो उसके कारण से सामग्री जाती है। वह मरता है, वह उसके कारण से, मैं तो निमित्तमात्र हूँ। वह जीता है, वह उसके कारण से, मैं तो निमित्तमात्र हूँ। ऐसा पाठ है। निमित्त का अर्थ (यह कि) मैं उसका कुछ कर्ता नहीं। जयसेनाचार्यदेव की टीका में पाठ है। निमित्तमात्र, मैं तो निमित्त हूँ। कार्य तो वहाँ उसके कारण से होता है। आहाहा! जयसेनाचार्यदेव की टीका में है। आहाहा! अरे! मार्ग बहुत (गम्भीर)। जिनेश्वरदेव परमेश्वर त्रिलोकनाथ का अभिप्राय और धर्म कोई अलौकिक है। वह दुनिया में कहीं नहीं है। आहाहा!

सम्प्रदाय को मिला नहीं प्रभु तुझे आहाहा! जहाँ जन्मे, जिस कुल में जन्मा और

जिसका संग और परिचय रहा, बस! उसकी मान्यता हो गयी। वस्तु क्या है? भगवान का मार्ग क्या है?—इसकी उसे खबर नहीं। जिस सम्प्रदाय में जन्मा और जिसका संग रहा, बस! वह मान्यता (हो गयी)। हम धर्मी हैं, (ऐसा माना)। आहाहा!

मुमुक्षु : बाप-दादा की मान्यता छोड़ी जाती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाप-दादा नरक में गये, तुझे नरक में जाना है? आहाहा! श्रेणिक राजा नरक में गये और अभयकुमार स्वर्ग में गये और उनका पुत्र मोक्ष में गया। उसके साथ सम्बन्ध क्या है? पिता ने किया, इसलिए उसे ऐसा करना, ऐसा है? उसका आत्मा भिन्न है, तेरा आत्मा भिन्न है। पिता की मान्यता परम्परा की झूठी हो तो छोड़ देना। आहाहा! कुल की परम्परा, आहाहा! जिस कुल में जन्मे हो, उसकी मान्यता मिली हो, उसे छोड़ देना। यह तो वीतरागमार्ग है। आहाहा!

एक बार प्रश्न उठा था। ८३ के वर्ष, संवत् १९८३। ५२ वर्ष पहले। स्थानकवासी दामोदर सेठ था। दामनगर, प्रमुख (था)। उस समय दस लाख (थे) उस समय दस लाख अर्थात् अभी तीस गुने। पैसेवाला था। उसकी श्रद्धा में ऐसा आया था, ऐसी मिथ्याश्रद्धा थी। वह कहता था कि मूर्ति की मान्यता मिथ्यादृष्टि हो, तब तक होती है, ऐसा कहता था। मैं तो उसमें (सम्प्रदाय में) था। उसने बाहर में यह बात रखी। मेरे पास नहीं कहे। मिथ्यादृष्टि हो, तब तक प्रतिमा की मान्यता है, सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् प्रतिमा की मान्यता नहीं होती, ऐसा बाहर में कहा। मेरे पास बात आयी। मैं तो उसमें (स्थानकवासी में) था।

मैंने तो ऐसा कहा, सुनो! सम्यग्दृष्टि होता है, तब उसे भावश्रुतज्ञान होता है। भावश्रुतज्ञान हो, उसमें निश्चय-व्यवहारनय दो नय आते हैं। उसे व्यवहारनय है, उसको जिनप्रतिमा की मान्यता यथार्थ है। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि को मूर्ति की मान्यता यथार्थ उसको है। क्योंकि मूर्ति है, वह व्यवहार है और जिसे व्यवहारनय प्रगट हुआ है। अपने आत्मा के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन, भावश्रुतज्ञान प्रगट हुए तो भावश्रुतज्ञान अवयवी है और नय उसका अवयव है, तो श्रुतज्ञानी को व्यवहारनय है और उसे ही प्रतिमा की मान्यता, व्यवहार यथार्थ है। ऐई! यह तो उसमें थे। हम इसमें आ गये, इसलिए मानेंगे, ऐसा नहीं है। सत्य क्या है? सम्प्रदाय में आ गये, इसलिए तुम ऐसा मान लो कि इसमें रहेंगे, (ऐसा नहीं है)।

जरा सा फेरफार होगा तो सब छोड़ देंगे। कोई बोलते नहीं, विरोध नहीं करते। यदि कुछ कहेंगे तो महाराज सम्प्रदाय छोड़ देंगे।

मूर्ति की मान्यता प्रतिमा, जिनप्रतिमा, जिनभवन की मान्यता समकिती को ही व्यवहार से यथार्थ होती है। मिथ्यादृष्टि की दृष्टि ही मिथ्यात्व है। उसे नय नहीं, तो नय का विषय भी उसे नहीं। सुमेरुमलजी! समझ में आया? यह तो अन्तर की बातें हैं। मूर्ति है तो पर, परन्तु भगवान या मूर्ति की मान्यता, जिसे व्यवहारनय हो उसे होती है। जिसे व्यवहारनय नहीं, सम्यग्दर्शन नहीं, उसे देव-गुरु और प्रतिमा की मान्यता है ही कहाँ? आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! यहाँ कोई पक्षपात की बात नहीं है। यहाँ तो सत्य क्या है, (उसकी बात है)। यहाँ तो मानधाता कहता हो और झूठ हो तो झूठी बात है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **'निरर्गला व्यापृतिः' क्योंकि वह निरर्गल प्रवर्तन वास्तव में बन्ध का ही स्थान है।** देखा? क्या कहा? मैं पर की हिंसा करूँ, पर को जिलाऊँ, पर को अनुकूलता दे सकूँ—ऐसी स्वच्छन्द की मान्यता मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्व बन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टि की वह मान्यता नहीं है। मैं पर को जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ - ऐसा उसे है ही नहीं। परन्तु जरा राग आया है और हिंसा में निमित्त हुए तो उतना राग का-आसक्ति का बन्ध है, मिथ्यात्व का (बन्ध) नहीं। आहाहा! समझ में आया?

समकित दृष्टि को-ज्ञानी को विषय वासना भी आती है, वह जानता है कि यह पाप है। यह दुःख है, मैं सहन नहीं कर सकता तो मैं विषय-वासना का इलाज करता हूँ। जैसे उस रोग का इलाज करे, वैसे इलाज मानता है। उसमें सुखबुद्धि नहीं है। आहाहा! बड़ा अन्तर। कहाँ अन्तर पड़ता है, इसकी खबर (नहीं है)। कहाँ दुनिया चली जाती है? पागल की तरह पूरी दुनिया (चलती जाती है)। आहाहा! पैसेवाले, बड़े लाखों रुपये के वेतनदान और मानो बड़े होशियार...! मूढ़ है। क्या चीज़ है? क्या पाप है? क्या पुण्य है? क्या आत्मा है? क्या पर है? कुछ खबर नहीं। बेखबर है। बेखबर अर्थात् दो खबर होगी? दो खबर अर्थात् खबर रहित। आहाहा! अरेरे! वास्तविक दृष्टि की खबर नहीं, वह तो बेखबर मूढ़ है। चाहे तो अरबोंपति हो। और चाहे तो जैन साधु हो, दिगम्बर साधु हो। परन्तु मैं पर को जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ—ऐसी बुद्धि है तो मिथ्यात्व है। आहाहा!

यह प्रश्न भी एक बार उठा था। उदयपुरवाले चाँदमलजी थे। उदयपुरवाले चाँदमलजी नहीं? ब्रह्मचारी थे। वे कहें, साधु हो, तब वस्त्र तो छोड़ सकता है न? छोड़ सकता है या नहीं? कहा, नहीं। वस्त्र उसके कारण से छूट जाते हैं। परद्रव्य को छोड़ूँ, ऐसी बुद्धि ज्ञानी को है ही नहीं। अन्तर में स्थिर होने की बुद्धि है और राग के त्याग की बुद्धि है तो वस्त्र छूट जाते हैं। वस्त्र के कारण से वस्त्र छूट जाते हैं, वे तो परपदार्थ हैं। पर को छोड़ूँ या रखूँ, यह आत्मा में है नहीं। है?

मुमुक्षु : यहाँ एकबार रात्रि में प्रश्न किया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : .... यहाँ भी प्रश्न किया था। उदयपुर में भी प्रश्न किया था। मूल यह प्रथा थी ही नहीं। बस! बाह्य प्रवृत्ति करना, यह करना, यह करना, यह करना, प्रतिमा लेना और उसे सम्हालना। आहाहा! बाहर से शरीर का ब्रह्मचर्य पालना और कुछ वस्त्र बदल डालना, यह त्याग किया माना। आहाहा!

मुमुक्षु : वस्त्र कौन बदल सकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्त्र बदल नहीं सकता परन्तु मानता है न कि मैं ऐसा कोट पहनता हूँ तो अब धोती पहनता हूँ। यह कपड़ा पहनता हूँ, वह भी कपड़े की क्रिया कहाँ (इसकी थी) तो पहन सके? आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई!

यहाँ कहते हैं कि समकिती को बन्ध नहीं था तो समकिती को निरर्गलरूप से चलना, ऐसा नहीं है। स्वच्छन्दता से चलना, ऐसा नहीं है। स्वच्छन्द करेगा तो मिथ्यात्व होगा। आहाहा! है? **'ज्ञानिनां अकाम-कृत-कर्म तत् अकारणम् मतम्' ज्ञानियों के वांछारहित कर्म (कार्य) होता है...** धर्मी को करने की वाँछा नहीं और, राग आता है, उसमें सुखबुद्धि की वाँछा नहीं। आहाहा! बड़ा अन्तर। धर्मी ने तो अपने आत्मा में सुख देखा है। सच्चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का सागर भण्डार प्रभु की दृष्टि में पर में सुखबुद्धि होती ही नहीं। राग आता है, विषय-सेवन करता है (परन्तु) सुखबुद्धि नहीं है। आहाहा! इतना आसक्ति का दोष लगता है। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानियों के वांछारहित कर्म (कार्य) होता है... देखा? शरीर का कार्य, पर के (कार्य) वांछारहित उनके कार्य होते हैं, बन्ध का कारण नहीं। उसे कहा। क्योंकि

'जानाति च करोति' आहाहा! एक ओर ऐसा कहे कि मैं जानता भी हूँ और उसमें होता है, दूसरी ओर कहे मैं कर्ता भी हूँ। तो जानता हूँ और करता हूँ, दोनों एकसाथ नहीं रहते। समझ में आया?

'करे कर्म सो हि करतारा, जो जाने सो जाननहारा।
जाने सो करता नहीं होई, करता सो जाने नहीं कोई।'

आहाहा! सूक्ष्म बातें, बापू! जगत से बहुत अन्तर, भाई। अरे! बेचारा कहाँ भटकता है जगत? कहाँ.. कहाँ.. ? आहाहा! और यह मनुष्य मरकर कहीं बकरी में जाएगा, कुत्ते में जाएगा, कौवे में अवतार लेगा। धर्म की खबर नहीं होती, वस्तु की दृष्टि की (खबर नहीं)। आहाहा! अरे रे! तथा कोई दो-चार घण्टे हमेशा सत्समागम करना और पुण्य बँधे, इतना पुण्य भी नहीं। एकाध घण्टे करे तो वह तो ऐरन की चोरी और सुई का दान (जैसा है)। ऐरन अर्थात् समझे? स्वर्णकार का। आहाहा! चौबीस घण्टे, तेईस घण्टे अकेले पाप में (जाते हैं) और एकाध घण्टे सुनने जाए तो उसे सुनानेवाले कुगुरु मिलें। तुम यह करो, तुम व्रत करो, तुम तप करो, धर्म (हो जाएगा)। उसका एक घण्टा लूट लेते हैं।

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं प्रभु! तेरी दृष्टि, तू राग से भिन्न हुआ तो तेरी दृष्टि में आत्मा सुखरूप है, ऐसा आया तो बाहर की क्रिया में सुखबुद्धि है या कर्तापना है, वह तुझे उड़ गया। बाहर की क्रिया मैं करता हूँ और जानता भी हूँ, ऐसे दो नहीं रहते। जाननेवाला कर्ता नहीं होता और कर्ता है, वह जाननेवाला नहीं रहता। ऐसा उपदेश, अब किस प्रकार का ऐसा? नौकरी के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। पाँच, सात, दस हजार का महीने का वेतन हो। पूरे दिन नौकरी और सेठ में, पूरे दिन पाप। आहाहा! हमारे सुमनभाई को है न, लो न! समय नहीं मिलता। छह, सात, आठ हजार का महीने का वेतन, रामजीभाई का पुत्र। निवृत्ति नहीं मिलती। नौकरी और सेठ में पूरे दिन सिरपच्ची। अरे रे! जाना कहाँ? भाई!

मुमुक्षु : आप उपदेश देकर नौकरी छुड़ा दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : नौकरी मैं छुड़ाऊँ या उनका पिता छुड़ावे। यह तो घर का दृष्टान्त दिया, यह तो सबको ऐसा है न! हमारे घर के व्यापार में भी ऐसा था न? दुकान का व्यापार, कहा न, कुँवरजीभाई हमारे भागीदार, बुआ के पुत्र थे। ममता बहुत। पूरे दिन

आमदनी बहुत हो, परन्तु पूरे दिन यह किया और यह किया और यह लिया... क्या है यह तुम्हें कहा ?

मुमुक्षु : सेठ कहलावे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ मरकर गया नीचे, सेठ गया नीचे। वैसे तो दस लाख रुपये मिल गये। दस लाख। तब इक्कीस के वर्ष में गुजर गया। दस लाख रुपये, दो लाख की आमदनी। अभी लड़कों को चार लाख की आमदनी है। मर गया, तब इतनी ममता... ओहोहो! मैं करता हूँ, मैं करता हूँ... सबकी दुकान टूट गयी और मेरी दुकान रह गयी। अरे! धूल में भी नहीं, कहा, मर जाएगा, ढ़ोर में जाएगा, याद रख। (संवत्) १९६६ में कहा। बीस वर्ष की उम्र, यह तो ९१ हुए। ७० वर्ष पहले (कहा)। बोले नहीं, मेरे सामने न बोले, भगत है, सुनो! क्या है पूरे दिन यह ? पैसे का ढ़ेर हो धूल में तुझे क्या है इसमें ? दुनिया पाखण्डी, मदिरा पीये हुए अज्ञानी पैसेवालों को बड़ा कहे। जिसने मिथ्यात्व की मदिरा पी है, वह पैसेवाले को बड़ा कहे।

यहाँ तो जिसे सम्यक् हुआ है, वह समकिती और धर्मी हो उन्हें बड़ा कहे। भले गरीब हो, नरक में हो। आहाहा! ऐसी बात है, बापू! पर के साथ क्या सम्बन्ध है ? यह शरीर भी जगत के परमाणु थे। एक बार यह परमाणु बिच्छु के डंकरूप से परिणमते थे, प्रभु! सर्प के मुख में जहररूप परिणमते थे, वह अभी शरीररूप है। उसमें तेरे कहाँ हैं ? वह तो जगत की चीज़ है। आहाहा! उसे सम्हालकर रखूँ, उसे मैं निरोगता कर सकूँ और दवा दें तो ऐसा हो, इसकी सब कर्ताबुद्धि (मैं)। आहाहा! वह जाननेवाला नहीं रहता और जाननेवाला कर्ता नहीं होता। होता है, जगत की चीज़ होती है। आहाहा! कठिन काम, भाई!

'हरि का मारग है शूरों का, यह कायर का यहाँ काम नहीं।' आता है न ? भाई! 'हरि का मारग है शूरों का, यह कायर का काम नहीं, प्रथम पहले मस्तक रखकर फिर से लेना हरि का नाम जो न...' हरि (अर्थात्) आत्मा, हों! भगवान राग और पुण्य-पापरहित प्रभु वह हरि का मार्ग है शूरों का। उस शूरवीरता का यह काम है। आहाहा!

पुण्य के परिणाम में रुक जाए तो प्रभु तो कहते हैं कि तू नपुंसक है, पावैया, हिजड़ा है। पाप के परिणाम में तो नुपंसक है ही। आहाहा! क्या कहा ? हिंसा, झूठ, चोरी,

विषयवासना, क्रोध, मान, पाप में तो तू पावैया है, हिजड़ा है और शुभभाव में भी रुक गया तो नपुंसक है। नपुंसक को वीर्य नहीं होता तो पुत्र नहीं होता। शुभभाव में धर्म की प्रजा नहीं होती। आहाहा! सुमेरुमलजी! कठिन बात, प्रभु! भगवान! आहाहा! समयसार में पाठ है। नपुंसक कहा है। स्थूलभाववाले (नपुंसक), पापभाववाले तो पापी नपुंसक है ही, आहाहा! सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर भी, ऐसा पाठ है। शुभभाव से वापस नहीं हटते, वे नपुंसक हैं, ऐसा पाठ है। समयसार पुण्य-पाप अधिकार में है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : साधन है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी साधन नहीं। बाधक है, जहर है। मोक्ष अधिकार में शुभभाव को विष का घड़ा कहा है। भगवान अमृत का सागर प्रभु, सच्चिदानन्द प्रभु अमृत के सुख का सागर है, उससे विरुद्ध शुभभाव वह तो जहर है। अरे रे! भगवान! आहा! वह शुभभाव करके भी हम धर्म करते हैं, (ऐसा माने) वह तो मूढ़ है। आहाहा! उसका भी अभी कहाँ ठिकाना है? आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ इन्द्र और गणधरों के समक्ष में यह कहते थे, वह बात यहाँ आयी है। आहाहा! दुनिया माने, न माने, इससे सत्य कहीं असत्य नहीं हो जाता। आहाहा! वह बन्ध का कारण कहा।

जानता भी है और (कर्म को) करता भी है-यह दोनों क्रियाऐं क्या विरोधरूप नहीं हैं? मैं जाननेवाला भी रहता हूँ और मैं कर भी सकता हूँ, एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। आहाहा! जाननेवाला रहना और कर्ता होना, ये दोनों साथ में नही रह सकते। मैं कर सकता हूँ (ऐसा माने तो) वह जाननेवाला नहीं रह सकता और जाननेवाला हूँ तो कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता नहीं रहती। अरे रे! ऐसी बातें। धर्म की बातें (इसलिए। ऐसा कहे) व्रत करो और अपवास करो, भक्ति करो, पूजा करो और मन्दिर बनाओ, ऐसी बातें थीं। अब ऐसी बातें निकालीं। सुन न, अब तेरे व्रत और तप... आहाहा! यह भक्ति और पूजा का सब शुभभाव, पुण्यभाव नपुंसक है। आता है, ज्ञानी को भी अशुभ से बचने के लिये (आता है) परन्तु वह धर्म नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **यह दोनों क्रियाऐं क्या विरोधरूप नहीं हैं? (करना और जानना निश्चय से विरोधरूप ही है।)**

भावार्थ : पहले काव्य में लोक आदि को बन्ध का कारण नहीं कहा इसलिए वहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि बाह्यव्यवहारप्रवृत्ति का बन्ध के कारणों में सर्वथा ही निषेध किया है; बाह्यव्यवहारप्रवृत्ति रागादि परिणाम की–बन्ध के कारण की–निमित्तभूत है,... बाह्य प्रवृत्ति राग और बन्ध के कारण में निमित्तभूत है। आहाहा! **उस निमित्तता का यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिए। ज्ञानियों के अबुद्धिपूर्वक –वांछारहित–प्रवृत्ति होती है...** धर्मी को तो मैं जाननेवाला-देखनेवाला भगवान आत्मा (हूँ, ऐसी दृष्टि होने से) उसकी प्रवृत्ति का (कर्ता नहीं होता), जाननेवाला रहता है। **इसलिए बन्ध नहीं कहा है, उन्हें कहीं स्वच्छन्द होकर प्रवर्तने को नहीं कहा है;...** स्वच्छदी होकर चाहे जो हिंसा हो और चाहे जो क्रिया हो, ऐसा करने का कहा नहीं। वह तो क्रिया होती है, उसका जाननेवाला रहता है, ऐसे समकिती को बन्ध का कारण नहीं कहा। आहाहा! सम्यग्दृष्टि के नाम से भी स्वच्छन्द हो जाए। चाहे जैसे करें, चाहे जैसे करें, ऐसा नहीं होता। आहाहा!

क्योंकि मर्यादारहित (निरंकुश) प्रवर्तना तो बन्ध का ही कारण है। जानने में और करने में तो परस्पर विरोध है;... परक्रिया होती है, उसका जाननेवाला रहना, परक्रिया होती है, उसके कर्तापने मानना-दोनों अत्यन्त विरुद्ध है। समझ में आया? परक्रिया होती है, उसमें जाननेवाला रहना, वह दूसरी चीज़ है और होती है, उसे मैं करता हूँ, यह दूसरी चीज़ है। पूरी मान्यता में अन्तर है। आहाहा!

ज्ञाता रहेगा तो बन्ध नहीं होगा,... आहाहा! मैं तो स्व को और पर को जाननेवाला-देखनेवाला हूँ। ऐसे सम्यग्दर्शन में ज्ञाता रहेगा तो बन्ध नहीं होगा, **कर्ता होगा तो अवश्य बन्ध होगा।** आहाहा! ऐसी बात है। **जो जानता है, सो करता नहीं...** आया न? **जो करता है, सो जानता नहीं, करना तो कर्म का राग है,...** कुछ करूँ, वह तो राग है और मैं कर सकता हूँ, यह मिथ्यात्व है। आहाहा! **राग है सो अज्ञान है तथा अज्ञान बन्ध का कारण है।–इस अर्थ का काव्य कहते हैं–**

कलश - १६७

''जो जानता है, सो करता नहीं और जो करता है, सो जानता नहीं, करना तो कर्म का राग है, और जो राग है, सो अज्ञान है तथा अज्ञान बन्ध का कारण है।''-इस अर्थ का काव्य कहते हैं-

(वसन्ततिलका)

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु,
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोध-मय-मध्यवसाय-माहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः।।१६७।।

श्लोकार्थ : [यः जानाति सः न करोति] जो जानता है, सो करता नहीं [तु] और [यः करोति अयं खलु जानाति न] जो करता है, सो जानता नहीं। [तत् किल कर्मरागः] करना तो वास्तव में कर्म का राग है [तु] और [रागं अबोधमयम् अध्यवसायम् आहुः] राग को (मुनियों ने) अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है; [सः नियतं मिथ्यादृशः] जो कि वह (अज्ञानमय अध्यवसाय) नियम से मिथ्यादृष्टि के होता है [च] और [सः बन्धहेतुः] वह बन्ध का कारण है।।१६७।।

कलश - १६७ पर प्रवचन

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु,
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोध-मय-मध्यवसाय-माहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः।।१६७।।

जो जानता है सो करता नहीं... जानने में तो मैं ज्ञाता हूँ। राग का भी कर्ता नहीं, पर की क्रिया भी मुझसे नहीं होती। आहाहा! मैंने मन्दिर भी बनाया और मैं जाननेवाला ही रहा, ऐसा है नहीं। मन्दिर तो मन्दिर के कारण से बनता है, तुझसे नहीं बनता। अरे रे! ऐसा

बड़ा मकान (मन्दिर) छब्बीस लाख का बना, वह तो उसके कारण से उस समय में परमाणु की पर्याय होनेवाली वह हुई है। आहाहा!

मुमुक्षु : पुद्गल को क्या खबर पड़ी कि हमारे यह होना है?

पूज्य गुरुदेवश्री : खबरवाला हो तो द्रव्य जड़ होता ही नहीं। खबरवाला द्रव्य तो एक ही है। खबररहित द्रव्य पाँच हैं। छह द्रव्य में एक ही खबरवाला चैतन्यद्रव्य है। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, पुद्गल ज्ञानरहित चीज़ है। उनकी पर्याय का काल है तो पर्याय होती है। उसका जन्मक्षण है। प्रवचनसार में कहा है कि जिस समय में जो पर्याय परमाणु की होनेवाली है, वह जन्मक्षण-उसकी जन्म की उत्पत्ति। उस समय में वह पर्याय हुई। दूसरे से, कारीगर से या रामजीभाई से यह मकान हुआ है, ऐसा नहीं है-ऐसा कहते हैं। वजुभाई ने बनाया होगा, ऐसा कोई कहता है, लो न! इंजीनियर है। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! बहुत कठिन।

यह अनन्त परमाणु हैं, उनकी पर्याय उस समय में उत्पन्न होनेवाली थी तो वह बना है। कोई कहे कि मुझसे बना है, वह सब मिथ्याभ्रम अज्ञान है। यहाँ जंगल (था)। भैंसे बैठते थे। यहाँ छब्बीस लाख का मकान (परमागम मन्दिर) संगमरमर का (बना), पौने चार लाख अक्षर (उत्कीर्ण हुए)। बापू! उस समय में होनेवाली चीज़ थी। आहाहा! अरे रे! कैसे जँचे? अभिमान है न? मैं करूँ, मैं करूँ। नरसिंह मेहता कहते हैं न? 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे।' गाड़ी का भार कुत्ता खींचे, ऐसा है, कहते हैं। अर्थात् जानना और करना दोनों एकसाथ नहीं हो सकते। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३१८, गाथा - २४७ से २४९, श्लोक-१६७ रविवार, असोज शुक्ल २
दिनाङ्क - २३-०९-१९७९

समयसार, १६७ कलश। सूक्ष्म विषय है, भगवान! क्या कहते हैं? देखो! **'यः जानाति सः न करोति'** क्या कहते हैं? (आज) रविवार है। सूक्ष्म बात है। आत्मा जो है, वह ज्ञान और आनन्दस्वभाव है, तो जो ज्ञानस्वभाव है, वह राग होता है या पर की क्रिया होती है, उसे जानता है। जो जानता है, वह कर्ता नहीं होता। आहाहा! क्योंकि आत्मा का स्वभाव ज्ञानपिण्ड परमब्रह्मस्वरूप भगवान है। उसे जिसने जाना, वह जाननेवाला दया, दान, व्रत, काम, क्रोध का राग होता है परन्तु उस राग का जाननेवाला रहता है। आहाहा! क्योंकि दृष्टि ज्ञायक के ऊपर है, राग के ऊपर दृष्टि नहीं है। समझ में आया? राग चाहे तो दया का, दान का, व्रत का, भक्ति का, काम, क्रोधादि हो परन्तु धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जो ज्ञाता-दृष्टा जानने का कार्य करे। आहाहा! जानन-देखन, वह पर्याय का काम करे। है?

जो जानता है, सो करता नहीं... बहुत सूक्ष्म बात, प्रभु! ओहो! वीतरागमार्ग... यह ज्ञानस्वरूप प्रभु... समझ में आया? यह देह तो जड़ है, मिट्टी धूल है, अन्दर कर्म मिट्टी-धूल है और पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह कहीं आत्मस्वरूप नहीं। आहाहा! वह मलिन भाव जो परिणाम होते हैं... जिसकी दृष्टि ज्ञायक चिदानन्द मैं हूँ, ऐसी दृष्टि धर्मी की है तो वह राग का जाननेवाला रहता है। आहाहा! यह जानना-देखना, वह धर्म है। अरे रे! ऐसी बात कहाँ (मिले)? दुनिया में कहीं पता नहीं मिलता, ऐसी बात है, भाई! आहाहा!

जो जानता है, सो करता नहीं... पर की क्रिया और पर की दया पाल सकता हूँ, पर की हिंसा कर सकता हूँ, ऐसा ज्ञानी नहीं मानता, धर्मी ऐसा नहीं जानता। धर्मी ज्ञायकस्वभाव, ज्ञायकस्वभाव जो धर्मी, उसका धर्म जानना-देखना है। आहाहा! तो जानने-देखने का कार्य धर्मी का है, वहाँ राग का कार्य उसका नहीं है। गजब बात है, प्रभु! ओहोहो! व्यवहाररत्नत्रय का जो (राग) देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, भक्ति, उसका जो राग है, उसका भी कर्ता धर्मी नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **जो जानता है, सो करता नहीं...** कहो, बालचन्दजी! ऐसी बात है। यह दया पाल सकूँ और हिंसा कर सकूँ, (ऐसी बात नहीं है)। अरे! प्रभु!

यहाँ तो कहते हैं कि जो भाव आया, यात्रा का भाव हो या दया का या व्रत का हो परन्तु वह राग है, तो धर्मी जीव तो उसे कहते हैं कि जो ज्ञायकस्वभाव ऐसा आत्मा, उसकी दृष्टि हुई है, इस कारण से राग आता है तो राग का जाननेवाला रहता है। आहाहा! इतनी शर्तें। दूसरी बात तो कहाँ रही? आहाहा! अरे! प्रभु! तेरा मार्ग बहुत अलौकिक है, प्रभु! आहाहा! यह तो प्रभुरूप से कहते हैं। भगवान! अन्दर भगवानस्वरूप प्रभुस्वरूप है। वह ज्ञान की प्रभुता और आनन्द की प्रभुतावाला है। वह राग की प्रभुतावाला भगवान आत्मा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

जो जानता है, सो करता नहीं... मैं तो ज्ञान चैतन्यवस्तु हूँ, ज्ञानपुंज प्रभु हूँ। वह तो जाननेवाला-देखनेवाला रहता है, वह धर्मी। उसकी जानना-देखना पर्याय, वह धर्म है। वह राग का कर्ता नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि राग अपना कोई गुण या पवित्र शक्ति कोई ऐसी नहीं है कि रागरूप हो। आत्मा में अनन्त गुण हैं, भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो उन अनन्त गुण की संख्या कही, उसमें कोई भी गुण विकाररूप परिणमे, ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : विभाविक गुण है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : विभाविक शक्ति—गुण। विभाव का अर्थ कोई विभावरूप से परिणमना, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। विभाव अर्थात् दूसरे द्रव्य में वैसी शक्ति नहीं है, ऐसी एक विभाविक शक्ति है, उसका नाम गुण है, परन्तु विभाविक शक्ति विभावरूप परिणमे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। चन्दुभाई! यह तो विभाविक शक्ति है न? आहाहा! भगवान! वीतराग जिनेश्वरदेव का मार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, एक वाक्य में तो इतना समाहित कर दिया है! जो धर्मी, धर्मी ऐसा भगवान ज्ञायकस्वरूप प्रभु, उसकी जिसे दृष्टि (हुई), दृष्टि में परमसत्ता का भान हो गया, परमसता पूर्णानन्द ज्ञायक आनन्द आदि पूर्ण सत्ता अपना स्वभाव, उसकी जिसे दृष्टि हो गयी, वह जाननेवाला रहता है। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसा कठिन काम। लोगों में अभी तो हो... हा, हो... हा.. (चलता है)। व्रत करो और अपवास करो, यात्रा करो और भक्ति करो, (यह धर्म)। अरे! भगवान! यह तो सब रागभाव है और राग का कर्ता होना, वह तो अज्ञानभाव है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, प्रभु! आहाहा!

तेरी प्रभुता में ऐसा कोई प्रभुता नाम का एक गुण है तो अनन्त गुण में प्रभुता पसर रही है। अनन्त गुण में प्रभुता है। वह प्रभुता राग को करे, ऐसी कोई प्रभुता उसमें नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! चलती प्रथा से बात अलग लगे, बापू! मार्ग यह है। आहाहा!

कहा नहीं? भाई! दशलक्षणी पर्व पढ़ा है न? पूरा पढ़ा? आहाहा! जगमोहनलालजी ने तो हुकमचन्दजी के लिये लिखा है, भाई! पढ़ा है? 'इन्हें तो सरस्वती का वरदान है'। वे जगमोहनलालजी कितने पुराने पण्डित! अस्सी वर्ष के। बहुत शास्त्र पढ़े हुए हैं परन्तु उन्होंने यह देखकर ऐसी बात (की है)। आहाहा! कि 'इन्हें तो सरस्वती का वरदान है'। अन्दर ज्ञानस्वरूप भगवान, ऐसा कि क्षयोपशमभाव से विकास हुआ है। आहाहा! इसी प्रकार आत्मा जहाँ ज्ञानस्वरूप भगवान, भले विशेष क्षयोपशम की दशा न हो, समझ में आया? परन्तु अपना स्वरूप ज्ञानस्वरूप—प्रज्ञास्वरूप, ब्रह्म आनन्दस्वरूप, मैं त्रिकाली ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसी सम्यक् दृष्टि जिसे हुई, वह धर्मी जीव धर्म अर्थात् जानने-देखने की पर्याय करे, वह धर्म है। अरे रे! ऐसी बातें अब। समझ में आया?

जो जानता है, सो करता नहीं और जो करता है, सो जानता नहीं। आहाहा! यह राग आता है, उसकी दृष्टि उसके ऊपर है तो कर्ता है। ज्ञाता की दृष्टि ज्ञायक के ऊपर है, इस कारण से ज्ञाता-दृष्टा रहता है और राग का कर्ता नहीं होता। आहाहा! और पर्यायबुद्धिवाला राग—दया, दान, व्रतादि के परिणाम होते हैं, उनका कर्ता होता है, वह अज्ञानी है। आहाहा! ऐसी बातें बहुत कठिन, भाई! अनन्त काल से भटकता है। चौरासी के अवतार में दुःखी... दुःखी.. दुःखी है। इसे भान नहीं है कि मैं कौन हूँ? और क्या करना है?

यहाँ यह कहते हैं। **करता है, सो जानता नहीं।** आहाहा! यह रागभाव होता है, उसकी रचना मैं करता हूँ, वह राग मेरा कर्तव्य है, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, धर्मी नहीं। वह जाननेवाला रह सकता नहीं। आहाहा! यह कल कहा था न? उसमें आया था, 'करे कर्म सो हि रे करतारा, जो जाने सो जाननहारा, जाने सो कर्ता नहीं होई, कर्ता सो जाने नहीं कोई'। आहाहा! यह तो मक्खन है, माल है, प्रभु! तुझमें माल तो ज्ञान और दर्शन और

आनन्द पड़ा है न, नाथ! तो जिसे अपनी शुद्धता की श्रद्धा हुई, अपने अस्तित्व की, पूर्णानन्द के श्रद्धा-ज्ञान हुए, आहाहा! उस सत्ता के श्रद्धा-ज्ञानवाला राग का कर्ता नहीं होता और अपनी सत्ता ज्ञायकभाव से परिपूर्ण है, उस सत्ता का स्वीकार नहीं, वहाँ राग की सत्ता का स्वीकार करके राग का कर्ता होता है। सुमेरुमलजी! ऐसी (बात) है, भगवान! आहाहा! ऐसी वस्तु है।

जो करता है, सो जानता नहीं। अर्थात् जो अपनी पूर्णानन्द सत्तास्वभाव की दृष्टि नहीं हुई तो वहाँ दृष्टि नहीं, तो राग होता है, उस पर दृष्टि है, यह पर्यायबुद्धि की बात है, पर्यायबुद्धि में रागबुद्धि है तो राग का कर्ता होता है, वह अज्ञानी है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, भाई! समझ में आया? तब यह सब करना या नहीं? दया पालना, व्रत करना, भक्ति करना, यह कुछ करना नहीं? भाई! यह भाव आता है। तो भी धर्मी ज्ञायकस्वभाव पूर्णानन्द ज्ञायक की सत्ता का, जैसी पूर्णानन्द सत्ता—सत्त्व है, वैसी प्रतीति हुई तो वह राग का कर्ता नहीं होता। परन्तु उसकी पूर्ण सत्ता का स्वीकार नहीं, वहाँ दृष्टि राग के ऊपर है तो वह राग का कर्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! वह जैन नहीं। उसे जैन की खबर नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग! भागचन्दजी! ओहोहो!

करता तो वास्तव में कर्म का राग है... है तीसरा बोल? राग का कर्ता वह तो कर्म का राग है, रागरूपी भाव का प्रेम है। अपने स्वभाव की रुचि या प्रेम नहीं है। आहाहा! **कर्मराग...** (अर्थात्) कार्यराग, कर्म अर्थात् कार्य का राग है न? आहाहा! वास्तव में कर्म का राग अर्थात् उसका राग है, **और... 'रागं अबोधमयम् अध्यवसायम् आहुः' राग को (मुनियों ने)...** गणधरों ने, सन्तों ने। आहाहा! ये राग के परिणाम हुए, उन्हें **अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है;...** राग की एकताबुद्धि है, स्वभाव की एकताबुद्धि नहीं, उस राग की एकताबुद्धि को अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है। आहाहा!

अरे! चौरासी लाख के अवतार करते-करते कभी इसने अपनी सत्ता ज्ञायक से भरपूर प्रभु, जिसमें से केवलज्ञान की पर्याय प्रगट हो, ऐसी सादि-अनन्त पर्याय का पुंज ज्ञानगुण अन्दर है, ऐसा ज्ञानगुण मैं हूँ, ज्ञान की प्रधानता से बात है, बाकी तो अनन्त गुण हैं। आहाहा! ऐसे ज्ञानगुण का अस्तित्व, सत्ता, मुख्यता है; ऐसी सत्ता की दृष्टि हुई, वह राग का कर्ता नहीं

होता और अपनी सत्ता का, स्वभाव की दृष्टि और सत्ता का स्वीकार नहीं, वह राग की सत्ता का स्वीकार करके कर्ता होता है। समझ में आया? आहाहा! क्यों, भाई! नहीं? कल गये? बहुत समय रहे, दो महीने। वहाँ दिगम्बर के प्रमुख हैं, कान्तिभाई वहाँ प्रमुख, यहाँ दो महीने रहे। आहाहा! यह कहाँ सुनने को मिले? ऐसा बेचारे कहते थे। अरे! कहाँ है? भाई! क्या हो? आहाहा! अनजाने व्यक्ति को तो ऐसा लगे कि यह क्या कहते हैं? अरे! भाई! भगवान! तेरी चीज़ क्या है और तू कहाँ रुक गया? आहाहा!

तेरी चीज़ तो प्रभु ज्ञायकभाव और अनन्त गुण से भरपूर चीज़ है, उस चीज़ का तुझे स्वीकार नहीं, उस सत्ता की प्रतीति नहीं तो तेरी दृष्टि राग के ऊपर है, पर्याय के ऊपर है कहो, या राग के ऊपर है (कहो)। आहाहा! तो पर्यायबुद्धिवाले की राग पर बुद्धि जाती है तो राग का कर्ता होता है। आहाहा! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बात, भाई! और उस **राग को (मुनियों ने) अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है;...** आहाहा! क्योंकि राग का कर्ता होता है तो उस राग की एकताबुद्धि हुई। जिसमें राग नहीं, ऐसे वीतरागस्वरूप भगवान में राग की एकताबुद्धि हुई। आहाहा! यदि स्वभाव का भान हो तो स्वभाव की पर्याय की एकता द्रव्य में है परन्तु राग की एकता उसमें नहीं है। आहाहा! तो कहते हैं कि जिसकी दृष्टि अपना भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसकी दृष्टि का अभाव है... आहाहा! उसकी सत्ता का स्वीकार नहीं, उसे कहीं भी अपनापना मानना तो पड़ेगा तो राग पर अनादि की दृष्टि है तो राग का कर्ता होता है, वह अज्ञानमय अध्यवसाय है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

'सः नियतं मिथ्यादृशः' वह (अज्ञानमय अध्यवसाय) नियम से मिथ्यादृष्टि के होता है... आहाहा! उसे जैनधर्म की खबर नहीं है। आहाहा! जैनधर्म क्या है? आहाहा! जैनधर्म तो ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति की प्रतीति, जानना और देखना होवे, वह जैनधर्म है। आहाहा! समझ में आया? वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानमय अध्यवसाय के कारण से मिथ्यादृष्टि होता है। **और वह बन्ध का कारण है।** अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा का जिसे अन्तर स्वीकार नहीं, वहाँ दृष्टि राग के ऊपर है तो राग का कर्ता होकर बन्ध का कर्ता होता है। अज्ञान का नया बन्ध करता है। आहाहा! ऐसी बात है।

गाथा - २४७

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।२४७।।

यो मन्यते हिनस्मि च हिन्स्ये च परैः सत्त्वैः।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः।।२४७।।

परजीवानहं हिनस्मि, परजीवैर्हिन्स्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्। स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानि-त्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात्सम्यग्दृष्टिः।।२४७।।

अब मिथ्यादृष्टि के आशय को गाथा में स्पष्ट करते हैं:-

जो मानता है-मैं मारुँ पर अरु घात पर मेरा करे।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है।।२४७।।

गाथार्थ : [यः] जो [मन्यते] यह मानता है कि [हिनस्मि च] 'मैं पर जीवों को मारता हूँ [परैः सत्वैः हिंस्ये च] और पर जीव मुझे मारते हैं', [सः] वह [मूढः] मूढ [इ] (-मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता वह) [ज्ञानी] ज्ञानी है।

टीका : 'मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं'-ऐसा *अध्यवसाय ध्रुवरूप से (नियम से, निश्चयतः) अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है, वह अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है, वह ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ : 'परजीवों को मैं मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं' ऐसा अभिप्राय अज्ञान है, इसलिए जिसका ऐसा आशय है, वह अज्ञानी है-मिथ्यादृष्टि है और जिसका ऐसा आशय नहीं है, वह ज्ञानी है-सम्यग्दृष्टि है।

निश्चयनय से कर्ता का स्वरूप यह है-स्वयं स्वाधीनतया जिस भावरूप परिणमित हो, उस भाव का स्वयं कर्ता कहलाता है। इसलिए परमार्थतः कोई किसी का मरण नहीं करता। जो पर से पर का मरण मानता है, वह अज्ञानी है। निमित्त-नैमित्तिक भाव से

* अध्यवसाय =मिथ्या अभिप्राय; आशय।

कर्ता कहना, सो व्यवहारनय का कथन है; उसे यथार्थतया (–अपेक्षा को समझकर) मानना, सो सम्यग्ज्ञान है।

गाथा - २४७ पर प्रवचन

अब मिथ्यादृष्टि के आशय को गाथा में स्पष्ट करते हैं:– २४७ (गाथा)।

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।२४७।।

जो मानता है–मैं मारुँ पर अरु घात पर मेरा करे।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है।।२४७।।

टीका :– मैं परजीवों को मारता हूँ... आहाहा! परजीव तो परद्रव्य है। तो तू परद्रव्य है और वह तुझसे परद्रव्य है, तो परद्रव्य की पर्याय मैं करता हूँ अर्थात् मारता हूँ, आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! **मैं परजीवों को मारता हूँ...** आहाहा! **और परजीव मुझे मारते हैं...** परजीव मुझे मारते हैं। आहाहा! क्या तुझे मारते हैं? मैं पर को मारता हूँ और पर मुझे मारते हैं, (ऐसा माननेवाला) मिथ्यादृष्टि है। पर को मार नहीं सकता, पर तुझे मार नहीं सकता। तू पर को मार नहीं सकता, पर तुझे मार नहीं सकता। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि परद्रव्य को कभी स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा! मात्र मान्यता में मैं पर को मारता हूँ, ऐसी मान्यता उत्पन्न करता है। आहाहा!

वे चले गये, नहीं? भाई! 'खेडा' वाले एक आये थे न? लड़का आया था, बेचारा उलझ गया था, पागल जैसा हो गया था। नौकरी थी, परन्तु उसे कारखाने में पानी बहुत नष्ट होता है और स्थानकवासी (था), पानी नष्ट होता है, इसलिए (उसे लगा कि) छह काय की हिंसा (होती है), छह काय की हिंसा (होती है) करते हुए मस्तिष्क अस्थिर हो गया था। बेचारा यहाँ आया था। बापू! ऐसे उलझ नहीं, भाई! छह काय की हिंसा से मस्तिष्क (अस्थिर हो गया था)। परन्तु वह तो पर है, प्रभु! एक बार इतना तो निर्णय कर। पर है, उसे मैं कर नहीं सकता, ऐसा पहले निर्णय तो कर। आहाहा! अरे! समझ में आया? जवान व्यक्ति था, मस्तिष्क में फेरफार हो जाता था। यहाँ बेचारा आया था, आश्वासन लेने के

लिये। भाई! उलझ नहीं, बापू! प्रभु! पर को मार सकता हूँ, ऐसी ममता छोड़ दे। भाई! पर को मारने की ममता छोड़ दे और राग मेरा है, यह छोड़ दे।

दो बातें हैं। मैं परपदार्थ को मारता हूँ, यह ममता छोड़ दे और अन्दर राग होता है, उसका अपनापन मानता है, उसे छोड़ दे। आहाहा! समझ में आया? जवान था बेचारा पाँच-सात दिन रहा, खास आश्वासन के लिये आया था। मस्तिष्क घूम गया था। मारघाबहिन के यहाँ उतरा था, वहाँ साथ में उसका एक मित्र है न? शैलेष उसमें नौकर है न? बिजली का बड़ा कारखाना है उसमें।

प्रभु! तू कहता है कि मैं पर को मारता हूँ तो क्या पर के आयुष्य की स्थिति तू नाश कर सकता है? दूसरा, उस आयुष्य के कारण से वहाँ आत्मा रहा है, ऐसा भी नहीं है। वह उसकी योग्यता से आत्मा वहाँ रहा है; आयुष्य तो निमित्त है। समझ में आया? अपनी योग्यता से (अपने) कारण से वहाँ रहा है, उसे मैं मार डालूँ, इसका अर्थ क्या? वहाँ रहा है, उसे छोड़ दूँ, तुझसे मरता है? तुझसे वह शरीर से छूट जाता है? आहाहा! शरीर में रहने की योग्यता से वहाँ रहा है, आयुष्य से रहा है, यह निमित्त से कथन है, यहाँ निमित्त से विशेष बात है। आहाहा! समझ में आया? तो क्या उसके आयुष्य को तू घातता है? मार सकता है? अरे! तो फिर चाहे जैसे मारना, ऐसा न? परन्तु मार सकता नहीं, फिर प्रश्न कहाँ है? आहाहा! समझ में आया?

यह तो पहले आ गया, यह बात स्वच्छन्द होने की नहीं है। समकित दृष्टि है तो बन्धन का कारण लोक में कर्मवर्गणा है, वह बन्ध का कारण नहीं है; मन-वचन-काया की क्रिया, वह बन्ध का कारण नहीं है; इन्द्रियाँ बन्ध का कारण नहीं हैं; सचित्त-अचित्त का घात बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! मात्र मिथ्याबुद्धि है, वह बन्ध का कारण है। वह मिथ्याबुद्धि जिसे छूट गयी है तो बन्ध का कारण नहीं है, ऐसा कहने के पश्चात् कहा, ऐसा कहता हूँ तो तू स्वच्छन्दता से करेगा और कहेगा कि मुझे बन्ध का कारण नहीं है, तो ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग अब कौन सुनने में रुके? जगत को निवृत्ति कहाँ है? अरे! यहाँ तो स्वयं के लिये बात है, भाई! दुनिया में दुनिया का चाहे जो होओ। आहाहा!

कहते हैं, **मैं परजीवों को मारता हूँ...** 'परजीवों' शब्द है न? (अर्थात्) एक

जीव नहीं परन्तु बहुत जीव। बहुत जीव हैं न? एकेन्द्रियादि। अर्थात् परजीव हैं, एक जीव नहीं। **'मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं'**... स्वयं तो एक है, भाई! स्वयं एक है, सामने अनेक हैं। आहाहा! सामने बहुत जीव हैं, उन्हें मैं मारता हूँ। निगोद के जीव, आलू के जीव आदि। आहाहा! यह बुद्धि मिथ्यात्व है। **ऐसा अध्यवसाय...** मिथ्या अभिप्राय **ध्रुवरूप से (नियम से, निश्चयतः) अज्ञान है।** आहाहा! ओहो! मैं पर को मार सकता हूँ और पर मुझे मारता है, क्या है? प्रभु! तुझे किस प्रकार मारे? तू चैतन्यमूर्ति है, उसे मार सकता है? आहाहा! और वे (परजीव) चैतन्यमूर्ति भगवान है तो उनके शरीर का नाश कर सकता है? उनके चैतन्य का तो (नाश कर सकता) नहीं। आहाहा! तू शरीर का नाश करता है? क्या कोई कर सकता है? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी छूता है? एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य में तो अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव में तुझे भाव करना है कि मैं उसे मारूँ? यह मिथ्याभाव है। आहाहा! अरेरे! अपनी गरज नहीं की, प्रभु! आहाहा!

यह अध्यवसाय निश्चय से, नियम से **अज्ञान है।** वह अज्ञान जिसे है, ऐसा अज्ञान जिसे है, वह **अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है;...** आहाहा! **और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है...** आमने-सामने लिया न? **'मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो'** आहाहा! धर्मी जीव को ज्ञानस्वरूपी (आत्मा) प्रतीति में, भान में आया है तो वह धर्मी जीव... आहाहा! पर को मार सकता हूँ, ऐसा अध्यवसाय उसे नहीं है। आहाहा! अपने स्वभाव में एकत्वबुद्धि हुई, उसे पर को मार सकता हूँ—ऐसी एकत्वबुद्धि उसे नहीं होती। आहाहा! सूत्र सादा लगता है। सादा, परन्तु अन्दर बहुत मर्म है। आहाहा!

जिसे चैतन्य सत्ता का स्वीकार है, उसे पर को मैं मारता हूँ, ऐसा अध्यवसाय है ही नहीं। अपने ज्ञायक में एकत्वबुद्धि हुई, उसे मैं पर को मार सकता हूँ या राग करता हूँ, ऐसा अध्यवसाय है ही नहीं। आहाहा! अध्यवसाय है, अपनी एकत्वबुद्धि में अध्यवसाय है। लो, इसे अध्यवसाय कहा। आता है न? भाई! जयसेनाचार्यदेव की टीका में आता है। आहाहा! मेरा जीवन चैतन्यमूर्ति है, उसे में रख सकता हूँ। आहाहा! ऐसी जिसे—सम्यग्दृष्टि को बुद्धि हुई, वह पर को मारने का अध्यवसाय नहीं करता। आहाहा! तब कहे कि कोई मरता है न? उसमें निमित्त होता है न? (तो कहते हैं कि) ज्ञानी जानता है। यह जयसेनाचार्यदेव की टीका में है कि मैं तो निमित्त हूँ। निमित्तमात्र हूँ, जयसेनाचार्यदेव की टीका में है। मैंने

मारा नहीं। समझ में आया? आहाहा! क्या कहा? जयसेनाचार्यदेव की टीका में है। धर्मी जीव ऐसा मानता है कि अपने शरीर से वह जीव मर गया, तो जानता है कि मैं तो निमित्तमात्र हूँ, उसकी मरने की स्थिति है तो मरता है, मैं तो निमित्त हूँ। ऐसा ज्ञान करता है। चन्दुभाई! जयसेनाचार्यदेव की टीका में है। मैं निमित्तमात्र हूँ। निमित्तमात्र का अर्थ यह कि मैं कर्ता नहीं हूँ। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! अरेरे! उसे कहाँ (भान है)? आत्मा क्या? राग क्या? पर क्या? भिन्नता का भान नहीं होता। जो भिन्न है, उसका भान नहीं होता और भिन्नता की एकता (करता है), वही मिथ्यात्व अध्यवसाय अज्ञानी को होता है। आहाहा!

एक बात यह कही, जो एक ही आत्मा जगत में है, ऐसा मानता है, उसे पर को मारूँ —ऐसा नहीं रहता। सर्वव्यापक आत्मा माने तो दूसरी चीज़ तो नहीं, तो दूसरे को मारूँ और दूसरी चीज़ मुझे मारे, वह भी उसमें ऐसा रहता नहीं। आहाहा! यहाँ तो अनन्त द्रव्य हैं, अनन्त पदार्थ हैं, वे अनन्त, अनन्तरूप से रहते हैं तो आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप में रहता है तो अनन्त-अनन्त में रहें, तो पर का कर्ता मैं नहीं। वे अनन्त पदार्थ अपने-अपने कारण से रहे हैं। आहाहा! समझ में आया?

जिसके वह अध्यवसाय नहीं है, वह ज्ञानीपने के कारण... यह तो मिथ्यादृष्टि का एक आशय, एक भाग है। सब मिथ्यादृष्टिपना उसमें नहीं आता। क्या कहा? यह तो मिथ्यादृष्टि का एक भाग है। यह आगे कहेंगे। पूरा मिथ्यादृष्टिपना नहीं, यह एक भाग है। समझ में आया? नहीं तो राग को मेरा मानना, पर को मेरा मानना—ऐसे अनेक प्रकार के मिथ्यात्व हैं, इसी प्रकार यह पर को मारूँ, यह एक प्रकार का मिथ्यात्व का एक भाग है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : इसे एक प्रकार का अध्यवसाय छूट जाए, उसे सब प्रकार के अध्यवसाय छूट जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे छूट जाएँ, वह अलग वस्तु है परन्तु यहाँ मिथ्यात्व का एक ही अंश है और ऐसे मिथ्यात्व के बहुत भाग हैं, (ऐसा कहना है)। एक अंश छूटे तो सब छूट जाए, परन्तु सब छूटे कब? कि अकेला ज्ञायकभाव मैं हूँ, ऐसी दृष्टि होने से पर के मिथ्यात्व के अभिप्राय सब छूट जाएँ। समझ में आया? ऐसी बात है। यह कहेंगे, आगे है।

मुमुक्षु : असंख्यात लोक प्रमाण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह और अलग। यह तो मिथ्यात्व का एक भाग है, ऐसा पाठ है। मिथ्यात्व का यह एक भाग है। वे असंख्य प्रकार अलग बात है। समझ में आया? असंख्य प्रकार हैं परन्तु यह तो मिथ्यात्व का एक भाग है। यहाँ तो पूछने में ऐसा आया न कि यह मिथ्यात्व का अंश टल जाए तो सब टल जाए या नहीं? ऐसा प्रश्न हुआ न? वह मिथ्यात्व का अंश है, उसके साथ जितने सब मिथ्यात्व के प्रकार हैं, वे सब सम्यग्दर्शन, आत्मा की सत्ता—ज्ञायकपने की सत्ता का स्वीकार हुआ तो सब मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। समझ में आया?

यहाँ तो एकदम कहा न? सूत्र में कहा न? **'मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो'** यहाँ तो इतने में ज्ञानी, उससे विपरीत है, ऐसा कहा। भाई! एक, पर को न मारूँ, मैं तो ज्ञातादृष्टा हूँ, न मारना इतना ज्ञाता-दृष्टापने की अपेक्षा ज्ञानी है, ऐसा कहा। पर को न मारूँ, इस अपेक्षा से उसे ज्ञानी कहा। एक भाग को। तो भी ज्ञानी कहा। आहाहा! उसे सब मिथ्यात्व टले हैं। समझ में आया? अरे! सूक्ष्म बात है, भाई! अंश को आचार्यों ने एक अवयव कहा है, एक भाग। यहाँ तो कहते हैं कि जिसे पर को मारने की बुद्धि नहीं है, उसे अपने ज्ञायक पर बुद्धि है तो वह ज्ञानी है। (उसे) सब मिथ्यात्व नहीं हैं। जितने मिथ्यात्व के प्रकार हैं, (तो उनमें से) कोई मिथ्यात्व नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात, भाई!

भावार्थ : 'परजीवों को मैं मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं'... अभी तो आगे लेंगे। आगे लेंगे, मैं पर को मोक्ष करा देता हूँ, पर को मैं बन्ध कराता हूँ... आहाहा! आता है न बन्ध-मोक्ष? यहाँ तो अभी शुरुआत कही। आहाहा! वह प्राणी उसके मिथ्यात्व से बँधता है, तू ऐसा माने कि मैं उसे बाँधता हूँ; वह वीतरागभाव से मुक्त होता है, मैं पर को वीतरागभाव करा दूँ, (यह) भ्रम है। आहाहा! बाकी तो जयसेनाचार्यदेव की टीका में ऐसा आया है, एक भाव भी यथार्थ जाने तो सर्व भाव यथार्थ जाने। भाई! आया है न? एक भाव भी बराबर यथार्थ जाने तो सब भाव को यथार्थ जानने की ताकत उसमें आ जाती है। आहाहा! जयसेनाचार्यदेव में है। एक भी भाव जाने वह सर्वभाव (जाने)। एक भाव यथार्थ रूप से जाने कि पर की क्रिया मैं कर नहीं सकता, मैं तो परद्रव्य से भिन्न हूँ, ऐसा एक भाव भी यथार्थ जाने तो सर्व भाव यथार्थ जाने, इससे यहाँ ज्ञानी कह दिया। नहीं तो यह तो मिथ्यात्व का एक भाग है। समझ में आया? आहाहा!

ऐसा अभिप्राय अज्ञान है, इसलिए जिसका ऐसा आशय है, वह अज्ञानी है... जिसका ऐसा अभिप्राय है, वह अज्ञानी है। **मिथ्यादृष्टि है और जिसका ऐसा आशय नहीं है, वह ज्ञानी है-सम्यग्दृष्टि है।** यहाँ तो इतने आशय में ही सम्यग्दृष्टि है, ऐसा ले लिया है। समझ में आया? एक भाव भी यथार्थ जाना है, उसमें सब भाव का ख्याल आ गया। आहा! ऐसा लिया है। आहाहा!

निश्चयनय से कर्ता का स्वरूप यह है... पण्डितजी जयचन्द्र स्पष्टीकरण करते हैं। **निश्चयनय से कर्ता का स्वरूप यह है-स्वयं स्वाधीनतया जिस भावरूप परिणमित हो, उस भाव का स्वयं कर्ता कहलाता है।** क्या कहते हैं? स्वयं स्वाधीन से कर्ता। स्वतन्त्ररूप से करे, वह कर्ता—यह कर्ता की व्याख्या। आहाहा! **स्वयं स्वाधीनतया...** 'स्वतन्त्र' शब्द न प्रयोग करके 'स्वाधीन' लिया है। स्वतन्त्र, स्वयं स्वतन्त्ररूप से **जिस भावरूप परिणमित हो,...** आहाहा! **उस भाव का स्वयं कर्ता कहलाता है।** यह सिद्धान्त, निर्बाध सिद्धान्त। क्या कहा? **स्वयं स्वाधीनतया (स्वतन्त्ररूप से) जिस भावरूप परिणमित हो...** परिणमे **उस भाव का स्वयं कर्ता कहलाता है। इसलिए परमार्थतः कोई किसी का मरण नहीं करता।** ऐसा क्यों लिया है? मैं पर का कर्ता नहीं हूँ और निश्चय से तो राग का कर्ता भी नहीं हूँ। परन्तु जितना राग का परिणमन है, उतना कर्ता हूँ—ऐसा ज्ञान जानता है। समझ में आया? नय अधिकार। ऐसी बात है। पर का कर्ता नहीं, यहाँ तो राग और पर का, दोनों का कर्ता नहीं। यहाँ दृष्टि की प्रधानता से कथन है न? परन्तु दृष्टि के साथ जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान जानता है कि पर का कर्ता तो मैं नहीं। राग कर्तव्य है, (करने) योग्य है, ऐसा भी नहीं परन्तु राग का परिणमन मुझमें है, इसलिए मैं कर्ता हूँ। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञान तो समय-समय की बात का स्वीकार करता है। अतः जितना समकिती को ज्ञानी को भी राग का परिणमन है, उतना कर्तृत्व है और उतना भोक्तृत्व भी है और उस समय अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व भी है। समझ में आया? परन्तु करनेयोग्य है, ऐसी बुद्धि वहाँ नहीं है। बुद्धि आत्मा के ऊपर है। आहाहा! इस कारण से कमजोरी से राग का परिणमन (होता है), इसलिए परिणमन है तो कर्ता हूँ। परिणमे वह कर्ता—ऐसा कहा न? **जिस भावरूप परिणमित हो...** जिस भावरूप से परिणमे, (परिणमता है), परन्तु कर्ता नहीं। कर्ता नहीं,

यह किस अपेक्षा से ? कि वह मेरा कार्य है, ऐसी (बुद्धि) नहीं है। परन्तु परिणमता है तो ज्ञान जानता है कि उतना राग का (कर्ता है), पर का (कर्ता) नहीं। पर के कार्य में मैं निमित्तमात्र हूँ। ऐसे राग के परिणमन में ज्ञानी जानता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। बहुत पक्ष पड़ते हैं।

मुमुक्षु : निमित्तमात्र कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्तमात्र कहा तो उसका अर्थ यह हुआ। इसका अर्थ ही कि राग परिणमन है परन्तु पर में तो निमित्तमात्र हूँ। यह तो वह का वही हुआ। आहाहा! गजब बातें, बापू! अरेरे! वीतरागमार्ग अलौकिक है, भाई! आहाहा!

स्वयं स्वाधीनतया... स्वतन्त्ररूप से। कार्य का कर्ता कहना है न ? **जिस भावरूप परिणमित हो, उस भाव का स्वयं कर्ता कहलाता है। इसलिए परमार्थतः कोई किसी का मरण नहीं करता।** यहाँ पर की अपेक्षा से बात है। समझ में आया ? आहाहा! किसी पर का मरण करता नहीं। आहाहा! 'इच्छामि पडिकम्मणा' में आता है न ? इच्छामि पडिककम्मणु किया है या नहीं ? है ? इच्छामि पडिकम्मणा... ईरिया... ठाणं एक स्थान से दूसरे स्थान में... इच्छामि पडिकम्मणा में आता है। तुमने किया है या नहीं ? नहीं किया ? इसमें सीधे आये न! भाई ने नहीं किया ? हमने तो दस वर्ष की उम्र से, अस्सी वर्ष पहले पूरा कण्ठस्थ किया था। 'जीविया ववरोविया ठाणा उथाणं।' एक जीव को एक स्थान से दूसरे स्थान में रखना हो तो भी मिच्छामि दुक्कडम् - आता है न ?—ऐसा कि यह मेरा काम नहीं। आहाहा! ऐसा समझकर रखते हैं न ? आता है या नहीं ? जयन्तीभाई! कण्ठस्थ किया है या नहीं 'इच्छामि पडिकम्मणा...' ईरिया वहीया विराहणायें ? आहाहा!

कोई किसी का मरण नहीं करता। जो पर से पर का मरण मानता है, वह अज्ञानी है। निमित्त-नैमित्तिक भाव से कर्ता कहना, सो व्यवहारनय का कथन है;... यह तो निमित्त से कहने में आता है। निमित्त से हुआ नहीं। निमित्त उसे कहते हैं कि पर में कुछ कार्य न करे, उसे निमित्त कहते हैं। **निमित्त-नैमित्तिक भाव से कर्ता कहना...** आहाहा! **सो व्यवहारनय का कथन है; उसे यथार्थतया (-अपेक्षा को समझकर) मानना सो सम्यग्ज्ञान है।**

गाथा - २४८-२४९

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् ह्न

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं।।२४८।।

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं।।२४९।।

आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।
आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषाम्।।२४८।।

आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।
आयुर्न हरन्ति तव कथं ते मरणं कृतं तैः।।२४९।।

मरणं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मक्षयेणैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात्; स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य हर्तुं शक्यं, तस्य स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात्; ततो न कथञ्चनापि अन्योऽन्यस्य मरणं कुर्यात्। ततो हिनस्मि, हिन्स्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।।२४८-२४९।।

अब यह प्रश्न होता है कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है? उसके उत्तर स्वरूप गाथा कहते हैं:-

है आयुक्षय से मरण जीव का ये हि जिनवर ने कहा।
तू आयु तो हरता नहीं, तैंने मरण कैसे किया?।।२४८।।

है आयुक्षय से मरण जीव का ये हि जिनवर ने कहा।
वे आयु तुझ हरते नहीं, तो मरण तुझ कैसे किया?।।२४९।।

गाथार्थ : (हे भाई! तू जो यह मानता है कि 'मैं परजीवों को मारता हूँ' सो यह तेरा अज्ञान है।) [जीवानां] जीवों का [मरणं] मरण [आयुःक्षयेण] आयुकर्म के क्षय से होता है, ऐसा [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेव ने [प्रज्ञप्तम्] कहा है; [त्वं] तू [आयुः] पर जीवों के

आयुकर्म को तो [न हरसि] हरता नहीं है, [त्वया] तो तूने [तेषाम् मरणं] उनका मरण [कथं] कैसे [कृतं] किया?

(हे भाई! तू जो यह मानता है कि 'पर जीव मुझे मारते हैं' सो यह तेरा अज्ञान है।) [जीवानां] जीवों का [मरणं] मरण [आयुःक्षयेण] आयुकर्म के क्षय से होता है, ऐसा [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेव ने [प्रज्ञप्तम्] कहा है; पर जीव [तव आयुः] तेरे आयुकर्म को तो [न हरंति] हरते नहीं हैं, [तैः] तो उन्होंने [ते मरणं] तेरा मरण [कथं] कैसे [कृतं] किया?

टीका : प्रथम तो, जीवों का मरण वास्तव में अपने आयुकर्म के क्षय से ही होता है, क्योंकि अपने आयुकर्म के क्षय के अभाव में मरण होना अशक्य है; और दूसरे से दूसरे का स्व-आयुकर्म हरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह (स्व-आयुकर्म) अपने उपभोग से ही क्षय को प्राप्त होता है; इसलिए किसी भी प्रकार से कोई दूसरा किसी दूसरे का मरण नहीं कर सकता। इसलिए 'मैं परजीवों को मारता हूँ, और परजीव मुझे मारते हैं' ऐसा अध्यवसाय ध्रुवरूप से (-नियम से) अज्ञान है।

भावार्थ : जीव की जो मान्यता हो, तद्नुसार जगत में नहीं बनता हो, तो वह मान्यता अज्ञान है। अपने द्वारा दूसरे का तथा दूसरे से अपना मरण नहीं किया जा सकता, तथापि यह प्राणी व्यर्थ हो ऐसा मानता है, सो अज्ञान है। यह कथन निश्चयनय की प्रधानता से है।

व्यवहार इस प्रकार है:- परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव से पर्याय का जो उत्पाद-व्यय हो, उसे जन्म-मरण कहा जाता है; वहाँ जिसके निमित्त से मरण (-पर्याय का व्यय) हो, उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि 'इसने इसे मारा' यह व्यवहार है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना कि व्यवहार का सर्वथा निषेध है। जो निश्चय को नहीं जानते, उनका अज्ञान मिटाने के लिए यहाँ कथन किया है। उसे जानने के बाद दोनों नयों को अविरोधरूप से जानकर यथायोग्य नय मानना चाहिए।

गाथा - २४८-२४९ पर प्रवचन

अब यह प्रश्न होता है कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है? मैं पर को मार सकता

हूँ, एकेन्द्रिय जीव... आहाहा! हरितकाय को काटता हूँ, मारता हूँ, यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है?

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं।।२४८।।

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं।।२४९।।

आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्यदेव को भी जिनवर का आश्रय लेना पड़ा। भाई! यह जिनवर कहते हैं, प्रभु! आहाहा! मैं कहता हूँ, ऐसा नहीं। हैं? आहाहा! तीन लोक के नाथ जिनेन्द्र परमेश्वर अरिहन्त वीतराग ऐसा कहते हैं।

है आयुक्षय से मरण जीव का ये हि जिनवर ने कहा।
तू आयु तो हरता नहीं, तैंने मरण कैसे किया?।।२४८।।

है आयुक्षय से मरण जीव का ये हि जिनवर ने कहा।
वे आयु तुझ हरते नहीं, तो मरण तुझ कैसे किया?।।२४९।।

तू पर का आयुष्य हर नहीं सकता। निमित्त से कथन है, हों! कर्म से कथन है। नहीं तो आत्मा अपनी योग्यता से वहाँ रहा है, परन्तु आयुष्य की प्रधानता से कथन किया है। समझ में आया? आहाहा! यहाँ तो आयुष्य के ऊपर से बात है। नहीं तो जो आत्मा वहाँ रहता है, (उसमें) आयुष्य तो निमित्त है, जड़ है। वह तो अपनी योग्यता से उस पर्याय में रहना तो अपनी योग्यता से रहता है परन्तु यहाँ कर्म के निमित्त से कथन है। समझ में आया? लोगों को ख्याल में यह आता है, इस अपेक्षा से (ऐसा कहा है)। है?

मुमुक्षु : महामुश्किल से कर्म की बात की...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कर्म कहा न? यह प्रश्न बड़ा चला था। देखो! यहाँ कर्म से होता है, कर्म से होता है—ऐसा कहते हैं और तुम कहते हो कर्म से नहीं। ऐई! यह बड़ा प्रश्न चला था। आहाहा! उसके कर्म के कारण वह बँधता है, उसके वीतरागभाव के कारण मोक्ष होता है। लो, ऐसा कहा है। तुम कहते हो कि कर्म-फर्म का आत्मा कर्ता नहीं है। क्या अपेक्षा है, भगवान? बापू? क्या अपेक्षा चलती है? अभी आयुष्य जो है तत्प्रमाण आत्मा की

रहने की पर्याय की अपनी योग्यता है, वह आयुष्य है; इसलिए वहाँ इतना समय रहा है, ऐसा नहीं है। यह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की व्याख्या है। समझ में आया?

देह में जितना काल आत्मा रहे, उतना काल अपनी योग्यता से रहा है। आयुष्य के कारण से नहीं। आयुष्य तो पर है, कर्म है। अरे! समझ में आया? परन्तु यहाँ आयुष्य की स्थिति से निभता है, मरता है-ऐसा कहते हैं न? वह अपेक्षा से बात ली है। आहाहा! जिससे झट समझ में आये। वह कहता है कि अपनी योग्यता से रहता है, उसे तुम मार डालो तो उसकी योग्यता तो रही नहीं। ऐसे समझ में नहीं आवे। समझ में आया? आहाहा! यहाँ तो यह कहा न? आयुष्य को तू हरता नहीं। तेरा आयुष्य वह हरता नहीं, उसका आयुष्य तू हरता नहीं, ऐसा कहा है। आहाहा!

टीका : प्रथम तो, जीवों का मरण वास्तव में अपने आयुकर्म के क्षय से ही होता है,... प्रथम तो जीवों का (मरण) वास्तव में—यथार्थ रीति से अपने आयुकर्म के क्षय से होता है। आहाहा! **क्योंकि अपने आयुकर्म के क्षय के अभाव में मरण होना अशक्य है;...** आहाहा! आयु का क्षय न हो और मरण हो, ऐसा नहीं होता। आहाहा! किस शैली से कहते हैं? आहाहा! आयुष्य भविष्य का बाँधा हो, उतना रहे परन्तु वास्तव में तो वहाँ रहने की स्वयं की योग्यता से वहाँ रहता है। ऐसी लम्बी बात न करके, संक्षिप्त की है। आहाहा! भाई! वीतरागमार्ग, एक समय-समय का वहाँ विवेक है। आहाहा! वहाँ स्थूलता काम नहीं आती।

यहाँ तो आयुष्यकर्म की अपेक्षा से बात लेनी है न! आगे लेंगे कि सुखी-दुःखी तो उसके कर्म से होता है, ऐसा लेंगे। तू पर को सुखी-दुःखी करा सकता है? उसके कर्म से सुखी-दुःखी होता है। यह कर्म की मुख्यता से कथन है, बाकी सुखी-दुःखी कल्पना से होता है, वह तो अपनी योग्यता से सुखी-दुःखी की कल्पना करता है, कर्म के कारण से नहीं। आहाहा! अरे! आहाहा! यह समझने में समय व्यतीत करे तो सब झगड़ा-बगड़ा मिट जाए। अपनी दरकार नहीं होती। आहाहा!

दूसरे से दूसरे का स्व-आयुकर्म हरण नहीं किया जा सकता,... दूसरे से दूसरे का स्व-आयुकर्म। कर्म से बात है न? कर्म तो आत्मा से भिन्न है, पर चीज़ है परन्तु

आयुकर्म के निमित्त से यहाँ कथन है, यहाँ सब कथन आयेंगे, सुखी-दुःखी (आदि सब आयेंगे)। एक ओर कहना कि कर्म जड़ है, उससे अपने में सुखी-दुःखी नहीं होता। सुख-दुःख की कल्पना करता है, इस कारण से सुखी-दुःखी होता है परन्तु उसे समझाना है न? प्रभु! कर्म के निमित्त से अपने में कल्पना होती है तो निमित्त से हुआ—ऐसा कहने में आया।

यहाँ उपादान-निमित्त के झगड़े में यह डालते हैं। ऐई! समझ में आया? निमित्त से नहीं होता (ऐसा कहते हो तो) यह क्या कहते हैं? कर्म से होता है या नहीं? कर्म निमित्त है। समझ में आया? कान्तिभाई! तुम कहते हो कि निमित्त से कुछ नहीं होता। यहाँ तो (कहते हैं) आयुकर्म के निमित्त से आत्मा मरता है, आयुष्यकर्म का क्षय होवे तो मर जाता है और (आयुष्य) होवे तो जीता है। निमित्त से कथन है। समझ में आया? भाई! उपादान निमित्त की जहाँ चर्चा चले, वहाँ यह बात रखे। बापू! प्रभु! तू शान्ति से समझ। यहाँ तो आयुष्यकर्म के निमित्त से कथन है। समझ में आया? बहुत गाथाएँ आयेंगी। हैं?

मुमुक्षु : पर की अपेक्षा लेकर निमित्त और आयुष्य की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, पर की अपेक्षा नहीं। समझने में बहुत सुगम पड़े, इस अपेक्षा से निमित्त से कथन किया है। आत्मा अपनी योग्यता से वहाँ रहा है। उसका नाश किस प्रकार करे? ऐसा समझने में कठिन पड़े। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : समझने में सरल पड़े या भ्रम में पड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समझने में सरल पड़े। इसमें भ्रम निकल जाए। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध की व्याख्या की है। है तो स्वयं की नैमित्तिक पर्याय से वहाँ रहा है परन्तु यहाँ निमित्त से रहा, निमित्त न हो तो नाश हो जाता है तो उसका निमित्त तू दे सकता है? उसे आयुष्य दे सकता है कि जीवे? और तू आयुष्य हर लेता है कि मरे? और तेरा आयुष्य कोई हर लेता है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह निमित्त-उपादान की चर्चा बहुत हो गयी है। आहाहा!

देखो! **दूसरे से दूसरे का स्व-आयुकर्म हरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह (स्व-आयुकर्म) अपने उपभोग से ही क्षय को प्राप्त होता है;...** भाषा, देखो! क्या (कहा)? यह आयुकर्म अपने उपभोग से क्षय को पाता है। जड़कर्म—निमित्त से

समझाना है। भाई! यहाँ तो एक-एक बोल स्वयंसिद्ध कहा है, यह बात है। पाठ तो ऐसा है, **अपने उपभोग से ही क्षय को प्राप्त होता है;...** आयुकर्म, हों! **इसलिए किसी भी प्रकार से कोई दूसरा किसी दूसरे का मरण नहीं कर सकता। इसलिए 'मैं परजीवों को मारता हूँ, और परजीव मुझे मारते हैं' ऐसा अध्यवसाय ध्रुवरूप से (-नियम से) अज्ञान है।** बस! यह बात है। यह निश्चय से कहनी है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३१९, गाथा - २४९ से २५३ सोमवार, असोज शुक्ल ३
दिनाङ्क - २४-०९-१९७९

समयसार २४९ (गाथा का) भावार्थ है, भावार्थ है न? क्या कहते हैं?

भावार्थ : जीव की जो मान्यता हो, तद्नुसार जगत में नहीं बनता हो, तो वह मान्यता अज्ञान है। भगवान ऐसा कहते हैं कि जीव की जो मान्यता है, तद्नुसार जगत में यदि बनता न हो तो वह अज्ञान है। यह सिद्धान्त (कहा)। **अपने द्वारा दूसरे का तथा दूसरे से अपना मरण नहीं किया जा सकता,...** अपने द्वारा दूसरे का मरण नहीं किया जा सकता। मानता है कि मैं पर को मारूँ, यह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? दूसरे का जो मरण होता है, वह अपने द्वारा (नहीं किया जा सकता) और दूसरे के द्वारा अपना मरण नहीं किया जा सकता। अपने से दूसरे का मरण नहीं होता और पर से अपना मरण नहीं होता। आहा!

तथापि यह प्राणी व्यर्थ हो ऐसा मानता है... कि मैं पर को मारूँ और पर मुझे मारे, ऐसा अज्ञानी व्यर्थ मिथ्यात्वभाव को सेवन करता है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! जिसे आत्मा परमात्मा जिनेश्वरदेव ने आत्मा कहा, ऐसे आत्मा का जिसे आश्रय नहीं, उसकी मान्यता विपरीत है। आहाहा! वह पर को मैं मार सकता हूँ और पर मुझे मार सकता है, यह मान्यता अत्यन्त आत्मा के आश्रय (रहित की) पर के आश्रय की विपरीत बात है। सुमेरुमलजी! सूक्ष्म बात, प्रभु! अनन्त काल से चौरासी के अवतार में भटकता है।

कहते हैं कि तेरी मान्यता है, तद्नुसार यदि बाहर में न बने तो तेरी वह मान्यता झूठी है। आहाहा! **प्राणी व्यर्थ हो ऐसा मानता है, सो अज्ञान है। यह कथन निश्चयनय की प्रधानता से है।** पर की हिंसा आत्मा कर नहीं सकता और पर अपने को मार नहीं सकता, ऐसा यथार्थ सिद्धान्त सर्वज्ञ परमात्मा का है। ऐसा न माने और मैं पर को मारता हूँ, (ऐसा माने), परद्रव्य की पर्याय तो उसका आयुष्य न हो तो मर जाएगा, आयुष्य होगा तो रहेगा। तुझसे मरता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, भगवान!

अनन्त काल से चार गति में चौरासी के अवतार में भटकता है। मनुष्यभव अनन्त धारण किये, देवभव अनन्त धारण किये परन्तु आत्मज्ञान क्या? आत्मा का आश्रय (क्या)? आत्मा क्या चीज़ है? उसका आश्रय लिया नहीं। आहाहा! वह आश्रय लिये बिना ऐसी मान्यता पर के आश्रय से खड़ी की है कि मैं पर को मारता हूँ और पर मुझे मारता है। है?

व्यवहार इस प्रकार है:– (पहले कहा वह) निश्चयनय का यथार्थ सिद्धान्त है कि पर को मैं मार नहीं सकता और पर से अपना मरण नहीं होता। यह यथार्थ सिद्धान्त है। आहाहा! **व्यवहार इस प्रकार है:– परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव से पर्याय का जो उत्पाद–व्यय हो, उसे जन्म–मरण कहा जाता है;...** व्यवहार से, निमित्त से कहने में आता है कि इसने मारा, यह तो व्यवहार का कथन है, निमित्त–नैमित्तिक का कथन है, वास्तविकस्वरूप ऐसा है नहीं।

वहाँ जिसके निमित्त से मरण (–पर्याय का व्यय) हो... जिसके निमित्त से पर का नाश हो, **उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि 'इसने इसे मारा'...** ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। पुनातर! आहाहा! व्यवहार झूठा, परन्तु लौकिक में व्यवहार से ऐसा बोलने में आता है कि इसने इसे मारा, (परन्तु) ऐसा है नहीं। (मात्र) व्यवहार का कथन है। आहाहा! जिसका आयुष्य पूर्ण न हो तो उसे कौन मार सकता है? आहाहा! और जिसका आयुष्य पूर्ण हो गया, उसे भी कौन मार सकता है? वह तो उसका आयुष्य पूर्ण हुआ तो देह छूटती है। आहाहा! अभी तो यह देखो न, यह एक्सीडेंट होते हैं न? मोटर, रेल। हैं? एयरोप्लेन गिर जाते हैं। यह स्थिति उस समय में उसके आयुष्य की स्थिति पूरी होने की थी तो ऐसा होता है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, प्रभु!

यह कहते हैं **यहाँ ऐसा नहीं समझना की व्यवहार का सर्वथा निषेध है।** निमित्त का कथन है, वह कहीं झूठा नहीं है, निमित्त से कहने में आता है। **जो निश्चय को नहीं जानते, उनका अज्ञान मिटाने के लिए यहाँ कथन किया है।** आहाहा! पर को मैं मार सकता हूँ और पर से मेरी देह छूट जाएगी, मुझे तलवार से मारता है, यह बात मिथ्या है। वह तलवार और देह का छूटना जब होता है, तब अपने से होता है, पर से नहीं। सुमेरुमलजी! आहाहा!

भगवान परमेश्वर जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ सीमन्धरस्वामी भगवान विराजते हैं, महाविदेह में विराजते हैं, मौजूद हैं। आहाहा! संवत् ४९ में कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे, संवत् ४९, २००० वर्ष पहले। भगवान तो अभी विराजते हैं। प्रभु का करोड़पूर्व का आयुष्य है, महाविदेहक्षेत्र में, पाँच सौ धनुष का देह है। करोड़पूर्व का आयुष्य है। एक पूर्व में तो सत्तर लाख करोड़ छप्पन हजार करोड़ वर्ष जाते हैं। आहाहा! इतना प्रभु का आयुष्य है। समवसरण में विराजते हैं। वहाँ गये थे, वहाँ से यह सन्देश लाये हैं। आहाहा! इस सन्देश की टीका अमृतचन्द्राचार्य ने की है। आहाहा! वे भगवान के पास गये थे और अन्तर में गये थे। यह अमृतचन्द्राचार्य अन्तर में गये थे। भगवान आत्मा पूर्णानन्द के नाथ का अवलम्बन करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए थे, वे यह बात करते हैं। आहाहा! समझ में आया?

उनका अज्ञान मिटाने के लिए यहाँ कथन किया है। उसे जानने के बाद दोनों नयों को अविरोधरूप से जानकर यथायोग्य नय मानना चाहिए। पर को मारता नहीं परन्तु निमित्त से कथन किया है, (-ऐसा) जानना, ऐसे दोनों नयों का यथार्थ ज्ञान करना।

गाथा - २५०

जीवनाध्यवसायस्य तद्विपक्षस्य का वार्तेति चेत् ह्न

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।२५०।।

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये च परैः सत्त्वैः।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः।।२५०।।

परजीवानहं जीवयामि, परजीवैर्जीव्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्। स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः।।२५०।।

अब पुनः प्रश्न होता है कि ''(मरण का अध्यवसाय अज्ञान है, यह कहा सो जान लिया; किन्तु अब) मरण के अध्यवसाय का प्रतिपक्षी जो जीवन का अध्यवसाय है, उसका क्या हाल है?'' उसका उत्तर कहते हैं:-

जो मानता-मैं पर जिलावूं, मुझ जीवन पर से रहे।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है।।२५०।।

गाथार्थ : [यः] जो जीव [मन्यते] यह मानता है कि [जीवयामि] मैं पर जीवों को जिलाता हूँ [च] और [परैः सत्वैः] पर जीव [जीव्ये च] मुझे जिलाते हैं, [सः] वह [मूढः] मूढ (-मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता किन्तु इससे उल्टा मानता है) वह [ज्ञानी] ज्ञानी है।

टीका : 'परजीवों को मैं जिलाता हूँ, और परजीव मुझे जिलाते हैं' इस प्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से (-अत्यन्त निश्चितरूप से) अज्ञान है। यह अध्यवसाय जिसके है, वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके यह अध्यवसाय नहीं है, वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ : यह मानना अज्ञान है कि 'परजीव मुझे जिलाता है और मैं पर को जिलाता हूँ' जिसके यह अज्ञान है, वह मिथ्यादृष्टि है; तथा जिसके यह अज्ञान नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि है।

गाथा - २५० पर प्रवचन

अब पुनः प्रश्न होता है कि ''(मरण का अध्यवसाय अज्ञान है यह कहा सो जान लिया; किन्तु अब) मरण के अध्यवसाय का प्रतिपक्षी जो जीवन का अध्यवसाय है उसका क्या हाल है?'' उसका उत्तर कहते हैं:- आहाहा! मैं पर को मार सकता हूँ, यह बात तो आ गयी, यह तो झूठी बात है। परन्तु पर को जिला सकता हूँ, उसमें क्या है? अथवा पर मुझे जिलाता है, इसमें क्या (हकीकत) है? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। आहाहा! है? २५०।

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।२५०।।

जो मानता-मैं पर जिलावूं, मुझ जीवन पर से रहे।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है।।२५०।।

टीका : परजीवों को मैं जिलाता हूँ,... टीका है? २५०, आहाहा! समझ में आया? मैं पर को जिलाता हूँ। जिला देता हूँ। पैसेवाले हों, वे तो बहुत मानते हैं। है?

मुमुक्षु : दवा देने से जी जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी दवा से जीता नहीं। आहाहा! यह कहा था न? शान्तिलाल खुशाल, गोवा... गोवा..! दो अरब चालीस करोड़ रुपये हैं। कितने? दो अरब, चालीस करोड़। वह गुजर गया, उसका लड़का है। 'गोवा'। शान्तिलाल खुशाल। हमारे तो बहुत वर्षों से परिचय है न! यहाँ तो देह को ९१ वर्ष हुए। ९०+१। हम तो बहुत वर्ष से बहुतों को जानते हैं। दुकान पर बैठते थे, तब से बहुतों को जानते हैं। सत्तर वर्ष पहले की दुकान है न हमारी? भरूच और बड़ोदरा के बीच पालेज में दुकान है। वहाँ पाँच वर्ष दुकान चलायी थी। सत्रह से बाईस वर्ष। सब जानते हैं। एक गृहस्थ थे। (उनके पास) दो अरब चालीस करोड़—ढाई अरब। अभी उनका लड़का है। आया था? मुम्बई आया था, नहीं? मुम्बई आया था। लड़का दर्शन करने आया था।

उसके स्वयं के पास पैसा बहुत, दो अरब चालीस करोड़। उसके बहनोई हैं, वे आते

हैं, अभी नहीं हैं। यहाँ पोपटभाई बैठते थे न? लींमडी के हैं। उन्होंने कहा, वह भी लाखों पति है, बहुत लाख हैं। उनके साले को कहा, तुम्हारे पास बहुत पैसा है, ढाई अरब रुपये हैं, अब यह तुम क्या करते हो? ऐई! तब क्या जवाब दिया? उसने जवाब क्या दिया? कि यह क्या हम हमारे लिये करते हैं? लोगों के निभाव के लिये करते हैं। मूढ़ है। तेरी ममता है, मूढ़! समझ में आया? ऐसा जवाब दिया। क्या हम हमारे लिये करते हैं? हजारों लोग (काम करे), बड़ा व्यापारी है, क्या कहलाता है? है? मैंगनीज। पत्थर में से करोड़ों रुपये का मैंगनीज निकला है। थोड़ी जमीन ली थी, उसमें से ढाई अरब हो गये। धूल में क्या है? वह तो पूर्व का पुण्य था तो मिला, उसमें क्या है? परन्तु उनके साले को जवाब ऐसा दिया। अपने यहाँ आता है। इतने पैसे हैं, इतनी आमदनी है, कितने करोड़ों रुपये की आमदनी! कितने करोड़ों, हों! एक वर्ष में। हम क्या हमारे लिये करते हैं? हजारों लोग निभते हैं, (इसलिए करते हैं)। मूढ़ है। उसके कारण से मिलते हैं। उनका आयुष्य है तो निभते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : आयुष्यवाले को रोटियाँ किस प्रकार खाना?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह रोटियाँ खाये, न खाये, उसकी क्रिया से कहीं आयुष्य नहीं है। बहुत खाते हैं। आहाहा! चक्रवर्ती, भरत चक्रवर्ती आदि। भगवान कहते हैं कि वह चक्रवर्ती जो है, उसका बत्तीस ग्रास का आहार है। एक ग्रास की अरबों की कीमत। एक ग्रास, हों! क्योंकि हीरे की, माणेक की भस्म करे। भस्म करके फिर घी में डाले और उसमें गेहूँ, (डाले, वह) भस्म पी जाए, उसकी रोटी बनावे। ऐसे बत्तीस ग्रास। एक ग्रास की अरबों रुपये की कीमत। उन बत्तीस ग्रास का (आहार) भरत चक्रवर्ती को था। आहाहा!

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, लो! मर गया। छियानवें हजार स्त्रियाँ, बत्तीस हजार राजा। मरते समय हीरा के पलंग में सोता था परन्तु ममता... ममता... मैंने किया, मैंने किया, यह मेरी स्त्री, यह मेरी... मरकर अभी सातवें नरक में गया, अभी सातवें नरक में है। ऐसा सिद्धान्त में लेख है। आहाहा! समझ में आया? अरे! प्रभु! तू क्या करता है? तेरी चीज़ की कोई दूसरी चीज़ रक्षा कर सकती है? आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! जगत में सत्य परमात्मा जिनेश्वरदेव कहे, वैसे यथार्थ मानना, वह कोई दुर्लभ चीज़ है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, २५० (गाथा) **'परजीवों को मैं जिलाता हूँ,...** है टीका? मैं एकेन्द्रिय को जिलाता हूँ, पंचेन्द्रिय को जिलाता हूँ, मनुष्य को निभाता हूँ, हमारी घर की स्त्री, पुत्र को मैं निभाता हूँ, मदद करके जिलाता हूँ **और परजीव मुझे जिलाते हैं...** यह गृहस्थ लोग मुझे पैसा देते हैं तो मेरे आयुष्य को जिलाते हैं, नहीं तो दुष्काल में मर जाता। दुष्काल आदि में गृहस्थ लोग दो-पाँच-दस लाख रुपये देते हैं तो हम जीते हैं।

इस प्रकार का अध्यवसाय... इस प्रकार की मान्यता—एकत्व अभिप्राय **ध्रुवरूप से (-अत्यन्त निश्चितरूप से) अज्ञान है।** अज्ञानी का मिथ्याभ्रम है। मालचन्दजी! आहाहा! हम यह करते हैं, हम सबको जिला देते हैं। आहाहा! कहते हैं कि मैं दूसरे को जिलाता हूँ और वे मुझे जिलाते हैं, यह मान्यता; परमात्मा त्रिलोकनाथ इन्द्रों और गणधरों के समक्ष परमात्मा कहते थे (कि) वह जीव मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! भाषा समझ में आती है न? भाई! थोड़ी-थोड़ी हिन्दी आती है, हम तो गुजराती हैं न! आहाहा! भभूतमल के पिताजी हैं। भभूतमल ने बेंगलोर में आठ लाख रुपये दिये न! मन्दिर बनाया है। हम वहाँ गये थे न! उस समय पंच कल्याणक में गये थे। आहाहा! यह सब क्रिया होती है। यह आत्मा पैसा दे सकता है, इस बात में कुछ दम नहीं है। क्योंकि पैसा तो जड़ है। जड़ के परमाणु की पर्याय होनेवाली स्वयं से होती है। लेना-देना, आना-जाना (उसके कारण से होता है) परन्तु मैंने दिया, मैंने लिया, ऐसी मान्यता है.... सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! वह मिथ्यात्वभाव है, अज्ञान है, मूढ़ता है, चौरासी के परिभ्रमण के कारणरूप मिथ्यात्वभाव है। पाटनीजी! आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यह कहते हैं, **परजीवों को मैं जिलाता हूँ,...** आहाहा! मैं बहुत लोगों को निभाता हूँ। यह मिलवाले और प्रेसवाले होते हैं न? मिल... मिल, प्रेस। करोड़ोंपति। हमारे जीन में दो-पाँच हजार (लोग) निभते हैं। हमारी मिल चलती है इस कारण से। आहाहा! प्रभु त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं, प्रभु! यह तेरी मान्यता मिथ्यात्व, झूठा भ्रम है। आहाहा! कठिन काम, बापू! धर्म समझना, वह अलौकिक बात है, साधारण बात नहीं। कोई दया पालन कर धर्म हो गया या मन्दिर बनाया और धर्म हो गया, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! धर्म तो भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु सर्वज्ञ जिनेश्वर ने जो आत्मा पूर्ण स्वरूप

देखा, उसका आश्रय लेकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वह धर्म है और वह मुक्ति का कारण है, बाकी सब व्यर्थ है। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि **'परजीवों को मैं जिलाता हूँ, और परजीव मुझे जिलाते हैं' इस प्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से (-अत्यन्त निश्चितरूप से) अज्ञान है। यह अध्यवसाय जिसके है, वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है;...** आहाहा! उसे जैन भगवान की श्रद्धा नहीं है, ऐसा कहते हैं। परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव कहते हैं कि तू पर को जिला सकता नहीं और पर से तू जीता नहीं, ऐसा भगवान का कथन है। यह कहता है, कि मैं पर को जिलाता हूँ और पर मुझे (जिलाता है,) उसे जैन की श्रद्धा नहीं है, उसे परमेश्वर की श्रद्धा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भगवान! सूक्ष्म बात है। आहाहा!

परद्रव्य के साथ यह अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि जिसे है, मैं छहकाय का पीहर हूँ। आता है या नहीं? ऐई! मालचन्दजी! तुम्हारे पर्यूषण में आता था, खामणा में पत्र लिखते हैं। छह काय का पीहर, छह काय के रखवाले, छह काय के ग्वाल। स्थानकवासी में आता है, खबर है, हम भी ४५ वर्ष स्थानकवासी में थे। पिताजी स्थानकवासी थे, उसमें जन्म हुआ। ४५ वे हुए और ४५ इस जंगल में हुए। नब्बे पूरे हो गये। आहाहा! पिताजी स्थानकवासी थे। उसमें जन्म हो गया, उसमें दीक्षा ली थी। फिर तो पूर्व के (संस्कार) थे, हम भगवान के पास थे, वहाँ से देह छोड़कर यहाँ आये हैं। वे सब संस्कार अन्दर में से आते थे। भाई ने तो बड़ी दीक्षा दी थी, धामधूम। ६६ वर्ष पहले १८०० (रुपये का) खर्च किया था। (अभी) तीस गुने गिने तो साठ हजार होते हैं। बड़े भाई ने हाथी के होदे उमराला में दीक्षा (दिलाई थी), भाई को कहा, यह धर्म नहीं है, यह मार्ग नहीं है। मार्ग तो कोई दूसरा है। मैं तो यह सब छोड़ दूँगा, वीतराग का मार्ग दूसरा है। बड़े भाई ने कहा, धीरे-धीरे करना। भाई को प्रेम था, दुकान में साथ में थे। पालेज (में) दुकान है न? पश्चात् तो उन्होंने छोड़ दिया था, पैसे थे तो दुकान जल्दी छोड़ दी, यहाँ रहते थे। यहाँ गुजर गये। वे कहे, धीरे से (छोड़ना)। क्योंकि बाहर में हमारा मान था न! प्रतिष्ठा बहुत थी, (इसलिए कहे), धीरे-धीरे छोड़ना। मैंने तो कहा, मैं तो छोड़ दूँगा, यह मार्ग नहीं। आहाहा! सबमें यही कहे न,

स्थानकवासी में जीव की दया पालना। ऐसा आता है न? 'दया वह सुख की वेलडी, दया वह सुख की खान, अनन्त जीव मुक्ति गये, दया से...' वह पर की दया नहीं। भगवान कहते हैं कि तू पर की दया पाल नहीं सकता। अरे! भगवान! आहाहा!

तेरा भगवान सच्चिदानन्द प्रभु सर्वज्ञ परमात्मा ने सिद्धसमान तेरा आत्मा देखा है। आहाहा! उसका आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन (प्रगट) करना, वह अपने जीवन की दया है। आहाहा! पर की दया तो पाल सकता नहीं। सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा! 'मैं करूँ, मैं करूँ, यही अज्ञान है' पर का मैं कर दूँ और पर का ऐसा कर दूँ, मिथ्यात्वभाव है, झूठी दृष्टि है। आहाहा!

अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके यह अध्यवसाय नहीं है... आहाहा! देखो! **वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।** क्यों? कि सम्यग्दृष्टि धर्मी को आत्मा शुद्ध चैतन्य का आश्रय-अवलम्बन है और उस आश्रय के कारण पर का कर सकता हूँ या पर से मैं जीता हूँ, ऐसा अध्यवसाय उसे होता ही नहीं। स्वभाव का अध्यवसाय हुआ—शुद्ध चैतन्यघन का अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि हुई तो पर का मैं कर सकता हूँ, ऐसी बुद्धि सम्यग्दृष्टि को नहीं होती। समझ में आया? पर का कर सकता हूँ, ऐसा अध्यवसाय अपने स्वभाव का अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि नहीं है, उसको होता है। आहाहा! ऐसा काम है, प्रभु! आहाहा!

किसी को मैं जिला सकता हूँ और पर से मैं जीता हूँ, (ऐसा माननेवाले) मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा कहते हैं। वह जैन नहीं है, उसे जैन की खबर नहीं है, वीतरागमार्ग की खबर नहीं है। है अन्दर? २५० है। २५० (गाथा) है न? भाई! २५०। वहाँ तुमने पढ़ा है या नहीं? पैसे में रच-पच जाए, उसमें यह कहाँ समझ में आये? आहाहा! क्या कहते हैं? देखो! मैं पर को जिलाता हूँ, जीवनदान दे सकता हूँ और पर मुझे जिलाता है, यह अध्यवसाय मिथ्यादृष्टि का अज्ञान है। यह माता-पिता, परिवार को, स्त्री-पुत्र को निभाते नहीं? धूल भी निभाते नहीं। वह तो उनका आयुष्य है, तत्प्रमाण निभते हैं। समझ में आया? आहाहा! कहो, पुनातर! ऐसी बात है, भगवान! बहुत कठिन बात। जगत से (अलग है)।

यहाँ दो बातें करते हैं, कि जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व है, वह (ऐसा मानता है कि) मैं

पर को जिलाता हूँ और वह मुझे जिलाता है, परन्तु जिसकी दृष्टि आत्मा के अध्यवसाय में एकत्वबुद्धि है, आत्मा आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप है, उसका अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि है, वह पर को जिलाता हूँ, पर से जीता हूँ—ऐसा नहीं मानता। आहाहा! कहो, समझ में आया?

ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है। अन्तिम लाइन है न? धर्मी उसे कहते हैं, सम्यग्दृष्टि जैन परमेश्वर की मान्यतावन्त, आत्मा की मान्यतावन्त, जिनस्वरूप भगवान आत्मा है, उस जिनस्वरूप आत्मा की जिसे अन्दर मान्यता—अध्यवसाय हुआ, वह पर को जिलाता हूँ, ऐसी मान्यता उसे नहीं है। आहा! समझ में आया? और पर से मैं जीता हूँ, मेरा निभाव करते हैं, दुष्काल पड़ा तो इन सेठियों ने दो-पाँच लाख दिये तो मेरा आयुष्य निभा, ऐसा समकिती नहीं मानते। समकिती बाहर से गरीब हो (परन्तु वे ऐसा नहीं मानते)। आहाहा! नरक में नारकी है। नीचे सात नरक हैं, उनमें कोई नारकी समकिती है। श्रेणिक राजा, श्रेणिक राजा पहले नरक में गये। समकिती हैं, तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं, वहाँ से निकलकर पहले तीर्थंकर होंगे। जैसे महावीरस्वामी प्रभु थे, वैसे तीर्थंकर होंगे। अभी नरक में हैं, पहले नरक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति है। वे ऐसा नहीं मानते कि मैं पर को जिलाता हूँ और मैं पर से जीता हूँ, ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। ज्ञानी (ऐसा मानते हैं कि) मेरे अध्यवसाय से मैं जीता हूँ, त्रिकाल जीवन। त्रिकाल जीवन, हों! आहाहा! पर का जीवन मैं कर नहीं सकता। आहाहा!

यहाँ तो (अज्ञानी कहे), अर्धांगिनी। आधा अंग अपना और आधा अंग स्त्री का। अर्धांगिनी, मूढ़ है। आधा अंग कैसा? वह दूसरा आत्मा है, शरीर भिन्न है, वह तो पर की चीज़ है, वह तेरी चीज़ कहाँ से हो गयी? मालचन्दजी! ऐसी बात है, भगवान! आहाहा! यहाँ तो सत्य की बात है, प्रभु! आहाहा! यह बात अभी गुप्त हो गयी है, फेरफार हो गया। आहाहा!

मुमुक्षु : बापूजी कहते हैं कि धर्म की बात यहाँ के अतिरिक्त कहीं नही है। यहाँ रहेगा तो धर्म होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सच्ची है। भाई को प्रेम है न! भभूतमल को प्रेम है। मार्ग तो

यह है, भगवान! हिन्दुस्तान में दस हजार मील हम तीन बार घूमे। दस हजार मील, हों! बड़ी मोटर है न? क्या कहलाता है वह? 'प्लेमाउट'। पच्चीस हजार की तब आयी थी, (संवत्) २०१४ के वर्ष। पड़ी है। दस हजार मील तीन बार घूमे हैं। यह मार्ग हमें कहीं देखने को नहीं मिला। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि पर को जिलाता हूँ, ऐसा जिसका अध्यवसाय है, वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि को ऐसा अध्यवसाय नहीं है। धर्मी, जिसे आत्मा का आश्रय होकर सम्यग्दर्शन हुआ है, भगवान आत्मा जिनस्वरूप प्रभु है। 'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, यही वचन से समझ ले जिन प्रवचन का मर्म।' तीन लोक के नाथ के वचन का मर्म—'जिन सो ही है आत्मा' यह आत्मा जिनस्वरूप, अन्दर वीतरागस्वरूप है। 'अन्य सो ही है कर्म' रागादि, दया, दानादि सब कर्म है। आहाहा! समझ में आया? वह जिनस्वरूपी भगवान आत्मा, उसका आश्रय लेकर जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, वह तीन काल-तीन लोक में मैं किसी चीज़ को निभाता हूँ और उससे मैं निभता हूँ, ऐसा नहीं मानता। भभूतमलजी! ऐसी बात है, भगवान! सब आत्मा अन्दर भगवान—प्रभु है न! आहाहा! अन्दर भगवानस्वरूप ही है। भगवानस्वरूप न हो तो भगवानपना, तेरहवें (गुणस्थान में) केवली परमात्मा कहाँ से आयेंगे? बाहर से कोई चीज़ आती है? समझ में आया?

छोटी पीपर है न? छोटी पीपर। उसमें चौंसठ पहरी चरपराहट भरी है। छोटी पीपर होती है न? चौंसठ पहरी अर्थात् रुपया-रुपया, चौंसठ अर्थात् सोलह आना। चरपराहट भरी है तो घोंटने से 'है', वह आती है, प्राप्त की प्राप्ति है। कुएँ में है, वह हौज में आता है। उसी प्रकार आत्मा में पूर्णानन्द और पूर्ण ज्ञान वीतरागस्वरूप से अन्दर भगवान भरा है... आहाहा! उसके आश्रय से परमात्मा सर्वज्ञ जो होते हैं, वे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अन्दर से आता है, वह कहीं बाहर से नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं, भाई! वे तो कहें, देरासर करो, मन्दिर करो, पूजा करो, दो-पाँच लाख खर्च करो धर्म हो जाएगा। यहाँ कहते हैं धूल भी धर्म नहीं होगा, सुन! तेरे करोड़, दो करोड़ खर्च कर दे तो भी धर्म नहीं है। ऐई! वह पैसा कहाँ तेरी चीज़ है? वह तो जड़ है, अजीव है। अजीव को लेने-देने का स्वामी होवे, तब तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **जिसके यह अध्यवसाय नहीं है, वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।** आहाहा! सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं। धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म का पहला पगथिया—सोपान। मैं तो ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप हूँ, मेरी दृष्टि में तो मेरा आत्मा दृष्टि में आता है, यह दृष्टि आत्मा को स्वीकार करती है। ऐसा स्वीकार करनेवाला सम्यग्दृष्टि पर को मारना—बचाना, वह मेरे अधिकार की बात नहीं है, (ऐसा मानता है)। आहाहा! जिन और प्रेस और मिल में हजारों लोग निभे तो यदि मिलमालिक समकिती होवे तो वह ऐसा नहीं मानता कि ये मुझसे निभते हैं। समझ में आया? अज्ञानी मूढ़ मानता है।

भावार्थ : यह मानना अज्ञान है कि 'परजीव मुझे जिलाता है और मैं पर को जिलाता हूँ' जिसके यह अज्ञान है, वह मिथ्यादृष्टि है;... आहाहा! झूठी दृष्टि है, सत्यदृष्टि से (विपरीत) असत्यदृष्टि है, पाखण्ड दृष्टि है। आहाहा! तुम्हारे में आता है न? 'वैष्णव जन तो उनको कहिये जो पर पीड़ा यह (जाने रे)' आता है या नहीं? खबर है, सब देखा है। यहाँ तो करोड़ों श्लोक (देखे हैं)। १९ वर्ष की उम्र से (अभी) नब्बे वर्ष हुए, तो सत्तर वर्षों से यह शास्त्र का अभ्यास है। दुकान पर (भी पढ़ते थे)। पिताजी की घर की दुकान थी।

मुमुक्षु : पर पीड़ा जानता है, ऐसा लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर पीड़ा के अवसर में, ऐसा उनका कहना है। कौन टाले? आहाहा!

'परजीव मुझे जिलाता है और मैं पर को जिलाता हूँ' जिसके यह अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि है; तथा जिसके यह अज्ञान नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि है। दूसरी दो गाथाएँ, २५१-२५२।

गाथा - २५१-२५२

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् -

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं।।२५१।।

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं।।२५२।।

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणन्ति सर्वज्ञाः।
आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषाम्।।२५१।।

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणन्ति सर्वज्ञाः।
आयुश्च न ददति तव कथं नु ते जीवितं कृतं तैः।।२५२।।

जीवितं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात्; स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं, तस्य स्वपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात्; ततो न कथञ्चनापि अन्योऽन्यस्य जीवितं कुर्यात्। अतो जीवयामि, जीव्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।।२५१-२५२।।

अब यह प्रश्न होता है कि यह (जीवन का) अध्यवसाय अज्ञान कैसे है? इसका उत्तर कहते हैं:-

जीतव्य जीव का आयुदय से, ये हि जिनवर ने कहा।
तू आयु तो देता नहीं, तैंने जीवन कैसे किया।।२५१।।

जीतव्य जीव का आयुदय से, ये हि जिनवर ने कहा।
वो आयु तुझ देते नहीं, तो जीवन तुझ कैसे किया।।२५०।।

गाथार्थ : [जीवः] जीव [आयुरुदयने] आयुकर्म के उदय से [जीवति] जीता है, [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [भणंति] कहते हैं; [त्वं] तू [आयुः च] पर जीवों को आयुकर्म तो [न ददासि] नहीं देता [त्वया] तो (हे भाई!) तूने [तेषाम् जीवितं] उनका जीवन (जीवित रहना) [कथं कृतं] कैसे किया?

[जीवः] जीव [आयुरुदयेन] आयुकर्म के उदय से [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [भणंति] कहते हैं; पर जीव [तव] तुझे [आयुः च] आयुकर्म तो [न ददति] देते नहीं हैं [तैः] तो (हे भाई!) उन्होंने [ते जीवितं] तेरा जीवन (जीवित रहना) [कथं नु कृतं] कैसे किया?

टीका : प्रथम तो, जीवों का जीवित (जीवन) वास्तव में अपने आयुकर्म के उदय से ही है, क्योंकि अपने आयुकर्म के उदय के अभाव में जीवित रहना अशक्य है; और अपना आयुकर्म दूसरे से दूसरे को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह (अपना आयुकर्म) अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसलिए किसी भी प्रकार से कोई दूसरे का जीवन नहीं कर सकता। इसलिए 'मैं पर को जिलाता हूँ और पर मुझे जिलाता है' इस प्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से (-नियतरूप से) अज्ञान है।

भावार्थ : पहले मरण के अध्यवसाय के सम्बन्ध में कहा था, इसी प्रकार यहाँ भी जानना।

गाथा - २५१-२५२ पर प्रवचन

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं।।२५१।।

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं।।२५२।।

नीचे हरिगीत—

जीतव्य जीव का आयुदय से, ये हि जिनवर ने कहा।
तू आयु तो देता नहीं, तैंने जीवन कैसे किया।।२५१।।

जीतव्य जीव का आयुदय से, ये हि जिनवर ने कहा।
वो आयु तुझ देते नहीं, तो जीवन तुझ कैसे किया।।२५०।।

आहाहा! अब यह प्रश्न होता है कि यह (जीवन का) अध्यवसाय अज्ञान कैसे है? टीका, इस ओर टीका है।

टीका : प्रथम तो, जीवों का जीवित (जीवन) वास्तव में अपने आयुकर्म के उदय से ही है,... यह जो जीता है, वह अपने आयुष्यकर्म के कारण से (जीता है), निमित्त से कथन है। बाकी तो आत्मा की शरीर में रहने की जितनी योग्यता है, वह स्वयं से है, आयुकर्म निमित्त है। परन्तु यहाँ आयुकर्म से लेना है। समझ में आया? इस शरीर में जितना काल रहने का है, वह स्वयं के कारण से रहता है, आयुष्यकर्म तो निमित्त है, उपादान स्वयं का है। परन्तु यहाँ निमित्त से कथन है कि जिसका जितना आयुष्यकर्म है, तत्प्रमाण वहाँ रहेगा। आहाहा!

अकस्मात् होता है, लो न! मोटर में, रेल में, यह कोई प्लेन नीचे गिर गया, करोड़ों-अरबों रुपये का माल। आहाहा! यह मोरबी, अभी मोरबी में... ओहोहो! पन्द्रह-बीस हजार लोग (मर गये), इतना पानी। बीस, इक्कीस, बाईस, तेईस इतना पानी। मुर्दे बहकर समुद्र में चले गये। कोई तो कहता है कि स्थानकवासी का आधा भाग मर गया। स्थानकवासी का जो भाग था (उसमें से) आधा भाग। अपने दिगम्बर में एक ही अपंग महिला थी, वह मर गयी, बाकी सब जीवन्त आये, सब राजकोट आ गये। जिनका आयुष्य हो, उन्हें कौन करे? समझ में आया? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **जीवों का जीवित (जीवन) वास्तव में अपने आयुकर्म के उदय से ही है,...** जो आयुकर्म पूर्व में बँधा है, उस प्रमाण यहाँ शरीर में रहने का है। **क्योंकि अपने आयुकर्म के उदय के अभाव में जीवित रहना अशक्य है;...** आयुकर्म न हो और जीवित रहे, यह नहीं होता। **अपना आयुकर्म दूसरे से दूसरे को नहीं दिया जा सकता,...** आहाहा! अपना आयुष्यकर्म दूसरे का आयुष्यकर्म नहीं दे सकता। अपना थोड़ा आयुष्यकर्म दे, दे सकता है? इतिहास में आता है, इतिहास में, नहीं? हुमायु को थोड़ा आयुष्य दिया। इतिहास में दे। बाबर और हुमायु, धूल में भी नहीं देते। मूढ़ मुसलमान था न। आहाहा! कौन आयुष्य दे? मरने की तैयारी थी, तो यह कहे, मैं थोड़ा आयुष्य देता हूँ, तो निभ गया। झूठ बात है। स्वयं के आयुष्य के टुकड़े करके उसे दे सकता है? तो निभे। जितना आयुष्य है उस समय में, जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस प्रकार से देह छूटने योग्य है, वहाँ छूटेगी। लाख उपाय करे तो भी दूसरा कुछ नहीं होगा। आहाहा! है?

मुमुक्षु : इतिहास का बनाव खोटा?

पूज्य गुरुदेवश्री : इतिहास-बितिहास सब गप्प मारी है। इतिहास को खबर कब (थी)? भगवान ऐसा कहते हैं। यह क्या कहा? देखो! आया न?

मूल पाठ में यह है कि जिनवर ने ऐसा (कहा है)। **'सव्वण्हू'** ऐसा पाठ है। २५१-२५२ गाथा। सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा कहते हैं। जिनवरदेव त्रिलोकनाथ अरिहन्त परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं कि किसी का आयुष्य किसी को दे सके, ऐसा तीन काल में नहीं है। दूसरे का जीवन दे सके ऐसा नहीं है। डॉक्टर तो करते हैं या नहीं? इंजेक्शन देकर (बचाते हैं न)? हमारे यहाँ एक मर गया। आहाहा! शिवलाल पटेल था न? वल्लभ पटेल और वह है न? गुजरात का। वल्लभ पटेल और कैसा? विठ्ठल पटेल। वह वहाँ 'करमसद' का है, 'आणन्द' के पास। हमने गाँव देखा था। संसार में (थे तब) छोटी उम्र में माल लेने जाते न! सब देखे हुए हैं। सूरत, भरूच, मुम्बई। छोटी उम्र में, हों! बाईस वर्ष की उम्र में अन्दर। बाईस वर्ष में दुकान छोड़ दी। (संवत) १९६८ के वैशाख में दुकान छोड़ दी। बाईस वर्ष की उम्र, ६६ (वर्ष) हुए। फिर हमने दीक्षा ली थी। यह मार्ग दूसरा, भाई! आहाहा!

वे तो कहें, परजीव की दया पालो। दया पालने से धर्म होगा। यहाँ कहते हैं कि पर के जीवन की दया पाल नहीं सकता। (दया पालन की), ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, जैन नहीं। परमेश्वर सर्वज्ञ कहते हैं। पाठ आया न? **'सव्वण्हू'** तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं कि तेरे आयुष्य का टुकड़ा तू पर को दे सकता हूँ कि तूने पर को निभाया? भभूतमलजी! पैसे वाले बहुत लोगों को निभाते हैं। धूल में भी नहीं। मिथ्यात्व का अभिमान है। आहाहा! दुष्काल का काल था तो हमने मुद्दत दी, हम टूट जाते थे, (ऐसा कहे)।

हमारे यहाँ दुकान में हुआ था। फावाभाई थे, वे सट्टा का व्यापार करते। फिर सट्टे में नुकसान हुआ, पैसा नहीं। फिर हमारे भागीदार बुआ के पुत्र कुँवरजीभाई थे, उन्होंने सोलह हजार दिये। यह तो सत्तर वर्ष पहले की बात है। सोलह हजार देकर उनका नाम रखा। सट्टा में से पाटिया निकाल डाले न? कुछ पैसा नहीं था, हों! अब अभी उनके पुत्र के पास एक करोड़ रुपये हैं। उस समय सोलह हजार देने की शक्ति नहीं थी। अभी सूरत में मनहर है, (उसको) भंगार का व्यापार, क्या कहलाता है यह? भंगार... भंगार... अभी

एक करोड़ रुपये हैं। उसे सट्टा में सोलह हजार का नुकसान हुआ, (उसका) नाम निकाल डालते थे, इसलिए हमारे बुआ के लड़के कुँवरजीभाई कहे, तेरे कारण आये हैं, तेरा नाम निकाल जाए, (उसकी अपेक्षा) सोलह हजार ले जा। फिर दूसरी बार उसने एक पाई भी नहीं माँगी। ऐसा तो अनन्त बार बहुत किया, उसमें धूल में कुछ नहीं। आहाहा!

एक रजकण भी यहाँ से दूर करना, वह अपनी ताकत नहीं है। एक अंगुली ऐसे हिलती है, वह आत्मा से हिलती है, ऐसा तीन काल में नहीं है। बापू को समझ में आता है न? भाषा समझ में आती है? यह तो हिन्दी है, तुम्हारी मारवाड़ी (भाषा नहीं है)। यह तो हिन्दी है, ये लोग हिन्दी आये हैं, बाहर से आये हैं, सरदारशहर से आये हैं, सरदारशहर। आहाहा! भगवान! यहाँ तो भगवान आत्मा अन्दर है। आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु 'सिद्ध समान सदा पद मेरो'। आहाहा! अरे! प्रभु! तुझे तेरी खबर नहीं और मैं पर को जिलाता हूँ, (ऐसा मानता है।) आहाहा! उस आयुकर्म के उदय से सब जीते हैं।

आयुकर्म के उदय के अभाव में जीवित रहना अशक्य है; और अपना आयुकर्म दूसरे से दूसरे को नहीं दिया जा सकता,... आहाहा! **क्योंकि वह (अपना आयुकर्म) अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है;...** क्या कहा, देखो अब। पूर्व में जो यहाँ का आयुष्य बँधा था, वह अपने परिणाम से बँधा था। इस भव से पहले गत भव में था, तब जो यहाँ का आयुष्य बँधा था, वह अपने परिणाम से बँधा था वहाँ। समझ में आया? आहाहा! अपने परिणाम से आयुष्य बँधा था। आहाहा! **अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसलिए किसी भी प्रकार से कोई दूसरे का जीवन नहीं कर सकता।** अपने परिणाम से जो आयुष्य बँधा था, वह आयुष्य यहाँ है। आहाहा! किसी को मदद मिले, दवा मिले और डॉक्टर आवे और मेरा जीवन बढ़ा दे, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। आहाहा!

जिसकी (आयुष्य की) स्थिति पूरी होनेवाली है, वह एक क्षण में (पूरी) हो जाएगी। क्योंकि पूर्व में अपने परिणाम से ही आयुष्य बँधा था। जो परिणाम से आयुष्य बँधा, उस आयुष्य प्रमाण वहाँ जीयेगा। आहाहा! अभी भी जितने वर्ष, महीने जाते हैं, वे सब मृत्यु के समीप जाते हैं, क्योंकि मृत्यु निश्चित है, इस समय में देह छूटेगी, यह निश्चित है। जितने महीने और दिन जाते हैं, वे उसकी मृत्यु के समीप जाते हैं। यह मानता है कि मैं बड़ा

होता हूँ, यह कहते हैं कि तेरे मृत्यु के समीप जाता है। आहाहा! भाषा देखो!

अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है;... निमित्त-निमित्त सम्बन्ध नहीं। नहीं तो एक बार ऐसा कहा कि आयुष्य कर्म के जो परमाणु बँधते हैं, वे परमाणु की पर्याय से (बँधते हैं), अपने परिणाम से नहीं। अपने परिणाम अपने में रहे और आयुष्य की पर्याय आयुष्य के कारण से हुई। समझ में आया? क्या कहा यह? एक ओर जो अपने परिणाम हुए थे, वे तो अपने परिणाम हैं और जो आयुष्य बँधा, वह तो परमाणु की पर्याय, वह आयुष्य की स्थिति वैसी होनेवाली थी, इसलिए बँधे हैं। परन्तु यहाँ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से बात करते हैं। क्या कहा, समझ में आया?

यहाँ तो **अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है;...** ऐसा कहा। एक ओर भगवान ऐसा कहते हैं कि, कर्म का बन्धन जो है, उसे तू नहीं कर सकता, वह तो परद्रव्य है। आयुष्यकर्म वह जड़ पर है। उसकी—आयुष्य की स्थिति—अवधि तू नहीं कर सकता, तू तो तेरे परिणाम कर सकता है। यहाँ तो परिणाम किये और आयुष्य बँधा, उसे निमित्त करके वह आयुष्य अपने परिणाम से बँधा, ऐसा कहने में आया है। आहाहा! अरेरे!

एक ओर प्रभु ऐसा कहे, प्रभु! कर्म जड़ है, उन्हें तू बाँध नहीं सकता, छोड़ नहीं सकता क्योंकि वह तो परद्रव्य है, जड़ है। तेरा परद्रव्य में कुछ अधिकार नहीं है। आहाहा! समझ में आया? पाटनीजी! यहाँ यह कहा, **परिणाम से ही उपार्जित होता है;...** अन्य जगह भगवान ऐसा कहते हैं कि आयुष्य के परमाणु के योग्य जो थे, वे आयुष्यरूप हो गये। परमाणु में उतनी स्थिति होने के योग्य थी। परिणाम तो निमित्तमात्र है। परिणाम आयुष्य को नहीं बाँधता। यहाँ तो कर्म के निमित्त से कथन करना है। आहाहा!

मुमुक्षु : निमित्त का आश्रय लेना पड़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त का आश्रय नहीं, इसे संक्षिप्त में समझाना है। लम्बी-लम्बी बात करे कि तेरे परिणाम थे, तद्नुसार इस शरीर में निभने की तेरी स्थिति है, आयुष्य तो निमित्त है। इतनी लम्बी-लम्बी बात न करके संक्षिप्त की है। समझ में आया? नहीं तो ऐसा है कि पूर्व में जो अपने आयुष्य के परिणाम थे, उन परिणाम अनुसार यहाँ देह में रहने की योग्यता है। अपनी अपने से है, हों! कर्म से नहीं। समझ में आया? परन्तु इतनी लम्बी

बात न करके संक्षिप्त करने के लिये (ऐसा कहा कि) तेरे परिणाम से जो पूर्व में आयुष्य बँधा था, वह आयुष्य यहाँ है, तद्नुसार तुझे रहना है। तुझे कोई आयुष्य दे सके या दूसरे को तू आयुष्य दे सके, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! उपभोग नहीं आया था? कल उपभोग आया था। कर्म का उपभोग—यह निमित्त का कथन है। आहाहा! अपने उपभोग से कर्म का नाश होता है, ऐसा। दूसरा कोई नाश कर सके, ऐसा है नहीं। आहाहा! अरे! कहाँ निवृत्ति लोगों को? जगत का जंजाल। तौबा, तौबा है। निवृत्त आत्मा क्या है? और सत्य क्या है? इसका निर्णय करने का समय नहीं है। अरे! देह छूटेगी... आहाहा! चौरासी के अवतार में कहीं चला जाएगा। आहाहा!

यहाँ तो (कहते हैं), **अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है;...** भाषा देखो! एक ओर ऐसा कहे कि, अपने परिणाम अपने से हुए हैं और आयुष्य की स्थिति आयुष्यकर्म से हुई है। परमाणु में वह आयुष्य होने की इतनी स्थिति थी तो हुई है, यह परिणाम तो निमित्तमात्र है। निमित्त उसका कर्ता नहीं है। परन्तु यहाँ संक्षिप्त में लेने के लिये (ऐसा कहा कि), अपने परिणाम से कर्म उपार्जित किये। यह उपार्जित किया, तद्नुसार आयुष्य यहाँ देह में रहने का है। इस उपार्जन में कोई दूसरा दे सके, (ऐसा नहीं है)। दूसरे ने भी अपने परिणाम से जो आयुष्य का उपार्जन किया था, तद्नुसार वहाँ रहता है; तू उसे निभा सके या मार सके, ऐसी बात नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, प्रभु! आहाहा!

साधारण लोगों को तो (ऐसा लगे), क्या कहते हैं यह? यह डॉक्टर आयुष्य निभा सकते हैं। डॉक्टर मर नहीं जाते? यहाँ भावनगर में अस्पताल में बड़ा सर्जन था—हेमन्तकुमार, यहाँ आता था। यहाँ सब आ तो गये होते हैं, भावनगर के राजा भी आ गये। यहाँ तो राजा आवे, दीवान आवे, सब भिखारी। सब भिखारी हैं न? माँगते हैं, माँगनेवाले, भिखारी हैं। लाओ पैसा, लाओ पैसा... बड़े भिखारी हैं। भगवान उन्हें भिखारी कहते हैं। अन्तर आनन्द की लक्ष्मी अन्दर पड़ी है, उसकी तो दृष्टि नहीं, उसे माँगना नहीं। समझ में आया? वह हेमन्तकुमार किसी की दवा करता था। सर्जन था, यहाँ दो-तीन बार आ गया। 'मुझे कुछ होता है, मुझे कुछ होता है।' ऐसा कहकर कुर्सी पर बैठ गया, देह छूट गयी। सर्जन! भावनगर अस्पताल का बड़ा सर्जन! क्या करे? वैद्य और डॉक्टर भी अपने आयुष्य प्रमाण रहते हैं न? हैं?

मुमुक्षु : उम्र ३८ वर्ष थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : ३८ वर्ष ही थी!? यहाँ आया अवश्य था। दो-तीन बार आया था। एक बार दाँत के लिये आया था, एक बार व्याख्यान सुनने आया था। कौन किसका आयुष्य एक क्षण बढ़ावे? आहाहा! ऐक्सिडेंट होता है, देखो न! जवान ३२-३२ वर्ष के रेल में कुचल जाते हैं। यह आयुष्य की स्थिति इतनी है। वह अकस्मात नहीं है। वह आयुष्य की इतनी स्थिति वहाँ पूरी होनेवाली थी, इसलिए देह छूट गया। आहाहा!

इसलिए किसी भी प्रकार से... किसी भी प्रकार से **कोई दूसरे का जीवन नहीं कर सकता।** आहाहा! दवा दे और जीवन दे और ऐसा दे... आहाहा! अरे! अपने यहाँ का बड़ा डॉक्टर था न? क्या नाम? रस्तोगी, बड़ा डॉक्टर। अपने व्याख्यान में आता था, ६१ वर्ष की उम्र, बड़ा डॉक्टर। पूरा होने के बाद यहाँ से 'कैम्प' में गया, 'वढवाण कैम्प'। ६१ वर्ष की उम्र, ६० और १। सब पास में थे, वहाँ (कहे) मुझे कुछ होता है। एक (जगह) खाली थी, बीमार की खाली जगह थी, वहाँ सो गया। बुलाओ पत्नी को! पत्नी आयी। (उससे कहता है) 'मैं अब जाता हूँ।' ६१ वर्ष की उम्र, बड़ा डॉक्टर। वह क्या धूल करे? बेचारा यहाँ आता था, यहाँ जब था, (तब) रविवार को व्याख्यान सुनने आता था परन्तु जगत की लोक जाल मार डालती है। बाहर का मान-सम्मान मिले। आहाहा! ६१ वर्ष की उम्र में मर गया। डॉक्टर बड़ा, जिसने यह सब जमाया था। यहाँ अस्पताल है न? 'जिथरी... जिथरी!' आहाहा! आयुष्य की स्थिति पूरी हो, वहाँ डॉक्टर क्या या बड़ा वैद्य क्या? आहाहा! कौन रख सकता है? प्रभु! यह निश्चय तो कर, निर्णय तो कर। आहाहा!

इसलिए किसी भी प्रकार से... ऐसी भाषा है न? **कोई दूसरे का जीवन नहीं कर सकता। इसलिए 'मैं पर को जिलाता हूँ और पर मुझे जिलाता है' इस प्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से (-नियतरूप से) अज्ञान है।** निश्चय से अज्ञान है। तेरी दृष्टि मूढ़ता है, विपरीत पाखण्ड है। आहाहा! ऐसी बात है।

पहले मरण के अध्यवसाय के सम्बन्ध में कहा था, इसी प्रकार यहाँ भी जानना। सुख-दुःख की बात विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २५३

दु:खसुखकरणाध्यवसायस्यापि एषैव गति: -

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।२५३।।

य आत्मना तु मन्यते दु:खितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीत:।।२५३।।

परजीवानहं दु:खितान् सुखितान्श्च करोमि, परजीवैर्दु:खित: सुखितश्च क्रियेऽहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्। स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टि:, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टि:।।२५३।।

अब यह कहते हैं कि दु:ख-सुख करने के अध्यवसाय की भी यही गति है:-

जो आपसे माने दु:खीसुखी, मैं करूँ परजीव को।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है।।२५३।।

गाथार्थ : [य:] जो [इति मन्यते] यह मानता है कि [आत्मना तु] अपने द्वारा [सत्त्वान्] मैं (पर) जीवों को [दु:खितसुखितान्] दु:खी-सुखी [करोमि] करता हूँ, [स:] वह [मूढ:] मूढ (-मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तू] और [अत: विपरीत:] जो इससे विपरीत है, वह [ज्ञानी] ज्ञानी है।

टीका : 'परजीवों को मैं दु:खी तथा सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दु:खी तथा सुखी करते हैं' इस प्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है, वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है, वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ : यह मानना अज्ञान है कि- 'मैं परजीवों को दु:खी या सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दु:खी या सुखी करते हैं।' जिसे यह अज्ञान है, वह मिथ्यादृष्टि है; और जिसके यह अज्ञान नहीं है, वह ज्ञानी है-सम्यग्दृष्टि है।

प्रवचन नं. ३२०, गाथा - २५३ से २५६ मंगलवार, आसोज शुक्ल ४
दिनाङ्क २५-०९-१९७९

(समयसार, २५३) **अब यह कहते हैं कि दु:ख-सुख करने के अध्यवसाय की भी यही गति है:-** क्या कहा? मैं पर को जिला सकता हूँ या पर को मार सकता हूँ अथवा पर मुझे जिला सकते हैं और मार सकते हैं, यह अध्यवसाय मिथ्या अज्ञानभाव है। कोई किसी को मार नहीं सकता, किसी को बचा नहीं सकता। (मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ,) यह अभिप्राय मिथ्यादृष्टि का मिथ्या है।

ज्ञानी को—सम्यग्ज्ञानी को ऐसा कोई विकल्प-राग आता है, जब तक वीतराग नहीं हुए, सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानी है तो राग आता है कि मैं पर को जिलाऊँ। परन्तु ऐसा मानता है कि मैं तो निमित्तमात्र हूँ। उसे बचाया या उसे जिलाया है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इसमें संस्कृत टीका में है, निमित्तमात्र हूँ। संस्कृत टीका में है। आहाहा! क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं के शुद्धस्वरूप का ज्ञान, भान और ध्यान है, तथापि वीतराग नहीं है, इसलिए विकल्प-राग आता है कि पर को जिलाऊँ, ऐसा विकल्प आया। परन्तु पर को जिलाता हूँ या मारता हूँ, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! समझ में आया? और ज्ञानी को ऐसा विकल्प भी आता है कि कोई जीव मुझे जिलाता है, ऐसा विकल्प आता है परन्तु ऐसा मानता है कि वह चीज़ तो निमित्तमात्र है। मुझे जिला सकता है या मार सकता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

अब यहाँ सुख-दु:ख (की बात करते हैं)। मैं पर को सुख-दु:ख दे सकता हूँ और पर से मुझमें सुख-दु:ख होता है, यह भी मिथ्या अभिप्राय है, मिथ्याश्रद्धा है।

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।२५३।।

जो आपसे माने दु:खीसुखी, मैं करूँ परजीव को।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है।।२५३।।

टीका : 'परजीवों को मैं दु:खी तथा सुखी करता हूँ... मैं परजीवों को

सुविधा दे सकता हूँ और परजीवों को असुविधा दे सकता हूँ। है ? आहा! **दु:खी तथा सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दु:खी तथा सुखी करते हैं...** परजीव मुझे प्रतिकूल संयोग देते हैं और मुझे अनुकूलता देते हैं, यह अध्यवसाय मिथ्यादृष्टि का है। है ?

मुमुक्षु : ऐसा बनता तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बनता कहाँ है ? यह तो निमित्तमात्र कहा। ज्ञानी को भी ऐसा विकल्प आवे कि आहार-पानी दूँ तो यह हो, परन्तु वह मानता है कि वह चीज़ तो जानेवाली थी। मैं तो निमित्तमात्र हूँ। मैंने आहार-पानी दिये और पैसा दिया तो वह सुखी हुआ, ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। आहाहा! सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थन में। समझ में आया ? आहाहा!

पर को मैं सुखी-दु:खी करता हूँ—ऐसा मिथ्यादृष्टि मानता है। सम्यग्दृष्टि को ऐसा विकल्प आता है कि पर को मैं सुविधा दूँ अथवा यह मनुष्य बैरी-शत्रु है। समकिती भी युद्ध करता है न ? आहा! सम्यग्दृष्टि भी युद्ध करता है। भाई लड़े—बाहुबली और भरत। परन्तु वे अन्तर में समझते हैं कि मैं तो निमित्तमात्र हूँ, यह सब क्रियाएँ होती हैं, वे उसके कारण से—पुद्गल के कारण से होती है। आहाहा! मैं उसे मार सकता हूँ, चक्र चढ़ाते हैं वह विकल्प आया है, बस! मैंने चक्र चढ़ाया, ऐसा नहीं मानते। आहाहा! ऐसी बात है। और जितना विकल्प आता है, जितना राग है और दु:ख है, ऐसा सम्यग्दृष्टि मानते हैं। समझ में आया ? अरे! मेरा आनन्दस्वभाव, मेरे अनाकुल आनन्दस्वभाव में मैं रह सका नहीं तो यह राग आया; राग आया, वह दु:ख है। आहाहा! समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को राग होता ही नहीं और दु:ख होता ही नहीं, ऐसा नहीं है। स्वामित्व नहीं है। वे राग के स्वामी नहीं होते तथा पर को मैं दु:खी-सुखी करता हूँ, ऐसा नहीं मानते। वे चीज़ें जाने योग्य थीं, इसलिए गयीं। प्रतिकूलता होनेयोग्य थी, इसलिए हुई। उसमें तो मैं निमित्तमात्र हूँ। आहाहा! ऐसी बातें। भारी कठिन बात, भाई!

यह कर क्या सके ? अभिप्राय में एकताबुद्धि करे। मैं पर को करूँ या सुखी-दु:खी करूँ। परन्तु पर को सुखी-दु:खी कर तो नहीं सकता। ऐसे ही ज्ञानी को राग भी आता है कि परजीव को न मारूँ, परजीव को आहार-पानी दूँ, ऐसा विकल्प (आता है)। वह

आहार-पानी जाता है, वह मुझसे जाता है, ऐसा नहीं मानते। सुमेरुमलजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा! दोनों में टीका में लिया है, भाई!

मुमुक्षु : मुनि को आहार देना या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहार कौन दे? आहार देने की क्रिया होनेवाली होगी, उसमें राग निमित्तमात्र है, शुभभाव है। आहाहा! आहार की चीज़ मैं दे सकता हूँ, ऐसा नहीं मानते। वह तो जड़ है, जड़ को जाना है तो जाता है। मुझे राग आया, मैं निमित्तमात्र हूँ। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई!

मुमुक्षु : निमित्तमात्र हूँ अर्थात् कुछ करता नहीं...

पूज्य गुरुदेवश्री : पर को कुछ नहीं करता। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं आहार-पानी देता ही नहीं। आहाहा! भरत ने चक्र चलाया (परन्तु अन्दर ऐसा मानते हैं कि) मैंने चक्र चलाया नहीं। मुझमें जरा द्वेष आया, उसके कारण से चक्र (चलाने में) निमित्त हुआ। उस द्वेष का भी ज्ञानी को तो दुःख होता है। आहाहा! मेरे आनन्द में मैं रह नहीं सका, मेरा प्रभु तो अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। अतीन्द्रिय महापदार्थ, आया न? १९२। अतीन्द्रिय महापदार्थ में मैं स्थिर न रह सका तो ऐसा विकल्प आया कि पर के ऊपर चक्र चलाऊँ, पर को प्रतिकूलता दूँ, ऐसा विकल्प आया, तो उस परचीज़ में निमित्तमात्र है। वह चीज़ जाती-आती है, उसके वे स्वामी नहीं हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : विकल्प के तो स्वामी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; उस विकल्प के स्वामी नहीं। विकल्प, मुझमें पर्याय की निर्बलता से कर्ता होकर आता है, करनेयोग्य है इस अपेक्षा से नहीं परन्तु मुझमें राग का परिणमन होता है, मुझमें हुआ है, मेरी कमजोरी के कारण से हुआ है, ऐसा जानते हैं। परन्तु राग मेरी चीज़ है, ऐसा नहीं मानते। आहाहा! अरे! तो भी ज्ञानी को जितना राग आया, उसका परिणमन मेरा है, ऐसा जानते हैं। कर्म से राग हुआ है, ऐसा नहीं मानते। आहाहा! सूक्ष्म विषय है, भाई! आहाहा! ज्ञानी को विषय की वासना, भोग का राग आता है। आहाहा! वीतराग न हो, तब तक राग तो आता है, परन्तु यह देह की क्रिया होती है, वह मुझसे होती है—ऐसा नहीं मानता। आहाहा!

मुमुक्षु : वास्तव में पर्याय में वह क्रिया होती नहीं या मानता नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मानता नहीं। उससे होती नहीं। देह की क्रिया जो विषय की लेने की, वह देह की क्रिया तो जड़ से होती है। ज्ञानी ऐसा मानता है कि वह मुझसे होती ही नहीं। मैं तो निमित्तमात्र हूँ। द्वेष आया या विषयवासना का राग आया, उस चीज़ में मैं निमित्तमात्र हूँ। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! मार्ग बहुत अलग प्रकार का, भाई! आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा समय-समय का दोष और गुण की व्याख्या करते हैं। आहाहा!

धर्मी जीव ऐसा नहीं मानते कि मैं परजीवों को दुःखी तथा सुखी करता हूँ। है ? है ? आया न ? **परजीव मुझे दुःखी तथा सुखी करते हैं' इस प्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है।** ऐसा अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है। निश्चय से अज्ञान है। आहाहा! पैसा, आहार, वस्त्र, भूखे को आहार, प्यासे को पानी, रोगी को औषध, जमीन न हो उसे जमीन देना, वह क्रिया मेरी है—ऐसा धर्मी नहीं मानते। अज्ञानी मानते हैं कि मैं यह करता हूँ। आहाहा! ऐसा खेल है। है ?

मुमुक्षु : दो में से सच्चा किसका ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों का सच्चा है। अज्ञानी को खोटा अभिप्राय है, वह सच्चा है और ज्ञानी को राग आता है, परन्तु अभिप्राय खोटा नहीं, यह भी सच्चा है। आहाहा!

राग आता है, वह मन-वचन और काया से राग नहीं आता। तथा कर्म से राग नहीं आता। धर्मी ऐसा मानते हैं कि मेरी कमजोरी के कारण से राग आया है और किसी प्रकार से राग छूटता नहीं, (इसलिए) उस प्रकार के इलाज में वह जुड़ता है। परन्तु यह क्रिया मैं कर सकता हूँ, ऐसा नहीं मानता। अब यह बात अजबगजब की बात है, भाई! आहाहा! यह टीका में लिया, दोनों में—इसमें और उसमें। समकिती को परजीव को दुःखी करने का विकल्प आता है, परन्तु परजीव को मैं दुःखी कर सकता हूँ, ऐसा नहीं मानते। आहाहा!

अज्ञानी, पर को मैं असुविधा दे सकता हूँ; इसलिए वह मर गया, मैंने जहर दिया तो वह मर गया, (ऐसा मानता है)। ज्ञानी कहता है कि कदाचित् ऐसा विकल्प आया, परन्तु

जहर देने का भाव, जहर का भाव मेरा नहीं है। जहर की चीज़ तो जड़ की है। अरेरे! ऐसी बातें हैं। भरत ने बाहुबली पर चक्र चलाया, तो द्वेष का विकल्प आया था, परन्तु चक्र मैंने चलाया, ऐसा वे नहीं मानते। अब यह कौन माने?

मुमुक्षु : चक्र चलाया किसने?

पूज्य गुरुदेवश्री : जड़ से। जड़ में क्रियावतीशक्ति है, उससे चक्र चलता है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : चक्र ने स्वयं अपने को चलाया?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं स्वयं से चला। चक्र क्या, परमाणु चौदह ब्रह्माण्ड चला जाता है। सातवें नरक में एक परमाणु हो, वह सिद्ध भगवान तक एक समय में गति करके चला जाता है। उसकी क्रियावतीशक्ति का ऐसा स्वभाव है। आहाहा! चौदह ब्रह्माण्ड में एक समय में परमाणु चला जाता है। तो यहाँ से यहाँ जाना यह तो साधारण बात है।

मुमुक्षु : सिद्ध भगवान तो सात राजुलोक जाये, परमाणु चौदह राजुलोक जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : चौदह राजुलोक जाता है। सिद्ध हों तो सात राजु जाते हैं। यह (परमाणु) तो नीचे से ऊपर चौदह राजु (जाए)। वस्तु का स्वभाव स्वतः है। आहाहा! यह परमाणु की गति, यह शरीर की गति होती है, यह देखो न यहाँ। वह आत्मा से होती है, यह बिल्कुल झूठ है। विकल्प आया कि मैं हाथ को चलाऊँ, ऐसा विकल्प आया, बस! परन्तु हाथ चलता है, वह मुझसे नहीं चलता। अज्ञानी ऐसा मानता है कि विकल्प आया और हाथ मुझसे चला। यह अन्तर है। आहाहा! बड़ा अन्तर है।

आचार्य ने टीका लिखी न? टीका। टीका जो हुई है, वह मुझसे नहीं हुई, वह तो शब्दों की पर्याय से हुई है। मुझे तो विकल्प आया था तो मैं तो निमित्तमात्र हूँ। आहाहा! ऐसी टीका गणधर जैसी टीका बनायी। प्रभु! मैंने नहीं बनायी, हों! ऐसा अन्त में आया न? मोह से मत नाच। यह परमाणु की पर्याय उस समय में टीकारूप होने की थी तो हुई है, मुझे विकल्प था तो उसमें मैं निमित्तमात्र हूँ।

मुमुक्षु : अपने पण्डितजी ने इतने सब तरजूमा किये, वे सब पानी में गये?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तरजूमा किये वे सब मुफ्त। ऐई! सब इकट्ठा करके मोक्षशास्त्र बनाया है न? और हिम्मतभाई ने यह सब अर्थ किये हैं। हिम्मतभाई ने ये सब अर्थ किये नहीं? गुजराती (किया), संस्कृत में से गुजराती (किया), लो! यह तो संस्कृत पढ़े हुए कर सकते हैं। शब्द के अर्थ करना वह ... आहाहा! परन्तु यह अक्षर बनाना, वह आत्मा की क्रिया नहीं है। ओहोहो! समझ में आया?

वह अध्यवसाय जिसके है... मैं पर को प्रतिकूलता दे सकता हूँ परन्तु प्रतिकूलता का अर्थ क्या? वह तो असाता के उदय से उसे प्रतिकूलता होती है। तू दे सकता है? और उसे अनुकूलता हो, साता के उदय से अनुकूल सामग्री मिलती है। यहाँ निमित्त से कथन है, हों!

मुमुक्षु : बहिन-लड़कियाँ आवे और वे कुछ माँगे तो उन्हें ऐसा कहना न, वह तो उसके कारण से आयेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके कारण से आता है, उसके कारण से आता है, इसके कारण से कहाँ (आता है)? आहाहा! यह दहेज... क्या कहलाता है? करियावर। दहेज देते हैं तो मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है कि मैंने लड़की को दस हजार का, एक लाख का दहेज दिया। लाख-लाख तो अभी मारवाड़ी में बहुत खर्च करते हैं। लड़की के विवाह में लाख-लाख देना यह तो साधारण बात है। पाँच-पच्चीस लाख होवे तो लाख तो खर्च करे, उसमें क्या वहा? पाँच-पच्चीस तोला सोना दिया, दस तोला ऐसे दिया और क्या कहलाता है? पंखा दिया और इतनी साड़ियाँ और इतने यह और... अज्ञानी ऐसा मानता है, मैंने यह किया।

मुमुक्षु : बरामदे में गद्दे डालकर बतावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बताता है। हमने देखा है न। हमारे घर में हुआ है न। छोटी उम्र में देखा है। हमारी बहिन को (दिया था, वह देखा है)। अज्ञानी उसका स्वामी होता है। पर को सुखी-दुःखी करता हूँ। आहाहा! लड़की को साधारण घर में दी हो, दामाद साधारण हो और स्वयं पैसेवाला हो तो उसकी सुविधा के लिये दस लाख दे, पाँच लाख दे, पश्चात् दामाद प्रतिकूल हो नहीं। ऐसा बनता है न? संसार में अनेक होली बनती

है। भाई! यह सब बनता है। आहाहा! यह तो क्या चीज़? परमाणु की चीज़ थी, वह क्षेत्रान्तर होने की योग्यता से स्वयं से क्षेत्रान्तर हुआ। दूसरा ऐसा कहे कि मैंने दिया, ऐसा है नहीं।

धर्मी जीव—समकिती को भी लड़की हो, चक्रवर्ती को नहीं होती? बत्तीस हजार पुत्रियाँ, बत्तीस हजार दामाद। उसे जो दहेज देता है, वह तो करोड़ों का दहेज होता है, करोड़ों रुपये का दहेज! घर में नवनिधान हैं, परन्तु वह समकिती जानता है कि वह चीज़ वहाँ जानेवाली थी, वह गयी है, मैं तो निमित्तमात्र हूँ। निमित्त का अर्थ मैं उसका कर्ता नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ है। समझ में आया?

वह अध्यवसाय जिसके है, वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है;... आहाहा! मैं पर को पानी पिलाता हूँ, यह प्याऊ... प्याऊ बाँधते हैं न? प्याऊ। गर्मी में पानी की प्याऊ (बाँधते हैं)। मैंने पानी की प्याऊ बाँधी है। अनाज की वह (भोजनशाला) की है, बड़ी धर्मशाला बनाते हैं न? अनाज पकावे, फिर चाहे जो गरीब व्यक्ति आओ। यह पालीताना में तो साधु के लिये बनाते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : साधु के लिये बनाया जाए?

पूज्य गुरुदेवश्री : बनाते हैं न, देते हैं न। रास्ते में मन्दिर आता है। उनके लिये बनावे, सब वहाँ से ले जाये। वे साधु कहाँ हैं? और देनेवाले को भी कहाँ कुछ खबर है? आहाहा! अरेरे! क्या हो? भाई! एक अनाज का ग्रास भी किसी को देना, वह अपनी क्रिया नहीं। वह तो ग्रास के परमाणु वहाँ जाने वाले थे, वे गये। इसके साता के उदय के कारण से (गये)। यहाँ तो वह लेता है। उसके कर्म के उदय के कारण से वहाँ सुविधा मिली है और असाता के उदय के कारण से वहाँ असुविधा मिली है, ऐसा यहाँ कहेंगे। आहाहा!

और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है, वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है। धर्मी जीव का तो वह अध्यवसाय नहीं है कि मैं पर को प्रतिकूलता दे सकता हूँ। मैं तो निमित्तमात्र हूँ, वह प्रतिकूलता उसके असाता के उदय के कारण मिली है। और उसके साता के उदय के कारण से उसे अनुकूलता मिली, मैं तो निमित्तमात्र हूँ। निमित्त का अर्थ—उसका कुछ कर्ता नहीं। आहाहा! अरे! ऐसी बातें हैं। **वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि**

है। सम्यग्दृष्टि जीव अपना स्वरूप ज्ञान, दर्शन, आनन्द है—ऐसा जिसे अन्तर में ध्रुव स्वरूप की प्राप्ति हुई है... आहाहा! दोपहर को आया था न? शुद्धात्मारूपी ध्रुव, शुद्धात्मा ध्रुव वह दृष्टि में, ज्ञान की पर्याय में प्राप्त हुआ है, वह सम्यग्दृष्टि पर को कुछ दे सकता हूँ, या ले सकता हूँ, ऐसा अध्यवसाय उन्हें नहीं है। आहाहा! ज्ञाता-दृष्टा है। यह क्रिया होती है, उसमें वह ज्ञाता-दृष्टा है। जानने-देखनेवाला हूँ। निमित्त हूँ, इसका अर्थ यह कि मैं जाननेवाला-देखनेवाला हूँ। आहाहा!

भावार्थ :- मैं परजीवों को दुःखी... (कर सकता हूँ) ऐसा मानना वह अज्ञान है। एक प्राणी विरोधी था, मन्दिर बनता था, मन्दिर, तो मन्दिर बनता था, उसकी जो ईंटें होती हैं न, ईंटे? आहाहा! तो वहाँ अपनी चोरी की ईंट रखवा दी। ऐसा कि अब यह हैरान होगा। आहाहा! अपनी ईंट हो उसे मन्दिर में लगवा दी अर्थात् ऐसा कि की की चोरी (की इसलिए) गुनेहगार होगा। परन्तु तूने किया उसमें वह गुनहगार (होगा ?) उसे तो खबर भी नहीं। समझ में आया? अपना बैर लेने के लिये मन्दिर में अथवा मन्दिर की कोई चीज़ है उसे अपने घर में ले ली। उसका घर चिनता (बनाता) हो, तो मन्दिर की एक चीज़ वहाँ रख दी। यह दुःखी होगा और पाप बँधेगा, ऐसा है नहीं। आहाहा! उसे तो खबर भी नहीं कि यह मन्दिर की चीज़ मेरे मकान में कोई रख गया है। ईंट के साथ ईंट थी। आहाहा! अध्यवसाय करनेवाला (ऐसा मानता है कि) मैंने उसे दुःखी करने के लिये ऐसी प्रतिकूलता दी। धर्म का क्या कहलाये वह... ? धर्म का-दान। धर्म का क्या कहलाये वह सब?

मुमुक्षु : देवद्रव्य।

पूज्यगुरुदेवश्री : देवद्रव्य... देवद्रव्य। देव का द्रव्य लेकर उसे दे दिया। परन्तु उसे तो खबर भी नहीं। अज्ञानी मूढ़ ऐसा (मानता है)। आहाहा! प्रभु! वह परमाणु एक परमाणु को हिला नहीं सकता, आँख की पलक हिलती है, उसे हिला नहीं सकता। आहाहा! समझ में आया? भागचन्दजी! आया है न तुम्हारे? 'स्वयं होता विश्व परिणाम' जगत के परमाणु, आत्मा आदि की जो पर्याय होती है, वह स्वयं उससे होती है। पर से होती है—ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह मानना अज्ञान है कि–'मैं परजीवों को दु:खी या सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दु:खी या सुखी करते हैं।' आहाहा! बाहुबली के चक्र आया, वे समकिती थे। वे जानते थे कि मेरे असाता के उदय के कारण से ऐसा योग आया, संयोग आया। भरत ने दिया, ऐसा नहीं मानते। आहाहा! समझ में आया? भरत का इतना जरा द्वेष का भाव था। परन्तु उस द्वेष के कारण वह चक्र मेरा सिर काटने आया, ऐसा नहीं मानता। अरे! अब ऐसी बातें। आहा!

जिसे यह अज्ञान है... कि मैं पर को सुखी-दु:खी करता हूँ और पर से मैं सुखी-दु:खी होता हूँ, ऐसा जिसे अज्ञान है, **वह मिथ्यादृष्टि है; और जिसके यह अज्ञान नहीं है, वह ज्ञानी है–सम्यग्दृष्टि है।** आहाहा! (यह) एक प्रकार का अभिप्राय (हुआ), सम्यग्दर्शन के अभिप्राय तो बहुत (प्रकार के) हैं, मिथ्या अभिप्राय के (प्रकार) भी बहुत हैं, परन्तु यह एक प्रकार का (अभिप्राय) कहा।

गाथा - २५४ से २५६

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् -

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते।।२५४।।

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं।।२५५।।

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं।।२५६।।

कर्मोदयेन जीवा दु:खितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे।
कर्म च न ददासि त्वं दु:खितसुखिता: कथं कृतास्ते।।२५४।।

कर्मोदयेन जीवा दु:खितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे।
कर्म च न ददति तव कृतोऽसि कथं दु:खितस्तै:।।२५५।।

कर्मोदयेन जीवा दु:खितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे।
कर्म च न ददति तव कथं त्वं सुखित: कृतस्तै:।।२५६।।

सुखदु:खे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात्; स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं, तस्य स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात्; ततो न कथञ्चनापि अन्योऽन्यस्य सुखदु:खे कुर्यात्। अत: सुखितदु:खितान् करोमि, सुखितदु:खित: क्रिये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।।२५४-२५६।।

अब यह प्रश्न होता है कि अध्यवसाय अज्ञान कैसे है? इसका उत्तर कहते हैं-

जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दु:खित अवरु सुखी बने।
तू कर्म तो देता नहीं, कैसे तू दुखित सुखी करे?।।२५४।।

जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दु:खित अवरु सुखी बनें।
वो कर्म तुझ देते नहीं, तो दुखित तुझ कैसे करें?।।२५५।।

जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दु:खित अवरु सुखी बनें।
वो कर्म तुझ देते नहीं, तो सुखित तुझ कैसे करें?।।२५६।।

गाथार्थ : [यदि] यदि [सर्वे जीवा:] सभी जीव [कर्मोदयेन] कर्म के उदय से [दु:खितसुखिता:] दु:खी-सुखी [भवंति] होते हैं, [च] और [त्वं] तू [कर्म] उन्हें कर्म तो [न ददासि] देता नहीं है, तो (हे भाई!) तूने [ते] उन्हें [दु:खितसुखिता:] दु:खी-सुखी [कथं कृता:] कैसे किया?

[यदि] यदि [सर्वे जीवा:] सभी जीव [कर्मोदयेन] कर्म के उदय से [दु:खिता-सुखिता:] दुखी-सुखी [भवंति] होते हैं, [च] और वे [तव] तुझे [कर्म] कर्म तो [न ददति] नहीं देते, सो (हे भाई!) [तै:] उन्होंने [दु:खित:] तुझको दु:खी [कथं कृत: असि] कैसे किया?

[यदि] यदि [सर्वे जीव:] सभी जीव [कर्मोदयेन] कर्म के उदय से [दु:खित-सुखिता:] दु:खी-सुखी [भवंति] होते हैं, [च] और वे [तव] तुझे [कर्म] कर्म तो [न ददति] नहीं देते, तो (हे भाई!) [तै:] उन्होंने [त्वं] तुझको [सुखित:] सुखी [कथं कृत:] कैसे किया?

टीका : प्रथम तो, जीवों को सुख-दु:ख वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में सुख-दु:ख होना अशक्य है; और अपना कर्म दूसरे द्वारा दूसरे को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह (अपना कर्म) अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसलिए किसी भी प्रकार से एक-दूसरे को सुख-दु:ख नहीं कर सकता। इसलिए यह अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है कि 'मैं परजीवों को सुखी-दु:खी करता हूँ और परजीव मुझे सुखी-दु:खी करते हैं।'

भावार्थ : जीव का जैसा आशय हो, तदनुसार जगत में कार्य न होते हों तो वह आशय अज्ञान है। इसलिए, सभी जीव अपने-अपने कर्मोदय से सुखी-दु:खी होते हैं, वहाँ यह मानना कि 'मैं पर को सुखी-दु:खी करता हूँ और पर मुझे सुखी-दु:खी करता है' सो अज्ञान है। निमित्तनैमित्तिकभाव के आश्रय से (किसी को किसी के) सुखदु:ख का करनेवाला कहना, सो व्यवहार है; जो कि निश्चय की दृष्टि में गौण है।

गाथा - २५४ से २५६ पर प्रवचन

अब यह प्रश्न होता है कि अध्यवसाय अज्ञान कैसे है? इसका उत्तर कहते हैं-

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते।।२५४।।

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं।।२५५।।

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं।।२५६।।

कम्मोदएण जीवा... भाषा देखो! कर्म के उदय के कारण— भाषा ऐसी है। है? हरिगीत।

जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दु:खित अवरु सुखी बने।
तू कर्म तो देता नहीं, कैसे तू दुखित सुखी करे?।।२५४।।

जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दु:खित अवरु सुखी बनें।
वो कर्म तुझ देते नहीं, तो दुखित तुझ कैसे करें?।।२५५।।

जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दु:खित अवरु सुखी बनें।
वो कर्म तुझ देते नहीं, तो सुखित तुझ कैसे करें?।।२५६।।

टीका : प्रथम तो, जीवों को सुख-दु:ख वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है,... यहाँ तो निमित्त से कथन है। सुख-दु:ख का अर्थ जो अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलते हैं, वे कर्मोदय से है, परन्तु सुख-दु:ख की कल्पना करना, वह तो इसका अपराध है। समझ में आया? परन्तु कर्मोदय से अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलते हैं, वहाँ तक (लेना), बस! और फिर यह माने कि मैं सुखी-दु:खी हूँ, यह तो और इसकी कल्पना है। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! तत्त्व, तत्त्व भिन्न हैं, उसमें एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का क्या करे? आहाहा!

प्रथम तो, जीवों को सुख-दु:ख वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है,...

अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिले, वह तो अपने कर्मोदय से (मिलते) हैं, पर के कारण से नहीं। **क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में सुख-दुःख होना अशक्य है;...** यदि कर्मोदय न हो तो अनुकूलता-प्रतिकूलता नहीं मिलती। आहाहा! साता का उदय हो तो अनुकूल सामग्री मिलती है, असाता का उदय हो तो प्रतिकूलता मिलती है। आहा! **अपने कर्मोदय के अभाव में सुख-दुःख होना अशक्य है;...** यदि अपने कर्म का उदय न हो तो अनुकूल-प्रतिकूल मिलना अशक्य है।

और अपना कर्म दूसरे द्वारा दूसरे को नहीं दिया जा सकता,... आहाहा! अपना कर्म दूसरे से दूसरे को दिया नहीं जा सकता। आहाहा! पूर्व में अपने परिणाम से जो कर्म उपार्जन किया है, वह उदय में आता है तो अनुकूल-प्रतिकूल (संयोग) मिलते हैं तो किसी का कर्म किसी को देता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! यह पैसे देनेवाले यश के लोभी होवे तो 'मैंने पैसा दिया' तो मेरा यश जमेगा, (ऐसा मानते हैं)। परन्तु उनके कर्म के उदय के कारण से पैसे गए, सामनेवाले का साता का उदय है तो पैसा वहाँ गया। समझ में आया? अब ऐसी बातें।

यह वापस तेरापंथी जैसा नहीं, हों! तेरापंथी (श्वेताम्बर) तो कहते हैं कि पर को जिलाने का भाव है, वह पाप है। ऐसा नहीं है। उसे जिलाने का भाव है, वह तो शुभभाव है, परन्तु जिला सकता हूँ, ऐसी बात नहीं है। समझ में आया? तुम्हारे तेरापंथी ऐसा मानते हैं न? ऐई! तुलसी... तुसली! सरदारशहरवाले लाडनू के हैं। जन्म लाडनूं में (हुआ)। आहाहा! सरदारशहर में बहुत हैं न! बहुत बस्ती है। आहाहा! पर को आहार-पानी देना, वह पाप है—ऐसा नहीं। आहार-पानी दे सकता नहीं, वह दूसरी बात है और देता है तो पाप है—ऐसा नहीं। दूसरे को आहार-पानी देने का भाव है, वह भाव शुभभाव है, परन्तु आहार-पानी दे सकता हूँ—ऐसा नहीं है। अब ऐसी बातें कहाँ (सुनने को मिले)? दुनिया के साथ मेल नहीं खाता। हैं?

मुमुक्षु : भगवान का दुनिया के साथ मेल खाये या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान को माननेवाले का आत्मा को माननेवाले के साथ मेल खाता है। आत्मा जो है, वह तो ज्ञाता-दृष्टा है। विकल्प आता है, इसका भी स्वामी नहीं।

अपना परिणमन मानता है, मुझमें उतना दुःख है। आहाहा! वह कर्म के उदय से नहीं, आहाहा! मेरी कमजोरी से मैं राग में आता हूँ, (उतना) मुझे दुःख है। आहाहा! मेरे आनन्द से विपरीत भाव है और जितना मेरा आत्मा शुद्ध चैतन्य का मुझे दृष्टि और अनुभव हुआ, उतना मुझे आनन्द है और जितना राग आता है, उतना मुझे दुःख है। मेरी दशा मिश्र है, ऐसे सब समकिती मानते हैं। केवली को पूर्ण आनन्द है; मिथ्यादृष्टि को पूर्ण दुःख है; ज्ञानी को दुःख और सुख दोनों हैं। आहाहा! थोड़ा आनन्द है, थोड़ा दुःख है। दुःख मिटाने का अभिप्राय है, परन्तु जब तक दुःख न मिटे, तब तक स्थिरता नहीं होती। आहाहा! आहाहा! सूक्ष्म बात है। लो, किसी को सुखी-दुःखी नहीं कर सकता, किसी को कुछ नहीं कर सकता, वह आर्यधर्म से विरुद्ध है, ऐसा कहते हैं। एक (व्यक्ति ऐसा कहता) है। अरे! प्रभु! सुन तो सही। आर्य किसे कहते हैं? आहाहा! आत्मा पर को सुख-दुःख की सामग्री दे सकता है, ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं है।

मुमुक्षु : सामग्री से सुखी-दुःखी होता है ही कहाँ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अभी नहीं लेना। यहाँ से इसे अनुकूल-प्रतिकूल देता है, बस इतना। पश्चात् सुखी-दुःखी होता है, वह और दूसरी बात। वह तो और अपनी कल्पना (करता है), वह दूसरी बात। यहाँ तो उसे सुख-दुःख की सामग्री दी, वह मैंने दी, इतनी बात। वह झूठ है। क्योंकि उसके कर्म के उदय के कारण से, ऐसा कहा न? सुख-दुःख का वेदन उदय के कारण से, ऐसा नहीं। परन्तु उसे अनुकूल-प्रतिकूल मिला, वह उसके कर्म के उदय से। वह उदय भी निमित्त है। उस सामग्री का उपादान, उसके जाने की योग्यता से गयी है। कर्म तो निमित्त है। यहाँ संक्षिप्त कथन करना है, कि कर्म के उदय से उसे अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री मिलती है। आहाहा! समझ में आया?

भाई ने डाला है न? कि यह पैसा आदि मिलता है, वह पुण्य का उदय है परन्तु वह चीज़ है, वह चौबीस परिग्रह में परिग्रह है; इसलिए पाप है, भले बाह्य है। परन्तु उसे पैसे के भोगने का भाव है तो वह पाप है और उस पैसे का धर्मानुराग के लिये खर्च करने का भाव है तो वह पुण्य है। धर्म तो नहीं। आहाहा! ऐसा गले उतरना, (कठिन पड़े)। आहाहा! यह आया न?

प्रथम तो, जीवों को सुख-दुःख... यहाँ सुख-दुःख का अर्थ सामग्री लेना। सुख-दुःख का संयोग। वह **वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है,...** वास्तव में तो उसके साताकर्म का उदय होवे तो अनुकूलता मिले, असाता का उदय होवे तो प्रतिकूलता मिले। दूसरा दे सके, ऐसा नहीं है। आहाहा! देखो न, साधारण प्राणी हो, बुद्धि अल्प हो तो भी अरबों रुपये होते हैं और बुद्धिवाला प्राणी हो तो भी दो हजार कमाना हो तो पसीना उतरता हो। वह तो पूर्व के पुण्य के कारण से सामग्री है। यहाँ तो यह लेना है। कर्मोदय से परिणाम में सुखी-दुःखी होता है, वह बात यहाँ नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी अटपटी बातें।

मुख्य बात तो यह है, प्रथम का अर्थ है न? 'तावत्'। संस्कृत में 'तावत्' पाठ है। मुद्दे की बात तो यह है कि **जीवों को सुख-दुःख वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है,...** कर्मोदय से ही होता है। (अर्थात् कि) अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री, उसके सुख-दुःख के वेदन की यहाँ बात नहीं है। समझ में आया? आहाहा! **क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में सुख-दुःख होना अशक्य है;...** साता-असाता का उदय न हो तो उसे अनुकूल-प्रतिकूल मिलना अशक्य है। आहाहा!

और अपना कर्म दूसरे द्वारा दूसरे को नहीं दिया जा सकता,... अपना जो कर्म है, वह दूसरे को दिया नहीं जा सकता तो तूने क्या दिया? **क्योंकि वह (अपना कर्म) अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है;...** वह कर्म अपने पूर्व के परिणाम से उपार्जित हुए हैं, साता-असाता बँधी, उसका उदय आया तो अनुकूल-प्रतिकूल (सामग्री) मिली। वह तो अपने परिणाम से कर्म उत्पन्न हुआ था। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

(अपना कर्म) अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है;... भाषा देखो! यहाँ तो कर्म के निमित्त से अनुकूलता-प्रतिकूलता मिलती है, इतना सिद्ध करना है। वरना परिणाम से कर्म उत्पन्न हुए (ऐसा कहा) परन्तु कर्म तो कर्म की पर्याय से उत्पन्न होते हैं। परिणाम शुभ किये तो पुण्यबन्धन हुआ, वह तो परमाणु की पर्याय से बन्धन हुआ, परन्तु यह निमित्त से कथन है। समझ में आया? अपने परिणाम से कर्म बँधे थे, ऐसा। दूसरी जगह ऐसा कहते हैं कि अपने परिणाम पर के बन्ध के परिणाम नहीं कर सकते। कर्म की पर्याय

का बन्धन है, वह तो कर्म से होती है। यहाँ तो इसके परिणाम को निमित्तरूप से बतलाकर उसने बाँधा, ऐसा व्यवहार से कहने में आया और उसका उदय आया तो अनुकूल-प्रतिकूल (सामग्री) मिली, वह भी स्वतः है, परन्तु कर्म का उदय निमित्त है और अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री मिली, वह उसके उपादान से उससे है। आहाहा! ऐसी बातें अब। हैं? बहुत सूक्ष्म बात, बापू! और उसमें यश के लोभी बाहर में पैसा खर्च करे। पैसे का लोभ टालने को यश के लिये पैसा भी खर्च करे। आहाहा! जगत के यश के लिये पैसे का लोभ भी घटा दे, उस यश का लोभ है इसलिए। आहाहा! इसी प्रकार इस जीवत्व के लोभ के लिये भी पैसे का लोभ घटा दे, पच्चीस-पचास हजार, लाख दे दे। शरीर को ठीक न रहे इसलिए। आहाहा!

भाई तो यहाँ तक कहते हैं, पैसे में लोभ करने की कोई चीज़ नहीं है। पैसे में कोई रूप नहीं है, कोई गन्ध नहीं है, रस नहीं, उसे ज्ञात हो उसकी (बात है), उसमें भले स्वभाव है। कोई रूप है, इसलिए पैसे का लोभ हुआ, (ऐसा नहीं है)। वह तो आवक के कारण पैसे का लोभ है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! स्त्री के शरीर में लोभ हो सके कि सुन्दर है और ऐसा है और वैसा है, परन्तु पैसे के लोभ में क्या है? पैसे में कहाँ सुन्दरता है? सुमेरुमलजी! आहाहा! वह तो अपनी पर्याय में नया (लोभ) खड़ा किया है। आरोपित किया कि इस पैसे का मुझे लोभ है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **अपने परिणाम से ही...** है? पूर्व में जो साता-असाता कर्म का बन्ध था, उसके उदय से यह (सामग्री) मिली। यह साता-असाता का बन्ध अपने परिणाम से किया है। वे परिणाम निमित्त (हुए) और (कर्म) बन्ध (हुआ), परन्तु यहाँ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से उसने उपार्जन किया—ऐसा कहने में आया है। आहाहा! बात-बात में अन्तर। ऐसी बातें हैं, बहुत सूक्ष्म, भाई! **अपने परिणाम से ही...** शब्द है न? आहाहा! जीव को जो कर्मबन्धन होता है, वह अपने परिणाम से बन्ध होता है। ऐसा अर्थ नहीं लेना कि मैंने राग नहीं किया तो कर्म नहीं बँधे। इसलिए राग है तो कर्मबन्ध हुआ, ऐसी यहाँ बात नहीं लेना। यहाँ तो उसमें राग किया था तो वहाँ बन्धन हुआ तो उसने कर्म उपर्जान किया, ऐसा कहने में आया है।

यह प्रश्न भी एक बार हुआ था न? राग न करे तो कर्मबन्धन कैसे हो? राग हुआ

तो कर्मबन्ध होता है। यह तो निमित्त का कथन है। कर्मबन्धन तो उस समय में परमाणु की पर्याय में कर्म होने की योग्यता से बँधे हैं। इसमें राग किया, इसलिए बँधे हैं, यह तो निमित्त का, व्यवहार का कथन है। अरे.. अरे..! ऐसी बातें अब। समझ में आया? समय-समय के परमाणु के और जीव के परिणाम स्वतन्त्र अपने से होते हैं, स्वतन्त्र हैं। कर्म की पर्याय बँधती है... यह 'कर्ता-कर्म (अधिकार में)' आता है कि कर्म की पर्याय बँधती है, वह आत्मा ने परिणाम किये, इसलिए बँधती है, ऐसा नहीं है। परिणाम तो निमित्त है और परमाणु की कर्म पर्याय हुई, वह उपादान से स्वयं से हुई है परन्तु यहाँ तो यह बताना है कि साता-असाता का जो बन्ध पड़ा, (उसका कारण) उसके परिणाम थे, वे निमित्त (थे) तो साता-असाता का उदय आया तो अनुकूल-प्रतिकूल उसे मिला। यह बताना है। अरे! समझ में आया?

इसलिए किसी भी प्रकार से एक-दूसरे को सुख-दुःख नहीं कर सकता। आहाहा! देश की सेवा करते हैं....

मुमुक्षु : सेवा तो कर सकते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं कर सकता। इनने वहाँ किया था न? देखने आते थे न? सब पूछने (आते थे)। क्या कहलाते हैं? ढ़ेबरभाई। रामजीभाई को पूछने आते हैं। महीनों सलाह दी थी। कैद में गये थे। रामजीभाई कैद में गये थे। तुमने क्या सलाह दी? यह तो जगत की चीज़ ऐसी है। आहाहा! और खबर न पड़े और सलाह दी, गाँव को खबर न पड़े तो कोई पकड़े भी नहीं। जो परिणाम किये थे, वे परिणाम तो थे ही। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि अपने परिणाम से पूर्व का साता-असाता का बन्ध हुआ था। वह साता-असाता का उदय आया तो स्वयं के कारण से अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री मिली। दूसरे ने दी, यह बात सत्य नहीं है। आहाहा! इसलिए **यह अध्यवसाय ध्रुवरूप (निश्चय) से अज्ञान है...** ध्रुव... ध्रुव। ध्रुव अर्थात् निश्चय। ध्रुव अर्थात् त्रिकाली, यह नहीं। कल दोपहर को आया कि शुद्धात्मा ध्रुव। वह त्रिकाली ध्रुव। यह ध्रुव अर्थात् निश्चय अज्ञान ऐसा, निश्चय से अज्ञान है। आहाहा! मैं परजीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ और परजीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं, यह निश्चय से अज्ञान है। आहाहा! इसका अर्थ ऐसा नहीं है

कि परजीवों को मैं अनुकूलता दूँ, ऐसे जो भाव हैं, वे भाव पुण्य हैं। सामग्री दे सके नहीं। समझ में आया? मैं परजीवों को जिलाऊँ, बचाऊँ, यह परिणाम पाप है—ऐसा नहीं। वह परिणाम पुण्य है, परन्तु पर को जिला सकता नहीं। आहाहा! यहाँ तेरापंथी की तरह नहीं है कि परजीव को जिलावे तो बाद में हिंसा करेगा, जीकर हिंसा करेगा। वह करे, उसमें तुझे क्या है? आहाहा! पर की दया का भाव आया, वह शुभराग है। शुभराग है, अपने स्वरूप की हिंसा है। अब ऐसी बातें हैं। आता है, परन्तु पुण्य है। वह पुण्य भी अपने स्वरूप की हिंसा है, पाप भी अपने स्वरूप की हिंसा है। आहाहा! ऐसी बातें।

भावार्थ : जीव का जैसा आशय हो... (अर्थात्) अभिप्राय। **(जैसा आशय हो) तदनुसार जगत में कार्य न होते हों...** है? ऐसा अभिप्राय हो, वैसा जगत में कार्य न हो **कार्य न होते हों तो वह आशय अज्ञान है।** तेरे अभिप्राय में है, तद्नुसार नहीं हो सकता। तेरा अभिप्राय ऐसा है कि मैं सुखी कर सकता हूँ (परन्तु) ऐसा नहीं होता। मैं पर को हैरान कर सकता हूँ, ऐसा नहीं होता। तेरी मान्यता अज्ञान है। तेरी मान्यता प्रमाण वहाँ कार्य नहीं होता। आहाहा! बहुत कठिन काम। समझ में आया? आहाहा!

सभी जीव अपने-अपने कर्मोदय से... देखो! इस कारण से सब जीव, प्रत्येक आत्मा, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय सर्व **अपने-अपने कर्मोदय से सुखी-दुःखी होते हैं...** आहाहा! **वहाँ यह मानना कि 'मैं पर को सुखी-दुःखी करता हूँ और पर मुझे सुखी-दुःखी करता है' सो अज्ञान है।** मिथ्यात्व है, महापाप है, महाअसत्य मिथ्यात्व का पाप है। असत्य बोलने की बात अलग और इस असत्य मान्यता की बात अलग। असत्य बोलने में चारित्र का दोष है और यह मान्यता मिथ्यात्व का दोष है। आहाहा! समझ में आया? जो अनन्त-अनन्त संसार का कारण ऐसा मिथ्यात्व।

उन्होंने—भाई ने तो अनन्तानुबन्धी का ऐसा लिया है, ऐसा कि एक का भी कर्ता है तो अनन्त का कर्ता है, इसलिए अनन्तानुबन्धी है, ऐसा लिया है। वास्तव में तो मिथ्यात्व, वह अनन्त है और अनन्त मिथ्यात्व के साथ जो कषाय है तो उसका नाम अनन्तानुबन्धी कहते हैं। समझ में आया? उसका अर्थ यह कि एक का कर्ता होवे तो अनन्त का कर्ता है, ऐसा अभिप्राय हुआ। एक को कर सकूँ तो पूरी दुनिया का मैं कर सकूँ, ऐसा अभिप्राय में

है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु उस अभिप्राय में जो कषाय है, वह अनन्तानुबन्धी। अभिप्राय में मिथ्यात्वपना अनन्त है। उसके साथ कषाय हो, वह अनन्तानुबन्धी है। फिर भले अनन्त पदार्थ का कर्ता होकर अनन्तानुबन्धी कहो। समझ में आया? आहाहा!

एक परमाणु का भी कर्ता माने तो पूरे जगत की क्रिया का कर्ता अभिप्राय में है। आहाहा! और एक परमाणु की क्रिया का भी कर्ता नहीं, मैं तो ज्ञाता हूँ, तो पूरे जगत का ज्ञाता है। आहाहा! समझ में आया? समकिती जीव पूरे जगत की क्रिया का ज्ञाता है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि जीव एक-दो जीव को बचाऊँ या मारूँ, ऐसा अभिप्राय है तो उस पूरे जगत को जिलाऊँ, बचाऊँ, ऐसा उसका अभिप्राय है। आहाहा! समझ में आया?

वे कहते हैं, लो, किसी को कुछ मदद करना नहीं, सुखी करना नहीं। मोरबी में अभी पन्द्रह-बीस हजार मर गये। कोई मदद करना नहीं, चन्दा-बन्दा करना नहीं? राहत देते हैं न? वह भाव हो, भाव हो, परन्तु उस भाव से वहाँ पैसे दिये गये तो राहत हुई, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! यह तो उस प्राणी का साता-असाता का उदय हो, तब उसे सामग्री मिलती है। दूसरा कहे कि मैंने दिया, इसलिए सामग्री मिली, यह अभिमान मिथ्यात्व है। आहाहा! थोड़े में कहाँ अभिप्राय में अन्तर है? आहाहा!

अज्ञानी एक राग का भी कर्ता मानता है तो पूरी दुनिया का कर्ता माननेवाला अभिप्राय मिथ्यात्व है। आहाहा! ज्ञानी को राग का परिणमन है परन्तु वह मेरा कार्य यथार्थ नहीं है, मेरी कमजोरी से परिणमन है। समझ में आया? इस दुनिया की किसी चीज़ का कर्ता नहीं। आहाहा! ऐसी सम्यग्दृष्टि में ताकत है। अनन्त क्रिया होती है परन्तु उसका मैं जाननेवाला-देखनेवाला हूँ, मुझसे नहीं होती। और अज्ञानी एक भी काम में कर्ता-भोक्ता होता है (तो वह) पूरी दुनिया का कर्ता-भोक्ता है। आहाहा! यह आया न?

पर मुझे सुखी-दुःखी करता है सो अज्ञान है। निमित्तनैमित्तिकभाव के आश्रय से (किसी को किसी के) सुखदुःख का करनेवाला कहना सो व्यवहार है;... व्यवहार से कहने में आता है। भाषा (बोली जाती है कि) उसने मदद की, उसने मदद की, यह निमित्त का कथन है। वस्तुस्वरूप ऐसा है नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १६८

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(वसन्ततिलका)

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदु:खसौख्यम् ।
अज्ञान-मेत-दिह यत्तु परः परस्य,
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदु:खसौख्यम् ।।१६८।।

श्लोकार्थ : [इह] इस जगत में [मरण-जीवित-दु:ख-सौख्यम्] जीवों के मरण, जीवित, दु:ख, सुख-[सर्वं सदैव नियतं स्वकीय-कर्मोदयात् भवति] सब सदैव नियम से (-निश्चित रूप से) अपने कर्मोदय से होता है; [परः पुमान् परस्य मरण-जीवित-दु:ख-सौख्यम् कुर्यात्] 'दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन, दु:ख, सुख को करता है' [यत् तु] ऐसा जो मानना [एतत् अज्ञानम्], वह तो अज्ञान है।।१६८।।

प्रवचन नं. ३२१, कलश - १६८, १६९ बुधवार, आसोज शुक्ल ५
दिनाङ्क - २६-०९-१९७९

समयसार, १६८ कलश। कलश है न?

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदु:खसौख्यम् ।
अज्ञान-मेत-दिह यत्तु परः परस्य,
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदु:खसौख्यम् ।।१६८।।

क्या कहते हैं? देखो! **इस जगत में जीवों के मरण,...** और जीवों का जीवन **जीवित,...** और जीवों को सुख-दु:ख के संयोग (मिलते हैं), वे उनके कर्मोदय से मिलती है। **सब सदैव नियम से (-निश्चित रूप से) अपने कर्मोदय से होता है;...** क्या कहते हैं? प्राणी का जीवन अपने कर्मोदय से है, उसका मरण कर्मोदय के अभाव से

है और सुख-दुःख भी उसके कर्मोदय के कारण से अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलती हैं। सर्व प्राणियों को कर्मोदय के कारण से जीवन, मरण, सुख-दुःख है। दूसरा प्राणी ऐसा माने...

सर्व सदैव... है? **कर्मोदय से होता है; 'परः पुमान् परस्य मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम् कुर्यात्'** परन्तु यह मान्यता तो अज्ञान है कि **'दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन, दुःख, सुख को करता है'**... आहाहा! मैं पर को जिलाता हूँ, पर को मारता हूँ, मैं पर को दुःख-सुख के संयोग दे सकता हूँ, यह मान्यता तो मिथ्यात्व है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! क्योंकि पर के कर्मोदय के कारण से उसे जीवन, मरण और सुख-दुःख है तो भी दूसरा प्राणी कहता है, मैं उसे जिलाता हूँ, मैं मारता हूँ, मैं अनुकूल संयोग देता हूँ और प्रतिकूल संयोग देता हूँ—ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व है। आहाहा! विपरीत दृष्टि है। सूक्ष्म बात है, भाई! प्रभु का मार्ग सूक्ष्म—बारीक बहुत है। आहाहा! **'दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन, दुःख, सुख को करता है' ऐसा जो मानना, वह तो अज्ञान है।** आहाहा!

कलश - १६९

पुनः इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाला और आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं:-

(वसन्ततिलका)

अज्ञान-मेत-दधिगम्य परात्परस्य,
पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहङ्कृति-रसेन चिकीर्ष-वस्ते,
मिथ्यादृशो नियत-मात्महनो भवन्ति।।१६९।।

श्लोकार्थ : [एतत् अज्ञानम् अधिगम्य] इस (पूर्वकथित मान्यतारूप) अज्ञान को प्राप्त करके [ये परात् परस्य मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम् पश्यन्ति] जो पुरुष पर से पर के मरण, जीवन, दुःख, सुख को देखते हैं अर्थात् मानते हैं, [ते] वे पुरुष-

[अहंकृति-रसेन कर्माणि चिकीर्षव:] जो कि इस प्रकार अहंकाररस से कर्मों को करने के इच्छुक हैं (अर्थात् 'मैं इन कर्मों को करता हूँ, ऐसे अहंकाररूपी रस से जो कर्म करने की-मारने-जिलाने की, सुखी-दु:खी करने की-वांछा करनेवाले हैं') वे-[नियतम्] नियम से [मिथ्यादृश: आत्महन: भवन्ति] मिथ्यादृष्टि हैं, अपने आत्मा का घात करनेवाले हैं।

भावार्थ : जो पर को मारने-जिलाने का तथा सुख-दु:ख करने का अभिप्राय रखते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। वे अपने स्वरूप से च्युत होते हुए रागी, द्वेषी, मोही होकर स्वत: ही अपना घात करते हैं, इसलिए वे हिंसक हैं।।१६९।।

कलश - १६९ पर प्रवचन

पुन: इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाला और आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं:- १६९।

अज्ञान-मेत-दधिगम्य परात्परस्य,
पश्यन्ति ये मरणजीवितदु:खसौख्यम्।
कर्माण्यहङ्कृति-रसेन चिकीर्ष-वस्ते,
मिथ्यादृशो नियत-मात्महनो भवन्ति।।१६९।।

अरेरे! इस (पूर्वकथित मान्यतारूप) अज्ञान को प्राप्त करके... 'ये परात् परस्य मरण-जीवित' जो पुरुष पर से पर के मरण,... पर से पर के जीवन, दु:ख, सुख को देखते हैं अर्थात् मानते हैं, वे पुरुष-'अहंकृति-रसेन' उसे इस प्रकार के अहंकार का रस है, अभिमान है। आहाहा! पर के जीवन, मरण नहीं कर सकता, (तथापि) मानता है तो वह अहंकार है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

एक शब्द आया है, भाई! दसलक्षणी पर्व में, संयम में। है तीन-चार लाइन परन्तु... कहते हैं, अरेरे! प्रभु! तुझे अनेक प्रकार की सूचना मिलती है, कि तुझे यह काम करना, यह करना, यह करना और इन्द्रियों के जानपने में रुकता है बहुत जानकारी मिलती है तो बाहर की सूचना मिलती है कि तुम्हें इतना काम करना पड़ेगा, तुम्हारी पदवी है, तुम सेठ

है, तुम मालिक हो, तुम पति हो... आहाहा! तो सूचना मिले और इन्द्रियों से जानकारी मिले, उसमें यह भगवान आत्मा कब ज्ञात होगा? (कब) निवृत्ति लेगा? सुमेरुमलजी! आहाहा! उन्होंने शब्द डाला है, गजब डाला है। बहुत विचार (किया है)। आहा! समझ में आया? बाहर की सूचना मिले कि तुम्हें इतना काम तो करना पड़ेगा। प्रभु! तुमने विवाह किया है, पुत्र है इतना व्यापार तुम्हें करना ही पड़ेगा। हैं?

मुमुक्षु : मुवक्किल से पैसे लिये हों तो वकालात करनी पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : वकालात धूल भी नहीं। वकालात कौन करे? अभिमान करता है। यह रामजीभाई अपनी बात पूछते हैं। कोर्ट में जाते थे तो २०० रुपये लेते थे। पाँच घण्टे के २०० रुपये, पैंतीस वर्ष पहले, हों! आहाहा! अरे! प्रभु!

यहाँ कहते हैं, उन्होंने शब्द प्रयोग किये है, भाई! ओहो! बहुत गजब शब्द है। संयम (धर्म में लिखते हैं), यह आत्मा बेचारा क्या करे? गुजराती है। यह आत्मा बेचारा क्या करे? बाहर की सूचनाएँ इतनी मिले... पूनातरजी! कि तुम्हें इतने काम तो करने पड़ेंगे। भाई! तुम्हारी पदवी है, तुम्हारी नौकरी है, तुम उसके पिता हो, तुम उसके पुत्र हो... बाहर की सूचना इतनी मिलती है और जानकारी इतनी मिलती है, इन्द्रियों से जानना इतना होता है कि बेचारा (अन्तर में जा नहीं सकता) अन्तर सर्वाधिक महत तत्त्व आत्मतत्त्व प्रभु... आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु अन्दर सिद्ध समान आत्मा, सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ ने देखा है, वैसा आत्मा अन्दर है। क्या कहते हैं? अन्तर में जो सर्व-अधिक महत् प्रभु, महाप्रभु... आहाहा! आत्मतत्त्व विराजमान है, उसके प्रति दृष्टिपात करने की भी इसे निवृत्ति नहीं है। बराबर है? भगवान! आहाहा! समझ में आया?

यह संयम का अधिकार है। ऐसा कहते हैं, जहाँ आगे बाहर की सूचनाओं में ही जहाँ रुकना पड़ता है और इन्द्रियों के बाहर के जानेपने में ही रुकता है, उसे स्वयं को जानने की निवृतित कब मिले? भगवान महाप्रभु सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा महत् चीज़ है, उसे देखने का, जानने का अवसर कहाँ है? और जाने बिना मान्यता कहाँ से होगी? और मान्यता बिना संयम-रमणता कहाँ से आयेगी? (लोग) संयम... संयम करते हैं परन्तु संयम कहाँ है? भागचन्दजी! बराबर है? आहाहा!

प्रभु! अन्दर भगवान सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव ने जो आत्मा अन्दर देखा, 'प्रभु तुम जाणग

रीति, सौ जग देखता, निज सत्ता से शुद्ध हमको पेखता' प्रभु! हमारा आत्मा निज सत्ता से शुद्ध पूर्णानन्द है, उसे आप आत्मा जानते हो, मानते हो। आहाहा! समझ में आया? बाहर की सूचनाओं और इन्द्रियों द्वारा बहुत जानकारी मिले (और) वहाँ रुकने के कारण प्रभु! तुझे अन्दर देखने की निवृत्ति तूने नहीं ली। बराबर है? भाई! आहाहा! भगवन्त! तू तो भगवन्त है, प्रभु! आहाहा! उस भगवन्त को देखने की निवृत्ति नहीं मिली। पामर इन्द्रियों का जानपना और बाहर की सूचना मिली कि तुम्हें इतना करना पड़ेगा और इतना करना पड़ेगा और इतना करना पड़ेगा, (उसमें रुक गया)। आहाहा! ऐई! कहो, हीराभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : स्व-पर का ज्ञान तो करना पड़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान किसका? परन्तु पर का ज्ञान, वह ज्ञान ही नहीं है। स्व का ज्ञान ज्ञान हो, पश्चात् पर का ज्ञान हो, वह स्व-पर ज्ञान यथार्थ है। अकेली इन्द्रियों से पर का ज्ञान करना और वहाँ रुकना, उसमें तो अपनी चीज़ ही अन्दर रह गयी। वह जाननेयोग्य भगवान अन्दर था, पूर्णानन्द का नाथ, पूर्ण अधिक, महत् चीज़, महाप्रभु, आत्मतत्त्व अन्दर महाप्रभु है। आहाहा! उसे देखने की तुझे निवृत्ति नहीं? और बाहर की सूचनाओं में रुकना और पाँच इन्द्रियों के जानपने में रुकना, प्रभु! तू वहाँ रुक गया। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि तू रुक गया। पर को जिलाऊँ, मारूँ—यह तो स्थूल है। समझ में आया? आहाहा! मैं परिवार को निभाऊँ, स्त्री को निभाऊँ, देश को निभाऊँ। किसे निभावे? प्रभु! उसके कर्म प्रमाण वह जीवित रहता है और कर्म न हो तो मर जाता है, उसके कारण से (होता है)। तू उसमें फेरफार कर सकता है? तू उसे जिला सकता है? मार सकता है? आहाहा!

कहते हैं कि उस पर को जिलाना, मारना, सुख-दुःख होना, वह तो उसके कर्म के उदय से होता है। तू अन्तर में अहंकार करता है कि मैंने उसे जिलाया, मारा। प्रभु! तेरा यह अहंकार तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! जिस मिथ्यात्व में अनन्त भव करने की ताकत है। क्योंकि जहाँ अनन्त भव और भव के भावरहित चीज़ अन्दर है, उसकी तो दृष्टि नहीं... आहाहा! और (मानता है कि) पर को जिलाया, मारा, सुविधा दी, उसे असुविधा दी, मैंने आहार दिया और पानी दिया, वस्त्र दिये और पात्र दिये, ऐसा दिया, मकान दिया... कौन

दे ? प्रभु ! आहाहा ! वह तो उसके पुण्य का उदय होवे तो वह चीज़ मिलती है। उसमें क्या ? क्या तू उसे मिला देता है ? बहुत सूक्ष्म बात, भाई ! आहाहा !

कितने ही शब्द में तो इतना डाला है। संयम का अधिकार है। प्रभु ! तुझे संयम कब हो ? संयम—सं-सम्यक्—सम्यग्दर्शनपूर्वक यम, संयम। तुझे बाहर की सूचनाएँ मिले और बाहर के जानपने में इन्द्रिय के ज्ञान में तू रुक गया... आहाहा ! तेरी चीज़ महाप्रभु अन्दर सर्वोत्कृष्ट महत्त चीज़ है, उसे अन्तर में जानने की तो निवृत्ति नहीं ली। और कितने ही ऐसा कहते हैं, अभी निवृत्ति नहीं, अभी तो मरने का भी समय नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा ! प्रभु... प्रभु ! क्या करता है ? भाई ! आहा ! आहाहा !

यहाँ तो अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं,... प्रभु ! कुन्दकुन्दाचार्य, भगवान त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव सीमन्धर स्वामी भगवान विराजते हैं, उनके पास गये थे, आठ दिन रहे थे, सम्यग्दृष्टि थे, चारित्रवन्त थे परन्तु भगवान का विरह देखकर जाने का भाव हुआ, वहाँ गये, आठ दिन रहे, वहाँ से आकर शास्त्र बनाये। भगवान त्रिलोकनाथ का यह सन्देश है। आहाहा ! त्रिलोकनाथ सीमन्धर भगवान विराजते हैं, पाँच सौ धनुष का देह है, करोड़ पूर्व का आयुष्य है, अरबों वर्ष से है और अभी अरबों वर्ष रहनेवाले हैं। आहाहा ! उनकी दिव्यध्वनि, 'ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे।' आहाहा ! प्रभु ! मार्ग अलग, प्रभु ! यह कोई बाहर की होशियारी और बाहर की चतुराई और वह कहीं यह चीज़ नहीं है, प्रभु ! आहाहा ! समझ में आया ?

इन्द्रिय के ज्ञान में रुक गया, बाहर की सूचना मिली कि तुम्हें इतने काम तो करने पड़ेंगे, तुम्हारी नौकरी है, तुम पिता हो, तू पुत्री है, तू पुत्र है और पिताजी का इतना करना पड़ेगा। अरे ! ऐसी सूचनाओं में प्रभु ! तू रुक गया। आहाहा ! अन्दर महत् चीज़ प्रभु, पूर्णानन्द का नाथ अतीन्द्रिय आनन्द के रसकन्द से भरपूर प्रभु है, सच्चिदानन्द प्रभु है, सत् चिदानन्द—सत् ज्ञानानन्द का सागर भगवान अन्दर है। प्रभु ! तूने उसे देखने का अवसर नहीं लिया, उसे देखने की निवृत्ति नहीं ली। तूने क्या किया ? समझ में आया ? आहाहा ! उन्होंने भाषा रखी है कि बाहर की सूचनाएँ मिले और इन्द्रिय से जानकारी मिले, यह वाँचनादि या सुनने का (मिले), वहाँ रुक गया। आहाहा !

अन्तर भगवान आत्मा को जानना चाहिए, मानना चाहिए और मानकर उसमें रमणता

करना, वह संयम, तो संयम तो अभी जाना नहीं, वहाँ संयम आया कहाँ से ? समझ में आया ? आहाहा ! उसकी भूमिका—चीज़ क्या है, वह जानी नहीं तो मानना कहाँ से होगा ? और माने बिना संयम कहाँ से होगा ? और संयम पालते हैं (ऐसा कहे), परन्तु प्रभु ! तुझे संयम कहाँ है ? संयम में तो प्रथम सम्यग्दर्शन होता है, पश्चात् संयम आता है। सम्यग्दर्शन में तो प्रथम अपने आत्मा को जानना और मानना, वह पहली चीज़ आती है। आहाहा ! अभी तो गड़बड़ी बहुत हो गयी, प्रभु ! आहाहा ! समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं, आहाहा ! १६९ है न ? **इस (पूर्वकथित मान्यतारूप) अज्ञान को प्राप्त करके जो पुरुष पर से पर के...** पर से पर के **मरण, जीवन, दुःख, सुख को देखते हैं...** मैं पर को सुखी करता हूँ, मैं पर को दुःखी करता हूँ, मैं पर को जिलाता हूँ, पर का जीवन... जीवन करता हूँ, वह पुरुष **जो कि इस प्रकार अहंकाररस से कर्मों को करने के इच्छुक हैं...** आहाहा ! वह कर्म अर्थात् कार्य। मैंने पर को जिलाया, मारा, यह कार्य (मैंने किये), यह अहंकार है। यह कार्य कर नहीं सकता। आहाहा ! बहुत गजब बात है, भाई ! प्रभु का मार्ग है शूरों का, यह कायर का काम नहीं वहाँ। आहाहा ! आता है न तुम्हारे, नहीं ? 'हरि का रे मार्ग है शूरों का, यह कायर का काम नहीं...' इसी प्रकार 'प्रभु का मार्ग है शूरों का...' इस आत्मा का, हों ! यह हरि (अर्थात्) यह (आत्मा)। हैं ? 'प्रभु का मार्ग है शूरों का, यह कायर का काम नहीं, प्रथम पहले मस्तक रखकर...' सब छोड़। कोई चीज़ तेरी नहीं, रागादि (भी) तेरे नहीं। आहाहा ! दया, दान के विकल्प राग हैं, वह भी तेरी चीज़ नहीं। आहाहा !

तू तो ज्ञायक भगवान है न, प्रभु ! सच्चिदानन्द—सत् ज्ञान और आनन्द का भण्डार प्रभु तू है न ! उसे जानने की, देखने की निवृत्ति नहीं ली, प्रभु ! तूने यह क्या किया ? भटकने का भाव किया। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसी बात है। आहाहा ! **'अहंकृति-रसेन कर्माणि'** ऐसा। मैंने किया। मैंने उसे अभयदान दिया तो जीवन हुआ। आहाहा ! पानी में मक्खी पड़ी थी, मैंने हाथ में ली तो जीवित रह गयी। क्या करता है ? उसका आयुष्य था तो जीवित है, सुमेरुमलजी ! बहुत कठिन बातें, प्रभु ! ऐसी बातें है, नाथ ! सच्चिदानन्द प्रभु अन्दर... आहाहा ! यह चीज़ छोड़कर, (इसकी) दृष्टि छोड़कर पर के कार्य के अहंकार में रुक गया, प्रभु ! तेरा परिभ्रमण नहीं छूटा। चौरासी के अवतार... आहाहा !

'मैं इन कर्मों को करता हूँ, ऐसे अहंकाररूपी रस से जो कर्म करने की-मारने-जिलाने की, सुखी-दुःखी करने की-वांछा करनेवाले हैं'... वाँछा करनेवाले। आहाहा! **वे नियम से... 'मिथ्यादृशः आत्महनः भवन्ति' मिथ्यादृष्टि हैं, अपने आत्मा का घात करनेवाले हैं।** आहाहा! **'आत्महनः भवन्ति'** आहाहा! राग करता है और मानता है कि मैं पुण्य करता हूँ, मुझे धर्म होता है, **'आत्महनः भवन्ति'** प्रभु! आत्मा का घात होता है। आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग उत्पन्न हो, परन्तु वह राग मेरा कर्तव्य है, (इस मान्यता में) प्रभु! तेरे आत्मा का घात होता है। आहा! आत्मा का घात होता है, तू अपघात करता है। अरेरे! आहा!

यहाँ तो यह बात चली, भभूतमलजी! मैं पर को जिलाता हूँ, जीवनदान देता हूँ, मैं पर को मार सकता हूँ, पर को मैं सुखी-दुःखी संयोग दे सकता हूँ, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि पापी पाखण्डी है। आहाहा! धीरे से, न्याय से सुनो! मैं पर को जिलाता हूँ, जीवत्व देता हूँ। वह तो उसका आयुष्य हो तो जीवित रहता है। तू जीवत्व दे सकता है? मैं पर को मार सकता हूँ। उसका आयुष्य पूर्ण हो तो मरता है। तू मार सकता है? दूसरे को अनुकूल संयोग दे सकता हूँ। अनुकूल संयोग तो उसके पुण्य के कारण से उसे मिलते हैं। तू दे सकता है? मैं प्रतिकूल संयोग देकर दुःखी करता हूँ। प्रतिकूल संयोग तो उसके पाप का उदय हो तो मिलते हैं। क्या तुझसे प्रतिकूल संयोग मिलते हैं? आहा! न्याय से-लॉजिक से कुछ समझना पड़ेगा न? ऐसे के ऐसे मानना, (वह कोई चीज़ नहीं है)। समझ में आया? यहाँ कहते हैं, इससे पहले थोड़ी बात बहुत ऊँची गयी। भभूतमलजी! आहाहा!

दसलक्षणी पर्व में से एक शब्द लिया था। शब्द है, बहुत ऊँचा किया है, भाई का— हुकमचन्दजी पण्डित! आहाहा! प्रभु! तुझे बाहर की सूचनाएँ इतनी मिलती हैं कि तुझे इतने काम करने पड़ेंगे, इतने काम करने पड़ेंगे, इतने काम करने पड़ेंगे, नौकरी होवे तो इतना करना पड़ेगा, पिता होवे तो पुत्र का करना पड़ेगा, पुत्र होवे तो पिता का करना पड़ेगा, अर्धांगिनी-स्त्री का करना पड़ेगा, स्त्री को पति का काम करना पड़ेगा, ऐसी सूचना मिलती है। वह सूचना आदि और इन्द्रिय के ज्ञान द्वारा जो बाहर की जानकारी मिलती है, वहाँ रुक गया, रुकने से अपना भगवान अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु है, उसे जानने का तुझे समय ही नहीं मिला। लॉजिक-न्याय समझते हो? न्याय-न्याय में 'नि' धातु है। न्याय में 'नि' धातु है।

न्यायाधीश उसे कहते हैं कि 'नि' धातु अर्थात् नि—जैसी स्वरूप की स्थिति है वहाँ 'नि' अर्थात् ले जाना, उसका नाम न्याय—ले जाना। समझ में आया? आहाहा! प्रभु! तुझे बाहर की सूचना मिली, वैसे काम में रुक गया और बाहर की जानकारी, इन्द्रियों की जानकारी, ऐसी और वैसी, यह वकीलात के जानपने और अमुक जानपने (में रुक गया)।

रामजीभाई ने अभी प्रश्न रखा था न? यह तो बड़े वकील थे। पैंतीस वर्ष पहले पाँच घण्टे के दो सौ रुपये (लेते थे)। बड़े पाप करते थे। वकीलों में बड़ा नाम था। अभी ९७ वर्ष है। परन्तु ३५ वर्ष पहले पाँच घण्टे के दो सौ रुपये लेते थे। सलाह लेने आवे तो एक घण्टे के सौ रुपये लें, दो सौ लें। धूल है। आहाहा! यह काम मैं कर सकता हूँ और इन्द्रियों के ज्ञान में रुकना होता है, सुनने का बारम्बार मिले, देखने का, सुनने का, सूँघने का, रस का, स्पर्शने का (मिले), उस जानकारी में रुक गया। परन्तु प्रभु अन्दर आत्मा सच्चिदानन्द सिद्ध समान परमात्मा है, सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा कहते हैं कि हम परमात्मा हुए, वे कहाँ से हुए? वह परमात्मा तेरी शक्ति में तू स्वयं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अरेरे! परन्तु यह बात मिलती नहीं, क्या करे बेचारा? उसने बेचारे ने ऐसा लिखा है, हों! अरे! बेचारा आत्मा क्या करे? बाहर से सूचना इतनी मिलती है कि यह तो तुम्हें करना पड़ेगा, तुम्हारे सिर पर बोझा आया, तुम्हारे स्त्री मर गयी, तुम्हारा भाई मर गया, तुम्हारा पिता मर गया, तुम्हारे परिवार का बोझा करना पड़े। ऐसी सूचनाएँ मिले। अरर्र! वहाँ का वहीं रुक गया बेचारा। ऐई! और इन्द्रिय से इन्द्रियों का ज्ञान हो, उस जानकारी में रुक गया। अनीन्द्रिय ऐसा भगवान जो अन्दर है, उसे देखने को नाथ, प्रभु! तूने निवृत्ति नहीं ली। इस जगत की चतुराई कर-करके लाखों, करोड़ों, अरबों रुपये इकट्ठे किये तो वह तो सब पाप है। ऐई! समझ में आया?

मुमुक्षु : पैसा मीठे बहुत लगते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मीठे धूल में भी नहीं लगते। पाप है। आहाहा! हैं? ऐसी बात है। हमारी दुकान में था न? पालेज में दुकान है। वहाँ दुकान में हम थे न? भरुच और वड़ोदरा के बीच पालेज है। अभी बड़ी दुकान है। मुझे तो दुकान छोड़े हुए, दीक्षा लिये हुए ६६ वर्ष हुए, शरीर को ९१ चलते हैं, ९१—९०+१। बड़ी दुकान है। उन लोगों को एक-एक दिन

में आठ सौ रुपये की आमदनी है। एक दिन में आठ सौ की आमदनी। अभी बड़ी दुकान है। पालेज में है। भरुच और वड़ोदरा के बीच में पालेज है। हमारी बुआ का लड़का भागीदार था। उनका लड़का है। अब तो तीनों अलग हो गये। एक दिन की आठ सौ की आमदनी! कहा, धूल है। क्या है? उसी और उसी में रुक गया। मरकर जाएगा, कहा।

मुमुक्षु : आप सबको ढ़ोर में ही रखते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक बात ऐसी है, भाई ने लिखा है, भाई! ढ़ोर पेट भरने के पश्चात् दो घण्टे, चार घण्टे निवृत्ति में बैठते हैं और यह पेट भरने के उपरान्त पेटी भरने में रुक गया। पेटी समझे? गल्ला। पेट उपरान्त पेटी भरने में रुक गया, मूर्ख! आहाहा! यह पेटी कब पूरी हो और कब निवृत्त हो? आहाहा!

उन्होंने तो वहाँ तक कहा है कि दो-दो बार, तीन-तीन बार भोजन करना और फिर वापस घास चबाना, घास अर्थात् यह पान, नागरवेल का पान घास है न? क्या है वह? नागरवेल का पान—घास मुख में पूरे दिन पड़ा ही हो। मुझे तो ऐसा लगता है कि तू तिर्यंच में से आया लगता है। उन्होंने लिखा है। और या तू तिर्यंच में जानेवाला है, जहाँ पूरे दिन भोजन खोजे, भोजन... भोजन... भोजन... आहारसंज्ञा है न? भगवान के सिद्धान्त में तिर्यंच को आहारसंज्ञा मुख्य कहते हैं। पूरे दिन आहार खाया ही करे, खाया ही करे। मनुष्य को मैथुनसंज्ञा विशेष है। आहाहा! नारकी को भयसंज्ञा विशेष है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह। देव को परिग्रहसंज्ञा विशेष है। आहाहा! तो वहाँ रुक गया, कहते हैं। तूने क्या किया? अनन्त बार मनुष्यपना मिला, अनन्त बार तो अरबोंपति हुआ, अनन्त बार सेठिया हुआ, अनन्त बार नारकी हुआ, अनन्त बार स्वर्ग में देव हुआ। तूने क्या किया? आहाहा!

अन्दर भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ (विराजमान है) उसे देखने, जानने की तुझे फुरसत नहीं और इसमें तू रुक गया, तूने क्या किया? ऐ... भभूतमलजी! यहाँ तो यह रोकड़ी बात है, यहाँ कहीं मक्खन-बक्खन नहीं है।

मुमुक्षु : लड़के हों तो कमाना ही चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कमावे? पाप करके पैसे इकट्ठे किये थे। सुमनभाई को पढ़ाकर पैंतीस हजार खर्च किये, अमेरिका। इनके लड़के का अभी महीने में आठ हजार

का वेतन है, परन्तु पाप करके सब इकट्ठा किया था और वापस लड़के के लिये खर्च किये, वह पाप, ऐसा कहते हैं। स्पष्टीकरण कराते हैं।

मुमुक्षु : अब उसका क्या हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह हुआ वह पाप है, यह निर्णय कर लेना। भभूतमलजी! भाई अपने (घर की बात करते थे)।

मुमुक्षु : उसका प्रायश्चित आप दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समझ करना, वह प्रायश्चित है, बापू! आहाहा! यह आत्मा ज्ञानानन्द सच्चिदानन्द प्रभु, 'सिद्ध समान सदा पद मेरा, चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो।' मेरी चीज़ अन्दर सिद्धस्वरूपी भगवान है। उसका ज्ञान करना और श्रद्धा करना, यह संसार का प्रायश्चित है। बराबर है? भाई! अरेरे! बहुत सूक्ष्म बात, भाई!

इस अंगुली में इस अंगुली का अभाव है। ऐसे ही आत्मतत्त्व जो भगवान आत्मा है, उसमें यह परद्रव्य शरीर, वाणी, उस परद्रव्य का तो अभाव है। अपने से अस्ति है और पर से नास्ति है, तब तो वह टिक रहा है। आहाहा! ऐसा नहीं मानकर, पर का मैं कर दूँ, पर के संयोग मिले और साधन मिले तो मैं निभुँ, यह सब मिथ्याभ्रम अज्ञान है। ऐसा काम है, बापू! दुनिया कों तो जानते हैं न, बापू! पूरी दुनिया को जानते हैं। हिन्दुस्तान में दस हजार मील तीन बार घूमे हैं। पूरे हिन्दुस्तान में, हों! यह बात बहुत महँगी, बापू! ओहोहो!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! भारी शब्द रखा है कि दुनिया की सूचना मिले, वहाँ रुक गया और इन्द्रिय का जानपना मिले, इन्द्रिय का जानपना—यह वकालात है, डॉक्टर है, यह सब इन्द्रिय का ज्ञान है, यह अज्ञान है, ज्ञान नहीं। व्यापार करना, उद्योग करना, यह उद्योगी मनुष्य है और अमुक... धूल भी उद्योगी नहीं, सुन न! उद्योग तो अपने ज्ञानानन्दस्वभाव में पुरुषार्थ करना, वह उद्योग है। पर में उद्योग मानना, वह तो महा मिथ्यात्व / भ्रम है। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि पर को मैंने जिलाया, पर को मारा, पर को सुखी-दुःखी किया, मैंने पाँच लाख दिये, दस लाख दिये तो लोग सुखी हुए। वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि इस कार्य का अहंकार करनेवाला मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा! समझ में आया? 'करे कर्म

सो ही करतारा, जो जाने सो जाननहारा, कर्ता सो जाने नहीं कोई, जाने सो कर्ता नहीं होई।' 'करे कर्म सो ही करतारा,' मैं पर के काम करता हूँ, सुखी करता हूँ, दुःखी करता हूँ, जिलाता हूँ, वह 'करे कर्म सो ही करतारा,' वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि कर्म का कर्ता मानता है। 'जो जाने सो जाननहारा,' ज्ञानी है, वह जानता है कि होता है, मैं किसी का कर्ता नहीं। आहाहा! क्योंकि भगवान आत्मा प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप है। प्रज्ञा (अर्थात्) ज्ञान और ब्रह्म अर्थात् आनन्द। वह सच्चिदानन्द प्रभु है। आहाहा! वह प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप भगवान, जिसे उसका ज्ञान हुआ, वह किसी भी कार्य-प्रसंग में मैं जाननेवाला हूँ, मैं बिलकुल कर्ता नहीं, (ऐसा रहता है)। ऐसी बात है, प्रभु! बहुत कठिन। दुनिया से (अलग प्रकार), उसमें अभी बाहर की प्रचलित (बात से अलग है)। सम्प्रदाय में भी यह करो और यह करो, व्रत करो, अपवास करो, भक्ति करो। यह तो सब राग की क्रिया है, सुन तो सही। आती है, परन्तु ज्ञानी उसे जाननेवाला, देखनेवाला रहता है। आहाहा! मेरा कार्य है, ऐसा नहीं मानता। सूक्ष्म बात है, भाई! धर्म तो बहुत सूक्ष्म है, प्रभु! सर्वज्ञ वीतराग त्रिलोकनाथ परमात्मा, ऐसा वीतराग का मार्ग कोई सूक्ष्म है। लोगों ने स्थूलरूप से मान लिया है, वह कोई जैनधर्म नहीं है। क्या कहा?

अपने आत्मा का घात करनेवाले हैं। है? क्या कहते हैं? मैं पर को जिला सकता हूँ, मैं पर को सुखी कर सकता हूँ—ऐसी मान्यता आत्मा का घात करती है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, ज्ञान और आनन्द का नाथ है, उसे पर का करनेवाला मानता है, वह आत्मा का घात करता है। मैं ज्ञाता-दृष्टा नहीं, मैं तो करनेवाला हूँ - ऐसा मानता है। आहाहा! वह अपघात करता है। अरे! प्रभु! यह क्या? सिर फोड़कर अपघात करते हैं न! मैं पर का कार्य कर सकता हूँ और रागादि है, वह मेरा कर्तव्य है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम राग हैं, वह राग मेरा कर्तव्य है, वह अपघात करता है। ज्ञाता-दृष्टा ऐसे भगवान का वह घात करता है। वकील! अलग प्रकार है, भाई! यह तो अन्तर की बातें हैं, बापू! आहाहा!

दुनिया को तो हम जानते हैं न, यह तो ९१ वर्ष चलता है। सत्तर वर्ष से तो यह अभ्यास है। दुकान के ऊपर भी मैं तो यही अभ्यास करता था। दिगम्बर की पुस्तकें नहीं, स्थानकवासी का। पिताजी स्थानकवासी में थे, उसमें हमारा जन्म हो गया। हम तो अभ्यास करते थे। उन्नीस वर्ष की उम्र से दसवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूयगडांग का

अभ्यास था। पिताजी की घर की दुकान थी। धन्धा भी करते थे, पाँच वर्ष दुकान चलायी थी, तो भी मैं तो एक ओर बैठकर शास्त्र पढ़ता था। भागीदार बैठा हो तो एक ओर बैठूँ, भागीदार न हो तो गद्दी पर बैठना पड़े। परन्तु सब पाप है। आहाहा!

यह प्रभु का मार्ग... आहाहा! कहते हैं कि प्रभु! तू पर को जिला सकता है, स्त्री, परिवार को निभा सकता है, उन्हें निभाने के लिये मैं नौकरी करता हूँ और पैसा कमाता हूँ, यह तेरा भ्रम है। आहाहा! क्योंकि तेरा स्वरूप तो प्रभु ज्ञान और आनन्द है, तो परचीज़ जो है, वह ज्ञेय है। तू ज्ञाता है, वह ज्ञेय है। वह तेरा कार्य है, ऐसा नहीं। तू ज्ञाता है, तो कार्य होता है, वह (कार्य) ज्ञान का ज्ञेय है, जाननेयोग्य चीज़ है। करनेयोग्य चीज़ है, ऐसी कोई चीज़ तुझमें नहीं है। कठिन काम। भभूतमलजी! आहाहा! अपघात करता है, भाषा देखी? है?

अपने आत्मा का घात करनेवाले हैं। आहाहा! पाठ में है, हों! **'आत्महनः भवन्ति'** आहाहा! मैं पर के कार्य कर सकता हूँ, पर को मदद कर सकता हूँ, भूखे को आहार देता हूँ, प्यासे को पानी देता हूँ, रोगी को औषध देता हूँ, जमीन न हो तो झोपड़ी आदि बना देता हूँ, अरे! प्रभु! यह सब कार्य मैं करता हूँ, यह मान्यता आत्मा का घात है क्योंकि आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा है और तूने उसे काम करने का सौंपा। आहाहा! चक्रवर्ती को महल का कचरा निकालनेवाला बनाया। है? छह खण्ड का राज (चलानेवाला) चक्रवर्ती कचरा निकाले। वैसे तीन लोक का नाथ ज्ञाता-दृष्टा प्रभु, उसे तूने राग और पर के कार्य सौंपे, (वह) अपघात करता है। यह दुनिया से अलग प्रकार है, हों! पूरी दुनिया की खबर है। आहाहा! समझ में आया? आहा! सूक्ष्म बात, भाई! जन्म-मरण टालने का ऐसा अवसर आया, प्रभु! ऐसा मनुष्यपना मिला, आहाहा! उसमें तीन लोक के नाथ की वाणी सुनने को मिली, अब सब अवसर आ गया है। आहाहा! मोक्षमार्गप्रकाशक में है। मोक्षमार्गप्रकाशक में टोडरमलजी ने कहा है, सब अवसर आ गया है। प्रभु! अब तेरी नजर वहाँ जाना चाहिए। आहाहा!

जो ज्ञानस्वरूपी भगवान ज्ञानपिण्ड है। जैसे शक्कर मिठास का पिण्ड है, वैसे भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का पिण्ड है। आहाहा! समझ में आया? उसकी नजर कर, प्रभु! तुझे निधान दिखेंगे। यह पामर और पर को देखने में रुक गया, प्रभु! तूने अपघात

किया। आहा! विद्यमान चीज़ ज्ञाता-दृष्टा है, उसे तूने नहीं मानकर, अनादर करके (अपघात किया है)।

वास्तव में तो राग की और परकार्य की रुचि है, उसे आत्मा-आनन्द की अरुचि है। अरुचि, वह आत्मा के प्रति क्रोध है। आहाहा! अनन्त आनन्द का कन्द प्रभु, अनन्त-अनन्त गुण का सागर आत्मा की अरुचि और यह काम करने की रुचि और राग की रुचि, (आत्मा की) अरुचि है तो तुझे आत्मा के प्रति क्रोध है, प्रभु! और पर के प्रति तुझे प्रेम है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भगवान! आहाहा! भगवानस्वरूप ही है। आचार्य तो भगवानरूप से बुलाते हैं। समयसार ७२ गाथा। भगवान आत्मा!—ऐसा कहते हैं। आहाहा!

एक बार यह कहा था न? नाटक। वडोदरा में नाटक (देखा था)। हम तो माल लेने गये थे। अठारह वर्ष की उम्र थी। ७२ वर्ष पहले की बात है। दुकान का माल लेने गये थे, माल लिया, पश्चात् रात्रि में तो निवृत्ति (होवे इसलिए) नाटक देखने गये। वैरागी नाटक था। पहले वैरागी (नाटक आते थे)। अभी जैसे फिल्म-बिल्म और स्त्री ऐसे देखे, ऐसा वहाँ नहीं था। उस समय सब वैरागी (था)। एक अनुसूया का नाटक था। सती अनुसूया। भरुच के किनारे नर्मदा है, वहाँ दो बहनें थीं। एक अनुसूया सती थी, नाटक में देखा था, बारह आने की टिकट ली थी। तुम क्या बोलते हो, तुम्हारी पुस्तक लाओ, बारह आने लो। तुम क्या बोलते हो, यह समझे बिना (व्यर्थ है)। यह तो अठारह वर्ष की उम्र की बात है। पुस्तक ली। वहाँ बाई स्वर्ग में जाती थी। स्वर्ग में इनकार किया। 'अपुत्रस्य गति नास्ति।' जिसे पुत्र न हो, उसकी गति नहीं होती, ऐसा उन लोगों में वेद में है न? यह खोटी बात है। तब कहे, क्या करना? नीचे गिर, होवे उसे वर। उसमें नीचे अन्ध ब्राह्मण था, उससे विवाह किया, पुत्र हुआ। आहाहा! चौसठ (के) वर्ष की बात है, संवत १९६४, तुम्हारे जन्म के पहले की बातें। संवत् १९६४, ७१ वर्ष हुए।

वह लड़के को झुलाती थी। आहाहा! बेटा! तू शुद्धोसि, बुद्धोसि, निर्विकल्पोसि, उदासिनोसि, ऐसा कहती थी। नाटक में ऐसा था। अभी तो सम्प्रदाय में रहा नहीं। यह करो और यह करो और यह करो... बेटा! तू शुद्ध है। नाटक में बोलते थे, भाई! भूपतभाई! मैंने नाटक भी बहुत देखे हैं। निवृत्ति, घर की (दुकान), माल लेने जाते तो मुम्बई में फिल्म देखी है, सब देखा है। आहाहा! बेटा! शुद्धोसि। नाटक में कहते थे। आहाहा! शुद्ध

पवित्रता का तू पिण्ड है, ज्ञान का पिण्ड है। बुद्धोसि—बुद्ध अर्थात् ज्ञान, शुद्धोसि अर्थात् पवित्र और निर्विकल्पोसि—भेद बिना निर्विकल्प तेरी अभेद चीज़ है और उदासिनोसि। राग और पर से तेरा आसन उदास और पर है। तेरा आसन तुझमें है, राग में नहीं। ऐई! भभूतमलजी! यहाँ तो अभी सम्प्रदाय में सुनना मुश्किल है। यह करो, दया करो, व्रत करो (ऐसा सुनायी देता है)। अब मर गया, सुन न! कर-करके, यह तो राग है। आहाहा! नाटक के चार शब्द याद रहे। अपने समयसार में यह शब्द हैं। समयसार में संस्कृत में 'बन्ध अधिकार' में अन्त में (और) 'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' में ऐसे शब्द हैं। वह तो सब बोली थी परन्तु बहुत वर्ष हुए, (इसलिए) चार बोल याद हैं।

इसी प्रकार यह भगवान आत्मा, अप्पा—आत्मा भगवान शुद्ध है, ज्ञाता है, दृष्टा है, आनन्द है, वह पर की क्रिया करनेवाला नहीं। पर का अस्तित्व है तो पर की पर्याय—अवस्था उससे होती है। परपदार्थ है तो कायम रहकर पलटता है, वह उसके कारण से पलटता है, तू उसे पलटाता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! कहो, बालचन्दजी! ऐसी बातें हैं। अपघात करता है, ऐसा कहा है। देखो! है? मैं पर को जिलाता हूँ, यह मान्यता आत्मा का घात करती है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, उसका नकार करती है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! गजब बात की है।

है अन्दर? भाई! अपघात शब्द है न? अपघात का अर्थ यह है कि आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, ज्ञानपिण्ड है, आनन्दस्वरूप है, सच्चिदानन्दस्वरूप है। ऐसा नहीं मानकर मैं पर का करूँ, भला करूँ, बुरा करूँ, सुखी करूँ, दुःखी करूँ, सम्हाल करूँ, ध्यान रखूँ... यह दृष्टि आत्मा का घात करती है, यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आहाहा! समझ में आया? बहुत गजब काम किया है। यहाँ तो कहे, 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया वह सुख की खान।' ऐई! बालचन्दजी! 'अनन्त जीव मुक्ति गये, दया तणा...' परन्तु किसकी दया? भाई! तेरी दया। पर की दया कौन कर सकता है? स्थानकवासी में यह चलता है। उसमें ४५ वर्ष रहे न? आहाहा! गढडा में चातुर्मास था तो सामने टंगा हुआ था, 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया वह सुख की खान।' परन्तु कौन सी दया? भाई!

दया का अर्थ (यह कि) पर का जैसा जीवन है, वैसा रखो। ऐसी जैसी तेरी पूर्ण चीज़ है, वैसा श्रद्धा में रख, वह तेरी दया है। न्याय समझ में आता है? अन्दर वस्तु जो है,

अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द का कन्द प्रभु है, वह जैसी चीज़ है, वैसी श्रद्धा में रखना, वह आत्मा की दया है। ऐसे मानना कि मैं ऐसे ही पूर्ण हूँ। आहाहा! वह पूर्ण है, वैसा पूर्ण मानना, वह जीव की दया है। दुनिया से फेरफार है, भाई! पूरी लाइन में अन्तर है। रेल उल्टी पटरी चढ़ गयी है। रेल होती है न? एक पटरी से पीछे की पटरी हो, वहाँ चढ़ा दी हो। यह सब देखा है। हमारे नजदीक पालेज था। आहाहा! पटरी पटरी होती है न? उसे चढ़ा दे। वैसे अज्ञानी अनादि से अज्ञान की उलटी पटरी पर चढ़ा है। अपना स्वरूप जो भगवान आनन्द है, उसके पाट में दृष्टि, ज्ञान नहीं लेकर पर के पाट में चढ़ गया है। मैं पर का कर दूँ, भला कर दूँ और परोपकार करूँ, देश सेवा करूँ... देश-नेता सब ऐसा मानते हैं न? देशसेवा कौन करे? प्रभु! यह मान्यता अपघात है, स्वरूप की दृष्टि से विपरीत है। आहाहा! गजब काम किया है। आहाहा!

'मिथ्यादृशः आत्महनः भवन्ति' देखा? निश्चय से। है? नियत, नियम से मिथ्या—झूठी दृष्टि है। पर का कर नहीं सकता और मानता है, यह तेरी दृष्टि मिथ्या है। आहाहा!

मुमुक्षु : पर का नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हो, वहाँ धूज जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे? भाई! वह परचीज़ है या नहीं? हे तो उसकी पर्याय उसका कार्य करती है या तू कर दे? यह अँगुली है या नहीं? जड़ परमाणु है? जड़ है तो यह ऐसे हिलता है तो यह कार्य उसका है या तेरा? कठिन बात है। यह अँगुली जड़ है, मिट्टी है, परमाणु है। ऐसी हिलती है वह पर्याय है, पर्याय है। पर्याय अर्थात् अवस्था है, उस अवस्था का कार्य परमाणु करता है, आत्मा का कार्य नहीं। अरेरे! आहाहा! आत्मा पंगु है। पर का कार्य करने में, हों! अपना करने में पुरुषार्थी है। अपने स्वभाव का (कार्य) करने में महापुरुषार्थी है। पर का कर नहीं सकता। आहाहा!

कहते हैं कि ऐसा मानना... लोगों को अच्छा लगता है कि देश का नेता देश की कितनी सेवा करे! आहाहा! लाखों लोगों को बचाता है। कौन बचावे? प्रभु! उसकी आयुष्य की स्थिति है, तो वह बचता है। आयुष्य पूर्ण हो तो मर जाता है। उसे तू बचा सके, (ऐसा नहीं है)। सूक्ष्म बात है, भाई! मैं पैसा कमाता हूँ, यह भाव मिथ्या भ्रम है। वह तो जड़ है। वह तो पूर्व का पुण्य है तो आता है। मैं कमाता हूँ, मैंने राग किया तो पैसे मिले, झूठ बात है।

मुमुक्षु : राग नहीं किया परन्तु पुरुषार्थ किया, इसलिए मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग किया, वह उल्टा पुरुषार्थ है। दूसरा पुरुषार्थ कहाँ था? राग का पुरुषार्थ है। आहाहा! वास्तव में पुरुषार्थ तो भगवान चेतनस्वरूप पुरुष अपने ज्ञाता-दृष्टा की चेतना में सोवे, उसे पुरुष कहते हैं। जानने-देखने में रहे, वह पुरुष कहलाता है। वह पुरुष, पुरुष। पुरुष अर्थात् आत्मा, उसकी चेतना—जाननेवाला-देखनेवाला में रहे, वह पुरुष। उसमें से निकलकर राग करना, वह तो नपुंसक, पावैया, हीजड़ा है। कठिन बातें हैं, बापू! ऐई! है न पुरुषार्थसिद्धिउपाय में? पुरुषार्थसिद्धिउपाय में (कहते हैं), पुरुष किसे कहते हैं? पुरुष—चेतना जो जानने-देखनेवाली, उसमें सोवे, सोवे, रहे, वह चेतना—वह आत्मा। राग करे और राग में जाए, वह चेतना नहीं। आहाहा! राग करना, वह नपुंसक का कार्य है, ऐसा कहते हैं। अरर! उस पावैया को वीर्य नहीं होता। नपुंसक को वीर्य नहीं होता तो पुत्र नहीं होता। उसी प्रकार शुभभाव नपुंसक है, उससे धर्म की प्रजा नहीं होती। भारी कठिन काम, बापू! सदाचार करो। नहीं करते? क्या सदाचार किसे कहना? बापू! तुझे खबर नहीं, भाई! सदाचार—सत् भगवान ज्ञानानन्दस्वभाव के ज्ञानानन्द में एकाग्र होना, वह सदाचार है। यह दया, व्रतादि भाव तो असदाचार है। अरर्र!

यह यहाँ कहते हैं कि अपना स्वरूप तो जाननेवाला-देखनेवाला, आनन्द, त्रिकाली शुद्धात्मा, नित्यानन्द प्रभु, ध्रुव को छोड़कर पर का कर्ता मानना, वह शुद्धात्मा का घात है। घात का अर्थ पर्याय में घात होता है, वस्तु तो वस्तु है। वस्तु का घात तो नहीं होता। त्रिकाली आनन्द का नाथ तो त्रिकाल निरावरण रहता है, परन्तु मैं पर का कर्ता हूँ, ऐसी मान्यता पर्याय में अपने स्वरूप का घात करती है, अवस्था में घात होता है। वस्तु तो वस्तु त्रिकाल निरावरण शुद्ध चिदानन्द प्रभु है। आहाहा!

भावार्थ : जो पर को मारने-जिलाने का तथा सुख-दुःख करने का अभिप्राय... अभिप्राय अर्थात् आशय—मान्यता **रखते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। वे अपने स्वरूप से च्युत होते हुए...** अपने स्वरूप से भ्रष्ट होते हुए **रागी, द्वेषी, मोही होकर...** देखो! आहाहा! **स्वतः ही अपना घात करते हैं, इसलिए वे हिंसक हैं।** गजब बात है। पर को जिलाऊँ, यह भाव हिंसक है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २५७-२५८

जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदएण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।।२५७।।
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदएण चेव खलु।
तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।।२५८।।

यो म्रियते यश्च दुःखितो जायते कर्मोदयेन स सर्वः।
तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या।।२५७।।
यो न म्रियते न च दुःखितः सोऽपि च कर्मोदयेन चैव खलु।
तस्मान्न मारितो नो दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या।।२५८।।

यो हि म्रियते जीवति वा, दुःखितो भवति सुखितो भवति वा, स खलु स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य तथा भवितुमशक्यत्वात्। ततः मयायं मारितः, अयं जीवितः, अयं दुःखितः कृतः, अयं सुखितः कृतः इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः।।२५७-२५८।।

अब इसी अर्थ को गाथाओं द्वारा कहते हैं:-

मरता दुखी होता जु जीव सब कर्म उदयों से बनें।
मुझसे मरा अरु दुखि हुआ क्या मत न तुझ मिथ्या अरे!।।२५७।।
अरु नहिं मरे, नहिं दुखि बने, वे कर्म उदयों से बने।
''मैंने न मारा दुखि करा'' क्या मत न तुझ मिथ्या अरे!।।२५८।।

गाथार्थ : [यः म्रियते] जो मरता है [च] और [यः दुःखितः जायते] और जो दुःखी होता है [सः सर्वः], वह सब [कर्मोदयेन] कर्मोदय से होता है; [तस्मात् तु] इसलिए [मारितः च दुःखितः] 'मैंने मारा, मैंने दुःखी किया' [इति] ऐसा [ते] तेरा अभिप्राय [न खलु मिथ्या] क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है?

[च] और [यः न म्रियते] जो न मरता है [च] और [नः दुःखितः] न दुःखी होता है [सः अपि], वह भी [खलु] वास्तव में [कर्मोदयेन च एव] कर्मोदय से ही होता है;

[तस्मात्] इसलिए [न मारितः च न दुःखितः] 'मैंने नहीं मारा, मैंने दुःखी नहीं किया' [इति] ऐसा तेरा अभिप्राय [न खलु मिथ्या] क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है?

टीका : जो मरता है या जीता है, दुःखी होता है या सुखी होता है, यह वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में उसका वैसा होना (मरना, जीना, दुःखी या सुखी होना) अशक्य है। इसलिए ऐसा देखनेवाला अर्थात् माननेवाला मिथ्यादृष्टि है कि–'मैंने इसे मारा, इसे जिलाया, इसे दुःखी किया, इसे सुखी किया।'

भावार्थ : कोई किसी के मारे नहीं मरता और जिलाए नहीं जीता तथा किसी के सुखी–दुःखी किये सुखी–दुःखी नहीं होता; इसलिए जो मारने, जिलाने आदि का अभिप्राय करता है, वह मिथ्यादृष्टि ही है–यह निश्चय का वचन है। यहाँ व्यवहारनय गौण है।

प्रवचन नं. ३२२, गाथा - २५७ से २६२, श्लोक-१७०, गुरुवार, आसोज शुक्ल ६
दिनाङ्क - २७-०९-१९७९

अब इसी अर्थ को गाथाओं द्वारा कहते हैं:– २५७ और २५८।

जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदएण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।।२५७।।

जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदएण चेव खलु।
तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।।२५८।।

मरता दुखी होता जु जीव सब कर्म उदयों से बनें।
मुझसे मरा अरु दुखि हुआ क्या मत न तुझ मिथ्या अरे!।।२५७।।

अरु नहिं मरे, नहिं दुखि बने, वे कर्म उदयों से बने।
''मैंने न मारा दुखि करा'' क्या मत न तुझ मिथ्या अरे!।।२५८।।

टीका :– जो मरता है... जो आयुष्य पूरा हुआ और देह छोड़कर मरता है तथा जो जीता है,.. आयुष्य के कारण से जो जीवन होता है और दुःखी होता है... उसके

प्रतिकूल संयोग असाता के उदय के कारण से (मिलते हैं), **सुखी होता है,...** (वह) साता के उदय के कारण से होता है, वह **वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है,...** उसे कर्म के कारण से जीवन, मरण, सुख और दुःख होता है। दूसरा उसे दे सके, यह बात अत्यन्त मिथ्या भ्रम है। आहाहा! विशेष कहेंगे, हों! यह तेरापन्थ की तरह नहीं है कि पर को बचाने का भाव, वह पाप। (परन्तु) ऐसा नहीं है। पर को बचा सकता हूँ, यह मिथ्यात्व है, परन्तु यह भाव है, वह शुभभाव-पुण्य है। समझ में आया? यह आयेगा। बात में अन्तर है।

मैं पर को मार सकता हूँ या बचा सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यात्व है, परन्तु दूसरे को बचा सकता हूँ और सुख के साधन दे सकता हूँ, ऐसा भाव है वह शुभ—पुण्य है। मिथ्यात्वसहित पुण्य है। समझ में आया? आहा! वे तो ऐसा कहते हैं कि पर को बचाना, वह पाप है। पर को बचा नहीं सकता, यह बात इसमें नहीं है। समझ में आया? यहाँ की बात वहाँ लेते हैं कि देखो! सोनगढ़वाले भी ऐसा कहते हैं कि पर को बचावे, वह पाप है। परन्तु वह तो बचाने की क्रिया मैं कर सकता हूँ, यह पाप है। परन्तु पर को बचाने और जिलाने का भाव है, वह शुभ है। मिथ्यादृष्टि सहित वह शुभ है, दृष्टि मिथ्यात्व है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

यह कहते हैं, मरता है, जीता है, दुःखी होता है, सुखी होता है, वह कर्मोदय से (होता है)। **क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में उसका वैसा होना (मरना, जीना, दुःखी या सुखी होना) अशक्य है। इसलिए ऐसा देखनेवाला अर्थात् माननेवाला मिथ्यादृष्टि है कि-'मैंने इसे मारा, इसे जिलाया, इसे दुःखी किया, इसे सुखी किया।'**

भावार्थ : कोई किसी के मारे नहीं मरता और जिलाए नहीं जीता... कोई किसी से **सुखी-दुःखी किये सुखी-दुःखी नहीं होता;...** आहाहा! **इसलिए जो मारने, जिलाने आदि का अभिप्राय करता है, वह मिथ्यादृष्टि ही है-यह निश्चय का वचन है। यहाँ व्यवहारनय गौण है।** निमित्त से कथन आता है। कथन में आता है कि इसने बचाया। निमित्त का ज्ञान करने को कथन आते हैं।

कलश - १७०

अब आगे के कथन का सूचक श्लोक कहते हैं:-

(अनुष्टुप्)

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात्।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते।।१७०।।

श्लोकार्थ : [अस्य मिथ्यादृष्टेः] मिथ्यादृष्टि के [यः एव अयम् अज्ञानात्मा अध्यवसायः दृश्यते] जो यह अज्ञानस्वरूप *अध्यवसाय दिखाई देता है [सः एव] वह अध्यवसाय ही [विपर्ययात्] विपर्ययस्वरूप (मिथ्या) होने से, [अस्य बन्धहेतुः] उस मिथ्यादृष्टि के बन्ध का कारण है।

भावार्थ : मिथ्या अभिप्राय ही मिथ्यात्व है और वही बंध का कारण है-ऐसा जानना चाहिए।।१७०।।

कलश - १७० पर प्रवचन

अब आगे के कथन का सूचक श्लोक कहते हैं:- १७० श्लोक।

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात्।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते।।१७०।।

मिथ्यादृष्टि के जो यह अज्ञानस्वरूप अध्यवसाय... एकत्वबुद्धि। नीचे (फुटनोट) है। जो परिणाम मिथ्या अभिप्राय सहित हो (-स्व-पर के एकत्व के

* जो परिणाम मिथ्या अभिप्रायसहित हो (-स्व-पर के एकत्व के अभिप्राय से युक्त हो) अथवा वैमानिक हो उस परिणाम के लिये अध्यवसाय शब्द प्रयुक्त किया जाता है। (मिथ्या) निश्चय अथवा (मिथ्या) अभिप्राय के अर्थ में भी अध्यवसाय शब्द प्रयुक्त होता है।

अभिप्राय से युक्त हो)... मैं पर का कर सकता हूँ, ऐसी एकत्वबुद्धि। **अथवा वैमानिक हो उस परिणाम के लिये अध्यवसाय शब्द प्रयुक्त किया जाता है। (मिथ्या) निश्चय अथवा (मिथ्या) अभिप्राय के अर्थ में भी अध्यवसाय शब्द प्रयुक्त होता है।**

मिथ्यादृष्टि के जो यह अज्ञानस्वरूप अध्यवसाय दिखाई देता है, वह अध्यवसाय ही विपर्ययस्वरूप (मिथ्या) होने से, उस मिथ्यादृष्टि के बन्ध का कारण है।

भावार्थ : मिथ्या अभिप्राय ही मिथ्यात्व है... अभिप्राय मिथ्या है न ? मैं जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ, यह अभिप्राय मिथ्या है। **और वही बंध का कारण है–ऐसा जानना चाहिए।**

गाथा - २५९

एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं।।२५९।।

एषा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति।
एषा ते मूढमतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म।।२५९।।

परजीवानहं हिनस्मि, न हिनस्मि, दुःखयामि सुखयामि इति य एवायमज्ञानमयोऽध्यवसायो मिथ्यादृष्टेः, स एव स्वयं रागादिरूपत्वात्तस्य शुभाशुभबन्धहेतुः ।।२५९।।

अब, यह कहते हैं कि यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है:-

ये बुद्धि तेरी 'दुखित अवरु सुखी करूं हूँ जीव को'।
वो मूढमति तेरी अरे! शुभ अशुभ बांधे कर्म को।।२५९।।

गाथार्थ : [ते] तेरी [एषा या मतिः तु] यह जो बुद्धि है कि मैं [सत्त्वान्] जीवों को [दुःखितसुखितान्] दुःखी-सुखी [करोमि इति] करता हूँ, [एषा ते मूढमतिः] यही तेरी मूढबुद्धि ही (मोहस्वरूप बुद्धि ही) [शुभाशुभं कर्म] शुभाशुभ कर्म को [बध्नाति] बाँधती है।

टीका : 'मैं परजीवों को मारता हूँ, नहीं मारता, दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसा जो यह अज्ञानमय अध्यवसाय मिथ्यादृष्टि के है, वही (अर्थात् वह अध्यवसाय ही) स्वयं रागादिरूप होने से उसे (-मिथ्यादृष्टि को) शुभाशुभ बन्ध का कारण है।

भावार्थ : मिथ्या अध्यवसाय बन्ध का कारण है।

गाथा - २५९ पर प्रवचन

अब, यह कहते हैं कि यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बंध का कारण है:- यह इसमें खूबी लेते हैं।

एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं।।२५९।।

ये बुद्धि तेरी 'दुखित अवरु सुखी करूं हूँ जीव को'।
वो मूढमति तेरी अरे! शुभ अशुभ बांधे कर्म को।।२५९।।

टीका : 'मैं परजीवों को मारता हूँ, नहीं मारता, (जिलाता हूँ)। दु:खी करता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसा जो यह अज्ञानमय अध्यवसाय मिथ्यादृष्टि के है, वही (अर्थात् वह अध्यवसाय ही) स्वयं रागादिरूप होने से उसे (-मिथ्यादृष्टि को) शुभाशुभ बन्ध का कारण है। भाषा देखो! पर को जिला सकता हूँ और सुखी कर सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्या है परन्तु पर को जिलाता हूँ और सुखी करता हूँ, यह भाव है, वह शुभभाव पुण्य है। समझ में आया? क्या कहा?

मैं पर को जिला सकता हूँ, सुखी कर सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यात्व है, परन्तु पर को जिलाऊँ, सुखी करने का जो भाव है, वह शुभ और पुण्य है। मिथ्यादृष्टिसहित वह पुण्य बाँधता है। आहा! ऐसी बात है। सुमेरुमलजी! समझ में आया? तेरापन्थी की तरह नहीं। तुलसी तेरापन्थी है न? वह कहते हैं, पर को बचाना, वह पाप है। उसे बचा सकता है या नहीं, यह प्रश्न उसमें नहीं है। यह तो हमें पहले से खबर है, सब तेरापन्थी को देखा है। तेरापन्थी के सब शास्त्र देखे हैं। उनमें एक थे, कैसे? '....' हमारे पास रहते थे।... वे कहें कि पर को बचा सकता हूँ, यह पाप है। वह पाप है, ऐसा नहीं है। पर को बचा सकता हूँ— ऐसा अभिप्राय है, वह मिथ्यात्व है। परन्तु पर को बचाने का जो भाव है, वह मिथ्यादृष्टि सहित शुभभाव है। आहाहा! ऐसी बात है। समझ में आया? **'सुहासुहं'** कहा न? **'सुहासुहं बंधदे कम्मं'** पर को मैं मार सकता हूँ और पर को दु:खी कर सकता हूँ, यह मान्यता—अभिप्राय मिथ्यात्व है, परन्तु वैसा भाव है, वह अशुभ पाप है। मिथ्यात्व भी पाप है और अशुभभाव भी पाप है। पर को जिला सकता हूँ, उसे साधन दे सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यात्व है परन्तु भाव है, वह शुभ पुण्य है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। सूक्ष्म बात, भाई!

भगवान वीतराग परमात्मा, उसे स्पष्ट करते हैं। प्रभु! तू दूसरे जीव का कुछ भी कर

सकता है, सुखी-दुःखी, जीवन-मरण, यह तेरा अभिप्राय मिथ्या है। क्योंकि उनके कर्मोदय के कारण से जीते हैं, सुखी-दुःखी होते हैं, मरते हैं, वे उनके कर्म के कारण से और तू कहता है कि मैं उसे जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ, यह तेरा अभिप्राय मिथ्यात्व है। परन्तु उस मिथ्यात्व में सुखी करता हूँ, अथवा जिलाता हूँ, ऐसे परिणाम हैं पुण्य हैं। मिथ्यात्वसहित पुण्य है। ऐसी बात है। पर को मार सकता हूँ और दुःखी कर सकता हूँ, यह अभिप्राय मिथ्यात्व है और उनके साथ अशुभ परिणाम है, वह पाप है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है। वह तुम्हारे पैसे-बैसे में कहीं यह बात नहीं है। बहुत अरबोंपति अमेरिका में हैरान है। अरबोंपति बेचारे हैरान... हैरान... फिर 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण (करे)।' मुम्बई में आते हैं। धूल भी भान नहीं होता। है न मुम्बई में? खबर है न, देखे हैं न। ऐसा कि वहाँ से उकता गये हैं। अरबों रुपये में कहीं सुख नहीं। अब 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण' वस्त्र पहनकर करते हैं। धूल में भी नहीं। 'कृष्ण हरे' तो यह आत्मा है। 'कर्म कृषे से कृष्ण कहिये और अज्ञान तथा राग-द्वेष को हरे, सो हरि कहिये'। समझ में आया? आनन्दघनजी में शब्द है। श्वेताम्बर में आनन्दघनजी हो गये न? सब देखा है न। आनन्दघनजी में ऐसा लिखा है कि कर्म कृषे सो कृष्ण कहिये। जो कर्म विकार भाव है, उसे कृष करके नाश कर दे, वह कृष्ण है और अज्ञान तथा राग-द्वेष को हरे, नाश करे वह हरि है। वह हरि और कृष्ण यह आत्मा है। अरे! परन्तु अभी यह बात कहाँ है?

दुनिया की उलझन में बेचारा उलझ गया है। आहाहा! मेरा क्या होगा? मैं कहाँ जाऊँगा? मेरा आवास कहाँ होगा? देह तो छूटनेवाली है, आत्मा कहीं नाश होनेवाला है? आत्मा का नाश नहीं होता, तो कहाँ जाएगा? आहाहा! मिथ्यात्वभाव जहाँ है, वह नरक, निगोद, तिर्यंच आदि में जाएगा। आहाहा! यहाँ कहते हैं, कदाचित् जीव के सुखी-दुःखी के भाव हो, वह मिथ्यादृष्टि है, पुण्य बँधेगा। कदाचित् पुण्य के कारण से स्वर्ग में भी जाए, परन्तु दृष्टि मिथ्यात्व है तो परम्परा में मिथ्यात्व का ही पोषण है। कठिन बात है, भाई! क्या कहते हैं? देखो!

यह **शुभाशुभ बन्ध का कारण है।** ऐसा कहा न? क्या? मैं पर का जिला सकता हूँ और सुख के साधन दे सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यात्व है परन्तु जिलाता हूँ, सुखी करता

हूँ, ऐसा भाव जो है, वह पुण्य है, मिथ्यादृष्टि सहित पुण्य है। तेरापन्थी की तरह नहीं कि मिथ्यादृष्टि सहित वह (भाव) भी पाप है। समझ में आया? वह पुण्य है (तो) अघातिकर्म बँधेंगे। 'सुहासुहं कम्मं' है न? शुभकर्म बँधेगा। साता बँधेगी, यशकीर्ति बँधेगा और पाप है, पर को मार सकता हूँ, दुःखी कर सकता हूँ, यह अभिप्राय-आशय मिथ्यात्व है, अज्ञान है परन्तु वह मारने का भाव और दुःखी करने का भाव है, वह अशुभभाव है। मिथ्यादृष्टि सहित अशुभभाव है। और अज्ञानी का मिथ्यादृष्टिसहित जिलाऊँ, सुखी करूँ—ऐसा भाव मिथ्यादृष्टि सहित शुभभाव है। अरे! ऐसी बातें हैं। समझ में आया? यहाँ कोई पक्ष नहीं, वाड़ा नहीं, यह तो वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ कहते हैं, वह बात है। स्थानकवासी और यह तेरापन्थी यहाँ वह कोई पन्थ नहीं है। यह तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ जो वस्तु कहते हैं, वह चीज़ है। आहाहा! क्या आया? देखो!

उसे (-मिथ्यादृष्टि को) शुभाशुभ बन्ध का कारण है। पर को जिलाता हूँ, साधन दे सकता हूँ, सुखी (करता हूँ), यह भाव शुभ है (इसलिए) पुण्यबन्ध करेगा। है मिथ्यादृष्टि, इसलिए महामिथ्यात्व का पाप साथ में है। समझ में आया? पर को मार सकता हूँ, दुःखी कर सकता हूँ, ऐसा अभिप्राय है, वह मिथ्यात्व है और भाव है, वह भी अशुभ है, मिथ्यादृष्टि सहित अशुभभाव है। उसमें मिथ्यादृष्टि सहित शुभभाव है, इतना अन्तर है। बाकी दोनों मिथ्यादृष्टि अज्ञानी हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

भावार्थ : मिथ्या अध्यवसाय बन्ध का कारण है। भावार्थ है? यह मिथ्या अभिप्राय—अध्यवसाय है। 'मैं पर को जिलाऊँ, मारता हूँ' यही महापाप है। आहाहा!

गाथा - २६०-२६१

अथाध्यवसायं बन्धहेतुत्वेनावधारयति –

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि।।२६०।।

मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि।।२६१।।

दु:खितसुखितान् सत्त्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबन्धकं वा पुण्यस्य वा बन्धकं भवति।।२६०।।

मारयामि जीवयामि वा सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबन्धकं वा पुण्यस्य वा बन्धकं भवति।।२६१।।

य एवायं मिथ्यादृष्टेरज्ञानजन्मा रागमयोऽध्यवसाय: स एव बन्धहेतु: इत्यवधारणीयम्। न च पुण्यपापत्वेन द्वित्वाद्बन्धस्य तद्धेत्वन्तरमन्वेष्टव्यं; एकेनैवानेनाध्यवसायेन दु:खयामि मारयामि इति, सुखयामि जीवयामीति च द्विधा शुभाशुभाहङ्काररसनिर्भरतया द्वयोरपि पुण्यपापयोर्बन्ध-हेतुत्वस्याविरोधात्।।२६०-२६१।।

अब, अध्यवसाय को बन्ध के कारण के रूप में भलीभाँति निश्चित करते हैं (अर्थात् मिथ्या अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है, ऐसा नियम से कहते हैं):-

करता तु अध्यवसान- 'दु:खित सुखी करूं हूँ जीव को।'
वो बाँधता है पाप को वा बाँधता है पुण्य को।।२६०।।

करता तु अध्यवसान- 'मैं मारूँ जिवाऊँ जीव को।'
वो बाँधता है पाप को वा बाँधता है पुण्य को।।२६१।।

गाथार्थ : '[सत्वान्] जीवों को मैं [दु:खितसुखितान्] दु:खी-सुखी [करोमि] करता हूँ' [एवम्] ऐसा [यत् ते अध्यवसितं] जो तेरा *अध्यवसान, [तत्] वही [पापबन्धकं

---

* जो परिणमन मिथ्या अभिप्रायसहित है (-स्वपर के एकत्व के अभिप्राय से युक्त हो) अथवा वैभाविक हो उस परिणमन के लिये 'अध्यवसान' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। (मिथ्या) निश्चय अथवा (मिथ्या) अभिप्राय करने के अर्थ में भी अध्यवसान प्रयुक्त होता है।

वा] पाप का बन्धक [पुण्यस्य बंधकं वा] अथवा पुण्य का बन्धक [भवति] होता है।

'[सत्त्वान्] जीवों को मैं [मारयामि व जीवयामि] मारता हूँ और जिलाता हूँ' [एवम्] ऐसा [यत् ते अध्यवसितं] जो तेरा अध्यवसान, [तत्] वही [पापबन्धकं वा] पाप का बन्धक [पुण्यस्य बंधकं वा] अथवा पुण्य का बन्धक [भवति] होता है।

टीका : मिथ्यादृष्टि के इस अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला रागमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है, यह भलीभाँति निश्चित करना चाहिए। और पुण्य-पापरूप से बन्ध का द्वित्व (दो-पनाँ) होने से बन्ध के कारण का भेद नहीं ढूँढना चाहिए (अर्थात् यह नहीं मानना चाहिए कि पुण्यबन्ध का कारण दूसरा है और पापबन्ध का कारण कोई दूसरा है), क्योंकि यह एक अध्यवसाय 'दु:खी करता हूँ, मारता हूँ' इस प्रकार और 'सुखी करता हूँ जिलाता हूँ' यों दो प्रकार से शुभ-अशुभ अहंकाररस से परिपूर्णता के द्वारा पुण्य और पाप-दोनों के बन्ध के कारण होने में अविरोध है (अर्थात् एक ही अध्यवसाय से पुण्य और पाप-दोनों का बन्ध होने में कोई विरोध नहीं है।

भावार्थ : यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है। उसमें, 'मैं जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसे शुभ अहंकार से भरा हुआ वह शुभ अध्यवसाय है और 'मैं मारता हूँ, दु:खी करता हूँ' ऐसे अशुभ अहंकार से भरा हुआ वह अशुभ अध्यवसाय है। अहंकाररूप मिथ्याभाव दोनों में है; इसलिए अज्ञानमयता से दोनों अध्यवसाय एक ही हैं। अत: यह न मानना चाहिए कि पुण्य का कारण दूसरा है और पाप का कारण कोई अन्य। अज्ञानमय अध्यवसान ही दोनों का कारण है।

गाथा - २६०-२६१ पर प्रवचन

अब, अध्यवसाय को बन्ध के कारण के रूप में भलीभाँति निश्चित करते हैं (अर्थात् मिथ्या अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है-ऐसा नियम से कहते हैं):- २६० न?

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि।।२६०।।

मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि।।२६१।।

करता तु अध्यवसान–'दु:खित सुखी करूं हूँ जीव को।'
वो बाँधता है पाप को वा बाँधता है पुण्य को।।२६०।।
करता तु अध्यवसान–'मैं मारूँ जिवाऊँ जीव को।'
वो बाँधता है पाप को वा बाँधता है पुण्य को।।२६१।।

जो शुभाशुभ कहा न? उसका स्पष्टीकरण किया।

टीका : मिथ्यादृष्टि के... दृष्टि मिथ्यात्व है। आहाहा! महापाप है। **इस अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला रागमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है...** रागमय एकत्वबुद्धि भी बन्ध का कारण है, **यह भलीभाँति निश्चित करना चाहिए।** आहाहा! पर को जिलाता हूँ, सुखी-दु:खी करता हूँ, यह अध्यवसाय / दृष्टि ही मिथ्यादृष्टि है, ऐसा निश्चय करना चाहिए, बराबर निश्चय करना चाहिए, बराबर निश्चय करना। दूसरे को कुछ देता हूँ तो आत्मा को लाभ होगा। बिल्कुल नहीं, मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? आहाहा!

अभी तो सब बड़े सेठिया पैसे दें, उन्हें दानवीर (की पदवी देते हैं)। भाई ने— हुकमचन्दजी ने लिखा है, सब यश के लोभी के पास पैसा पाँच-पच्चीस लाख देवे और उन्हें दानवीर की उपमा दे परन्तु किसी ज्ञानी को, सच्चे ज्ञानी को, सच्चे पण्डित को, ज्ञानवीर की उपमा दी? आहाहा! अब पाँच-पचास लाख, करोड़, दो-पाँच-पच्चीस करोड़ हों और उसमें लाख, दो लाख खर्च करे, वहाँ दानवीर कर दिया, धूल में। और वह भी यश के लोभी। हमारा नाम बाहर रहेगा। तख्ती लगावे उसमें नाम रहेगा। समाचार-पत्र में आवे कि हमारा नाम आया है, देखो! हमने दस लाख दिये हैं। यहाँ तो स्पष्ट (बात है)। ऐसा अभिप्राय है वह दानवीर नहीं, वह तो कंजूस है। आहाहा! क्योंकि पैसा देकर परिमितता— पैसा घटाना, ऐसा नहीं है। पैसे की कमाई में बढ़ाने का भाव तो है ही। आहाहा! घटाया कब कहलाये? जब सम्यग्दर्शनसहित परिग्रह का परिमाण करे तो उस परिमाणवाले ने घटाया। उसने राग घटाया। परन्तु यहाँ तो पाँच लाख की आमदनी हो, उसमें से पाँच लाख दे तो भी क्या है? आहा! वह तो मिथ्यादृष्टि है, मानता है कि मैंने यह दिया और हमारा यश रहा। यश मिला तो जीवन सफल हुआ। हैं?

मुमुक्षु : प्रभावना तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभावना क्या? अन्दर मिथ्यादृष्टि हुआ। बाहर में प्रभावना तो, उसका भाव होवे तो उसके कारण से होती है, शुभभाव होवे तो उसके कारण से होती है, तेरे कारण से नहीं होती। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा!

यहाँ तो शुभाशुभ को बन्ध का कारण कहा था न, उसका स्पष्टीकरण किया कि पुण्य-पाप का बन्ध है। है? देखो! **टीका : मिथ्यादृष्टि के इस अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला रागमय अध्यवसाय...** राग में एकत्वबुद्धि है न? **बन्ध का कारण है यह भलीभाँति निश्चित करना चाहिए। और पुण्य-पापरूप से बन्ध का द्वित्व (दो-पनाँ) होने से बन्ध के कारण का भेद नहीं ढूँढना चाहिए...** क्या कहते हैं? एक को मिथ्यादृष्टि सहित पुण्य बँधता है और एक को मिथ्यादृष्टि सहित पाप बँधता है, परन्तु ऐसे पुण्य-पाप में भेद नहीं करना। बन्ध दोनों को है। समझ में आया?

अबन्धस्वरूपी भगवान आत्मा, पूर्णानन्दस्वरूप अन्दर मुक्तस्वरूप प्रभु आत्मा है। उसकी दृष्टि करने से आत्मा को सम्यग्दर्शन होता है। उस अबद्धस्वरूप को नहीं जानकर पर को मैं सुखी, दुःखी करता हूँ, ऐसा आत्मा में मिथ्या अभिप्राय करता है, यह कहते हैं कि भले कोई जिलाने का, सुखी करने का शुभभाव हो, तथा पाप का अशुभभाव हो, परन्तु पुण्य और पाप में भेद नहीं जानना। दोनों बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया? कठिन काम, भाई! दुनिया से भिन्न पड़ना बहुत कठिन काम, भाई! आहाहा!

वीतराग तीन लोक के नाथ इन्द्रों के समक्ष में प्रकार करते हैं, वह बात है। महाविदेह में परमात्मा बारह सभा में यह बात करते हैं। आहा! वह बात यहाँ आयी है। आहा! कहते हैं कि भाई! प्रभु! तू कौन है? क्या तू पर का कुछ कर सकता है? सुखी-दुःखी, जीवन, मरण (कर सकता है)? हाँ, तेरे अभिप्राय में ऐसा हो कि मैं जीवन, मरण करता हूँ तो तेरा वह अभिप्राय मिथ्यात्व है। जीवन (देने का) और सुखी करने का भाव शुभ है तथा मरण और दुःखी करने का भाव अशुभ है, परन्तु वह शुभ-अशुभ का भेद नहीं करना। दोनों बन्ध है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

तीसरी एक अपेक्षा ऐसी है कि 'पाप को पाप सब कहे, परन्तु अनुभवीजन पुण्य को पाप कहे।' योगीन्द्रदेव में आता है। योगीन्द्रदेव के दोहे हैं। आहाहा! अनुभवीजन—आत्मा

के आनन्द का नाथ प्रभु, सच्चिदानन्दस्वरूप का जिसे अनुभव, सम्यग्दर्शन हुआ, वह अनुभवी तो ऐसा कहते हैं कि अशुभभाव तो पाप है ही, परन्तु शुभभाव पुण्य है, वह भी अनुभव की अपेक्षा से पाप है। आहाहा! कठिन काम। अनादि चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करते-करते मुश्किल से मनुष्यपना मिला। आहाहा! उसमें यदि आत्मा की दौर नहीं सम्हाली अन्दर, आहाहा! तीन लोक का नाथ शुद्ध आनन्दघन प्रभु की दृष्टि नहीं की और पर का कर्ता और भोक्ता मान लिया, प्रभु! तेरा क्या होगा? तेरी गति कहाँ होगी? तू कहाँ जाएगा? आहाहा! वहाँ कोई बाहर की सिफारिश काम नहीं आयेगी। सिफारिश को क्या कहते हैं? बाहर की सिफारिश, हमें हजारों मानते थे, लाखों मानते थे, यह वहाँ काम नहीं आयेगा। दुर्गति में जाएगा तो शरण नहीं मिलेगी किसी की। बड़ी इज्जत बड़ी थी न? तेरी इज्जत का क्या है? भागचन्दजी! आहाहा! अरे... प्रभु!

यहाँ तो कहते हैं कि पर को जिलाऊँ, मारूँ, सुखी-दुःखी आदि करूँ, वह मिथ्यादृष्टि है। भले पुण्य और पाप में अन्तर हो, परन्तु निश्चय से बन्ध में अन्तर नहीं है। आहाहा! है? **(अर्थात् यह नहीं मानना चाहिए कि पुण्यबन्ध का कारण दूसरा है और पापबन्ध का कारण कोई दूसरा है), क्योंकि यह एक अध्यवसाय 'दुःखी करता हूँ, मारता हूँ' इस प्रकार और 'सुखी करता हूँ, जिलाता हूँ' यों दो प्रकार से शुभ-अशुभ अहंकाररस से परिपूर्णता के द्वारा पुण्य और पाप-दोनों के बन्ध के कारण होने में अविरोध है...** पुण्य और पाप बराबर बन्ध के कारण हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है। आहाहा! सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी। पुण्यभाव, वह सोने की बेड़ी है। लोहे की अपेक्षा सोने में चिकनाई अधिक है। लोहे की बेड़ी होती है न? लोहे की, वह बहुत घिसती नहीं। परन्तु सोने की बेड़ी होवे तो घिसती बहुत है, चिकनाहट बहुत है, वजन बहुत है। पुण्यभाव है, वह सोने की बेड़ी है। प्रभु... प्रभु..! जगत से निराली बात है, भाई! पाप, वह लोहे की बेड़ी परन्तु दोनों बेड़ियाँ हैं। सोने की बेड़ी तो बहुत कठिन, सोने की पहनाई हो तो चल नहीं सके। लोहे की होवे तो थोड़ा-थोड़ा चल सके और घिस जाए। सोने की बेड़ी हो तो पैर घिसे, लोहे की बेड़ी में पैर नहीं घिसते। अरे रे! आहाहा!

यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि पुण्य-पाप के बन्ध में अन्तर नहीं मानना। पर को जिलाता हूँ और सुखी करता हूँ तो पुण्यबन्ध मिथ्यादृष्टिसहित होगा। और पर को मैं मार

सकता हूँ, दुःखी कर सकता हूँ, यह मिथ्यादृष्टिसहित पाप है, इस पुण्य-पाप में अन्तर नहीं मानना। आहाहा! अरे रे! ऐसा करने का समय कहाँ मिले? अनन्त काल से भटकता है। नरक, निगोद... आहाहा! कितने ही जीव तो अभी लट हुए नहीं, ऐसा भगवान कहते हैं। भगवान परमात्मा ऐसा कहते हैं कि इतने जीव प्याज, लहसुन आदि, काई में इतने जीव पड़े हैं कि अनन्त काल हुआ तो भी अभी त्रस नहीं हुए। इतने जीव वहाँ पड़े हैं। त्रस नहीं हुए। आहाहा! ईयल... ईयल...! ईयल कहते हैं न? लट। लट नहीं हुए। वहीं के वहीं निगोद में अनादि से पड़े हैं। आहाहा! वह तो हुआ नहीं तो मनुष्य तो कहाँ से हो? ऐसे अनन्त-अनन्त गुने जीव पड़े हैं। वहाँ भी शुभाशुभभाव होते हैं, हों! प्याज में, लहसुन में काई के जीव में परमात्मा कहते हैं कि क्षण में शुभ, क्षण में अशुभ तो होता ही है। भले दया, दान आदि न हो, परन्तु भाव तो अन्दर शुभ और अशुभ दोनों होते हैं। क्या कहा? लहसुन और प्याज में जो जीव हैं, वे अनन्त हैं, तो प्रत्येक प्राणी को क्षण में शुभ और क्षण में अशुभ, ऐसी कर्मधारा उसे क्षण-क्षण में बँधती ही है। वह कोई नयी चीज़ नहीं है। आहाहा! वहाँ तो कुछ पैसा देना, आहार देना—ऐसा कुछ है नहीं। वहाँ तो मन और वाणी भी नहीं, एक काया है। काया का क्या काम है? आत्मा है न, तो अन्दर राग की मन्दता से शुभभाव भी होता है। शुभभाव से पुण्य बँधता है तो उसी और उसी में कोई पर्याप्तरूप से, बादररूप से (जन्मता है)। आहाहा! अरे! क्या कहा, समझ में आया? निगोद में पुण्य और पाप के भाव क्षण-क्षण में होते हैं। उन्हें मन और वचन है नहीं। एक काया ही है। यह वनस्पति, लो। नीम, एक-एक पत्ते में असंख्य जीव हैं। एक-एक जीव में क्षण-क्षण में शुभ-अशुभ, शुभ-अशुभ का बन्ध करता है। यह कहते हैं।

क्योंकि यह एक अध्यवसाय 'दुःखी करता हूँ, मारता हूँ' इस प्रकार और 'सुखी करता हूँ जिलाता हूँ' यों दो प्रकार से शुभ-अशुभ अहंकाररस से परिपूर्णता के द्वारा... अभिमान तो दोनों का है, कहते हैं। मैं सुखी करता हूँ, मैं जिलाता हूँ। आहाहा! यह कहा नहीं था? गोवा, दो अरब चालीस करोड़ रुपये। है अभी, लड़के हैं। दो अरब चालीस करोड़, दो सौ चालीस करोड़ रुपये। क्या? दौ सौ चालीस करोड़—धूल। आहाहा! बहुत पाप करे। मैंगनीज और तीन सौ तो जहाज है। एक-एक लाख रुपये का जहाज। मैंगनीज निकला था। एक देश में से दूसरे देश में (भेजना) तीन सौ तो

जहाज है। एक-एक लाख के तीन सौ (जहाज)। समुद्र में बड़ा गृहस्थ है—जैन है—स्थानकवासी है। हैं?

मुमुक्षु : अम्बाजी को मानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु अम्बाजी को मानता है। मूर्ख। आहाहा! उसे कहा, बहुत पाप करता था, उसके बहनोई... क्या नाम? उसके बहनोई का? यह पोपटभाई आते हैं, लींबडी के। उनकी दो लड़कियाँ बालब्रह्मचारी हैं। उनके बहन की लड़कियाँ। शान्तिलाल की बहन की लड़कियाँ। दो अरब चालीस करोड़। उसे कहा, कि तुम अब यह किसलिए करते हो? इतने सब पैसे हैं। उसके बहनोई पोपटभाई ने कहा, यहाँ आते हैं। तब कहे—'क्या मैं यह पैसे के लिये करता हूँ? हजारों लोग निभते हैं।' अरर! देखो! इस पागलपने को देखो। पागल हो गया, पागल। मैं तो हजारों लोग निभते हैं, इसलिए करता हूँ। इतने दो अरब चालीस करोड़ रुपये, दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह, बीस करोड़ की वर्ष की आमदनी, अब तुझे क्या करना है? समझ में आया? वह मरकर भाई! एक क्षण में (चले गये)। स्त्री को हेमरेज हुआ था। वहाँ से—गोवा से मुम्बई लाये। हेमरेज में... पड़ी थी। इसे एकदम हार्ट (अटैक) आया। बुलाओ डॉक्टर को, मुझे दुखता है, मुझे दुखता है। डॉक्टर आवे वहाँ... जाओ! अरे! भटकने, चार गति में भटकेगा। यह पैसा सब दो अरब और चालीस करोड़ पड़े रहे। आहाहा! पशु में, ढ़ोर में, तिर्यंच में गया होगा। नरक में तो न जाए। माँस आदि न (खाता हो) इसलिए (वहाँ तो नहीं जाए)।

तिर्यंच की बड़ी खान है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच इतने हैं कि उसमें बहुत जाते हैं और वहाँ से निकलकर स्वर्ग में भी बहुत तिर्यंच जाते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच, हों! असंख्य-असंख्य पड़े हैं। उसमें से कितनी बार तो लाखों, करोड़ों एक समय में स्वर्ग में जाते हैं, ऐसा शास्त्र में पाठ है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच की इतनी संख्या है। असंख्य द्वीप समुद्र में (है)। आहाहा! भगवान ने कहा, वह बात है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि मैं पर के लाभ के लिये करता हूँ, (यह) मिथ्यात्व का अहंकार है। यह कहते हैं न? **अहंकाररस से परिपूर्णता के द्वारा पुण्य और पाप-दोनों के बन्ध के कारण होने में अविरोध है...** बिल्कुल अन्तर नहीं, यह तो पुण्य बँधे या पाप

बँधे परन्तु मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! अरे! तुम्हारे तो गाँव में है न, भागचन्दजी! तेरापन्थी तुम्हारे गाँव में—सरदारशहर में है। एक तेरापन्थी यहाँ आया था। बहुत वर्ष पहले आया था। हैं?

मुमुक्षु : बहुत घर हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इतने घर हैं। और एक तेरापन्थी बहुत वर्ष पहले आया था। उसे कहा कि भाई! यह मार्ग अलग है। यह पुण्य है, वह तो बन्ध का कारण है। मैं क्रिया कर सकता हूँ, यह तो मिथ्यात्व है। वह व्यक्ति कहे, ... ऐसी बात है। तेरापन्थी आया था। यह बात कहाँ मिले? क्या करे? प्रभु! आहाहा!

अरे! प्रभु! तेरा छुटकारा कैसे हो? आहाहा! ऐसे बन्धन तो अनन्त बार किये। क्योंकि शुभ-अशुभभाव तो निगोद में होता है। नीम का पत्ता है न? एक-एक पत्ते में असंख्य जीव हैं। प्रत्येक जीव क्षण-(क्षण में) शुभ-अशुभ, शुभ-अशुभ वहाँ करता ही है। सिद्धान्त में भगवान का ऐसा पाठ है। आहाहा! वहाँ कुछ दान देना, पैसा देना वह सब है नहीं। मन-वचन है नहीं, परन्तु आत्मा है न! आहा! राग की मन्दता का भाव होता है तो उसे शुभ भी होता है, अशुभ भी होता है। परन्तु वहीं का वहीं रहता है। अरेरे! समझ में आया?

(अर्थात् एक ही अध्यवसाय से पुण्य और पाप-दोनों का बन्ध होने में कोई विरोध नहीं है।) आहाहा! २६१ हुई न?

भावार्थ : यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है। आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का करे, यह मान्यता एकदम ही मिथ्यात्व है। भागचन्दजी कहते नहीं थे? छहों द्रव्य निकम्मे हैं? पर्यायरहित हैं? तो दूसरा उनकी पर्याय करे। कोई पदार्थ अपनी पर्यायरहित निकम्मा है कि दूसरा जीव उसकी पर्याय करे? क्या कहा? क्या कहा? जगत में अनन्त आत्माएँ हैं, तो अनन्त आत्मा में कोई द्रव्य, पर्यायरहित है? कार्य—पर्यायरूपी कार्य किये बिना कोई द्रव्य रहता है? पर्याय बिना, कार्य किये बिना रहता नहीं तो तू दूसरा क्या कर सकता है? भागचन्दजी! तुम्हारे में आता है न? कोई (द्रव्य) निकम्मा नहीं है। निकम्मा का अर्थ—प्रत्येक द्रव्य / वस्तु, आत्मा या परमाणु, वर्तमान में पर्यायरूपी कार्य

करता ही है। पर्यायरूपी कार्यरहित कोई चीज़ नहीं है। तो तू दूसरे का क्या करेगा? आहाहा! हैं?

मुमुक्षु : दोनों इकट्ठे होकर कार्य नहीं कर सकते?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों इकट्ठे हैं कहाँ? एकड़े एक और बिगड़े दो। मैं करता हूँ, वह मिथ्यात्व में बिगड़ा। आहाहा!

ज्ञानी को भी ऐसा भाव आता है। समझ में आया? परन्तु मैं पर को सुखी-दुःखी करता हूँ और मैं ले-दे सकता हूँ, ऐसी मान्यता नहीं है। यह मान्यता (-क्रिया) के काल में मैं निमित्तमात्र हूँ। कोई साधु आया, आहार-पानी दिया। वह क्रिया तो उसके कारण से हुई है, मैं कर्ता नहीं—ऐसा ज्ञानी मानता है। और मैं तो पर की क्रियाकाल में निमित्त हूँ, कर्ता नहीं। आहाहा! अब ऐसी बातें। पाठ है, हों! जयसेनाचार्यदेव की टीका में (है)।

ज्ञानी को भी ऐसा विकल्प आता है। किसी को दुःखी देखकर विकल्प आता है। परन्तु वह पर को मैं बचा सकता हूँ, दे सकता हूँ—ऐसी मान्यता नहीं है। मैं तो उसमें निमित्तमात्र हूँ। आहाहा! यह शुभभाव विकल्प, राग आया तो पुण्यबन्ध होगा। आहाहा!

धर्मी को अशुभभाव आया। किसी को, शत्रु को मारने का विकल्प (आया) तो मैं मार सकता हूँ, ऐसी मान्यता नहीं है। भाव आया, भाव को समझता है कि मैं पर में निमित्तमात्र हूँ। वह भाव सम्यग्दर्शन सहित है तो थोड़ा पाप बँधता है। अरे! ऐसी बातें। हैं? सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, बाहुबली और भरत चक्रवर्ती दोनों ने युद्ध किया। समकिती थे। विकल्प आया, वह क्रिया होती है, मैं तो निमित्त हूँ, ऐसा दोनों मानते थे। आहाहा! समझ में आया? मुझे जरा अशुभभाव आया तो पापबन्ध होगा। सम्यग्दर्शनसहित, हों! और शुभभाव आया, किसी को दुःखी देखकर पाँच-पच्चीस हजार दिये, आहार-पानी दिया। वह क्रिया मैंने की, ऐसा नहीं मानते। मैं तो उस क्रिया में निमित्तमात्र हूँ। उस शुभभाव में उसे पुण्य बँधेगा। सम्यग्दर्शन सहित पुण्य बँधेगा। और मिथ्यादृष्टि को मैं सुखी और दुःखी करता हूँ, मैं उसे जिलाता हूँ, मैंने अनुकूल सामग्री दी, ऐसी एकत्वबुद्धि के मिथ्यात्वसहित, जिलाता हूँ, सुखी करने का भाव पुण्य है और पर को दुःखी करने का, मारने का भाव पाप है। पुण्य और पाप दोनों बन्ध के कारण हैं। ऐसा कब याद रखना? यह दुनिया की मिठास, जहर

की मिठास, सर्प की मिठास है। आहाहा! यह मिठास छोड़े बिना, प्रभु! यह बात बैठेगी नहीं, नाथ! आहाहा!

अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है। उसमें, 'मैं जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसे शुभ अहंकार से भरा हुआ, वह शुभ अध्यवसाय है.. देखा? शुभ अध्यवसाय है। **और 'मैं मारता हूँ, दुःखी करता हूँ' ऐसे अशुभ अहंकार से भरा हुआ, वह अशुभ अध्यवसाय है। अहंकाररूप मिथ्याभाव दोनों में है;...** दोनों में है। **इसलिए अज्ञानमयता से दोनों अध्यवसाय एक ही हैं।** अज्ञान की अपेक्षा से एक ही है। **अतः यह न मानना चाहिए कि पुण्य का कारण दूसरा है और पाप का कारण कोई अन्य। अज्ञानमय अध्यवसान ही दोनों का कारण है।** आहाहा! मिथ्या अभिप्राय है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का क्या करे? प्रभु! शरीर ऐसे हिले, उसे आत्मा नहीं हिला सकता। यहाँ डग भरता है, डग भरने की क्रिया जड़ की है, आत्मा नहीं करता। आत्मा की प्रेरणा से शरीर चलता ही नहीं। यह बात और वह डग भरता है तो वह डग (कदम) जमीन को स्पर्श नहीं करता। पागल जैसी बात लगे। आहाहा!

भगवान ऐसा कहते हैं, कि एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य की पर्याय के बीच में अत्यन्त अभाव है। अभाव है तो पर को स्पर्श कहाँ से करे? आहाहा! समझ में आया? यह हाथ है, देखो! वह यहाँ स्पर्श करता है? नहीं। एक दूसरे में अत्यन्त अभाव है। इस परमाणु की पर्याय और इस परमाणु की पर्याय के बीच में अत्यन्त अभाव है। अभाव है, उसमें स्पर्श करता है—ऐसा कहाँ से आया? छूता है, चूमता है, स्पर्श करता है—यह कहाँ से आया? भगवान! बहुत कठिन बात! आहाहा! समझ में आया?

पानी ठण्डा है और यहाँ अग्नि आयी तो गर्म हुआ। सुनो! अग्नि की पर्याय पानी को स्पर्शी ही नहीं है। क्योंकि पानी के परमाणु और अग्नि के परमाणु भिन्न-भिन्न चीज़ है और पानी गर्म हुआ, वह स्वयं के कारण से हुआ है; अग्नि को छुआ, इसलिए गर्म हुआ है, ऐसा नहीं है। अरर्र! ऐसी बात? हैं? जेठाभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! भगवान ऐसा कहते हैं, हों! पानी के परमाणु हैं (उनमें) एकेन्द्रिय जीव हैं। पानी—जल है न? एकेन्द्रिय जीव है।.... शरीर है न? ठण्डा। अग्नि आयी, पानी के परमाणु अग्नि को स्पर्श नहीं करते,

तथापि पानी गर्म हुआ, वह स्वयं से हुआ है। अग्नि को स्पर्शा और गर्म हुआ, ऐसा नहीं है। अरर्र! ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

तपेला में पानी है न? तपेला, बर्तन। नीचे अग्नि है। पानी धगधग होता है, वह अग्नि के कारण से नहीं—ऐसा कहते हैं। क्योंकि अग्नि तपेले को स्पर्शी नहीं है और तपेला पानी को स्पर्शा नहीं है, पानी तपेला को स्पर्शा नहीं है। भगवान... भगवान! भिन्न-भिन्न द्रव्य है। क्या कोई द्रव्य किसी द्रव्य को स्पर्श करता है? आहाहा! तो भी पानी खदखद (होता है)। अग्नि के कारण से है, अग्नि ले लो तो नहीं होगा, (ऐसा कोई कहे)। अग्नि के कारण से नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें है, प्रभु! भगवान तो अनन्त द्रव्य कहते हैं न? भगवान परमात्मा अनन्त द्रव्य-वस्तु, पदार्थ है (ऐसा कहते हैं)। प्रत्येक पदार्थ अपने में रहता है। दूसरे द्रव्य को कोई द्रव्य कभी स्पर्शा नहीं है। आहाहा! स्पर्श करे तो एक हो जाए। ऐसा तो है नहीं। आहाहा!

यहाँ पर को जिलाता हूँ, मारता हूँ—ऐसा अभिप्राय है। पर का कर सकता नहीं परन्तु उसका अहंकार का अभिप्राय मिथ्यात्व है। जिलाने का और सुखी करने का (भाव) शुभ है। तथा दु:खी और मारने का (भाव पाप है)। दोनों बन्ध के कारण हैं। दोनों अज्ञानमय अध्यवसाय है। आहाहा! अरे! इसे बचना, अपने अज्ञान से बचना, बापू! मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, मैं चैतन्यघन हूँ, मैं पर का क्या करूँ? राग आता है, उसे भी मैं क्या करूँ? मैं तो पवित्र गुण का पिण्ड हूँ न! वह पवित्र अपवित्र को कैसे करे? आहाहा!

भगवान आत्मा में अनन्त अनन्त गुण हैं, वे सब पवित्र हैं। वे पवित्र गुण, राग जो अपवित्र है, उसे कैसे करे? पवित्र के परिणाम अपवित्र होंगे? यह गजब बात है। यह पर्याय में अपवित्रता होती है, वह गुण से नहीं। आहाहा! उस अपवित्रता का कारण आत्मा नहीं, ऐसा सम्यग्दृष्टि जानता है। आहाहा! मैं अपवित्रता का नाश करता हूँ, ऐसा ज्ञानी को नहीं है। क्योंकि ज्ञानी है, उसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर और अनन्त गुण के ऊपर है। आहाहा! कठिन काम। दुनिया से तो (अलग बात है)। सब पागल जैसा लगे। परमात्मप्रकाश में कहते हैं, पागल लोग ज्ञानी की बात को पागल जैसी माने। आहाहा!

यहाँ यह कहा, **अध्यवसान ही दोनों का कारण है।**

गाथा - २६२

एवं हि हिन्साध्यवसाय एव हिन्सेत्यायातां-

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ।।२६२।।

अध्यवसितेन बन्धः सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु।
एष बन्ध-समासो जीवानां निश्चय-नयस्य ।।२६२।।

परजीवानां स्वकर्मोदयवैचित्र्यवशेन प्राणव्यपरोपः कदाचिद्भवतु, कदाचिन्मा भवतु, य एव हिनस्मीत्यहङ्काररसनिर्भरो हिन्सायामध्यवसायः स एव निश्चयतस्तस्य बन्धहेतुः, निश्चयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य परेण कर्तुमशक्यत्वात् ।।२६२।।

'इस प्रकार वास्तव में हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है, यह फलित हुआ'-यह कहते हैं:-

मारो-न मारो जीव को, है बंध अध्यवसान से।
-यह आतमा के बंध का, संक्षेप निश्चयनय विषैं।।२६२।।

गाथार्थ : [सत्त्वान्] जीवों को [मारयतु] मारो [वा मा मारयतु] अथवा न मारो- [बंधः] कर्मबन्ध [अध्यवसितेन] अध्यवसान से ही होता है। [एषः] यह, [निश्चयनयस्य] निश्चयनय से, [जीवानां] जीवों के [बन्धसमासः] बन्ध का संक्षेप है।

टीका : परजीवों को अपने कर्मोदय की विचित्रतावश प्राणों का व्यपरोप (-उच्छेद, वियोग) कदाचित् हो, कदाचित् न हो-किन्तु 'मैं मारता हूँ' ऐसा अहंकार रस से भरा हुआ हिंसा का अध्यवसाय ही निश्चय से उसके (हिंसा का अध्यवसाय करनेवाले जीव को) बन्ध का कारण है, क्योंकि निश्चय से पर का भाव जो प्राणों का व्यपरोप, वह दूसरे से किया जाना अशक्य है (अर्थात् वह पर से नहीं किया जा सकता)।

भावार्थ : निश्चयनय से दूसरे के प्राणों का वियोग दूसरे से नहीं किया जा सकता; वह उसके अपने कर्मों के उदय की विचित्रता के कारण कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं होता। इसलिए जो यह मानता है–अहंकार करता है कि– 'मैं परजीव को मारता हूँ' उसका यह अहंकाररूप अध्यवसाय अज्ञानमय है। वह अध्यवसाय ही हिंसा है–अपने विशुद्ध चैतन्यप्राण का घात है और वही बन्ध का कारण है। यह निश्चयनय का मत है।

यहाँ व्यवहारनय को गौण करके कहा है, ऐसा जानना चाहिए। इसलिए वह कथन कथंचित् (अपेक्षापूर्वक) है, ऐसा समझना चाहिए; सर्वथा एकान्तपक्ष मिथ्यात्व है।

गाथा - २६२ पर प्रवचन

इस प्रकार वास्तव में हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है... क्या कहा? पर की हिंसा का अभिप्राय, वही अपनी हिंसा है। आहाहा! २६२।

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स।।२६२।।

मारो–न मारो जीव को, है बंध अध्यवसान से।
–यह आतमा के बंध का, संक्षेप निश्चयनय विषैं।।२६२।।

टीका : परजीवों को अपने कर्मोदय की विचित्रतावश प्राणों का व्यपरोप (–उच्छेद, वियोग) कदाचित् हो,... मारने का भाव हुआ, वह तो उसके कर्म का उदय हो तो प्राण उच्छेद होता है, भाव हुआ, इसलिए मरता है—ऐसा नहीं है। **कदाचित् न हो...** मारने का भाव हो परन्तु वहाँ मरता नहीं। आहाहा! किन्तु **'मैं मारता हूँ' ऐसा अहंकार रस से भरा हुआ हिंसा का अध्यवसाय ही निश्चय से उसके...** आहाहा! **(हिंसा का अध्यवसाय करनेवाले जीव को) बन्ध का कारण है,...** आहाहा!

मैं पर को जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ या मारता हूँ, यह अध्यवसाय ही हिंसा है, यह अध्यवसाय ही आत्मा की हिंसा है। आहाहा! क्योंकि भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा, अनन्त गुण का ज्ञाता-दृष्टा और पर का नाश करता हूँ, ऐसा अध्यवसाय वह एकत्वबुद्धि,

यही आत्मा की हिंसा है। यह आत्मा की हिंसा है। कठिन बात है, प्रभु! क्या करें? आहाहा! हैं?

मुमुक्षु : अनभ्यास से कठिन लगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लगती है, भाई! अभ्यास नहीं और वर्तमान में तो चलती बात, जहाँ हो वहाँ यह करो, यह करो... आहाहा! पर्यूषण के दिन होते हैं न? दसलक्षणी। त्याग का दिन होवे तो दान की ही बात होती है। दान का चन्दा, घण्टा भर उसमें जाता है। आहाहा! कोई पाँच सौ, कोई हजार, कोई पाँच हजार, दस हजार... अरे रे! क्या हो? त्याग का धर्म होता है न? त्यागधर्म। वह पूरा दिन दान में निकालते हैं। व्याख्यान भी नहीं होता साधु भी ऐसा कहे—चन्दा करो।... अरेरे! लिखो, हम ऐसा कहते हैं, पाँच हजार, छह हजार, दस हजार। अरेरे! प्रभु! क्या करता है? पैसा ऊगाहना और इकट्ठा करना वह आत्मा का कार्य है? आहाहा! परपदार्थ है, भाई! है न अभी? देखो न! एक करोड़ रुपये... एक करोड़ रुपये इकट्ठे करने हैं। यहाँ के साधु हैं कैलाशचन्द। उन्होंने इसमें बहुत आलोचना की है। बापू! मैं तो पवित्रता की बात करूँ, प्रभु! तुझे दुःख नहीं लगना चाहिए, हों! आहाहा! तेरी बात की बात के लिये नहीं कहते हैं, वस्तु की स्थिति ऐसी है। आहाहा! किसी को दुःख लगे, इसके लिये नहीं। सत्य बात है, हों! प्रभु! आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, है? **'मैं मारता हूँ' ऐसा अहंकार रस से भरा हुआ हिंसा का अध्यवसाय ही निश्चय से उसके (हिंसा का अध्यवसाय करनेवाले जीव को) बन्ध का कारण है,...** हिंसा का अध्यवसाय करनेवाले जीव को बन्ध का कारण है। **क्योंकि निश्चय से पर का भाव जो प्राणों का व्यपरोप वह दूसरे से किया जाना अशक्य है...** आहाहा! दूसरे जीव के प्राण का नाश दूसरे से हुआ, अशक्य है। आहाहा! अरे..!

भावार्थ : निश्चयनय से दूसरे के प्राणों का वियोग दूसरे से नहीं किया जा सकता; वह उसके अपने कर्मों के उदय की विचित्रता के कारण कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं होता। तेरा मारने का भाव हो और आयुष्य हो नहीं तो मरे। और उसका आयुष्य पूरा हुआ हो तो मर जाए, वह उसके कारण से, तेरे कारण से नहीं। आहाहा! **इसलिए जो यह मानता है–अहंकार करता है कि–'मैं परजीव को मारता हूँ' उसका**

यह अहंकाररूप अध्यवसाय अज्ञानमय है। वह अध्यवसाय ही हिंसा है... वह अध्यवसाय ही हिंसा है। उसमें तेरी हिंसा है। आहाहा! पहले आ गया न? **'आत्महन्'** आत्मघात किया। मैं पर को जिलाता हूँ, ऐसा अध्यवसाय, वह आत्मा का घात करता है। अरेरे! समझ में आया? अपना स्वरूप ज्ञाता-दृष्टा है, उसमें मैं पर को जिलाता हूँ, ऐसा भाव करना, वह आत्मा की हिंसा, अपने प्राण की हिंसा होती है। चैतन्य प्राण—ज्ञान, दर्शन, आनन्द प्राण की हिंसा होती है। ऐसी व्याख्या। पर मरे, न मरे; पर जीवे, न जीवे, (वह) उसके कारण से। तेरा जो अभिप्राय ऐसा हुआ, वही तुझे हिंसा का कारण है। आहाहा!

अपने विशुद्ध चैतन्यप्राण का घात है... देखो! आहाहा! **और वही बन्ध का कारण है। यह निश्चयनय का मत है।** सच्ची दृष्टि का अभिप्राय यह है। वीतराग का सिद्धान्त है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २६३-२६४

अथाध्यवसायं पापपुण्ययोर्बन्धहेतुत्वेन दर्शयति ह्न

एवमलिए अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पावं।।२६३।।

तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं।।२६४।।

एव-मलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पापम्।।२६३।।

तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पुण्यम्।।२६४।।

एवमयमज्ञानात् यो यथा हिन्सायां विधीयतेऽध्यवसाय:, तथा असत्यादत्ताब्रह्मपरिग्रहेषु यश्च विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पापबन्धहेतु:। यस्तु अहिन्सायां यथा विधीयते अध्यवसाय:, तथा यश्च सत्यदत्तब्रह्मापरिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबन्धहेतु:।।२६३-२६४।।

अब, (हिंसा-अहिंसा की भाँति सर्व कार्यों में) अध्यवसाय को ही पाप-पुण्य के बन्ध के कारणरूप से दिखाते हैं:-

यों झूठ मांहिं, अदत्त में, अब्रह्म अरु परिग्रह विषैं।
जो होंय अध्यबसान उससे पापबंधन होय है।।२६३।।

इस रीत सत्य रु दत्त में, त्यों ब्रह्म अनपरिग्रहविषैं।
जो होंय अध्यवसान उससे पुण्यबन्धन होय है।।२६४।।

गाथार्थ : [एवम्] इसी प्रकार (जैसा कि पहले हिंसा के अध्यवसाय के सम्बन्ध

में कहा गया है, उसी प्रकार) [अलीके] असत्य में, [अदत्ते] चोरी में, [अब्रह्मचर्ये] अब्रह्मचर्य में [च एव] और [परिग्रहे] परिग्रह में [यत्] जो [अध्यवसानं] अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है, [तेन तु] उससे [पापं बध्यते] पाप का बन्ध होता है; [तथापि च] और इसी प्रकार [सत्ये] सत्य में, [दत्ते] अचौर्य में, [ब्रह्मणि] ब्रह्मचर्य में [च एव] और [अपरिग्रहत्वे] अपरिग्रह में [यत्] जो [अध्यवसानं] अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है, [तेन तु] उससे [पुण्यं बध्यते] पुण्य का बन्ध होता है।

टीका : इस प्रकार (पूर्वोक्त प्रकार) अज्ञान से यह जो हिंसा में अध्यवसाय किया जाता है, उसी प्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह में भी जो (अध्यवसाय) किया जाता है, वह सब पाप बन्ध का एकमात्र कारण है; और जो अहिंसा में अध्यवसाय किया जाता है, उसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में भी (अध्यवसाय) किया जाये, वह सब पुण्यबन्ध का एकमात्र कारण है।

भावार्थ : जैसे हिंसा में अध्यवसाय पापबन्ध का कारण कहा है, उसी प्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का अध्यवसाय भी पापबन्ध का कारण है। और जैसे अहिंसा में अध्यवसाय पुण्यबन्ध का कारण है, उसी प्रकार सत्य, अचौर्य, (–दिया हुआ लेना वह), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में अध्यवसाय भी पुण्यबन्ध का कारण है। इस प्रकार, पाँच पापों में (अव्रतों में) अध्यवसाय किया जाये, सो पापबन्ध का कारण है और पाँच (एकदेश या सर्वदेश) व्रतों में अध्यवसाय किया जाये, सो पुण्यबन्ध का कारण है। पाप और पुण्य दोनों के बन्धन में, अध्यवसाय ही एकमात्र बन्ध का कारण है।

प्रवचन नं. ३२३, गाथा - २६३ से २६५, शुक्रवार, आसोज शुक्ल ७
दिनाङ्क - २८-०९-१९७९

समयसार, गाथा २६३-२६४। अब, (हिंसा–अहिंसा की भाँति सर्व कार्यों में) अध्यवसाय को ही पाप–पुण्य के बन्ध के कारणरूप से दिखाते हैं:–

एवमलिए अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पावं।।२६३।।

तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं।।२६४।।

यों झूठ मांहिं, अदत्त में, अब्रह्म अरु परिग्रह विषैं।
जो होंय अध्यबसान उससे पापबंधन होय है।।२६३।।

इस रीत सत्य रु दत्त में, त्यों ब्रह्म अनपरिग्रहविषैं।
जो होंय अध्यवसान उससे पुण्यबन्धन होय है।।२६४।।

आहाहा! टीका :- **इस प्रकार (पूर्वोक्त प्रकार) अज्ञान से यह जो हिंसा में अध्यवसाय किया जाता है,...** क्या कहते हैं? मैं पर की हिंसा करता हूँ, ऐसा जो अध्यवसाय—मिथ्यात्व करता है... आहाहा! क्योंकि पर की हिंसा कर नहीं सकता। अपना आत्मा पर की पर्याय तो कभी भी तीन काल में कर नहीं सकता। आहाहा! **अज्ञान से यह जो हिंसा में अध्यवसाय किया जाता है,...** कि मैं पर की हिंसा करता हूँ, यह अध्यवसाय मिथ्यात्व है।

उसी प्रकार असत्य, चोरी,... चोरी, झूठ बोलना। झूठ बोलना, ऐसा अध्यवसाय एकत्व—मिथ्यात्वभाव है। चोरी। असत्य बोलना और चोरी। मैं पर की चोरी कर सकता हूँ, यह बात मिथ्यात्व अध्यवसाय है। **अब्रह्मचर्य...** सूक्ष्म बात है, भगवान! इस शरीर से मैं विषय सेवन करता हूँ, यह भी मिथ्यात्व अध्यवसाय है। शरीर जड़ है... आहाहा! उससे मैं विषय सेवन करता हूँ, मैं शरीर से मैथुन करता हूँ, यह अध्यवसाय भी मिथ्यात्व अध्यवसाय है। आहाहा! **परिग्रह...** मैं बाह्य परिग्रह रख सकता हूँ, बाह्य परिग्रह मेरी चीज़ है, यह अध्यवसाय मिथ्यात्व है। आहाहा!

इस प्रकार **जो (अध्यवसाय) किया जाता है, वह सब पाप बन्ध का एकमात्र कारण है;...** मैं पर की हिंसा कर सकता हूँ, मैं झूठ बोलता हूँ, मैं चोरी करता हूँ, मैं शरीर से विषयसेवन करता हूँ, मैं परिग्रह रखता हूँ, यह अध्यवसाय मिथ्यात्व का महापाप है। अरे..! दुनिया को कहाँ जाना?

आत्मा अन्दर भिन्न चीज़ है। शरीर से भिन्न, कर्म से भिन्न—पृथक् चीज़ है। भगवान आत्मा तो अरूपी है। यह कहते हैं कि मैं पर की हिंसा कर सकता हूँ, झूठ बोल सकता

हूँ, पर की चीज़ ले सकता हूँ, शरीर से विषयसेवन करता हूँ, परिग्रह रखता हूँ, यह अध्यवसाय मिथ्यात्व है, पापबन्ध का कारण है। आहाहा! ऐसा काम है। हैं?

मुमुक्षु : कोई पैसा वाला...

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसावाला है कब? धूलवाला, पैसावाला। एक वाळा निकलता है, नहीं सुना? अपथ्य पानी आता है, कुएँ में से अपथ्य पानी (आता है)। पैर में वाळा निकलता है (तो) शोर मचाता है। तुझे यह कितने वाळा? पैसावाला, स्त्रीवाला, पुत्रवाला, परिवारवाला, इज्जतवाला—तुझे बहुत वाळा लगे हैं। आहाहा! कठिन बात है, भाई! परमात्मा जिनेश्वरदेव का अभिप्राय कोई अलौकिक है। आहाहा!

यह पाँच पाप मैं करता हूँ, ऐसा जो अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि है, वह पापबन्ध का कारण है। है? **और जो अहिंसा में अध्यवसाय किया जाता है,...** मैं पर की दया पालता हूँ, पर की हिंसा नहीं करता हूँ—ऐसा अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि पुण्यबन्ध का, मिथ्यात्वसहित पुण्यबन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया? मैं पर की अहिंसा कर सकता हूँ, पर की दया पाल सकता हूँ, यह मिथ्या अभिप्राय पुण्य का कारण है। मिथ्यात्वसहित पुण्य, मिथ्यात्वसहित पुण्यबन्ध का कारण है। आहाहा! है? **उसी प्रकार सत्य,...** मैं सत्य बोलता हूँ।

मुमुक्षु : सत्य बोलने का भाव करे वह?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव करे, वह भी झूठा है। सत्य बोलने का भाव है, वह राग है। सूक्ष्म बात, भाई! अरे! अनन्त काल से परिभ्रमण करता है। अपनी चीज़ क्या है और पर क्या है, उसका भेदज्ञान इसने कभी नहीं किया। बाहर ही बाहर में मान बैठा, जिन्दगी पूरी हो जाए। जाए... चौरासी (लाख) योनि में भटकने। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं कि पर की दया पालता हूँ, अहिंसा करता हूँ—ऐसा जो अध्यवसाय, वह मिथ्यात्व है और मिथ्यात्वसहित उसमें पुण्य बँधता है। ऐसे सत्य बोलता हूँ। तो वाणी तो जड़ है। बोलने का भाव आया, वह राग है। उस राग में एकत्वबुद्धि है, सत्य बोलने में एकत्वबुद्धि है, वह मिथ्यात्व है और सत्य है, इस अपेक्षा से मिथ्यात्वसहित पुण्यबन्ध होगा। आहाहा! जगत को इसमें कुछ पता लगे, ऐसा नहीं है।

इसी प्रकार **दत्त**... मैंने किसी की चोरी नहीं की, ऐसा एकत्व अध्यवसाय है, वह मिथ्यात्व है। मैंने पर की चोरी नहीं की, ऐसा जो भाव—एकत्वबुद्धि है, मिथ्यात्व है, साथ में अचौर्य भाव है तो मिथ्यात्वसहित पुण्य बँधेगा। मिथ्यात्व के महापापसहित पुण्य बँधेगा। आहाहा! सूक्ष्म बात, प्रभु! अरे!

इसी प्रकार **ब्रह्मचर्य**... इस शरीर से मैंने ब्रह्मचर्य पालन किया। आहाहा! मैंने आजीवन इस शरीर से विषय सेवन नहीं किया, ऐसा जो अध्यवसाय। यह जड़ की क्रिया मैंने नहीं की, यह भी एकत्व अध्यवसाय मिथ्यात्व है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! क्या हो?

मुमुक्षु : पर का कुछ काम नहीं कर सकता?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक रजकण हिला नहीं सकता। प्रभु! जड़, जड़ के कारण से हिलता-चलता है। जड़ का करने में तेरा क्या अधिकार है?

मुमुक्षु : सेठिया इतने...

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठिया कहना किसे? ये सब अरबोंपति मानते हैं। अरबोंपति, लाखोंपति, करोड़ोंपति, वह तो जड़ का पति है। ऐसा कहते हैं न—लखपति, करोड़पति, अरबपति? यह जड़ का पति है? अज्ञानी ऐसा मानता है। आहाहा! कठिन बात है, प्रभु!

यहाँ तो शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया, शरीर से विषय सेवन नहीं किया, वह भी जड़ के साथ एकत्वबुद्धि है। शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया तो शरीर की उस प्रकार की क्रिया मैंने नहीं की, ऐसी जड़ के साथ एकत्वबुद्धि है। ब्रह्मचर्य है तो शुभभाव है, परन्तु मिथ्यात्वसहित पुण्य बँधेगा। सूक्ष्म बात, भगवान! यह धर्म-वीतराग का धर्म कोई अलौकिक है, भाई! आहाहा! समझ में आया?

ब्रह्मचर्य... है शब्द? शरीर से ब्रह्मचर्य पाले। आहाहा! शरीर से विषय सेवे, वह तो मिथ्यात्वसहित, अध्यवसायसहित पाप है, परन्तु शरीर से ब्रह्मचर्य पाले तो मैंने शरीर से पालन किया, (यह) एकत्वबुद्धि, उसे मिथ्यात्वसहित पुण्य है। आहाहा! गजब बात है। है?

मुमुक्षु : इनकार किया जाए, ऐसा कहाँ है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तुस्थिति ऐसी है, प्रभु! आहाहा! यह कहीं कोई घर की चीज़ नहीं है। भगवान त्रिलोकनाथ ने भिन्न-भिन्न पदार्थ अनन्त हैं, ऐसा कहा, तो भिन्न-भिन्न पदार्थ एक पदार्थ को दूसरा कोई कुछ करे, यह मान्यता अत्यन्त मिथ्यादृष्टि महापापी पाखण्डी है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! शरीर से ब्रह्मचर्य पाले तो शरीर तो जड़ है। ऐसी क्रिया मैंने नहीं की, ऐसी जड़ के साथ एकत्वबुद्धि है। आहाहा! है ?

मुमुक्षु : उस समय जड़ की क्रिया होनेवाली नहीं थी ?

पूज्य गुरुदेवश्री : होनेवाली नहीं थी। और मैंने इस प्रकार से ब्रह्मचर्य रखा, वह भाव शुभ है, परन्तु उसके साथ एकत्वबुद्धि—महा मिथ्यात्व का पाप है। आहाहा! अन्तरंग महा मिथ्यात्व एकत्वबुद्धि जड़ के साथ है। आहाहा! वह जड़ की क्रिया मैंने नहीं की, विषयसेवन नहीं किया। तो जड़ की क्रिया होनेवाली नहीं थी, तो मैंने नहीं की, ऐसी जड़ के साथ एकत्वबुद्धि है। भभूतमलजी! सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! भगवान है न, प्रभु अन्दर, अन्दर! परन्तु उसकी इसे खबर नहीं न!

यहाँ तो प्रभु कहते हैं कि शरीर से विषयसेवन किया, वह मैंने किया तो उसे मिथ्यात्वसहित पाप बँधता है और शरीर से मैंने ब्रह्मचर्य पालन किया, ऐसा मिथ्यात्वसहित उसे पुण्य है, परन्तु मिथ्यात्व तो साथ में है, एकत्व-अध्यवसाय पड़ा है। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! ऐसी बात सुनना मुश्किल पड़े। यह तो जड़ है, मिट्टी धूल है, जगत के परमाणु हैं, यह तो श्मशान की राख होगी। आहाहा! यहाँ अग्नि सुलगेगी। मिट्टी है न, यह कहाँ आत्मा है ? आहाहा! इस मिट्टी से मैंने विषयसेवन नहीं किया तो ऐसी मिट्टी से क्रिया होनेवाली नहीं थी तो मैंने ऐसा किया, इसका नाम मिथ्यादृष्टि का ब्रह्मचर्य का भाव है तो उतना पुण्य है, परन्तु मिथ्यादृष्टिसहित का पुण्य है। अध्यवसाय मिथ्यात्व है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह पुण्य तो पापानुबन्धी पुण्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पुण्य भी कहाँ है ? पुण्य-पाप की पहली बात आ गयी कि, पुण्य बँधता है, पाप बँधता है, दोनों में अन्तर नहीं मानना। पहली बात आ गयी। आहाहा! दोनों बन्ध है। आहाहा!

भगवान! अन्दर अबन्धस्वरूप प्रभु, चैतन्यज्योति जलहल ज्योति चैतन्य भगवान, उसमें राग की एकता मानना—शरीर की एकता मानना, वह महा मिथ्यात्व का बड़ा पाप है। आहाहा!

मुमुक्षु : पुत्र के साथ एकता नहीं करनी?

पूज्य गुरुदेवश्री : एकता है ही नहीं। करनी क्या? है ही नहीं। यह तो मानता है, एकता है कहाँ? शरीर की विषय की क्रिया ऐसी नहीं होने की थी तो यह कहे, मैंने ब्रह्मचर्य पालन किया, इसलिए मैंने शरीर की ऐसी क्रिया नहीं की। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! ऐसा कहाँ वहाँ बैंगलोर में सुनने मिले, ऐसा है? आहाहा!

मुमुक्षु : दुनिया में कहीं नहीं मिलता।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने तो भभूतमल बेंगलोर हैं न! बड़े हैं न वहाँ दुकान में? यह सब है न, हमारे भी पालेज में दुकान है, मुम्बई में हमारे भाई का लड़का है न! 'भूपेन्द्र डाईंग एण्ड प्रिन्टिंग वर्क्स'। हमारे भाई का पुत्र है न? तीन लड़के। एक दिन की पाँच-पाँच हजार की आमदनी। मुम्बई में 'भूपेन्द्र डाईंग एण्ड प्रिन्टिंग वर्क्स' है। हमारे भाई का पुत्र है। धूल में भी नहीं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन तो सही! तू शरीर से ब्रह्मचर्य पालता है; शरीर से पालता है, आत्मा से नहीं। आहाहा! शरीर की क्रिया मैंने की, यह मिथ्यात्व के अध्यवसाय सहित पाप है और शरीर की क्रिया मैंने नहीं की, यह मिथ्यात्वसहित का पुण्य है। दोनों बन्ध के कारण हैं। आहाहा! है?

अपरिग्रह... मैंने पैसे छोड़ दिये। मैंने पैसे रखे, यह अध्यवसाय मिथ्यात्व का—एकत्व का पाप है। मैं पैसे रखता हूँ, वह तो जड़ है। भगवान तो अरूपी चैतन्य है। वह परिग्रह किस प्रकार रखे? तो परिग्रह मैं रखता हूँ, ऐसा अध्यवसाय मिथ्यात्व है और उसे मिथ्यात्वसहित पाप है। परन्तु मैंने परिग्रह छोड़ दिया, आहाहा! यह भी अध्यवसाय मिथ्यात्व का है और पुण्य है। अरे! प्रभु का मार्ग कोई दूसरा है, भाई! समाज के साथ कुछ मेल खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

उसने तो लिखा है न? भाई! समाजवाद का। ऐसा कि समाजवाद में तो सब समान

बाँट लेना, उसे समाजवाद कहते हैं। सरीखी समान सबको मोटर मिले तो फिर कोई बाधा नहीं। मुनि भी मोटर ले तो बाधा नहीं। (यह) समाजवाद नहीं। यह तो भगवान का अपरिग्रहवाद है। आहाहा! यह अपरिग्रह। चक्रवर्ती का राज होने पर भी समकिती ने अन्दर अपरिग्रह के अंश को पकड़ लिया है। आहाहा! भगवान आनन्दमूर्ति क्षायिक समकित प्रगट किया। चक्रवर्ती का राज हो, दूसरे के पास ऐसा न हो तो समाजवाद की अपेक्षा से सबका समान नहीं रहा। चक्रवर्ती को चक्रवर्ती का राज है, गरीब को दो हजार, पाँच हजार भी नहीं मिलते, तो समाजवाद की अपेक्षा से समान तो नहीं हुआ, परन्तु अपरिग्रहवाद की दृष्टि में अन्तर हुआ। चक्रवर्ती का राज है, तो भी राज की एकता टूट गयी है तो सम्यग्दृष्टि इतना अपरिग्रही है। इतना। और मिथ्यादृष्टि में सब छोड़ दिया है, वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं है, नग्नपना रखा है परन्तु अन्दर में राग की एकताबुद्धि है। मैंने वस्त्र छोड़े, मैं नग्न हुआ—ऐसी जड़ की पर्याय की एकताबुद्धि करता है, वह परिग्रही—मिथ्यादृष्टि पापी है, परन्तु वह छोड़ दिया, ऐसा मिथ्यादृष्टि पुण्यवन्त है। परिग्रह रखा, वह मिथ्यात्वसहित पाप है। परिग्रह छोड़ दिया, वह अध्यवसाय मिथ्यात्वसहित का पुण्य है। पण्डितजी! आहाहा! ऐसी बातें, प्रभु! क्या हो?

चौरासी के अवतार में भटक-भटक कर भव करके मर गया है। कौवे के, कुत्ते के, कंथवा के, चींटी के, नाग के, बाघ के। आहाहा! अनन्त-अनन्त भव किये हैं। भूल गया, कुछ भान नहीं होता। आहाहा! यहाँ कोई मनुष्य हुआ और उसमें पाँच-पच्चीस (लाख की) सुविधा मिले, पुत्र-पुत्री (मिले), हो गया, खो गया उसमें। मैं कहाँ था? और मैंने कैसे दुःख सहन किये हैं? आहाहा! निगोद के भव में एक अन्तर्मुहूर्त (श्वास) में अठारह भव, प्रभु! एक अन्तर्मुहूर्त में अठारह भव! प्याज, लहसुन, यह मूला का कन्द होात है न? मूला, मूली... मूली। सफेद। उसमें अनन्त जीव है। एक अन्तर्मुहूर्त में ४८ भव करते हैं। आहाहा! ऐसे तो प्रभु! तूने अनन्त बार ४८ भव किये, वहाँ अनन्त काल से है, प्रभु! आहाहा! इस मिथ्यात्व के कारण से है। आहाहा! यह पर में अध्यवसाय की एकत्वबुद्धि महामिथ्यात्व संसार की जड़ है। परिभ्रमण की जड़ है। आहाहा! समझ में आया?

अपरिग्रह में... अर्थात् कि मैंने परिग्रह छोड़ दिया, मैं नग्न हुआ, मैंने वस्त्र छोड़

दिये, मैं नग्न हुआ, वह तो जड़ की पर्याय है, तो मैंने ऐसी जड़ की पर्याय की— यह मिथ्यात्वभाव है। साथ में जरा अपरिग्रहभाव है तो पुण्यभाव है, मिथ्यात्वसहित पुण्य है। आहाहा! ऐसा सुनना कठिन पड़े, ऐसा है। सुमेरुमलजी! भगवन्त! मार्ग तो यह है। आहाहा!

त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमात्मा का तो यह हुक्म है। तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान तो विराजते हैं, महाविदेह में मौजूद हैं, मनुष्यरूप से मौजूद हैं। महावीर आदि तो सिद्ध हो गये। भगवान महावीर आदि चौबीस तीर्थंकर णमो सिद्धाणं, वे तो सिद्ध में चले गये। यह भगवान तो अरिहन्त में है, णमो अरिहंताणं में हैं। चार कर्म का नाश हुआ, चार कर्म बाकी है। भगवान महावीर आदि चौबीस तीर्थंकर तो आठ कर्म का अभाव करके सिद्ध हो गये। णमो सिद्धाणं में हैं। सीमन्धर भगवान णमो अरिहन्ताणं में हैं। आहाहा! उन भगवान की वाणी में इन्द्रों और गणधरों को भगवान ऐसा सुनाते थे। आहाहा! गजब बात है!

जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग और परिग्रह की एकत्वबुद्धि मिथ्यात्वसहित पाप है और अहिंसा, पर की दया पालना, सत्य बोलना, चोरी नहीं करना, शरीर से विषयसेवन नहीं करना, परिग्रह नहीं रखना—ऐसी एकत्वबुद्धि... आहाहा! वह मिथ्यात्वसहित पुण्यबन्ध का कारण है। समझ में आया? भाई! यह सब आँखें उघड़ जाए, ऐसी है। आहाहा!

भगवान त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का यह हुक्म, यह आज्ञा है। प्रभु! तू जैसे पाँच पाप की एकत्वबुद्धि में मिथ्याव का सेवन करता है और पाप बाँधता है। वैसे पाँच प्रकार के दया, सत्य, दत्त—चोरी न करना, विषयसेवन न करना और परिग्रह छोड़ देना, इसमें एकत्वबुद्धि करता है, वह मिथ्यात्वसहित पुण्य है। आहाहा! कहो, मालचन्दजी! वहाँ कहीं है? तुम्हारे कहीं बात थी? आहाहा! हम उसमें ४५ वर्ष रहे हैं न! पिताजी स्थानकवासी थे, उसमें हमारा जन्म था। ४५ वर्ष उसमें रहे, यह ४५ यहाँ हुए। नब्बे हुए। आहाहा! सम्प्रदाय में ४५ वर्ष स्थानकवासी में थे। दस वर्ष की उम्र से जैनशाला का अभ्यास था। दस वर्ष की उम्र से पूरी सामायिक, णमो अरिहन्ताणं, तिक्कखूत्तो, इच्छामि पडिकम्मणा, तस्सूतरी, लोगस्स, दस वर्ष की उम्र में (करते थे)। ८० वर्ष हुए। पहले से इस प्रकार के संस्कार थे न! यह बात वहाँ थी नहीं। आहाहा!

कितनी कड़क बात है! शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, तो 'शरीर की क्रिया मैंने नहीं की', ऐसी शरीर के साथ एकत्वबुद्धि, वह अध्यवसाय मिथ्यात्व है। चमड़ी निकल जाए ऐसा है। आहाहा! पाँच पाप और पाँच पुण्य, प्रत्येक में एकत्वबुद्धि है तो मिथ्यात्वसहित पाप और मिथ्यात्वसहित पुण्य है, ऐसा कहते हैं। मैं सत्य बोलता हूँ, यह भाषा तो जड़ है। समझ में आया? भले सत्य बोलने का भाव है, वह शुभ है, परन्तु यह भाषा मेरी है और मैं बोलता हूँ, यह एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है। आहाहा!

अन्यमति में आता है न? हरिशचन्द्र राजा! सत्यवादी। सब नाटक आते हैं। देखा है, सब देखा है। हरिशचन्द्र राजा सत्यवादी। अन्त में सत्यवादी श्मशान में रहे थे, उनकी स्त्री, उसका बालक मर गया था। स्त्री आवे तो (कहे), लाओ। ऐसा नाटक आता है। हरिशचन्द्र राजा। वह सत्य नहीं, भाई! वह तो सत्य का अभिमान था। आहाहा! सत्य तो प्रभु आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अन्दर, उसकी दृष्टि और उसका ज्ञान, वह सत्य है। आहाहा! समझ में आया? ओहो! बहुत फेरफार, भाई! यह वाद-विवाद से कुछ पार पड़े, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहा?

वह सब पुण्यबन्ध का एकमात्र कारण है। पुण्यबन्ध का एकमात्र कारण है, ऐसा कहते हैं। अध्यवसाय है न? आहाहा! हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग और परिग्रह— इन पाँच की एकत्वबुद्धिसहित, मिथ्यात्वसहित पाप और अहिंसा, सत्य, दत्त, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा एकत्वबुद्धिसहित—मिथ्यात्वसहित पुण्य, परन्तु दोनों बन्ध के कारण हैं। आहाहा! क्योंकि आत्मा तो परिग्रहरहित ही है। परवस्तु से रहित है तो छोड़े क्या और ग्रहे क्या? आहाहा!

मैंने परिग्रह छोड़ा, वह तो छूटा ही है, तुझमें कहाँ आ गया है? तेरी पर्याय में आया है? वह परिग्रह मेरा है, ऐसी ममता तेरी पर्याय में आयी है। मिथ्यात्व अभिप्राय। वह चीज़ तो यहाँ आती नहीं। वह चीज़ आयी नहीं तो ग्रहण की और आयी नहीं, उसे छोड़ी, यह मिथ्या अभिप्राय है। मिथ्यादर्शन शल्य। अठारह में पाप कहते हैं न? आहाहा!

समकिती परिग्रहपरिमाण बाँधता है न? वह तो एकत्वबुद्धिरहित ममता के परिणाम से उसमें परिमाण करता है। क्या कहा? सम्यग्दृष्टि आत्मा का ज्ञान है, भान है, यह भी आगे

जाने पर पंचम गुणस्थान में परिग्रह का परिमाण करता है। चौथे गुणस्थान में परिग्रह का परिमाण है नहीं। वहाँ तो अन्याय का त्याग है और पाँचवें गुणस्थान में तो परिग्रह परिमाण करता है, वह तो परिग्रह की राग की जो ममता थी, उसकी ममता घटाता है। दृष्टि में एकत्व छूट गया है। समझ में आया? परिग्रह मेरा है और परिग्रह मैं छोड़ता हूँ, यह दृष्टि तो है ही नहीं। आहाहा! परन्तु परिग्रह में जो ममता-आसक्ति थी; एकत्वबुद्धि का तो धर्मी को नाश हो गया है, वह परिग्रह मैंने रखा है कि छोड़ता हूँ, वह मुझमें है ही नहीं। परन्तु उस परिग्रह में एकत्वबुद्धि का त्याग करने के पश्चात् ममता रहती है तो ममता का परिमाण करता है कि मुझे इतनी ममता रखना, विशेष ममता नहीं, इतना परिमाण। वह परिग्रह परिमाण। आहाहा!

भावार्थ : जैसे हिंसा में अध्यवसाय पापबन्ध का कारण कहा है, उसी प्रकार असत्य,... झूठ बोलना। **चोरी, अब्रह्मचर्य...** विषय सेवन करना **और परिग्रह...** रखना। यह अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि **पापबन्ध का कारण है।** भावार्थ है न? **और जैसे अहिंसा में अध्यवसाय पुण्यबन्ध का कारण है...** है? अहिंसा अर्थात् मैं पर की दया पाल सकता हूँ, ऐसा अध्यवसाय मिथ्यात्व है। अहिंसा में अध्यवसाय पुण्यबन्ध का कारण है। आहाहा! गजब बात है। जगत से निराला मार्ग है, प्रभु! है? वीतराग परमात्मा... आहाहा!

अहिंसा में अध्यवसाय पुण्यबन्ध का कारण है... मिथ्यात्वसहित, हों! मैंने पर की दया पालन की, मैंने पर की रक्षा की। क्या तू परद्रव्य की रक्षा कर सकता है? आहाहा! कठिन काम है। इससे अभी लोग ऐसा कहते हैं न, सोनगढ़ की बातें बहुत कठिन पड़ती हैं। परन्तु यह सोनगढ़ की है या भगवान की है? यह बात बाहर में नहीं थी तो आयी यहाँ से। तो यह कहे सोनगढ़ की है। सोनगढ़ की नहीं, यह तो तीन लोक के नाथ की है। आहाहा! भगवान विराजते हैं। समझ में आया? आहा! राजा, महाराजा, सिंह, नाग और बाघ सभा में आते हैं। भगवान की वाणी में यह आया। समझ में आया?

वन के राजा सिंह, जंगल में से व्याख्यान सुनने आते हैं। वनराजा सिंह, केशरी सिंह, सैकड़ों सिंह जंगल में से भगवान की सभा में (आकर) तिर्यंच की सभा में बैठते हैं। बारह सभायें हैं न? बारह। आहाहा! नाग, काला नाग पच्चीस-पच्चीस हाथ के लम्बे जंगल में

से चले आते हैं। किसी को भय नहीं। व्याख्यान सुनने परमात्मा के पास चले आते हैं। आहाहा! और उस नाग के पास निकट में चूहा होवे तो चूहे को भय नहीं। नाग उसे मारेगा, ऐसा चूहे को भय नहीं। सभा में बैठता है। आहाहा! बाघ और बिल्ली, सिंह और बिल्ली, सर्प और चूहा नजदीक बैठे होते हैं। सभा (भरती है), तीन लोक के नाथ की वाणी सुनते हैं। किसी को कोई बैर नहीं उठता। आहाहा! वहाँ उस वाणी में यह आया।

प्रभु! तेरे तत्त्व को दूसरे तत्त्व के साथ एकत्वबुद्धि रखकर हिंसा आदि करे तो पाप है और पर के साथ एकत्वबुद्धि करके शुभभाव किये तो मिथ्यात्वसहित पुण्य है। आहाहा! मैंने वस्त्र छोड़ दिये, मैं शरीर से नग्न हुआ। शरीर की नग्नदशा तो जड़ की है। जड़ से हुई है। आत्मा से हुई है? यह चाँदमलजी कहते थे। उदयपुर के थे न? मुनि को यह वस्त्र उतारने पड़ते हैं न? परन्तु वस्त्र उतारे कौन? वह तो जड़ है। कठिन काम, भाई! मुनि होते हैं। चक्रवर्ती, तीर्थंकर चक्रवर्ती, वस्त्र छूट जाते हैं। छूट जाते हैं, छोड़ते हैं-ऐसा नहीं। छोड़ता हूँ, ऐसी एकत्वबुद्धि करे तो मिथ्यात्व है। कठिन काम, भाई! जिसे ग्रहण नहीं किया। ग्रहण किया है? परचीज़ आत्मा में आयी है? ग्रहण की नहीं, उसे छोड़ना क्या? आहाहा!

यह बात यहाँ कहते हैं। मैंने परिग्रह छोड़ा, मैं नग्न हुआ, मैंने वस्त्र छोड़ दिये। आहाहा! ऐसे पर के साथ की एकत्वबुद्धि मिथ्यात्वसहित कदाचित् शुभभाव होवे तो पुण्यबन्ध होगा। आहाहा! है? **सत्य, अचौर्य, (-दिया हुआ लेना वह), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में अध्यवसाय भी पुण्यबन्ध का कारण है। इस प्रकार, पाँच पापों में (अव्रतों में) अध्यवसाय किया जाये, सो पापबन्ध का कारण है और पाँच (एकदेश या सर्वदेश) व्रतों में अध्यवसाय किया जाये...** आहाहा! यह राग और बाहर की क्रिया में एकत्वबुद्धि है। आहाहा! मार्ग सूक्ष्म है, भाई! आहाहा!

यह देह छूटने का अवसर आयेगा, प्रभु! यह अभी छूटेगी न? इस भव में छूटेगी न? हैं? आहाहा! अन्तड़ियाँ खिंचेगी, नसें खिंचेगी, अं.. ह.. ऐसे करेगा। कौन है? बापू! यह तो जड़ है, प्रभु! आहाहा! दर्द, शूल... शूल... शूल कहते हैं न? आहाहा! देखो न भाई! अपने नहीं? नेमचन्दभाई को यहाँ (दर्द) आता है कि चिल्लाहट करे। लालचन्दभाई, अपने लालचन्दभाई वैरागी मनुष्य है। उन्हें शरीर में ऐसी दाह लगे। अभी यहाँ रह गये हैं।

नहीं तो मुम्बई छोड़ दिया था, वापस दवा के लिये मुम्बई जाना पड़ा, ऐसी दाह मारे। फोड़ा हो, गुमड़ा समझे ? फोड़ा। फोड़े में दाह... दाह... दाह... अग्नि की चिंगारी मानो अग्नि! वह जड़ की दशा है, प्रभु! आहाहा! जड़ की दशा मुझमें होती है, यह मान्यता अज्ञान है। आहाहा! और जड़ की दशा वह तो परमाणु की पर्याय है। वह पर्याय परमाणु की है और यह मानता है कि मुझमें हुई है। मिथ्या अध्यवसाय है। आहा!

'देह का धर्म जीव पद में ज्ञात होता है' श्रीमद् में आता है। श्रीमद् राजचन्द्र। देह का धर्म अर्थात् देह की दशा। रोग की या निरोग की, जो हो। आत्मा जाननेवाला है। जानता है कि यह है। यह भी एक अपेक्षा से व्यवहार है। अपने वहाँ बना था न ? कैसा ? हैं ? राजकोट में मूलजीभाई। मूलजीभाई, दो भाई थे। बहुत समय मुम्बई में धन्धा करने के बाद अठारह लाख पैदा हो गये फिर सब छोड़ दिया, दुकान छोड़ दी। बहुत वर्ष की बात है। अठारह लाख! उस दिन अठारह लाख अर्थात् बहुत न! छोड़कर यहाँ रहते थे राजकोट। मूलजीभाई को वाँचन कम परन्तु उन्हें विचार बहुत। उनको मृत्यु का अवसर आया। दूसरे कहें, बुलाओ डॉक्टर को। यह कहे, डॉक्टर को नहीं, बुलाओं लालचन्दभाई को। लालचन्दभाई को बहुत दृष्टि और वैराग्य है।

भाई! शरीर का धर्म जीव में ज्ञात होता है, ऐसा कहा। तब तो बहुत लाखोंपति बड़े, मरने की तैयारी। तब ऐसा बोले, मूलजीभाई ऐसा बोले कि इस शरीर का धर्म जीव जानता है या जीव अपनी पर्याय को जानता है ? माँगीलालजी! समझ में आया ? उनकी मृत्यु के पश्चात् किसी ने रोना नहीं। 'अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा' गाकर फिर मुर्दा निकाला। 'अपूर्व अवसर ऐसा...' उसे कहा, भाई! यह शरीर की क्रिया तो आत्मा जाननेवाला है। शरीर में होता है। तो जवाब दिया कि 'क्या शरीर की पर्याय जाननेवाला आत्मा है ? वह तो पर है। अपनी पर्याय जाननेवाला है।' ऐई! सुमेरुमलजी! बड़ा लाखोपति। बहुत आमदनी, लाखों की आमदनी। कुछ नहीं, शरीर मेरी चीज़ नहीं। मैं शरीर को जानता हूँ, यह भी नहीं। शरीर तो जड़ है, मैं तो चैतन्य भिन्न हूँ। पर को जानता हूँ या मैं अपने को जानता हूँ ? आहाहा! समझ में आया ? ऐसा जवाब दिया था। देह छूट गयी। फिर मुर्दा निकाला तब श्मशान में 'अपूर्व अवसर...' लिया। रोना नहीं। आहाहा! भाई! तेरी देह

छूटने का एक दिन आयेगा। यह देह है, वह तो पर है, वह तो छूट जाएगी। आहाहा! परन्तु उस देह को छोड़ता हूँ या देह को रखता हूँ, ऐसी एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है। देह को जानता हूँ, यह भी अभी व्यवहार है। आहाहा! गजब बात है! आहाहा! पूनातरजी! समझ में आया यह? यह समझना पड़ेगा, हों! बाहर में धूल में नहीं। लाखों रुपयों की आमदनी में (नहीं)। आहाहा!

यहाँ भगवान कहते हैं कि इन पाँच में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि है, वह मिथ्यात्वसहित पुण्य है। आहाहा! **इस प्रकार, पाँच पापों में (अव्रतों में) अध्यवसाय किया जाये, सो पापबन्ध का कारण है और पाँच (एकदेश या सर्वदेश) व्रतों में अध्यवसाय किया जाये सो पुण्यबन्ध का कारण है। पाप और पुण्य दोनों के बन्धन में, अध्यवसाय ही एकमात्र बन्ध का कारण है।** यहाँ तो यह सिद्ध करना है, पुण्य-पाप नहीं। एकत्वबुद्धि है। वहाँ वजन है। आहाहा!

गाथा - २६५

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बन्धहेतुरिति शङ्क्यम् -

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि।।२६५।।

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानाम्।
न च वस्तुतस्तु बन्धोऽध्यवसानेन बन्धोऽस्ति।।२६५।।

अध्यवसानमेव बन्धहेतुः न तु बाह्यवस्तु, तस्य बन्धहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात्।

तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः ? अध्यवसानप्रतिषेधार्थः। अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतं; न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते।

यदि बाह्यवस्त्वनाश्रित्यापि अध्यवसानं जायेत, तदा यथा वीरसूसुतस्याश्रयभूतस्य सद्भावे वीरसूसुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायते, तथा वन्ध्यासुतस्याश्रयभूतस्यासद्भावेऽपि वन्ध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायेत। न च जायते। ततो निराश्रयं नास्त्यध्यवसानमिति नियमः।

तत एव चाध्यवसानाश्रयभूतस्य बाह्यवस्तुनोऽत्यन्तप्रतिषेधः, हेतुप्रतिषेधेनैव हेतुमत्प्रतिषेधात्।

न च बन्धहेतुहेतुत्वे सत्यपि बाह्यवस्तु बन्धहेतुः स्यात्, ईर्यासमितिपरिणत-यतीन्द्रपद-व्यापाद्यमानवेगापतत्कालचोदितकुलिङ्गवत्, बाह्यवस्तुनो बन्धहेतुहेतोर-बन्धहेतुत्वेन बन्धहेतुत्वस्यानै-कान्तिकत्वात्। अतो न बाह्यवस्तु जीवस्यातद्भावो बन्धहेतुः, अध्यवसानमेव तस्य तद्भावो बन्धहेतुः।।२६५।।

और भी ऐसी शंका न करनी कि 'बाह्यवस्तु वह दूसरा भी बन्ध का कारण होगा।' ('अध्यवसाय बन्ध का एक कारण होगा और बाह्यवस्तु बन्ध का दूसरा कारण होगा' ऐसी भी शंका करनेयोग्य नहीं है; अध्यवसाय ही एकमात्र बन्ध का कारण है, बाह्यवस्तु नहीं।) इसी अर्थ की गाथा अब कहते हैं:-

जो होय अध्यवसान जीव के, वस्तु-आश्रित वो बने।
पर वस्तु से नहिं बन्ध, अध्यवसान से ही बन्ध है।।२६५।।

गाथार्थ : [पुनः] और [जीवानाम्] जीवों के [यत्] जो [अध्यवसानं तु] अध्यवसान [भवति] होता है, वह [वस्तु] वस्तु को [प्रतीत्य] अवलम्बकर होता है, [च तु] तथापि [वस्तुतः] वस्तु से [न बंधः] बन्ध नहीं होता, [अध्यवसानेन] अध्यवसान से ही [बंधः अस्ति] बन्ध होता है।

टीका : अध्यवसान ही बन्ध का कारण है; बाह्य वस्तु नहीं, क्योंकि बन्ध का कारण जो अध्यवसान है, उसके कारणत्व से ही बाह्यवस्तु की चलितार्थता है (अर्थात् बन्ध के कारणभूत अध्यवसान का कारण होने में ही बाह्यवस्तु का कार्यक्षेत्र पूरा हो जाता है, वह वस्तु बन्ध का कारण नहीं होती)। यहाँ प्रश्न होता है कि-यदि बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नहीं है तो ('बाह्यवस्तु का प्रसंग मत करो, किन्तु त्याग करो' इस प्रकार) बाह्यवस्तु का निषेध किसलिए किया जाता है? इसका समाधान इस प्रकार है- अध्यवसान के निषेध के लिये बाह्यवस्तु का निषेध किया जाता है। अध्यवसान को बाह्यवस्तु आश्रयभूत है; बाह्यवस्तु का आश्रय किये बिना अध्यवसान अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उत्पन्न नहीं होता। यदि बाह्यवस्तु के आश्रय के बिना भी अध्यवसान उत्पन्न होता हो तो, जैसे आश्रयभूत वीरजननी के पुत्र के सद्भाव में (किसी को) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है कि 'मैं वीरजननी के पुत्र को मारता हूँ' इसी प्रकार आश्रयभूत बन्ध्यापुत्र के असद्भाव में भी (किसी को) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होना चाहिए कि 'मैं बन्ध्यापुत्र को मारता हूँ।' परन्तु ऐसा अध्यवसाय तो (किसी को) उत्पन्न नहीं होता। (जहाँ बन्ध्या का पुत्र ही नहीं होता, वहाँ मारने का अध्यवसाय कहाँ से उत्पन्न होगा?) इसलिए यह नियम है कि (बाह्यवस्तुरूप) आश्रय के बिना अध्यवसान नहीं होता। और इसीलिए अध्यवसान को आश्रयभूत बाह्यवस्तु का अत्यन्त निषेध किया है, क्योंकि कारण के प्रतिषेध से ही कार्य का प्रतिषेध होता है। (बाह्यवस्तु अध्यवसान का कारण है, इसलिए उसके प्रतिषेध से अध्यवसान का प्रतिषेध होता है)। परन्तु, यद्यपि बाह्यवस्तु बन्ध के कारण का (अर्थात् अध्यवसान का) कारण है, तथापि वह (बाह्यवस्तु) बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि ईर्यासमिति में परिणमित मुनीन्द्र के चरण से मर जानेवाले-ऐसे किसी वेग से आपतित कालप्रेरित उड़ते हुए जीव की भाँति, बाह्यवस्तु- जो कि बन्ध के कारण का कारण है वह-बन्ध का कारण न होने से, बाह्यवस्तु को बन्ध का कारणत्व मानने में अनैकान्तिक हेत्वाभासत्व है-व्यभिचार आता है। (इस प्रकार

निश्चय से बाह्यवस्तु को बन्ध का कारणत्व निर्बाधतया सिद्ध नहीं होता।) इसलिए बाह्यवस्तु जो कि जीव को अतद्भावरूप है, वह बन्ध का कारण नहीं है; किन्तु अध्यवसान, जो कि जीव को तद्भावरूप है, वही बन्ध का कारण है।

भावार्थ : बन्ध का कारण निश्चय से अध्यवसान ही है; और जो बाह्यवस्तुऐं हैं वे अध्यवसान का आलम्बन हैं–उनको अवलम्बकर अध्यवसान उत्पन्न होता है, इसलिए उन्हें अध्यवसान का कारण कहा जाता है। बाह्यवस्तु के बिना निराश्रयतया अध्यवसान उत्पन्न नहीं होते, इसलिए बाह्यवस्तुओं का त्याग कराया जाता है। यदि बाह्यवस्तुओं को बन्ध का कारण कहा जाये तो उसमें व्यभिचार (दोष) आता है। (कारण होने पर भी कहीं कार्य दिखाई देता है और कहीं नहीं दिखाई देता, उसे व्यभिचार कहते हैं और ऐसे कारण को व्यभिचारी–अनैकान्तिक–कारणभास कहते हैं।) कोई मुनि ईर्यासमितिपूर्वक यत्न से गमन करते हों और उनके पैर के नीचे कोई उड़ता हुआ जीव वेगपूर्वक आ गिरे तथा मर जाये तो मुनि को उसकी हिंसा नहीं लगती। यहाँ यदि बाह्यदृष्टि से देखा जाये तो हिंसा हुई है, परन्तु मुनि के हिंसा का अध्यवसाय नहीं होने से उन्हें बन्ध नहीं होता। जैसे पैर के नीचे आकर मर जानेवाला जीव मुनि के बन्ध का कारण नहीं है, उसी प्रकार अन्य बाह्यवस्तुओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इस प्रकार बाह्यवस्तु को बन्ध का कारण मानने में व्यभिचार आता है, इसलिए बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नहीं है, यह सिद्ध हुआ। और बाह्यवस्तु बिना निराश्रय से अध्यवसान नहीं होता, इसलिए बाह्यवस्तु का निषेध भी है ही।

गाथा - २६५ पर प्रवचन

और भी ऐसी शंका न करनी कि 'बाह्यवस्तु वह दूसरा भी बन्ध का कारण होगा।' क्या कहते हैं ? कि, बाह्य चीज़ है वह बन्ध का कारण नहीं है। बन्ध का कारण तो 'यह मेरा है', ऐसा एकत्व अध्यवसाय, वही बन्ध का कारण है। बाह्य चीज़ बन्ध का कारण नहीं है, शरीर बन्ध का कारण नहीं है, पैसा बन्ध का कारण नहीं है, वह तो परचीज़ है। आहाहा! भले वह पर के आश्रय से अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि होती है, परन्तु वह बन्ध का कारण नहीं है। क्या कहा ? फिर से। कि एकत्वबुद्धि करता है, उस एकत्वबुद्धि में भले पर का आश्रय हो परन्तु एकत्वबुद्धि बन्ध के कारण में पर बन्ध का कारण नहीं है, वह

एकत्वबुद्धि बन्ध का कारण है। ऐसा सुना नहीं कभी वहाँ धूल में। आहाहा!

मुमुक्षु : इसीलिए सुनने आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्हें तो प्रेम है न! इन्हें तो प्रेम है। आहाहा! बापू! यह बात ऐसी है, भाई! आहाहा! ऐसी बात!

शरीर से ब्रह्मचर्य पाले। तो कहते हैं, मैंने शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया। यह एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है। गजब बात है, नाथ! ब्रह्म अर्थात् आत्मा में अन्दर रमना, वह ब्रह्मचर्य है। वह ब्रह्मचर्य छोड़कर शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया, यह एकत्वबुद्धि जड़ के साथ है, कहते हैं। आहाहा! ऐसी घड़ीक हिला डाले ऐसा है। विपरीत दृष्टिवाले को। ऐसा तीन लोक के नाथ का कथन यह है। आहाहा!

और भी ऐसी शंका न करनी कि 'बाह्यवस्तु वह दूसरा भी बन्ध का कारण होगा।' ('अध्यवसाय बन्ध का एक कारण होगा और बाह्यवस्तु बन्ध का दूसरा कारण होगा' ऐसी भी शंका करनेयोग्य नहीं है; अध्यवसाय ही एकमात्र बन्ध का कारण है, बाह्यवस्तु नहीं।) आहाहा! शरीर, पैसा वह कोई बन्ध का कारण नहीं है। स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, परवस्तु बन्ध का कारण नहीं है। बन्ध का कारण तो 'वे मेरे हैं'— ऐसी एकत्वबुद्धि, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया? **इसी अर्थ की गाथा अब कहते हैं:-** २६५।

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि।।२६५।।

नीचे हरिगीत

जो होय अध्यवसान जीव के, वस्तु-आश्रित वो बने।
पर वस्तु से नहिं बन्ध, अध्यवसान से ही बन्ध है।।२६५।।

क्या कहते हैं? **टीका : अध्यवसान ही बन्ध का कारण है;...** अर्थात् अपनी चीज़, जो पर से भिन्न है, ऐसा नहीं मानकर राग, शरीर और कर्म आदि चीज़ मेरी है, ऐसा जो एकत्व अध्यवसाय मिथ्यात्व है, वही बन्ध का कारण है। परचीज़ बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं,...**

चक्रवर्ती को करोड़ों, अरबों रुपये हों। नव निधान (हों) और निधान में एक-एक दिन की अरबों की आमदनी। चक्रवर्ती। परन्तु सम्यग्दृष्टि है। वह मानता है कि, यह चीज़ मेरी नहीं, मैं उसका स्वामी नहीं। उसमें लिया है कि तू मानता है कि मैं उसका स्वामी हूँ तो वह चीज़ कबूल करती है कि यह मेरा स्वामी है ? पति-पत्नी में आता है। पत्नी कहे कि मेरा स्वामी है और पति कहे कि यह मेरी पत्नी है। परन्तु पैसे में तू कहे कि पैसा मेरा है, मैं पैसे का स्वामी हूँ। तो पैसा मानता है कि यह मेरा स्वामी है ? आहाहा! जाननेवाला पर को जानकर यह मारता हूँ, ऐसा मानता है। नहीं जाननेवाली चीज़ तेरा स्वामीपना स्वीकार नहीं करती। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं तू पर के साथ एकत्वबुद्धि करता है। 'रजकण या ऋद्धि वैमानिक देव की, सबको माना पुद्गल एक स्वभाव जब' आहाहा! एक रजकण से लेकर सर्वार्थसिद्धि की विभूति। तैंतीस सागर, देव। 'रजकण या ऋद्धि वैमानिक देव की, सबको माना पुद्गल एक स्वभाव जब' यह सब पुद्गल का स्वभाव है, मेरा नहीं। आहाहा! 'देह जाए पर माया होय न रोम में' आहाहा! देह जाने का काल हो तो रोम में 'यह चीज़ मेरी है' ऐसा नहीं। आहाहा! वह तो संयोगी चीज़ है तो वियोग से चली जाएगी। वह कोई स्वाभाविक मेरी चीज़ नहीं है कि वियोग हो जाए। मेरा प्रभु ज्ञान, दर्शन, आनन्द के स्वभाववाला है। उस स्वभाव से वियोग हो जाए, ऐसा कभी नहीं होता। स्वभाव कोई संयोगी चीज़ नहीं है। स्वभाव तो उसकी अन्तरस्वाभाविक चीज़ है और यह शरीर, कर्म और वाणी, मन, वह सब संयोगी चीज़ है। आहाहा! संयोगी चीज़ वियोग लेकर आती है। आहाहा!

तत्त्वार्थसार शास्त्र में तो ऐसा लेख है कि जब बालक जन्मता है न ? लड़का है या लड़की जन्मते हैं। तब उसकी माता अभी देखे कि यह कन्या है या पुरुष ? उससे पहले उसे अनित्यता ने गोद में ले लिया है। तत्त्वार्थसार में ऐसा आता है। उसकी माता जन्म देती है, उससे पहले अनित्यता ने गोद में ले लिया है। कब नाश होगा, वह अनित्य है। आहाहा! अभी गोद में भी नहीं लिया। जन्म कर देखे कि यह कन्या है या लड़का ? लड़का है या लड़की पहले देखे न ? और जन्में तो पहले वह आवाज करे, आँख नहीं उघाड़े। कोई लड़का या लड़की जन्मे (तो) ऊं.. हुं.. ऐसा करे। ऊं... आ... ऊं... आ... शुरुआत करे,

होंठ खोले। आँख न खोले। आहाहा! वहाँ तो अनित्यता ने गोद में ले लिया है, ऐसा कहते हैं। किस क्षण में देह छूट जाएगी। आहाहा! ऐसी अनित्य चीज़ है। आहाहा! वह अनित्य चीज़ बन्ध का कारण नहीं है। बन्ध का कारण तो एकत्वबुद्धि है। आहाहा! बाह्य वस्तु नहीं। है?

बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं,... आहाहा! **क्योंकि बन्ध का कारण...** तो एक अध्यवसान है। एकत्वबुद्धि बन्ध का कारण है। आहाहा! भगवान आत्मा पर से भिन्न चीज़ है, उसमें पर मेरी चीज़ है, ऐसी एकत्वबुद्धि, बस! वही बन्ध का कारण है। यह संसार की जड़—संसार का मूल है। मूल से वृक्ष फलता-फूलता है। चौरासी के अवतार। आहाहा! जैसे वृक्ष को पानी मिले तो फले-फूले। उसी प्रकार पर की एकत्वबुद्धि / मिथ्यात्व, उसमें से संसार फलता-फूलता है। नरक और निगोद, कौवे और कुत्ते के भव। आहाहा! समझ में आया? बात सूक्ष्म है, प्रभु! परन्तु मार्ग तो यह है, प्रभु! यह सूक्ष्म पड़े परन्तु मार्ग तो यह है। आहाहा!

उसके कारणत्व से ही बाह्यवस्तु की चलितार्थता है... क्या कहते हैं? **(अर्थात् बन्ध के कारणभूत अध्यवसान का कारण होने में ही बाह्यवस्तु का कार्यक्षेत्र पूरा हो जाता है,...)** अर्थात् क्या कहते हैं? बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नहीं है, परन्तु बन्धभाव है, उसमें वह निमित्त है, उसके आश्रय से परिणाम उत्पन्न होते हैं, इतना। यह परिग्रह मेरा है, मैंने परिग्रह छोड़ा, उतना पर के आश्रय से अध्यवसाय उत्पन्न होता है। परन्तु बन्ध का कारण अध्यवसाय है, बन्ध का कारण वह चीज़ नहीं। अरे.. अरे..! अब ऐसी बातें। समझ में आया? आहाहा! बहुत सरस बात है! बहुत सरस!! ओहोहो! भेदज्ञान की बात है। आहाहा!

भेदज्ञान में विराजमान प्रभु है, उसे पर के साथ अभेद करना, वह अध्यवसाय मिथ्यात्व है। भले परवस्तु पर लक्ष्य जाता है, अध्यवसाय का आश्रय परवस्तु है परन्तु परवस्तु बन्ध का कारण नहीं है। एकत्वबुद्धि में परवस्तु का आश्रय है कि यह मेरी है, ऐसा। परन्तु वह आश्रय है उतना। वहाँ उसका (कार्यक्षेत्र) पूरा हो गया। परन्तु वह परवस्तु बन्ध का कारण है, ऐसा नहीं। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३२४, गाथा - २६५ रविवार, आसोज शुक्ल ८
दिनाङ्क - ३०-०९-१९७९

समयसार, २६५ गाथा। टीका। बन्ध अधिकार है न? तो (कहते हैं), **अध्यवसान ही बन्ध का कारण है;...** पर पदार्थ मेरे हैं, राग मेरा है—ऐसी एकत्वबुद्धि / अध्यवसान, वही बन्ध का कारण है। समझ में आया? **अध्यवसान ही...** ऐसा लिया है न? निश्चय कहा। **अध्यवसान ही बन्ध का कारण है;...** राग, शरीर, कर्म, परपदार्थ की एकत्वबुद्धि का अध्यवसाय, वही मिथ्यात्व है और वही बन्ध का कारण है। आहाहा!

क्योंकि बाह्य वस्तु नहीं, **बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं,...** चाहे जितनी सामग्री हो, शरीर—किसी का शरीर पतला हो, किसी का शरीर मोटा हो, इससे बहुत रजकण अधिक हैं, इसलिए बन्ध का कारण है, ऐसा नहीं है। बाह्य वस्तु बन्ध का कारण है ही नहीं। आहाहा! दो बातें कीं। **अध्यवसान ही बन्ध का कारण है; बाह्य वस्तु नहीं, क्योंकि बन्ध का कारण जो अध्यवसान है, उसके कारणत्व से ही बाह्यवस्तु की चलितार्थता है (अर्थात् बन्ध के कारणभूत अध्यवसान का कारण होने में ही बाह्यवस्तु का कार्यक्षेत्र पूरा हो जाता है,...)** अध्यवसान में परद्रव्य का आश्रय है, अध्यवसान को परद्रव्य का आश्रय है, इतना। इतनी वहाँ मर्यादा है। परन्तु अध्यवसाय बन्ध का कारण है, वह अध्यवसाय पर के आश्रय से उत्पन्न होता है, इतनी उसकी मर्यादा है। परन्तु परवस्तु बन्ध का कारण है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? अध्यवसान बाह्य वस्तु का आश्रय है, इतना उसका कार्य है। परन्तु अध्यवसान बन्ध का कारण है, बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! **अध्यवसान है, उसके कारणत्व से ही बाह्यवस्तु की चलितार्थता है...** वहाँ उसका कार्य पूरा हो जाता है। आश्रय जितना।

यहाँ प्रश्न होता है कि–यदि बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नहीं है तो ('बाह्यवस्तु का प्रसंग मत करो,...) बाह्य वस्तु का प्रसंग, संसर्ग न करो परन्तु त्याग करो, ऐसा **किन्तु त्याग करो बाह्यवस्तु का निषेध किसलिए किया जाता है?** आहाहा! उसका समाधान इस प्रकार से है।

अध्यवसान के निषेध के लिये... इस बाह्य वस्तु का त्याग अध्यवसान के निषेध

के लिए त्याग किया गया है। बाह्य वस्तु का त्याग हो और अध्यवसान का त्याग न हो, तब तो मिथ्यादृष्टि है। बाह्य वस्तु का त्याग तो अनन्त बार किया। नौवें ग्रैवेयक गया। नग्नपना धारण किया था, वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं था। वह बाह्य वस्तु का त्याग हुआ, इसलिए अध्यवसाय का त्याग हो गया, ऐसा नहीं है। आहाहा! अध्यवसाय का त्याग कराने को बाह्य वस्तु का त्याग कराते हैं। परन्तु बाह्य वस्तु का त्याग किया, इसलिए अध्यवसाय का त्याग हो गया, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : बाह्य वस्तु का ग्रहण ही नहीं किया, फिर किसलिए हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : लक्ष्य छुड़ाते हैं। त्याग का अर्थ—उस ओर का लक्ष्य छुड़ाते हैं। त्याग ही है, बाह्य वस्तु कब ग्रहण की थी कि त्यागे? यह क्या कहा? आत्मा के अतिरिक्त शरीर, वस्त्र, पैसा, वह परद्रव्य कभी ग्रहण नहीं किये। ग्रहण नहीं किये तो त्याग कहाँ से करे? परन्तु यहाँ त्याग क्या कहते हैं? कि अध्यवसान के त्याग के लिये उसका लक्ष्य छुड़ाने को निषेध करते हैं। आहा! आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! लोग तो अभी बाह्य त्याग (करके) जरा कपड़ा बदलें, कुछ बदले, इसलिए मानो हम त्यागी हो गये। आहाहा! यहाँ यह इनकार करते हैं, ऐसा है नहीं, कहते हैं।

अध्यवसान के निषेध के लिये बाह्यवस्तु का निषेध किया जाता है। अध्यवसान को बाह्यवस्तु आश्रयभूत है;... देखो! अध्यवसान—एकत्वबुद्धि में बाह्यवस्तु निमित्त है, आश्रय है। **बाह्यवस्तु का आश्रय किये बिना अध्यवसान अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता...** बाह्यवस्तु के आश्रय बिना अध्यवसाय उत्पन्न नहीं होता। आश्रय है, परन्तु बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! इतना अन्तर है। **अध्यवसान अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उत्पन्न नहीं होता।**

यदि बाह्यवस्तु के आश्रय के बिना भी अध्यवसान उत्पन्न होता हो... दृष्टान्त देते हैं। **जैसे आश्रयभूत वीरजननी के पुत्र के सद्भाव में (किसी को) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है...** वीरजननी—वीर की माता। यह वीर की माता। उस वीर को मैं घातता हूँ। वीर की जननी, वीर को मैं घातता हूँ। आहा! यह तो बराबर है, कहते हैं। यह तो वस्तु है। है? वीरजननी को सत्पुत्र है। **(किसी को) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है कि**

'मैं वीरजननी के पुत्र को मारता हूँ'... तो यह तो बराबर है क्योंकि पुत्र है, वीरजननी का पुत्र है।

इसी प्रकार आश्रयभूत बन्ध्यापुत्र के असद्भाव में भी... बन्ध्या का पुत्र नहीं है और मैं उसे मारता हूँ, यह बात झूठी है। आहाहा! **बन्ध्यापुत्र के असद्भाव में भी (किसी को) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होना चाहिए कि 'मैं बन्ध्यापुत्र को मारता हूँ।'** होता है ऐसा अध्यवसाय? बन्ध्या का पुत्र ही नहीं है, वहाँ (मारे किसे)? वीरजननी का पुत्र है तो उसके सद्भाव में मैं उसे मारता हूँ, ऐसा अध्यवसाय होता है। परन्तु बन्ध्या को पुत्र है ही नहीं, उसे मैं मारता हूँ, यह (अध्यवसाय) निरर्थक है। आहाहा! अन्तर का बहुत जोर दिया है। यह तो लोग बाह्य वस्तु छोड़े, इसलिए मानो त्यागी हो गये। वास्तव में तो धर्म के त्यागी हैं।

नियमसार में पाठ है। वह धर्म, धर्म का त्यागी है। अन्तर्दृष्टि की खबर नहीं। मैं ज्ञायक हूँ, ऐसी तो दृष्टि हुई नहीं और मिथ्यात्व का त्याग तो है नहीं और बाह्य त्याग से मान ले, वह तो मिथ्यात्व का पोषण है। आहाहा! सूक्ष्म बात, बापू! बहुत कठिन। अभी प्रवृत्ति इतनी अधिक फेरफार-फेरफार हो गया है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वीरजननी का पुत्र है तो उसे मारना वह तो निमित्तरूप से वस्तु है, परन्तु बन्ध्या के पुत्र को मारूँ, वह तो वस्तु नहीं। उस पर के आश्रय बिना अध्यवसाय नहीं होता। आहाहा! है? **(किसी को) उत्पन्न नहीं होता। (जहाँ बन्ध्या का पुत्र ही नहीं होता, वहाँ मारने का अध्यवसाय कहाँ से उत्पन्न होगा?) इसलिए यह नियम है कि (बाह्यवस्तुरूप) आश्रय के बिना**... बाह्य चीज़ का अवलम्बन, लक्ष्य है, अवलम्बन है। 'प्रतीत' है न पाठ में? मूल गाथा में पाठ में 'प्रतीत' (शब्द) है। प्रतीत अर्थात् बाह्य वस्तु का अवलम्बन, निमित्त। वह वस्तु है तो उसके आश्रय से अध्यवसान उत्पन्न होता है। आहाहा! अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि, कोई चीज़ है तो एकत्वबुद्धि होती है न? नहीं है, उसके साथ एकत्वबुद्धि किस प्रकार हो? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू!

(जहाँ बन्ध्या का पुत्र ही नहीं होता, वहाँ मारने का अध्यवसाय कहाँ से उत्पन्न होगा?) इसलिए यह नियम है कि (बाह्यवस्तुरूप) आश्रय के बिना अध्यवसान नहीं होता। अध्यवसान जो एकत्वबुद्धि है, उसमें परद्रव्य का आश्रय है **और**

इसीलिए अध्यवसान को आश्रयभूत बाह्यवस्तु का... इसीलिए अध्यवसान को आश्रयभूत बाह्यवस्तु का अत्यन्त निषेध किया है,... अध्यवसान के निषेध के कारण से... आहाहा! है? **अध्यवसान को आश्रयभूत बाह्यवस्तु का अत्यन्त निषेध किया है, क्योंकि कारण के प्रतिषेध से ही कार्य का प्रतिषेध होता है। (बाह्यवस्तु अध्यवसान का कारण है...** निमित्त। **(इसलिए उसके प्रतिषेध से अध्यवसान का प्रतिषेध होता है)।** उसके निषेध से एकत्वबुद्धि का निषेध होता है। सूक्ष्म बात है, भाई! बहुत कठिन काम। आहा!

जब यहाँ यह कहा तो यह अर्थ ले कि बाह्य वस्तु का त्याग परिणाम को सुधारने के लिये है। ऐसा अर्थ लेते हैं। परन्तु बाह्यवस्तु का त्याग तो अनन्त बार किया। वह त्याग-ग्रहण आत्मा में है ही कहाँ? आहाहा! अभी एक अखबार में आया था, टोडरमलजी ऐसा कहते हैं, बाह्य वस्तु के त्याग से परिणाम सुधरते हैं। किस अपेक्षा से कहा है? यहाँ जिसने परिणाम सुधारे हैं, उसे बाह्य वस्तु का निमित्त, अवलम्बन घट गया, आश्रय घट गया—ऐसा कहा है। अरेरे! अर्थ ऐसे उल्टे अर्थ करे। दृष्टि की विपरीतता। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि **परन्तु, यद्यपि बाह्यवस्तु बन्ध के कारण का (अर्थात् अध्यवसान का) कारण है...** निमित्त। बन्ध का कारण तो एकत्व-अध्यवसाय। उसमें वस्तु निमित्त है। आहाहा! **तथापि वह (बाह्यवस्तु) बन्ध का कारण नहीं है;..** भले बाह्य वस्तु बन्ध का निमित्त हो, अध्यवसान का निमित्त हो तो भी वह वस्तु बन्ध कारण नहीं है। आहाहा! बाह्य वस्तु ग्रहण कब की है? अपनी पर्याय में बाह्य वस्तु का त्रिकाल अभाव है। क्या कहा? द्रव्य-गुण तो शुद्ध है, परन्तु पर्याय में भी बाह्य वस्तु का तो तीनों काल अभाव है। पर्याय में कोई बाह्य वस्तु आ गयी है, ऐसा है नहीं। आहाहा! तो पर्याय में क्या आया? कि, बाह्य वस्तु के आश्रय से एकत्वबुद्धि—अध्यवसान, यह मिथ्यात्व पर्याय में आया। आहाहा! समझ में आया? बाह्य वस्तु तो पर्याय में तीन काल में कभी किसी को आती नहीं तो ग्रहण की नहीं तो छोडना, यह रहा कहाँ? आहाहा! परन्तु बाह्य पदार्थ के आश्रय से जो एकत्वबुद्धि थी, उस एकत्वबुद्धि के निषेध के लिये बाह्य वस्तु का निषेध करते हैं। यह निमित्त, निमित्तकारण है। परन्तु निमित्तकारण को छोड़ और अध्यवसान की एकता को न छोड़े तो वह तो अनन्त काल से हुआ है। समझ में आया?

नग्न दिगम्बर 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै (निज) आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो'। वस्त्र का एक धागा नहीं। आहाहा! जंगल में बसे, एक बार भोजन ले, उसके लिये बनाया हुआ नहीं, प्राण जाए तो भी ले नहीं। उससे क्या हुआ? अन्दर में एकत्वबुद्धि राग और परद्रव्य के साथ एकत्वबुद्धि है, उसका तो नाश हुआ नहीं। एकत्वबुद्धि का नाश हुए बिना मिथ्यात्व का नाश नहीं होता। मिथ्यात्व के नाश बिना बाह्य का त्याग तुझे किस काम का है? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अभिमान होता है। मैंने इतना छोड़ दिया, मैंने इतना छोड़ दिया, मिथ्यात्व का अभिमान है। आहाहा! कठिन काम। जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म वस्तु। लोगों ने तो पूरा मार्ग बाहर में व्यवहार में खतौनी कर डाला है। मार्ग अन्तर का है। आहाहा!

यद्यपि बाह्यवस्तु बन्ध के कारण का (अर्थात् अध्यवसान का) कारण है... निमित्त। **तथापि वह (बाह्यवस्तु) बन्ध का कारण नहीं है;...** क्या कहते हैं? परवस्तु एकत्वबुद्धि में निमित्त है परन्तु परवस्तु बन्ध का कारण नहीं है। अरे! अब इसमें... समझ में आया? परपदार्थ—आत्मा के अतिरिक्त जितने अनन्त शरीर, औदारिक, कार्मण, वैक्रियक, तैजस, पर पैसा, स्त्री, परिवार, वस्त्र, गहने सब परद्रव्य है। परद्रव्य तो अपनी पर्याय में तीन काल में कभी है नहीं। पर्याय में है नहीं, उसका त्याग करता हूँ, (ऐसा माने) वह तो मिथ्यात्व हुआ। त्याग ही है, उसका त्याग करता हूँ! समझ में आया? आहाहा! बहुत कठिन काम।

(बाह्यवस्तु) बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि ईर्यासमिति में परिणमित मुनींद्र... मुनिराज—तीन कषाय का जहाँ अभाव है, आत्मा का प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ है, मुनि को अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर (वेदन प्रगट हुआ है)। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को आनन्द का प्रचुर वेदन नहीं है, जघन्य वेदन—थोड़ा वेदन है। आनन्द का, अतीन्द्रिय आनन्द का। पंचम गुणस्थान में अतीन्द्रिय आनन्द का थोड़ा विशेष वेदन है। मुनि को तो विशेष प्रचुर है। आहाहा! उस अतीन्द्रिय आनन्द में रमणता करते हुए मुनीन्द्र चलते हैं, ईर्यासमिति में परिणमित हैं। **चरण से मर जानेवाले...** उनके पैर के नीचे कोई छोटा जीव आ गया। जंगल में उड़ते-उड़ते (पैर के नीचे आ जाए)। छोटा जीव होता है, इतना छोटा जीव। ऐसे जागृत रहकर चलते हैं परन्तु पैर के नीचे आ गया। आहाहा!

चरण से मर जानेवाले-ऐसे किसी वेग से आपतित... क्या कहते हैं ? मुनि तो ध्यान से चलते थे, परन्तु बारीक जीव वेग से काल प्रेरित दशा पूर्ण हो गयी। वेग से पैर के नीचे आ गया। आहाहा! जंगल में, खेत में होता है। तीड, बारीक, बारीक तीड। तीड समझे ? क्या कहते हैं तीड को ? शुकनराज गये लगते हैं। खडमाकड़ी और छोटे जीव होते हैं। छोटे बारीक... बारीक... छोटे। (मुनीन्द्र) चलते-चलते ऐसे जहाँ पैर रखते हैं, वहाँ काल से प्रेरित हुए (छोटे जीव पैर के) नीचे आ जाते हैं। हमने तो खेत में बहुत देखे हैं।

किसी वेग से आपतित... शीघ्रता से, ऐसी भाषा है। ईर्यासमिति में मुनीन्द्र चलते थे... आहाहा! और अति वेग से एक छोटा जीव आया और **कालप्रेरित उड़ते हुए...** फिर भाषा ऐसी है। काल प्रेरित अर्थात् वहाँ मरण होनेवाला था। आहाहा! **कालप्रेरित उड़ते हुए जीव की भाँति, बाह्यवस्तु-जो कि बन्ध के कारण का कारण है वह-बन्ध का कारण न होने से, बाह्यवस्तु को बन्ध का कारणत्व मानने में अनैकान्तिक हेत्वाभासत्व है-व्यभिचार आता है।** दोष आता है। मुनि को बन्ध का कारण नहीं। बाह्य वस्तु मर गयी तो भी बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! क्योंकि अध्यवसाय—एकत्व नहीं है। अध्यवसाय—एकत्व स्वभाव के साथ है। आहाहा! स्वभाव के साथ एकत्व, वह भी अध्यवसाय है। एकत्व—सम्यग्दर्शन, उसे अध्यवसाय कहते हैं। जयसेनाचार्यदेव की टीका में है—अध्यवसाय। जयसेनाचार्यदेव की टीका में। बन्ध और मोक्ष दोनों को अध्यवसाय कहते हैं। आहाहा!

अपना स्वरूप आनन्दघन है, उसकी एकत्वबुद्धि को अध्यवसाय कहते हैं। अपने स्वभाव का अध्यवसाय—एकत्व है, उसे राग और पर की एकत्वता टूट गयी है। अरेरे! ऐसी बातें सूक्ष्म बहुत, भाई! वीतराग का मार्ग बहुत दुर्लभ। आहाहा! इस प्रकार तो व्यभिचार आता है, कहते हैं। बाह्य (पदार्थ को) बन्ध का कारण कहो तो मुनि को तो बन्ध होता नहीं, तब तो न्याय से व्यभिचार आया। बाह्य वस्तु बन्ध का कारण है ही नहीं। जीव मर गया, तो भी मुनि को बन्ध नहीं है। आहाहा! वीतरागीदशा है और समिति से चलते हैं, उसमें प्राणी मर गया तो बन्ध नहीं है। यदि बाह्य वस्तु बन्ध का कारण हो तो मर गया तो बन्ध हो। ऐसा है नहीं। आहाहा! बन्ध का कारण तो राग और पर की एकताबुद्धि, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया ?

जिसकी एकत्वबुद्धि राग के साथ और परद्रव्य के साथ है तो एकत्वबुद्धि में वह चीज़ निमित्त है, परन्तु बन्ध का कारण नहीं। यदि बाह्य वस्तु बन्ध का कारण हो तो मुनि ईर्यासमिति से चलते हैं, पैर के नीचे उड़ता प्राणी वेग से... वेग से आया, शीघ्रता से और कालप्रेरित। क्योंकि वहाँ देह पूर्ण हो गयी, मर गया। (तो भी) बन्ध नहीं है। बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह तो (अज्ञानी) ऐसा कहता है कि बाह्यवस्तु छोड़ो तो परिणाम सुधरेंगे। ऐसा कहकर बाह्य वस्तु का त्याग है, उसकी स्वयं को महिमा बतलानी है। बाह्य वस्तु छूटे... यह टोडरमलजी ऐसा कहते हैं कि बाह्य वस्तु का त्याग परिणाम सुधारने के लिये है। वह तो परिणाम सुधरे, उसे बाह्य वस्तु का त्याग कहा गया है। परन्तु परिणाम सुधरते नहीं, एकत्वबुद्धि तो पड़ी है। बाह्य वस्तु लाख छोड़कर कपड़े भी छोड़ दिये... आहाहा! राग, दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प जो है, उसके साथ एकत्वबुद्धि—मिथ्यात्व तो पड़ा है। आहाहा! समझ में आया? भारी सूक्ष्म मार्ग, भाई! उसमें वर्तमान प्रचलित प्रवृत्ति के समक्ष यह बात पूरा फेरफार लगती है। आहाहा!

(इस प्रकार निश्चय से बाह्यवस्तु को बन्ध का कारणत्व निर्बाधतया सिद्ध नहीं होता।) बाह्य वस्तु बन्ध का कारण है, ऐसा यथार्थ से सिद्ध नहीं होता। आहाहा! **इसलिए बाह्यवस्तु जो कि जीव को अतद्भावरूप है...** क्या कहते हैं? बाह्य वस्तु जीव में अतद्भाव है। अतद्भाव अर्थात् उसकी पर्याय में अतद्भाव—वह भाव है नहीं। आहाहा! यह भगवान आत्मा की पर्याय में बाह्य वस्तु का अतद्भाव है। बाह्य वस्तु पर्याय में है नहीं। आहाहा! भारी बात। समझ में आया?

क्या कहा? **बाह्यवस्तु जो कि जीव को अतद्भावरूप है...** तद्भावरूप नहीं। पर्याय में जैसे राग तद्भाव है एकत्वबुद्धि का, उसी प्रकार परद्रव्य तद्भाव नहीं है। परद्रव्य का तो पर्याय में अभाव ही है, अतद्भाव है। आहाहा! सूक्ष्म विषय है। चाहे तो शरीर हो या लक्ष्मी हो या बाह्य स्त्री, कुटुम्ब, राज चक्रवर्ती का (हो), वह आत्मा की पर्याय में तो अतद्भाव है। आहाहा! अतद्भाव में आया, देखा? पर्याय में अतद्भाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य और गुण, पर्याय में अतद्भाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य और गुण की तो बात ही क्या करनी? वे तो त्रिकाल ध्रुव हैं। पर्याय में अतद्भाव है। समझ में आया? क्या कहा?

जो अपना आत्मा है त्रिकाली द्रव्य और गुण त्रिकाली ध्रुव है, उसमें तो वर्तमान पर्याय भी नहीं है। जो त्रिकाली ध्रुव है, उसमें तो वर्तमान पर्याय भी नहीं है। अब वर्तमान पर्याय जो है, उसमें दूसरे सर्व द्रव्य—कर्म, तैजस शरीर, पैसा, लक्ष्मी, वस्त्र अपनी पर्याय में अतद्भाव है, तद्भाव नहीं। वे पर्याय में है नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहा! टीका! यह वस्तु कहलाती है। ऐसा तो बहुत बार कहते थे कि पर्याय में वह वस्तु नहीं है परन्तु यहाँ तो अतद्भाव आया (अर्थात्) नहीं है। आहाहा! यह शरीरादि, वाणी आदि तो उसमें है, परद्रव्य में है। अपनी पर्याय में अतद्भाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : अत्यन्त अभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव है भले, परन्तु पर्याय में थोड़ा है या नहीं? तो कहते हैं—नहीं, नहीं। अपने द्रव्य-गुण में तो है नहीं पर्याय, परन्तु पर्याय में परद्रव्य का अतद्भाव है। पर्याय में परद्रव्य है ही नहीं, फिर उनका त्याग करना, ग्रहण करना कहाँ रहा? आहाहा! मात्र राग का त्याग करना, यह भी निमित्तमात्र का कथन है। पर के त्याग-ग्रहण तो है ही नहीं, परन्तु राग का त्याग करता हूँ, यह भी ३४वीं गाथा में कहा है कि ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा ज्ञान में जहाँ स्थिर हुआ, वहाँ राग की उत्पत्ति नहीं हुई तो राग का त्याग किया, ऐसा व्यवहारमात्र से कथन है; परमार्थ से तो राग का त्याग आत्मा नहीं करता। आहाहा! क्या कहा?

समयसार ३४ गाथा में है कि भगवान आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय में है। आत्मा अपने द्रव्य में, गुण में और पर्याय में है। बस! बराबर है? अपना द्रव्य त्रिकाली, गुण त्रिकाली और पर्याय वर्तमान, बस! उसमें आत्मा है। अब वे द्रव्य-गुण जो त्रिकाली हैं, उसमें वर्तमान पर्याय का भी अभाव है। एक बात। वर्तमान पर्याय है, उसमें अनन्त परद्रव्य का अतद्भाव है, पर्याय में है नहीं। आहाहा! गजब बात! 'अतद्भाव' शब्द प्रयोग करके पर्याय में परपदार्थ है ही नहीं, (ऐसा कहा)। है ही नहीं तो तुझे छोड़ना क्या है? आहाहा! हाँ, पर्याय में राग है, राग है परन्तु वह भी राग का त्याग करना, वह भी निमित्त का व्यवहार कथन है। क्यो?—कि भगवान ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञान में, ज्ञान में स्थिर होता है, वहाँ राग की उत्पत्ति नहीं होती, उसे राग का त्याग किया—ऐसा निमित्त का कथन व्यवहार

का है। राग का त्याग भी व्यवहार का कथन है, परमार्थ (कथन) नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई!

यह ३४ गाथा में आता है। है न उसमें? समयसार है न? **उपाधिमात्र से प्रवर्तित त्याग के कर्तापने का नाम (आत्मा को) होने पर भी...** ३४ में है, ३४ गाथा में है। टीका... टीका। **दूसरा तो कोई त्याग करनेवाला नहीं है, ऐसा आत्मा में निश्चय करके, प्रत्याख्यान (त्याग के समय) प्रत्याख्यान करनेयोग्य जो परभाव, उसकी उपाधिमात्र से प्रवर्तती त्याग के कर्तापने का नाम (आत्मा को) होने पर भी, परमार्थ से देखा जाए तो परभाव के त्यागकर्तापने का नाम अपने को नहीं है...** यह राग का त्याग भी अपने में नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! अरे! सत्य क्या है, यह सुना नहीं, सुना नहीं, समझा नहीं।

यहाँ तो परभाव अर्थात् राग। है? आहाहा! परभाव की उपाधिमात्र, राग की उपाधिमात्र। आहाहा! निरुपाधि भगवान आत्मा अपने में जहाँ स्थिर हुआ तो राग की उत्पत्ति नहीं हुई तो राग का त्याग किया, यह नाममात्र कथन है, नाममात्र कथन है, परमार्थ से राग का त्यागकर्ता आत्मा में नहीं है। आहाहा! क्या कहते हैं? कि जिसकी पर्याय में परद्रव्य तो है नहीं, तो परद्रव्य का त्याग तो है ही नहीं, उसे परद्रव्य का त्याग तो नाममात्र भी नहीं। आहाहा! है? आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है।

पर्याय है न? द्रव्य-गुण तो त्रिकाल ध्रुव है। अब पर्याय जो वर्तमान पर्याय है, उसमें राग है परन्तु परवस्तु का अतद्भाव है। परवस्तु उसमें नहीं है। परवस्तु है नहीं तो उसका त्याग करना, यह बात तो रहती नहीं। अब रहा पर्याय में राग या विकार। उस विकार का त्याग करना, वह भी नाममात्र कथन है। क्यों?—कि भगवान ज्ञानस्वरूपी है, वह रागरूप हुआ ही नहीं। उस ज्ञानस्वरूप की जहाँ दृष्टि हुई, सम्यग्दर्शन हुआ और स्वरूप में जहाँ स्थिरता हुई, वहाँ राग उत्पन्न हुआ नहीं तो राग का त्याग किया, ऐसा नाममात्र, नाममात्र कथन है। आहाहा! गजब बात है। शशीभाई! समझ में आया? थोड़ा-थोड़, धीरे से समझना, प्रभु! यह तो (वीतराग का) मार्ग है। आहाहा! यहाँ आया है न?

प्रवर्तती त्याग के कर्तापने का नाम (आत्मा को) होने पर भी,... नाम होने

पर भी, हों! **परमार्थ से देखा जाए तो परभाव के त्यागकर्तापने का नाम अपने को नहीं है...** परभाव अर्थात् राग। राग का कर्तृत्व का त्याग आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! चैतन्यस्वरूप भगवान ज्ञायकभाव जहाँ दृष्टि में आया और उसमें जहाँ लीनता हुई तो उतने अंश में पहले भान हुआ तो राग की एकता टूट गयी और अन्दर में स्थिर हुआ तो राग की उत्पत्ति रुक गयी। क्या कहा? कि, भगवान ज्ञानस्वरूपी चिदानन्द प्रभु में एकताबुद्धि हुई तो राग की एकताबुद्धि टूट गयी। राग रहा, परन्तु एकताबुद्धि टूट गयी। अब प्रत्याख्यान के समय—पच्चक्खाण के समय स्वरूप ज्ञान में ज्ञान स्थिर हुआ तो जो अस्थिरता का राग था, वह उत्पन्न नहीं हुआ, उसे राग का नाममात्र त्यागकर्ता कहा जाता है। पर के त्याग की तो बात ही ही नहीं। आहाहा! अरेरे! जगत को सत्य बात सुनने को मिलती नहीं। वह कहाँ समझे और कब श्रद्धा करे? आहाहा! समझ में आया? हैं?

मुमुक्षु : बाहर की वस्तु में से अन्तर की वस्तु समझने का काल ही कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी काल ही है। आज ही करो, ऐसा नहीं कहा? प्रवचनसार अन्त में (आता है)। प्रभु! कहाँ तू नहीं? पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर कहाँ नहीं? सब क्षेत्र में, सब काल में तू है। आहाहा! भाई ने लिया है न? कि यह स्पर्शेन्द्रिय है, स्पर्शेन्द्रिय, वह अखण्डरूप है और अनादि काल से है। स्पर्शेन्द्रिय बिना कभी एक समयमात्र रहा नहीं। निगोद में गया तो चार इन्द्रिय बिना तो रहा। निगोद में स्पर्शेन्द्रिय के अतिरिक्त चार इन्द्रिय बिना रहा परन्तु स्पर्शेन्द्रिय बिना कभी नहीं रहा और स्पर्शेन्द्रिय का विषय अखण्ड है। वह अखण्ड है तो उसका विषय आठ है। ठण्डा, गर्म (इत्यादि) आँख बन्द करे तो रूप न देखे, कान बन्द करे, ध्यान न रखे तो शब्द न सुनायी दे, नाक बन्द करे तो सुगन्ध नहीं आवे, परन्तु स्पर्श में क्या करना? स्पर्श में तो ठण्डी हवा, गर्म हवा आती है। अब उसमें क्या रोकना? आहाहा! वह तो जब अखण्ड ज्ञायक सन्मुख की दृष्टि हो... आहाहा! तब स्पर्शेन्द्रिय का विषय जीतने में आया। जो अनादि का था, अखण्ड इन्द्रिय है और अनादि का है। काल से अनादि से है, भाव से अखण्ड है। आहाहा! चार इन्द्रिय है, वह अनादि की नहीं। वह तो अमुक काल में आती है। निगोद में नहीं थी। आहा! स्पर्शेन्द्रिय अखण्ड है और अनादि काल की है। चार इन्द्रिय खण्ड-खण्ड है और

अनादि काल की नहीं है। आहाहा! उन्होंने बहुत स्पष्टीकरण किया है, पण्डितों ने उनकी महिमा की है। जगनमोहनलालजी, जगनमोहनलालजी ने तो यहाँ तक कहा है, भारिल्ल, भारिल्ल कैसा? तुम्हें सरस्वती का वरदान है। जगनमोहनलालजी अस्सी वर्ष के पुराने पण्डित हैं, परन्तु यह देखकर उन्होंने (ऐसा कहा), ऐसा नहीं कि मेरी पण्डिताई इसमें चली जाएगी। तुम्हें सरस्वती का वरदान है। ऐसी पुस्तक बनायी। आहाहा! उसमें यह लिया है कि स्पर्शेन्द्रिय पूरे शरीर में है, अखण्ड है और अनादि काल से है। कभी स्पर्शेन्द्रिय बिना रहा नहीं। चार इन्द्रिय बिना तो रहा। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि जहाँ पंचेन्द्रिय जीती, तो पूरी स्पर्शेन्द्रिय का जीतना हुआ। उस ओर का लक्ष्य छोड़कर अन्तर स्वरूप अतीन्द्रिय में जहाँ उपयोग होता है, तब सम्यग्दर्शन होता है। इन्द्रियज्ञान से, इन्द्रिय के विषय से अतीन्द्रिय ज्ञान में नहीं आया जाता। यह वाँचन, श्रवण, यह आँख से वाँचन होता है, उससे आत्मा ख्याल में नहीं आता। आँख से तो यह शब्द ख्याल में आते हैं, रूप (ख्याल में आता है)। पाँच इन्द्रिय से आत्मा ख्याल में नहीं आता। पाँच इन्द्रिय से तो पुद्गल की पर्याय ख्याल में आती है। आहाहा! और बहुत देखो तो मन से विकल्प होता है। आहाहा! तो पाँच इन्द्रिय और छठे मन को जीतना कब होता है? कि अखण्ड भगवान ज्ञायकस्वरूप प्रभु आत्मा का अनुभव करके जीतना होता है। आहाहा! समझ में आया? मनुभाई! समझ में आता है यह? मनहर! यह सूक्ष्म बात है। बहुत सूक्ष्म। आहाहा!

यहाँ तो 'अतद्भाव' शब्द आया न? कि जीव को बाह्यवस्तु, शरीर, कर्म, पैसा, स्त्री, कुटुम्ब, वस्त्र, गहने—यह अतद्भाव है। अपनी पर्याय में अतद्भाव है, वे पर्याय में हैं नहीं। पर्याय में नहीं है तो त्याग क्या करना? हैं?

मुमुक्षु : मुद्दे की रकम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुद्दे की रकम है। आहाहा! थोड़े दिन से कहते थे कि पर्याय में नहीं है, परन्तु यहाँ तो शब्द आ गया। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! भाई! यह तो वीतराग का मार्ग है, प्रभु! सर्वज्ञ परमेश्वर परमात्मा जिनेश्वरदेव का यह हुकम है। आहाहा! प्रभु! तेरी पर्याय में परद्रव्य का तो अतद्भाव है न, नाथ! जिसका अतद्भाव है,

उसका तुझे अतद्भाव करना है ? है नहीं, उसका त्याग करना है ? आहाहा ! लोग किंचित् थोड़ी एकाध प्रतिमा ले, वस्त्र बदले (इसलिए) हो गये त्यागी, हो गया। त्यागी नाम धरावे और तत्प्रमाण मान न मिले तो खेद करे। तत्प्रमाण हमें गिनो। क्या गिनें तुझे ? परन्तु तू कहाँ है ? आहाहा ! मार डाला है अनन्त काल से। आहाहा ! सन्मान। सत्स्वरूप भगवान का सन्मान नहीं किया और बाहर से सन्मान लेने जाता है, वह एकत्वबुद्धि—मिथ्यात्व है। समझ में आया ? प्रभु ! धीरे से, शान्ति से समझने की यह चीज़ है। यह कहीं उतावल से एकदम समझ जाए ऐसी बात नहीं है। आहाहा !

बहुत दिन से कहते थे कि (परद्रव्य) पर्याय में नहीं है, परन्तु यहाँ आया, यह तो पाठ आया। समझ में आया ? अपने द्रव्य-गुण तो ध्रुव हैं, उसमें तो परद्रव्य है नहीं। परद्रव्य तो नहीं परन्तु पर्याय भी नहीं। वर्तमान सम्यग्दर्शन की निर्मल पर्याय है, वह भी द्रव्य-गुण में नहीं है। पर्याय, पर्याय में है; द्रव्य में नहीं। पर्याय द्रव्य में ऊपर तैरती है। है न श्लोक ? है न पहले श्लोक ? पर्याय है, वह द्रव्य में ऊपर तैरती है। जैसे पानी के दल में तैल की बूँद हो, तेल.. तेल, अन्दर प्रवेश नहीं करता। ऊपर-ऊपर तैरता है। वैसे भगवान आत्मा पूर्ण द्रव्य और गुण ध्रुव, उसमें उसकी निर्मल पर्याय हो, मलिनता की तो बात ही क्या करना ? परन्तु निर्मल पर्याय का भी अन्दर में प्रवेश नहीं है। आहाहा ! अब रही पर्याय, फिर मलिन रागवाली हो या निर्मल हो, तो भी उस रागवाली पर्याय में परद्रव्य का तो अतद्भाव है। आहाहा ! समझ में आया ? सुमेरुमलजी ! अधिकार अच्छा आया है, हों ! भाग्यशाली को (सुनने मिलता है)। आहा ! आ गया, अधिकार आवे तब निकले न ! ऐसा है, प्रभु ! आहाहा !

इसलिए बाह्यवस्तु जो कि जीव को अतद्भावरूप है... आहाहा ! गजब काम किया है न ! सीधी बात, चोट मारी है। बाह्य वस्तु छोड़ो, घटाओ, घटाओ तो परिणाम सुधरे। यह तो परिणाम जिसके सुधरते हैं, उसे बाह्य वस्तु का अभाव निमित्तरूप से हो जाता है। पर्याय में है नहीं, संयोगरूप से वह छूट जाता है। आहाहा ! अरेरे !

यहाँ कहते हैं, प्रभु ! तेरी वर्तमान दशा है न ? दशा। भले उसमें राग हो, परन्तु परवस्तु का तो अतद्भाव है। भगवान भी पर्याय में नहीं आते; देव-गुरु-शास्त्र पर्याय में नहीं आते; कर्म जड़ हैं, वे पर्याय में नहीं आते; औदारिक, तैजस, कार्मण आदि शरीर पर्याय में नहीं

आते। ओहोहो! वस्त्र, पात्र और गहने। दागीना को क्या कहते हैं? जेवरात। वे पर्याय में नहीं आते। तीन काल में पर्याय में नहीं है। आहाहा! तो कहते हैं कि पर्याय में नहीं है। वह तो बाह्य चीज़ है। अध्यवसाय में निमित्त हुई। अध्यवसाय का आश्रय है परन्तु बन्ध का कारण नहीं है क्योंकि पर्याय में उसका अतद्भाव है। आहाहा! पण्डितजी! आहाहा! ऐसी निवृत्ति कहा? मूल चीज़ को समझने के लिये समय नहीं निकालता। अनन्त काल गँवाया है।

एक व्यक्ति ऐसा कहता है। है न विद्यासागर? जितनी बाह्य चीज़ घटी, उतनी आकुलता घट गयी। अब एक शरीरमात्र रहा, ऐसा कहते हैं। यह सब बाह्य के त्याग में त्याग मनवाना है न! हम बाहर में त्यागी हैं, ऐसा आभास बतलाना है न। वे ऐसा कहते हैं, स्पष्ट कहते हैं। यह तो और ऐसा भी कहते हैं, विमलचन्दजी कहते थे कि ज्ञान ज्ञेय से होता है। यहाँ कहते हैं, ज्ञान होता है, वह अन्दर ज्ञान में से होता है; ज्ञेय से ज्ञान होता ही नहीं। भगवान सर्वज्ञ हैं, वे आत्मा का ज्ञेय है। उनसे भी अपने में ज्ञान नहीं होता। आहाहा! क्योंकि अपनी पर्याय में तो सर्वज्ञ है नहीं। आहाहा! अपनी पर्याय में सर्वज्ञ का तो अभाव है।

समयसार की पहली गाथा में कहा न? **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'**। पर्याय में जो अनन्त सिद्धों को स्थापित करता है, है नहीं उन्हें स्थापित करता है! **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'** उसका अर्थ (यह कि) उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है। आहाहा! जिसकी एक समय की पर्याय में अनन्त सिद्ध का अतद्भाव है। अतद्भाव है न? अतद्भाव है। तथापि जो अनन्त सिद्ध (कि जिन्हें) पूर्णानन्द की, पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति (हुई), ऐसे अनन्त-अनन्त सिद्ध पर्याय में (स्थापित करता है)। **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'** का अर्थ किया। पर्याय में स्थापना की, वह **'वंदित्तु'**। आहाहा! हैं नहीं, उसका पर्याय में स्थापन किया। परमात्मा अनन्त सिद्ध मेरी पर्याय में हैं। आहाहा! अनन्त सिद्ध पर्याय में स्थापित किये तो उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है। फिर कहते हैं कि सुनो! अब हम तत्त्व की बात करते हैं, सुनो! **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'** पहली गाथा है न?

यहाँ तो कहते हैं कि अनन्त सिद्ध पर्याय में नहीं हैं, परद्रव्य है। वहाँ कहते हैं कि अनन्त सिद्धों को पर्याय में स्थापित करते हैं। समझ में आया? अर्थात् कि एक समय की पर्याय है और अनन्त... अनन्त... अनन्त... केवलज्ञानी सिद्धों को स्थापन करते हुए, पर्याय

का झुकाव द्रव्य पर हो जाएगा। पर्याय आनन्दमय हो जाएगी। अनन्त सिद्ध जहाँ पर्याय में आये, दृष्टि से स्थापित किये तो दृष्टि (स्वरूप की) हो गयी। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है।

यहाँ तो क्या आया? कि तेरी पर्याय में दूसरे द्रव्यों का अतद्भाव है। अब वहाँ कहा, तेरी पर्याय में अनन्त सिद्धों को स्थापित करते हैं। है या नहीं? **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'**। **'वंदित्तु'** का अर्थ कि पर्याय में स्थापन करना, यह **'वंदित्तु'** का अर्थ हुआ। आदर किया, पर्याय में अनन्त सिद्ध का आदर हुआ। पर्याय का, एक समय का आदर नहीं, अनन्त सिद्ध का आदर हुआ। आहाहा! समझ में आया? वे अनन्त... अनन्त सिद्ध, जहाँ अल्पज्ञ पर्याय में अनन्त-अनन्त सिद्ध को स्थापन किया... आहाहा! वह दृष्टि ऐसे झुक जाती है, द्रव्य पर जाती है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' पर्याय में सिद्ध स्थापित किये तो (दृष्टि हुई कि), मेरी चीज़ सिद्ध समान सदा है। आहाहा! अरेरे!

यहाँ कहते हैं कि बाह्य वस्तु। सिद्ध बाह्य वस्तु है या नहीं? सिद्ध बाह्य वस्तु है? पंच परमेष्ठी बाह्य वस्तु है। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य बाह्य वस्तु है। और ऐसा तो कहा है कि वह बाह्य वस्तु है परन्तु जैसा उनका स्वरूप है, वैसा तेरे आत्मा में पंच परमेष्ठी बसते हैं। वस्तुस्वरूप, हों! वह चीज़ नहीं, परन्तु तेरी शक्ति में वे पाँचों बसते हैं। ऐसा पाठ है। आहाहा! बालचन्दजी! यह माल की बात चलती है। आहाहा!

पाँचों परमेष्ठी की पवित्रता, वह तेरे स्वभाव में पाँच परमेष्ठी बसते हैं। वह चीज़ नहीं, पाँच परमेष्ठी की जितनी शक्ति है, वह शक्ति तेरी वस्तु में है। आहाहा! उस बाह्य वस्तु का तो यहाँ अभाव कहते हैं। हैं? अब अन्दर पाँच परमेष्ठी का स्वभाव है, उसका अर्थ क्या? कि जो पाँच परमेष्ठी का स्वभाव है, वैसे वे तेरे स्वभाव में बसते हैं, तेरा स्वभाव ऐसा है। वह चीज़ नहीं आती। आहाहा! पंच परमेष्ठी! आहाहा! (उसकी) शक्ति तुझमें है, पंच परमेष्ठी स्वरूप ही तेरी चीज़ है। तेरी चीज़ ही पंच परमेष्ठी स्वरूप है। द्रव्य, हों! आहाहा! नहीं तो यहाँ यह कहा कि पर्याय में सिद्ध का अतद्भाव है और परमात्मा कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो ऐसा कहते हैं, पर्याय में अतद्भाव है, यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव स्वयं कहते हैं। वे ही कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं, पर्याय में अनन्त सिद्धों—परद्रव्य स्थाप। आहाहा! अनन्त...

अनन्त... अनन्त... अनन्त केवलज्ञानी अनन्त, जहाँ पर्याय में स्थापन करते हैं, भले परद्रव्य है परन्तु अपनी शक्ति, मेरी पर्याय अनन्त सिद्ध धारण करती है। आहाहा! उस शक्तिवान में पाँच परमेष्ठी मेरे शक्ति में हैं, उनके ऊपर मेरी दृष्टि जाती है। आहाहा! फिर कहा, **'वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते। वोच्छामि समयपाहुडमिणमो'** मैं तुमको समयसार कहूँगा, परन्तु इस प्रकार से मुझे और तुझे दोनों में सिद्ध को पर्याय में स्थापित करके (कहूँगा), ऐसा कहा है न? है पहली गाथा में? आहाहा!

मेरी पर्याय में भी मैं अनन्त सिद्धों को स्थापित करता हूँ। वे तो मुनि हैं, तीन ज्ञान (कषाय के अभाव के) के धनी, बहुत निर्मल पर्याय है तो भी अनन्त सिद्धों का मैं तो आदर करता हूँ। आहाहा! वह द्रव्य मुझमें नहीं आता, परन्तु इतनी ताकतवाली चीज़ है, उसे मैं मेरी पर्याय में स्थापन करता हूँ, अर्थात् मेरे द्रव्य में उन पंच परमेष्ठी की शक्ति परिपूर्ण पड़ी है। आहाहा! उस शक्तिवान की ओर जहाँ झुकाव होता है, अब बात सुन, तुझे समयसार कहूँगा, तुझे केवलज्ञान हो जाएगा। आहाहा! आहाहा! क्या शैली! दिगम्बर सन्तों की कोई गजब शैली है! ओहोहो! बात कहीं मिले ऐसी नहीं है। आहाहा! परन्तु वाड़ा बाँधकर बैठे, वे कहते हैं कि हम स्थानकवासी, और वे कहें हम तेरापन्थी, वे कहें हम श्वेताम्बर। ऐसे यह दिगम्बर एक वाड़ा माना। वाड़ा नहीं, बापू! यह वस्तु का स्वरूप ही है। आहाहा!

इस पर्याय में अतद्भाव होने पर भी और वह वस्तु बन्ध का कारण नहीं होने पर भी, आहाहा! ऐसी दो (बातें) आयी न? पर्याय में अतद्भाव है तो बन्ध का कारण नहीं है। पर्याय में होवे तो बन्ध का कारण हो। पर्याय में नहीं तो बन्ध का कारण नहीं, परन्तु तुझमें अनन्त सिद्ध को स्थापित करते हैं। दूसरे द्रव्य को (स्थापित करते) नहीं हैं। इसमें तो सब द्रव्य का अतद्भाव कहा। यहाँ तो सिद्धों को स्थापित करते हैं। हैं? अतद्भाव है, उसे स्थापन करते हैं। आहाहा! तुम्हारे श्वेताम्बर में यह बात कहाँ थी? मुनियों की बात तो देखो! कपाट फाड़ डालते हैं न! तोड़ डालते हैं। आहाहा! भाग्यवन्त है, बापू! बात कान में पड़नेवाले भाग्यशाली हैं। यह तो परमात्मा तीन लोक के नाथ की बात है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

(यहाँ कहते हैं), **जीव को अतद्भावरूप है, वह बन्ध का कारण नहीं**

है;... ऐसा सिद्ध करना है न? पर्याय में वे हैं नहीं तो बन्ध का (कारण नहीं)। पर्याय में होवे तो बन्ध का कारण हो। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म थोड़ा कठिन है। नयी शैली का है। प्रभु! तेरे घर की बात है। तू सब समझेगा। केवलज्ञान लेने की ताकत है, नाथ! तू परमात्मस्वरूप विराजता है। आहाहा! आज सवेरे पढ़ा था। नहीं? चाबी, चाबी में। बहिन के फोटो में लिखा है, परमात्मा है - ऐसा लिखा है। परमात्मा है। दिया है (तुमको) विमलचन्दजी? दिया? भाई को कहा था, विमलचन्दजी को देना। उसमें ऊपर है। शुरुआत में परमात्मा नाम है कुछ। आहाहा!

(यहाँ) कहते हैं कि व्यभिचार आता है, यह अनैकान्तिक नहीं है। (बाह्य वस्तु को) बन्ध का कारण मानने में व्यभिचार आता है। व्यभिचार अर्थात् दोष आता है। **इसलिए बाह्यवस्तु जो कि जीव को अतद्भावरूप है...** आहाहा! **वह बन्ध का कारण नहीं है; किन्तु अध्यवसान जो कि जीव को तद्भावरूप है...** अब भाषा देखो! परद्रव्य मेरा है और राग मेरा है-ऐसा अध्यवसाय पर्याय में तद्भाव है। समझ में आया? पर्याय में है। मिथ्यात्व—एकत्व—अध्यवसाय पर्याय में है। अज्ञानी की अनादि की बात करते हैं। **बन्ध का कारण नहीं है; किन्तु अध्यवसान जो कि जीव को तद्भावरूप है...** पर्याय में एकत्वबुद्धि—राग की और परद्रव्य की एकत्वबुद्धि पर्याय में तद्भाव है। **वही बन्ध का कारण है।** विशेष कहेंगे... (**श्रोता:** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३२५, गाथा - २६५ सोमवार, आसोज शुक्ल १०
दिनाङ्क - ०१-१०-१९७९

अनितम दो लाईन। २६५ (गाथा)। बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं है, यह यहाँ सिद्ध करना है। क्यों? कि **बाह्यवस्तु जो कि जीव को अतद्भावरूप है...** क्या कहते हैं? बाह्य चीज़ बन्ध का कारण नहीं है तथा बाह्य का त्याग, वह मोक्ष का कारण नहीं है। आहाहा! क्यों? कि अपना जो द्रव्य और गुण है, उसमें तो पर्याय है नहीं। पर्याय है, उसमें (दूसरे) अनन्त द्रव्य हैं, उनका अभाव है। जो अनन्त परद्रव्य हैं (उनका) पर्याय में

(अभाव है)। पर्याय में कर्म का, कर्मद्रव्य का भी अभाव है। पर्याय में शरीर का भी अभाव है, पर्याय में वाणी का भी अभाव है, मन परमाणु जो, उनका भी पर्याय में अभाव है। समझ में आया? अतद्भाव कहा न? आहाहा!

बन्ध का कारण तो पर्याय में, वह मेरी चीज़ है, उसे मैं कर सकता हूँ—ऐसा अध्यवसाय—मिथ्यात्व बन्ध का कारण है। समझ में आया? आहाहा! यह शरीर और शरीर की क्रिया, वह अपनी पर्याय में नहीं है तो वह बन्ध का कारण नहीं। अहेतुक है। कोई राग हुआ तो (शरीर की क्रिया हुई, ऐसा नहीं है)।

शरीर, वाणी, मन की क्रिया हो या शरीर हो, वह अपनी पर्याय में नहीं है। शरीर की क्रिया हो, वह क्रिया अपनी पर्याय में नहीं है। शरीर अपनी पर्याय में नहीं है। समझ में आया? शरीर की क्रिया जो पर्याय, वह भी अपनी पर्याय में नहीं है। शरीर की क्रिया और शरीर बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? किसी ने किसी को थप्पड़ मारी। वह क्रिया जड़ की (हुई), वह बन्ध का कारण नहीं परन्तु अन्दर में भाव हुआ कि मैं इसे मारूँ, ऐसा जो भाव, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! चन्दुभाई! ऐसी बात है। आहाहा!

मुनि का दृष्टान्त दिया है न? मुनि का दृष्टान्त दिया है। मुनि समिति से चलते हैं। (कोई) जीव मर जाए तो परद्रव्य मरा तो भी बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि उनकी पर्याय में उसे मारने का भाव नहीं है और उसे जिलाने का भाव नहीं है। मात्र अपनी समिति से चलते हैं और वह मर जाए तो बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि अपनी पर्याय में वह चीज़ नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! इन दो पद में तो (बहुत भरा है)।

बाह्यवस्तु जो कि जीव को अतद्भावरूप है... शरीर, कर्म, वाणी, पैसा, स्त्री, कुटुम्ब, देव-गुरु-शास्त्र वे सब पदार्थ अपनी पर्याय में अतद्भावरूप है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! वह बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि अपनी पर्याय में जो चीज़ नहीं, वह बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! परन्तु अध्यवसान—मैं पर का कर सकता हूँ, पर को जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ—ऐसा जो अध्यवसाय—वह अध्यवसाय / एकत्वबुद्धि, वह तद्भावरूप है। वह अपनी पर्याय में है। समझ में आया? पर को मार सकता हूँ, जिला

सकता हूँ—ऐसा जो अध्यवसाय, वह पर्याय में है। वह तद्भावरूप है। आहाहा! पूरी दुनिया, एक समय की पर्याय में पूरी दुनिया नहीं है। आहाहा! अतद्भाव है, तो पूरी दुनिया बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! उस बन्ध का कारण तद्भावरूप है। पर मेरा, मैं उसका; मैं पर का कर सकता हूँ—ऐसा अध्यवसाय, वह पर्याय में तद्भाव है, वह अध्यवसाय पर्याय में है तो वह बन्ध का कारण है। आहाहा! और अध्यवसाय छूट जाएगा, फिर राग रहे तो राग पर्याय में है, इस कारण से राग चारित्रबन्ध का कारण है। अध्यवसान मिथ्यात्वबन्ध का कारण है और अध्यवसान छूटे, (इसलिए) पर्याय में से पर की एकत्वबुद्धि गयी। पर का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं। तीन काल में कोई परवस्तु ग्रहण की है और छोड़ी है—ऐसा आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! एक तो गुण उसका ऐसा है—त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति। ४७ शक्ति है न? आहाहा! परवस्तु का त्याग और ग्रहण, उससे तो रहित प्रभु अनादि से है। पर का ग्रहण किया नहीं तो पर का त्याग करना उसमें है नहीं। आहाहा! पर का त्याग करता हूँ, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। आहाहा!

मैंने इतना तो त्याग किया, इतना तो त्याग किया। परन्तु वह तेरी पर्याय में कहाँ था तो त्याग किया? समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! बाह्य के इतने कपड़े तो छोड़ दिये, इतने धन्धे तो छोड़ दिये, दुकान के धन्धे (छोड़े), स्त्री, परिवार को (छोड़ा)। आहाहा! स्त्री का संग छोड़ दिया। परन्तु स्त्री का संग छोड़ दिया तो संग पर्याय में कहाँ था तो छोड़ दिया। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई!

परद्रव्य का त्याग और ग्रहण से प्रभु शून्य है। क्योंकि परद्रव्य त्रिकाल में—द्रव्य-गुण में तो है नहीं। द्रव्य-गुण में तो वह पर्याय भी नहीं। आहाहा! परन्तु वह पर्याय, एक समय की अवस्था-हालत है, उसमें बाह्य वस्तु अतद्भाव है, बाह्य वस्तु का उसमें भाव नहीं। आहाहा! वास्तव में तो कर्म भी पर्याय में नहीं, तो कर्म भी बन्ध का कारण नहीं। चन्दुभाई! आहाहा! प्रभु! कोई कहे कि कर्म बन्ध का कारण है। कर्म तो परद्रव्य है। वह परद्रव्य पर्याय में तो है नहीं, तो बन्ध का कारण किस प्रकार होगा? परन्तु वह कर्म मुझमें है ऐसी मान्यता है, वह मान्यता—अध्यवसाय बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात, भाई! यह तो भेदज्ञान की बात है। आहाहा!

अनन्त द्रव्य, तीन लोक के नाथ परमात्मा... आहाहा! भी अपनी पर्याय में नहीं हैं।

कल यह कहा था कि अपनी पर्याय में अनन्त सिद्ध आदि नहीं हैं। पहली गाथा में ऐसा कहा **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'**। जो पर्याय में नहीं है, ऐसे अनन्त सिद्ध को स्थाप। है नहीं। आहाहा! वे तो अतद्भाव में आये। अनन्त सिद्ध अपनी पर्याय में नहीं हैं। उनका तो अतद्भाव है, परन्तु कहते हैं कि प्रभु! एक बार तुझे सुनना होवे, समयसार सुनना हो, प्रभु! आहाहा! तो पर्याय में **'वंदित्तु'** सिद्धों को वन्दन। अर्थात्? सिद्धा को पर्याय में स्थापन कर। आहाहा! और पर्याय में स्थापन करने से पर्याय झुक गयी, द्रव्य पर झुक जाएगी। पर्याय में सिद्ध को स्थापन किया तो सिद्ध समान मेरा स्वरूप है, ऐसी तेरी दृष्टि हो जाएगी। चन्दुभाई! सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि सिद्ध भगवान और पंच परमेष्ठी भी तेरी पर्याय में नहीं है। अतद्भाव है। आहाहा! यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यदेव ऐसा कहते हैं, वहाँ कुन्दकुन्दाचार्यदेव ऐसा कहते हैं। स्थापन कर। है नहीं परन्तु... आहाहा! एक-एक सिद्ध अनन्त केवलज्ञान सहित, ऐसे अनन्त सिद्ध अल्पज्ञ पर्याय में अनन्त सिद्ध को स्थापन कर। आहाहा! वह पर्याय झेलेगी। वह वस्तु नहीं आयेगी, परन्तु पर्याय झेलेगी कि अनन्त सिद्ध मेरी पर्याय में हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : अल्पज्ञ की पर्याय बहुत बड़ी हो गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : ये तो प्रभु कहना है। वह पर्याय इतनी बड़ी कि अनन्त सिद्ध को धारण किया! इसका अर्थ—दृष्टि गुलाँट खाकर द्रव्य पर चली गयी। जो सिद्ध को पर्याय में स्थापित करता हूँ, वह चीज़—मेरा द्रव्य सिद्धस्वरूप ही है। जरा सूक्ष्म बात है, भाई! **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'** का अर्थ बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! भगवान की वाणी, कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी, वह तो कोई अलौकिक है। हैं? आहाहा! सिद्ध है तो परद्रव्य, परन्तु अपनी पर्याय में परद्रव्य, ऐसा पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण अर्थात् वह पूरण नहीं, हों! रोटी में पूरण डालते हैं, वह नहीं। यह पूर्ण... आहाहा! अनन्त सिद्ध, एक नहीं ऐसे अनन्त सिद्ध। केवलज्ञान की पर्यायवाले अल्पज्ञ पर्याय में ऐसे अनन्त पर्यायवाले सिद्ध का आदर करता हूँ। पर्याय कहती है कि मैं अनन्त सिद्धों का आदर करती हूँ। आहाहा! स्थापना का अर्थ यह है। **'वंदित्तु'** का अर्थ यह है। वन्दन करता हूँ, उसका अर्थ यह है, वन्दन करने का अर्थ यह है। समझे? छे, छे—हमारे गुजराती आ जाती है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, कि प्रभु! तेरी पर्याय में परद्रव्य का अतद्भाव है। इस कारण से परद्रव्य बन्ध का कारण नहीं है। तेरे अध्यवसाय में उसका आश्रय हो, अध्यवसाय में उसका आश्रय हो, परन्तु तो भी बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि अध्यवसाय विभाव-विकार है, जो पर के लक्ष्य से उत्पन्न होता है, पर का लक्ष्य है तो अध्यवसाय का आश्रय परद्रव्य हो परन्तु परद्रव्य बन्ध का कारण हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! बात गुलाँट मारती है न! अरे रे! इसने कहाँ अन्तर (की बात सुनी है)? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि तेरी पर्याय में अनन्त सिद्ध हैं नहीं, अतद्भाव है। आहाहा! अब हम तो कहते हैं कि तुझे समयसार-शुद्धात्मा चिदानन्द प्रभु पूर्णानन्द के नाथ की बात हमारे वैभव से कहूँगा, तो सुनना। मेरी पर्याय में भी सिद्ध को (स्थापित करता हूँ), ऐसा है न? भाई! मेरी पर्याय में भी अनन्त सिद्धों को स्थापित करता हूँ। हैं तो मुनि, तीन कषाय का अभाव है। आहाहा! अनन्त-अनन्त, अनन्त-अनन्त छह महीने और आठ समय में ६०८ (जीव) सिद्ध होते हैं। ऐसे-ऐसे अनन्त सिद्ध हुए। आहाहा! आदि नहीं। छह महीने आठ समय में ६०८। उनकी आदि नहीं, इतने सिद्ध अभी तक (हुए)। और जब-जब कहो तब उन अनन्त सिद्धों को पर्याय में स्थापन कर, तो सिद्ध तो बहुत बढ़ जाएँगे। आहाहा! परन्तु वे पूर्ण परमात्मा हैं (ऐसा) पर्याय ने जब स्वीकार किया... आहाहा! है तो परद्रव्य, परन्तु पर्याय में यह स्वीकार किया... आहाहा! निश्चय से तो वह विकल्प है, पर्याय में परद्रव्य का स्थापन है, वह वास्तव में तो विकल्प है, परन्तु... आहाहा! इतने अनन्त सिद्ध पर्याय में आने से पर्याय निर्बल नहीं रहती। पर्याय का आश्रय द्रव्य हो जाएगा। आहाहा! समझ में आया?

वह द्रव्य सच्चिदानन्द प्रभु, सत्... आहाहा! चिद् ज्ञानानन्दस्वभाव पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... प्रभु, जैसे पूर्ण पर्यायवाले सिद्धों को स्थापन किया तो यहाँ प्रभु पूर्ण... पूर्ण है। आहाहा! ऐसी सिद्ध की अनन्त पर्याय, केवलज्ञान की (पर्याय) गुण में से निकलती है, ऐसा एक गुण है। आहाहा! भगवान को अनन्त आनन्द प्रगट हुआ तो उस अनन्त आनन्द की पर्याय प्रगट हो, ऐसा आनन्द गुण है; भगवान को अनन्त दर्शन (प्रगट) हुआ, अनन्त वीर्य (प्रगट) हुआ तो वह अनन्त वीर्यगुण में अनन्त वीर्य प्रगट होने की शक्ति है। समझ में आया? ऐसे अनन्त गुण की पूर्ण पर्याय सिद्ध को हो गयी है।

सम्यग्दर्शन में 'सर्व गुणांश वह समकित'। जितने गुण की संख्या है, उतनी संख्या में आंशिक सबकी व्यक्तता / प्रगटता हो... आहाहा! इसका नाम सम्यग्दर्शन। तब यहाँ पर्याय में सिद्ध (का स्थापन) किया तो द्रव्य पर दृष्टि गयी तो पर्याय में जितने गुण हैं, उतने एक अंश व्यक्त-प्रगट हो गये। आहाहा! धीरे से समझना, भाई! यह तो अन्तर का मार्ग है। आहा! यह अन्तर के उद्गार हैं। आहाहा! भगवान पूर्ण.. पूर्ण सब परमात्मा है। आहाहा!

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तो ऐसा कहा। गजब काम किया है न! **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'**—यह पहला शब्द। शुरुआत है। आहाहा! प्रभु! यहाँ एक ओर आप कहते हो कि वे सिद्ध अतद्भाव हैं, तेरी पर्याय में है नहीं न! और आप अनन्त सिद्धों का स्थापन करने का कहते हो। हमारी पर्याय में भी स्थापन और तुम्हारी पर्याय में भी स्थापन। वक्ता और श्रोता दोनों की पर्याय में अनन्त सिद्ध को पर्याय में स्थापित करते हैं।

मुमुक्षु : अतद्भाव को तद्भाव कैसे कर सके?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसकी पर्याय में इतना बड़ा है, ऐसी प्रतीति आ गयी। आहाहा! वे सिद्ध अन्दर आये नहीं, परन्तु सिद्ध की स्थापना मेरी पर्याय में हुई, वहाँ तो यहाँ पर्याय बड़ी हो गयी। आहाहा! अनन्त... अनन्त गुण का धारक प्रभु, उसकी प्रतीति होने की ताकत आ गयी। थोड़ी सूक्ष्म बात है, हों! आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात, बापू! वीतरागमार्ग। आहाहा! सन्त, दिगम्बर सन्तों ने तो केवलज्ञान खड़ा किया है। आहाहा! केवलज्ञान के पथानुगामी हैं, प्रभु! यह पक्ष नहीं, यह वाड़ा नहीं। यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : प्रतिच्छन्द के स्थान पर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रतिच्छन्द (अर्थात्) मैं सिद्ध हूँ, तू सिद्ध है (ऐसा आया तो) तू सिद्ध है, (ऐसा आया), ऐसा। आया है न यह? इसका अर्थ ही यह हुआ। पर्याय में सिद्ध स्थापित किये तो इसका द्रव्य सिद्ध है, ऐसी दृष्टि हो गयी। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! समयसार तो ऐसा है कि अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं। अप्रतिबुद्ध को, तथापि वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र समझ में आ गया तो (वह) हमारा (दर्शन) अप्रतिहत है—गिरेगा नहीं, ऐसे श्रोता लिये हैं। समझ में आया? भाई! ३८ गाथा (समयसार), ९२ गाथा (प्रवचनसार)।

मुनिराज कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, उनकी पर्याय में अनन्त सिद्धों को स्थापित करते हैं, वे ऐसा कहते हैं कि हमारी जो पर्याय प्रगट हुई है, वह अब गिरेगी नहीं। हम सम्यग्दर्शन से नहीं गिरेंगे, चारित्र की पर्याय तो अलग बात है। स्वर्ग में जाएँगे। आहाहा! परन्तु जो द्रव्य की पकड़ ली है... आहाहा! वह द्रव्य गिरे तो पर्याय गिरे। आहाहा! ऐसी द्रव्य की प्रतीति अन्तर में—पर्याय में आ गयी... आहाहा! तो पर्याय में वह प्रतीति हुई, पर्याय में अनन्त द्रव्य आये नहीं... समझ में आया? परन्तु अनन्त सिद्धों को लक्ष्य में लेकर द्रव्य में गुलांट खायी। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो सन्तों के-केवलियों के शब्द हैं, यह कोई साधारण ऐरों-गैरों के नहीं हैं। उसमें गम्भीरता का पार नहीं, प्रभु! आहाहा!

कहते हैं कि **बाह्यवस्तु जो कि जीव को अतद्भावरूप है...** अतद्भावरूप है। पर्याय में अनन्त द्रव्य हैं ही नहीं। आहाहा! अनन्त द्रव्य हैं नहीं तो अनन्त द्रव्यों का त्याग करना, वह है कहाँ? त्याग ही है। आहाहा! तथापि आगे कहेंगे कि पर का त्याग परिणाम के अध्यवसाय का त्याग कराने के लिये कहते हैं। है न? भाई! आहाहा! यह पर का त्याग करे, इसलिए अध्यवसाय सुधर जाएगा, ऐसा नहीं है। परन्तु इस अध्यवसाय का त्याग कराने के लिये पर का लक्ष्य छुड़ाने के लिये पर का त्याग कहने में आया है। अरेरे! समझ में आया? इन दो शब्दों में तो बहुत रखा है। आहाहा! पार नहीं, प्रभु! आहाहा! इसकी गम्भीरता हृदय में ख्याल में आवे, इतनी बात (कथनी में) नहीं आ सकती। आहाहा! मूल लोगों को बाह्य त्याग और बाह्य का... यह वस्तु छोड़ो, वस्तु छोड़ो, वस्तु छोड़ो तो त्यागी हो गये, यह दृष्टि मिथ्यात्व है। त्याग है, उसका मैंने त्याग किया। हैं?

मुमुक्षु : वस्तु का त्याग...

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके ऊपर जो आश्रय है, उसका त्याग है। आश्रय का त्याग। वस्तु का त्याग तो त्रिकाल है। वह तो यहाँ कहते हैं कि वस्तु अध्यवसाय का आश्रय है। क्योंकि विकार उत्पन्न होता है, (वह परद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होता है)। निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, वह तो द्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होती है, परन्तु विकारी पर्याय में पर का लक्ष्य और आश्रय है, तथापि बन्ध का कारण तो अध्यवसाय और राग-द्वेष ही बन्ध का कारण है। आहाहा! बन्ध का कारण वह चीज़ नहीं है। आहाहा! बन्ध का कारण वह

चीज़ नहीं तो वह जितनी छूटे, उतना लाभ हो—ऐसी बात है ही नहीं। समझ में आया? आहा! ऐसा कि अपने एक शरीर रह गया, सब छोड़ दिया, सब छोड़ दिया। परन्तु क्या छोड़ा? छूटा ही पड़ा है। छूटे हुए को छोड़ना? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

यह शास्त्र में आया है, 'बन्ध अधिकार' में आया है न? भाई! ऐसा कि बाह्य का त्याग, वह तो अध्यवसाय के त्याग के लिये बाह्य त्याग की बात की है, परन्तु बाह्य के त्याग पर जिसकी दृष्टि है, वह तो एकदम विपरीत है। समझ में आया? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! वीतराग का मार्ग... भरत में परमेश्वर परमात्मा का विरह पड़ा। अच्छे सन्तों का भी विरह पड़ा, आहा! और उनकी गहरी-गहरी बातें रह गयीं। हैं? आहाहा! गहरी-गहरी बातें शास्त्र में रह गयी। वे गहरे-गहरे नाथ तीर्थंकर केवली और मुनि नहीं रहे। आहाहा! आहाहा! परन्तु उनकी वाणी में उनकी गहराई जो भाव की गहराई थी, वह वाणी में वाणी के कारण से रह गयी, हों! वाणी में स्व-पर कहने की ताकत है। आत्मा में स्व-पर जानने की ताकत है, कहने की ताकत नहीं। वाणी में स्व-पर कहने की ताकत आत्मा के कारण से नहीं, आत्मा के कारण से नहीं, वाणी में स्व-पर कहने की ताकत है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ इतना कहते हैं कि **बाह्यवस्तु जो कि जीव को अतद्भावरूप है, वह बन्ध का कारण नहीं है;**... बहुत कठिन पड़े। यह शरीर की विषय की, मैथुन की क्रिया चली, कहते हैं कि वह क्रिया बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि वह अपनी पर्याय में नहीं है। ऐई! गजब बात है! हाँ, उस समय जो एकत्वबुद्धि है कि यह देह की क्रिया मैं करता हूँ, तो वह अध्यवसाय अपनी पर्याय में बन्ध का कारण है। वह अध्यवसाय न हो और क्रिया देह की हो, वह भी बन्ध का कारण नहीं है, परन्तु देह की क्रिया के काल में राग हो, प्रेम हो, उतना बन्ध का कारण है। समझ में आया?

ज्ञानी को भी, समकिती को भी एकत्वबुद्धि का नाश हुआ है, तथापि विषय वासना है और वह क्रिया होती है। समझ में आया? आहाहा! 'भरतेश वैभव' में तो एक बात ऐसी चली है, 'भरतेश वैभव', कि भरत चक्रवर्ती विषयभोग करते थे, परन्तु भोग करके जहाँ नीचे उतरते हैं, वहाँ ध्यान में निर्विकल्प हो जाते थे। भरतेश वैभव में है। यह मुद्दे की रकम

याद रह जाए, बाकी दूसरा सब (याद नहीं रहता)। समझ में आया? क्योंकि वह राग की जरा अस्थिरता थी। उस क्रिया के कारण से नहीं, अस्थिरता थी, उसका ध्यान था, श्रद्धा में उसकी हेयबुद्धि थी, परन्तु थी न? उतना राग भी समकिती को भी बन्ध का कारण और दुःख है, परन्तु अन्दर इतनी तैयारी थी कि जहाँ भोग करके नीचे उतरते हैं... ऐसा पाठ भरतेश वैभव में है, और बात भी सच्ची है। अन्तर में उतर जाए और निर्विकल्प अनुभव करते हैं। आहाहा!

जैसे हिरण का माँस पेट में होने पर भी... दसवाँ भव, भगवान महावीर (से पूर्व दसवें भव में) सिंह मारता है, फाड़कर खाता है। मुनिराज आकर कहते हैं, प्रभु! तू दसवें भव में तीर्थंकर होनेवाला है। यह क्या? तीर्थंकर ने कहा है। आहाहा! यह क्या? पेट में माँस है और यह जहाँ सुनता है... कौन जाने सिंह की भाषा कैसी होगी? मुनि की भाषा कैसी होगी? चन्दुभाई! मेल भी कैसा खाता है! मुनि की क्या देशना होगी? ऊपर से उतरे और उनकी भाषा सिंह समझ गया। महावीर का दसवाँ भव। आहाहा! प्रभु! तू तो महावीर तीर्थंकर का जीव, दसवें भव में तीर्थंकर होनेवाला, यह क्या? आँसू की धारा (बहती जाती है)। पाप के परिणाम में... सिंह को आँसू की धारा बहती है। फोटो देखा है? दो पैर नीचे हैं। अन्दर एकाग्र होने पर... आहाहा! पेट में माँस पड़ा, समकित हुआ। परचीज़ कहाँ पर्याय में है? समझ में आया? यह तो वह बतलाना है। आहाहा! पर्याय में जो एकत्वबुद्धि थी, (वह छूट गयी)। आहाहा!

मुमुक्षु : इतना जल्दी सम्यग्दर्शन हो जाए?

पूज्य गुरुदेवश्री : जल्दी हो जाए। इस काल में, आज ही। नहीं कहा? प्रवचनसार। आज ही प्राप्त कर। प्रवचनसार में अन्त में दो श्लोक है। और (समयसार) पाँचवीं गाथा में यह है— **'तं एयत्तविहत्तं दाएहं... जदि दाएज्ज'** एक बार तो कहा **'दाएहं अप्पणो सविहवेण'** परन्तु **'जदि दाएज्ज'** तू सुनने बैठा और यदि यह बात आयी... अनुभव करके प्रमाण करना। वहाँ ऐसा कहा है। है? तत्काल उस समय में प्रमाण करना। आहाहा! सन्तों की वाणी ने गजब किया है! दिगम्बर मुनियों ने तो परमात्मा को खड़ा किया है। सुमेरुमलजी! आहाहा! है न?

३८ गाथा में आया न ? भाई ! ३८ गाथा। अनादि काल का जो अप्रतिबुद्ध ही था, उसे गुरु ने बारम्बार समझाया। आता है ? ३८ गाथा में है। समझा और सम्यग्दर्शन पाया। सम्यग्ज्ञान, चारित्र तीनों प्राप्त किये। अरे ! अप्रतिबुद्ध पंचम काल का श्रोता और उसे उपदेश देनेवाले पंचम काल के सन्त। आहाहा ! काल-फाल वहाँ कहाँ बाधक है ? काल कहाँ अपनी पर्याय में है ? ऐई ! आहाहा ! वाह.. प्रभु ! वाह ! यह तो प्रभु अन्दर से कहते हैं, हों ! आहाहा ! अप्रतिबुद्ध ने सुना और अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुए और अप्रतिबुद्ध कहता है कि यह अंकुर उत्पन्न हुआ, उसका अब नाश नहीं होगा। है ? पंचम काल का श्रोता। अरे ! प्रभु ! पंचम काल में आत्मा है या नहीं ? प्रभु ! आहाहा ! समझ में आया ? आत्मा कहाँ पंचम काल का है और चौथे काल का है। आहाहा ! पंचम काल कहाँ आत्मा की पर्याय में पंचम काल का काल प्रविष्ट है अन्दर ? अतद्भाव है। आहाहा ! हीराभाई ! ऐसी बातें हैं। यह लोग बेचारे आये हैं और ऐसी ऊँची बात आयी है, हों ! आहाहा ! अरे ! बापू ! अलौकिक बात है।

९२वीं गाथा में कहते हैं। ९२ गाथा, प्रवचनसार। इस मोक्षमार्ग में हम आये। कल ही बात आ गयी। मोक्षमार्ग, यहाँ आया था न ? दोपहर में आया था, नहीं ? मोक्षमार्ग पाये हैं, मोक्षमार्ग में वर्तन कर रहे हैं। आहाहा ! पंचम काल के अमृतचन्द्राचार्यदेव तो भगवान के पास गये नहीं थे। कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो भगवान के पास गये थे। अमृतचन्द्राचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि हम मोक्षमार्ग को प्राप्त हुए, हमारा प्रवर्तन है, मोक्षमार्ग में वर्तते हैं। अरे ! प्रभु ! परन्तु भगवान के पास गये बिना। हम भगवान के पास गये हैं। आहाहा ! तीन लोक का नाथ, जिसके एक समय में तीन काल-तीन लोक समा जाएँ, आहाहा ! विज्ञानघन।

(समयसार) १४४ (गाथा में) आता है न ? भाई ! १४४। मात्र वहाँ चारित्र नहीं, वहाँ दर्शन-ज्ञान की बात है। तो भी यह लोग नहीं मानते। वर्णीजी कहते हैं, यह दर्शन-ज्ञान नहीं। सातवें गुणस्थान की बात है। परन्तु यहाँ दर्शन-ज्ञान की बात है। किन्तु लोग वह बाहर से मान बैठे। आहाहा ! यह बात हुई थी। १४४ गाथा है न ? पाठ तो यह है, कि **'सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं'** उसे सम्यग्दर्शन का नाम तब पड़ता है, ऐसा पाठ है। १४४। आहाहा ! तब वे कहते हैं कि यह तो मुनि सातवें गुणस्थान की बात है। कहो ! अरे ! प्रभु ! समझ में आया ? है न ? इसमें ही है न ? यह समयसार है। १४४, अन्दर है।

दूसरा पैराग्राफ। **आदि-मध्य-अन्तरहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण विश्व पर मानो कि तैरता है, ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन, परमात्मारूप...** अनन्त विज्ञानघन, परमात्मारूप **समयसार को जब आत्मा अनुभव करता है...** आहाहा! जैसा पूर्ण स्वरूप भगवान है, उसका अनुभव करता है, कहते हैं। आहाहा! है? निकला? भाई को निकला? मालचन्दजी! निकला? १४४ में दूसरा पैरेग्राफ है। **अनन्त, विज्ञानघन, परमात्मारूप समयसार को जब आत्मा अनुभव करता है, उस समय ही आत्मा सम्यक्रूप से दिखायी देता है...** इसका अर्थ **(अर्थात् श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है, इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।** यहाँ तो यह बात है। अरे! बापू! भगवान! सम्यग्दर्शन-ज्ञान को सोनगढ़वालों ने बहुत महँगा कर दिया ऐसा कहे। बापू! उसकी कीमत है, उतनी ही है। महँगा-बहँगा कुछ (नहीं है), जैसा है, वैसा है। आहाहा!

मुमुक्षु : सम्यक्रूप से दिखायी देता है श्रद्धा तो कोष्ठक में है, वह तो सोनगढ़ का लिखा हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिखायी देता है अर्थात् यह। श्रद्धा करता है, आया, नहीं? दिखता है अर्थात् श्रद्धा में आता है, ऐसा है।

मुमुक्षु : यह सोनगढ़ का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सोनगढ़ का नहीं, हिन्दी में ऐसा है। हिन्दी नहीं? यह हिन्दी है न? १४४। देखो! **अनुभव करता है... दिखायी देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है)...** यह हिन्दी तो पहले का है। लोगों ने अपना पक्ष माना हो, उसमें से छूटना कठिन पड़े, इसलिए कुछ के कुछ अर्थ लगा दें। हैं? कठिन पड़े, बात सच्ची। यहाँ तो कहते हैं, **दिखायी देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है) सम्यक्तया जाना जाता है।** यह हिन्दी है, सोनगढ़ का नहीं। भाई कहते हैं सोनगढ़ का है। **इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।** ठीक किया। आहाहा!

अब इसमें दो बात है कि **अतद्भावरूप है, वह बन्ध का कारण नहीं है; किन्तु अध्यवसान जो कि जीव को तद्भावरूप है, वही बन्ध का कारण है।** अब यहाँ

तो एक अध्यवसाय को बन्ध के कारण में लिया है। परन्तु अध्यवसाय छूट जाता है, एकत्वबुद्धि छूट जाने पर सम्यग्दर्शन होता है, तब भी उसकी पर्याय में राग है, वह बन्ध का कारण है, पर की क्रिया बन्ध का कारण नहीं है। समझ में आया? समकिती चक्रवर्ती तीर्थंकर छियानवें हजार स्त्री, छियानवें हजार स्त्रियों का भोग लेते हैं, परन्तु वह तो जड़ की क्रिया अपनी पर्याय में आती नहीं, परन्तु उसकी पर्याय में उनके प्रति का जो राग है, वह स्वयं की पर्याय में है तो वह राग बन्ध का कारण है, समकिती को भी बन्ध का कारण है। समझ में आया? आहाहा!

क्षायिक समकिती हो, अध्यवसाय पर्याय में नहीं तो उस प्रकार का मिथ्यात्व का बन्ध नहीं है। आहाहा! परन्तु अपनी पर्याय में जितनी आसक्ति, राग है, समकिती को भी जब वीतरागता नहीं, राग है तो उतना दुःख ही है, दुःख का अनुभव है और दुःख है, उतना बन्ध का कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : गुरुदेव! पुरुषार्थसिद्धि उपाय में कहा है...

पूज्य गुरुदेवश्री : उस राग को हिंसा कहा है न! अपराध कहा है। तीर्थंकरगोत्र बाँधे, उस भाव को वहाँ अपराध कहा है। पुरुषार्थसिद्धि उपाय में। अपराध है। आहाहा! तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह समकिती ही बाँधता है। मिथ्यादृष्टि नहीं। तथापि वह भाव है, वह अपराध है। ज्ञानी का भाव भी अपराध है। आहाहा! आहारकशरीर बाँधे, यशकीर्ति बाँधे... समझ में आया? आहाहा! परन्तु वह अपराध है। तीर्थंकरगोत्र बाँधे। बन्धभाव, वह धर्म है? वह राग है। ज्ञानी को भी राग दुःख है, दुःख का अनुभव है। राग अपने में है तो दुःख का अनुभव है। अपनी पर्याय में राग है, वह दुःख का अनुभव है, पर का अनुभव नहीं। आहाहा! सुमेरुमलजी! सुमेरुमल एक बार कहते थे कि अमुक बात के लिये अपन यहाँ चलो। एक बार कहा था। ख्याल है। सेठिया को कहा था। एकबार तुमने कहा था। बात तो ऐसी है। क्या हो? भाई! मालचन्दजी!

अरे! प्रभु! ज्ञानी को भी अपनी पर्याय में राग है, वह बन्ध का कारण है। चीज़ बन्ध का कारण नहीं है। अध्यवसाय नहीं, मिथ्यात्व नहीं परन्तु राग अपनी पर्याय में है, वह क्रिया चाहे जितनी हो, छियानवें हजार स्त्री की हो, शरीर मोटा लठ्ठ (हो) और किसी का

पतला (हो), रजकण थोड़े हों और ज्यादा रजकण वे कोई बन्ध का कारण नहीं हैं। अधिक स्त्रियाँ हैं, इसलिए बन्ध का कारण है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

वह भाई कहता था। लालन, पण्डित लालन। देखो! हमारे जार्ज को एक स्त्री और तुम्हारे तीर्थंकर को, क्षायिक समकिती को छियानवें हजार स्त्रियाँ। परन्तु संख्या पर कहाँ प्रश्न है? किसी का शरीर मोटा हो, इसलिए बन्ध का कारण ऐसा है? और पतला (होवे तो कम हो)? वह तो परद्रव्य है। परद्रव्य की संख्या विशेष हो या थोड़ी हो, वह कोई बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? लालन ऐसा कहते हैं। भगवान तीर्थंकर को छियानवें हजार स्त्रियाँ, हमारे जॉर्ज को एक स्त्री। अब तेरा जार्ज मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। एकत्वबुद्धि है। भगवान को छियानवें हजार में एकत्वबुद्धि टूट गयी है। क्षायिक समकिती हैं। आहाहा! वह संयोग बन्ध का कारण नहीं। जितने समय संयोग में राग रहे, (उतना बन्ध है)।

पाठ तो ऐसा है कि ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है। वह तो दृष्टि के जोर की बात की। बाकी भोग निर्जरा का हेतु होवे तो भोग छोड़कर चारित्र लेना नहीं रहता। समझ में आया? भोग निर्जरा का हेतु है ही नहीं। वह तो द्रव्य की दृष्टि का जोर दिया है। ज्ञाता-दृष्टा का अनुभव है, इस अपेक्षा से राग आया तो भोग निर्जरा का हेतु कह दिया। दृष्टि की अपेक्षा से। बाकी भोग है, वह राग है, समकिती को भी बन्ध का कारण है। आहा! जब तक चारित्र नहीं हो, तब तक उसे मुक्ति नहीं होती। तीर्थंकर हो तो भी नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो (कहते हैं), **अध्यवसान जो कि जीव को तद्भावरूप...** यहाँ तो अध्यवसाय को तद्भाव कहा। परन्तु अध्यवसाय छूटे और पश्चात् भी राग रहता है, वह पर्याय में तद्भाव है। यहाँ तो अध्यवसाय का जोर दिया है। 'बन्ध अधिकार' है न? उपयोग भूमिका में राग करता है, ऐसा लिया है। यहाँ राग अस्थिरता की बात नहीं ली। । समझ में आया? भगवान ज्ञान-दर्शन उपयोगमय है। उसकी पर्याय में-उपयोग में-उपयोगभू-उपयोग भूमिका में राग की एकता करता है, वही मिथ्यात्व है और बन्ध का कारण है। ऐसा लिया है न? वहाँ से लिया, ऐसा लिया है। अस्थिरता की बात गौण रखी है। समझ में आया? आहाहा!

भाईचन्दजी ने बेचारे ने एक बार गाया था। भाईचन्दजी लींबड़ी ... थे न? दिगम्बर की श्रद्धा थी। स्थानकवासी साधु थे भाई! छोड़ दिया। पश्चात् दिगम्बर की श्रद्धा थी। फिर उन्होंने बेचारे ने एक गायन बनाया थ, हों! 'उपयोगभूमि पावन करने पधारना' मेरी उपयोगभूमि। अपने उपयोगभू है न! 'उपयोगभूमि पावन करने पधारना' द्रव्य... द्रव्य..। द्रव्य मेरे उपयोग में आ जाओ, प्रभु! आहाहा! उपयोगभूमि में राग की एकता है, वह छूट जाओ। आहाहा! और पर्याय में जो उपयोग है, 'उपयोगभूमि पावन करने पधारना' प्रभु! हमारे उपयोग में प्रभु पधारो। द्रव्य को कहते हैं, हों! पर्याय, पर्यायरूप से है परन्तु पर्याय में द्रव्य आ जाओ, उसका ज्ञान आ जाओ। द्रव्य तो आता नहीं। द्रव्य और गुण कहीं पर्याय में नहीं आते, परन्तु जितनी द्रव्य-गुण की ताकत है, वह ताकत पर्याय में आ जाए तो द्रव्य पर्याय में आ गया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? अरेरे! प्रभु का विरह पड़ा और ऐसी बातें पीछे रह गयी और लोगों ने एकान्त खींचा। अरे! मूल बात रह गयी। मूल बात के बिना बाहर से सब पत्ते तोड़े। मूल सुरक्षित (रह गया) तो वह तो पन्द्रह दिन में वृक्ष खिल जाएगा। आहाहा! जो मूल अन्दर है, राग और देहादि की एकत्वबुद्धि है, वह मूल नाश करने की बात है पहली तो। हैं? उसके बदले बाह्य संयोग छोड़े और माना कि त्यागी हो गये। अरे! प्रभु! क्या करें? बापू! भाई! तेरे अनादर के लिये बात नहीं है, प्रभु! सत्य की बात है। आहाहा! तुझे दुःख हो तो क्षमा करना, प्रभु! दूसरा क्या हो?

पद्मनन्दि में आया है न? भाई! पद्मनन्दि में ब्रह्मचर्य की बहुत बात की। ब्रह्म अर्थात् आत्मा, ब्रह्म अर्थात् आत्मा आनन्द, उसमें चरना, वह ब्रह्मचर्य। बहुत बात की। 'जवानों! मैं ब्रह्मचर्य की बात तुम्हें कहता हूँ। तुमको न रुचे...' २५-३० वर्ष की जवान अवस्था। स्त्री की २५ वर्ष की जवान अवस्था, उसमें पाँच-पच्चीस लाख रुपये हों और स्वयं ही कर्ता-हर्ता हो और फट गया प्याला... (चढ़ गया अभिमान)। आहाहा! 'प्रभु! तुझे हमारी ब्रह्मचर्य की बात कहता हूँ, वह न रुचे तो क्षमा करना।' आहाहा! बापू! मेरे पास क्या होगा? भाई! मालचन्दजी! मुनिराज कहते हैं। आहाहा! 'भाई! जवानों! तुमको यह बात न रुचे, मैं तो मुनि हूँ तो क्षमा करना। प्रभु! बाकी दूसरा क्या करूँ?' आहाहा!

इसी प्रकार सन्त कहते हैं कि जो सम्यग्दर्शन की व्याख्या हम करते हैं, हमारे पास

तो यह है। हैं ? आहाहा! यह बात, बाह्य की क्रिया, त्याग में तुझे न रुचे तो क्षमा करना, प्रभु! तू भगवान है। हें ? तू भी भगवान के साथ में बैठा है, प्रभु! भगवान की लाईन में। भगवान है। हाँ, उसमें बोलते हैं न ? नम्बर नहीं बोलते ? अमुक... जी, हाँ! इसी प्रकार यहाँ कहते हैं सिद्ध। जी हाँ! आहाहा!

यहाँ तो दो बातें की, अध्यवसान जीव को तद्भावरूप है, परन्तु राग भी तद्भावरूप है। वह बात यहाँ गौण की है। उसमें अकेली अध्यवसाय की ही बात कही है। उपयोगभूमि पहले ली थी न ? उस उपयोगभूमि में एकत्वबुद्धि, वही अध्यवसाय, इतना लिया। बाकी तो समकिती को अध्यवसाय छूट गया, एकत्वबुद्धि छूट गयी और फिर राग रहता है, विषय का, भोग का, आमदनी का, कमाने का राग उसकी पर्याय में है और वह बन्ध का कारण है। समकिती को भी, प्रभु! दसवें गुणस्थान तक राग-लोभ रहता है तो बन्ध का कारण है न, प्रभु! तो तू पहले से कहे कि हमारे बन्ध का कारण नहीं है, ऐसा नहीं चलता। समझ में आया ? दसवें गुणस्थान में लोभ (रहता है)। लोभ कहो या राग का भाग कहो। आहाहा! माया और लोभ, वह राग का भाग है।

भाई ने तो लिया है न ? हुकमचन्दजी ने। 'लोभान्त' शब्द प्रयोग किया है। लोभान्त अर्थात् लोभ अन्त में जाता है। पहले द्वेष जाता है। लोभ अन्त में जाता है। लोभान्त शब्द प्रयोग किया है। उन्होंने भारी काम किया है। पूरा पढ़ा ? पूरा पढ़ा है ? भाई! लोभान्त शब्द प्रयोग किया है। बहुत गजब किया है! ओहोहो! दसवें में लोभ अन्त में जाता है। द्वेष पहले जाता है। लोभ जाए, तब सब कषाय जाती हैं। अभी द्वेष जाता है और दूसरी कषाय रहती है, परन्तु लोभ जाता है और कोई कषाय रहे, ऐसा नहीं होता। इसलिए लोभ पाप का बाप कहा है। आहाहा! समझ में आया ?

धर्मी को भी... आहाहा! अरे! मुनियों को भी जो पंच महाव्रत के विकल्प अपनी पर्याय में आते हैं, वह बन्ध का कारण है, वह तद्भाव है, अपनी पर्याय में है। कोई क्रिया या बाह्य (वस्तु) बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! इसलिए अध्यवसान अकेला लिया है परन्तु पर्याय में राग भी लेना। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३२६, गाथा - २६५, २६६ मंगलवार, आसोज शुक्ल ११
दिनाङ्क - ०२-१०-१९७९

समयसार, २६५ का भावार्थ। तद्-अतद्भाव का कल चला था। आज तो गुजराती (चलेगा), वे हिन्दी लोग गये न।

भावार्थ : बन्ध का कारण निश्चय से अध्यवसान ही है;... क्या कहते हैं? राग और शरीरादि परवस्तु, वह मेरी है और मैं उसका हूँ, ऐसा जो अध्यवसाय—मिथ्यात्वभाव वह बन्ध का कारण है। अनादि जीव को बन्ध का वह कारण है, बाह्य वस्तु नहीं। बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं है। यह शरीर है, वह बन्ध का कारण नहीं है। भले एक बात ऐसी कही न? उस लुटेरे में। संघ रास्ते में-मार्ग में निकला हो तो संघ लुटता है, परन्तु मार्ग लुटता है ऐसा कहा जाता है। उसी प्रकार आत्मा के प्रदेश के ऊपर एक क्षेत्रावगाही कर्म, शरीर आदि दिखते हैं, इसलिए ऐसा व्यवहार से कहा जाता है कि वे इसके हैं। परन्तु इसके हैं नहीं। मार्ग का दृष्टान्त आता है न? ५८ और ६० गाथा। लुटते देखकर मार्ग लुटता है, (ऐसा कहा है)। उसी प्रकार आत्मा के प्रदेश में है अतद्भाव, कर्म, शरीर आदि अन्दर पर्याय में एकाकार नहीं परन्तु एकक्षेत्रावगाह में वहाँ रहे हैं, ऐसा गिनकर व्यवहार से कहने में आता है कि इसके हैं। निश्चय से हैं नहीं। आहाहा!

उसी प्रकार यहाँ शरीर या बाह्य चीज़, कर्म, वह बन्ध का कारण नहीं है। कर्म जड़ है, उनका उदय भी बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! भले वे आत्मा के प्रदेश के ऊपर वह उदयादि रहे हों, परन्तु वे प्रदेश में एकमेक नहीं हैं, भिन्न है। आहाहा! प्रदेश में तो वह शरीर मैं, कर्म मैं, यह परद्रव्य मैं - ऐसी मान्यता जो अध्यवसाय है, वह इसकी पर्याय में स्थित है। इसकी पर्याय में वह है, इसलिए वह बन्ध का कारण है। पर्याय बन्ध का कारण और पर्याय मोक्ष का कारण। समझ में आया? आहाहा! द्रव्य-गुण नहीं, परद्रव्य नहीं। आहाहा!

पर्याय अर्थात् अवस्था। उसमें जो यह शरीर मैं, स्त्री मेरी, यह परिवार मेरा, पैसे मेरे, मकान मेरे—ऐसा जो मिथ्या अध्यवसाय, वह महामिथ्यात्व, वह पापबन्ध का कारण है, परन्तु वह चीज़ बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? है?

मुमुक्षु : बन्ध का कारण वह है, इसमें जीव को नुकसान क्या है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह निमित्त हो। अनन्त संसार में भटकने का नुकसान है। आहाहा! जो चीज़ उसमें है नहीं, इसकी नहीं, उसे 'मेरी है'—ऐसा मानना, वह अनन्त संसार के परिभ्रमण का कारण है। सूक्ष्म बात, प्रभु! वीतराग मार्ग जिनेश्वर त्रिलोकनाथ का मार्ग कोई अलग है। आहाहा!

कहते हैं कि प्रभु! तू भिन्न आत्मा है न! यह आत्मा है, वह अपना अपनेरूप न मानकर 'है' ऐसा कहीं उसे मानना तो पड़ेगा। यह है, वह तो जानने में आया नहीं। वस्तु भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, सर्वज्ञ जिनेश्वर ने कहा वह आत्मा, हों! सत् चिदानन्द सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का पिण्ड प्रभु है। आहाहा! ऐसा आत्मा ज्ञान में जानने में न आया, तब वह है—ऐसा मानने में नहीं आया, तब 'है' ऐसा तो कहीं इसे मानना पड़ेगा। आहाहा! जिसमें दृष्टि पड़ी नहीं, इसलिए उसे जानने में नहीं आया और वह है, ऐसा मानने में नहीं आया। आहाहा! इसलिए जहाँ इसकी दृष्टि है—शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, स्त्री, पुत्र, धन्धा—ये सब मेरे हैं, यह मिथ्यात्वभाव अध्यवसाय एकत्वबुद्धि, यह महा संसार के बन्ध का कारण है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! क्या हो ? आहाहा! परिवार में और धन्धे में रहना और यह परिवार तथा धन्धा मेरा नहीं, (ऐसा मानना)। आहाहा! समझ में आया ? वह तो परचीज़ है। वह परचीज़ मेरी और मैं उसका—ऐसा जो अभिप्राय—अध्यवसाय, वही बन्ध का कारण—संसार में भटकने का कारण है। आहाहा! है ?

बन्ध का कारण निश्चय से... निश्चय अर्थात् वास्तव में। **अध्यवसान ही है;...** अध्यवसान 'ही' है। 'ही' क्यों रखा ? **और जो बाह्यवस्तुऐं हैं, वे अध्यवसान का आलम्बन हैं...** स्वयं एकत्वबुद्धि की है, उस एकत्वबुद्धि का आलम्बन परलक्ष्य है। आलम्बन है, परन्तु वह वस्तु बन्ध का कारण नहीं। अरे.. अरे! आहाहा!

मुमुक्षु : स्त्री, पुत्र हैरान करते हैं, इसका क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे ? स्त्री, पुत्र इसके थे कब ? मूढ़ व्यर्थ का अनादि काल से (मानता है)। वे भटकते जीव कहीं से भटकते हुए आये हैं। वह आत्मा है, उसका शरीर जड़ है, वह तो परचीज़ नहीं, तुझे स्पर्श नहीं किया और तेरे पास आयी नहीं। अरर..र! ऐसी

बातें! कठिन काम, भाई! आहाहा! अर्धांगिनी कहते हैं। हमारी अर्धांगिनी! अथवा दूसरी भाषा कहे, हमारी घरवाली है—ऐसा कहे। वह तेरी घरवाली है? तेरा घर तो अन्दर आत्मा है। आहाहा! अरेरे! अज्ञान।

वीतराग त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का जगत के समक्ष पुकार है कि जो चीज़ तेरी नहीं है, उसे तू (तेरी) मानता है, वह तेरा अध्यवसाय—मिथ्यात्व, वही संसार का भटकने का कारण है। आहाहा! वह **अध्यवसान का आलम्बन हैं...** परचीज़ अध्यवसाय में निमित्त है। इसका लक्ष्य जाता है न? अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि में वह आलम्बन, निमित्त है। **उनको अवलम्बकर अध्यवसान उत्पन्न होता है,..** उसका लक्ष्य होकर अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि उत्पन्न होती है। **इसलिए उन्हें अध्यवसान का कारण कहा जाता है।** निमित्त, हों! अध्यवसान का उपादान कारण तो स्वयं ही है, परन्तु निमित्तकारण कहने में आता है।

बाह्यवस्तु के बिना निराश्रयतया अध्यवसान उत्पन्न नहीं होते... आहाहा! भगवान का जो अन्दर का अध्यवसाय है, वह एकत्वबुद्धि का अध्यवसाय है। उसे अध्यवसाय कहा है। समझ में आया? इसमें जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत टीका में है। मोक्ष का अध्यवसाय और बन्ध का अध्यवसाय, ऐसा कहकर दोनों (बात की है)। संस्कृत टीका में है। अर्थात् क्या? कि आत्मा स्वयं शुद्ध चैतन्यघन निर्मलानन्द हूँ, ऐसा जो अध्यवसाय, वह तो मोक्ष का कारण है। अध्यवसाय। समझ में आया? संस्कृत में है, भाई! जयसेनाचार्यदेव की टीका। नहीं यहाँ? है? हाँ, है। २६५-२६६। बन्ध, बन्ध अधिकार, हों! देखो! देखो आया, २६६।

'भवदीयाध्यवसाने सत्यपि परजीवानां सातासातोदयाभावात् सुखदुःखाभावः स्वीकयाशुद्धशुद्धाध्यवसानाभावात् बंधो मोक्षाभावश्चेति।' सामनेवाले को स्वकीय अशुद्ध अध्यवसाय न हो तो बन्ध नहीं है। तू उसे बन्ध करा दे, मैं उसे पाप करा दूँ, यह बात झूठी है। उसके स्वकीय अशुद्ध अध्यवसाय बिना उसे बन्ध नहीं होता। तथा दूसरे प्राणी को मैं मोक्ष करा दूँ, भाई! उसके शुद्ध अध्यवसाय की एकता बिना उसे मुक्ति नहीं होती। यह कहा, **'शुद्धाध्यवसानाभावात्'** सामनेवाले को शुद्ध अध्यवसाय का भाव नहीं तो, उसका मोक्ष नहीं होता। परन्तु तू कहे कि उसका मोक्ष करा दूँ और बन्ध करा दूँ (तो

ऐसा नहीं होता)। आहाहा! २६६ गाथा, संस्कृत टीका में है। यहाँ तो बहुत बार बात हो गयी, यह तो १९वीं बार चलता है। समयसार का एक-एक शब्द १८ बार हो गया है, १९वीं बार चलता है, सभा में, हों! अन्दर में तो सैकड़ों बार हो गया है। (संवत्) १९७८ के वर्ष। १९७८ से यह समयसार हाथ आया है। कितने वर्ष हुए? हैं? ५३? ५७ वर्ष से यह चलता है। और श्वेताम्बर के शास्त्र ७० वर्ष पहले से चलते हैं। दुकान में दुकान पर मैं पढ़ता था। पालेज में दुकान है न? पिताजी की दुकान भरुच और वडोदरा के बीच (है)। वहाँ दुकान थी, पाँच वर्ष मैंने चलायी थी। १७ से २२ वर्ष। वहाँ मैं दुकान पर आता था। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूयगडांग (पढ़े थे)। पूरी जिन्दगी निवृत्ति। पूर्व के संस्कार थे तो पूरी जिन्दगी इसी में गयी है। १९ वर्ष की उम्र से। यह तो अभी ९०, ९१ चलता है। गर्भ के ९१ और जन्म के ९०। गर्भ के सवा नौ महीने यहाँ के गिने जाएँगे या नहीं?

यह समयसार तो १९७८ में हाथ आया। आहाहा! गजब है, कहा। प्रभु! लोगों को घोषित किया। शरीर रहित होना हो तो यह है। दामोदर सेठ थे, दामनगर। गृहस्थ थे न? उस समय दस लाख तो बहुत कहलाये न? अभी तो तीस गुने हो गये। दस लाख! सेठ! यह तो शरीररहित होने का शास्त्र है। परन्तु तब तो उसमें (सम्प्रदाय में) थे, इसलिए कुछ दिक्कत नहीं आवे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **बाह्यवस्तु के बिना निराश्रयतया...** बाह्य का अवलम्बन है। एकत्वबुद्धि में बाह्य पदार्थ का निमित्त है परन्तु बाह्य पदार्थ बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! क्या कहते हैं यह? अरेरे! वीतराग का मार्ग इसने कभी सुना नहीं और समझा नहीं। चौरासी के अवतार में, आहाहा! अरबोंपति सेठिया यहाँ हो और मरकर ढोर में, गाय में अवतरित हो। आहाहा! कूकड़ा में, कूकड़ा हो, कूकड़ा हो। आहाहा! ऐसे अवतार, प्रभु! अनन्त बार किये हैं, हों! अरबोंपति माँस और शराब न खाते (पीते) हों तो नरक में न जाए। बाकी तो आत्मा का ज्ञान, भान न हो और मिथ्यात्व तथा राग-द्वेष का सेवन (किया हो)। आहाहा! अन्दर वह वक्रता की हो तो शरीर आड़ा मिल गया। यह मनुष्य ऐसे खड़ा है। गाय, भैंस, कूकड़ा ऐसे आड़े हैं तो भगवान उसे आड़ा-तिरछा कहते हैं। उसने पूर्व में कषाय और मिथ्यात्व की तिरछाई बहुत की है, इसलिए आत्मा तो आड़ा हो गया परन्तु उसे शरीर भी आड़ा मिला है। आहाहा!

अरे रे! ऐसे भव अनन्त किये, भाई! तू भूल गया। भूल गया, इसलिए नहीं था, प्रभु! ऐसा कैसे कहलाये? आहाहा! जन्म से लेकर बारह महीने क्या था, खबर है? माता ने दूध पिलाया, क्या नहलाया खबर है? खबर नहीं, इसलिए नहीं था? माता ने बारह महीने क्या किया? भाई! तुझे कुछ खबर नहीं। दो पैर लम्बे करके तुझे दस्त कराया।.... हुआ हो, लड़का-बालक हो, उसे किस प्रकार करना? देखा है या नहीं? उसकी माँ पैर लम्बे करे और ऐसे पैर रखे, उसके ऊपर बैठावे और नीचे दस्त करे। ऐ... देखा है या नहीं? यह तो सब एक-एक बात नजर से देखी है। क्योंकि उसे दस्त जरा ऐसी दिखे, इसलिए ऐसा, अब उसे बैठाना हो तो कहाँ बैठाना? ईंट कहाँ लेने जाए? पैर लम्बा करके ऐसे पैर के ऊपर बैठावे। आहाहा! इसकी खबर है? खबर नहीं, इसलिए नहीं था? आहाहा!

मुमुक्षु : .... यह तो बराबर है परन्तु है, ऐसा सिद्ध करना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है परन्तु सिद्ध क्या किया? यह बड़ा कहाँ से हुआ? बारह महीने था, तब यह बड़ा हुआ है। खबर नहीं, इसलिए नहीं था, ऐसा कौन कहे? इसी प्रकार अनन्त भव में भटककर मर गया है तू, प्रभु! तुझे खबर नहीं। खबर नहीं, इसलिए नहीं था, ऐसा कौन कहे इसे? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि बाह्य वस्तु की एकत्वबुद्धि तुझे हुई। तू अकेला भिन्न है, उससे अनन्त पदार्थ भिन्न है, वे कोई भी एक परमाणु या स्त्री या पुत्र या पुत्री या कोई चीज़, अपना गाँव या मकान या घर। आहाहा! एकत्वबुद्धि की है कि ये मेरे हैं, वह अध्यवसाय महा मिथ्यात्व बन्ध का कारण है। उस अध्यवसाय का निमित्त आलम्बन भले वह चीज़ हो, परन्तु वह चीज़ बन्ध का कारण नहीं है। समझ में आया? भाई! भाषा तो सादी है, प्रभु! आहाहा! प्रभु! तेरे घर की बात है। आहाहा! इस घर को भूला तो एकत्वबुद्धि की। आहाहा!

वह **बाह्यवस्तु के बिना निराश्रयतया अध्यवसान उत्पन्न नहीं होते, इसलिए बाह्यवस्तुओं का त्याग कराया जाता है।** मिथ्यात्व के परिणाम का त्याग होता है, तब बाह्य वस्तुओं का भी उतना त्याग होता है। समझ में आया? उसे बाह्य वस्तु का त्याग कराने का कहने में आता है। वास्तव में तो बाह्य वस्तुओं का त्याग और ग्रहण तो आत्मा में है ही नहीं। बाह्य वस्तु है, उसे कभी ग्रहण नहीं की तो छोड़े, ऐसा कहाँ है? आहाहा! सूक्ष्म बात

है, प्रभु! भगवान तीन लोक के नाथ ऐसा कहते हैं कि तेरे असंख्य आत्मप्रदेश हैं, उनमें यह अनन्त चीज़ें कभी आयी नहीं या गयी नहीं, तो ग्रहण नहीं की तो छोड़ी, यह है नहीं। परवस्तु का त्याग-ग्रहण प्रभु आत्मा में है ही नहीं। है न? भाई! गुण है न वह? त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द (आदि) अनन्त गुण हैं, ऐसा एक गुण है कि परवस्तु के त्याग-ग्रहण से रहित तेरा प्रभु है। आहाहा! परवस्तु के त्याग-ग्रहण से रहित है। यहाँ कहते हैं कि परिणाम एकत्व है, इसलिए उसका आलम्बन वह है, इसलिए उसकी एकत्वबुद्धि छुड़ाते हुए, उस वस्तु को छुड़ाते हैं। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो ऐसी आयी। यह निमित्त का, व्यवहार का कथन है। आहाहा!

यदि बाह्यवस्तुओं को बन्ध का कारण कहा जाये तो उसमें व्यभिचार (दोष) आता है। बाह्यवस्तु बन्ध का (कारण कहने में) आवे तो एकान्त नियम सिद्ध नहीं होता। आहाहा! **(कारण होने पर भी कहीं कार्य दिखाई देता है और कहीं नहीं दिखाई देता, उसे व्यभिचार कहते हैं और ऐसे कारण को व्यभिचारी-अनैकान्तिक-कारणाभास कहते हैं।)** कारणाभास, वास्तविक कारण नहीं।

कोई मुनि ईर्यासमितिपूर्वक यत्न से गमन करते हों... अब मुनि का दृष्टान्त देते हैं। सच्चे सन्त आत्मज्ञानी-ध्यानी आनन्द के वेदन करनेवाले। आहाहा! मुनि तो किसे कहते हैं, बापू! वह कोई अलौकिक बातें हैं। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु, उसे पर्याय में अतीन्द्रिय का प्रचुर स्वसंवेदन होता है। आहाहा! पाँचवीं गाथा है। प्रचुर स्वसंवेदन। शास्त्र में आधार है, इसलिए सब कहा जाता है। समझ में आया? मुनि तो किसे कहना, यह बात अभी गुप्त हो गयी। समकित किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती। हैं? आहाहा!

कल एक पत्र था। भाई! विद्यानन्दजी के पास भानु है न? भानु। जयपुर का होशियार विद्यार्थी है। उसने गुजरात में सब जगह व्याख्यान दिये। बाद में इन्दौर गया। वहाँ उसे विद्यानन्दजी कहते होंगे कि अविरति सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन उपचार से है। आहाहा! अविरत सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन उपचार से है। अविरति है न? उस विरतिवाले को... अरर! और पुण्यबन्ध से निर्जरा होती है। अरे! प्रभु! तू यह क्या करता है? शुभभाव में जरा अशुभ की निर्जरा है, परन्तु वह तो अभव्य को भी है। भाई! शुभभाव की अपेक्षा से जरा

अशुभ की (निर्जरा है)। मूल निर्जरा है, वह निर्जरा नहीं। जो धर्मरूपी निर्जरा है, वह निर्जरा नहीं। निर्जरा अर्थात् संवर की शुद्धि की उत्पत्ति हो और शुद्धि की वृद्धि हो, वह निर्जरा है। आहाहा! शुभभाव दया, दान, व्रतादि, वह बन्ध का कारण है, परन्तु जरा अशुभभाव से बँधे हुए परमाणु जरा खिरें, परन्तु वह तो मिथ्यादृष्टि को होता है, वह कोई चीज़ नहीं है। आहाहा! और एक बात उन्होंने यह की है कि जातिस्मरण जो मनवाया है, वह मिथ्यात्व से अपनी प्रसिद्धि के लिये मनवाया है। अरे! प्रभु! तू क्या करता है? भाई! यह बहिन का जातिस्मरण बाहर प्रसिद्ध किया है न! हैं? जातिस्मरणज्ञान के नाम से प्रसिद्धि करनी है, मिथ्यात्वभाव है। अभी जातिस्मरण है ही नहीं। अरे! प्रभु! क्या करता है? भाई! हैं?

मुमुक्षु : जातिस्मरण को सम्यक्त्व में निमित्तकारण माना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अलग। अभी कहाँ है? ऐसा कहते हैं। अरे! भाई! आहाहा! क्या हो? भाई! जगत के पाप के उदय बहुत, उसमें रुक गया। उसे ऐसा जातिस्मरण है, यह बात बैठना कठिन पड़ती है, प्रभु! समझ में आया? आहा! वहाँ सभा में ऐसा कहा। अरे! प्रभु! क्या करता है? भाई! दुनिया सुननेवाले बेचारे बनिया निर्बल जैसे, धन्धा आदि में निवृत्ति नहीं मिलती। सत्य का निर्णय करने का अवसर नहीं मिलता। पूरे दिन पाप में पचे। धन्धा... धन्धा। अब उसमें सत्य क्या है और असत्य क्या है? अरेरे! अपने हित के लिये निर्णय करने का अवसर नहीं मिलता। आहाहा! रात्रि में छह-सात घण्टे नींद में जाते हैं, चार-छह घण्टे स्त्री और पुत्र को प्रसन्न करने में जाते हैं। आहाहा! बाकी छह-आठ घण्टे धन्धे में जाते हैं। यह चौबीस घण्टे चले जाते हैं। एकाध घण्टे कहीं सुनने को मिले तो ऐसे कुगुरु सामने मिलें, इसका घण्टा लूट लेते हैं, ऐसा भगवान, श्रीमद् कहते हैं। आता है? २९वें (वर्ष में) आता है। इसे लूट लेते हैं। इसे कहे कि व्रत करो और तप करो, तुमको धर्म होगा। बेचारे को लूट लेते हैं। आहाहा! अरे! क्या हो? प्रभु! अनन्त काल से तू लुट गया है, प्रभु! आहाहा! तुझे तेरी दया नहीं। अरे! अन्दर राग होता है, वह हिंसा है। चाहे तो पर की दया का राग हो। दया पाल नहीं सकता। पर की दया जीव पाल नहीं सकता। क्योंकि वह तो परद्रव्य है। परन्तु उसका भाव आवे, वह शुभभाव है और वह राग है, वह स्वरूप की हिंसा है, अरर्र! ऐसी बात कहाँ बैठे? वीतराग का मार्ग... आहाहा! पुरुषार्थसिद्धि

उपाय में है। है न, खबर है, सब खबर है। आधार देने जाएँ तो पार न आवे। लक्ष्य में तो जिस समय बोला जाता है, तब आधार का ख्याल साथ में होता है। आहाहा!

पुरुषार्थसिद्धि उपाय में है। समकिती आत्मज्ञानी, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह भी अपराध है। आहाहा! राग है न! समकिती बाँधे। मिथ्यादृष्टि को तो वह होता नहीं। जिसे राग की एकताबुद्धि है, पर की एकताबुद्धि है, वह तो मिथ्यादृष्टि है, उसे तो तीर्थंकरगोत्र बाँधने के परिणाम होते ही नहीं। परन्तु जिसे अध्यवसाय टूटकर स्व का अध्यवसाय हुआ है... आहाहा! है तो ऐसा (पर में) एकत्व, ऐसा यहाँ (स्व में) एकत्व हुआ है। आहाहा! ऐसा चैतन्य भगवान पूर्णानन्द प्रभु, ध्रुव स्वभाव परमात्मा का-आत्मा का, उसके साथ जहाँ एकत्वबुद्धि हुई है तथा राग और पर की एकताबुद्धि टूटी है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उस सम्यग्दृष्टि को तीर्थंकरगोत्र बाँधने का भाव, शुभविकल्प आता है, तथापि वह अपराध है। आहाहा! तो भी भावपाहुड़ में ऐसा कहने में आवे, भाई! भावपाहुड़ में आता है कि धर्मी जीव को तीर्थंकरभावना की भावना भाना। वह अशुभ से बचने के लिये (बात है)। भाव पाहुड़ में आता है। महाव्रत की पच्चीस भावना... आहाहा! तीर्थंकर गोत्र बाँधने का भाव, वह मुनि को समकिती को करना, ऐसा आता है। वह अशुभ से बचने की अपेक्षा से बात करते हैं। आहाहा! अष्टपाहुड़ में भावपाहुड़ में व्यवहार का बहुत अधिकार है, परन्तु वह तो सम्यग्दर्शनसहित अशुभ से बचने के लिये शुभ आता है, इस बात के लिए है, उसे या शुद्धता में रहना और या शुभ में आना, उसके लिए वह अधिकार है। भावपाहुड़ में बहुत अधिकार है। अभी सज्झाय हो गयी, नहीं? आहाहा!

यहाँ कहते हैं **मुनि ईर्यासमितिपूर्वक यत्न से गमन करते हों और उनके पैर के नीचे कोई उड़ता हुआ जीव...** उड़ता जीव, कोई पड़ा हुआ जीव नहीं। वहाँ जीव पड़ा हो, तब तो उसका ख्याल आ जाए, परन्तु उड़ता जीव। बारीक जीव होता है, बारीक जीव खेत में बहुत (होते हैं)। ऐसे देखकर चलते हैं तो भी बारीक उड़ता हुआ आ (पड़े)। **वेगपूर्वक आ गिरे...** मूल पाठ में काल प्रेरित है। उड़ता हुआ आकर, उसे काल प्रेरित है। उसका काल पूरा होने का काल था। आहाहा! **मुनि को उसकी हिंसा नहीं लगती।** वेग से आकर पैर के नीचे मर गया, तो उसकी हिंसा मुनि को नहीं लगती। भाव नहीं है न! और

अकस्मात आकर पड़ा है। यदि पर की हिंसा से बन्ध हो, तब तो मुनि को भी इस प्रकार से (बन्ध) होना चाहिए। आहाहा!

यहाँ यदि बाह्यदृष्टि से देखा जाये तो हिंसा हुई है,... जीव मर गया न? **परन्तु मुनि के हिंसा का अध्यवसाय नहीं होने से...** मारने की बुद्धि नहीं अथवा मारने का भाव नहीं। समझ में आया? आहाहा! **उन्हें बन्ध नहीं होता। जैसे पैर के नीचे आकर मर जानेवाला जीव मुनि के बन्ध का कारण नहीं है, उसी प्रकार अन्य बाह्यवस्तुओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।** यह तो दृष्टान्त दिया। यह शरीर और शरीर की क्रिया बन्ध का कारण नहीं है, ऐसा कहते हैं। यह शरीर हिले-चले, गति हो, वह बन्ध का कारण नहीं है। वह शरीर द्रव्य, शरीर के गुण और शरीर की पर्याय तीनों आत्मा को बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि वे तो परद्रव्य हैं। परद्रव्य, वह आत्मा की पर्याय में नहीं है। यह पहले आ गया। आत्मा की पर्याय है... अरे.. अरे! यह पर्याय क्या? आत्मा की जो अवस्था है, उसमें यह शरीर, कर्म नहीं है, अवस्था में नहीं है, वे तो बाहर हैं। अवस्था में होवे तो वह एकत्वबुद्धि हो कि ये मेरे हैं, इतना; और या राग-द्वेष हों, बाकी इसके अतिरिक्त परद्रव्य इसकी अवस्था में है ही नहीं। आहाहा!

इस प्रकार बाह्यवस्तु को बन्ध का कारण मानने में व्यभिचार... अर्थात् दोष आता है। (इसलिए) **बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नहीं है, यह सिद्ध हुआ। और बाह्यवस्तु बिना निराश्रय से अध्यवसान नहीं होता, इसलिए बाह्यवस्तु का निषेध भी है ही।** राग का निषेध होने पर बाह्य वस्तु का भी साथ ही निषेध है। आहाहा! अकेली बाह्यवस्तु का निषेध नहीं। आहाहा! बाह्य वस्तुएँ अन्दर है ही कहाँ? परन्तु सम्यग्दर्शनसहित राग का त्याग होता है, तब उसे बाह्य वस्तु का भी त्याग कहने में आता है। आहाहा! अरे रे! अब ऐसी बातें। एक भी न्याय बदले तो पूरी लाईन बदल जाए। आहाहा!

गाथा - २६६

एवं बन्धहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वं दर्शयति-

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा।।२६६।।

दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बन्धयामि तथा विमोचयामि।
या एषा मूढमतिः निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या।।२६६।।

परान् जीवान् दुःखयामि सुखयामीत्यादि, बन्धयामि मोचयामीत्यादि वा, यदेतद-ध्यवसानं तत्सर्वमपि, परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात्, खकुसुमं लुनामीत्य-ध्यवसानवन्मिथ्यारूपं, केवलमात्मनोऽनर्थायैव।।२६६।।

इस प्रकार बन्ध के कारणरूप से निश्चित किया गया अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला न होने से मिथ्या है-यह अब बतलाते हैं:-

करता दुखी सुखि जीव को, अरु बद्ध-मुक्त करूँ अरे!
ये मूढ मति तुझ है निरर्थक, इस हि से मिथ्या हि है।।२६६।।

गाथार्थ : हे भाई! '[जीवान्] मैं जीवों को [दुःखितसुखितान्] दुःखी-सुखी [करोमि] करता हूँ, [बंधयामि] बँधाता हूँ [तथा विमोचयामि] तथा छुड़ाता हूँ' [या एषा ते मूढमतिः] ऐसी जो यह तेरी मूढ़ मति (-मोहितबुद्धि) है, [सा] वह [निरर्थिका] निरर्थक होने से [खलु] वास्तव में [मिथ्या] मिथ्या है।

टीका : मैं परजीवों को दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ इत्यादि तथा बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ इत्यादि जो यह अध्यवसान है, वह सब, परभाव का पर में व्यापार न होने के कारण अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है; इसलिए 'मैं आकाश पुष्प को तोड़ता हूँ' ऐसे अध्यवसान की भाँति मिथ्यारूप है, मात्र अपने अनर्थ के लिये ही है (अर्थात् मात्र अपने लिये ही हानि का कारण होता है, पर का तो कुछ कर नहीं सकता)।

भावार्थ : जो अपनी अर्थक्रिया (-प्रयोजनभूत क्रिया) नहीं कर सकता, वह निरर्थक है, अथवा जिसका विषय नहीं है, वह निरर्थक है। जीव परजीवों को दु:खी-सुखी आदि करने की बुद्धि करता है, परन्तु परजीव अपने किये दु:खी-सुखी नहीं होते; इसलिए वह बुद्धि निरर्थक है और निरर्थक होने से मिथ्या है-झूठी है।

गाथा - २६६ पर प्रवचन

इस प्रकार बन्ध के कारणरूप से निश्चित किया गया अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला न... क्या कहते हैं ? कि मैं पर को मारूँ, जिलाऊँ, सुखी-दु:खी करूँ, परद्रव्य को सम्हालूँ, परद्रव्य की रक्षा करूँ—ऐसा जो अभिप्राय, उस अभिप्राय प्रमाण बाहर में नहीं होता। इसलिए अभिप्राय प्रमाण अर्थक्रिया अर्थात् पदार्थ की क्रिया नहीं होती। आहा! **अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला न होने से...** अध्यवसाय हुआ, तत्प्रमाण पर में कार्य होता है—ऐसा है नहीं। इसलिए **मिथ्या है-यह अब बतलाते हैं:**—२६६।

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा।।२६६।।
करता दुखी सुखि जीव को, अरु बद्ध-मुक्त करूँ अरे!
ये मूढ मति तुझ है निरर्थक, इस हि से मिथ्या हि है।।२६६।।

आहाहा! भाई! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, प्रभु! दुनिया के साथ मिलान खाये, ऐसा नहीं है। यह मार्ग कहीं है नहीं। वीतराग के अतिरिक्त मार्ग कहीं है नहीं। किसी पंथ में, किसी मार्ग में यह मार्ग ही नहीं है। आहाहा! तीन लोक के नाथ परमात्मा महाविदेह में विराजते हैं, उनका यह सन्देश है। आहाहा! आहा! कुन्दकुन्दाचार्यदेव संवत ४९ में वहाँ प्रभु के पास गये थे। प्रभु तो विराजते हैं। प्रभु का तो करोड़ पूर्व का आयुष्य है। एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़, छप्पन लाख करोड़ वर्ष होते हैं। इतना लम्बा प्रभु का आयुष्य है। समवसरण में विराजते हैं। आहाहा! यह सामायिक में आज्ञा नहीं लेते ? खबर भी नहीं। कौन क्या है ? मिथ्यात्वभाव में कहाँ सामायिक थी ? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **मैं परजीवों को दुःखी करता हूँ,...** मैं परजीवों को सुविधा देकर, प्रतिकूल व्यवस्था देकर, असुविधा देकर दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ। परजीव को सुविधा देकर **सुखी करता हूँ इत्यादि...** अध्यवसाय वह मिथ्यात्व है। आहाहा! क्योंकि वह परिणाम है, उसकी कार्यदशा उस परिणाम से नहीं होती। पर की कार्यदशा जीना-मरना, वह तेरे परिणाम से नहीं होता। वह अर्थक्रिया उससे नहीं होती, इसलिए तेरा अध्यवसाय मिथ्या-झूठा है। आहाहा!

बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ... अभी अब (यह) दो विशेष डाले हैं। अभी तक जीवन-मरण सुख-दुःख का था। मैं पर को बाँधता हूँ। आहाहा! एक मनुष्य बेरी-विरोधी था। फिर मन्दिर बनता था, उसकी ईंट लेकर उसके मकान में डाल आया। ऐसा कि यह देवद्रव्य है तो इसे पाप लगेगा। मन्दिर का (काम) चलता था, उसकी एक ईंट लेकर उसके विरोधी का मकान चलता होगा (वहाँ रख दी)। (उसका) सत्यानाश जाए। परन्तु उसे खबर भी नहीं। आहाहा! इसने स्वयं लेकर स्वयं लिया हो कि यह देवद्रव्य है, इसलिए मैं खाऊँ तो इसका अपना अभिप्राय झूठा है। इसे तो खबर भी नहीं। विरोधी ऐसे बैर उतारने के लिये ऐसे कदम भरते हैं। उसका अभिप्राय निरर्थक है, कहते हैं। आहाहा! मैं पर को बाँधता हूँ। इस प्रकार। उसे ऐसी असुविधा दूँ कि वह मिथ्यात्व का भाव करे, बन्ध करे और दुःखी होगा। और **छुड़ाता हूँ...** अब यहाँ आया। मैं परजीवों को समझाकर मुक्त करता हूँ, यह अध्यवसाय झूठा है। आहाहा!

नियमसार में कहा है न? भाई! 'नाना जीवा', 'नाना कम्मा', 'नाना लब्धि' वाद-विवाद करना नहीं, प्रभु! तू किसके साथ (वाद) करने जाएगा? जीव अनेक प्रकार के भव्य-अभव्य; कर्म अनेक प्रकार के बँधे हुए; लब्धि अर्थात् क्षयोपशम की प्राप्ति अनेक प्रकार की। अब तू किसके साथ वाद-विवाद करेगा। स्वसमय और परसमय के साथ वाद-विवाद करना नहीं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव का पुकार है। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि सब एक विचार के हों, ऐसा नहीं होता। हैं? तू तेरा सम्हाल। दूसरे को मुक्ति करा दूँ, ऐसी बहुत उतावल करने जाएगा तो मिथ्या अभिप्राय होगा। आहाहा! गजब है न! समझ में आया? भले शिष्य ऐसा कहे, प्रभु! तुम तरणतारण हो। नमोत्थुणं में आता है न? यह कहे, वह अलग बात है। वह तो व्यवहार से कथन है परन्तु तू उसे ऐसा कहे कि इसे छुड़ा

दूँगा, मेरे पास आया तो छुड़ा दूँगा, यह तेरा अभिप्राय वहाँ काम नहीं आयेगा। उसके वीतराग परिणाम बिना वह नहीं छूटेगा। तू उसे वीतराग परिणाम करा देगा? आहाहा! समझ में आया कुछ इसमें?

छुड़ाता हूँ... आहाहा! मैं पर को मुक्त कराऊँगा। प्रभु! मुक्त कराऊँगा, तेरा जो अभिप्राय है, परन्तु उसकी वीतरागता वह मुक्त नहीं होगा। तेरे अभिप्राय से वह वहाँ मुक्त होगा। तेरा अभिप्राय निरर्थक है। आहाहा! ऐई! आहाहा! समाधिशतक में तो यहाँ तक कहा है। मुनिराज आत्मध्यानी ज्ञानी (कहते हैं), हमको जो यह उपदेश का विकल्प आता है... आहाहा! गहलता है, उन्मत्त है। आहाहा! धन्य दशा! जिसे यह विकल्प आया। उससे क्या? उसमें दूसरे को लाभ है? और स्वयं को उसमें लाभ है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! चन्दुभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! मैं दूसरों को धर्म प्राप्त करा दूँ, प्रभु! उसकी वीतराग दृष्टि हुए बिना वह धर्म कैसे पायेगा? तू उसकी दृष्टि कर सकेगा? उतावल न कर, प्रभु! ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब है! हैं?

मुमुक्षु : परम सत्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परम सत्य का पुकार है। प्रभु का पुकार है। जिनेश्वर त्रिलोकनाथ... आहाहा! इन्द्रों और गणधरों के बीच परमात्मा ऐसा फरमाते थे, वह बात यह आयी है। आहाहा! भाई! तू उतावल नहीं करना, धीर होना। मैं दूसरे को भटका मारता हूँ और दूसरे को मोक्ष करा देता हूँ, यह अभिप्राय न कर, प्रभु! यह तेरा अभिप्राय निरर्थक है। क्योंकि वह बँधने के मिथ्यात्व कके भाव बिना बँधेगा नहीं और मोक्ष के—वीतरागता के मार्ग बिना वह मुक्त नहीं होगा। उसका वीतरागभाव तू करा देगा? आहाहा! चिमनभाई! यहाँ ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा!

तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान सभा में ऐसा फरमाते हैं, वह भाषा है। आहाहा! ये कुन्दकुन्दाचार्य लेकर आये, गाथायें बनायीं, उनकी टीका अमृतचन्द्राचार्यदेव ने की है। आहाहा! पंचम काल के तीर्थंकर जैसा कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने काम किया, अमृतचन्द्राचार्यदेव ने गणधर जैसा काम किया है। आहाहा! पाठ (गाथा) तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव का है। पर को बँधाऊँ, ऐसा उसे उपदेश दूँ और ऐसे मिथ्यात्व को वह करे तथा राग-द्वेष को करे और बँधे और ऐसा उपदेश दूँ कि इससे उसे वीतरागता प्रगट हो और मुक्त हो—

तेरा यह अभिप्राय झूठा है। क्योंकि वह बँधता है, वह उसके परिणाम से बँधेगा। तू कहता है बँधा दूँ, यह तेरी बात खोटी-झूठी है और मुक्त करा दूँ, तो वीतरागभाव से वह मुक्त होगा, उसके वीतरागभाव से मुक्त होगा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों वीतरागभाव हैं। आहाहा! क्योंकि प्रभु वीतरागस्वरूप है। अकषायस्वरूप कहो, वीतरागस्वरूप कहो, चारित्रस्वरूप कहो। त्रिकाल। उस वीतरागस्वरूप के आश्रय से जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हों, वह वीतरागी पर्याय है तो वह तो उसका आश्रय करेगा, तब उसे पर्याय होगी? उसे तू मुक्ति करा देगा? आहाहा! गजब बात है! कहो, सुजानमलजी! आहाहा! अरे! दूसरे को धर्म प्राप्त करा दूँ और मुक्ति करा दूँ, यह भी नहीं? आहाहा! धीर हो, प्रभु! आहाहा!

विकल्प आवे, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि दूसरा समझ जाएगा और उसकी मुक्ति होगी। आहाहा! और उसे विपरीत रास्ते चढ़ा दूँ... आहाहा! जुगलिया का आता है न? जुगलिया, नहीं?

मुमुक्षु : आपने अभी कहा कि कुगुरु लूट लेते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : लूट ले, यह निमित्त से कथन है। बात सत्य है। वे बात ऐसी करे कि उसको जँचे, उल्टी बात जँचे, ऐसा कहते हैं। यह जँचती है, वह इससे (स्वयं से) जँचती है। आहाहा! यह सेठ कहते हैं, भगवानलाल सेठ बीड़ीवाले, बड़े करोड़ोंपति हैं न? यह मकान बनाया है। हम क्या (करें)? ऊपर कहते हों, वह हम मानते हैं। परन्तु मानते हो तुम या उसने मनाया है, इसलिए मानते हो? तुम मानते हो। आहाहा! यह तुम्हारी मान्यता की जवाबदारी तुम्हारी है। वे ऐसा कहते हैं। सेठिया है न?

मुमुक्षु : आप कहते हो, प्रमाण करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रमाण करने का अर्थ, अनुभव का परिणाम तू तुझसे करना, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग। वीतराग परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं, उसे सन्त आड़तिया होकर फरमाते हैं। आहाहा! बीच में आड़तिया होकर फरमाते हैं।

प्रभु! दूसरे को बन्धन में डालना, वह यदि तू कर सके तो तेरा वह काम निरर्थक है। तेरे परिणाम निरर्थक है। उसके बन्ध के मिथ्यात्व भाव बिना और अज्ञान बिना वह नहीं बँधेगा। आहाहा! और तू उसकी मुक्ति करा देगा? आहा!

मुमुक्षु : आपके जैसे गुरु...

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन गुरु? गुरु तो स्वयं आत्मा अपना है। कहा नहीं? इष्टोपदेश। स्वयं अपने को समझावे, वह गुरु। आहाहा! हे आत्मा! तू आनन्द का नाथ, प्रभु! तू कहाँ जाता है? आहाहा! अतीन्द्रिय वीतरागस्वभाव से भरपूर प्रभु है, ऐसा आत्मा अपने को समझावे, वह उसका गुरु है। आहाहा! अलग बातें, भाई! आहाहा! ओहोहो! ऐसी बात रखते हैं, तो भी कहते हैं कि हम दूसरे को छुड़ा देंगे, ऐसा नहीं है। गाथा रखी है। वह भी इन्होंने—अमृतचन्द्राचार्यदेव ने ऐसा कहा, यह शब्द की रचना से टीका हुई है, प्रभु! मैंने नहीं की, हों! आहाहा! और ये शब्द तुझे कान में पड़े, इसलिए तुझे ज्ञान होता है, ऐसा नहीं मानना, प्रभु! तेरी पर्याय का ज्ञान तो तुझसे उस काल में वहाँ होता है, तब शब्द को निमित्त कहा जाता है। शब्दों से हुआ नहीं। आहाहा! क्या वीतरागता की रेल चली है! आहाहा! शान्त हो, प्रभु!

ऐसा परिणाम करना नहीं कि मैं दूसरे को मुक्ति करा दूँ, प्रभु! उसकी दशा बदले बिना उसकी मुक्ति कैसे होगी? उसके द्रव्य का आश्रय करेगा, तब उसकी (मुक्ति) होगी। उस द्रव्य का आश्रय तू करा देगा? आहाहा! तीन लोक का नाथ अन्दर विराजता है। परमात्मस्वरूप प्रभु आत्मा परमेश्वर ही वस्तु है। उसका आश्रय वह करे, तब होगा या तू करा देगा? आहाहा! यह वीतरागमार्ग ऐसा कहे। दूसरे तो (ऐसा कहे), तुझको तिरा दूँगा, तुझको ऐसा कर दूँगा। आहाहा! ऐसी बातें कहे, ऐसी प्ररूपणा करे (तथापि) कहते हैं कि हम तुझको समझा देंगे, (ऐसा नहीं है)। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा कि यह शब्द तुझे ज्ञान देते हैं, ऐसा मानना नहीं। हमने शब्द किये, ऐसा मानना नहीं और शब्द तुझे ज्ञान की पर्याय बनाते हैं, रचाते हैं—ऐसा मानना नहीं। तेरी ज्ञान की पर्याय तुझे ज्ञेयरूप से तुझसे होगी, शब्द से नहीं होगी। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : मोह से न नाचो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बाद में कहा। मैंने शब्द बनाये और शब्द से तुमको ज्ञान हुआ, यह ज्ञान की पर्याय हुई - ऐसे मोह से न नाचो। आहाहा! अरे! वीतराग, वीतरागी सन्तों की ऐसी शैली है, प्रभु! आहाहा! यह धीर का काम है। आहाहा! यह सब संघ इकट्ठा करें,

ऐसा करें, सबको तिरा दें, जवानों को धर्म में लगा दें, युवाओं का संगठन करो, तुमको प्राप्त करा दें। प्रभु! धीर हो। आहाहा! उसके परिणाम तो उसे सुधारना है। वह नहीं सुधारे और तू उसे सुधार देगा? आहाहा! ऐसी बातें सुनना भी मुश्किल से मिलती है। आहाहा!

परजीवों को दु:खी करूँ, सुखी करूँ, जिलाऊँ, मारूँ - ऐसा सब लेना। इत्यादि और विशेष में यह डाला। पहले यह नहीं था। बाँधू और छुड़ाऊँ **इत्यादि जो यह अध्यवसान है वह सब, परभाव का पर में व्यापार न होने के कारण...** यह तेरे परिणाम परभाव में, पर में व्यापार। तेरा अभिप्राय परभाव है, उसका **पर में व्यापार न होने के कारण अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है...** अध्यवसाय यह है कि इसे बाँधू और मुक्त कराऊँ, यह परिणाम उस परपदार्थ की क्रिया करने को समर्थ नहीं है। आहाहा! अरेरे! ऐसी बातें सुनना (मुश्किल पड़ती है)। यह दुनिया चली जाती है, जिन्दगी तो।

उस बेचारे का पत्र आया है। भानु, छोटी उम्र का है, होशियार है। जयपुर का विद्यार्थी है। बहुत पढ़ा तो डॉक्टर ने मना कर दिया। बोलना नहीं। अरे! लो, जवान व्यक्ति। डॉक्टर को कुछ शंका पड़ी होगी। बोलना नहीं। सन्तोष के प्रति पत्र आया है। सन्तोषभाई गये न? आज गये। सन्तोषभाई है न? ब्रह्मचारी है। यहाँ बैठते थे। बहुत वाँचन और मनन बहुत। उनके पास पत्र है कि मैंने बहुत पढ़ा, इसलिए डॉक्टर ने मना किया है। छाती में धड़ाका चलता है। पढ़ना बन्द कर दो। कहो, छोटी उम्र में (ऐसा हो)। यह जड़ की पर्याय होनेवाली। आहाहा! वह बोलने की पर्याय नहीं होने की, उसमें करे कौन? डॉक्टर ने तो विकल्प किया। मुझे तो दूसरा (कहना था), बेचारा जवान व्यक्ति है।

मुमुक्षु : चर्चा बन्द करा दी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह होने की नहीं थी। आहाहा! प्रभु... प्रभु! तू ज्ञानस्वरूप है न, प्रभु! ज्ञानस्वरूपी दूसरे को बाँधे और छुड़ावे। यह तो आया नहीं? ३२० (गाथा)। बन्ध और मोक्ष को जानता है। अपने बन्ध, मोक्ष को जानता है। आहाहा! गजब बात, प्रभु!

प्रभु! तू कौन है? तू तो ज्ञानस्वरूप है न, प्रभु! आहाहा! तेरे ज्ञान के स्वभाव से भरपूर भण्डार है न, पूरा। वह ज्ञाता क्या करे? प्रभु! यह उदय आवे, उसे जाने; निर्जरा हो,

उसे जाने। करे नहीं। आहाहा! अपने बन्ध-मोक्ष को करे नहीं। गजब बात है! यहाँ तो पर के बन्ध-मोक्ष आया न?

मुमुक्षु : वीतराग परिणाम...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं। मोक्ष की पर्याय करे नहीं। होती है, उसे जाने। द्रव्य को लेना है न?

मुमुक्षु : शुद्ध अध्यवसाय...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यापार (हुआ)। परिणाम से मोक्ष है, द्रव्य से-गुण से नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। परिणाम है, उसका वास्तव में द्रव्य कर्ता नहीं है, प्रभु! यह परिणाम है, वह षट्कारक से परिणमती मोक्ष की दशा होती है। आहाहा! वह मोक्ष की दशा जो है... सूक्ष्म बात है, प्रभु! वह षट्कारक के परिणमन से पर्याय स्वयं मुक्ति को करती है। आहाहा! जिसे द्रव्य और गुण का भी आश्रय नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तो बापू! वीतरागमार्ग है। बापू! गहन मार्ग है। गहन, गम्भीर मार्ग है। आहाहा! फोड़ा होता है न? गम्भीर फोड़ा। पता नहीं लगता। प्रभु के रहस्य की बातें, बापू! आहाहा! अलौकिक है। अकेला वीतरागरस घुलता है, कहते हैं। आहाहा! वह किसे बाँधे और किसे छुड़ावे? आहाहा! अपने बन्ध-मोक्ष को जानता-देखता है तो फिर पर के बन्ध-मोक्ष को करे, यह प्रश्न कहाँ आया? आहाहा! बराबर है? चन्दुभाई! ३२०। उदय को और निर्जरा को, आमने-सामने (लिया)। बन्ध और मोक्ष को। आहाहा!

प्रभु! तू तो जानने-देखनेवाला है न! बन्ध-मोक्ष की पर्याय को करनेवाला नहीं। उस जानने-देखने की पर्याय को वास्तव में द्रव्य करनेवाला नहीं। आहाहा! बन्ध-मोक्ष, उदय-निर्जरा को जो वर्तमान पर्याय जानती है, उस पर्याय का कर्ता द्रव्य नहीं है। है?

मुमुक्षु : उपचार से कर्ता कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दूसरा क्या हो? प्रभु! आहाहा! गजब, प्रभु! वीतराग तीन लोक के नाथ का रहस्य कोई अलौकिक है। जैन में बनियों को मिला, परन्तु बनिये व्यापार के कारण निवृत्त नहीं होते। कहा न? जापान वाला बड़ा ऐतिहासिक है। अभी बाहर प्रकाशित किया है कि जैन मार्ग है, वह अनुभूतिमार्ग है। अन्दर आत्मा का अनुभव करना,

वह उसका मार्ग है, परन्तु बनियों को मिला, बनिये को निवृत्ति नहीं मिलती। जापान का कोई बड़ा ऐतिहसज्ञ है। इतिहास का जाननेवाला, लाखों शास्त्र पढ़ा हुआ है। अखबार में आया था। बनिये व्यापार के कारण निवृत्त नहीं होते, फुरसत नहीं मिलती कि सत्य क्या है? आहाहा! वह जापानी अन्यमति बनियों की टीका करता है! बनिया अर्थात् व्यापार करनेवाले। फिर भले वे खोजा हो। अन्दर क्या चीज़ है और किस प्रकार से सत्य प्राप्त होता है? इसका निर्णय करने का अवसर भी नहीं निकालते, प्रभु! तो स्थिरता का तो अवसर कहाँ से आयेगा? विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३२७, गाथा - २६६, २६७ बुधवार, आसोज शुक्ल १३
दिनाङ्क - ०३-१०-१९७९

---

२६६ गाथा। ऊपर (उपोद्घात) है न? **इस प्रकार बन्ध के कारणरूप से निश्चित किया गया अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला न होने से मिथ्या है...** क्या कहते हैं? कि किसी भी दूसरे को मैं जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ, सुखी कर सकता हूँ, दुःखी कर सकता हूँ या दूसरे को बन्ध कर सकता हूँ और मोक्ष कर सकता हूँ, ऐसा जो अध्यवसाय, वह पर की क्रिया करने को समर्थ नहीं है। वह निरर्थक अध्यवसाय है।

मुमुक्षु : पर को दे सकूँ, पर से ले सकूँ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ दे सकूँ, ले सकूँ—सब अध्यवसाय मिथ्या है। क्योंकि देने की-लेने की क्रिया जड़ की स्वतन्त्र है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! परमात्मा जिनेश्वरदेव ऐसा कहते हैं कि यह अध्यवसाय जो है... गाथा में आयेगा। गाथा।

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा।।२६६।।

नीचे हरिगीत

करता दुखी सुखि जीव को, अरु बद्ध-मुक्त करूँ अरे!
ये मूढ मति तुझ है निरर्थक, इस हि से मिथ्या हि है।।२६६।।

आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! जगत की व्यवस्था उस-उस समय की जगत के पदार्थ से हो रही है। उसमें दूसरा जीव ऐसा कहे कि इसकी व्यवस्था मैं करूँ, यह मिथ्या अभिप्राय, मिथ्यात्व है और अनन्त संसार का कारण, बन्ध का कारण है। सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा!

यह कहते हैं, **मैं परजीवों को दुःखी करता हूँ,...** ऐसा जो अभिप्राय। यह परजीव को दुःखी कर नहीं सकता। उसका ऐसा अभिप्राय निरर्थक है, इसलिए वह अध्यवसाय मिथ्यात्व है और वह उसे संसार के बन्ध का कारण है। आहाहा! मैं **सुखी करता हूँ...** पर को सुविधा देकर सुखी कर सकता हूँ, ऐसा जो अध्यवसाय, वह पर को सुखी करने के लिए निरर्थक है। वह अध्यवसाय अपनी अर्थक्रिया, पर पदार्थ की क्रिया करने को वह अध्यवसाय निरर्थक है। आहाहा! अरे! मूल की बात की खबर नहीं होती। अनादि से भटकता है। आहाहा! चौरासी के अवतार में मिथ्या अभिप्राय से चौरासी के अवतार में परिभ्रमण कर रहा है। यह यहाँ परमात्मा जिनेश्वरदेव की वाणी में आया, उसे यहाँ सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा!

मैं दूसरे को सुखी करूँ, दुःखी करूँ इत्यादि। अर्थात् कि जिलाऊँ, मारूँ इत्यादि और बन्ध करूँ, मुक्त करूँ इत्यादि। मैं दूसरों को बन्ध कराऊँ, मिथ्या अभिप्राय कराकर उसे संसार में भटकाऊँ और दूसरे का मोक्ष कराऊँ, यह अत्यन्त मिथ्या अभिप्राय है। आहाहा! दूसरे का मोक्ष तो उसका वीतरागभाव करे तो उसका मोक्ष होता है। दूसरा कहे कि मैं उसे मोक्ष करा दूँ, यह मिथ्यात्व अध्यवसाय मिथ्यात्व है और अनन्त संसार का, परिभ्रमण का कारण है। आहाहा! कठिन काम। मैं दूसरों को मोक्ष करा दूँ। दूसरे प्रकार से कहें तो मैं दूसरे को धर्म प्राप्त करा दूँ।

मुमुक्षु : भगवान ने तो बहुत जीवों को... प्राप्त कराया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन प्राप्त करावे? उसकी पर्याय से वह पाता है, दूसरा उसे क्या करे? सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! दूसरा को धर्म (प्राप्त कराऊँ)। यह तो स्वयं उसकी अन्तर्दृष्टि करे तो धर्म प्राप्त करे। दूसरा कहे कि उसे धर्म प्राप्त कराऊँ तो अन्तर्दृष्टि करने का उसका निरर्थक—मिथ्या अभिप्राय है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अभी दुनिया की

प्रवृत्ति से पूरी बात दूसरी है। वीतराग जिनेश्वर परमेश्वर की दिव्यध्वनि में आयी हुई यह बात है। आहाहा!

यह अध्यवसान... कौन सा? अध्यवसाय अर्थात् अभिप्राय। दूसरे को सुखी करूँ, दुःखी कर सकूँ, मार सकूँ, जिला सकूँ, दूसरे को बन्ध में डाल सकूँ, दूसरे को मोक्ष प्राप्त करा सकूँ। आहाहा! यह **अध्यवसान है वह सब, परभाव का पर में व्यापार न होने के कारण...** यह अध्यवसान है, वह पर में क्रिया नहीं कर सकता। पर को जिला नहीं सकता, दूसरे को मार नहीं सकता, सुखी-दुःखी नहीं कर सकता, बन्ध नहीं कर सकता, मोक्ष नहीं कर सकता। यह अध्यवसाय पर में क्रिया नहीं कर सकता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म।

भक्त तो ऐसा कहे, प्रभु! आप तरणतारण हो। परन्तु दूसरा कहे कि मैंने इसे तिराया... आहाहा! मैंने इसे जीवन दिया, अभयदान देकर जीवित रखा, यह अभिप्राय अत्यन्त अपनी क्रिया पर में होने के लिये निरर्थक है। आहाहा! अरेरे! ऐसा कहाँ (सुनने को मिले)? अनन्त काल से भटकता है। आहाहा! नरक और निगोद, तिर्यंच के अवतार कर-करके अनन्त अवतार हुए। इस मिथ्यात्व के कारण (हुए)। मूल में संसार का मूल ही मिथ्यात्व है। आहाहा!

यह अभिप्राय **परभाव का पर में व्यापार न होने के कारण...** तू अध्यवसाय करे परन्तु उससे पर में वह जीवन-मरण हो या सुखी-दुःखी हो या बन्ध-मोक्ष हो, वह क्रिया करने को तेरा अभिप्राय समर्थ नहीं है। समझ में आया? आहाहा! **अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है...** यह अभिप्राय अपनी अर्थक्रिया अर्थात् पर की प्रवृत्ति की जो क्रिया, जिलाने-मारने की, बन्ध-मोक्ष की। (वह) अर्थक्रिया नहीं करनेवाला होने से **'मैं आकाश पुष्प को तोड़ता हूँ'...** आकाश के फूल को (तोड़ता हूँ)। आकाश को फूल होते नहीं। आहाहा! क्या वीतराग का मार्ग! सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं, प्रभु! अरे! तूने कभी सच्ची तत्त्व की बात का निर्णय नहीं किया। ऐसे का ऐसा अनन्त काल से मैं पर की दया पालूँ, पर को मार सकूँ, पर की व्यवस्था कर सकूँ, व्यवस्थापक व्यवस्था करते हैं या नहीं?

मुमुक्षु : करनी ही पड़ती है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : करनी पड़े न, प्रमुख है यह। नहीं? व्यवस्था होती है, उसकी

व्यवस्था करूँ। वह व्यवस्था तो वहाँ उसकी परमाणु की और उसके जीव की अवस्था (होती ही है)। व्यवस्था-अवस्था, उस-उस परमाणु, उस-उस आत्मा की विशेष पर्यायरूपी अवस्था, वह उससे होती है। उसे दूसरा कहे कि मैं व्यवस्था करूँ। सूक्ष्म बात, भगवान! कठिन पड़े ऐसा है। दूसरा क्या हो? भाई! अभी पूरा मार्ग (बदल गया है)। वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ की अनुपस्थिति, तथा कोई केवलज्ञानी नहीं, अवधिज्ञानी नहीं, कोई समकिती देव आता नहीं। आहाहा! और ऐसे विपरीत अभिप्राय से जगत को चलावे। आहाहा! यह मुद्दे की रकम है। आहाहा!

मैं पैसा रख सकता हूँ, पैसा प्रयोग कर सकता हूँ, ऐसा जो अभिप्राय वह पैसा लेना, रखूँ, लूँ, उसकी क्रिया करने को असमर्थ है। आहाहा! अरेरे! परन्तु भाव हुआ कि, मैं इसे दो-पाँच हजार, लाख दूँ। तो नोट फट... फट गिनकर दे। अब यहाँ कहते हैं कि यह तेरा अभिप्राय झूठा है। उन नोटों की पर्याय उस प्रकार से जाने की क्रिया तो उससे होती है और तू कहे कि, मुझसे होती है। बहुत कठिन काम, भाई! अरे! जन्म-मरण से अनादि से मर गया है। यह पैसेवाला लाखोंपति, करोड़ोंपति बेचारे दुःखी हैं, हों! ये भिखारी दुःखी हैं, भिखारी भीख माँगते हैं। पैसा लाओ, स्त्री लाओ, इज्जत लाओ, कीर्ति लाओ, महा बड़ा भिखारी है। ऐ... रामजीभाई! यह करोड़पति है। किसान, राजकोट। यह करोड़ और अरब, यह पैसा तो जड़ है। उसे मैं रखूँ और खर्च करूँ, यह तेरा अभिप्राय है, वह अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है। तेरा अभिप्राय पर में जाने-आने की क्रिया को करनेवाला नहीं है। तेरा अभिप्राय निरर्थक है। आहाहा! अर्थात् मिथ्या है। सूक्ष्म बात, भाई! पूरे जगत के अभिप्रायों से वीतराग का अभिप्राय बहुत अलग है, भाई! आहाहा! शान्तिभाई! ऐसा है।

मैं आकाश के फूल को तोड़ता हूँ। आकाश को फूल नहीं और तोड़ता हूँ, ऐसा इसका अभिप्राय दूसरे को जिलाऊँ-मारूँ, सुखी-दुःखी करूँ, आकाश के फूल को तोड़ता हूँ, इसके जैसी बात है। आहाहा! होशियार मनुष्य होवे तो जगत में सब काम अच्छे न करे? दुकान की व्यवस्था सुचारू चलावे। हैं? होशियार मनुष्य को अच्छा वेतन मिले। आधा, दस आना, आठ आना हिस्सेदारी दे। यह तो सब हमने देखा हुआ है न! आहाहा! भाई! तेरा अभिप्राय झूठा है, बापू! जड़ की वह सब क्रियाएँ होनेवाली, वे तो उसकी क्रिया तेरे अध्यवसाय के कारण वह क्रिया हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इस आकाश के फूल को तोड़ता हूँ। जैसे आकाश के फूल नहीं है, वैसे इसका अध्यवसाय दूसरे को सुखी-दुःखी करूँ, जिलाऊँ-मारूँ, बन्धन करूँ-मुक्त करूँ—यह आकाश के फूल तोड़ने जैसा है। गजब बात है! अरेरे! ऐसी बात सुनने को मिलती नहीं। ऐसा मनुष्यपना मिला। अनन्त काल में महा महँगी चीज़ है। आहाहा! इस मनुष्यपने में करना का तो यह है। आया था न? करनेयोग्य तो यह है, आया था। दोपहर में आया होगा। करनेयोग्य तो यह है।

मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ। जगत के कोई कार्य मुझसे हों, वह मैं नहीं। क्योंकि जगत के पदार्थ अपनी पर्याय के काम से निवृत्त नहीं। प्रत्येक पदार्थ उसकी पर्याय से निकम्मे नहीं। पर्याय का कार्य वह द्रव्य करता ही है और दूसरा कहे कि उसकी पर्याय को मैं करूँ, (वह मिथ्या अभिप्राय है)। समझ में आया? आहाहा! कठिन काम है, भाई! पहले तो बात सुनना मुश्किल पड़े। आहाहा!

वीतराग तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव कहते हैं, प्रभु! अनन्त पदार्थ है न? अनन्त पदार्थ की पर्याय उस-उस काल में वह पदार्थ करे, उसमें तू कहे कि मैं इसका करूँ, यह तो आकाश के फूल तोड़ने जैसा तेरा अभिप्राय झूठा है। आहाहा! अरे! ऐसा कहाँ मिले? बापू! आहाहा! अरबों रुपये मिले, करोड़ों मिलें, वह धूल मिली, उसमें कुछ (नहीं है)। वह तो पूर्व का पुण्य होवे तो मिला, परन्तु मिला है, वह तो वापस पाप है, परिग्रह है। क्या कहा यह? पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ मिले, अरबों मिले।

'शान्तिलाल खुशाल', गोवा। दो अरब चालीस करोड़। है अभी। दो अरब चालीस करोड़! ढाई अरब! गोवा में है। दशाश्रीमाली बनिया है। आहाहा! गुजर गया, दो लड़के हैं। लड़के ने ख्रिस्ती से विवाह किया है। पैसा बहुत, कुछ ठिकाना नहीं मिलता। आहाहा! मुम्बई में हमारे पास आया था। महाराज! हमारे पिता को आपके दर्शन करने थे, परन्तु गुजर गये। मुम्बई ६१ वर्ष में गुजर गया। ढाई अरब रुपये। धूल में क्या है? आहाहा! गोवा में तो साठ लाख के तो तीन मकान हैं। चालीस-चालीस लाख का एक और दो दस-दस लाख के। धूल, वह परपदार्थ है, बापू! वे तेरे कहाँ हैं? और तेरे करने से कहाँ हुए हैं? आहाहा! यह मकान है, वह आत्मा से होता है? बहुत ध्यान रखे। रामजीभाई ने बहुत ध्यान रखा था

और वजुभाई भी बहुत ध्यान रखते थे। यह भाव होता है, परन्तु यह वहाँ होता है तो उसके कारण से। कैसे जँचे? प्रभु! तुझे बात कठिन (लगे), बापू! यह पदार्थ, यह परमाणु पदार्थ है। तत्त्व है, अजीवतत्त्व है और अजीवतत्त्व की क्षण-क्षण में पर्याय होती है, ऐसा वह तत्त्व है। उस अजीव की यह पर्याय होने का काल था तो यह पर्याय हुई है। आहाहा! छब्बीस लाख का मकान (परमागम मन्दिर) तब, अभी तो पचास लाख में भी नहीं होगा। यह तो पाँच वर्ष और सात महीने पूरे हुए। आज तेरस है न? इसकी मासिक तिथि है। पूजा थी न? पाँच वर्ष और सात महीने हुए। फाल्गुन शुक्ल १३। यह तो इसकी पर्याय, प्रभु! ये परमाणु स्कन्ध हैं, पिण्ड हैं, उनकी उस समय में वही अवस्था, उस रूप से होनेवाली थी, वह हुई है, यह दूसरा कहे कि यह मुझसे हुई है, यह तेरा अध्यवसाय आकाश के फूल तोड़ने जैसा है। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! आहाहा!

दूसरा तत्त्व दूसरे तत्त्व की कोई परभाव की क्रिया करे, यह तीन काल में नहीं बनता। अन्दर इसे बैठना चाहिए, भाई! आहाहा! ऐसे का ऐसा नहीं, इसे अन्दर बैठना चाहिए। इसके बिना मिथ्या अभिप्राय नहीं टलेगा और जब तक झूठा अभिप्राय है, तब तक नरक और निगोद के भव करने पड़ेंगे, बापू! आहाहा! समझ में आया?

अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है, इसलिए 'मैं आकाश पुष्प को तोड़ता हूँ' ऐसे अध्यवसान की भाँति मिथ्यारूप है,... आकाश के फूल तोडूँ, ऐसा जो अध्यवसाय मिथ्या है, ऐसे इसे जिलाऊँ-मारूँ, सुखी-दुःखी करूँ, बन्ध-मोक्ष करूँ, ऐसा तेरा अध्यवसाय निरर्थक है। है सार्थक—संसार में भटकने के लिये। पर के कार्य के लिये निरर्थक है। आहाहा! देखो न! वीतरागमार्ग तो देखो, प्रभु! आहाहा! तीन लोक के नाथ भगवान सीमन्धर प्रभु महाविदेह में विराजते हैं, उनकी यह वाणी है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ गये थे। दिव्यध्वनि सुनी, अनुभव तो था, चारित्र था, आनन्द का स्वसंवेदन था। आहाहा! कहते हैं कि यह पुस्तक बनी है, वह भी हमसे नहीं, हों! आहाहा! यह टीका बनी, वह हमसे नहीं। क्योंकि उन परमाणुओं की उस काल में वह पर्याय होने के काल में उनसे हुई। दूसरा ऐसा अभिप्राय करे कि मुझसे होती है तो तेरा अभिप्राय उसके कार्य में निरर्थक है। आहाहा! हजारों-लाखों कहे नहीं। बहुत बदलना पड़े। आहाहा!

'होंशिडा मत होंश न कीजे' एक स्तवन आता है। चार सज्झायमाला है न? सज्झायमाला है। एक-एक सज्झायमाला में दो सौ-ढाई सौ (श्लोक हैं)। यह तुम्हारे दिगम्बर में नहीं होती। श्वेताम्बर में है। मैंने तो दुकान पर मँगायी थी। संवत् १९६४-६५ के वर्ष की बात है। चार सज्झायमाला है। मैं तो दुकान पर (बैठता था), पिताजी की घर की दुकान थी, इसलिए मैं तो निवृत्ति से पढ़ता था। चार सज्झायमाला, चारों ही पढ़ी थी। एक-एक में दो सौ-ढाई सौ सज्झाय है। वे चारों ही पढ़ी थी। उसमें एक यह है, 'होंशिडा मत होंश न कीजे' उन पर के कार्य में होंशिड़ा होंश न कर, प्रभु! आहाहा! ऐसा है, उसमें बहुत आता है। बहुत सज्झाय आती है।

वहाँ तो यह भी आता है, 'सहजानन्दी रे आत्मा, सूतो कंई निश्चिंत रे, मोह तणा रे रणिया भमे।' इस मिथ्यात्व के मोह बड़े सिर पर लेनदार खड़े हैं। आहाहा! 'जाग जाग रे मतिवंत रे... ऐ लूंटे जगत के जंत रे।' स्त्री-पुत्र कहे कि हमसे किसलिए विवाह किया? किसलिए हमको... ? हमारा पोषण करना पड़ेगा, करना पड़ेगा। ये लुटेरे सब तुझे लूटेंगे। नियमसार में कहा है, यह सब लुटेरों की टोली तुझे मिली है। आहाहा! नियमसार। आहाहा! 'जाग जाग मतिवन्त, आहाहा! लूंटे जगत के जन्त, विरला कोई उगरंत।' कोई विरला प्राणी उसमें से उभरेगा, बाकी तो मरे पड़े हैं अन्दर। आहाहा! अरेरे! जहाँ ऐसा सुनने को मिलता नहीं, उसका कब विवेक करे? आहाहा!

यह वस्त्र है, वह ऐसे से ऐसे होता है, उसे आत्मा करे—यह तीन काल में नहीं है, ऐसा कहते हैं। हाथ ऐसे करे, वह आत्मा नहीं। हाथ की क्रिया हो, वह जड़ से जड़ के कारण। और उसके कारण कपड़े की क्रिया हो, ऐसा भी नहीं है। कपड़े की क्रिया उसके (स्वयं के) कारण ऐसी ऊँची-नीची होती है। आहाहा! ऐसी बात किसे बैठे? प्रभु! मार्ग तो यह है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं कि **'मैं आकाश पुष्प को तोड़ता हूँ' ऐसे अध्यवसान की भाँति मिथ्यारूप है,...** तेरा अभिप्राय। आहाहा! स्त्री, पुत्र को पालन-पोषण करूँ... आहाहा! दूसरे को शिक्षा दूँ। लो, ठीक! दूसरे को शिक्षा दूँ। अरे! प्रभु! उसका ज्ञान तो उससे खिलेगा। तुझसे खिलेगा? ऐसी बातें बहुत कठिन। भाई! आहाहा! प्रभु तो यहाँ तक कहते

हैं कि यह वाणी है, उस वाणी की क्रिया का आत्मा कर्ता नहीं है। वाणी तो जड़ है, उसकी पर्याय जड़ से होती है। प्रभु! तुझसे नहीं। और वह वाणी कान में पड़े, इसलिए उसे ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। प्रभु! तुझे उस काल में उस आत्मा का उस प्रकार के ज्ञान का प्रकार होने का जन्मक्षण था, वह हुआ है, वाणी से नहीं। ऐसा कैसे बैठे? घर में बैठे हुए नहीं हुआ था और यहाँ हुआ, इसलिए इससे नहीं हुआ? भाई! अभी वह पर्याय तेरे ज्ञानगुण की उस प्रकार के क्षयोपशम की उत्पन्न होने का काल, उसमें वह शब्द तो निमित्त है, उससे हुआ नहीं है। अरेरे! यह बात कैसे बैठे?

'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है' नरसिंह मेहता कहते हैं। 'गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे' गाड़ी का भार। कुत्ता नीचे ठीठ से छुए (मानता है) गाड़ी मुझसे चलती है। उसी प्रकार यह दुकान की, घर की सब व्यवस्था करनेवालो होशियार (माननेवाला) कुत्ते जैसा है। आहाहा! कहो, पुनातरजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा! परमात्मा जिनेश्वरदेव की वाणी का यह सार है। यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव, अमृतचन्द्राचार्यदेव जगत को प्रसिद्ध करते हैं। प्रभु ऐसा कहते हैं। प्रभु! तुझे जँचे, न जँचे तू जान, परन्तु प्रभु तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! है?

मात्र अपने अनर्थ के लिये ही है... दूसरे को जिला दूँ, निभाऊँ, पोषण दूँ, व्यापार-धन्धा बड़ा हो तो दूसरे का निभाव होता है, ऐसा जो तेरा अभिप्राय केवल अपने अनर्थ के लिये है। दो भाषा हुई। पर की अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं, परन्तु अपने अनर्थ के लिये समर्थ है। क्या कहा? प्रभु! आहाहा! तेरा अभिप्राय पर को जिलाऊँ-मारूँ, सुखी-दुःखी (करूँ), यह तेरा अभिप्राय पर की क्रिया—अर्थक्रिया करने को समर्थ नहीं है, परन्तु तेरा अभिप्राय तेरा अनर्थ करने के लिये समर्थ है। आहाहा! अर्थ और अनर्थ, आमने-सामने डाले हैं। आहाहा! यह स्त्री, पुत्र को पोषता है, छोटे को बड़ा करता है। आहाहा! छोटा बालक बेचारा, उसे खबर न हो... भाई! क्या हो? प्रभु! यह बालक का शरीर है, वह रजकण हैं। उनकी वह पर्याय उस समय में होनेवाली, उस क्षण में वह जन्मक्षण है। उसकी माँ ऐसा कहती है, इसे मैं पालन करती हूँ, रखती हूँ, यह मिथ्या अभिप्राय है। पर की क्रिया के लिये, अर्थक्रिया के लिये समर्थ नहीं है, परन्तु अपने अभिप्राय के लिये अनर्थ का कारण

है। आहाहा! अरे रे! तब हमारे बैठे रहना न? बैठे रहने का अर्थ कि तू तेरे अभिप्राय में पर का कर सकता हूँ, यह छोड़ दे। बाकी तो जैसा होनेवाला है, वह होता है। समझ में आया? आहाहा!

वह **अपने अनर्थ के लिये ही है...** मात्र अपने नुकसान का कारण होता है। आहाहा! बहुत जोर देकर ऐसा करेंगे नहीं कि दूसरे को मैं समझा दूँ और धर्म प्राप्त करा दूँ। बहुत जोर रहने दे। 'छह काय के पीयर' आता है न? यह छह काय के माता-पिता हैं। अरे! प्रभु! माता-पिता कैसा? आहाहा! छह काय के जीव की पर्याय उस काल में उसे होनेवाली हो वह-वह होती है, उसे तू उसका रक्षण करे तो हो, यह अभिप्राय निरर्थक है, तेरे लिये नुकसान है। पर में होता नहीं। पर के कार्य में लाभ नहीं होता परन्तु तेरे लिये नुकसान है। आहाहा!

भावार्थ : जो अपनी अर्थक्रिया... अर्थ अर्थात् प्रयोजन। प्रयोजनभूत क्रिया। अपनी प्रयोजनभूत क्रिया। अर्थात् कि मैं अध्यवसाय करूँ, पर को जिलाऊँ, ऐसी प्रयोजनभूत क्रिया, वह अध्यवसाय पर की **(-प्रयोजनभूत क्रिया) नहीं कर सकता...** कर नहीं सकता। आहाहा! सादी भाषा की है। **वह निरर्थक है, अथवा जिसका विलय नहीं है...** भाषा देखो! क्या कहते हैं? कि तू ऐसा परिणाम कर कि उसे जिलाऊँ-मारूँ, वह जिलाने-मारने के अभिप्राय का वह विषय ही नहीं है। वह विषय तो पर है। ज्ञेयरूप से जानने का है, उसके बदले उसे जिलाऊँ-मारूँ, ऐसा तेरा विषय ही नहीं है। आहाहा! क्या कहा यह?

तू परिणाम में ऐसा अभिप्राय करे कि पर को जिलाऊँ-मारूँ, सुखी-दुःखी करूँ, बन्ध करूँ-मोक्ष करूँ। आहाहा! उस अभिप्राय का यह विषय नहीं है। अर्थात् कि उस अभिप्रायानुसार नहीं होता, उसके कारण नहीं होता, इसलिए उसका विषय नहीं है। आहाहा! गजब है! अर्थकार ने ऐसा (अर्थ) किया है। तेरे परिणाम में तू कर। निरर्थक, तेरा नुकसान के लिये, भटकने के लिये। परन्तु उस परिणाम का विषय जो पर है, वह उसका विषय नहीं। पर को जिलाऊँ, मारूँ, बाँधूँ, वह कुछ तेरे अभिप्राय का विषय नहीं है। आहाहा! समझ में आया? उसका ध्येय माना होगा तो उसका वह ध्येय नहीं है। अरे! अरे! ऐसी बातें। बहुत सरस शब्द प्रयोग किया है।

जो अपनी अर्थक्रिया (-प्रयोजनभूत क्रिया)... दूसरे को जिलाऊँ-मारूँ, निभाऊँ—ऐसे जो तेरे परिणाम, उसकी अर्थक्रिया अर्थात् पर में होना, उसे नहीं किया जा सकता। **निरर्थक है, अथवा जिसका विषय नहीं है, वह निरर्थक है।** तूने तेरे परिणाम किये कि उसे निभाऊँ, इसका वह विषय है, वह विषय ऐसा है ही नहीं। परिणाम का वह विषय है ही नहीं। आहाहा! चिमनभाई! सूक्ष्म बात है, प्रभु! तेरी प्रभुता का पार नहीं होता, परन्तु प्रभु! तू भूल गया। आहाहा! तेरी प्रभुता पर के कार्य कर सकूँ, वहाँ तूने मान्यता में प्रयोग की है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यह **जिसका विषय नहीं है,...** अर्थात् क्या? कि जो तू परिणाम ऐसे करे कि इसे निभाऊँ, इन तेरे परिणामों का वह विषय नहीं है। आहाहा! वह तो ज्ञेय है। तेरे ज्ञान की पर्याय का वह ज्ञेय विषय है। उसके बदले जिलाऊँ-मारूँ, बँधाऊँ—ऐसे परिणाम का वह विषय नहीं है। आहाहा! तूने जो ध्येय बाँधा हो कि इसे ऐसा करूँ, परन्तु वह तेरे परिणाम का विषय ही नहीं है। आहाहा! धीरे से समझने की बात है, बापू! यह कहीं कोई उतावल से (होवे ऐसा नहीं है)। ऐसा मार्ग होगा? ऐसा मार्ग होवे तो फिर कुछ किया नहीं जाए। भाई! धीर हो, प्रभु! आहाहा! तू तेरे परिणाम में परिणाम का फेरफार करना हो, वह कर, परन्तु पर के परिणाम में कुछ फेरफार (कर सके, ऐसा नहीं है)। यह भी यहाँ तो कहते हैं कि जिस समय में जो परिणाम हुए, उस समय का फेरफार कर तो वह नहीं हो सकेगा। ले! आहाहा!

क्रमबद्ध जो परिणाम होते हैं... आहाहा! तेरे परिणाम का फेरफार कर नहीं। इतना कर सकता है कि मैं पर को जिलाऊँ-मारूँ, ऐसा जो अभिप्राय है, उसे छोड़कर, स्वद्रव्य का अभिप्राय कर सके, यह तेरा कर्तव्य है। आहाहा! मैं तो ज्ञाता हूँ, ज्ञायक हूँ, ज्ञान के रस से भरपूर पदार्थ हूँ, ऐसा अभिप्राय कर तो वह तुझसे हो सकता है। आहाहा! समझ में आया? बहुत अच्छी गाथा है। आहाहा! तब तो फिर यहाँ ऐसा हुआ कि इस दवा से रोग मिटता नहीं। वह तो निमित्त है, बापू! वे परमाणु उस समय में पर्याय होनेवाली (हो, वह होती है)। बापू! कठिन बातें है, भाई! आहाहा! दूसरे परमाणु दूसरे परमाणु की पर्याय को पलटावे? ऐसा है नहीं। यद्यपि परमाणु को कोई अभिप्राय नहीं है, अभिप्राय करनेवाला तो

जीव है, परन्तु परमाणु की जो क्रमसर पर्याय जिस काल में जो होती है, उसे दूसरा परमाणु करे, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! कहो, शिवलालभाई! ऐसी बातें हैं।

भगवान की भक्ति करने में स्वाहा... स्वाहा... (बोले)। कहते हैं कि वह स्वाहा की भाषा और हाथ ऐसे-ऐसे हो और चावल जाए, वह क्रिया तुझसे नहीं हुई। तेरे परिणाम में तू ऐसा माने कि वह मुझसे होता है, यह झूठ बात है। इससे कहीं पर का कार्य उस परिणाम से हो, ऐसा नहीं है। वे तेरे परिणाम तुझे निरर्थक हैं। परन्तु शुभ परिणाम हों, उसे जाने कि यह तो उसके कारण से होते हैं। उन्हें तो मैं जाननेवाला हूँ। आहाहा! गजब काम, भाई! ऐसा मार्ग होगा? कठिन लगे। सुना न हो (ऐसे) नये लोगों को तो ऐसा लगता है कि यह क्या कहते हैं? पागल जैसी बातें हैं। बात तो ऐसी (है), बात सच्ची। आहाहा!

जीव परजीवों को दुःखी-सुखी आदि करने की बुद्धि करता है, परन्तु परजीव अपने किये दुःखी-सुखी नहीं होते;... आहाहा! **इसलिए वह बुद्धि निरर्थक है और निरर्थक होने से मिथ्या है-झूठी है।** मिथ्या अभिप्राय है, झूठा है।

गाथा - २६७

कुतो नाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारीति चेत्ह्न-

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं।।२६७।।

अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यन्ते कर्मणा यदि हि।
मुच्यन्ते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तत् किं करोषि त्वम्।।२६७।।

यत्किल बन्धयामि मोचयामीत्यध्यवसानं तस्य हि स्वार्थक्रिया यद्बन्धनं मोचनं जीवानाम्। जीवस्त्वस्याध्यवसायस्य सद्भावेऽपि सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः अभावान्न बध्यते, न मुच्यते; सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः सद्भावात्तस्याध्यवसायस्याभावेऽपि बध्यते, मुच्यते च।

ततः परत्राकिञ्चित्करत्वान्नेदमध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि, ततश्च मिथ्यैवेति भावः।।२६७।।

अब यह प्रश्न होता है कि अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला कैसे नहीं है? इसका उत्तर कहते हैं:-

सब जीव अध्यवसानकारण, कर्म से बँधते जहाँ।
अरु मोक्षमग थित जीव छूटें, तू हि क्या करता भला।।२६७।।

गाथार्थ : हे भाई! [यदि हि] यदि वास्तव में [अध्यवसाननिमित्तं] अध्यवसान के निमित्त से [जीवाः] जीव [कर्मणा बध्यंते] कर्म से बँधते हैं [च] और [मोक्षमार्गे स्थिताः] मोक्षमार्ग में स्थित [मुच्यंते] छूटते हैं [तद्] तो [त्वम् किं करोषि] तू क्या करता है? (तेरा तो बाँधने-छोड़ने का अभिप्राय व्यर्थ गया।)

टीका : 'मैं बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ' ऐसा जो अध्यवसान उसकी अपनी अर्थक्रिया जीवों को बाँधना, छोड़ना है। किन्तु जीव तो, इस अध्यवसाय का सद्भाव होने पर भी, अपने सराग-वीतराग परिणाम के अभाव से नहीं बँधता और मुक्त नहीं होता; तथा अपने सराग-वीतराग परिणाम के सद्भाव से, उस अध्यवसाय का अभाव होने पर भी,

बँधता है, छूटता है। इसलिए पर में अकिंचित्कर होने से (अर्थात् कुछ नहीं कर सकता होने से) यह अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है; और इसलिए मिथ्या ही है।–ऐसा भाव (आशय) है।

भावार्थ : जो हेतु कुछ भी नहीं करता, वह अकिंचित्कर कहलाता है। यह बाँधने–छोड़ने का अध्यवसान भी पर में कुछ नहीं करता; क्योंकि यदि वह अध्यवसान न हो तो भी जीव अपने सराग–वीतराग परिणाम से बन्ध–मोक्ष को प्राप्त होता है, और वह अध्यवसान हो तो भी अपने सराग–वीतराग परिणाम के अभाव से बन्ध–मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार अध्यवसान पर में अकिंचित्कर होने से स्व–अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है, इसलिए मिथ्या है।

गाथा - २६७ पर प्रवचन

अब यह प्रश्न होता है कि अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला कैसे नहीं है? अब अकिंचित्कर डालेंगे। आहाहा! २६७।

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं।।२६७।।

सब जीव अध्यवसानकारण, कर्म से बँधते जहाँ।
अरु मोक्षमग थित जीव छूटें, तू हि क्या करता भला।।२६७।।

आहाहा! दूसरे को धर्म प्राप्त करा दूँ, ऐसा अभिप्राय छोड़ देना। आहाहा! गजब बात है! उतावला नहीं होना, प्रभु! आहाहा! तेरा ज्ञातापना छोड़कर ऐसा अभिप्राय करना नहीं। आहाहा! जगत को प्राप्त करा दूँ। बापू! उसकी पर्याय (होने) के काल में होगी, उसमें तू क्या प्राप्त करायेगा? भाई! आहाहा! बहुत फेरफार है। है? आहाहा!

टीका – मैं बँधाता हूँ,... मैं दूसरे को भटकाने का भाव करा देता हूँ। वह आता है न? जुगलिया का, नहीं आता? श्वेताम्बर में। जुगलिया को एक व्यक्ति ने पाप कराकर नरक में भेजा। श्वेताम्बर में अछेरा आता है। ऐसा नहीं होता। जुगलिया कभी नरक में नहीं जाते। श्वेताम्बर में ऐसी कल्पित बातें बहुत आती हैं, बहुत कल्पित बातें। जुगलिया का शत्रु

जीव था, इसलिए जुगलिया में से उठाकर कर्मभूमि में लाया। कर्मभूमि में लाकर उन्हें फिर राज दिया फिर माँस खिलाया, शराब पिलायी, (इसलिए) नरक में गया। अछेरा है, ऐसा कहते हैं। ऐसा नहीं होता, भगवान! आहाहा! यह श्वेताम्बर में आता है। यह सब कल्पित बातें हैं, वीतराग ने कही हुई नहीं है। सब कल्पित बातें करके शास्त्र बनाये हैं। सूक्ष्म बात है, भगवान! क्या कहें? अरर!

यह कहते हैं कि हरि... क्या कहलाता है वह? देवकुरु। जुगलिया। हरिवंश। जुगलिया छह प्रकार के हैं न? देवकुरु, उत्तरकुरु, हरिवंश... नाम भूल जाते हैं। हरिवंश के जुगलिया लाकर उन्हें माँस खिलाया और राजा को मारकर नरक में गया। ऐसा कभी नहीं होता। उसमें—श्वेताम्बर में है। आहाहा!

'मैं बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ' ऐसा जो अध्यवसान उसकी अपनी अर्थक्रिया... अर्थक्रिया अर्थात? यह अभिप्राय है, वैसा बाहर में जड़ का या पर का परिणमन होना, वह **जीवों को बाँधना, छोड़ना है।** पर को बाँधूँ, मुक्त करूँ, वह इसके अध्यवसाय की अर्थक्रिया है। **किन्तु जीव तो, इस अध्यवसाय का सद्भाव होने पर भी,...** तेरा अध्यवसाय होवे कि मैं बाँधता हूँ और मुक्त करता हूँ, ऐसा अध्यवसाय होने पर भी **अपने सराग-वीतराग परिणाम के अभाव से...** यदि वह बँधनेवाला अपने सराग परिणाम हो तो उनसे बँधता है और वीतराग परिणाम हों तो मुक्त होता है। उसमें तू क्या कर सकता है? आहाहा!

अपने सराग-वीतराग परिणाम के अभाव से... (भाषा) संक्षिप्त की है। सराग परिणाम से बँधता है और वीतराग परिणाम से मुक्त होता है। आहाहा! यह तो वे कहते थे न, झरिया में? अमृतलाल। बाबा होवे तो यह बैठे। बाबा ही है, सुन न! कब परद्रव्य में घुस गया है? तेरा तेरा तत्त्व ही पूरा पृथक् है। आहाहा! तेरी पर्याय में परद्रव्य है ही नहीं। तेरी पर्याय में नहीं, उस परद्रव्य का तू क्या करेगा? तेरी पर्याय में तो उसे कर सकता हूँ, ऐसा अध्यवसाय (हो) और या राग-द्वेष, वह तेरी पर्याय में हो। अथवा उस तेरी पर्याय में द्रव्य के आश्रय से वीतरागता हो। बाकी तेरी पर्याय में कोई परद्रव्य हो, (ऐसा है नहीं)। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग। दिगम्बर सन्तों की बात कहीं है नहीं। आहाहा! सत् को प्रसिद्ध

करते हैं। ढिंढोरा पिटते हैं। दिगम्बर मुनियों ने गजब काम किया है। आहाहा! उन्हें दुनिया की पड़ी नहीं है कि यह मानेगा या नहीं मानेगा? यह क्या कहेंगे? चाहे जैसा कहो, प्रभु! मार्ग तो यह है। आहाहा! है?

जीव तो, इस अध्यवसाय का सद्भाव... सामनेवाले का अध्यवसाय है कि इसे बाँधूँ और इसे मुक्त करूँ। ऐसे अध्यवसाय का सद्भाव होने पर भी, वह सराग परिणाम से बँधेगा और वीतराग परिणाम से मुक्त होगा, कहीं तेरे परिणाम से सराग होगा और वीतराग होगा, ऐसा नहीं है। आहाहा! वापस यह भी साथ ही कहा कि राग से बन्ध होगा और वीतरागता से मुक्ति होगी। आहाहा! चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो। आहाहा! परन्तु वह बन्ध का कारण है और आत्मा भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, वीतरागस्वरूप विराजमान है, उसका आश्रय लेकर जो वीतरागता होती है, वह मुक्ति का कारण है। आहाहा!

तथा अपने सराग-वीतराग परिणाम के सद्भाव से, उस अध्यवसाय का अभाव होने पर भी,... सामनेवाले को बाँधने-मुक्त करने का सामनेवाले का अध्यवसाय न हो, तो भी सराग और वीतराग परिणाम से बन्ध और मुक्ति होगी। सामनेवाले का अध्यवसाय हो कि इसे बाँधुँ-मुक्त करूँ तो भी उसके अध्यवसाय की विद्यमानता में भी उसके सराग (परिणाम से) बँधेगा और वीतरागता से मुक्त होगा। तथा सामने वाले का अध्यवसाय न हो तो भी सराग परिणाम से बँधेगा और वीतरागता से मुक्त होगा। आहाहा! ऐसा है। यह घण्टे भर की बातें ऐसी। मार्ग ऐसा है, प्रभु! यह तो परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ अरिहन्त परमात्मा। सिद्ध को तो वाणी होती नहीं। वे तो णमो सिद्धाणं में गये। शरीररहित हो गये। अरिहन्त हैं, उन्हें वाणी होती है। वाणी में यह आया है। आहाहा! परमात्मा की वाणी में यह आया है। आहाहा!

तेरे अध्यवसाय के अभाव में भी। तेरा अध्यवसाय ऐसा न होने पर भी वह तो वह जीव अपने अज्ञान के रागभाव से बँधेगा और वीतरागभाव से मुक्त होगा। तेरा अध्यवसाय हो तो भी वह सराग से बँधेगा और वीतरागता से मुक्त होगा। तेरा अध्यवसाय न हो तो भी वह सरागता से बँधेगा और वीतरागता से मुक्त होगा। तेरे अध्यवसाय की कोई अपेक्षा वहाँ नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

इसलिए पर में अकिंचित्कर... लो, ऐसी भाषा। अभी ऐसा आया था। ऐई! चेतनजी! तुम्हारे मित्र का। निमित्त किंचित्कर है और अकिंचित्कर, दोनों है। कैसे कहलाते हैं? विकासविजय। पत्र लिखता है, उपदेश देता है। अभी पत्र आया था। पत्र नहीं परन्तु अखबार में आया था। पहले यहाँ पत्र आते, पत्र लेते नहीं, इसलिए अब अखबार में आया है। निमित्त किंचित्कर भी है और अकिंचित्कर भी है, दोनों है। कथंचित् किंचित्कर और कथंचित् अकिंचित्कर। आहाहा!

यहाँ प्रभु कहते हैं **पर में अकिंचित्कर होने से...** आहाहा! पर की पर्याय करने में पर का अभिप्राय अकिंचित्कर है। आहाहा! यह हाथ ऐसे ऊँचा होता है, उसमें आत्मा उसके लिये अकिंचित्कर है, कुछ कर नहीं सकता। अरे! प्रभु! आहाहा! तेरा अभिप्राय या परिणाम परद्रव्य में जरा भी किंचित्कर नहीं है, अकिंचित्कर है। किंचित् करता नहीं, कुछ करता नहीं, कुछ करता नहीं। आहाहा! ऐसा तो पाठ है। पढ़ते नहीं, सुनते नहीं।— अकिंचित्कर है। अभी दूसरा एक है, बुलन्दशहर का सुल्तानसिंह, वह अभी डालता है, ऐसा होता है, निमित्त से होता है, उससे होता है, अमुक से होता है। बुलन्दशहर का है न? एक कैलाशचन्दजी हैं, वे अनुकूल हैं और वह बुलन्दशहर का विरुद्ध है। विरोध किसका हो? बापू! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, कोई द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय के लिये अकिंचित्कर है। अकिंचित्कर अर्थात् कुछ कर नहीं सकता, ऐसा है। आहाहा! दूसरे को जिला सकने का परिणाम दूसरा कर सके, यह बिल्कुल नहीं, अकिंचित्कर है। दूसरे को सुखी करने का परिणाम, वह परिणाम पर में कुछ कर नहीं सकता। आहाहा! हैं?

मुमुक्षु : पर को जिलाने का भाव तो पागलवत हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव, वह तो राग है। जिला सकता हूँ—ऐसी मान्यता है, वह मिथ्यात्व है। बचाने का दया का भाव हो, वह राग है। ज्ञानी को भी आता है, परन्तु बचा सकता हूँ, ऐसा नहीं है। आहाहा! अरेरे! ऐसा पूरा फेरफार करना, दिशा बदल डालने की बात है। दिशा बदलने से, दशा बदलेगी। पर की दिशा की ओर लक्ष्य है, वह दिशा यहाँ बदल डाल, तो तेरी दशा बदलेगी। आहाहा! पर का करूँ... पर का करूँ... पर का करूँ...

आहाहा! महिलाओं में तो बहुत होशियार होवे तो अच्छे पापड़ बनावे, वड़ी बनावे, पुड़ियाँ बनावे, लो! धूल भी करे नहीं, सुन न! आहाहा! है?

इसलिए पर में अकिंचित्कर... यह बहुत अलौकिक बात आयी है। अमृतचन्द्राचार्यदेव का पुकार है। दिगम्बर सन्त हैं, भावलिंगी अनन्त प्रचुर आनन्द के वेदन में पड़े हैं। आहाहा! दिगम्बर सन्त तो उन्हें कहते हैं, जिन्हें वस्त्र का टुकड़ा नहीं और अन्दर में विकल्प, तीन कषाय का अभाव-टलकर, तीन कषाय का विकल्प नहीं, एक संज्वलन का विकल्प उठता है। वह भी उसके ज्ञाता हैं। आहाहा! वे सन्त-मुनि ऐसा पुकारते हैं कि एक द्रव्य के (परिणाम) दूसरे द्रव्य के परिणाम (में) कुछ कर नहीं सकते। आहाहा! इतिहास में आता है, नहीं? हुमायूँ को आयुष्य दिया। एकदम झूठ। इतिहास में यह आता है। आहाहा! **पर में अकिंचित्कर होने से (अर्थात् कुछ नहीं कर सकता होने से) यह अध्यवसान अपनी अर्थ क्रिया करनेवाला नहीं है;...** यह तेरा अभिप्राय पर में क्रिया करने का बिल्कुल समर्थ नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : लड़कों को सुधारने का काम....

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़कों को सुधारने का कुछ कर नहीं सकता। सुमनभाई को सुधारा न? यह पैंतीस हजार देकर। अमेरिका में सिखाया। पाप करके इकट्ठे किये और पाप करके वापस उसे सिखाया। यह तो घर का दृष्टान्त। आहाहा! कौन करे? बापू! लड़के को कौन सिखावे और कौन शिक्षा दे? आहाहा! कठिन काम है, भाई! आहाहा!

अकिंचित्कर आया न? बाबूभाई! सबके लिये न? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय करने के लिये अकिंचित्कर है। आहाहा! निमित्त को मिला दूँ, इसके लिये-पर को मिलाने के लिये आत्मा अकिंचित्कर है। आहाहा! क्या हो? प्रभु का विरह पड़ा, पीछे सत्य वाणी रह गयी। उसका अर्थ करनेवाले उल्टे पड़े। आहाहा!

जितने अनन्त द्रव्य हैं, वह एक द्रव्य दूसरे की पर्याय करने को अकिंचित्कर है। अकिंचित्कर—किंचित् कुछ न करे। जरा भी सहायता और मदद करे, ऐसा है नहीं—ऐसा कहते हैं। **यह अध्यवसान अपनी अर्थ क्रिया करनेवाला नहीं है; और इसलिए मिथ्या ही है।** तेरा अभिप्राय मिथ्या—झूठा है। पर को जिलाऊँ और पर को निभाऊँ... आहाहा!

पर को पाल-पोसकर बड़ा करूँ। तब फिर यह स्त्रियों को लड़कों को बड़ा नहीं करना न? छोटा बालक हो तो ऐसे सीधे उठावे। कौन उठावे? प्रभु! सुन न! यह देह की क्रिया उस जड़ से होती है और वह ऊँचा होता है, वह उसकी क्रिया से होता है, तुझसे नहीं। अरर! **ऐसा भाव (आशय) है।** ऐसा आशय है। ऐसा आशय है कि, एक द्रव्य की पर्याय दूसरा द्रव्य किंचित् नहीं कर सकता। ऐसा यहाँ आशय है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३२८, गाथा - २६७ से २६९, कलश - १७१ बुधवार, आसोज शुक्ल १३
दिनाङ्क - ०३-१०-१९७९

समयसार, २६७ गाथा का भावार्थ। **जो हेतु कुछ भी नहीं करता, वह अकिंचित्कर कहलाता है।** पहले सिद्धान्त कहते हैं। जो हेतु-कारण कुछ भी न करे, वह अकिंचित्कर कहलाता है। **यह बाँधने-छोड़ने का अध्यवसान...** दूसरे को बाँधूँ, दूसरे को मोक्ष कराऊँ, ऐसा जो अभिप्राय, वह **पर में कुछ नहीं करता; क्योंकि यदि वह अध्यवसान न हो...** दूसरे का यह बाँधने-छुड़ाने का अध्यवसाय न हो **तो भी जीव अपने सराग-वीतराग परिणाम से बंध-मोक्ष को प्राप्त होता है,...** दूसरे का अध्यवसाय ऐसा न हो कि इसे बँधाऊँ, छुड़ाऊँ तो भी जीव अपने राग... राग शब्द से यहाँ एकत्वबुद्धि है। समझ में आया? राग के साथ एकत्वबुद्धि और राग तथा वीतराग। स्वयं ही रागरूप न परिणमे न वीतरागरूप परिणमे तो उसे बन्ध का कारण नहीं होता। दूसरा अध्यवसाय करे कि इसे बन्ध करूँ, परन्तु उसके परिणाम में राग का अध्यवसाय करे और बन्धन करे, वह तो उसके कारण से है और वीतराग के परिणाम करे और मोक्ष के परिणाम (करे), वह उसके कारण से है।

सराग-वीतराग परिणाम से... आहाहा! **बंध-मोक्ष को प्राप्त होता है,...** आहा! **और वह अध्यवसान हो...** दूसरे का अध्यवसाय हो कि इसे बँधाऊँ, छुड़ाऊँ **तो भी अपने सराग-वीतराग परिणाम के अभाव से बंध-मोक्ष को प्राप्त नहीं होता।**

आहाहा! सराग का भाव उसे न हो और वीतराग का भाव न हो तो बन्ध-मोक्ष को पाता नहीं। **इस प्रकार अध्यवसान पर में अकिंचित्कर...** है। यहाँ तो यह (सिद्ध करना) है। आहाहा! परद्रव्य की किसी भी क्रिया करने में, यह अध्यवसाय करना, यह सब अकिंचित्कर है। कुछ नहीं कर सकता। **स्व-अर्थक्रिया करनेवाला...** अर्थात् कि जो बन्ध-मोक्ष का अध्यवसाय है, वह उसकी अर्थक्रिया अर्थात् दूसरे को बन्ध-मोक्ष करनेवाला नहीं है। वह अध्यवसाय पर की अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है। **इसलिए मिथ्या है।** आहाहा! अध्यवसाय मिथ्या है।

इस प्रकार ले, यह वीतराग परिणाम से। मोक्ष ले, वहाँ ऐसा। वीतराग परिणाम अर्थात् शुद्धोपयोग। परन्तु वह शुद्धोपयोग सातवें (गुणस्थान से) ले। ऐसा लेते हैं न वे? सर्वत्र अर्थ में (लेते हैं)। पहले, दूसरे, तीसरे में अशुभ; चौथे, पाँचवें, छठवें शुद्ध का कारण ऐसा शुभ, ऐसा अर्थ करते हैं। प्रवचनसार में है और यह द्रव्यसंग्रह की ३४ गाथा में भी है। शुद्ध का कारण ऐसा शुभ। वास्तव में तो राग का अभाव, वही शुद्ध उपयोग, वही आत्मा का ध्येय करता है। शुभभाव ध्येय नहीं करता। शुभभाव का आश्रय पर के ऊपर है। आहाहा! राग के परिणामरहित। भले दूसरा राग हो परन्तु अन्दर परिणाम जो स्व सन्मुख के ध्येय में गये, वे तो रागरहित परिणाम हैं। उसे शुद्ध उपयोग कहा जाता है। वे यह नहीं मानते। क्योंकि वह बात वापस वहीं की वहीं निश्चित की न। पहले, दूसरे, तीसरे की मुख्यता की बात है। चौथे, पाँचवें में मुख्यता से शुभ लिया है। छठवें में तो शुभ होता ही है, शुद्ध नहीं होता। यहाँ तो सराग परिणाम से बँधता है और वीतराग परिणाम से मोक्ष होता है, इतनी बात सिद्ध करनी है।

मुमुक्षु : छठवें गुणस्थान में वीतराग परिणाम होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : छठवें में अभी वीतराग परिणाम नहीं हैं, ऐसा कहते हैं। शुद्ध उपयोग से इनकार करते हैं न वे। सातवें में शुद्धोपयोग है। सबका कहना यह है। वर्णीजी भी ऐसा कहते थे न? नहीं तो १४४ गाथा है, भाई! यह तो नयातिक्रान्त निर्विकल्प की है। तो निर्विकल्प है, वह तो शुद्धोपयोग ही है। परन्तु वह ऐसे नहीं बैठती। १४४। नयातिक्रान्त है। मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ—ऐसा भी जहाँ विकल्प का अभाव है। यह क्या हुआ? यह नहीं बैठता। हैं?

मुमुक्षु : दलीलें हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दलील है। न्याय से बैठना चाहिए। भाई! दूसरा क्या हो? नहीं तो १४४ गाथा तो यह है। तो भी गुलाबबेन गयी थी न? उसने मुँह से कहा था कि यह सातवें गुणस्थान की बात है। क्यों, गुलाबबेन कहा था न? खबर है। १४४ में सम्यग्दर्शन और ज्ञान की बात है, वहाँ तो चारित्र है भी नहीं। परन्तु क्या हो? प्रभु! वाद-विवाद में चढ़े वहाँ।

यहाँ कहते हैं कि सराग से बन्धन और वीतराग से मोक्ष। वीतराग परिणाम तो सातवें से होते हैं, ऐसा कहते हैं। वह मोक्ष का कारण होता है, ऐसा। वैसे तो सम्यग्दृष्टि को जिन कहा है। द्रव्यसंग्रह की गाथा के अर्थ में है। जिनवर की व्याख्या करते हुए जिन, वह समकिती है और जिनवर, वे तीर्थंकर हैं, ऐसा कहा है। एक जगह जिन का अर्थ गणधर भी किया है। खबर है। समकिती जिन है। आहाहा! **'जो इंदिये जिणित्ता'** यह वास्तव में तो... अर्थ में ऐसा लिया है, ऐसे मुनि हैं। ३१ गाथा। वास्तव में तो यह चौथे से जितेन्द्रिय शुरु होता है। आहाहा! इसलिए वहाँ से जिन कहलाता है। अनन्तानुबन्धी, मिथ्यात्व गया न, उतना वह जिन है। आहाहा! हैं?

मुमुक्षु : अपूर्वकरण में कहा है गोम्मटसार में करणलब्धि में ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो समकिती को जिन कहा है। पहले गुणस्थान में अपूर्वकरण को जिन कहा है। है इसमें? परन्तु इसे नहीं मानते वे। इतने अंश में है। तब कान्तिलाल ऐसा कहते हैं न कि देखो! यह शुभयोग से भी निर्जरा है। अनेक प्रकार (चलते हैं)। आहाहा! शास्त्र की दलील, किस नय की अपेक्षा है, ऐसा न जाने तो क्या हो उसमें? इसलिए कहा है न, कि स्वसमय और परसमय के साथ वाद-विवाद करना नहीं। अनेक प्रकार के जीव, उनके कर्म अनेक प्रकार के, लब्धि-प्राप्ति अनेक प्रकार की, तू किस प्रकार उन्हें बैठायेगा? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि तू अध्यवसाय करे कि दूसरे को बन्ध-मोक्ष कराऊँ, तथापि उन्हें राग के परिणाम और एकत्व न हो तो बन्ध को नहीं पावे। वीतरागपना नहीं होवे तो मोक्ष को नहीं पावे, और तेरा अध्यवसान न हो तो भी राग के परिणाम हों तो बन्ध को पायेगा, वीतराग के परिणाम से मोक्ष को पायेगा। आहाहा! कलश कहते हैं। १७१।

कलश - १७१

अब इस अर्थ का कलशरूप और आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं:-

(अनुष्टुप्)

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत्।।१७१।।

श्लोकार्थ : [अनेन निष्फलेन अध्यवसायेन मोहितः] इस निष्फल (निरर्थक) अध्यवसाय से मोहित होता हुआ [आत्मा] आत्मा [तत् किञ्चन अपि न एव अस्ति यत् आत्मानं न करोति] अपने को सर्वरूप करता है-ऐसा कुछ भी नहीं है जिस रूप अपने को न करता हो।

भावार्थ : यह आत्मा मिथ्या अभिप्राय से भूला हुआ चतुर्गति-संसार में जितनी अवस्थाऐं हैं, जितने पदार्थ हैं, उन सर्वरूप अपने को हुआ मानता है; अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं पहिचानता।।१७१।।

कलश - १७१ पर प्रवचन

अब इस अर्थ का कलशरूप और आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं:-

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत्।।१७१।।

इस निष्फल (निरर्थक) अध्यवसाय से मोहित होता हुआ... आहाहा! मैं पर को जिलाऊँ, पर को मारूँ, पर को दुःखी करूँ, सुखी करूँ, सुविधा दूँ, असुविधा दूँ, बन्ध करा दूँ, मोक्ष करा दूँ—ऐसे निष्फल अध्यवसाय से अज्ञानी मोहित हुआ है। आहाहा! **आत्मा... 'तत् किञ्चन अपि न एव अस्ति यत् आत्मानं न करोति'** वह **अपने को सर्वरूप करता है...** अध्यवसाय से। करता है अर्थात् मानता है। **ऐसा कुछ भी नहीं है**

(कि) जिस रूप अपने को न करता हो। जगत की सब चीज़ों को, एक चीज़ को अपनी की तो पूरी दुनिया की चीज़ को अपनी करे। आहाहा! हैं ?

मुमुक्षु : एक पुत्र को एक पुत्र कहा अर्थात्....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पुत्र एक माना तो पूरी दुनिया को (अपनी माना)। श्रीमद् ने दृष्टान्त नहीं दिया ? कि पचास लड़के खड़े हों, उसमें यह मेरा कहाँ से आया ? वे तो सब ज्ञेय हैं। मेरा था कब ? दृष्टान्त दिया है। अथवा गली में पचास घर हों। अब पचासों घर वास्तव में तो ज्ञान में ज्ञेय हैं। उसमें यह घर मेरा कहाँ से आया ? आया कहाँ से वहाँ ?

मुमुक्षु : पैसा देकर लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे थे कब ? चेतन को (तुम्हारे पौत्र को) दिया घर। आहाहा! यह तो जाननेयोग्य बात है, बापू! क्या हो ? आहाहा! किसका घर ? आहाहा!

कहते हैं कि एक को भी अपना करे तो सर्व को करे। यहाँ शब्द है। आहाहा! सिद्धान्त! क्योंकि यह तो कर नहीं सकता परन्तु उसका अभिप्राय तो पूरी दुनिया को मानो कर दूँ, (ऐसा है)। आहाहा! यह गाथा में आयेगा, हों! यह तो उसकी सूचनिका है।

भावार्थ :- यह आत्मा मिथ्या अभिप्राय से भूला हुआ चतुर्गति-संसार में जितनी अवस्थाऐं हैं, जितने पदार्थ हैं... दो (बातें की)। जितनी अवस्थायें हैं और जितने पदार्थ हैं, **उन सर्वरूप अपने को हुआ मानता है;...** आहाहा! **अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं पहिचानता।** भगवान शुद्ध है, जानन-देखन—ज्ञाता-दृष्टा, उसकी कोई चीज़ नहीं, ऐसा यह नहीं जानता। आहाहा!

गाथा - २६८-२६९

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुए य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं।।२६८।।
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं।।२६९।।

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्नैरयिकान्।
देवमनुजान्श्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधम्।।२६८।।
धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकं च।
सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानम्।।२६९।।

यथायमेवं क्रियागर्भहिन्साध्यवसानेन हिन्सकं, इतराध्यवसानैरितरं च आत्मात्मानं कुर्यात्, तथा विपच्यमाननारकाध्यवसानेन नारकं, विपच्यमानतिर्यगध्यवसानेन तिर्यञ्चं, विपच्यमानमनुष्या-ध्यवसानेन मनुष्यं, विपच्यमानदेवाध्यवसानेन देवं, विपच्यमान-सुखादिपुण्याध्यवसानेन पुण्यं, विपच्यमानदु:खादिपापाध्यवसानेन पापमात्मानं कुर्यात्।

तथैव च ज्ञायमानधर्माध्यवसानेन धर्मं, ज्ञायमानाधर्माध्यवसानेनाधर्मं, ज्ञायमान-जीवान्तराध्य-वसानेन जीवान्तरं, ज्ञायमानपुद्गलाध्यवसानेन पुद्गलं, ज्ञायमानलोकाका-शाध्यवसानेन लोकाकाशं, ज्ञायमानालोकाकाशाध्यवसानेनालोकाकाशमात्मानं कुर्यात्।।२६८-२६९।।

अब इस अर्थ को स्पष्टतया गाथा में कहते हैं:-

तिर्यंच, नारक, देव, मानव, पुण्य, पाप अनेक जे।
उन सर्वरूप करै जु निज को, जीव अध्यवसान से।।२६८।।
अरु त्यों हि धर्म अधर्म, जीव अजीव, लोक अलोक जे।
उन सर्वरूप करै जु निज को, जीव अध्यवसान से।।२६९।।

गाथार्थ : [जीवः] जीव [अध्यवसानेन] अध्यवसान से [तिर्यङ्नैरयिकान्] तिर्यंच,

नारक, [देवमनुजान च] देव और मनुष्य [सर्वान्] इन सर्व पर्यायों, [च] तथा [नैकविधम्] अनेक प्रकार के [पुण्यं पापं] पुण्य और पाप- [सर्वान्] इन सबरूप [करोति] अपने को करता है। [तथा च] और उसी प्रकार [जीवः] जीव [अध्यवसानेन] अध्यवसान से [धर्माधर्मं] धर्म-अधर्म, [जीवाजीवौ] जीव-अजीव [च] और [अलोकलोकं] लोक-अलोक [सर्वान्] इन सबरूप [आत्मानम् करोति] अपने को करता है।

टीका : जैसे यह आत्मा पूर्वोक्त प्रकार *क्रिया जिसका गर्भ है, ऐसे हिंसा के अध्यवसान से अपने को हिंसक करता है, (अहिंसा के अध्यवसान से अपने को अहिंसक करता है) और अन्य अध्यवसानों से अपने को अन्य करता है, इसी प्रकार उदय में आते हुए नारक के अध्यवसान से अपने को नारकी करता है, उदय में आते हुए तिर्यंच के अध्यवसान से अपने को तिर्यंच करता है, उदय में आते हुए मनुष्य के अध्यवसान से अपने को मनुष्य करता है, उदय में आते हुवे देव के अध्यवसान से अपने को देव करता है, उदय में आते हुवे सुख आदि पुण्य के अध्यवसान से अपने को पुण्यरूप करता है और उदय में आते हुवे दुःख आदि पाप के अध्यवसान से अपने को पापरूप करता है; और इसी प्रकार जानने में आता हुआ जो धर्म (धर्मास्तिकाय) है उसके अध्यवसान से अपने को धर्मरूप करता है, जानने में आते हुवे अधर्म के (-अधर्मास्तिकाय के) अध्यवसान से अपने को अधर्मरूप करता है, जानने में आते हुवे अन्य जीव के अध्यवसानों से अपने को अन्य जीवरूप करता है, जानने में आते हुवे पुद्गल के अध्यवसानों से अपने को पुद्गलरूप करता है, जानने में आते हुवे लोकाकाश के अध्यवसान से अपने को लोकाकाशरूप करता है और जानने में आते हुवे अलोकाकाश के अध्यवसान से अपने को अलोकाकाशरूप करता है। (इस प्रकार आत्मा अध्यवसान से अपने को सर्वरूप करता है।)

भावार्थ : यह अध्यवसान अज्ञानरूप है, इसलिए उसे अपना परमार्थस्वरूप नहीं जानना चाहिए। उस अध्यवसान से ही आत्मा अपने को अनेक अवस्थारूप करता है अर्थात् उनमें अपनापन मानकर प्रवर्तता है।

---

* हिंसा आदि के अध्यवसान राग-द्वेष के उदयमय हनन आदि की क्रियाओं से परिपूर्ण हैं, अर्थात् उन क्रियाओं के साथ आत्मा की तन्मयता होने की मान्यतारूप है।

गाथा - २६८-२६९ पर प्रवचन

अब इस अर्थ को स्पष्टतया गाथा में कहते हैं:-

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुए य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं।।२६८।।

धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं।।२६९।।

तिर्यंच, नारक, देव, मानव, पुण्य, पाप अनेक जे।
उन सर्वरूप करै जु निज को, जीव अध्यवसान से।।२६८।।

अरु त्यों हि धर्म अधर्म, जीव अजीव, लोक अलोक जे।
उन सर्वरूप करै जु निज को, जीव अध्यवसान से।।२६९।।

आहाहा! **टीका :- जैसे यह आत्मा पूर्वोक्त प्रकार क्रिया जिसका गर्भ है... हिंसा आदि के अध्यवसान राग-द्वेष के उदयमय हनन आदि की क्रियाओं से परिपूर्ण हैं, अर्थात् उन क्रियाओं के साथ आत्मा की तन्मयता होने की मान्यतारूप है।** जो आत्मा **क्रिया जिसका गर्भ है...** यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ... आहाहा! ऐसे **हिंसा के अध्यवसान से अपने को हिंसक करता है,...** अपने को हिंसक करता है। मैं हिंसा का करनेवाला। आहाहा! पर की हिंसा कर नहीं सकता परन्तु हिंसा का करनेवाला (मानता है) अर्थात् हिंसक होता है। आहाहा! हिंस-क—हिंसा का करनेवाला। अभिप्राय से, हों! आहाहा! **अपने को हिंसक करता है,...** आहाहा! स्वयं ज्ञायकस्वरूप भगवान, वह दूसरे का कुछ नहीं करता, एक तिनके के दो टुकड़े भी नहीं करता, ऐसा जिसका स्वभाव है, उसे... आहाहा! मैं पर को मार सकता हूँ, ऐसे जीव को—स्वयं को हिंसक करता है। आहाहा!

(अहिंसा के अध्यवसान से अपने को अहिंसक करता है)... दया। पर की दया पाल सकता हूँ, ऐसा करके स्वयं को अहिंसक, राग (करता है)। अहिंसा सम्बन्धी का राग, उसे—राग की क्रियावाला आत्मा को करता है। आहाहा! **और अन्य अध्यवसानों**

से अपने को अन्य करता है,... दूसरे सब पदार्थ, अन्य अध्यवसाय से (अपने को) अन्य करता है। **इसी प्रकार उदय में आते हुए नारक के अध्यवसान से अपने को नारकी करता है,...** आहाहा! नारकी की गति मिली, वहाँ कहता है कि मैं नारकी हूँ। ऐसा अध्यवसाय (करता है)। आहाहा! वह तो ज्ञायक है। उसके बदले नारकी की गति मिलने से, मैं नारकी हूँ, (ऐसा मानता है)। आहाहा! **तिर्यंच के अध्यवसान से अपने को तिर्यंच करता है,...** आहाहा! पशु गाय, भैंस, घोड़ा। हम तिर्यंच हैं, हम तिर्यंच हैं। उसे तो खबर भी नहीं, परन्तु हम यह हैं, ऐसा। आहाहा! स्वयं ज्ञायक है, उसका भान नहीं, इसलिए यह हैं, ऐसा (मानता है)। भले फिर तिर्यंच हूँ, इसकी खबर न हो। यह है, वह मैं हूँ—(ऐसा मानता है)। आहाहा!

उदय में आते हुए मनुष्य के अध्यवसान से अपने को मनुष्य करता है,... मनुष्य शरीर नहीं, हों! मनुष्य की गति। अन्दर में नामकर्म के निमित्त से गति का उदय अपनी पर्याय में अपने में है। आहाहा! मनुष्यगति मेरी है, ऐसे अध्यवसान से अपने को मनुष्य करता है। मनुष्य है नहीं। आहाहा! इसी प्रकार **उदय में आते हुवे देव के अध्यवसान से अपने को देव करता है,...** आहाहा! देव का अध्यवसाय होता है कि यह मैं देव हूँ। आहाहा! प्रभु! तू तो ज्ञायक है न! तीन काल-तीन लोक का जाननेवाला तेरा ज्ञान है न! उसमें यह और तीन काल तथा तीन लोक मेरे हैं, ऐसे अध्यवसाय में तू कहाँ रह गया? आहाहा!

इसी प्रकार **उदय में आते हुवे सुख आदि पुण्य के अध्यवसान से अपने को पुण्यरूप करता है...** हम पुण्यशाली हैं। पुण्य के उदय में यह लक्ष्मी मिले, पैसा मिले, नौकर पच्चीस-पचास, सौ-दो सौ-पाँच सौ लोग हों, बड़ा मिल-प्रेस चले। आहाहा! ऐई! कारखाना चले। इस पुण्य के अध्यवसान से अपने को पुण्यरूप करता है। मैं पुण्यात्मा हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ। अरे! प्रभु! परन्तु तू ज्ञानस्वरूप है न! पुण्यात्मा कहाँ से आया? आहाहा! भाई ने—हुकमचन्दजी ने तो यह कहा है कि पैसा आदि मिलता है, वह पुण्य के कारण से, परन्तु वह चीज़ है, वह तो पाप है—परिग्रह है। चौबीस परिग्रह में से वह परिग्रह है। उस परिग्रहवाला मैं हूँ, ऐसा मानता है, वह पुण्यवाला मैं हूँ—ऐसा मानता है। आहाहा! हम

पुण्यशाली हैं, विचारा हुआ होता है। क्या कहलाता है तुम्हारे ? .... पासा... पासा। चौपड़ में पासा पड़ते हैं न ? हमारे सब पासा ठीक पड़ते हैं। धूल में भी नहीं, सुन न! आहाहा! हम सब विचारे अनुसार काम करते हैं। अरे! प्रभु! तू क्या करता है यह ? ऐसे स्वयं पर का कर्ता होकर वैसा हूँ, ऐसा मानता है। वैसा होता नहीं, परन्तु मानता है। आहाहा! **सुख आदि पुण्य के अध्यवसान से अपने को पुण्यरूप करता है...**

और उदय में आते हुवे दुःख आदि पाप के... असाता के उदय और प्रतिकूल संयोग। अरेरे! हम पापी हैं, ऐसा मानता है। परन्तु उन प्रतिकूल संयोग में तू पापी कहाँ से हो गया ? तू तो ज्ञायक है। हम पापी है, बापू! आहाहा! हमें तो पाप के उदय (चलते हैं)। आहाहा!

और इसी प्रकार जानने में आता हुआ जो धर्म (धर्मास्तिकाय) है उसके अध्यवसान से अपने को धर्मरूप करता है... यह क्या कहा ? धर्मास्तिकाय तो अरूपी है। वह कहीं धर्मास्ति मैं हूँ, ऐसा तो मान नहीं सकता परन्तु उस धर्मास्तिकाय का जो विकल्प उठा है, यह धर्मास्तिकाय है—ऐसा जो विकल्प उठा है, उसे उपचार से धर्मास्तिकाय कहा गया है। संस्कृत में—जयसेनाचार्यदेव की टीका में है। आहाहा! समझ में आया ? आहा! धर्मास्तिकाय जो तत्त्व है, उसका विकल्प करे, तब उस विकल्प में एकाकार हो जाता है। उस धर्मास्तिकाय को अपना करता है, ऐसा कहते हैं। धर्मास्तिकाय तो अरूपी है, परन्तु उस प्रकार का विकल्प उठा (उसमें एकाकार होता है)। आहाहा! यह तो जैनदर्शन की बात है। धर्मास्तिकाय तो अन्यत्र है नहीं। आहाहा! जैनदर्शन में भी आकर धर्मास्तिकाय के तत्त्व का विचार करने से जो विकल्प आवे, उस विकल्प को अपना मानता है, वह धर्मास्तिकाय को अपना मानता है। आहाहा! समझ में आया ? धर्म अर्थात् धर्मास्तिकाय है, हों!

जानने में आते हुवे अधर्म के... ऐसे अधर्मास्तिकाय। धर्मास्तिकाय चौदह ब्रह्माण्ड में एक द्रव्य है कि जो जड़ (पुद्गल) और चैतन्य गति करते हैं, उसमें निमित्तरूप होता है। तथा चौदह ब्रह्माण्ड में एक अधर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य है कि जो जड़ और चैतन्य गति करते हुए स्थिर होते हैं, उसमें निमित्त है। परन्तु उस अधर्मास्तिकाय का विचार

करते हुए जो विकल्प आया, उस विकल्प को अपना करता है, वह अधर्मास्तिकाय को अपना करता है। अब ऐसा धर्म-अधर्म तो कभी (सुना न हो)। आहाहा! यह तो जैनदर्शन में आये हुए, जन्मने हुए ने सुना है कि धर्मास्ति, अधर्मास्ति (द्रव्य है)। आहाहा! अन्यमत में तो कहीं है नहीं। जैन में—सम्प्रदाय में जन्मे, उन्होंने सुना है, कि छह द्रव्यों में धर्मास्ति, अधर्मास्ति द्रव्य है तो वह अपने को भूलकर ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा भूलकर उस धर्म-अधर्म का विकल्प करता है, उसे अपना मानता है, वह धर्म-अधर्म को अपना मानता है। आहाहा! लो, यह तो जैनधर्म की जो स्थिति, (उसकी बात है)। धर्म और अधर्म जैन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। वीतराग के अतिरिक्त छह द्रव्य की (बात कहीं नहीं है)। अभी किसी ने आकाश, काल को माना है, परन्तु धर्म, अधर्म तो सर्वज्ञ परमात्मा ने देखे हैं। आहाहा! उसमें जन्मकर भी सुना है कि जगत में छह द्रव्य हैं। तो उसका विचार करते हुए धर्मास्ति के विकल्प में एकाकार हो जाता है। आहाहा! वह धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का विचार करते हुए उसमें एकाकार हो जाता है, वह अधर्मास्तिकाय को अपना मानता है। है?

जानने में आते हुवे अन्य जीव के अध्यवसानों से... यह निगोद के जीव हैं, तीर्थंकर का जीव है, पंच परमेष्ठी का जीव है। है? **जानने में आते हुवे अन्य जीव के अध्यवसानों से...** उसमें विकल्प उठे, उसे अपना मानता है। वे मेरे हैं, मेरे हैं। आहाहा! 'डण्डा मारने से पानी अलग नहीं पड़ता।' उसी प्रकार सब मेरे हैं, सब भाई मेरे हैं। पानी में डण्डा डाले तो पानी वापस इकट्ठा हो जाता है। ऐसे भले भिन्न, परन्तु हम एक ही हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! हम छह भाई हैं, आठ भाई हैं, सब एक हैं। धूल भी नहीं। आहाहा!

अन्य जीव के अध्यवसानों से... यहाँ तो परमात्मा भी ऐसा कहते हैं कि हम जो देव हैं, वे तेरे हिसाब से अन्य जीव हैं। उसे भी तू विकल्प उठाकर (मानता है कि) वे जीव मेरे हैं.. आहाहा! ऐसा अध्यवसाय, मिथ्यात्व अध्यवसाय है, कहते हैं। कठिन काम है। भाई! आहाहा! पंच परमेष्ठी अन्य जीव है, उन्हें, अपने ज्ञातारूप को भूलकर, वे मेरे हैं—ऐसा अध्यवसाय करता है, वह मिथ्यादृष्टि पर को अपना कर्ता मानता है। पर उसके होते नहीं हैं, मानता है। आहाहा!

जानने में आते हुवे पुद्गल के अध्यवसानों से... यह शरीर, यह तो जानने में आता हुआ है। जानने में आता हुआ शरीर, वह मेरा है। मेरा शरीर है। मैं कद से पतला हूँ, मैं कद से मोटा हूँ, रंग से रूपवान हूँ, रंग से काला हूँ। ऐसा सब पथारा (विस्तार) है। आहाहा! **जानने में आते हुवे...** 'जानने में आता हुआ' प्रत्येक में पहला शब्द रखा है। वास्तव में तो जानने में आता हुआ है। आहाहा! वह तो ज्ञान का स्वभाव है कि जाने। परन्तु जानने में आता हुआ मैं ज्ञायक हूँ, यह दृष्टि नहीं है। आहाहा! यह शरीर मैं हूँ, अन्य जीव में पुत्र-पुत्री आ गये, हों! यह पुत्र—सुमन, मेरा पुत्र है, यह अध्यवसाय मिथ्या है—ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : यह तो बराबर है। किसका है?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका है। किसका है? चिमनभाई! इन्होंने एक लड़के का विवाह किया है और एक अभी कुँआरा है। आहाहा! उसका विवाह करे, तब वापस वह पैर लगे। बापू! पैर लगता हूँ। तुमने मुझे कुएँ में डाला। आहाहा!

मुमुक्षु : एक बार आप देख गये इसलिए....

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत बार देखा है। खुशाल को .... देखा है। दूसरा किसी का विवाह होगा। कहीं भी सब सुना होता है न! सुना हो विस्तार से, उसे खबर न हो, इसलिए सामने विस्तार किया हो। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, जानने में आते हुए जीव पर हैं। आहाहा! पुत्र, पुत्रियाँ पर हैं, दामाद पर हैं। यह मेरे दामाद हैं। हैं?

मुमुक्षु : लड़की को पर कहो तब तक दिक्कत नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़के की दिक्कत आवे। परन्तु लड़का भी किसका है? लड़का आत्मा तो पर है। आहाहा! कहो, चिमनभाई! यह मेरा पुत्र है, ऐसा कहे।

मुमुक्षु : गौतम को तो भगवान का पुत्र कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह किस प्रकार से?

विवाह के बाद उसकी माँ को पैर लगता है। बहू भी आकर पैर लगती है। अच्छा

किया, हमें कुएँ में डाला। उस भाई ने कहा था न? हुकमचन्द नहीं? भाई! यह विवाह है वह दुर्घटना है। भगवान ने विवाह नहीं किया था, क्योंकि दुर्घटना नहीं की। महावीर। हुकमचन्दजी ने यह लिखा है। आहाहा! स्त्री की अर्थात् दुर्घटना ओढ़ी। अरे! अब अनेक प्रकार की दुर्घटना करेगा। आहाहा! प्रियता करेगा, भोग करेगा, ऐसे प्रसन्न करेगा, प्रसन्न करेगा, प्रसन्न होगा, प्रसन्न करेगा और प्रसन्न होगा। दुर्घटना ओढ़ी है। आहाहा! पाप करके पैसा इकट्ठा किया, पाँच सौ की साड़ी लाया हो, (आकर कहे), लो! यह तुम्हारे लिये। आहाहा! पाँच-पाँच हजार की साड़ियाँ होती हैं, पाँच-पाँच हजार की साड़ियाँ होती हैं न? पल्लू में होता है न? पल्लू में सोने के तार (होते हैं)। सब खबर है। पाँच-पाँच हजार, दस-दस हजार की साड़ियाँ होती हैं, एक-एक, हों! एक लाख, दो लाख के बड़े। सोने के पल्लू हों। आहाहा! ऐसे दे, इसलिए वह प्रसन्न हो जाए। ऐसा प्रसन्न हो... आहाहा! बेटा! यह तुझे देते हैं, हों! क्या होगा यह? चिमनभाई! आहाहा! गजब बात है! आहाहा! 'बन्ध अधिकार' में आचार्य ने गजब काम किया है!

अबन्धस्वरूप प्रभु... आहाहा! ऐसा भगवान परद्रव्य को अपना करके अध्यवसाय से खड़ा रहे, प्रभु! (वह) संसार भटकने का है। आहाहा! चक्रवर्ती समकिती (को) छियानवें हजार स्त्रियाँ (होती हैं) परन्तु अन्तर में 'यह स्त्री मेरी है' ऐसा नहीं मानता। अरेरे! आहाहा!

मुमुक्षु : अन्तर में नहीं मानता परन्तु बाहर से कहता है...

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर से भाषा कहे। यह कहा नहीं था? श्रीमद् का। श्रीमद् तो कोई कहे कि यह कोट लाओ तो 'अमारो कोट लावो।' ऐसा कहे। अ-मारो अर्थात् मेरा नहीं। ऐसा। अमारी स्त्री, अमारी पुत्री, अमारा मकान। अ-मारूँ, अ-मारूँ, ऐसा। अमारूँ अर्थात् मेरे नहीं।

मुमुक्षु : अमारा कहें तो दिक्कत नहीं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अन्दर से अभिप्राय न हो। आहाहा! ऐसी भाषा श्रीमद बोलते थे। श्रीमद् को तो लाखों का जवाहरात का धन्धा था परन्तु अत्यन्त निर्लेप, ज्ञाता-दृष्टा। समझ में आया यह? इसमें कुछ अन्तर नहीं। वैमानिक स्वर्ग में गये हैं। एक भव में

मोक्ष जाएँगे। केवल (ज्ञान) लेकर मोक्ष में जाएँगे। एक भव है, बस! 'इससे देह एक धारकर, अशेष कर्म का भोग है', बाकी कुछ देर लगती है। खसता नहीं। आहाहा! 'अशेष कर्म का भोग है'। कर्म अर्थात् राग, हों! 'भोगना अवशेष रे, इससे देह एक धारकर जाऊँगा स्वरूप स्वदेश' अक्षर-अक्षर सत्य है। आहाहा! समझ में आया? आत्मा का ही भनकार अन्दर से आवे। आहाहा! हम अब संसार का अन्त करनेवाले हैं। अब हमारे संसार नहीं है। आहाहा! 'सादि अनन्त-अनन्त समाधि सुख में' उसमें वहाँ हम रहनेवाले हैं। आहाहा! 'सादि अनन्त-अनन्त समाधि सुख में, अनन्त दर्शन, ज्ञान अनन्त सहित जो, अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा? अपूर्व अवसर अल्प काल में आयेगा।' आहाहा! आहाहा! अन्दर की पुकार है।

भाई! तू कौन है? ज्ञायक है न, नाथ! तीन काल-तीन लोक को एक समय की पर्याय में जानने की ताकतवाला है। किसी की क्रिया करनेवाला नहीं परन्तु एक समय में तीन काल का जाननेवाला अवश्य। यहाँ कहते हैं कि तीन काल का जाननेवाला, उन तीन काल के द्रव्यों को अपना माननेवाला अध्यवसाय खड़ा करता है। आहाहा! **अन्य जीव के अध्यवसानों से अपने को अन्य जीवरूप करता है,...** आहाहा! एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अत्यन्त अभाव है। आहाहा! तीसरी गाथा तो ऐसा कहती है, प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायरूपी धर्म अर्थात् धार रखे हैं, उन्हें चूमता है। अन्य द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, चूमता नहीं। आहाहा! प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्यायरूपी धर्म अर्थात् धार रखे हुए भाव को वह चूमता है, छूता है, स्पर्श करता है परन्तु अपने अतिरिक्त के अन्य पदार्थ की कोई पर्याय, गुण या द्रव्य को वह स्पर्शता और छूता नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं, भाई! आहाहा! इसके बदले सब द्रव्यों में जहाँ-जहाँ जानने में आने पर... जानने में आने पर, ऐसा कहकर (शब्द) रखा है। जहाँ जानने में आया, वहाँ मानता है कि यह मेरे हैं। आहाहा! शैली तो देखो! यह जीव का लिया।

जानने में आते हुवे पुद्गल... शरीर, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत-कीर्ति, धूल-धमाका... आहाहा! यह दस-दस हजार की साड़ियाँ और दस-दस हजार के सोने के गहने, एक-एक को हीरा के (गहने)। वह हीरा आता है न? अस्सी हजार का हीरा एक बार बेचरभाई लाये थे। राजकोट में चातुर्मास था न? बताने को लाये थे। अस्सी हजार

का एक हीरा। अरे! प्रभु! क्या है यह? हम हीरा से शोभते हैं, हमारा मुख शोभता है। परन्तु मुख तेरा नहीं तो शोभता है कहाँ से आया? हीरा इसका नहीं, मुँह इसका नहीं। आहाहा! अरर! सवेरे में नहावे और दर्पण छोटा होवे, उसमें ऐसे-ऐसे करे। बड़ा होवे तो पूरा दिखाई दे। छोटा होवे तो ऐसे-ऐसे करे। मैंने तो देखा हुआ है। आहाहा! अरे! प्रभु! जानने में आती हुई चीज़ को तू अपनी माने। यह तुझे क्या हुआ? ऐसा यहाँ कहते हैं। वह तो जानने में आती है। आहाहा! कठिन बात, बापू! वीतराग मार्ग जिनेश्वर तीन लोक के नाथ... आहाहा!

एक-एक द्रव्य की भिन्नता और उस-उस द्रव्य की उस-उस समय की पर्याय, वह भी दूसरी पर्याय से भिन्नता। आहाहा! उसी की दूसरी पर्याय से भिन्न। आहाहा! तो भी कहते हैं, अज्ञानी जानने में आती हुई चीज़ को (अपनी करता है)। यह शरीर जानने में आया तो शरीर मेरा, मन जानने में आया तो मन मेरा, वाणी जानने में आयी तो वाणी मेरी। आहाहा! पुस्तक जानने में आयी तो कहे, पुस्तक मेरी। कलम जानने में आयी तो कलम मेरी, यह अक्षर लिखे, ये मैंने लिखे, ये मेरे लिखे हुए हैं। अररर! हैं?

मुमुक्षु : सर्वत्र भूलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वत्र भूलता है। आहाहा! भाषा कैसी की है! पहले उदय में आते हुए, ऐसा था। भाई! पहले हिंसा के अध्यवसाय से हिंसा करता है, ऐसा कहा। है? पश्चात् उदय में आते हुए, ऐसा कहा था; पश्चात् जानने में आते हुए, ऐसा कहा। आहाहा! देखो! अन्तर है। समझ में आया? आहाहा! यहाँ धर्मास्ति में से जानने में आते हुए, ऐसा किया। दुःख आदि के अध्यवसान से अपने उदय में आते हुए, यहाँ तक था। यहाँ से जानने में आते हुए, कहा है। आहाहा!

जानने में आता हुआ धर्मास्तिकाय, जानने में आता हुआ अधर्मास्तिकाय.. आहाहा! जानने में आते हुए अन्य जीव। आहाहा! छोटा लड़का-बालक रूपवान हो... आहाहा! उसकी माँ ऐसे छाती से रखती है, बेटा! आहाहा! क्या है परन्तु यह तुझे? जानने में आती हुई उस चीज़ को अध्यवसाय से तू अपनी करता है। प्रभु! तू तुझे भूल गया। हैं? मैं तो तीन काल-तीन लोक का जाननेवाला, जगत के पदार्थों को भिन्न रहकर जाननेवाला हूँ। तन्मय

होकर जाननेवाला नहीं। उसके बदले तन्मय हुई एकत्वबुद्धि में यह मेरा है, (ऐसा मानता है)। आहाहा! वीतराग के अतिरिक्त यह बात अन्यत्र कहाँ होगी? अरेरे! आहाहा! परमेश्वर सर्वज्ञदेव..! यह लड़की को विदा करे और क्या कहलाता है? दहेज दे। लाख रुपये का दहेज (दे)। मारवाड़ी में बहुत दे। अपने तो यहाँ दस हजार, पच्चीस हजार दे। पैसेवाले को लाख-लाख का देना पड़े।... बिछाकर ऐसे (दिखावे)। यह सब लड़की को देते हैं। वहाँ सुखी रहेगी। उसे किसी की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। आहाहा!

अभी नहीं कहा था? लड़की का विवाह करते हुए तीस हजार रुपये खर्च किये थे। अभी बात आयी थी। हैं? किसकी? वढवाण। चुडगर.. चुडगर! चुडगर ने तीस हजार रुपये खर्च करके लड़की का विवाह किया, लड़का नहीं था। और वह लड़की मर गयी। आहाहा! अन्दर से कुछ रोग हुआ। आहाहा! तीस-तीस हजार रुपये अभी के काल में। एक-एक लड़की के तीस-चालीस हजार खर्च किये। लड़का नहीं था और पैसे थे तो (खर्च किये)। चुडगर। आया था। आहाहा! अब वह लड़की मरे तो कितना (हो)। आहाहा! अरे! मेरी इकलौती लड़की। इकलौती लड़की मेरी, ऐसा कहे। किसकी लड़की, किसका लड़का? भाई! आहाहा!

जानने में आते हुए। भाषा बदली कहाँ से? धर्मास्ति में से भाषा बदली। आहाहा! वहाँ तक उदय में आते हुए, उदय में आता हुए—ऐसा कहा था। यह जानने में आते हुए—(ऐसा कहते हैं)। आहाहा! सन्तों ने तो गजब काम किया है! दिगम्बर सन्त जगत की करुणा करके यह वस्तु बताते हैं, ज्ञान कराते हैं। आहाहा! भाई! तू कौन? और किसी चीज़ को प्रभु! तू मेरी माने बिना रहा है? और कौन-सी चीज़ तेरी होती है? आहाहा!

जानने में आते हुवे पुद्गल के अध्यवसानों... यह मकान पाँच-पच्चीस लाख का बनाया हो... आहाहा! और ऐसा फर्नीचर (हो), ऐसे नीचे मखमल के गद्दे बिछाये हों, गलीचा (हो), सिर पर पंखा (घूमता हो), हवा और... आहाहा! कहते हैं कि वह जानने में आती हुई उस चीज़ को मेरी मानकर बैठा। प्रभु! ऐई! आहाहा! तू कौन? वह कौन? प्रभु! वह द्रव्य तो जगत की चीज़ है। हैं? तू भी जगत की एक भिन्न चीज़ है। आहाहा! यह शरीर ऐसा सुन्दर, इसमें से मुझे सुख मिलेगा। आहाहा! प्रभु! यह तुझे क्या हुआ? सुख तो

प्रभु! तुझमें है न! तुझे यह भोग में सुख मिलेगा, पैसे से सुख मिलेगा, इज्जत से सुखी होगा— यह अध्यवसाय, प्रभु! एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है। आहाहा!

जानने में आते हुवे पुद्गल के अध्यवसानों से... पुद्गल का अध्यवसाय स्वयं करता है, ऐसा। इतना। **अपने को पुद्गलरूप करता है,...** अर्थात् मानता है। पुद्गलरूप करता है, इसका अर्थ—पुद्गल इसके होते हैं, ऐसा नहीं। मान्यता में पुद्गल मैं हूँ, ऐसा मानता है। यह मेरे हैं, मेरे हैं। आहाहा! और पाँच-पच्चीस लाख का मकान हो, उसका वास्तु करना हो, सम्हालनेवाले कार्यकर्ताओं को बुलावे। हो... हा... हो... हा... धमाल चले। हैं?

मुमुक्षु : ल्हावो लेने का।

पूज्य गुरुदेवश्री : ल्हावो लेने का अवसर होगा। आहाहा! कहा था न? जूनागढ़ में एक ने वास्तु लिया, वास्तु। दीवान जैसे आये थे। जूनागढ़ के दीवान। वास्तु लिया, वहाँ हार्टफेल! नाम भूल गये। खीमचंदभाई फोटोग्राफी। एकदम हार्टफेल! ऐसे सब बड़े-बड़े को बुलाया था। मकान बताने को (बुलाया था)। सोये वहाँ... हम तब राजकोट थे। नदी के किनारे, 'मूड़ीवाला' के मकान में। मूड़ीवाला का मकान है न बाहर? वहाँ थे। वहाँ यह अर्थी निकली। उसके ऊपर ऐसा चमचमाता हुआ साटन का वस्त्र और अपने स्थानकवासी भाई। (संवत्) १९८९ का चातुर्मास था न? १९८९ का चातुर्मास के बाद की बात है। कहा, यह कौन है? इतने अधिक लोग! वहाँ तो हमारे पास आये। गुलाबचन्द पारेख और... (दूसरे आये)। वे कहें, यह अमुक था, वह मर गया है। अर्थी और अपने सब बड़े-बड़े स्थानकवासी, बड़ा लश्कर! आहाहा! अरेरे! कौन तेरा? कौन किसका? तू किसका? कौन तेरा? आहाहा!

जानने में आते हुवे लोकाकाश के अध्यवसान से... अब आकाश लिया। जानने में-ख्याल में आता हुआ। यह आकाश का अध्यवसाय कहा। यह उसे कहाँ दिखता है? परन्तु विकल्प किया कि यह आकाश है। उस विकल्प में एकाकार (होता) है। **जानने में आते हुवे लोकाकाश के अध्यवसान से अपने को लोकाकाशरूप करता है...** आहाहा! **और जानने में आते हुवे अलोकाकाश के अध्यवसान से...** कहो!

लोक और अलोक जैनदर्शन में है। हैं? आहाहा! जैन के वाड़ा में आकर भी... अलोकाकाश ऐसा है, अलोकाकाश ऐसा है, ऐसा करके वह जो अध्यवसाय-विकल्प उठता है, उसे अपना करता है। वह अलोकाकाश को अपना करता है। आहाहा! ऐसा उपदेश, ऐसी बातें! वीतराग की (बात) बहुत सूक्ष्म, भाई! आहाहा!

'रजकण या रिद्धि वैमानिक देव की, सबको माना पुद्गल एक स्वभाव जो' श्रीमद् में आता है न? 'रजकण या रिद्धि वैमानिक देव की, सबको माना पुद्गल एक स्वभाव जो, अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा?' आहाहा! 'कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो' आहाहा! श्रीमद् गृहस्थाश्रम में (ऐसा कहते हैं)। 'कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो।' अकेला बाह्य नग्न नहीं। उसमें नग्न भाव आता है न? 'नग्नभाव मूंडभाव सह अस्नानता' यह बाह्य मुनिपना वहाँ कहा है। आहाहा! 'कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो।' आहाहा! 'सर्वभाव से उदासीन वृत्ति करी।' आहाहा! 'मात्र देह वह संयम हेतु होय जो, अन्य कारणे अन्य कछु कल्पे नहीं।' आहाहा! 'देह में भी किंचित् मूर्च्छा नव होय जब।' आहाहा! देखो! गृहस्थाश्रम में भी (ऐसी भावना भाते हैं)। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, वह **अपने को अलोकाकाशरूप करता है। (इस प्रकार आत्मा अध्यवसान से अपने को सर्वरूप...)** पाठ है न? पाठ में है न? **'सव्वे करेदि जीवो'**। २६८। **'सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।'** आहाहा! मूल पाठ। वास्तव में तो सर्व को जाननेवाला स्वयं भगवान है, उसके बदले सर्व को अपना करता है। आहाहा!

भावार्थ – यह अध्यवसान अज्ञानरूप है... दूसरे को अपना मानना, वह अज्ञान है। आहाहा! शरीर का कुछ कर सकूँ, इसका अर्थ ही यह है कि शरीर को अपना माना। आहाहा! ग्रास ले सकता हूँ और दाढ़ से चबा सकता हूँ... आहाहा! यह जानने में आते हुए पुद्गलों को अपना माना। आहाहा! समझ में आया? मैसूरपाक हो और उसका रस लेना हो, अरबी के पत्ते के घी में तले हुए भुजिया हो... आहाहा! देखो! खाने बैठा तो मानो... बादशाही में आ गया। ऐसे तृप्त... तृप्त...! अध्यवसाय, मिथ्या अध्यास है, प्रभु! आहाहा! ये सब पुद्गल हैं, वे जानने में आते हैं, तथापि उन जानने में आते हुए पुद्गलों को अपना मानता है। इस अध्यवसान से किसी को बाकी रखा नहीं तूने, प्रभु! तू किसी को बाकी रखे

बिना जाननेवाला, किसी को बाकी रखे बिना जाननेवाला। बाकी रखे बिना का तूने अध्यवसान से सबको (अपने) किये हैं। आहाहा! बात को गुलांट मारी है। आहाहा! आचार्य का **'सव्वे करेदि'** शब्द है, गजब है!

तू सर्व को जाननेवाला, प्रभु! तू ज्ञान और वे ज्ञेय। ऐसा सम्बन्ध भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! उसके बदले पर मेरे और मैं उनका (ऐसा मानता है)। मेरा कण्ठ अच्छा और मेरी जीभ अच्छी, मेरा सिर अच्छा, मेरे पैर अच्छे, मेरे शरीर का कद अच्छा। अरे! प्रभु! क्या करता है तू यह? आहाहा! जानने में आते हुए उन पुद्गलों को तूने उस क्षण में अध्यवसाय से मेरे हैं, ऐसा मानता है, प्रभु! यह बड़ा संसार का कारण है। आहाहा! बन्ध अधिकार। है?

यह अध्यवसान अज्ञानरूप है इसलिए उसे अपना परमार्थस्वरूप नहीं जानना चाहिए। एकत्वबुद्धि तो अज्ञान है। आहाहा! **उस अध्यवसान से ही आत्मा अपने को अनेक अवस्थारूप करता है...** मानता है। अवस्थारूप करता है अर्थात् मानता है। आहाहा! **अर्थात् उनमें अपनापन मानकर प्रवर्तता है।** ऐसा अर्थ किया न? अनेक अवस्थायें करता है अर्थात्? उन्हें अपनेरूप मानकर प्रवर्तता है। यह विशेष कलश कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १७२

अब इस अर्थ का कलशरूप तथा आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं:-

(इन्द्रवज्रा)

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैक-कन्दोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव।।१७२।।

श्लोकार्थ : [विश्वात् विभक्तः अपि हि] विश्व से (समस्म द्रव्यों से) भिन्न होने पर भी [आत्मा] आत्मा [यत्-प्रभावात् आत्मानम् विश्वम् विदधाति] जिसके प्रभाव से

अपने को विश्वरूप करता है [एषः अध्यवसायः] ऐसा यह अध्यवसाय-[मोह-एक-कन्दः] कि जिसका मोह ही एक मूल है, वह [येषां इह नास्ति] जिनके नहीं है, [ते एव यतयः] वे ही मुनि हैं।।१७२।।

प्रवचन नं. ३२९, कलश - १७२, गाथा- २७० गुरुवार, आसोज शुक्ल १४
दिनाङ्क - ०४-१०-१९७९

(१७२ श्लोक) **'विश्वात् विभक्तः'** यह आत्मा **विश्व से (समस्म द्रव्यों से) भिन्न होने पर भी...** अन्दर आत्मा जो है, वह सर्व परद्रव्यों से भिन्न है। द्रव्य है न? वस्तु है न? तत्त्व है न? अपना वह तत्त्व अनन्त परद्रव्यों से भिन्न है, ऐसा होने पर भी **'आत्मा यत्-प्रभावात् आत्मानम् विश्वम् विदधाति' जिसके प्रभाव से...** (अर्थात्) मिथ्यात्व के प्रभाव से। मिथ्या मोह। आहाहा! जो संसार का मूलकारण मिथ्यात्वरूपी मोह। उसके प्रभाव से **अपने को विश्वरूप करता है...** प्रत्येक चीज़ मेरी है और मैं उसका कर्ता हूँ, ऐसा मान्यता में अपने को विश्वरूप करता है। विश्वरूप होता नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई!

भगवान आत्मा! विश्व अर्थात् समस्त पदार्थ। कर्म, शरीर, वाणी, मन, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, इज्जत, कुटुम्ब, नारकी, देव आदि इन सब चीज़ों से अन्दर भगवान आत्मा तो भिन्न है। परन्तु भिन्न आत्मा को अपना नहीं मानकर, जिसके प्रभाव से, मोह—मिथ्यात्व का अनादि प्रभाव। मोह का प्रभाव। आहाहा! **अपने को विश्वरूप करता है...** जहाँ-तहाँ मैं नारकी हूँ, मैं राग हूँ, मैं पुण्य हूँ, मैं पर को जिलाता हूँ, पर को मारता हूँ, मैं पर की रक्षा करता हूँ—ऐसा अभिप्राय—मिथ्यात्व (करता है)। पर की क्रिया अपने से होती है, ऐसा मानकर अपने को, एकरूप है, उसे विश्वरूप मानता है। आहाहा! है? वह अध्यवसाय एकत्वबुद्धि है। अपना आत्मा पर से भिन्न होने पर भी मिथ्यात्व के प्रभाव से समस्त पदार्थों के साथ एकत्व करता है। भिन्न है, उनके साथ एकत्व करता है। आहाहा!

भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव का यह वचन-दिव्यध्वनि है। आहा! प्रभु! तू भिन्न है न! समस्त पदार्थों से, पुण्य-पाप, परजीव, परधर्म आदि, नारकी, देवगति आदि।

आहाहा! अरे! धर्मास्ति आदि छह द्रव्य हैं, (उनसे भिन्न है)। आहाहा! पर से तो तू भिन्न है, ऐसा होने पर भी अपने को, मिथ्यात्व के प्रभाव से पर को अपना करता है अथवा पर को मैं करता हूँ, जिलाता हूँ, स्त्री-परिवार मेरे हैं, मैं उनका निभाता हूँ—ऐसे मिथ्यात्व के प्रभाव से पर को अपना मानता है। आहाहा!

ऐसा यह अध्यवसाय... 'मोह-एक-कन्दः' जिसका मोह ही एक मूल है... मिथ्यात्व एक जिसका मूल है। आहाहा! अनादि काल से उस मिथ्यात्व का सेवन करता आया है। आहाहा! शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ। वह तो परद्रव्य है। शरीर मेरा है, वाणी मेरी है, कर्म मेरे हैं। आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, देश... देश मेरा है। वह विभक्त—भिन्न होने पर भी मोह के-मिथ्यात्व के प्रभाव के कारण पर को अपना मानता है। पर को अपनेरूप करता है अर्थात् मानता है। आहाहा! कठिन काम। इस अध्यवसाय का मूल—एकत्वबुद्धि का मूल (मोह है)। है पर से भिन्न—ऐसा होने पर भी अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि—पर की एकत्वबुद्धि, मैं पर को जिलाता हूँ, मारता हूँ, सुखी करता हूँ, दुःखी करता हूँ, पर को बाँधता हूँ, मोक्ष कराता हूँ—ऐसी एकत्वबुद्धि / अध्यवसाय का मूल मिथ्यात्व / मोह है। आहाहा! कठिन काम।

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो' मुनि भी अनन्त बार हुआ परन्तु पर की एकत्वबुद्धि का नाश नहीं किया। अध्यवसाय—मैं पर को सुखी करता हूँ, मैं पर को उपदेश देकर मोक्ष कराता हूँ, (इसका नाश नहीं किया)। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! जिनेश्वर परमेश्वर त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि में यह आया। तू विश्व से विभक्त अर्थात् भिन्न है न, प्रभु! तेरी चीज़ ही जगत से भिन्न है। जगत से भिन्न है, वह जगत के साथ एकत्व करता है। आहाहा! मेरा परिवार, मैं नारकी और मैं देव, मैं पशु, मैं ढ़ोर और मनुष्य... आहाहा! इस प्रकार स्वयं पर से भिन्न होने पर भी, पर के साथ अध्यवसाय और एकत्व करता है, वह अध्यवसाय-एकत्वबुद्धि का मूल मिथ्यात्व है। आहाहा! अब पूरे जगत में इकट्ठा रहना और कहे, मैं उसका कर्ता नहीं। धन्धा में रहे, धन्धा की क्रिया मैं करता हूँ? कि नहीं। आहाहा! स्त्री के साथ रहना और मानना कि स्त्री मेरी नहीं। तेरी चीज़ तो स्त्री से भिन्न है। ऐसा नहीं मानकर, वह स्त्री मेरी है—ऐसा अध्यवसाय / एकत्वबुद्धि, उसका

मूल मिथ्यात्व है कि जो मिथ्यात्व अनन्त संसार परिभ्रमण का कारण है। आहाहा! कठिन बात, भाई! जिनेश्वर परमेश्वर वीतराग का मार्ग कोई अलग है। अभी तो सब गड़बड़ हो गयी, गड़बड़। आहाहा! पर की सेवा करते हैं, देशसेवा करते हैं, सेवा मण्डल स्थापित करें, उसके अधिपति हों। यहाँ कहते हैं, किसकी सेवा करें? प्रभु! वह भिन्न चीज़ है, उसकी तू सेवा कर सकता है? सूक्ष्म बात।

मुमुक्षु : घरवाले के पैर दर्द करें तो दबाना या नहीं दबाना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन दबाये? सुमनभाई आकर इनके दबावे। पैर तो जड़ है। आत्मा पैर से भिन्न है। पैर में दर्द हो तो मुझे होता है, (यह) एकत्वबुद्धि—अध्यवसाय है, मिथ्यात्व है। आहाहा! सूक्ष्म है, भाई! आहाहा! सूक्ष्म बात। पैर, यह पैर तो मिट्टी-धूल है, पुद्गल है, वह तो मिट्टी अजीव है। वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ, उस पर से-शरीर से विभक्त/भिन्न होने पर भी, शरीर को अपना मानने का अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि का मूल तो मिथ्यात्व है। आहाहा! वह मिथ्यात्व चार गति में भटकने का कारण है। ऐसी बात है, भाई! ऐसा है, सूक्ष्म बहुत।

यहाँ तो दो बातें (है)। एक ओर विश्व—समस्त चीज़ और एक ओर प्रभु तू। इस विश्व से तो प्रभु! तेरी चीज़ भिन्न है। स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी, मकान इन सब चीज़ों से तेरी चीज़ तो भिन्न है। भिन्न को भिन्न नहीं मानकर, वह पर चीज़ है, वह मेरी है, मेरा मकान है, मेरी स्त्री है, मेरी इज्जत है, मेरे पैसे हैं, आहाहा! मेरा कुटुम्ब है, यह मेरा दामाद है, मेरा पुत्र है... प्रभु! तू यह क्या करता है? प्रभु! तू अध्यवसाय, मिथ्यात्व का अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि करता है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! यहाँ तो पर की दया पालन कर सकता हूँ, ऐसा अध्यवसाय भी एकत्वबुद्धि—मिथ्यात्व है। आहाहा! क्योंकि पर है, उसे तू क्या कर सकता है? आहाहा! समझ में आया?

जिसका मोह ही एक मूल है... आहाहा! **'येषां इह नास्ति' जिनके नहीं है...** यह अध्यवसाय जिनके नहीं है। आहाहा! **वे ही मुनि हैं।** आहा! वे समकिती हैं, वे मुनि हैं। आहाहा! यहाँ तो मुनि से विशेष बात ली है। बाकी पर की एकत्वबुद्धि नहीं है और मैं चैतन्यस्वरूप भिन्न हूँ, ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह समकिती है, वह सम्यग्दृष्टि है,

सत्यदृष्टि है। क्योंकि जो वस्तुस्वरूप पर से भिन्न है, ऐसा अपने को पर से भिन्न जाना और अपने में एकत्व किया, वही सम्यग्दृष्टि है। उसमें कहा था न? अध्यवसाय जिसका मूल मिथ्यात्व है और पर से भिन्न जाने, उसका मूल सम्यग्दर्शन है। यह भी अध्यवसाय है, अपना एकत्व जानना, वह अध्यवसाय है। आहाहा! बहुत कठिन काम। पूरी दुनिया में रहना (और मानना भिन्न)। परन्तु तू दुनिया में है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। तू तो तुझमें है। आहाहा! ऐसी चीज़ होने पर भी, अपने से भिन्न चीज़ को अपना कार्य मानना, अपनी चीज़ मानना, उसकी क्रिया मैं कर सकता हूँ—ऐसा मानना, वह मिथ्यात्व जिसका मूल है, ऐसा अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है। और जिसे एकत्वबुद्धि नहीं... आहाहा! (यहाँ) बात भले मुनि की है (परन्तु सम्यग्दृष्टि को भी ऐसा ही है)।

जिसे, मैं तो ज्ञायक चैतन्य हूँ, मुझसे भिन्न राग, शरीर, वाणी, कर्म, परिवार सब मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! भरत चक्रवर्ती छह खण्ड के राज्य में रहते होने पर भी, वह मेरी चीज़ नहीं, (ऐसा मानते हैं)। मेरी (चीज़) मुझसे अलग नहीं होती और अलग हो, वह मेरी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! अभी तो यह करो और यह करो... आहाहा! मन्दिर बनाओ और गजरथ निकालो, रथयात्रा (निकालो)। वह तो परचीज़ है। परचीज़ को निकालना और करना, वह क्रिया आत्मा की मानना, वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा! कठिन काम। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि को ऐसा शुभभाव होता है, परन्तु वह क्रिया होती है, वह मुझसे होती है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! तथा जो शुभभाव हुआ, वह भी मेरा कर्तव्य है, ऐसा सम्यग्दृष्टि—धर्म की पहली शुरुआतवाला नहीं मानता। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

जिनके नहीं है... यहाँ पाठ में **'यतयः'** है न? आहाहा! मूल तो यह अध्यवसाय जिसे नहीं है, वह समकिती है और सम्यक् उपरान्त जब स्थिरता विशेष हुई, तब वह मुनि है। आहाहा! एक रजकण भी अपना नहीं है। यह (शरीर) तो अनन्त रजकणों का पिण्ड है। धूल, धूल... धूल और पैसा धूल। तखतराजजी! पैसा.. पैसा। हम पाँच लाखवाले हैं और दस लाख वाले हैं और करोड़पति हैं। धूलपति हैं। अरे रे! उस परचीज़ का पति। एकत्वबुद्धि का मिथ्यात्व है। आहाहा! बहुत कठिन काम। आहाहा! मेरा मकान और मेरे पैसे और मेरा

धन्धा जोरदार चलता है। दुकान में नौकर ऐसे रखे हैं। हीराभाई को भानेज है। दूसरे नौकर भी अन्दर होंगे न? दुकान है, वह होती है न। दुकान पर आये थे न, आये थे। प्रत्येक को ऐसा है। आहाहा! हम करते हैं, हम करते हैं।

हमारे भी वहाँ दुकान थी न। कुँवरजीभाई हमारे भागीदार थे। पालेज। मैं करता हूँ, कर्ता... कर्ता... अरे! क्या करता है तू यह? कहा। जड़ की और यह सब क्रिया मेरी, यह कर्ता, तू दुकान में बैठा और यह करता है? आहाहा! मरकर पशु होगा, याद रख, कहा। यह तो ७० वर्ष पहले की बात है। ७० वर्ष पहले की। (संवत्) १९६६, १९६६ का वर्ष। बीस वर्ष की उम्र थी, अभी तो ९० (हुए)। ७० वर्ष पहले (कहा था)। कहा, अरे! यह क्या करता है पूरे दिन? दुकान में तो मैं भी (बैठता था)। परन्तु यह एक ही—यह किया, यह किया, यह किया... रात्रि को आठ बजे तक फुरसत नहीं। गाँव में साधु आवे, भले सम्प्रदाय के (आवे) तो आठ बजे जाए। दिन में फुरसत नहीं। दुकान के धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं। यहाँ तो (हम) गाँव में साधु आवे तो दुकान छोड़कर साधु को आहार-पानी (देने जाते थे)। उस समय तो वह स्थानकवासी की मान्यता थी न! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, पूरे दिन तू यही करता है। रात्रि में बहियाँ लिखे, नामा लिखे, पश्चात् निवृत्त हो, तब साधु के पास जाए। भाई! यह तुम क्या करते हो? कहा। यह तो १९६६ के वर्ष, हों! ७० वर्ष पहले। क्या करते हो यह तुम? आहाहा! यह सब लक्षण तो तिर्यंच में जाने के हैं, ढोर में जाने के हैं। भले तुम्हारे पच्चीस लाख रुपये हों और दस लाख हों और दो-दो लाख की आमदनी (हो)। धूल में भी है नहीं। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि विश्व से विभक्त होने पर भी। 'विश्व' शब्द से समस्त पदार्थ। शरीर, वाणी, मन, कर्म, राग-द्वेष आदि सभी परचीज़। आहाहा! विश्व से विभक्त होने पर भी विश्व को अपना मानता है। वह मेरी चीज़ है, मैं उसका हूँ, वह मिथ्यादृष्टि पर की एकत्वबुद्धि करता है। उस एकत्वबुद्धि का मूल तो मिथ्यात्व है। आहाहा! मिथ्यात्व शल्य महाशल्य है। उससे तो चार गति में भटकता है।

गाथा - २७०

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।।२७०।।

एतानि न सन्ति येषामध्यवसानान्येवमादीनि।
ते अशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यन्ते।।२७०।।

एतानि किल यानि त्रिविधान्यध्यवसानानि तानि समस्तान्यपि शुभाशुभकर्मबन्ध-निमित्तानि, स्वयमज्ञानादिरूपत्वात्।

तथा हि ह्न यदिदं हिनस्मीत्याद्यध्यवसानं तत्, ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुक-ज्ञप्त्येकक्रियस्य रागद्वेषविपाकमयीनां हननादिक्रियाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानात्, अस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम्।

(यत्पुनः नारकोऽहमित्याद्यध्यवसानं तदपि ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञायकैक-भावस्य कर्मोदयजनितानां नारकादिभावानां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं, विविक्ता-त्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम्।)

यत्पुनरेष धर्मो ज्ञायत इत्याद्यध्यवसानं तदपि, ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञानैक-रूपस्य ज्ञेयमयानां धर्मादिरूपाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानात्, अस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम्। ततो बन्धनिमित्तान्येवैतानि समस्तान्य-ध्यवसानानि।

येषामेवैतानि च विद्यन्ते त एव मुनिकुञ्जराः केचन, सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियं, सदहेतुकज्ञायकै-कभावं, सदहेतुकज्ञानैकरूपं च विविक्तमात्मानं जानन्तः, सम्यक्प-श्यन्तोऽनुचरन्तश्च, स्वच्छस्वच्छ-न्दोद्यदमन्दान्तर्ज्योतिषोऽत्यन्तमज्ञानादिरूपत्वाभावात्, शुभेनाशुभेन वा कर्मणा न खलु लिप्येरन्।।२७०।।

यह अध्यवसाय जिनके नहीं हैं, वे मुनि कर्म से लिप्त नहीं होते-यह अब गाथा द्वारा कहते हैं-

इन आदि अध्यवसान विधविध वर्तते नहिं जिनहिको।
शुभ-अशुभ कर्म अनेक से, मुनिराज वे नहिं लिप्त हों।।२७०।।

गाथार्थ : [एतानि] यह (पूर्व कथित) [एवमादीनि] तथा ऐसे और भी [अध्यवसानानि] अध्यवसान [येषाम्] जिनके [न संति] नहीं हैं, [ते मुनयः] वे मुनि [अशुभेन] अशुभ [वा शुभेन] या शुभ [कर्मणा] कर्म से [न लिप्यते] लिप्त नहीं होते।

टीका : यह जो तीनों प्रकार के अध्यवसान हैं, वे सभी स्वयं अज्ञानादिरूप (अर्थात् अज्ञान, मिथ्यादर्शन और अचारित्ररूप) होने से शुभाशुभ कर्मबन्ध के निमित्त हैं। इसे विशेष समझाते हैं- 'मैं (परजीवों को) मारता हूँ' इत्यादि जो अध्यवसान है, उस अध्यवसानवाले जीव को ज्ञानमयपने के सद्भाव से [१]सत्रूप, [२]अहेतुक, [३]ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है, ऐसे आत्मा का और रागद्वेष के उदयमय ऐसी [४]हनन आदि क्रियाओं का [५]विशेष नहीं जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है; भिन्न आत्मा का अदर्शन (अश्रद्धान) होने से (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से (अध्यवसान) अचारित्र है। और 'मैं नारक हूँ' इत्यादि जो अध्यवसान है, वह अध्यवसानवाले जीव को भी, ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव है, ऐसा आत्मा का और कर्मोदयजनित नारक आदि भावों का विशेष न जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है; भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से (वह अध्यवसान) अचारित्र है। और यह 'धर्मद्रव्य ज्ञात होता है' इत्यादि जो अध्यवसान है, उस अध्यवसानवाले जीव को भी [६]ज्ञानमयपने के सद्भाव के सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है, ऐसे आत्मा का और ज्ञेयमय धर्मादिकरूपों का विशेष न जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है; भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से

---

(१) सत्रूप=सत्तास्वरूप; अस्तिस्वरूप (आत्मा ज्ञानमय है, इसलिए सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही उसकी एक क्रिया है।) (२) अहेतुक=जिसका कोई कारण नहीं है ऐसी; अकारण; स्वतःसिद्ध; सहज। (३) ज्ञप्ति=जानना; जाननेरूपक्रिया। (ज्ञप्तिक्रिया सत्रूप है, और सत्रूप होने से अहेतुक है।) (४) हनन=घात करना; घात करनेरूप क्रिया। (घात करना आदि क्रियायें राग-द्वेष के उदयमय हैं।) (५) विशेष=अन्तर; भिन्न लक्षण। (६) आत्मा ज्ञानमय है, इसलिए सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है।

(वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से (वह अध्यवसान) अचारित्र है। इसलिए यह समस्त अध्यवसान बन्ध के ही निमित्त हैं।

मात्र जिनके यह अध्यवसान विद्यमान नहीं हैं, वे ही कोई (विरले) मुनि-कुंजर (मुनिवरों) सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है, सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसके एक भाव है और सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है, ऐसे भिन्न आत्मा को (-सर्व अन्य द्रव्यभावों से भिन्न आत्मा को) जानते हुए, सम्यक्प्रकार से देखते (श्रद्धा करते) हुए और आचरण करते हुए, स्वच्छ और स्वच्छन्दतया उदयमान (-स्वाधीनतया प्रकाशमान) ऐसी अमंद अन्तर्ज्योति को अज्ञानादिरूपता का अत्यंत अभाव होने से (अर्थात् अन्तरंग में प्रकाशित होती हुई ज्ञानज्योति किंचित् मात्र भी अज्ञानरूप, मिथ्यादर्शनरूप और अचारित्ररूप नहीं होती इसलिए), शुभ या अशुभ कर्म से वास्तव में लिप्त नहीं होते।

भावार्थ : यह जो अध्यवसान है, वे 'मैं पर का हनन करता हूँ' इसप्रकार के हैं, 'मैं नारक हूँ', इस प्रकार के हैं तथा 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ' इस प्रकार के हैं। वे, जब तक आत्मा का और रागादि का, आत्मा का और नारकादि कर्मोदयजनित भावों का तथा आत्मा का और ज्ञेयरूप अन्य द्रव्यों का भेद न जाना हो, तब तक रहते हैं। वे भेदज्ञान के अभाव के कारण मिथ्याज्ञानरूप हैं, मिथ्यादर्शनरूप हैं और मिथ्याचारित्ररूप हैं; यो तीन प्रकार के होते हैं। वे अध्यवसान जिनके नहीं हैं, वे मुनिकुंजर हैं। वे आत्मा को सम्यक् जानते हैं, सम्यक् श्रद्धा करते हैं और सम्यक् आचरण करते हैं, इसलिये अज्ञान के अभाव से सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप होते हुए कर्मों से लिप्त नहीं होते।

गाथा - २७० पर प्रवचन

यह अध्यवसाय जिनके नहीं हैं, वे मुनि कर्म से लिप्त नहीं होते... यहाँ तो विशेष में यह लेना है। नहीं तो समकिती को भी अध्यवसाय नहीं है परन्तु यहाँ मुख्य मुनिपने की व्याख्या लेते हैं। समझ में आया? बाकी सम्यग्दृष्टि धर्म की पहली सीढ़ी, चौथा गुणस्थान, उस समकिती को पर मेरा है, ऐसी दृष्टि तीन काल में नहीं है। स्त्री, परिवार में रहने पर भी... आहाहा! जैसे कोरा घड़ा होता है और उसके ऊपर पानी डालो तो नहीं चढ़ता,

वैसे (सम्यग्दृष्टि है)। जैसे नारियल में गोला पृथक् है... नारियल—श्रीफल, वैसे अपने को भिन्न आत्मा—गोला सम्यग्दृष्टि को भासित होता है। आहाहा! धर्म की पहली सीढ़ी। धर्म का पहला सोपान, पहली सीढ़ी। उस धर्म की दृष्टिवन्त को, मैं पर का कर्ता और पर मेरी चीज़, ऐसी दृष्टि नहीं है। आहाहा! भारी काम।

यह कहते हैं, गाथा।

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।।२७०।।

इन आदि अध्यवसान विधविध वर्तते नहिं जिनहिको।
शुभ-अशुभ कर्म अनेक से, मुनिराज वे नहिं लिप्त हों।।२७०।।

मुनिराज की मुख्यता से कथन है। **टीका – यह जो तीनों प्रकार के अध्यवसान हैं...** मिथ्यात्व, अज्ञान और अचारित्र-तीनों प्रकार के अध्यवसान। **वे सभी स्वयं अज्ञानादिरूप (अर्थात् अज्ञान, मिथ्यादर्शन और अचारित्ररूप) होने से शुभाशुभ कर्मबन्ध के निमित्त हैं।** मैं पर को जिलाता हूँ, यह (भाव) मिथ्यात्वसहित पुण्यबन्ध का कारण है। पर को मारता हूँ, यह मिथ्यात्वसहित पापबन्ध का कारण है। आहाहा! ऐसा है। कठिन काम है।

यह पुस्तक है वह जड़, पर है। इसे मैं बनाता हूँ... आहाहा! वह परचीज़ को अपनी माना, एकत्वबुद्धि (की)। विश्व में यह आ गया या नहीं? पुस्तक, पृष्ठ, वाणी—यह सब विश्व, पर है। आहाहा! यह पुस्तक मेरी है और मैंने पुस्तक बनायी... आहाहा! और वह पुस्तक पढ़े तो लोग मुझे पहचाने, मैं प्रसिद्धि में आऊँ, यह सब मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? आहाहा! गजब बात है।

यह यहाँ कहते हैं, वह अज्ञान, मिथ्यादर्शन और अचारित्र—ये तीनों **शुभाशुभ कर्मबन्ध के निमित्त हैं।** आहाहा! पर को जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ—ऐसे परिणाम शुभ हैं, परन्तु मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वसहित शुभबन्ध का कारण है। मैं पर को मारता हूँ, दुःखी करता हूँ—ऐसा (भाव) मिथ्यात्वसहित पापबन्ध का कारण है। आहाहा! ऐसा कठिन काम। पूरे दिन दुनिया में इकट्ठा रहना और इकट्ठा नहीं। भेगा को क्या कहते हैं? साथ में

रहना और साथ में है नहीं॥ आहाहा! वीतराग की वाणी बहुत सूक्ष्म, बापू! जिनेश्वर... आहाहा! यह मेरे पुत्र, पाँच-पाँच हजार का वेतन लाते हैं, चार लड़के होशियार हुए, ऐसा हुआ, वैसा हुआ। किसके पुत्र? भाई! वह आत्मा अलग, तू अलग, तुझे पुत्र कहाँ से आये? आहाहा! यह मेरी पुत्री, इसे बराबर करियावर—दहेज देंगे, जिससे इसे ससुराल में सुखी रहे, कोई उलाहना न दे। आहाहा!

एक बड़े अरबोंपति की गृहस्थ की भानेज थी। वह कहीं दी थी, उसे बराबर पैसा-बैसा आये नहीं, इसलिए कहे, यह क्या? अरबोंपति की भानेज दी, पैसा-बैसा कुछ आये नहीं, उसने बहुत नहीं दिये। अन्त में दुःखी होकर मर गयी, आत्महत्या करके (मर गयी)। फिर चाहे जो हुआ, आत्महत्या की (या) कराया। ऐसा सुना है। आहाहा! यह दुनिया। बड़े गृहस्थ की पुत्री आवे तो पाँच-पच्चीस लाख लेती आवे या नहीं? अरबोंपति की भानेज। पाँच-दस लाख न लावे तो यहाँ विवाह किसलिए? यहाँ आयी किसलिए? कहो, आहाहा! इस जगत में जैन में रहे हुए जीव। अरे! उसे खबर नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, ये तीनों होने से **शुभाशुभ कर्मबन्ध के निमित्त हैं।** निमित्त। कर्म तो स्वयं से बँधते हैं। कर्म तो अपनी पर्याय से बँधते हैं परन्तु अज्ञानी का निमित्त मिथ्यात्व और शुभ-अशुभभाव उसमें निमित्त है। आहाहा! **शुभाशुभ कर्मबन्ध के निमित्त हैं।** ऐसा कहा न? उपादान तो उसका अपना है। आहाहा! जो कर्म बँधते हैं, वे तो परमाणु की पर्याय में उस समय में वह पर्याय होने का जन्मक्षण था तो कर्म बँधते हैं। इस आत्मा का मिथ्यात्व और राग-द्वेष, वे तो निमित्तमात्र हैं। निमित्त का अर्थ—उसने किया नहीं, कर्मबन्ध की पर्याय उसने की नहीं। आहाहा! यहाँ तक ले जाना। हैं? यह कर्मबन्धन भी विश्व है न? विश्व में वह चीज़ है न? उसे मैंने बाँधा, मैंने छोड़ा, पर का स्वामी (होता है)। ऐसा मार्ग। यहाँ जरा भी निवृत्ति नहीं होती, पूरे दिन पाप के कारण धन्धा। स्त्री, पुत्र और धन्धा। पाप में पचे, घानी में पिलते हैं। इसमें ऐसी बातें। बापू! मर गया है, बापू! चौरासी के अवतार में अनन्त अवतार कर-करके चौरासी के अवतार (में भटकता है)। आहाहा! वह इस मात्र पर की एकत्वबुद्धि (के कारण से)। आहाहा! आया न?

तीसरी गाथा। **'एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे।'** भगवान एकत्व है, वह सर्वत्र सुन्दर है। आहाहा! एकेन्द्रिय में, द्वोइन्द्रिय में, तीन इन्द्रिय में, चौइन्द्रिय में

चाहे जहाँ हो, स्वयं एकत्व-भिन्न है। त्रिकाल द्रव्य निरावरण और पर से भिन्न है। आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा को पर के साथ एकत्वबुद्धि मानना, कर्म के साथ भी एकत्वबुद्धि (माने), कर्म मैंने बाँधे, कर्म मेरे हैं—यह अध्यवसाय मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उपदेश किस प्रकार का? मार्ग तो ऐसा है, भाई!

वीतराग त्रिलोकनाथ परमेश्वर की दिव्यध्वनि का मार्ग यह है। दिव्यध्वनि का रहस्य यह है। आहाहा! कहते हैं, कि हमारी दिव्यध्वनि से तुझे ज्ञान होगा, ऐसा भी तू नहीं है। दिव्यध्वनि भी विश्व अर्थात् तुझसे भिन्न है। आहाहा! विश्व से विभक्त है। वीतराग की वाणी और वीतराग से तू भिन्न है। आहाहा! प्रभु... प्रभु... प्रभु! कठिन। यह ऐसा मानता है कि वीतराग की वाणी और वीतराग से मुझे ज्ञान होता है, तो तूने एकत्वबुद्धि की। आहाहा! ऐसी बात सुनना कठिन पड़े। अरे! क्या हो? भाई! अकेला भटके, अकेला जन्मे, अकेला मरे। आती हे न गाथा? आहाहा! अकेला बँधता है और अकेला छूटता है। आहाहा!

इसे विशेष समझाते हैं-'मैं (परजीवों को) मारता हूँ'... दुःखी करता हूँ- इत्यादि। **जो अध्यवसान है, उस अध्यवसान वाले जीव को ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप, अहेतुक, ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है, ऐसे आत्मा का और राग-द्वेष के उदयमय ऐसी हनन आदि क्रियाओं का विशेष नहीं जानने के कारण...** क्या कहते हैं? भगवान ज्ञानस्वरूप है, उसकी सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति / जानने की क्रिया है। जानने की क्रिया। सत्रूप और अहेतुक। वाणी है तो उससे ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! गजब बात है। भगवान ज्ञायकस्वरूप आत्मा ज्ञान का पिण्ड है, उसकी ज्ञप्ति- वर्तमान ज्ञान की क्रिया, वह सत्रूप है। क्रिया, हों! जानने की क्रिया सत्रूप है, अहेतुक है। नीचे (अर्थ) है। (सत्रूप अर्थात्) **सत्तास्वरूप; अस्तिस्वरूप (आत्मा ज्ञानमय है, इसलिए सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही उसकी एक क्रिया है।)** जानना-देखना वह अपनी अपने से क्रिया है। आहाहा! जानना-देखना अहेतुक है। आहाहा! भगवान की वाणी से यह ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। यह जानना-देखना अहेतुक है। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि दिव्यध्वनि के निमित्त से ज्ञान होता है, ऐसा न माने तो एकान्त-मिथ्यात्व है, ऐसा (अज्ञानी) कहते हैं। भगवान! प्रभु! है अन्दर या नहीं? क्या कहते हैं?

भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु आत्मा, प्रज्ञाब्रह्मा, ज्ञान। उसकी वर्तमान पर्याय; द्रव्य और

गुण अहेतुक है ही, परन्तु जानने की क्रिया भी अहेतुक है। अर्थात् पर वाणी और भगवान है तो यह जाननक्रिया हुई, ऐसा नहीं है। शान्तिभाई! ऐसी बात है। आहाहा! चेतनजी! यह आया या नहीं? जानने की क्रिया अहेतुक है। पर्याय (अहेतुक)। वाणी का हेतु नहीं? भगवान नहीं? तो पहले ज्ञान क्यों नहीं था? आहाहा! भाई! पहले भी अपने से ज्ञान था और अभी भी अपने से है। गजब काम है। आहाहा! दिव्यध्वनि से ज्ञान होता है, ऐसा न माने तो मिथ्यादृष्टि है, ऐसा (अज्ञानी) कहते हैं। प्रभु... प्रभु..! उसे बेचारे को ऐसा बैठा है, उसे-बेचारे को बैठा हो, ऐसा कहे। 'जामें जितनी बुद्धि है, इतनो दिये बताय, वांकों बुरो न मानिये और कहाँ से लाये?' भगवान है, भगवान है। वह भूल करे, प्रभु!

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूपी ज्ञायक त्रिकाल है तो उसकी वर्तमान परिणति अर्थात् पर्याय, जानने की क्रिया सत् है, अहेतुक है। **ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है...** आहाहा! गजब बात है। जाननक्रिया एक आत्मा की है। वह भी जाननक्रिया, जाननक्रिया—जानने की परिणति, वह भी अहेतुक है और सत् है। सत् है, पर्याय सत् है न? सत् को हेतु क्या? है, उसका हेतु क्या? आत्मा है तो उसका ईश्वरकर्ता हेतु क्या? वैसे अपनी पर्याय है, उसका पर हेतु क्या? आहाहा! समझ में आया? शिवलालभाई! ऐसा सूक्ष्म है। कहो, यह तो गुरु से ज्ञान नहीं होता, ऐसा यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु : अन्तर के गुरु से ज्ञान होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अपनी सत् स्वतन्त्र क्रिया है। आहाहा! क्या टीका! क्या वस्तु की प्रसिद्धि! यह टीका 'आत्मख्याति' है। आहाहा!

भगवान आत्मा अपने ज्ञायकभाव से भरपूर, वर्तमान पर्याय में जो ज्ञान की क्रिया होती है—जाननक्रिया जो होती है, वह सत् है, सत् है। है, उसका हेतु क्या? अहेतुक है। अहेतुक ज्ञप्तिक्रिया स्वयं से हुई है। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वयं से हुई है, यह हेतु नहीं हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। यह हेतु स्वयं, पर हेतु नहीं। वास्तव में तो पर्याय का द्रव्य हेतु नहीं, पर्याय का हेतु पर्याय है। बहुत लम्बी बात (होगी)। समझ में आया? आहाहा! वीतरागमार्ग सूक्ष्म बहुत, प्रभु! आहाहा!

यहाँ तो प्रभु कहते हैं, यह जाननक्रिया—ज्ञानगुण की जाननक्रिया, उस समय की जाननक्रिया की जो पर्याय होती है, वह सत् है। जैसे द्रव्य सत् है, गुण सत् है, वैसे पर्याय सत् है। आहाहा! और वह पर्याय सत् होने से अहेतुक है। यह वीतराग की वाणी और वीतराग से ज्ञान की क्रिया उत्पन्न नहीं हुई। अरर! ऐसी बातें? ऐई! आहाहा! प्रभु! तुझे बात बैठानी पड़ेगी। सुखी होना हो तो यह रास्ता है। बाकी दुःख के पन्थ में तू अनन्त काल से दौड़ रहा है। पर से मुझमें ज्ञान हुआ, पर को मुझसे ज्ञान हुआ, पर को मुझसे ज्ञान हुआ और पर से मुझमें ज्ञान हुआ—तो क्या ज्ञान की पर्याय में उसमें उसके कारण से वहाँ नहीं थी कि तुझसे वहाँ हुई? आहाहा! गजब बात है। यह तो शान्ति का मार्ग है।

इस एक शब्द में तो कितना भरा है, देखा! **उस अध्यवसानवाले जीव को ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप, अहेतुक, ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है, ऐसे आत्मा का और राग-द्वेष के उदयमय ऐसी हनन आदि क्रियाओं का विशेष नहीं जानने के कारण...** आहाहा! दया का राग हुआ, परन्तु उस समय ज्ञान में अपनी जाननक्रिया हुई, उस जाननक्रिया और राग को भिन्न नहीं जानकर... आहाहा! समझ में आया?

ऐसे आत्मा का... ऐसे आत्मा का अर्थात् क्या? कि जिसमें ज्ञान की वर्तमान एक पर्याय की क्रिया हुई, ऐसे आत्मा का। **जिसकी एक क्रिया है, ऐसे आत्मा का... सत्रूप, अहेतुक, ज्ञप्ति ही...** जानने की ही। **जिसकी एक क्रिया है, ऐसे आत्मा का...** आहाहा! **और राग-द्वेष के उदयमय ऐसी हनन आदि क्रियाओं का...** है न हनन? नीचे (फुटनोट है)। **अहेतुक=जिसका कोई कारण नहीं है ऐसी; अकारण; स्वतःसिद्ध; सहज। ज्ञप्ति=जानना; जाननेरूपक्रिया। (ज्ञप्तिक्रिया सत्रूप है, और सत्रूप होने से अहेतुक है।) हनन=घात करना; घात करनेरूप क्रिया। (घात करना आदि क्रियायें राग-द्वेष के उदयमय हैं।)** मैं घात करता हूँ, पर को जिलाता हूँ ऐसी रागमय जो क्रिया और ज्ञप्तिक्रिया का भेद नहीं जानकर। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग तीन लोक का नाथ, जिनेश्वरदेव गणधरों और इन्द्रों के बीच में कहते थे, वह यह बात है। आहाहा! इन्द्र बत्तीस लाख विमान का साहेबा! उससे कहते कि प्रभु! वह यह तेरी चीज़ नहीं है। तो वह कहते थे कि यह मेरी चीज़ नहीं है। मेरी तो जाननक्रिया ही मेरी चीज़ है। राग हुआ, वह मेरी चीज़ नहीं है, उससे मैं भिन्न हूँ। आहाहा! आहाहा!

रागद्वेष के उदयमय ऐसी हनन आदि क्रियाओं का विशेष नहीं जानने के कारण... (विशेष अर्थात्) ? तफावत, भिन्न लक्षण। **आत्मा ज्ञानमय है, इसलिए सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है।** आहाहा! बहुत सूक्ष्म। अरे! यह तो धीर का काम है, भाई! उतावल से आम पाक जाए, ऐसा यह नहीं है। आहाहा!

कहते हैं, भगवान आत्मा वस्तु है न ? तो स्वभाव क्या ?—कि ज्ञानस्वभाव। पर्याय क्या ?—कि ज्ञान की क्रिया होती है, वह उसकी पर्याय। साथ में भले अनन्त गुण की (पर्याय) है परन्तु ज्ञान को प्रधान लिया है। आहाहा! यह ज्ञान की क्रिया और पर को मारना आदि राग की क्रिया, इन दो को भिन्न नहीं जानता, (अभिन्न है, ऐसा मानता है)। भिन्न है। आहाहा! **भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से,...** यह राग की क्रिया (अभिन्न) इस राग की क्रिया से जाननक्रिया भिन्न है, ऐसा ज्ञान नहीं होने से—अज्ञान होने से। आहाहा! क्योंकि उसका लक्ष्य ही राग के ऊपर, पर के ऊपर है। आहाहा!

वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है,... राग की क्रिया, दया, दान की, हिंसा की (क्रिया) और जाननक्रिया दोनों भिन्न हैं। आहाहा! पर्याय में होने पर भी दोनों भिन्न हैं। आहाहा! परद्रव्य तो पर्याय में है ही नहीं, परन्तु पर्याय में रागादि की क्रिया हुई और उस पर्याय में ज्ञान की क्रिया हुई... आहाहा! दोनों भिन्न हैं। समझ में आये, उतना समझना, बापू! यह तो वीतराग परमेश्वर का गम्भीर मार्ग है। लोगों को सुनने को मिलता नहीं। निवृत्त नहीं, निवृत्ति होवे तो स्थूल सुनने का मिलता है। यह करो और यह करो और यह करो। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, कि यह राग की जो क्रिया हुई, भले भक्ति की, पूजा की और यात्रा की हो, परन्तु वह राग की क्रिया और ज्ञान की क्रिया दोनों भिन्न हैं। ऐसे भिन्न-पृथक् विशेष न जानने पर भी, आहाहा! है ? आहाहा! **अज्ञान होने से,... आत्मा का अज्ञान होने से,... भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से,...** इस राग की क्रिया (से भिन्न) यह जाननक्रिया आत्मा की है, ऐसे भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से। **भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से,...** आहाहा! बहुत गम्भीर। आहाहा!

वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है,... राग की क्रिया, दया-दान की और

हिंसा आदि की (क्रिया), उससे जानने की क्रिया, अपनी सत्ता की क्रिया अहेतुक है। राग हुआ तो ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! दया, दान, हिंसा आदि का विकल्प आया तो उससे ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं है। वह जाननक्रिया तो स्वयं से हुई है। समझ में आया? आहाहा! अब ऐसा मार्ग। बनिये को धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। धन्धे में से निवृत्त होवे तो स्त्री-पुत्र को प्रसन्न करने में रुके। उसमें यह बात कहाँ सुनने को मिले? अरे! अरे! जिन्दगी चली जाती है और भव के अन्त में दूसरा भव होगा, वह कौन सा होगा? बापू! यदि ऐसी दृष्टि रही तो कौन सा भव होगा? प्रभु! आहाहा! कहीं मेल नहीं। कहीं निगोद, नरक, तिर्यंच... आहाहा!

राग की क्रिया और जाननक्रिया एक समय में पर्याय में है। परद्रव्य तो अपने में है ही नहीं। यह तो विश्व पर है। परन्तु राग तो पर्याय में है, तो भी ज्ञानक्रिया से भिन्न है। वह एक न्याय से विश्व में जाता है। आहाहा! अनन्त परपदार्थ तो अपनी पर्याय में है ही नहीं। पर्याय अर्थात् अवस्था, हालत। परन्तु अपनी पर्याय में जो रागादि क्रिया है, उसी समय ज्ञान की क्रिया, आत्मा की जाननक्रिया है। आहाहा! इन दो को भिन्न जानकर, दोनों की विशेषता भिन्न नहीं करके। यह अध्यवसान अज्ञान है। आहाहा!

भिन्न आत्मा का अदर्शन (अश्रद्धान) होने से... ज्ञान की क्रिया ज्ञायक की है, ऐसे अश्रद्धान से। आहाहा! यह ज्ञान की क्रिया राग से है और राग तथा ज्ञान की क्रिया दोनों एक है, (ऐसा मानता है)। आहाहा! ऐसे आत्मा के अश्रद्धान से। भारी गजब टीका! आहाहा! गम्भीर... गम्भीर... प्रभु! **(वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है...** अज्ञान है और इस आत्मा का अदर्शन होने से मिथ्यादर्शन है। आहाहा! उस राग को अपना माना तो अपना स्वभाव जाननक्रियावाला आत्मा है, ऐसे आत्मा की अश्रद्धा हुई—मिथ्यात्व हुआ। आहाहा! ऐसी वस्तु रह गयी। आहाहा! ऐसी बात रह गयी, जगत का भाग्य! आहाहा!

जाननक्रिया—जानने की क्रिया। क्रिया क्यों कही? पर्याय है न, (इसलिए कही)। गुण और द्रव्य में परिणमन—क्रिया है नहीं। पर्याय में जाननक्रिया और राग की क्रिया—दोनों को भिन्न नहीं जानकर। (वह) आत्मा का अज्ञान है। दोनों को भिन्न नहीं जानकर (श्रद्धा नहीं करता, वह) आत्मा की अश्रद्धा है। आहाहा! आहाहा! अमृत बरषा हैं। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने पाठ में है, वह अर्थ किये हैं। वे कहते हैं कि अमृतचन्द्राचार्यदेव

काष्टासंघी हैं। अरर्र! प्रभु.. प्रभु! क्या करता है? अरे! कोई (कहनेवाला) नहीं मिलता। भगवान नहीं मिलते, कोई समकिती देव नहीं मिलते कि उन्हें रोके।

प्रभु! यहाँ तो कहते हैं, आहाहा! यह तो पाठ में कहा है या नहीं?

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।।२७०।।

यह पाठ है। अध्यवसायवाला लिप्त होता है और अध्यवसाय नहीं है, वह लिप्त नहीं होता। अब इसकी तो टीका की है। अमृतचन्द्राचार्यदेव कौन हैं? आहाहा! चलते सिद्ध हैं। दिगम्बर मुनि चलते सिद्ध पृथ्वी भरत पर चलते थे। आहाहा! मुनिराज का यह पुकार है कि भगवान आत्मा जाननक्रियावाला नहीं मानकर, राग की क्रियावाला जाननक्रिया के साथ एकत्वबुद्धि करता है, वह आत्मा का अज्ञान है। उसे आत्मा का अश्रद्धान है। आहाहा! वह रागवाला आत्मा नहीं। राग की क्रियावाला (मानना), वह अश्रद्धान है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से... क्या कहते हैं? राग मेरा है, तो भिन्न आत्मा का आचरण नहीं रहा। भिन्न आत्मा का अनाचरण हुआ। राग मेरा है, (ऐसा मानता है)। जाननक्रिया मेरी है, ऐसा नहीं मानकर, राग मेरी चीज़ है, ऐसा भिन्न नहीं जाना तो राग का आचरण हुआ, वह आत्मा का अनाचरण है। आहाहा! वाह.. प्रभु! वाह..! चाहे तो हिंसा का राग हो या चाहे तो दया का राग हो, परन्तु वह राग मेरी चीज़ है (ऐसा माना)। जाननक्रिया मेरी चीज़ है, ऐसा लक्ष्य होवे तब तो द्रव्य पर दृष्टि जाए। आहाहा! रागक्रिया मेरी है, ऐसा अध्यवसान आत्मा का अनाचरण है; आत्मा का आचरण नहीं। आहाहा! वाह..! टीका, वह टीका है!! ऐसी अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका! उन्हें काष्टासंगी कहकर, प्रभु! तुझे क्या करना है? भाई! दुनिया तो प्रसन्न होगी। दुनिया को कहाँ पड़ी है? पूरे दिन धन्धा, पाप के कारण, आहाहा! निवृत्ति कहाँ है? सत्य क्या है और असत्य क्या है? आहाहा! अमृतचन्द्राचार्यदेव यह टीका (करते हैं)। पाठ में है—जिसे अध्यवसाय है, वह मिथ्यादृष्टि है और जिसे नहीं वह मुनि है। मुनि कहो, समकिती कहो। इसका तो अर्थ करते हैं। आहाहा!

अनाचरण होने से (अध्यवसान) अचारित्र है। आया न? राग, दया, दान और हिंसा की, राग की क्रिया से ज्ञप्तिक्रिया—जाननक्रिया भिन्न है। (राग की क्रिया को) अपनी मानता है, वह आत्मा का अज्ञान है; अपनी मानता है, वह आत्मा का अश्रद्धान है; आत्मा की मानता है, वह आत्मा का अनाचरण है, वह आत्मा का आचरण नहीं। आहाहा! एक बात (की), दूसरी बात करेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३३०, गाथा-२७० रविवार, आसोज कृष्ण २
दिनाङ्क - ०७-१०-१९७९

समयसार, २७० गाथा। इसके नीचे नोट... नोट है। पहली बात यह आ गयी कि मैं हिंसा करता हूँ, झूठ बोलता हूँ, चोरी करता हूँ, विषय सेवन करता हूँ, परिग्रह रखता हूँ—यह भाव पाप की एकत्वबुद्धि है। और मैं दया पालता हूँ, सत्य बोलता हूँ, चोरी नहीं करता, शरीर से विषय सेवन नहीं करता, परिग्रह नहीं रखता—यह बुद्धि भी शुभभाव की एकत्वबुद्धि है। आहाहा! यह एकत्वबुद्धि-अध्यवसाय मिथ्यात्व है। क्योंकि भगवान आत्मा तो ज्ञायकस्वरूप है। उसे यह पाँच पाप और पाँच पुण्य के साथ एकता मानना, यह मिथ्यात्व है। आहाहा!

'मैं नारक हूँ' ऐसा जो अध्यवसाय वह मिथ्यात्व है। आहाहा! इसी तरह मैं तिर्यंच हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ—ऐसा जो अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! **इत्यादि जो अध्यवसान है...** इत्यादि अर्थात् ये। नारक, मनुष्य, तिर्यंच और देव। **इत्यादि जो अध्यवसान है, वह अध्यवसानवाले जीव को भी, ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव है...** आत्मा तो ज्ञानमयपने के कारण, ज्ञानस्वभाव जिसका त्रिकाल है। आहाहा! ज्ञानमयपने के कारण; ज्ञानवाला, ऐसा नहीं। ज्ञानमय-जाननमय स्वभाववाला। आहाहा! बहुत कठिन काम।

ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव है... भगवान का तो ज्ञायक-जानन—ऐसा एक स्वभाव है। उसके साथ इन चार गतियों में मैं हूँ—नारक, मनुष्य, तिर्यंच, यह अध्यवसाय मिथ्यात्व है। आहाहा! **ज्ञानमयपने के**

सद्भाव से... ज्ञान अर्थात् यह शास्त्र का ज्ञान नहीं। ज्ञानमय—ज्ञानस्वरूप। जैसे शक्कर का मिठासस्वरूप, वैसे भगवान आत्मा का ज्ञानस्वरूप। त्रिकाली ज्ञानमयपने के कारण सत् अहेतुक। सत् है और उसके साथ रहने को, होने को कोई हेतु नहीं है। ऐसा ज्ञायकभाव जिसका एक रूप है। ज्ञायकभाव जिसका एक रूप और स्वरूप है, **ऐसा आत्मा का और कर्मोदयजनित नारक...** मैं नारकी, मनुष्य आदि तो कर्मोदय (जनित) गति आदि है।

भावों का विशेष न जानने के कारण... ओहो! कंकर और गेहूँ दो भिन्न नहीं जानने के कारण कंकर निकालता नहीं। उसी प्रकार भगवान ज्ञायकभाव सत् अहेतुक ज्ञायकस्वभाव के कारण एकरूप है। उसे इस कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले चार गति के भव; शरीर नहीं है, हों! चार गति का उदय—नारकी मैं, देव मैं, मनुष्य मैं (तिर्यंच मैं), ऐसे दोनों को भिन्न न जानने से, भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से। नारकी हूँ, मनुष्य हूँ, देव हूँ, इसके कारण भिन्न ज्ञायकभाव स्वभाव के अज्ञान के कारण। आहाहा! **वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है,...** आहा! यह नारकी, मैं मनुष्य हूँ। यह शरीर नहीं, मनुष्यगति अन्दर है, उदय है, कर्म के निमित्त से गति की अपनी योग्यता। आहाहा! वह गति, वह मैं हूँ। ऐसे ज्ञायकभाव और इस गति का कर्मोदय का भाव दोनों को भिन्न न जानने के कारण। आहाहा! अब ऐसा मार्ग। **वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है,...**

भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से... सत् अहेतुक ज्ञायकस्वभाव के दर्शन के अभाव में—अदर्शन के कारण यह नारकी आदि चार गति मैं हूँ—ऐसा अध्यवसाय, वह मिथ्यादर्शन है। आहाहा! सूक्ष्म मार्ग है, भाई! मनुष्यगति के बिना केवलज्ञान नहीं होता। वज्रनाराचसंहनन के बिना केवलज्ञान नहीं होता। इसलिए ऐसा मानता है कि मनुष्यगति मुझे लाभदायक है। आहाहा! समझ में आया? मनुष्यगति के बिना चारित्र—संयम नहीं होता। तीन गतियों में संयम—चारित्र नहीं है। परन्तु वह मनुष्यगति में है, इसलिए गति के कारण है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह मनुष्यगति मैं हूँ, ऐसा माननेवाला; ज्ञायकस्वभाव सत् अहेतुक उसका और इसका भेद नहीं करने से, भिन्न नहीं जानने से स्वभाव के अज्ञान के कारण, वह अध्यवसाय अज्ञान है। श्रद्धा में ज्ञायकभाव, मनुष्यगति के उदय से ज्ञायकभाव भिन्न है, ऐसा न जानकर अपने ज्ञायकभाव की श्रद्धा नहीं करके, मैं मनुष्यगति हूँ—ऐसी श्रद्धा, वह मिथ्यादर्शन है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। वीतरागमार्ग...

ज्ञायकभाव भगवान त्रिकाल निरावरण अखण्ड एकस्वरूप प्रभु, ऐसे ज्ञायकभाव आत्मा को न जानने से, गति वह मैं हूँ—ऐसा मानकर अज्ञान को सेवन करता है। ऐसा ज्ञायकभाव सत् अहेतुक त्रिकाली वस्तु भगवान की श्रद्धा न करता हुआ, उसे न मानकर, मनुष्यगति वह मैं—ऐसा मानकर भेद नहीं करता, वह मिथ्यादर्शन को पाता है। आहाहा! धीर का काम है, भाई! आहाहा!

अन्दर भगवान ज्ञायकस्वभाव सत् है, सत् है, अहेतुक है। उसका अस्तित्व में कोई पर हेतु नहीं है। ज्ञायकभाव को अस्तित्व में कोई हेतु नहीं है। स्वयं स्वतन्त्र है। आहाहा! और इसीलिए ज्ञायकभाव को न श्रद्धते हुए गति आदि मैं हूँ, ऐसा मानना, वह मिथ्यादर्शन है। आहाहा! अब यहाँ यह अन्तर की बातें हैं।

मुमुक्षु : धर्म भी अन्तर में ही होता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मिथ्यादर्शन आदि भी अन्तर में होता है और सम्यग्दर्शन भी अन्तर में होता है। आहाहा! मनुष्यगति मैं नहीं, यह बाद में कहेंगे। मुनि को ऐसे अध्यवसाय नहीं होते। आहाहा! मुनि को नहीं होते, ऐसा कहते हैं, परन्तु समकिती को भी यह अध्यवसाय नहीं होते। मुनिपने की मुख्यता से बात की है। आहाहा!

और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से... अर्थात्? ज्ञायकभाव का आचरण, अन्दर एकाग्रता न होने से। ज्ञायकभाव भगवान त्रिकाली निरावरण शुद्ध परमस्वभावभाव का आचरण नहीं होने से, उसका अनाचरण होने से वह **अचारित्र है।** वह अध्यवसाय, वह अचारित्र है। समझ में आया? आहाहा! इस टीका में यह बात रह गयी थी, इसलिए डाली है।

अब इस ओर, **और यह 'धर्मद्रव्य ज्ञात होता है'...** तीसरा बोल है। पहले बोल में यह कहा—हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, राग और परिग्रह, वह मैं हूँ। दूसरे में उसी और उसी में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शरीर से ब्रह्मचर्य, परिग्रह का त्याग—ऐसा विकल्प वह मैं हूँ, ऐसा अध्यवसाय, वह मिथ्यात्व है। दूसरे में मैं नारकी, मनुष्य, देव गति आदि हूँ। ज्ञायकभाव हूँ यह भूल जाता है। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को नहीं जानकर, नहीं मानकर, नहीं आचरण करते हुए वह गति आदि मैं हूँ—ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और आचरण करने से मिथ्याज्ञान, मिथ्याश्रद्धा, मिथ्या आचरण होता है। आहाहा!

अब यहाँ तीसरा बोल कहते हैं। धर्म-धर्मास्ति नाम का एक तत्त्व है। भगवान ने देखा है। इस लोक में जड़ और चैतन्य गति करते हुए (पदार्थ हैं)। जैसे पानी निमित्तरूप से मछली को गति करते होता है, वैसे जड़ और चैतन्य को गति करते हुए यह निमित्तरूप से है। उपादान तो स्वयं गति करता है वह। वह गति नहीं कराता। आहाहा! ऐसा धर्मास्ति नाम का सर्वज्ञ परमेश्वर ने द्रव्य देखा है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी मत में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय नहीं है। वीतराग जिनेश्वर परमेश्वर के अतिरिक्त जगत में धर्मास्ति और अधर्मास्ति सत् है, तथापि उसे सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी ने जाना नहीं है। आहाहा! वे सर्वज्ञ ऐसा कहते हैं कि धर्मास्ति नाम का द्रव्य है।

'धर्मद्रव्य ज्ञात होता है' इत्यादि... इत्यादि अर्थात्? अधर्मास्तिकाय मैं हूँ, धर्मास्तिकाय मैं हूँ। मैं ज्ञायकभाव हूँ, ऐसा छोड़कर, मैं जाननेवाला ज्ञायक त्रिकाल चैतन्य अहेतुक सत् स्वभाव जानने-देखनेवाला, वह मैं हूँ—ऐसा छोड़कर, इस धर्मास्तिकाय का विकल्प उठा, वह मैं हूँ—ऐसा मानकर मिथ्याज्ञान और मिथ्याश्रद्धा को सेवन करता है। आहाहा!

इसी प्रकार अधर्मास्ति। अधर्मास्ति नाम का एक तत्त्व है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा है और वह है। यह जड़ (पुद्गल) और चैतन्य गति करते हुए अपने स्वतन्त्र भाव से स्थिर होते हैं, तब वह अधर्मास्तिकाय निमित्त कहने में आता है। ज्ञायकभाव मैं हूँ—ऐसा न जानकर, उस अधर्मास्तिकाय का जो विकल्प उठा, वह मैं हूँ, ऐसा मानकर अज्ञान, अश्रद्धा और अचारित्र का सेवन करता है। आहाहा! अब ऐसी बातें।

इसी प्रकार काल। काल एक द्रव्य है, असंख्य। ऐसा न मानकर काल मैं हूँ; मैं ज्ञायक हूँ—ऐसा भूलकर काल का विकल्प उठा, वह मैं हूँ। इसी प्रकार पुद्गल। परमाणु से लेकर महास्कन्ध। लोक में महास्कन्ध है। वह पुद्गल है, वह मैं हूँ, वे मेरे हैं। परमाणु, वे मेरे हैं। आहाहा! मैं लड्डू बना सकता हूँ, बाँध सकता हूँ, मैसूर के चक्की में कर सकता हूँ, आहाहा! वह पुद्गल को अपना मानता है। वह ढोकला नहीं होते? छुरी से ऐसे इकट्ठे करते हैं, वह क्रिया पुद्गल की है, तो भी अज्ञानी मैं ज्ञायकभाव हूँ, यह भूलकर, वह पुद्गल की क्रिया, वह मेरी है; वह पुद्गल ही मेरा है, ऐसा अज्ञान से अध्यवसाय सेवन करता है। आहाहा!

दाढ़ से... यह दाँत है, मुँह में है, तब तक वे अशुचि नहीं कहलाते। है तो हड्डियाँ। आहाहा! परन्तु वे हड्डियाँ-दाँत मेरे हैं और उनके द्वारा मैं चबाता हूँ। उस पुद्गल की क्रिया को अपने ज्ञायकभाव में भिन्न न करके उसे अपना मानता है। आहाहा! देखो! यह प्रभु वीतरागमार्ग का विवेक। आहाहा! समझ में आया? यह दाँत बाहर निकले तो अपवित्र हो जाए। फिर (कहे), इन्हें हाथ लगाना नहीं। यहाँ होवे, तब तक पवित्र हो जाए! है तो हड्डियाँ, परन्तु यहाँ है, इसलिए मेरे, पवित्र है। बाहर निकले तो अपवित्र। इस प्रकार हड्डियों की अवस्था को, ज्ञायकभाव मैं हूँ, ऐसा इसे और इसकी अवस्था को भिन्न न करके, वह मैं हूँ—ऐसा मानता है, यह अज्ञान है, यह मिथ्याश्रद्धा है और मिथ्या आचरण है।

मुमुक्षु : पूरी दुनिया ऐसा मानती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया पूरी ऐसी है, बापू! प्रभु! क्या कहें? आहाहा! भगवान का मार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा!

दाँतून द्वारा ऐसे दाँत घिसे। उस दाँतून से मैं दाँत को घिसता हूँ, वह दाँतून की क्रिया तो जड़ से होती है, तथापि मुझसे होती है, ऐसा मानकर उस क्रिया को और ज्ञान के ज्ञायकभाव को एक मानकर मिथ्यात्व को सेवन करता है। आहाहा! शान्तिभाई! ऐसी बातें हैं। कहो, तखतभाई! आहाहा! सूक्ष्म बातें बहुत।

एक रजकण से लेकर... आहाहा! अणस्थित महास्कन्ध, जगत में पूरा एक स्कन्ध है। भगवान ज्ञायकस्वभाव है, उसे अपने को पर से भिन्न न जानकर, उस पुद्गल की पर्याय और पुद्गल, वे मेरे हैं और मैं उनकी क्रिया करता हूँ—ऐसा जो अध्यवसाय, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसा जो ज्ञान, वह स्वरूप का अज्ञान है। आहाहा! और वह स्वरूप का अनाचरण है। जड़ की क्रिया मेरी, ऐसा विकार का आचरण हुआ, वह स्वरूप का अनाचरण है। आहाहा! कहो, समझ में आया? सूक्ष्म है, भाई!

वीतराग तीन लोक के नाथ परमेश्वर जिनेश्वरदेव केवलज्ञान से तीन काल-तीन लोक को देखा, उसमें भिन्न-भिन्न चीज़ है, वैसा देखा और भिन्न-भिन्न है—ऐसा कहा, तथापि वह अज्ञानी भिन्न को अपने अभिन्नरूप से मानता है, वह अज्ञान और मिथ्यादर्शन है। आहाहा! कहो, हिम्मतभाई! ऐसा है। ऐसा सूक्ष्म कहाँ पकड़ना? कहो, रामजीभाई! उस खेत में सब पैसे पैदा हों, पाँच-दस लाख। ऐसी बात! आहाहा! परन्तु यह कहते हैं कि,

वह जड़ है, वे मुझे मिले। तो ज्ञायकभाव को जड़रूप से माना। आहाहा! आहाहा! प्रत्येक में यह है। ज्ञायकभाव। है न? यह तो अभी पहले छह बोल लिये।

इसी प्रकार पर जीव। स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पुत्र, पुत्री मेरे हैं। यह इसमें आता है। यह पुत्र मेरा, पुत्री मेरी, बहू मेरी, मेरे लड़के, उनकी बहू मेरी। प्रभु! कितने मेरे तूने खड़े किये? आहाहा! ऐसा जो ज्ञायकभाव प्रभु, उसे भूलकर वे (पर) मेरे हैं, ऐसा जो अध्यवसाय करता है, वह अज्ञान तथा मिथ्यादर्शन और अनाचरण है। आहाहा! क्या सन्तों की शैली! ओहोहो! जगत के पास भिन्नपने की भावना कराने की लाईन! आहाहा! प्रभु! तू भिन्न है न! एक ओर सारा विश्व तथा एक ओर प्रभु ज्ञायक। आहाहा!

ज्ञायकस्वभाव सत् है, अहेतुक है। आहाहा! ऐसा जो भगवान ज्ञायकस्वभाव वस्तु... वस्तु... वस्तु... वस्तु, जिसमें अनन्त-अनन्त गुण बसे हुए हैं, ऐसे ज्ञायकभाव को न जानकर, उससे भिन्न चीज़ को मेरी (है मानता है)। जीव मेरा, यह जीव मेरा, यह पुत्र मेरा... आहाहा! यह भाई मेरा। दो भाई (हों)। भाई कुछ, पानी में डण्डे मारने से अलग पड़ता है? पानी में डण्डा मारे तो भी पानी वापस इकट्ठा हो जाता है। इसी प्रकार भाई कहीं अलग पड़ते हैं? बापू! ऐसा कहते हैं। अरे! बापू! परन्तु भाई तेरा था कब? आहाहा! इससे तो जब मकान बनावे, छह भाई हों, मकान बनावे तो ऐसी पूरी ओसरी में दो-दो खम्बे डाले। देखा है न? कारण कि बंटवारा करना हो तो इस खम्बे की ओर इसका और इस खम्बे की ओर उसका। बीच में डाल दे। आहाहा! थांभली समझ में आता है? खम्बा। बड़ी लम्बी ओसरी हो न? छह भाईयों के बीच। बीच में हो तब तक सब एक हो, परन्तु मूल तो पहले से दो-दो ऐसे खम्बे साथ रखते हैं। यहाँ बीच में डाले तो इसकी ओर का इसकी ओर तथा इसकी ओर का इसकी ओर। आहाहा! तू पहले से भिन्न करता है तो पहले से ऐसे भिन्न कर न! हैं? शान्तिभाई! यह पहले से भिन्न कर न! प्रभु! मैं तो ज्ञायक हूँ न! पर तो दूसरे खम्बे की ओर गये, वे पर में जाते हैं। आहाहा! यह रजकण भी नहीं और यह जीव भी नहीं। आहाहा! अरे! तीन लोक का नाथ देव, वह जीव भी मैं नहीं। महान सन्त कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे गुरु, परन्तु वह जीव मैं नहीं। मैं तो ज्ञायकभाव हूँ। ऐसा भूलकर पर जीव को एकत्व अध्यवसाय से अपना मानता है; होते नहीं, परन्तु मानता है। आहाहा! ऐसा अब कब छोड़े? आहाहा!

बीस-पच्चीस वर्ष का जवान शरीर हो... आहाहा! जवान स्त्री हो, जवान पति हो। पाँच-पच्चीस लाख पैसा हो, मकान-बकान (हो), कमाता हो। पाँच-पन्द्रह... आहाहा! अरेरे! यह सब घेराव, जड़ और पर आत्मा के घेराव में स्वयं घिर गया। शिवलालभाई! तुम्हारे तो कोई लड़का, लड़की नहीं है। यह कहते थे, थोड़ा भाग कम किया है। भाई का दृष्टान्त दिया न? हसमुख का। हसमुख ने तो पूरा निकाल डाला। तीन भाईयों में से पूरा निकाल डाला। तब कहे, मैंने भी भाग कम किया है। उसके तो दो लड़के हैं—एक लड़का और लड़की। इनके तो कुछ नहीं है। यह तो एक दृष्टान्त है। वह तो दुनिया में बनता ही है न!

मुमुक्षु : लड़के का तो आप इनकार करते हो, लड़का माने तो खोटा मानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : खोटा ही है। पैसा कैसा? लड़का कैसा? लड़की कैसी? भाई! पैसा पुद्गल में जाता है। लड़के लड़की का आत्मा जीव में जाता है। वह जीव पर है।

यहाँ तो देव और गुरु का आत्मा भी, पर जीव है। आहाहा! यह इसमें आ गया। धर्म आदि कहा न? आदि अर्थात् छह द्रव्य। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश। आकाश को भी अपना मानता है। जिस जगह में मकान में रहता हो, उस मकान के ऊपर भी किसी की मंजिल नहीं चढ़ाई जाएगी। वह सब आकाश का भाग भी मेरा है। होता है या नहीं? तखतराजजी! क्या कहा यह? मकान चिनाते हैं न? फिर दो मंजिल ऐसी की ऐसी (रखे)। कोई सात मंजिल करके ऊपर ऐसे डाले (तो) नहीं डालने दे। अपनी दो मंजिल हो और वह सात मंजिल करके ऊपर (डालने जाए तो कहे), नहीं, मेरी जगह है। अरे! अरे! ऐसी भ्रमणा में भगवान भूला न! यह आकाश मेरा है, यह खेत मेरा है। आहाहा!

भगवान सत्रूप ज्ञायक अहेतुक स्वतन्त्र चीज़ है। उसे परपदार्थ के साथ भिन्न है, उसे भिन्न न जानकर, एकरूप जानना वह अध्यवसाय मिथ्यात्व है। है? **जो अध्यवसान है, उस अध्यवसानवाले जीव को भी, ज्ञानमयपने के सद्भाव...** नीचे है। (ज्ञानमयपना अर्थात्) **आत्मा ज्ञानमय है, इसलिए सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है।** प्रभु का। आहाहा! आत्मा का तो ज्ञानस्वरूप एकरूप है। इस जड़ के रूप और धूल के रूप तो जड़ के, मिट्टी के हैं। आहाहा! वह रूप है, वह मैं हूँ, मैं रूपवान हूँ, ऐसी जड़ की पर्याय

को अपने चैतन्य के स्वरूप के साथ एकत्व करना, (वह अज्ञान है)। आहाहा! ऐसा उपदेश। वह तो कुछ करो, बस! इच्छामि पडिकम्मणा, इरिया... विहिया... इच्छामि पडिकम्मण किया था या नहीं? पहले शुरुआत में तो किया होगा न? यह तो हमने भी किया है। है? आहाहा! यहाँ तो दस वर्ष की उम्र से किया है। अस्सी वर्ष हुए। पूरा प्रतिक्रमण, सामायिक... मैं प्रतिक्रमण कराता था, हों! पालेज में प्रतिक्रमण मैं कराता था। सब पर्यूषण में। कुछ खबर नहीं होती। प्रतिक्रमण भाषा किसकी और जड़ किसका? आहाहा!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं, शान्ति से शान्ति का मार्ग सुन, प्रभु! आहाहा! यह शान्ति का मार्ग है। पर की एकता तोड़ने से शान्ति होगी, बाकी पर की एकता मानने से अशान्ति और मिथ्यात्व होगा। आहाहा! इत्यादि अर्थात् छहों द्रव्य। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, जीव और पुद्गल। **इत्यादि जो अध्यवसान है, उस अध्यवसानवाले जीव को भी ज्ञानमयपने के सद्भाव के सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है...** भगवान आत्मा सत्रूप अहेतुक ज्ञान जिसका एक रूप—स्वरूप है। आहाहा! चैतन्यप्रकाश के नूर का पूर प्रभु है। आहाहा! ऐसे चैतन्य के प्रकाश के नूर के पूर के साथ में, परद्रव्य को यह मेरे हैं, ऐसी एकत्वबुद्धि करना, वह मिथ्या अज्ञान है। आहाहा!

ज्ञान ही जिसका एक रूप है, ऐसे आत्मा का और ज्ञेयमय धर्मादिक... देखा? धर्मास्तिकाय ज्ञेय है। भगवान त्रिलोकनाथ भी ज्ञान में ज्ञेय हैं। आहाहा! यह भी ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से है, परन्तु यहाँ तो भेद पाड़कर समझाना है न? लड़का है, वह ज्ञेय है। मेरा है, ऐसा नहीं, वह तो ज्ञेय है। लड़की मेरी है, ऐसा नहीं, वह तो ज्ञान में ज्ञेय है। आहाहा! ज्ञात हो ऐसा है। पैसे तेरे नहीं नहीं परन्तु पैसे वे ज्ञेय हैं। यह इन्द्रिया जो जड़ है, वे ज्ञेय हैं, वे तेरी नहीं परन्तु वे ज्ञेय हैं। आहाहा! पुद्गल में आवे न वह? आहाहा! इसी प्रकार यह वस्त्र और... आहाहा! वे सब ज्ञेय हैं, तेरे नहीं हैं। परन्तु हमने ओढ़े हैं न? यह टोपी और यह कपड़े। कौन ओढ़े? भाई! आहाहा! अब ऐसा मार्ग सुनना कठिन पड़े, वह समझे कब, परिणमावे कब? भाई! आहाहा!

ऐसा त्रिलोकनाथ जिनेश्वर परमात्मा का यह हुकम है। उनका यह आदेश—आज्ञा

है। आहाहा! प्रभु! यदि तू जिनेश्वर को मानता हो तो जिनेश्वर की आज्ञा यह है। आहाहा! कि प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक जीव, तेरे ज्ञायकस्वभाव से भिन्न है। उन्हें तू मेरे हैं, ऐसा मानकर अध्यवसाय करे, प्रभु! वह तो आज्ञा से बाहर का अज्ञान है। आहाहा! कहो, शुकनलालजी! तुम्हारे तो एक स्त्री और लड़की, दो हैं। हैं? छोटी उम्र से ब्रह्मचर्य ले लिया न! लड़का नहीं है तो भी ले लिया। एक ही लड़की है। आहाहा! यहाँ तो लड़की भी नहीं, लड़का नहीं और स्त्री नहीं किसी की। आहाहा!

ज्ञायकभाव आत्मा प्रभु, भगवन्त! तेरा स्वरूप तो चैतन्य अहेतुक ज्ञायक है न! वह तेरा रूप और वह तेरा स्वरूप और वह तेरा माल है। हैं? आहाहा! ऐसे माल बिना तू प्रभु! दूसरे की चीज़ को तू तुझमें माने, प्रभु! खून होता है, चैतन्य का खून होता है। आहाहा! यह ज्ञायकभाव, ऐसा सत् अहेतुक प्रभु, बालक हो या जवान हो, वृद्ध हो। आबाल-गोपाल (सब में) भगवान पूर्णानन्द प्रभु विराजता है। आहाहा! वह ज्ञायक सत् अहेतुक है। है, उसका हेतु क्या होगा? आहाहा! यह तो द्रव्य की बात है, परन्तु पर्याय भी ज्ञप्ति अहेतुक है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

ज्ञान ही जिसका एक रूप है, ऐसे आत्मा का और ज्ञेयमय धर्मादिक का... यह धर्मास्ति, सर्वज्ञदेव, वे ज्ञेय हैं। आहाहा! भगवान के शास्त्र भी ज्ञान में ज्ञेय हैं। प्रभु! वह ज्ञेय है और तू ज्ञायक है। आहाहा! इसके अतिरिक्त वह चीज़ मेरी है और उससे मुझे ज्ञान हुआ, शास्त्र से मुझे ज्ञान हुआ, (ऐसा नहीं है)। अरे! गजब बात है! अरर! शास्त्र के पन्ने और शास्त्र तो कहते हैं कि ज्ञेय है न! उससे ज्ञान होगा? ज्ञान उसमें है या ज्ञान यहाँ है? आहाहा! समझ में आया? समझ में आये ऐसी भाषा तो सादी है, प्रभु! आहाहा! देह को न देख, नाथ! अन्दर भगवान है। ज्ञायकभाव से भरपूर सत् अहेतुक है। आहाहा! सत्साहेब चिदानन्द प्रभु अपनी अस्ति अपने से रखता है। ऐसे ज्ञायकभाव को और धर्मास्ति, पुद्गल परमाणु, शरीर, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पुत्र-पुत्री, देव-गुरु-शास्त्र, ये सब ज्ञान में ज्ञेय हैं। आहाहा! ऐसा गले उतरना (कठिन पड़ता है)। कहो, चिमनभाई! ऐसा है। आज रविवार है, तुम्हारा रविवार। आहाहा!

प्रभु! तू एक ओर राम तथा एक ओर गाँव। एक ओर आत्माराम ज्ञायकभाव और

इसके अतिरिक्त राग से लेकर सभी परद्रव्य ज्ञेय हैं। आहाहा! उस ज्ञेय को ज्ञेयरूप से न जानकर, ज्ञेय को मेरा ज्ञान है, ऐसा मानता है, मेरे हैं (ऐसा मानता है, वह अज्ञान है)। आहाहा! **ज्ञेयमय धर्मादिक...** है? धर्मादिक के बाद क्या है? **धर्मादिकरूपों का विशेष न जानने के कारण...** पुद्गल के रूप का विशेष नहीं जानने के कारण, दूसरे जीव का विशेष नहीं जानने के कारण, **भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से,...** आहाहा! ज्ञायकभाव प्रभु है, उसका इसे अज्ञान है। यह मेरा है, ऐसा मानकर ज्ञेय को अपना मानता है। यह ज्ञान मेरा है, ऐसा न मानकर, ज्ञेय मेरा है, ऐसा मानने से अज्ञान को सेवन करता है। आहाहा!

आत्मा का अज्ञान होने से,... अर्थात् कि आत्मा ज्ञायक है, उसका अज्ञान होने से। वे ज्ञेय मेरे हैं, ऐसा मानने से, उस ज्ञायक का अज्ञान होने से। आहाहा! जरा सूक्ष्म है, भाई! यह जवानों को जरा (कठिन) लगे परन्तु सबको समझ में आये ऐसा है, प्रभु! आहाहा! अरे! ऐसा अवसर कब मिलेगा? भाई! मनुष्य का एक समय! आहाहा! आत्मा को समझने के लिये इसको महँगा कहा है। भोग के लिये और बाहर के लिये नहीं। आहाहा! कौस्तुभमणि से भी कीमती कहा है। श्रीमद् में आता है। आहाहा! वह आत्मा के लिये है। अरे! ऐसा अवसर कहाँ होगा? भाई! आहाहा! तिर्यंच में, नारकी में, देव में कहीं नहीं मिलेगा।

उस ज्ञेयपने को प्राप्त। ज्ञानस्वरूप भगवान, ज्ञायकभाव स्वरूप प्रभु में परद्रव्य वे ज्ञेयपने को प्राप्त, उन ज्ञेयपने को प्राप्त को न मानकर... आहाहा! **भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से...** ऐसा शब्द लिया है, देखा? ज्ञेय से (भिन्न) ज्ञायकस्वभाव का ज्ञान नहीं होने से, श्रद्धा नहीं होने से। आहाहा! **भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है...** ज्ञेय, वे ज्ञायकभाव के हैं; ज्ञेय, वे ज्ञायकभाव के हैं, यह अदर्शन और मिथ्यादर्शन है। आहाहा!

इस चक्रवर्ती के राज्य में रहना या नहीं? कौन रहता है? आहाहा! यह तो कहे, मैं तो ज्ञायक हूँ, प्रभु! यह सब रहते हैं, वे उसमें रहते हैं। मेरे कारण नहीं और मुझमें नहीं। आहाहा! यह छियानवें करोड़ सैनिक, छियानवें हजार स्त्रियाँ। छियानवें हजार स्त्रियाँ!

एक स्त्री की हजार देव सेवा करे। वे मेरे नहीं और मैं उनका नहीं। मुझमें वे नहीं और उनमें मैं नहीं। मैं तो मुझमें और वे तो उनमें। आहाहा! ऐसा न मानकर, आत्मा का अदर्शन। भगवान (आत्मा) ज्ञायक है और वे ज्ञेय हैं, ऐसा न मानकर, अदर्शन से मिथ्यादर्शन है।

और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से... वे मेरे हैं, ऐसे आचरणवाला, उसे भिन्न ज्ञायकस्वभाव का अनाचरण होने से। आहाहा! **(वह अध्यवसान) अचारित्र है।** आहाहा! अब यहाँ शुभयोग है, वह मेरा है... वे ज्ञेय हैं, उन्हें मेरा माने वह अचारित्र है। आहाहा! प्रभु.. प्रभु.. प्रभु! मार्ग ऐसा है, प्रभु! तुझे लाभ हो, यह बात है। तुझे नुकसान होता है, प्रभु! उसकी बात चलती है। तुझे ऐसा नहीं लगना चाहिए कि अरेरे! हमारी बात खोलते हैं। हैं? प्रभु! तुझे लाभ हो, इसके लिए बात है। परमात्मा तुझे लाभ हो, वह बात करते हैं। तेरे दूषण बताते हैं, वह दूषण तेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा बताकर दूषण से तू रहित है, ऐसा बताते हैं। आहाहा! और तुझे आनन्द का लाभ हो, इसके लिये प्रभु तुझे यह बताते हैं। तू ऐसा न मान कि अरे रे! हम शुभयोग से धर्म मानते हैं। इसलिए हमारा अनादर करते हैं। ऐसा न मान, प्रभु! आहाहा! तुझे शुभयोग से भिन्न करके तुझे तेरे स्वरूप में रहने का बताते हैं। आहाहा! समझ में आया?

प्रभु! सब सुखानन्द (पाओ)। भाई लिखते हैं, नहीं? दसलक्षण में अन्त में लिखते हैं। मैं सब बात करता हूँ, परन्तु मेरी पवित्र भावना से सब आत्मायें सुखानन्द, अतीन्द्रिय आनन्द को पाओ, कोई विरोध में न रहो। अतीन्द्रिय आनन्द को पाओ, प्रभु! आहाहा! ऐसी भावना करके मैं विराम पाता हूँ, ऐसा लिखा है। पढ़ा है न? दसलक्षण। तखतराजजी ने सबको दिया है न? आहाहा! उनकी भाषा मीठी। पोल सब खोली है। सात प्रतिमाधारी हो, वह भी गृहस्थाश्रम में रहे, स्वयं से आहार बनावे और स्वयं कमाकर खाये और तू वस्त्र बदलकर धर्मशाला में बैठा, दूसरे के सिर पर भार डालने। कैसी बात की है! परन्तु फिर प्रभु! ऐसा कहा, भाई! तुझे यह दूषण बताने के लिये, रखने के लिये नहीं बताते। तेरे दोष से तेरी निन्दा करने के लिये नहीं। परन्तु तेरा यह स्वरूप विरुद्ध है, प्रभु! आहाहा! उसे टालकर तू सुखानन्द—अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त कर। आहाहा! कहो, चेतनदासजी! आहाहा! ऐसी बात है।

यहाँ परमात्मा (कहते हैं), अभी सन्त कहते हैं, मुनि अमृतचन्द्राचार्यदेव।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव की गाथा है। गाथा का यह भावार्थ है, टीका का यह अर्थ है। लोग नहीं कहते ? तू मेरी क्या टीका करता है ? टीका अर्थात् विस्तार। ऐसे यह वस्तु में है, उसकी टीका करके बताते हैं। अरेरे! ऐसे अमृतचन्द्राचार्य के लिये, अपनी दृष्टि में मेल नहीं खाता, इसलिए उन्हें काष्टासंघी कहना और जयसेनाचार्यदेव की (टीका में) व्यवहार साधक है, निश्चय साध्य है, यह बहुत जगह आता है, (इसलिए) उन्हें ठीक पड़ता है। आहाहा! प्रभु! इसका अर्थ ऐसा नहीं है। वे आचार्य भी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी थे। आहाहा! उसने कहा न ? कि, कुन्दकुन्दाचार्यदेव को मानने पर दूसरे आचार्यों का बलिदान देना पड़ता है। प्रभु! दूसरे आचार्य ऐसे नहीं हैं। दूसरे सभी आचार्य कुन्दकुन्दाचार्यदेव की दृष्टिवाले हैं। आहाहा! भाई! यह कहने की पद्धति में अन्तर है, वस्तुभेद नहीं है। आहाहा!

भगवान.. भगवान... चारों ओर। आहाहा! परमात्मस्वरूप प्रभु तू ज्ञायक है और ये सब ज्ञेय हैं न! पुत्र-पुत्री, पुत्र-वधु, लड़के, पैसे, मकान, परमाणु, दाल, भात, सब्जी, दाढ़... आहाहा! यह गहने और कपड़े, ये सब ज्ञेय हैं न! आहाहा! पैसा ज्ञेय है, खाता ज्ञेय है। प्रभु! तू तो ज्ञायक है न! वह ज्ञायक और ज्ञेय की एक मान्यता से तुझे मिथ्यात्व होता है, प्रभु! आहाहा! जाननेयोग्य है, उसे ऐसे न मानकर, माननेयोग्य है ऐसा तूने माना। आहाहा! मेरे हैं, ऐसा मानने लगा। पर है, ऐसे जाननेयोग्य पर है, ऐसे माननेयोग्य बराबर है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! क्या सन्तों की टीका! कितनी गम्भीरता भरी है!!

छह द्रव्य, कोई द्रव्य बाकी नहीं। एक आत्मा के अतिरिक्त जितने द्रव्य (हैं, वे सब)। आहाहा! नाक, आँख, जीभ और यह सब पुद्गल मिट्टी है। वे सब ज्ञेय हैं। ज्ञायकभाव प्रभु तू, वे तो ज्ञेय हैं। और वे ज्ञेय मेरे करके, अध्यवसाय करके पड़ा प्रभु! तो तुझे ज्ञायकभाव का तो अज्ञान है। ज्ञायकभाव की अश्रद्धा और ज्ञायकभाव के आचरणरहित अनाचरण है। आहाहा! कहो, तखतराजजी! ऐसा सुनने को नहीं मिलता। ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा! क्या सन्त की वाणी! क्या मीठी मधुर! झरना झरता है!! अमृत का झरना बहता है।

अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि तेरे अतिरिक्त कोई भी एक परमाणु या तेरे अतिरिक्त कोई भी जीव... आहाहा! स्त्री-पुत्र हो या दुश्मन हो, वे सब ज्ञेय हैं, दुश्मन नहीं। आहाहा! मित्र, वह मित्र नहीं, वह ज्ञायक के ज्ञेय हैं। आहाहा! तेरा ज्ञायकभाव प्रभु, सत् अहेतुक

अतिरिक्त बाह्य में जितनी चीज़े, परमाणु और जीव हैं.. आहाहा! वे सब ज्ञेयपने को प्राप्त हैं। उसके बदले मेरे हैं, ऐसी मान्यता प्रभु! तूने खड़ी की है, तुझे नुकसान है। आहाहा! उससे तुझे अज्ञान और अश्रद्धा होती है और आत्मा का अनाचरण होता है। आहाहा! यह अनाचरण। लोग सदाचरण कहते हैं न? वह सदाचरण भी अनाचरण है। राग और सत्य और यह और वह। आहाहा!

सत् अहेतुक ऐसा ज्ञायकभाव, उसे ज्ञेय से भिन्न जानकर अन्दर में आचरण करना, वह सदाचरण है। वह सदाचरण—सत् का आचरण है। बाकी शुभ आदि परिणाम वह सत् आचरण नहीं है, वह तो असत्आचरण है। अरेरे! जगत को कठिन पड़े। आहाहा! रामजीभाई! ऐसी बात है, भगवान! आहाहा! प्रभु है, भाई! आहाहा! तेरी महत्ता की, महिमा की तुझे खबर नहीं है। तेरी महत्ता की-महिमा की, प्रभु! तुझे खबर नहीं और दूसरी चीज़ की महत्ता और महिमा लाता है... आहाहा! (उसमें) तेरी दृष्टि में से तेरी महिमा चली जाती है, प्रभु! है तो महिमावाला। दृष्टि में से महिमा चली जाती है। पर को महिमा दे। पैसेवाले और इज्जतवाले और स्त्रीवाले और पुत्रवाले, लड़के आठ-आठ हुए और सब कमाऊ हुए। उसमें क्या, धूल में क्या हुआ? आहाहा!

यह यहाँ प्रभु कहते हैं कि **(वह अध्यवसान) अचारित्र है। इसलिए यह समस्त अध्यवसान बन्ध के ही निमित्त हैं।** बन्ध अधिकार है न? अब कहते हैं कि वह जिसे नहीं है। जिसे है, यह अस्ति सिद्ध की। अब जिसे नहीं, यह नास्ति सिद्ध की। आहाहा! सन्तों को और समकिती को वह नहीं है-ऐसा कहते हैं। मूल सन्त की, मुनिपने की बात करते हैं, परन्तु समकिती को भी वह अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि नहीं है। आहाहा! भले राज में पड़ा हो, इन्द्र के इन्द्रासन में, शकेन्द्र एकावतारी समकिती है। करोड़ों अप्सरायें हैं। कोई मेरा नहीं। मेरा, वह मुझसे भिन्न नहीं होता। भिन्न, वह मेरा नहीं, मेरा वह भिन्न नहीं होता। आहाहा! मैं तो ज्ञायक और आनन्दस्वरूप, वह मेरे स्वरूप से भिन्न नहीं होता। ऐसे इन्द्र के पद में भी इन्द्रासन में रहा हुआ समकिती अपने को ऐसा मानता है। आहाहा! उस अज्ञानी को एकत्व का अध्यवसान होता है, ज्ञानी को नहीं होता। यह विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३३१, गाथा-२७० सोमवार, आसोज कृष्ण ३
दिनाङ्क - ०८-१०-१९७९

समयसार, २७० गाथा। दूसरा पैराग्राफ। **मात्र जिनके यह अध्यवसान विद्यमान नहीं...** क्या कहते हैं? पर की हिंसा करूँ या दया पालूँ या परवस्तु मेरी—ऐसा जो एकत्व-अध्यवसाय मिथ्यात्व है, वह जिसे नहीं है। मुनि की प्रधानता से कथन है, जिसे वह नहीं है, **वे ही कोई (विरले)...** कोई **मुनि-कुंजर...** आहाहा! मुनिवर कोई विरले। **सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है,...** आहाहा! देह की क्रिया तो नहीं परन्तु दया, दान, रागादि की क्रिया भी नहीं। जिन्हें सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति एक क्रिया है। पर्याय में सत्रूप... **पर्याय भी सत् है, अहेतुक है।** (अर्थात्) कोई राग था, इसलिए हुई, ऐसा नहीं है। **ज्ञप्ति...** जाननक्रिया। पर्याय में जाननक्रिया। वह सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही। यहाँ 'ही' शब्द लिया है। आहाहा! धर्मी को सत् अहेतुक ज्ञप्तिक्रिया ही एक होती है, ऐसा कहते हैं।

पर्याय में राग से भिन्न, पर की एकत्वबुद्धि से भिन्न, अपनी ज्ञप्ति क्रिया, जो पर्याय में जाननक्रिया होती है, वही एक क्रिया है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। अन्तर भगवान... यहाँ अभी लेंगे। ज्ञायकस्वभाव द्रव्य है और ज्ञानस्वभाव गुण है और ज्ञप्तिक्रिया जिसकी पर्याय है। आहाहा! क्योंकि राग और परवस्तु से भिन्न अपनी चीज़ ज्ञायकस्वभाव, ज्ञानरूप जानी है। ज्ञायकस्वभाव (वह) द्रव्य, स्वभाव ज्ञानरूप जानी है तो उसकी ज्ञानक्रिया एक है। आहाहा! लो, यह धार्मिक क्रिया। जिसकी ज्ञप्ति—जानन... जानन... जानन... (क्रिया) ज्ञानस्वरूप चैतन्य ज्ञायकभाव, उसका जो ज्ञानस्वभाव, उसकी वर्तमान पर की एकताबुद्धि गयी और अपनी पर्याय में अपने द्रव्य की एकताबुद्धि हुई तो ज्ञायकभाव, उसका ज्ञानगुण स्वभाव, उसकी वर्तमान में ज्ञप्ति-जाननक्रिया मात्र एक क्रिया है। आहाहा! यह धर्म, यह धार्मिक क्रिया।

सम्यग्दृष्टि को भी ऐसा होता है, परन्तु यहाँ मुख्यपना मुनि का (लिया है), तीन कषाय का अभाव है। आहाहा! मुनि को मुनिपना कैसा होता है? आहाहा! मुनि पंच परमेष्ठी में आये हैं तो उनकी क्रिया पर्याय में कैसी होती है?—कि ज्ञप्ति जिनकी एक क्रिया

है। ज्ञप्ति ही! ऐसा शब्द है? **ज्ञप्ति ही जिसकी एक...** ही और एक। आहाहा! जाननक्रिया, जाननक्रिया, जाननक्रिया। जाननक्रियारूपी परिणमन एक ही जिसकी क्रिया है। आहाहा! यह मुनिपना। आहाहा! यह धार्मिक क्रिया। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, वह तो पाप है; दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, वह तो पुण्य है; वह धर्म नहीं, वह धार्मिक क्रिया ही नहीं। आहाहा!

धार्मिक क्रिया... धर्मी ऐसा जो भगवान ज्ञायकस्वभाव, उसका धर्म जो त्रिकाली ज्ञानस्वभाव, उसकी परिणति-वर्तमान में ज्ञप्तिक्रिया-जाननक्रिया। आहाहा! श्रद्धा की क्रिया। आहाहा! एकरूप स्थिरता की क्रिया। सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग लोगों को एकान्त लगता है। यहाँ तो एकान्त ही है। एक ही ज्ञप्तिक्रिया धर्मी को होती है। आहाहा! शरीर की क्रिया तो जड़ की है और अन्दर दया, दान की क्रिया तो राग और विकार की है, वह कोई आत्मा की क्रिया नहीं है। आहाहा!

सत् 'सत्तास्वरूप, अस्तित्वस्वरूप। (आत्मा ज्ञानमय है, इसलिए सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही उसकी एक क्रिया है)' नीचे (फुटनोट में है)। आहाहा! आत्मा ज्ञायकस्वभाव, उसका ज्ञानगुण, उस ज्ञानगुण की परिणति पर की एकत्वबुद्धि हटकर स्वभाव में एकत्वबुद्धि हुई तो ज्ञान की ज्ञप्तिक्रिया ही एक आत्मा की धार्मिक क्रिया है। आहाहा! व्यवहार क्रिया, साधन कहते हैं न? यहाँ तो निकाल डाला। यह अमृतचन्द्राचार्य ने (कहा), परन्तु पाठ में है न! पाठ में कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। है? '**मुणी ण लिप्पंति**' '**असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति**' यह स्वयं पाठ में कहते हैं। २७० (गाथा) इसका अर्थ अमृतचन्द्राचार्यदेव ने किया है। अनादिकाल का अभ्यास नहीं और बाह्यदृष्टि का अभ्यास। दया, दान, व्रत, भक्ति वह धर्म है। भक्ति, पूजा, यात्रा (वह धर्म है), ऐसा मान लिया है। है नहीं।

एक भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप, त्रिकाली एक ज्ञायकभाव, उसका ज्ञानगुण स्वभाव और उस ज्ञानगुण की अथवा उस अनन्त गुण की परिणति, जो ज्ञप्तिक्रिया, एक ज्ञान से लिया है परन्तु अनन्त गुण की ज्ञप्ति एकाकार क्रिया। उन ज्ञानादि अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उस ओर की एकत्व की क्रिया। वह ज्ञप्तिक्रिया, श्रद्धा की क्रिया, शान्ति की क्रिया,

आनन्द की क्रिया। आहाहा! वीर्य की सम्यक् क्रिया, उन सबको यहाँ एक ज्ञप्ति क्रिया कहा गया है। अरे! ऐसी बात है। कहो, शान्तिभाई! ऐसा मार्ग है। आहाहा!

विश्व से निराला प्रभु, ज्ञानस्वरूपी ज्ञायकभाव, उसकी दृष्टि होने से पर की दृष्टि-एकत्वबुद्धि नाश होने से, भगवान ज्ञायकस्वरूप में, ज्ञानरूप में एकत्व होने से, ज्ञान की पर्याय, श्रद्धा की पर्याय, शान्ति की पर्याय, आनन्द की पर्याय, अनन्त गुण की पर्याय को यहाँ ज्ञप्तिक्रिया कहा गया है। आहाहा! समझ में आये इतना समझना, प्रभु! मार्ग बहुत अलौकिक है, भाई! आहाहा! ज्ञान की प्रधानता से कथन है, इसलिए ज्ञप्तिक्रिया कहा गया है। जानन... जानन... जानन... जानन, देखन, श्रद्धा-शान्ति-वीतरागता आनन्द आदि क्रिया, अनन्त गुण की एकाग्रता की पर्याय। पर्याय अर्थात् अवस्था। उसे यहाँ ज्ञप्तिक्रिया (कहा गया है)। ज्ञप्तिक्रिया ही जिसकी-आत्मा की-धर्मी जीव की एक क्रिया है। आहाहा! समझ में आया? आहा! ऐसी बात है।

सत्रूप है, सत्रूप है। यह जाननक्रिया, श्रद्धाक्रिया, आनन्द की क्रिया, वीर्य की क्रिया, अनन्त गुण की क्रिया, वह उत्पादरूप सत् है, उत्पादरूप सत् है। आहाहा! 'उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्'। यह जो जाननक्रिया, श्रद्धाक्रिया, आनन्दक्रिया, शान्तिक्रिया, यह क्रिया सत्रूप-उत्पादरूप सत् है और यह सत् है तो वह अहेतुक है, कोई हेतु नहीं। है, उसका हेतु कौन? आहाहा! और वह एकरूप है। आहाहा! संक्षिप्त शब्द में ज्या समाहित किया है! गजब किया है! कुन्दकुन्दाचार्य महामुनि सन्त (ऐसा कहते हैं), जिसे अध्यवसाय नहीं है, वह शुभाशुभभाव के कर्म से लिप्त नहीं होता। उसका यह अर्थ करते हैं। आहाहा! शुभ-अशुभ विकल्प से लिप्त नहीं होता अर्थात् कि वह मुनि... लिप्त नहीं होता, इसमें से नास्ति में से यह निकाला कि अपनी ज्ञप्तिक्रिया जिसकी क्रिया है, उसकी जिसने उत्पत्ति क्रिया की है। आहाहा! समझ में आया?

ओहोहो! सन्तों ने करुणा करके जगत को उसके रूप में बैठाया है। प्रभु! तू वहाँ जा। प्रभु! तू हैरान हो गया है। भाई! तेरे घर बिना बाह्य पुण्य और पाप, पर के संयोग में उलझ गया है। आहाहा! शुभ और अशुभभाव तथा संयोगी चीज़ में तेरा अस्तित्व मानकर, प्रभु! तू उलझ गया है। प्रभु! तेरी उलझन कब टले? उसके ऊपर से दृष्टि छोड़कर, जहाँ

तेरा सत् है... आहाहा! ऐसी जो ज्ञायकसत्ता है, सर्वत्र, सर्वक्षेत्र में, सर्व काल में विराजमान प्रभु... आहाहा! ऐसा जो त्रिकाली ज्ञायकभाव, उसका जो ज्ञानरूप गुण, उसकी अन्दर द्रव्य की दृष्टि होने पर पर्याय में ज्ञप्ति, श्रद्धा, शान्ति की परिणति होती है, वह एक ही क्रिया धार्मिक और धर्म की है। है इसमें? आहाहा!

यहाँ तो अभी कहते हैं कि बाहर की राग की, दया की, दया, दान और व्रत को साधन कहते हैं न? भाई! वह तो ऐसा हुआ है, उसे यह साधन का आरोप देकर साधन कहा है। प्रभु! क्या करें? आहाहा! उसे आरोप देकर बात की है, बाकी वस्तु तो यह है। आहाहा! अरे! उसके ज्ञान में भी ऐसे सत्य का स्वीकार नहीं आवे तो स्वभावसन्मुख होकर वह ज्ञप्तिक्रिया कैसे करे? जिसके ज्ञान में जानने में भी यह ऐसा न आवे कि यह वस्तु है और उसका गुण ज्ञान है, उसमें एकाग्र होना, वह मेरी क्रिया है—ऐसा ज्ञान न आवे, वह स्वभावसन्मुख कैसे होगा? और वह विभाव से, पर से विमुख कैसे होगा? आहाहा!

इस शब्द में तो बहुत भरा है। जाननक्रिया अहेतुक (कहा)। है पर्याय। आहाहा! जानने-देखने की स्वभाव के लक्ष्य से (होनेवाली क्रिया)। जिस क्रिया से परलक्ष्य में जो एकत्वबुद्धि थी, उसका नाश करके... आहाहा! राग मैं, उसका भी-एकत्व का नाश करके, चैतन्यस्वभाव के सन्मुख की उन्मुखता-झुकाव करके और पर्याय में जो परिणति, ज्ञान की पर्याय, श्रद्धा की पर्याय, शान्ति की पर्याय, आनन्द की पर्याय, वीर्य की पर्याय, स्वच्छता की पर्याय, प्रभुता की पर्याय—यह अनन्त गुण की पर्याय को यहाँ ज्ञप्तिक्रियारूप से कहा गया है। आहाहा! अकेली ज्ञान की ही क्रिया, ऐसा नहीं। समझ में आया? कठिन काम है, प्रभु! आहाहा! निवृत्ति नहीं मिलती, फुरसत नहीं मिलती। संसार के काम के कारण निवृत्ति (नहीं मिलती)। उसमें एकदम ऐसी बात। अहा! धर्म के नाम से व्रत, तप करता हो, वह भी नहीं। आहाहा! वह भी राग है। वह राग की क्रिया, वह अधर्म है। आहाहा! और ज्ञप्तिक्रिया, वह धर्म है। यह क्या कहते हैं?

भगवान ज्ञायकस्वभाव वस्तु का ज्ञान मुख्यरूप से स्वभाव है। मुख्य (है परन्तु) इसमें अविनाभावी अनन्त गुण हैं। उसके अनन्त गुण का वर्तमान द्रव्य की दृष्टि होने से, राग की एकता टूट गयी होने से, स्वभाव की एकता प्रगट की होने से... आहाहा! ज्ञप्ति एक ही

जिसकी क्रिया है। 'ही' (कहकर) एकान्त कहते हैं। आहाहा! निश्चयनय है न? सम्यक् एकान्त है। आहाहा! बहुत... बहुत, बहुत... बहुत भरा है। आहाहा!

यह तो जिसे भव का डर लगा हो, अरे रे! कहाँ जाकर उत्पन्न होऊँगा? मैं कौन और कहाँ जाऊँगा? मेरी चीज़ क्या है कि जिससे मुझे परिभ्रमण में उत्पन्न होना बन्द हो? आहाहा! चाहे तो देव का और सेठ का भव हो, वह भी भव तो कलंक है। आहाहा! ऐसा जिसे अन्तर में हुआ है, भले आठ वर्ष का बालक हो या करोड़ पूर्व के आयुष्यवाला मनुष्य हो, आहाहा! परन्तु भगवान तो अन्दर ज्ञायकस्वभाव विराजमान है। उसके ज्ञानगुण और अनन्त गुण के रूपवाला, अनन्त गुण के रूपवाला—रूपवान अर्थात् स्वरूपवान। आहाहा! ऐसा भगवान अनन्त गुण के स्वरूपवाला, उसकी ओर की एकाग्रता से अर्थात् द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि होने से, पर की एकता टूटी होने से, पर्यायबुद्धि नाश (हुई) होने से, द्रव्यबुद्धि प्रगट (हुई) होने से पर्याय में ज्ञप्तिक्रिया एक ही धार्मिकक्रिया है। आहाहा! गजब काम किया है। इस एक शब्द में तो गजब काम किया है। आहाहा!

भाई! तेरे हित की बात है। तुझे ऐसा लगे कि अरे रे! हम यह सब करते हैं, वह सब खोटा? उड़ा देते हैं। दया करते हैं, व्रत पालते हैं... बापू! भाई! तुझे ये नुकसान के कारण हैं, उन्हें उड़ाते हैं? प्रभु! तुझे लाभ के कारण में ले जाना चाहते हैं। आहाहा! तू उसका अनादर न कर। ऐसा एकान्त है, ऐसा मत मान, प्रभु! आहाहा! तुझे भगवन्त करना चाहते हैं। तू भगवन्तस्वरूप है न, प्रभु! आहाहा! तू भगवन्तस्वरूप ही है। अभी ज्ञायकभाव कहेंगे। ज्ञायकभाव कहो या भगवन्तस्वरूप कहो। आहाहा! उसे पर्याय में भगवन्तपना प्रगट करने को तुझे प्रभु बताते हैं। आहाहा! तू भगवान हो, तू पामर न रह। तू भव में न रह। आहाहा! तू राग में न रह। आहाहा! ऐसी उसकी महिमा को प्रगट करना चाहते हैं। हैं? इस पामरता का निषेध करके, प्रभु! आहाहा! अरे! यह किसे मीठा नहीं लगेगा? प्रभु! आहाहा! ऐसी वस्तु है न! आहाहा!

यहाँ तो इतना शब्द आया है, **मात्र जिनके यह अध्यवसान विद्यमान नहीं हैं...** ज़्या? हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, परिग्रह; अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य—देह की क्रिया। ऐसी जिसे एकत्वबुद्धि नहीं... आहाहा! अथवा नारकी, मनुष्य, देहादि मैं हूँ,

-ऐसी एकत्वबुद्धि नहीं है अथवा परद्रव्य जो है धर्मास्ति आदि, अनन्त परमाणु आदि और अनन्त जीव आदि, देव-गुरु और स्त्री, कुटुम्ब आदि सब आत्माएँ हैं, वह मैं नहीं। आहाहा! ऐसी जिसे एकत्वबुद्धि पर से टूट गयी है, वह मुनिराज महा कोई विरल जीव है। आहाहा! तरणतारणरूप से खड़े हैं। संसार समुद्र के किनारे खड़े हैं। आहाहा! भाई! वीतरागमार्ग... ओहोहो!

मुनि-कुंजर... मुनि की व्याख्या की है। बाकी तो समकिती की भी यह बात है, परन्तु समकिती में अभी तीन कषाय है, इसलिए इस बात को गौण रखकर, मुनि को तो तीन कषाय का अभाव है; इसलिए उनकी ज्ञप्तिक्रिया बहुत उत्कृष्ट और निर्मल है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उपदेश है। वह तो धमाधम चलती है - ऐसा करो, ऐसा करो... प्रभु! करो क्या? बापू! करना नहीं, यहाँ तो स्थिर होना है। हैं? आहाहा! स्थिर होना, यह करना नहीं है? स्वरूप भगवान महासत्ता चैतन्य भगवान, भगवत्स्वरूप परमात्मा, परमेश्वरस्वरूप प्रभु में स्थिर होना, वह कुछ करना नहीं है? आहाहा! इस एक पर्याय में गजब किया है, इसलिए जरा रुक (गये) आधा घण्टा होगा। आहाहा! इसका पार नहीं है।

कोई (विरले) मुनि-कुंजर (मुनिवरों) सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही... एकान्त करते हैं, एकान्त करते हैं। आहाहा! एकान्त का ज्ञान हो, तब फिर अनेकान्त का ज्ञान यथार्थ होता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अरे रे! ऐसा सुनने को मिलना मुश्किल पड़ता है। प्रभु! तेरे घर की बात है न! तेरा घर भरा भण्डार है। आहाहा! तेरे घर में तो प्रभु! अनन्त अनन्त लक्ष्मी (पड़ी है)। ज्ञान की, दर्शन की, आनन्द की, शान्ति की, वीतरागता की सब लक्ष्मी पूरी भरी है न! आहाहा! अनन्त-अनन्त लक्ष्मी का भण्डार है न! उसे खोलने की यह कला है। आहाहा!

ऐसा जो भगवान आत्मा, पूर्णानन्द का नाथ, पूर्ण वीतरागस्वरूप, पूर्ण ज्ञायकस्वरूप, पूर्ण आनन्दस्वरूप, पूर्ण परमात्मस्वरूप... आहाहा! पूर्ण परमेश्वरस्वरूप प्रभु (विराजमान हैं)। आहा! ऐसे परमेश्वर की दृष्टि होने पर तेरी पर्याय में प्रभु! अनन्त गुण, जितनी संख्या में हैं, वे सब परिणतिरूपी क्रिया में आ जाएँगे। आहाहा! अनन्त-अनन्त गुणों की क्रिया पर्यायरूप से परिणमन होगा, प्रभु! आहाहा! तुझे आनन्द का स्वाद आयेगा, तेरी प्रभुता की

पर्याय में प्रभुता कितनी है, उसकी तुझे प्रतीति होगी। आहाहा! तेरे आनन्द के स्वाद में पूर्ण प्रभु आनन्द की मूर्ति है, ऐसी तुझे प्रतीति होगी। आहाहा! गजब काम किया है न! आहाहा! थोड़े शब्दों में बहुत करके जानना, ऐसा लिखा है। थोड़ा लिखा बहुत जाननाा। आहाहा! दुनिया से अलग बात है, प्रभु! आहाहा!

आनन्द का नाथ प्रभु, जिसकी अमृत की धारा से भरपूर... आहाहा! अमृतसागर प्रभु, उसका जहाँ दृष्टि में स्वीकार हुआ और राग तथा पर की एकत्वबुद्धि का नाश हुआ, वहाँ उसकी पर्याय में सत्‌रूप अहेतुक ज्ञप्तिक्रिया परिणति प्रगट हुई, उत्पाद हुआ। ध्रुवरूप तो ज्ञायकभाव है, उसके अनन्त गुणरूप गुणस्वरूप है, वह भी ध्रुव है, परन्तु इस परिणति में उसकी ज्ञप्तिक्रिया खड़ी हुई। आहाहा! समझ में आये ऐसा है, प्रभु! आहाहा!

श्रोता : गुजराती में जो आवे, हिन्दी में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : हिन्दी में नहीं आता, यह तो है, भाई! समझ में आया?

अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ भरा है, उसकी परिणति। आहाहा! भरे भण्डार का ताला खोल डाला। आहा! दया, दान और व्रत की क्रिया मेरी, उसमें ताला बन्द था, वह मिथ्यात्व था। आहाहा! अरे रे! कठिन काम प्रभु! क्या हो? तेरी महिमा की बातें करते हुए हीनता की तुझे माहात्म्य आने से तुझे लज्जा आती है कि अरे! ऐसा होगा? आहाहा! परन्तु यह पुण्य और पाप के भाव लज्जास्पद हैं, प्रभु! कर्मजनित हैं; ये तेरे स्वभावजनित नहीं हैं। आहाहा! यह अधिक कैसे निकलता है? मात्र 'ही' और 'एक', इन दो शब्दों में सब भरा है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! है? 'ही' और 'एक'। आहाहा! प्रभु! यह अमृतचन्द्राचार्य ने ताला खोलकर इसका खजाना इसे नजर में बताया है। भाई! यह खजाना तू है न! इस खजाने में से निकली हुई यह दशा है न, प्रभु! आहाहा!

श्रोता : यह शुद्धोपयोग की बात है?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस उपयोग को अभी एक ओर रखो। वह और झगड़े में जाएगा। यहाँ तो परिणति है। शुद्ध उपयोग कहो तो भी दिक्कत नहीं है। परन्तु यहाँ तो अभी परिणति (लेना है)। द्रव्य, गुण और पर्याय तीन लेना है। आहाहा!

इस एक लाईन में अटका। आहाहा! जिसे राग और परपदार्थ मेरे हैं—ऐसी एकत्वबुद्धि

गयी है, उसे इस स्वभावस्वरूप भगवान में एकत्वबुद्धि हुई है, वह धर्मी कोई विरल धर्मी होता है। आहाहा! पशुशाला में जैसे अनेक प्रकार के पशु होते हैं, उसी प्रकार यह चीज़ नहीं है, कहते हैं। यह तो कोई विरल होता है। आहाहा! है? आहाहा!

सत्रूप, सत्रूप उत्पाद। सत्रूप भगवान आत्मा, सत् सत्तारूप वस्तु, उसका गुण, जो अनन्त गुण भी सत्तारूप सत् वस्तु, उसकी परिणति जो उसके अवलम्बन से होकर हुई है, वह भी सत्रूप है। उत्पाद भी सत् है। उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्। तीनों सत् हैं। वस्तु सत् है, वैसे उत्पाद जो धार्मिक क्रिया, वीतरागी दशा, आनन्द की दशा उत्पन्न हुई, वह भी सत् है। आहाहा! और वह सत् अहेतुक है, उसे कोई हेतु नहीं है। गजब बात है! कि भाई! राग की मन्दता की तो यह ज्ञप्तिक्रिया हुई, (ऐसे) उसे हेतु नहीं है। अरे! निश्चय से ज्ञप्तिक्रिया को द्रव्य-गुण का हेतु नहीं है। समझ में आया? आहाहा! भाग्य हो, उसके कान में पड़े, ऐसा है। आहाहा! यह तो भगवान का सन्देश देते हैं। आहाहा!

सत्रूप। यह उत्पाद है, हों! यह त्रिकाल की बात नहीं है। यह तो धर्म की उत्पादपर्याय हुई है। शान्ति, आनन्द, वीतराग पर्याय, अरागी पर्याय, वीतरागी पर्याय, आनन्द पर्याय, प्रभुता की पर्याय, प्रत्यक्ष ज्ञान की पर्याय। आहाहा! कर्ता, कर्म आदि एक समय की पर्याय में षट्कारक की परिणति खड़ी हुई है, वह सत्रूप अहेतुक है। आहाहा! उस परिणति को कोई राग की मन्दता का हेतु नहीं है और द्रव्य-गुण का भी हेतु नहीं है। आहाहा! समझ में आये उतना समझना, बापू! यह तो तीन लोक के नाथ, जिनेश्वर परमेश्वर का पुकार है, प्रभु! आहाहा! दुनिया को ऐसा लगता है कि यह तो चलता है, उससे दूसरा है। बापू! बात दूसरी है, भाई! आहाहा! वस्तु तो दूसरी है। आहाहा!

सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही... यह जानन, आनन्द, शान्ति ही। आहाहा! अनन्त गुण की निर्मल पर्याय प्रगट हुई, (वह) एक ही **जिसकी एक क्रिया है,**... उसमें राग का मैल नहीं। आहाहा! अनन्त गुण की पर्याय प्रगट हुई, तथापि वह एकरूप है, वहाँ भेद नहीं। आहाहा! अब ऐसी बातें, प्रभु! तेरी बात की महिमा है, प्रभु! उस तेरी महिमा को तू भूल गया है और जिसमें महिमा नहीं, उसे महिमा देकर महिमा में वहाँ रच-पच गया है। आहाहा! यह दया, दान, पैसा, पुण्य, धूल, बाहर की चीज़ जो महिमावाली नहीं है, उसमें

महिमा करके रच-पच गया है। प्रभु! आहाहा! कहो, भोगीभाई! आहाहा! ऐसी बात है। अभी भाई नम्बर से भाग लेते हैं। आहाहा! अरे! प्रभु! क्या कहें?

त्रिलोकनाथ जिनेश्वर परमात्मा का यह हुक्म है। आहाहा! परमात्मा की यह आज्ञा है। आहाहा! अनन्त तीर्थंकरों की आज्ञा का यह रूप है। आहाहा! तुझे एकान्त लगे तो, प्रभु! छोड़ देना। सम्यक्नय है न? निश्चयनय है, वह एकान्त है और इसका एकान्त होने के पश्चात् राग है, उसका ज्ञान अनेकान्तरूप से होता है। आहाहा! समझ में आया? बहुत गम्भीर है, बहुत गम्भीर है। सन्तों का हृदय बहुत गम्भीर, भाई! आहाहा! दिगम्बर मुनियों की क्या बातें करना! परमेश्वर परमेष्ठी में शामिल!! आहाहा! वे परमेश्वर की बातें करे। आहाहा! प्रभु! तू पामर नहीं, तू रागवाला नहीं। आहाहा! यह दया, दान और व्रत के परिणाम, इस रागवाला तू नहीं है। तू तो अनन्त गुणवाला है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

जिसकी एक क्रिया है,... अब दूसरी बात (करते हैं)। यह परिणति-पर्याय ली है। आहाहा! अब (कहते हैं) **सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसके एक भाव है...** यह द्रव्य, वस्तु आत्मा। भगवान सत्रूप है, अहेतुक है - कोई हेतु-बेतु नहीं, कोई उसका कर्ता-हर्ता है नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा वस्तु है, उसका कोई कर्ता-हर्ता नहीं है। आहाहा! **सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही...** जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला त्रिकाल, हों! ज्ञायक। ज्ञायक, यह ज्ञान की प्रधानता से बात है। बाकी परमपारिणामिकस्वभाव ही **जिसके एक भाव है...** एक भाव है। आहाहा! भगवान ज्ञायकस्वभाव वस्तु द्रव्यरूप से, वस्तुरूप से ज्ञायकस्वभाव ही **जिसके एक भाव है...** उसका यह एक ही भाव है। आहाहा! आहाहा! यह द्रव्य लिया। पहले पर्याय ली थी। वहाँ से (बात) उठायी, पर्याय से पहले बात की। पर्याय में भान होता है न, इसलिए पर्याय की बात पहले की। पश्चात् पर्याय में भान किसका हुआ? कि सत्रूप ज्ञायकभाव का। आहाहा!

समयसार साक्षात् तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर की वाणी है, प्रभु! आहाहा! जिसे गणधर और इन्द्र सुनते हैं। उन्हें भी ऐसा लगता है कि अरे रे! हम तो पामर हैं। यह चीज़ कहाँ! आहाहा! पर्याय में, हों! सम्यज़्त्व होने पर भी (ऐसा लगता है)। आहाहा! ऐसा महाप्रभु! ज्ञायक एक जिसका भाव है, उसके समक्ष मेरी ज्ञप्तिक्रिया, धार्मिक

क्रिया तो पामर है। कहाँ पूर्ण परमात्मा की केवलज्ञान की क्रिया और कहाँ मेरी यह धार्मिक (क्रिया)! आहाहा! परन्तु इस धार्मिक क्रिया का ध्येय ज्ञायक एक भाव है। आहाहा! प्रभु पूर्ण है, ध्येय में पूर्ण है। आहाहा! समझ में आये, उतना समझना, बापू! यह तो 'बन्ध अधिकार' की यह गाथा पहले से बहुत गम्भीररूप से लगी है। आहाहा! आवे तब इसका (विस्तार) होवे न! आहाहा!

सत्रूप, भगवान आत्मा सत्रूप है। यह शरीर, वाणी, मन, वह नहीं, वह तो पर; पुण्य-पाप के भाव, वे पर; भगवान आत्मा सत्रूप ज्ञायक अहेतुक। आत्मा सत्रूप है, अहेतु—कोई हेतु नहीं, कोई ईश्वर-विश्वर उसका कर्ता नहीं। आहाहा! आहाहा! अथवा पर्याय है तो द्रव्य है—ऐसा भी नहीं है, यह कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! वह पर्याय ज्ञप्तिक्रिया है तो यह द्रव्य है—ऐसा भी नहीं है। भगवान! आने दो! आहाहा! सत्रूप। भगवान आत्मा सत्—सत्ता, सत् अस्तिरूप सत्, अहेतुक। उसका दूसरा ईश्वर तो कर्ता नहीं, राग के कारण से भी नहीं, परन्तु पर्याय के कारण से भी नहीं। आहाहा! समझ में आया?

सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही... जानन ही। जानन... जानन... जानन... जानन ध्रुव, हों! जाननस्वभाव ही **जिसके एक भाव है...** जिसे एक भाव ज्ञायक ही है। आहाहा! यह द्रव्य लिया, वस्तु। यह द्रव्य अर्थात् पैसा नहीं। यहाँ तो द्रव्य अर्थात् दूसरे द्रव्य भी नहीं। यह तो ज्ञायकभाव द्रव्य, आहाहा! वीतराग के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं नहीं है। तीन लोक के नाथ जिनेश्वर ने जो कहा, ऐसी बात कहीं, किसी जगह, किसी मत में नहीं है। आहाहा! परन्तु इनके मत में आये हुए को भी मद में समझ में नहीं आता। उनका मत है, इस मद में समझ में नहीं आता। जहाँ-तहाँ अभिमान... अभिमान... आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

सत्रूप सत्ता है, मौजूदगी चीज़ है, मौजूद चीज़ है, अहेतुक है - कोई हेतु नहीं। आहाहा! परिणमन है, इसलिए द्रव्य है—ऐसा भी नहीं। आहाहा! यह तो आता है न, भाई! १०१ गाथा में। उत्पाद को ध्रुव की अपेक्षा नहीं; ध्रुव को उत्पाद की अपेक्षा नहीं। आहाहा! कहाँ का कहाँ आ गया, लो! आहाहा! समझ में आया? सत्रूप भगवान अहेतुक वस्तु, उसे

उत्पाद की भी अपेक्षा नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! १०१ (गाथा) में, भाई! आया है न? १०१ प्रवचनसार। वह यह है। आहाहा! प्रभु ने बहुत समाहित किया है!

अहेतुक, सत्तास्वरूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव है। आहाहा! जो सम्यग्दर्शन का विषय है, जो सम्यग्दर्शन का ध्येय है। आहाहा! जो ध्येय है, सम्यग्दर्शन का आलम्बन है। आहाहा! साधक का वह साध्य है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा एक ही भाव है।

तीसरा, **और सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है...** अब गुण लिया। स्वरूप। ज्ञायकभाव का स्वरूप क्या है? यह ज्ञानस्वरूप है। आहाहा! **सत्रूप अहेतुक...** आहाहा! गुण को कोई हेतु नहीं है। गुण के ध्रुवपने में भी कोई हेतु नहीं है। आहाहा! द्रव्य और गुण के बीच अतद्भाव कहा है न? आहाहा! गजब बात है। जिसे द्रव्य की अपेक्षा नहीं, कहते हैं। सत्तागुण है। आहाहा! जिसे पर्याय की अपेक्षा नहीं है। सत् है, उसे हेतु क्या? है! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप प्रभुत्वस्वरूप... आहाहा! वह गुण है। अनन्त गुण है, यहाँ तो ज्ञान की मुख्यता ली है।

सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही... अनन्त गुण ही। **जिसका एक रूप है...** यह अनन्त गुण का एकरूप। गुण—सहवर्ती। आहाहा! अनन्त गुण का एक रूप है। ज्ञान प्रधान से कथन है न! परन्तु अनन्त गुण का एक रूप है। आहाहा! एक सत्रूप गुण, ध्रुव। द्रव्य ध्रुव, वह एकरूप है अर्थात् अनन्तपना नहीं। यह गुण अनन्तरूप है, वह सब एक रूप है। आहाहा! भिन्न-भिन्न नहीं। आहाहा! यहाँ गुण का भेद नहीं लेना। **अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है...** जिसका स्वरूप। स्वरूपवान ज्ञायक का स्वरूप, स्वरूपवान भगवान ज्ञायक स्वरूपवान, उसका स्वरूप—ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि उसका एकरूप स्वरूप है। आहाहा!

ऐसे भिन्न आत्मा को (-सर्व अन्य द्रव्यभावों से भिन्न आत्मा को)... ऐसा भिन्न आत्मा लिया न? भिन्न आत्मा। तो किससे भिन्न?—कि सर्व अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्य के भाव। उनसे भिन्न आत्मा को। अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्य के भाव... आहाहा! उनसे भिन्न आत्मा को **जानते हुए,...** धर्मी भिन्न आत्मा को जानते हुए... आहाहा! ज्ञप्तिक्रिया

द्वारा जानते हुए, ऐसा आया न ? आहाहा ! भगवान ज्ञायकस्वभाव सत् अहेतुक और गुण भी सत् अहेतुक। आहाहा ! वह भगवान भिन्न द्रव्य है। शरीर, कर्म, राग और पुण्य-पाप से भी भिन्न (द्रव्य है)। द्रव्य और भाव दो लिये न ? अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्य के भाव। आहाहा ! पुण्य-पाप भी संयोगी भाव है, संयोगी भाव है, वह स्वभावभाव नहीं। आहाहा !

उस भिन्न आत्मा को **जानते हुए,...** आहाहा ! अनन्त भव परिभ्रमण का अन्त आ गया। आहाहा ! और अनन्त-अनन्त गुण की पर्याय प्रगट हुई। आहाहा ! ऐसे भिन्न आत्मा को जानते हुए। शास्त्र को जानते हुए - ऐसा यहाँ नहीं कहा। आहाहा ! समझ में आया ? शास्त्र को जानते हुए, यह नहीं तथा यहाँ पर्याय को जानते हुए, ऐसा नहीं लिया। भिन्न आत्मा को जानते हुए - ऐसा लिया न ? आहाहा ! आहाहा ! समझ में आये, उतना समझना, भाई ! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव की वाणी और उनका उपदेश कोई अलौकिक है। लोगों को बाह्य से मिला नहीं। बाह्य, बाह्य की सब बातें (करे)। आहाहा ! अन्तर के तत्त्व के भेद देखे नहीं, देखे नहीं। आहाहा !

इस प्रकार **जानते हुए,...** आत्मा को, हों ! गुण-पर्याय को (जानते हुए), ऐसा नहीं। आहाहा ! **सम्यक्प्रकार से देखते (श्रद्धा करते) हुए...** ऐसा जो आत्मा है, उसकी श्रद्धा करते हुए, इसका नाम सम्यग्दर्शन। आहाहा ! भगवान पूर्णानन्द प्रभु, ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा करते हुए, उसकी श्रद्धा करते हुए, आहाहा ! यह सम्यग्दर्शन, उसे जानते हुए - यह सम्यग्ज्ञान। आहाहा ! दूसरा ज्ञान कम हो, न हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। **और आचरण करते हुए,...** इस ज्ञायकभाव भगवान में आचरण करते हुए—चारित्र, यह चारित्र है। चारित्र कोई महाव्रत के परिणाम और नग्नपना, वह कोई चारित्र नहीं है। आहाहा ! भिन्न आत्मा को जानते हुए, भिन्न आत्मा को श्रद्धान करते हुए, भिन्न आत्मा का आचरण करते हुए... राग से भी भिन्न करके आत्मा का आचरण करते हुए... आनन्द के नाथ में आचरण करना, वह चारित्र है। अरे रे ! समझ में आया ? विशेष बात है....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ३३२, गाथा-२७०, २७१ मंगलवार, आसोज कृष्ण ४
दिनाङ्क - ०९-१०-१९७९

२७० (गाथा का) तीसरा पैराग्राफ, फिर से (लेते हैं)। जिन्हें **मात्र जिनके यह अध्यवसान विद्यमान नहीं हैं...** अर्थात्? मैं जीव को मार सकता हूँ, जिला सकता हूँ, सुखी कर सकता हूँ, दुःखी कर सकता हूँ। नारकी हूँ, मनुष्य हूँ, देव हूँ, पर जीव मैं हूँ, पर परमाणु मैं हूँ, ऐसा जो एकत्व—अध्यवसाय—मिथ्यात्व, वह अनादि का मिथ्यात्व जो एकत्व अध्यवसाय, वह जिनके नहीं है। आहाहा! **वे ही कोई (विरले) मुनि-कुंजर (मुनिवरों)...** मुनि की प्रधानता से बात की है। बाकी सम्यग्दृष्टि को भी वे अध्यवसाय उसे नहीं होते। मैं पर को जिलाऊँ, मारूँ, सुखी-दुःखी करूँ या मनुष्य हूँ, तिर्यंच हूँ, नारकी हूँ, यह अध्यवसाय समकिती को नहीं होते तथा मैं पर का कर सकता हूँ—ऐसा अध्यवसाय / मिथ्यात्व समकिती को नहीं होता। परन्तु यहाँ मुख्य मुनिपने की बात कही है।

मुनि कुंजर—कोई मुनि हों, जिनके **सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है,...** कल तो यह बहुत चला था। ओहो! **सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी क्रिया...** जानना-देखना ऐसी जो पर्याय। राग की एकता नहीं, पर की एकता नहीं परन्तु द्रव्यस्वभाव की एकता में जैसा श्रद्धा में है, वैसा उनकी वाणी में आता है, वैसा उनके अन्तर वर्तन में आया है। **सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है,...** आहाहा! जानना-देखना, आनन्द, शान्ति (आदि) अनन्त गुणों की शक्ति की व्यक्तता—आंशिक जो प्रगट परिणमन हुआ, वही एक जिसकी क्रिया है। पर की क्रिया तो उसकी नहीं, परन्तु दया, दान, व्रत के परिणाम, यह क्रिया भी धर्मी की नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म।

ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है,... क्योंकि भगवान ज्ञानस्वरूप है, ज्ञायकभाव है, इसलिए उसकी दृष्टि होने से उसकी जानने की, देखने की, शान्ति की, वीतरागता की, आनन्द की जिसकी एक क्रिया। ज्ञान की पर्याय में वह अनन्त गुण की पर्याय—ज्ञप्ति एक ही क्रिया है। आहाहा! सूक्ष्म बहुत, प्रभु! वर्तमान के साथ यह तो भारी कठिन पड़े, ऐसा है। आहाहा!

तीन बातें हैं। एक तो आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ जो आत्मा की पर्याय में नहीं,

उसके क्षेत्र में नहीं, उनका आत्मा कर्ता-भोक्ता नहीं—एक बात। दूसरी बात—आत्मा के प्रदेश में / क्षेत्र में रहे हुए शरीर, वाणी, मन का भी वह आत्मा कर्ता-भोक्ता नहीं है। तीसरी बात—उसकी पर्याय में रहा हुआ राग आदि, द्वेष आदि पर्याय का भी, वह ज्ञप्तिक्रिया करनेवाला, उनका कर्ता नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

यह तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव का हुकम है, प्रभु! तू जो आत्मा है, असंख्य प्रदेशी ज्ञायकभाव से भरपूर, वे दूसरे पदार्थ जो तेरे प्रदेश के क्षेत्र में रहे नहीं, भिन्न है, उनकी कोई क्रिया तू कर सके—(ऐसा) तीन काल में (नहीं है)। आहाहा! और प्रभु! तेरे प्रदेश के ऊपर रहे हुए शरीर, वाणी, मन, कर्म है, वह आत्मा के प्रदेश में नहीं है, वे तो भिन्न हैं। आहाहा! यह शरीर, वाणी और मन तो आत्मा के प्रदेश के क्षेत्र में रहे हैं। वे भी जड़ हैं, उनका भी कर्ता तू नहीं है। क्योंकि कारणवाले वे हैं, इस कारण उनमें कर्तापना है। आहाहा!

तीसरा—आत्मा की पर्याय में राग और द्वेष उसके क्षेत्र में और पर्याय में है। आहाहा! तथापि उनका कर्ता (नहीं है)। ज्ञायकस्वरूप मैं हूँ, ऐसी समकिती को द्रव्यदृष्टि होने से मैं चैतन्य हूँ, ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ—ऐसी क्रिया निर्मल होने के कारण राग की क्रिया वह उसकी नहीं है। आहाहा! ऐसा कठिन काम। वीतरागमार्ग ऐसा है, प्रभु! आहाहा! लोगों ने तो अभी गड़बड़ कर डालकर पूरा बदल डाला है।

तीन लोक के नाथ जिनेन्द्रदेव परमेश्वर का यह हुकम है, उनकी यह आज्ञा है। प्रभु! तू तो ज्ञायकस्वरूपी है न, प्रभु! ज्ञायकस्वरूपी क्या करे किसी का? वह जानने की क्रिया करे। जानने की, देखने की, श्रद्धा की, आनन्द की... आहाहा! वह अपने द्रव्य के लक्ष्य से यह क्रिया करे। आहाहा! परन्तु दया, दान, व्रत के परिणाम का विकल्प जो राग, उसका कोई गुण, अनन्त गुण में कोई गुण नहीं है। अनन्त गुण हैं प्रभु में—आत्मा में। परन्तु कोई गुण (ऐसा) नहीं कि विकार करे। इसलिए गुण का धारक गुणी ऐसे ज्ञायकस्वभाव की जिसे दृष्टि हुई, उस गुण में विकार करने का स्वभाव नहीं; इसलिए राग की क्रिया का भी वह कर्ता नहीं। आहाहा! ऐसा वीतरागस्वरूप, वह कहीं है नहीं। वीतराग के अतिरिक्त, सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त कहीं यह बात नहीं है। अन्यमत में कहीं यह बात नहीं है। यह तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ ने देखा, जाना, वैसा जगत को प्रसिद्ध किया है। आहाहा!

यह अध्यवसाय जिनके नहीं है। वह **सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया...** एक क्रिया। आहाहा! राग की नहीं, पर की नहीं। अपने जानने-देखने की एक क्रिया धर्मी को है। धर्मी ऐसा जो आत्मा, उसकी दृष्टि में द्रव्यदृष्टि होने से धर्मी को पर्याय में जानने-देखने की क्रिया हो और उसके साथ शान्ति और आनन्द का परिणमन भी होता है।

सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसके एक भाव है... यह तो क्रिया—परिणति की पहले बात की। अब कहते हैं, वस्तु, वस्तु कैसी है? **सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसके एक भाव है...** आहाहा! सत्, सत्, सत्ता अस्तित्वरूप अहेतु—कोई उसका हेतु नहीं, ऐसा ज्ञायकभाव जिसका भाव है—द्रव्य। ज्ञायकभाव ऐसा द्रव्यस्वभाव है। आहाहा! पहले परिणति की बात की। पश्चात् यह द्रव्य की बात की। आहाहा!

तीसरा— **सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है...** उसका स्वरूप क्या है? ज्ञायकभाव द्रव्य कहा, परिणति पर्याय कही परन्तु उसका त्रिकाली स्वरूप क्या? कि त्रिकाली स्वरूप ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि उसका स्वरूप है। आहाहा! समझ में आया? तीन बातें कहीं। पहले परिणति ली। क्योंकि वह जानती है। क्या (जानता है)? वस्तु ज्ञायकभाव त्रिकाल और उसका रूप ज्ञानरूप, आनन्दरूप वह तो त्रिकाल है। उसे जानती है वर्तमान ज्ञान की पर्याय, आनन्द की पर्याय अर्थात् जाननेवाले को पहले लिया। उसने क्या जाना? आहाहा! कि उसने जाना ज्ञायकभाव एकरूप द्रव्य हूँ, ऐसा उसने जाना। आहाहा! तीसरी बात, प्रभु! प्रभु का मार्ग शूर का है, भाई! यह कायर का वहाँ काम नहीं है। आहाहा!

कहते हैं, जानने की-देखने की जो धार्मिक क्रिया—परिणति हुई, उसने क्या जाना? आहाहा! उसका लक्ष्य कहाँ है? कि वह ज्ञायकभाव त्रिकाल है, वहाँ उसका लक्ष्य है। आहाहा! ज्ञप्ति क्रिया हुई, उस पर भी उसका लक्ष्य नहीं है। आहाहा! वह त्रिकाली ज्ञायकभाव भगवान पूर्णानन्द प्रभु सर्वज्ञ ने देखा वह। अन्यमति दूसरे कोई आत्मा को कहे, वह बात है नहीं, वह सब बात कल्पित। परमात्मा जिनेश्वरदेव ने जो आत्मा पूर्ण स्वरूप अन्दर देखा है, वह उसका—ज्ञप्तिक्रिया का लक्ष्य है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

सत्रूप अहेतुक ज्ञान... तब कहे, द्रव्य का लक्ष्य (हुआ) है तो उसमें क्या है?

उस द्रव्य में भरा क्या है ? कि ज्ञान और आनन्द आदि, शान्ति आदि अनन्त गुणरूप स्वरूप, वह अनन्त गुणरूप स्वरूप भरा है। आहाहा! वह स्वरूपवान है प्रभु, ऐसा ज्ञप्तिक्रिया जानती है। आहाहा! जरा सूक्ष्म पड़ेगा परन्तु प्रभु! मार्ग तो ऐसा है, भाई! अनन्त काल हुआ चौरासी (लाख) योनि में मुनिव्रत अनन्त बार लिया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' द्रव्यलिंग अनन्त बार धारण किया, पंच महाव्रत अनन्त (बार लिये), निरतिचार पंच महाव्रत, हों! उसके लिये बनाया हुआ आहार-पानी की बूँद न ले, ऐसी क्रियाएँ भी अनन्त बार की परन्तु ज्ञायकस्वरूप भगवान राग से भिन्न है, उस क्रिया से भिन्न है, ऐसा आत्मज्ञान नहीं किया और आत्मज्ञान बिना 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै (नित) आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' क्योंकि वे पंच महाव्रत आदि की क्रिया तो आस्रव और दुःखरूप है। आहाहा! गजब बात है। 'पै (नित) आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।'

भगवान सुख और आनन्द का स्वरूप है। यहाँ स्वरूप चलता है न! ज्ञान और आनन्द जिसका स्वरूप है, उसके स्वरूप का ज्ञान किया नहीं, इसलिए उसे आनन्द नहीं मिला। आहाहा! समझ में आया ? ऐसी बात है, प्रभु! क्या कहें ? आहाहा! वीतराग बाहर रह गये, महाविदेह में प्रभु रह गये। यहाँ रह गयी वाणी। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है... स्वरूप है, ज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप, शान्तिस्वरूप, स्वच्छत्वस्वरूप, प्रभुत्वस्वरूप—ऐसे अनन्त गुणस्वरूप वह ज्ञायकभाव है। आहाहा! **ऐसे भिन्न आत्मा को...** ऐसे भिन्न आत्मा को। आहाहा! है ? **(-सर्व अन्य द्रव्यभावों से भिन्न...)** सर्व अन्य द्रव्यों अर्थात् परद्रव्यों। प्रदेश में रहे हुए शरीर, वाणी, मन, द्रव्य और राग, इन सब **(अन्य द्रव्यभावों से भिन्न आत्मा को)...** आहाहा! **जानते हुए,...** इसका नाम ज्ञान। आहाहा! अन्य द्रव्य और अन्य भावों से भगवान आत्मा को भिन्न जानते हुए, **सम्यक्प्रकार से देखते (श्रद्धा करते) हुए...** जैसा ज्ञान में ज्ञात हुआ, वैसी ही श्रद्धा करते हुए। आहाहा! क्या शैली! दिगम्बर मुनियों की शैली गजब है। बहुत गम्भीरता है, बहुत गहराई है, भाई! अभी कितना ही कहा नहीं जा सकता, इतनी बात इसमें भरी है। आहाहा!

कहते हैं कि जिसने भगवान जाना, ज्ञान की पर्याय में ज्ञायक और ज्ञान आदि जिसका

अनन्त गुण का रूप है, ऐसे स्वरूपवाला भगवान, उसे जिसने ज्ञान की पर्याय में जाना; जाना ऐसा श्रद्धान किया। आहाहा! जानने में आया, वैसी प्रतीति की। पहले यह लिया, देखा? भाई! उसमें १७-१८ गाथा में लिया है। आहाहा! नहीं तो वैसे तो सम्यग्दर्शन पहला और ज्ञान बाद में और चारित्र बाद में। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' परन्तु कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन। यह चीज़ जैसी है अन्दर, वैसी ज्ञान में आये बिना तेरी श्रद्धा कहाँ से आयी? आहाहा! समझ में आया?

जानने में आया, वैसी सम्यक्श्रद्धा करते हुए। आहाहा! वस्तु भगवान ज्ञायकभाव और ज्ञान तथा आनन्द आदि गुण के स्वरूपवाला प्रभु, उसका स्वसन्मुख होकर ज्ञान हुआ और उस ज्ञान में श्रद्धा करते हुए। यह जानने में आया, उसी प्रकार से श्रद्धा करते हुए कि यह तो पूर्ण प्रभु है। आहाहा! पूर्ण प्रभु है। अनन्त गुण का रूप—स्वरूप पूरण है। ऐसा जो ज्ञान की पर्याय में, सम्यग्दर्शन पर्याय में, सम्यक् पर्याय में आया, वैसा श्रद्धा में आया, यह सम्यग्दर्शन। आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! मार्ग कोई अलग है, बापू! आहाहा! भरतक्षेत्र में प्रभु का विरह पड़ा, केवलज्ञानी नहीं मिलते, अवधिज्ञानी नहीं मिलते। लोगों ने अपनी कल्पना से मार्ग चलाया। मार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा!

कहते हैं, जिसने जाननक्रिया में आत्मा ज्ञायकभाव और अनन्त आनन्द के रूप-स्वरूपवाला देखा... आहाहा! ज्ञान की पर्याय में जिसने ज्ञायकभाव को—अनन्त स्वरूप को ज्ञेय बनाया। आहाहा! जिसने ज्ञान की पर्याय में अनन्त स्वरूप भगवान को ज्ञेय बनाया। आहाहा! शैली तो देखो! आहाहा! परज्ञेय नहीं। आहा! भगवान ज्ञान पर्याय में जिसने भगवान ज्ञायकभाव को, अनन्त ज्ञान, आनन्दरूप को जिसने ज्ञेय बनाया, ज्ञेय बनाकर जाना। भले जानने की पर्याय में ज्ञेय आया नहीं परन्तु ज्ञेय का सामर्थ्य जितना है, उतना पर्याय में जानने में आ गया। आहाहा! क्या कहा यह? वस्तु है, वह कहीं पर्याय में नहीं आती, द्रव्य है वह पर्याय में नहीं आता, परन्तु पर्याय में द्रव्य का, जितना सामर्थ्य है, उतना ज्ञान आया। आहाहा! समझ में आया? और जितना सामर्थ्य है और जितना है, उतना ज्ञान में आया, उतनी ही उसकी श्रद्धा हुई। उस श्रद्धा में वस्तु आयी नहीं परन्तु वस्तु का जितना तारतम्य पूर्णानन्द प्रभु है, वैसी ही बात श्रद्धा में आ गयी। उस श्रद्धा और ज्ञान की पर्याय में द्रव्य आया नहीं

परन्तु द्रव्य का पूर्ण सामर्थ्य तो उसकी पर्याय में-श्रद्धा में, जानने में आ गया। आहाहा! समझ में आया?

बापू! प्रभु का मार्ग अलग। आहाहा! अरे रे! ऐसी बातें सुनने को नहीं मिलती, वह कब विचार करे और कब अन्दर जाए? आहाहा! जिसकी ज्ञान में भी ऐसी यथार्थता, परलक्षी ज्ञान में भी ऐसी यथार्थता नहीं है, (वह) स्वलक्ष में किस प्रकार जाए? आहाहा! यह क्या कहा? जिसे ज्ञान की पर्याय में राग से लाभ होता है और निमित्त के कार्य करूँ और निमित्त को मिलाऊँ और.. आहाहा! और पूर्ण स्वरूप है, वह ऐसा है—ऐसा अभी परलक्षी ज्ञान में भी निर्णय नहीं आया, वह स्वलक्ष्य में उस निर्णय में कैसे जाए? आहाहा! समझ में आया? प्रभु! आहाहा!

यहाँ तो सब भगवान है। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है, भगवानस्वरूप है। सभी आत्माएँ—स्त्री, पुरुष और यह सब शरीर के देह हैं, वे आत्मा में नहीं हैं। आहाहा! आत्मा तो भगवानस्वरूप है, ज्ञायकस्वरूप कहो, भगवानस्वरूप कहो, परमेश्वरस्वरूप कहो। आहाहा! ऐसे परमेश्वर को जिसने ज्ञान की पर्याय में जाना, ऐसे ही एक पर्याय में श्रद्धा में आया, इसका नाम समकित। जाने बिना की श्रद्धा, गधे के सींग नहीं तो उसकी श्रद्धा करो। किसकी श्रद्धा? परन्तु नहीं है, उसकी (श्रद्धा कैसे करना)? आहाहा!

समयसार १७-१८ गाथा। पहले आत्मा जानना और फिर श्रद्धा करो। जानना। आहाहा! पहले छह द्रव्य को जानो और देव-गुरु को जानो, ऐसा वहाँ नहीं कहा। १७ गाथा। पहले प्रभु आत्मा को जानो। पूर्णानन्द का नाथ अन्दर (विराजता है)। आहाहा! अनन्त-अनन्त आनन्द और अनन्त-अनन्त ज्ञान और अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता, अनन्त कर्ता आदि अनन्त शक्तियों का सागर भगवान है। आहाहा! क्षेत्र शरीर प्रमाण है, इसलिए स्वभाव थोड़ा है, ऐसा न मान। यह अवगाहन शरीरप्रमाण है परन्तु उसका स्वभाव तो अपार और अनन्त है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे जिसने जाना, वैसा ही श्रद्धान किया। है? देखते हुए अर्थात् श्रद्धान करते हुए।

और आचरण करते हुए,... आहाहा! यह चारित्र। यह ज्ञायकभाव पूर्णानन्द का नाथ प्रभु जानने में आया, श्रद्धान में आया, उसमें अनुचरण—आचरण किया। उस ज्ञायकभाव में रमणता, ज्ञायकभाव में जम जाना, ज्ञायकभाव में रम जाना, ज्ञायकभाव में लीन होना, यह

उसका आचरण और चारित्र है। अरे! अरे! ऐसी व्याख्या। अब यहाँ तो अभी पाँच महाव्रत और अमुक नग्न, वह चारित्र। अरे! प्रभु! आहाहा! ऐसा तो अनन्त बार किया, प्रभु! यह तो अभव्य ने भी किया है। आहाहा! भगवान को भूलकर ऐसे सब काम अनन्त बार किये हैं। तेरे महत्ता भूलकर, महिमा को भूलकर प्रभु! ऐसे काम में तूने महिमा अनन्त बार की है, परन्तु भगवान अन्दर महिमावन्त प्रभु है, उस ओर तेरी नजरें नहीं गयी। आहाहा! समझ में आया? थोड़ी सूक्ष्म बात है, भाषा तो सादी है, प्रभु! आहाहा!

कहते हैं, **आचरण करते हुए,...** यह ज्ञायकस्वरूप अनन्त गुणरूप, ज्ञायकभाव अनन्त गुणरूप, उसे जानते, श्रद्धा करते, उसे अनुचरण करते हुए, इसका नाम चारित्र। चारित्र कोई पंच महाव्रत के विकल्प और नग्नपना, वह कोई चारित्र नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! तीन लोक के नाथ का यह पुकार है। वहाँ महाविदेह में सर्वज्ञ परमेश्वर का समवसरण में दिव्यध्वनि का पुकार है, वह यह बात है। आहाहा! बारह प्रकार की सभा, सिंह और बाघ तथा नाग और इन्द्र और गणधरों के बीच यह बात प्रभु वहाँ फरमाते हैं। आहाहा! वह बात यहाँ आयी है। आहाहा!

प्रभु! तू कौन है? कहाँ है? कितना है? मैं ज्ञायक हूँ, अनन्त गुण का स्वरूप, उतना हूँ। आहाहा! उसे अन्तर में स्वज्ञेय बनाकर, ज्ञान करके और स्वज्ञेय में ज्ञान किया, उसकी श्रद्धा करके और तत्पश्चात् उसके स्वरूप में अनुचरण करना। अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ में वीतरागतारूप से जम जाना, रम जाना, इसका नाम अनुचरण अर्थात् चारित्र है, प्रभु! आहाहा! तब तक यह पाँच महाव्रत और यह सब क्या समझना? यह चारित्र नहीं, प्रभु! आहाहा! यह वस्तु नहीं। चारित्र अर्थात् चरना; चरना अर्थात् रमना; रमना अर्थात् जमना। उस अतीन्द्रिय आनन्द में अनन्त आनन्द के ग्रास लेना, अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करना, उसका आचरण करना, इसका नाम चारित्र है। आहाहा! शान्तिभाई! ऐसी बातें हैं, प्रभु! ओहोहो! भगवान! यहाँ अनुचरण करना, यह कहते हैं, भाई! इस मोक्ष के मार्ग में चारित्र उसे कहते हैं। नग्नपना, वह तो जड़ की, मिट्टी की—धूल की क्रिया है, पंच महाव्रत के परिणाम, वे तो राग और दुःखरूप आस्रव है। आहाहा! यह भगवान ज्ञायकस्वरूप प्रभु, इसका ज्ञान-श्रद्धा करके इसमें स्थिर होना—वीतरागभाव से स्थिर होना... आहाहा! इसका नाम प्रभु अनुचरण अर्थात् चारित्र कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

आचरण करते हुए,... कल यहाँ तक आया था। **स्वच्छ और स्वच्छन्दतया उदयमान...** आहाहा! भगवान तो स्वच्छ निर्मलानन्द प्रभु और स्वच्छन्दरूप से—स्वच्छन्द, स्वच्छन्द अर्थात् स्वतन्त्ररूप से। आहाहा! यह आत्मा स्वच्छन्दी हुआ। स्वच्छन्दी—आनन्द के नाथ को घोलकर बाहर प्रगट किया, वह स्वच्छन्दी, वह स्वतन्त्र हुआ, वह स्वच्छन्दी हुआ। आहाहा! क्या कहा? प्रभु! आहाहा!

स्वच्छ और स्वच्छन्दतया उदयमान (–स्वाधीनतया प्रकाशमान)... है न? स्वच्छन्द का अर्थ स्वाधीन। वह स्वच्छन्दी होता है, वह बात यहाँ नहीं है। यह तो स्वच्छन्दी हुआ। स्व प्रभु अपना स्वरूप, उसका स्वच्छन्दी हुआ, उसके आश्रय से वहाँ रमणता की। आहाहा! अरेरे! यह कहाँ उसमें हीरा-माणिक में (मिले ऐसा है)। हैं? आहाहा! हीरा तो प्रभु यह है। चैतन्यहीरा, जिसमें अनन्त गुण के पासा पड़े हैं। रूप जिसका अनन्त गुण का रूप पासा है। हीरा को पासा होते हैं न? वैसे प्रभु आत्मा ज्ञायकभाव में अनन्त गुण के पासा पड़े हैं। कितने अनन्त? कि अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... संख्या नहीं, इतने अनन्त। आहाहा! ऐसे जो अनन्त गुण का स्वरूप भगवान आत्मा, उसे ज्ञान में लेकर, उसे श्रद्धा में लेकर, उसमें स्थिर होना, इसका नाम मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! भगवन्त! मार्ग तो यह है, प्रभु! आहाहा!

कितनों को ऐसा लगने पर ऐसा लगता है कि यह तो सोनगढ़वाले निश्चय की बातें करते हैं, व्यवहार की बातें नहीं करते। अरे! प्रभु! सुन न, भाई! व्यवहार के निषेध की बात आती है न, प्रभु! और वास्तव में तो वह भी व्यवहार है। त्रिकाली ज्ञायकभाव की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, वह पर्याय है; इसलिए निश्चय से तो वह व्यवहार है। त्रिकाल द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय, वह व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया इसमें?

आहाहा! परमार्थ वचनिका में बनारसीदास ने कहा है कि निश्चय मोक्षमार्ग है, वह पर्याय है। पर्याय है, इसलिए द्रव्य की अपेक्षा से वह व्यवहार है। वस्तु जो त्रिकाली द्रव्य है, वह निश्चय है। (यह) एक समय की पर्याय और वह तो त्रिकाली द्रव्य है पूरा, उसकी अपेक्षा से पर्याय है, वह व्यवहार है। परन्तु यह व्यवहार। आहाहा!

अरे रे! इसे कहाँ जाना? देह की स्थिति पूरी होगी, प्रभु! कहीं चौरासी की पाट पड़ी

है। कहीं शरण नहीं, वहाँ कोई शरण नहीं। आहाहा! शरण तो यहाँ है, तुझमें तू, तुझमें तू (शरण है)। आहाहा! जिसे नजर से देखा नहीं, जिसे नजर से देखे बिना श्रद्धा की नहीं और श्रद्धा किये बिना उसका आचरण किया नहीं। आहाहा! प्रभु! तेरा वहाँ ही जाएगा। आहाहा! उसमें दुनिया की सिफारिश काम नहीं आयेगी कि मुझे इतने अधिक महिमा करते थे। यह बापू! क्या काम आवे वहाँ? आहाहा! मुझे इतने मानते थे, इतनी सभाएँ भरती थीं। बापू! उसके कारण क्या हुआ तुझे? आहाहा!

वह **स्वच्छन्दतया... स्वच्छ और स्वच्छन्दतया...** स्वच्छ अर्थात् निर्मल और स्वच्छन्द अर्थात् स्वाधीन। यहाँ दो अर्थ किये हैं। है न कोष्ठक में? निर्मलरूप से, स्वतन्त्ररूप से उदयमान, ऐसी **अमन्द अन्तर्ज्योति को...** आहाहा! ऐसा अन्तर भगवान पूर्णानन्द का नाथ जिसका विकल्प भी नहीं किया जा सकता। (जो) विकल्प से ज्ञात नहीं होता। आहाहा! राग के विकल्प से ज्ञात नहीं होता, उसकी जाति की भात से ज्ञात होता है। उसके स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा प्रभु है। यह दया, दान और व्रत के विकल्प से प्रभु! वह राग से ज्ञात हो, ऐसा वह आत्मा नहीं है। आहाहा! ऐई! तो फिर यह तुम्हारे पाप के...

मुमुक्षु : जयसेनाचार्य में कहा है कि राग से ज्ञात होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग से ज्ञात नहीं होता, पर्याय से ज्ञात होता है। राग विकार है। 'अलिंगग्रहण' में नहीं आया? छठवाँ बोल। अपने स्वभाव से ज्ञात हो ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। प्रवचनसार की १७२ गाथा। उसमें अलिंगग्रहण के बीस बोल हैं, उसका छठा बोल। अपने स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। आहाहा! यह वस्तु है। व्यवहार से कहा हो, वह तो एक निमित्त का ज्ञान कराने को कहा है। आहाहा! अरे! गड़बड़, बड़ी गड़बड़ उठे। आहाहा! जयसेनाचार्यदेव की टीका में कहा है, भाई! बहुत कहा है। व्यवहार साधन है। यह तो निश्चय हुआ है, उसे राग की मन्दता का आरोप देकर, साधन का आरोप किया है। राग, वह कहीं साधन (होगा)? स्वभाव का साधन राग होगा? आहाहा!

ऐसी अमन्द अन्तर्ज्योति को... अमन्द अन्तरज्योति, भगवान चैतन्य। आहाहा! **अज्ञानादिरूपता का अत्यंत अभाव होने से...** अज्ञान का अभाव होने से। राग का कर्तव्य मेरा है, पर का कर्तव्य मेरा है, राग से-पुण्य से धर्म होता है—ऐसा जो अज्ञानभाव।

अज्ञान, अश्रद्धा और अचारित्र—इन तीनोंपने के अत्यन्त अभाव से। तीन बोल लेना—अज्ञान, अश्रद्धा और अचारित्र। आहाहा! गजब बात है। बहुत थोड़े शब्द। दिगम्बर सन्तों की वाणी गजब बात है। कहीं है नहीं। आहाहा! श्वेताम्बर में तो नहीं तो अन्य की तो बात कहाँ करना? अन्यमत में तो कहीं गन्ध भी नहीं है। क्या हो? भाई! उसके बदले (कहे), सब समान। सबको एक करके बैठाना। बापू! कहाँ से बैठे? भाई! आहाहा!

अमन्द अन्तर्ज्योति को... आहाहा! अन्तर ज्योति... अन्तर ज्योति। **अमन्द अन्तर्ज्योति...** अन्तर चैतन्य के प्रकाश का पूर, चैतन्य के प्रकाश के पूर का, नूर का तेज। **अन्तर्ज्योति को अज्ञानादिरूपता का अत्यंत अभाव होने से (अर्थात् अन्तरंग में प्रकाशित होती हुई ज्ञानज्योति किंचित् मात्र भी अज्ञानरूप, मिथ्यादर्शनरूप और अचारित्ररूप नहीं होती इसलिए), शुभ या अशुभ कर्म से वास्तव में लिप्त नहीं होते।** लो! आहाहा! शुभ और अशुभ है, वह बन्ध का कारण है। वह शुभ-अशुभभाव है नहीं यहाँ। स्वरूप की दृष्टि, ज्ञान और रमणता (प्रगट हुई है), इससे उसे शुभाशुभ से लेप नहीं होता, उसे शुभाशुभ का बन्ध नहीं होता। आहाहा! मानों, न मानो, मार्ग तो यह है और वह भी तेरी प्रभुता प्रगट करने के लिए है न, प्रभु! तुझे भगवान करना है, तू भगवानस्वरूप है, प्रभु! आहाहा! तेरा स्वभाव ही भगवान है, उसे पर्याय में भगवान करना, उसके लिए यह बात है। आहाहा! उन हीन बातों से तू भगवान नहीं होगा। उन विपरीत रागादि से भगवान नहीं होगा, प्रभु! आहाहा! ऐसी बातें हैं।

'अन्तर्ज्योति' शब्द प्रयोग किया है न? अन्तरज्योति। अन्तर में चैतन्य ज्योति, ज्ञान का सूर्य, चैतन्य का सूर्य, ध्रुव चैतन्य सूर्य प्रभु (विराजता है)। आहाहा!! उसे... आहाहा! अज्ञान आदि के अभाव के कारण **शुभ या अशुभ कर्म से वास्तव में लिप्त नहीं होते।** उसे शुभ और अशुभ कर्म बन्धन नहीं होता। आहाहा! धीमे से समझना, प्रभु! यह कोई वाता नहीं, यह कोई कथा नहीं। यह तो तीन लोक के नाथ की दिव्यध्वनि का मक्खन है। कोई वाता नहीं। आहाहा! तेरे भगवतस्वरूप की भागवत वार्ता है। यह तो भगवत्स्वरूप प्रभु की भागवत वार्ता है। आहाहा! यह भगवान बनाने की बात है, प्रभु! तुझे खोटा नहीं लगना चाहिए कि अरे! हमारे महाव्रत को उड़ा देते हैं। प्रभु! उसका तुझे नुकसान है, भाई! आहाहा! भगवान! तुझे भगवान करना है। आहाहा!

मुमुक्षु : सिंह को सिंह बनाना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। सिंह है, स्वभाव में सिंह है, उसे पर्याय में सिंह बनाना है। आहाहा! यह सियाल का काम यहाँ नहीं है। आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव सियाल रंक-भिखारी, दुःखरूप, उनका यहाँ काम नहीं है, कहते हैं। आहाहा!

यह शब्द की रचना भी जहाँ आत्मा की नहीं, प्रभु! आहाहा! यह तो कल दोपहर को आया था। शरीर, वाणी और मन की रचना जीव की नहीं है, प्रभु! वह तो जड़ की है। भगवान में कहाँ भाषावर्गणा पड़ी है। आहाहा! वह तो अन्तरज्योति चैतन्य की है न! उसमें अन्तर में कहाँ यह भाषावर्गणा पड़ी है। वह तो बाह्य पड़ी है, उससे यह भाषा होती है। आहाहा! अन्तर्ज्योति चैतन्य भगवान पूर्णानन्द का प्रकाश का पिण्ड प्रभु... आहाहा! उसे अज्ञान आदि के अभाव के कारण शुभ और अशुभ (कर्म) वास्तव में नहीं बँधते, लिप्त नहीं होते।

भावार्थ : यह जो अध्यवसान है वे 'मैं पर का हनन करता हूँ'... मार सकता हूँ, पर की दया पाल सकता हूँ, मैं झूठ बोल सकता हूँ, मैं सत्य बोल सकता हूँ, मैं शरीर से ब्रह्मचर्य पालता हूँ, शरीर से विषय सेवन करता हूँ- ऐसा जो अध्यवसाय / एकत्व, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! **इस प्रकार के हैं, 'मैं नारक हूँ',...** मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं तिर्यंच हूँ, इस प्रकार के अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है। **'मैं परद्रव्य को जानता हूँ'...** परद्रव्य को जानते हुए विकल्प हो, उसे (होता है), मानो मैं परद्रव्य हूँ। आहाहा! इस प्रकार के अध्यवसान एकत्वबुद्धि।

तीन प्रकार की एकत्वबुद्धि ली है। एक—पर को मारता हूँ और बचाता हूँ, मारूँ और बचाऊँ, झूठ बोलूँ और सत्य बोलूँ। चोरी करूँ और चोरी न करूँ, यह सब विकल्प है। आहाहा! शरीर से ब्रह्मचर्य पालूँ और शरीर से विषय सेवन करूँ, यह दोनों विकल्प है। आहाहा! इस प्रकार की एकत्वबुद्धि। मैं नारकी और मनुष्य हूँ, इस प्रकार की एकत्वबुद्धि और मैं परद्रव्य को जानता हूँ, इस प्रकार की एकत्वबुद्धि।

वे, जब तक आत्मा का और रागादि का,... है? अरे! यह जरा भी निवृत्त नहीं होता और यहाँ ले जाने को। आहाहा! भाई! वहाँ है, प्रभु! अन्दर परमात्मा की सत्ता,

परमेश्वर की सत्ता अन्दर पड़ी है, प्रभु! आहाहा! वहाँ तुझे ले जाना चाहते हैं। तू यहाँ बाहर में घूमता है, वह रहने दे, वह व्यभिचार है। आहाहा! राग में, पुण्य में, दया-दान में रुका है, प्रभु! यह व्यभिचार है। स्वभाव के साथ विभाव का व्यभिचार है। आहाहा! अरे रे! ऐसी बातें अब।

ऐसे **आत्मा का और रागादि का,...** है? 'रागादिक' लिया, देखा? और **आत्मा का और नारकादि कर्मोदयजनित भावों का...** तीन बोल लिये न? पर को मारता हूँ आदि रागादि का; नारकादि यह कर्मोदयजनित भावों का तथा **आत्मा का और ज्ञेयरूप अन्य द्रव्यों का...** यह वीतराग सर्वज्ञदेव भी मेरे हैं, यह भी बुद्धि एकत्व मिथ्यात्व है। आहाहा! यह स्त्री मेरी है और पुत्र मेरे हैं और पैसा मेरा है। प्रभु! कितने 'मेरे' तूने खड़े किये। आहाहा!

वह **अन्य द्रव्यों का भेद न जाना हो,...** अन्य द्रव्यों से प्रभु तू भिन्न है। आहाहा! पैसा, लक्ष्मी, मकान, इज्जत, कीर्ति, शरीर, वाणी, मन सबसे तू अन्दर भिन्न है। **भेद न जाना हो, तब तक रहते हैं।** अज्ञान। **वे भेदज्ञान के अभाव के कारण...** भेदज्ञान— पर को मारता हूँ आदि से रहित हूँ; नारकी, मनुष्य से रहित हूँ; पर को मेरा मानने से भी रहित हूँ, ऐसे **भेदज्ञान के अभाव के कारण मिथ्याज्ञानरूप हैं,...** मिथ्याज्ञानरूप है। आहाहा! **मिथ्यादर्शनरूप हैं और मिथ्याचारित्ररूप हैं; यो तीन प्रकार के होते हैं।** अज्ञानी अनादि से। आहाहा!

वे अध्यवसान जिनके नहीं हैं, वे मुनिकुंजर हैं। मुनि प्रवर प्रधान कोई महा विरल जीव है। आहाहा! यह तीन प्रकार के अध्यवसान नहीं, वे कोई मुनिकुंजर विरल हैं। मुनि में कोई विरल मुनि हैं। आहाहा! शास्त्र ऐसा पुकारता है न! यह तो शास्त्र ऐसा कहता है, भगवान ऐसा कहते हैं, उसकी बात है। किसी की आलोचना की बात नहीं है। उसके परिणाम का फल तो उसे है। आहाहा! यहाँ तो भगवान ऐसा कहते हैं, उस बात की पद्धति प्रमाण बात चलती है। आहाहा! मार्ग ऐसा है, प्रभु! आहाहा!

वे आत्मा को सम्यक् जानते हैं,... मुनिकुंजर, मुनि में प्रधान। वह कोई **सम्यक् जानते हैं, सम्यक् श्रद्धा करते हैं और सम्यक् आचरण करते हैं, इसलिए अज्ञान के**

अभाव से सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप होते हुए कर्मों से लिप्त नहीं होते। उसे मुनि कहते हैं। आहाहा! यद्यपि मुनि की मुख्यता से बात की है, बाकी एकत्वबुद्धि तो समकिती को भी नहीं होती। समझ में आया?

समकिती चक्रवर्ती के राज में पड़ा हो। करोड़ों अप्सरा के मध्य में शकेन्द्र है, शकेन्द्र एकावतारी है, एक भव में मोक्ष जानेवाला है। शकेन्द्र, सौधर्म देवलोक, बत्तीस लाख विमान। एक-एक विमान में असंख्य देव कितने बड़े? करोड़ों अप्सराएँ। (स्वयं) समकिती है, आत्मज्ञानी है, वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाला है। उसे भी एकत्वबुद्धि नहीं है। आहाहा! समझ में आया? पति-पत्नी दोनों ऐसे हैं, पत्नी भी ऐसी है इन्द्राणी। वह भी वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाली है, ऐसा भगवान के शास्त्र में पाठ है। आहाहा! वह हो, वह हो, पूरी दुनिया है दुनिया में, उसमें मैं कहाँ हूँ! पूरी दुनिया विश्व है, वह विश्वरूप से हो। मैं तो उससे भिन्न जाननेवाला-देखनेवाला आनन्द हूँ। आहाहा! ऐसी श्रद्धा और ज्ञान जिसे प्रगट हुए हैं, वह समकिती है और वैसे स्वरूप में रमणता करे, वह चारित्र मुनि है। आहाहा! ऐसी कठिन बातें हैं।

रोजनामा यह है। रोजनामा नहीं करते? आहाहा!

रजकण-रजकण की पर्याय से प्रभु भिन्न है। राग के कण से—दया, दान और व्रत का विकल्प है राग, उससे प्रभु भिन्न है। आहाहा! देश की सेवा करूँ और पैसे से ऐसा करूँ और वैसा करूँ। यह प्रभु! कहाँ है तुझमें? आहाहा! तूने इस मिथ्यात्व का भार उठाया, बोझा उठाया, पर का करूँ और पर का ऐसा करूँ और पर का वैसा कर दूँ... आहाहा! पर को सुधार दूँ, लो! यह आया था न? पर को बिगाड़ दूँ। प्रभु! तेरे अध्यवसाय से यह नहीं होगा। वह तो उसके वीतरागभाव से मोक्ष जाएगा और रागभाव से, अज्ञानभाव से भटकेगा। तेरे करने से वहाँ बन्ध होगा और मोक्ष होगा, ऐसा नहीं होता। आहाहा! उतावल नहीं करना, प्रभु! शान्ति रखकर तेरा काम करना, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

गाथा - २७१

किमेतदध्यवसानं नामेति चेत् -

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो।।२७१।।

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानम्।
एकार्थ-मेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः।।२७१।।

स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितिमात्रमध्यवसानं; तदेव च बोधन-मात्रत्वाद्बुद्धिः, व्यवसानमात्रत्वाद्व्यवसायः, मननमात्रत्वान्मतिः, विज्ञप्तिमात्रत्वाद्विज्ञानं, चेतनामात्रत्वाच्चित्तं, चितो भवनमात्रत्वाद्भावः, चितः परिणमनमात्रत्वात्परिणामः।।२७१।।

''यहाँ बारम्बार अध्यवसान शब्द कहा गया है, वह अध्यवसान क्या है? उसका स्वरूप भलीभाँति समझ में नहीं आया।'' ऐसा प्रश्न होने पर, अध्यवसान का स्वरूप गाथा द्वारा कहते हैं।

जो बुद्धि, मति, व्यवसाय, अध्यवसान, अरु विज्ञान है।
परिणाम, चित्त रु भाव-शब्दहि सर्व ये एकार्थ हैं।।२७१।।

गाथार्थ : [बुद्धिः] बुद्धि, [व्यवसायः अपि च] व्यवसाय, [अध्यवसानं] अध्यवसान, [मतिः च] मति, [विज्ञानम्] विज्ञान, [चित्तं] चित्त, [भावः] भाव [च] और [परिणामः] परिणाम-[सर्वं] ये सब [एकार्थम् एव] एकार्थ ही हैं (अर्थात् नाम अलग अलग हैं किन्तु अर्थ भिन्न नहीं हैं)।

टीका : स्व-पर का अविवेक हो (स्व-पर का भेदज्ञान न हो), तब जीव की अध्यवसितिमात्र[१] अध्यवसान है; और वही (जिसे अध्यवसान कहा है वही) बोधनमात्रत्व से बुद्धि है, [२]व्यवसानमात्रत्व से व्यवसाय है, [३]मननमात्रत्व से मति है, विज्ञप्तिमात्रत्व से विज्ञान है, चेतनामात्रत्व से चित्त है, चेतन के भवनमात्रत्व से भाव है, चेतन के

---

१. अध्यवसिति=(एक में दूसरे की मान्यतापूर्वक) परिणति; (मिथ्या) निश्चिति; (मिथ्या) निश्चय होना।
२. व्यवसान=काम में लगे रहना; उद्यमी होना; निश्चय होना।
३. मनन=मानना; जानना।

परिणमनमात्रत्व से परिणाम है। (इस प्रकार यह सब शब्द एकार्थवाची हैं।)

भावार्थ : यह जो बुद्धि आदि आठ नाम कहे गये हैं, वे सब चेतन आत्मा के परिणाम हैं। जबतक स्व-पर का भेदज्ञान न हो, तबतक जीव के जो अपने और पर के एकत्व की निश्चयरूप परिणति पायी जाती है, उसे बुद्धि आदि आठ नामों से कहा जाता है।

गाथा - २७१ पर प्रवचन

'यहाँ बारम्बार अध्यवसान शब्द कहा गया है, वह अध्यवसान क्या है?' एकत्वबुद्धि। **'उसका स्वरूप भलीभाँति समझ में नहीं आया।' ऐसा प्रश्न होने पर,...** ऐसा पूछे जाने पर अब उसे अध्यवसान का स्वरूप कहते हैं। जिसे ऐसी जिज्ञासा हुई है, उसे यह उत्तर दिया जाता है। आहाहा! प्रभु! आप अध्यवसान... अध्यवसान करते हो, वह क्या है? आहाहा! उसका स्वरूप क्या है? ऐसे जिसे अध्यवसान को जानने की जिज्ञासा से जिसने प्रश्न किया है, वह समझना चाहता है, उसे उत्तर देना चाहते हैं। आहाहा! गजब बात। २७१।

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो।।२७१।।

नीचे हरिगीत

जो बुद्धि, मति, व्यवसाय, अध्यवसान, अरु विज्ञान है।
परिणाम, चित्त रु भाव-शब्दहि सर्व ये एकार्थ हैं।।२७१।।

टीका : स्व-पर का अविवेक हो... आत्मा और राग, आत्मा और शरीर, आत्मा और वाणी, आत्मा और परद्रव्य, इनका **अविवेक हो (स्व-पर का भेदज्ञान न हो), तब जीव की अध्यवसितिमात्र...** नीचे (फुटनोट में है)। **(एक में दूसरे की मान्यतापूर्वक) परिणति; (मिथ्या) निश्चिति; (मिथ्या) निश्चय होना,** वह अध्यवसान है; आहाहा! राग को मैं करता हूँ, शरीर की क्रिया मुझसे होती है, पैसे लेने-देने में भी मेरा अधिकार है, मैं पैसा दे सकता हूँ, उस जड़ की दशा को मैं दे सकता हूँ। आहाहा! ऐसा जो एकत्व अध्यवसाय, उसे यहाँ मिथ्यात्व का अध्यवसाय कहा गया है। आहाहा!

तब करना क्या ? इन स्त्री-पुत्र को डालना कहाँ ? कमाना तो पड़ेगा या नहीं ? कौन कमाये ? प्रभु ! सुन न, भाई ! वह तो पूर्व का पुण्य हो तो पैसा आदि आता है। तू राग करे, इसलिए आवे—ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा ! पूरी दुनिया से अलग प्रकार है, प्रभु ! वीतराग परमात्मा सर्वज्ञदेव जिनेश्वरदेव का पन्थ पूरी दुनिया से कोई अलग प्रकार है। कहीं मिलान खाये, ऐसा (नहीं है)। मिलान अन्दर में खाये, ऐसा है। आहाहा !

कहते हैं, कि पर और स्व का जहाँ भेद नहीं (अर्थात्) राग और आत्मा का, शरीर और आत्मा का, वाणी और आत्मा का, कर्म और आत्मा का, परद्रव्य और आत्मा का भेद नहीं, ऐसा अध्यवसाय, उसे अध्यवसान—मिथ्यात्व कहने में आता है। आहाहा ! **और वही (जिसे अध्यवसान कहा है वही) बोधनमात्रत्व से बुद्धि है,...** उसे—एकत्वबुद्धि को बुद्धि भी कहा जाता है। आहाहा ! मिथ्यात्व को, अध्यवसाय को बुद्धि भी कहने में आता है। आहाहा ! **बोधनमात्रत्व से बुद्धि...** उसे जानने में रुक गया न ? आहाहा ! इसलिए उसे बुद्धि भी कहा जाता है।

व्यवसानमात्रत्व से व्यवसाय है,... काम में लगे रहना ; उद्यमी होना ; निश्चय होना। काम में लगे, व्यवसाय... व्यवसाय... व्यवसाय... ऐसी एकत्वबुद्धि, हों ! आहाहा ! यह व्यवस्थापक व्यवसाय करते हैं या नहीं ? व्यवस्थापक मण्डली जगत की व्यवस्था करे। कहते हैं, नहीं। यह व्यवसाय करता हूँ, यह मान्यता ही तेरा मिथ्यात्व है। आहाहा ! गजब है। व्यवसाय... आहाहा ! व्यवस्था करना, गौशालाएँ करना, हैं ? इस राहत फण्ड में पैसा देना, व्यवस्था करके दुःखी प्राणी को (बचाना)। यह मोरबी जैसा... बेचारे देखो न ! पन्द्रह-बीस हजार मर गये। राहतफण्ड में पैसा जमा करके कुछ (व्यवस्था करूँ)। कहते हैं, प्रभु ! वह अवस्था तू नहीं कर सकता, हों ! वह पैसे जाने की, दवा की व्यवस्था, प्रभु ! तेरी नहीं है, प्रभु ! हों ! आहाहा ! मैं यह व्यवसाय करता हूँ, यह अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि है। गजब बातें हैं, बापू ! दुनिया से झिलना कठिन पड़े, ऐसी बात है। आहाहा ! और झिल जाए, उसके भव नहीं रहते। आहाहा ! ऐसी बात है, प्रभु ! भव के अन्त की बातें हैं, नाथ ! चौरासी के अवतार प्रभु कहाँ-कहाँ पड़े ! आहाहा ! उन सब अवतार का अन्त इस प्रकार से है। एकत्वबुद्धि टालने से भव का अन्त है। आहाहा ! विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ३३३, गाथा-२७१, श्लोक-१७३, बुधवार, आसोज कृष्ण ५
दिनाङ्क - १०-१०-१९७९

भावार्थ है न?

मुमुक्षु : टीका बाकी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : टीका। २७१। क्या कहते हैं? कि जब तक पर से भेदज्ञान न हो; हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, सत्य, दया, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये सब परवस्तु है, इसकी एकत्वबुद्धि हो, तब तक ऐसे अध्यवसाय होते हैं। इसी तरह नारकी, मनुष्य, देव आदि गति मैं हूँ, ऐसा अध्यवसाय हो, तब तक यह बुद्धि होती है और परद्रव्य मेरे हैं, छह द्रव्य; कोई भी परमाणु या कोई स्कन्ध या शरीर, वह मेरा है—ऐसा जो अध्यवसाय—एकत्वबुद्धि, वह मिथ्यात्व है।

यह अध्यवसाय है वही **बोधनमात्रत्व से बुद्धि है,...** इस अध्यवसाय को ही जानपने की अपेक्षा बुद्धि भी कहा जाता है। है एकत्वबुद्धि, एकत्वबुद्धि का ज्ञान है, इसलिए उसे बुद्धि कहा जाता है। **व्यवसानमात्रत्व से व्यवसाय है,...** (व्यवसाय अर्थात्) काम में लगे रहना, उद्यमी होना। ऐसा व्यवसाय है, उसे भी अध्यवसाय कहा जाता है। एकत्वबुद्धि व्यवसाय में उसे व्यवसाय कहा जाता है। **मननमात्रत्व से मति है,...** मानना, जानना। नारकी मैं हूँ, मैं सत्य बोल सकता हूँ। आहाहा! मैं झूठ बोल सकता हूँ, मैं पर जीव हूँ, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, वे जीव मेरे हैं—ऐसी बुद्धि को यहाँ मनन कहने में आता है। मनन अर्थात् एकत्वबुद्धि का अध्यवसाय। आहाहा!

विज्ञप्तिमात्रत्व से विज्ञान है,... उसे ही विज्ञान कहते हैं। अज्ञान है, उसे यहाँ विज्ञान कहते हैं। आहाहा! एकत्वबुद्धि है, इसलिए उसे अज्ञान से विज्ञान भी कहने में आता है। **चेतनामात्रत्व से चित्त है,...** उसे चित्त भी कहने में आता है। मैं झूठ बोलूँ, चोरी कर सकता हूँ, शरीर से विषय सेवन कर सकता हूँ, ऐसी एकत्वबुद्धि को चित्त भी कहने में आता है और **चेतन के भवनमात्रत्व से भाव...** भी कहने में आता है। यह एकत्वबुद्धि चेतन का भाव है न? यह जड़ का भाव नहीं, इस अपेक्षा से भाव कहने में आता है। **चेतन**

के परिणमनमात्रत्व से परिणाम... भी कहने में आता है। **(इसप्रकार यह सब शब्द एकार्थवाची हैं।)** अध्यवसाय के आठ नाम हैं। आहाहा!

भावार्थ – यह जो बुद्धि आदि आठ नाम कहे गये हैं, वे सब चेतन आत्मा के परिणाम हैं। है मिथ्यात्व अध्यवसाय, परन्तु है चेतन के परिणाम, वे कहीं जड़ के नहीं हैं। आहाहा! शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, सत्य बोल सकता हूँ, झूठ बोल सकता हूँ, शरीर की-विषय का सेवना कर सकता हूँ, ऐसे जो परिणाम हैं, वे मिथ्यात्व हैं। परन्तु है जीव के परिणाम, वे जड़ के परिणाम नहीं हैं। आहाहा! अध्यवसाय मिथ्यात्व परिणाम है।

जबतक स्वपर का भेदज्ञान न हो, तबतक जीव के जो अपने और पर के एकत्व की निश्चयरूप परिणति पाई जाती है, उसे बुद्धि आदि आठ नामों से कहा जाता है। है तो एक का एक। बुद्धि कहो, चित्त कहो, विज्ञान कहो, परिणाम कहो, मनन कहो। अपने स्वरूप के अतिरिक्त राग और देहादि की क्रिया और परद्रव्य को अपना मानना, उसके यह आठ नाम हैं। आहाहा! है मिथ्यात्व, परन्तु उस मिथ्यात्व को अध्यवसाय कहकर एकत्वबुद्धि कहकर आठ नाम वर्णन किये हैं। आहाहा!

कलश - १७३

'अध्यवसान त्यागनेयोग्य कहे हैं, इससे ऐसा ज्ञात होता है कि व्यवहार का त्याग और निश्चय का ग्रहण कराया है'-इस अर्थ का, एवं आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वत्राध्यवसान-मेव-मखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चय-मेक-मेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं,
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्।।१७३।।

श्लोकार्थ : आचार्यदेव कहते हैं कि- [सर्वत्र यद् अध्यवसानम्] सर्व वस्तुओं में

जो अध्यवसान होते हैं, [अखिलं] वे सब (अध्यवसान) [जिनैः] जिनेन्द्र भगवान ने [एवम्] पूर्वोक्त रीति से [त्याज्यं उक्तं] त्यागने योग्य कहे हैं; [तत्] इसलिए [मन्ये] हम यह मानते हैं कि [अन्य-आश्रयः व्यवहारः एव निखिलः अपि त्याजितः] 'पर जिसका आश्रय है, ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुड़ाया है।' [तत्] तब फिर, [अमी सन्तः] यह सत्पुरुष [एकम् सम्यक् निश्चयम् एव निष्कम्पम् आक्रम्य] एक सम्यक् निश्चय को ही निश्चलतया अंगीकार करके [शुद्धज्ञानघने निजे महिम्नि] शुद्धज्ञानघनस्वरूप निज महिमा में (-आत्मस्वरूप में) [धृतिम् किं न बध्नन्ति] स्थिरता क्यों धारण नहीं करते?

भावार्थ : जिनेन्द्रदेव ने अन्य पदार्थों में आत्मबुद्धिरूप अध्यवसान छुड़ाये हैं, इससे यह समझना चाहिए कि यह समस्त पराश्रित व्यवहार ही छुड़ाया है। इसलिए आचार्यदेव ने शुद्धनिश्चय के ग्रहण का ऐसा उपदेश दिया है कि- 'शुद्धज्ञानस्वरूप अपने आत्मा में स्थिरता रखो।' और, 'जबकि भगवान ने अध्यवसान छुड़ाये हैं, तब फिर सत्पुरुष निश्चय को निश्चलतापूर्वक अंगीकार करके स्वरूप में स्थिर क्यों नहीं होते?-यह हमे आश्चर्य होता है,' यह कहकर आचार्यदेव ने आश्चर्य प्रगट किया है।।१७३।।

श्लोक - १७३ पर प्रवचन

अध्यवसान त्यागनेयोग्य कहे हैं... ये आठों ही बोल अध्यवसाय हैं, वे छोड़नेयोग्य कहे हैं। आहाहा! पर का भला कर सकता हूँ—ऐसा जो अध्यवसाय है, वह छोड़नेयोग्य है। आहाहा! पर को मैं मदद कर सकता हूँ, सहायता कर सकता हूँ, अनुकूलता दे सकता हूँ—ऐसी जो बुद्धि—एकत्वबुद्धि, वह अध्यवसान मिथ्यात्व है। आहाहा! उस पर के साथ एकत्वबुद्धि है। वह **अध्यवसान त्यागनेयोग्य कहे हैं...** अब क्या कहते हैं? कि परपदार्थ के साथ एकत्वबुद्धि है, वह तो त्यागनेयोग्य परमात्मा त्रिलोकनाथ ने कहा परन्तु इससे **ऐसा ज्ञात होता है कि व्यवहार का त्याग कराया है...** आचार्य महाराज अमृतचन्द्राचार्य भविष्य में २७२ गाथा आयेगी, उसका उपोद्घात करते हैं।

पर की एकत्वबुद्धि त्याग करायी है, उसके साथ पर के आश्रय से जो भाव होता है, उसका भी त्याग कराया है। आहाहा! अर्थात्? पर के आश्रय से कोई दया, दान, व्रत, भक्ति,

पूजा आदि हो, उसका भी यहाँ त्याग कराया है। वह भले एकत्वबुद्धि नहीं है। पर के साथ एकत्वबुद्धि है, उसके तो आठ नाम कहकर त्याग कराया, परन्तु आचार्य महाराज ऐसा कहते हैं कि जब अध्यवसाय का त्याग कराया, पर के साथ इसे कुछ सम्बन्ध नहीं है तो ऐसा मैं जानता हूँ कि प्रभु ने अध्यवसाय का त्याग कराया, वह पर के आश्रय का ही त्याग कराया है। पर के आश्रय से जो कुछ भाव हों... आहाहा! उस व्यवहार का भी प्रभु ने त्याग कराया है। सम्यग्दृष्टि को—धर्म की पहली सीढ़ी को, आहाहा! उस व्यवहार का त्याग कराया है, क्योंकि व्यवहार पर आश्रित होने से बन्ध का कारण है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म।

आचार्य स्वयं अमृतचन्द्राचार्य ऐसा कहते हैं कि प्रभु ने जब आत्मा वस्तु है, उसे जब पर की हिंसा, दया पालूँ—ऐसी एकत्वबुद्धि है और नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव हूँ—ऐसी एकत्वबुद्धि है और पर जीव और पर पुद्गल आदि मैं एक हूँ, ऐसी एकत्वबुद्धि का जब त्याग कराया, तब मैं ऐसा जानता हूँ कि पर के आश्रय से जितना व्यवहार होता है, भले एकत्वबुद्धि नहीं... आहाहा! परन्तु पर आश्रय से जितने भाव हों दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, हिंसा, वह परिणाम, वह सब व्यवहार परिणाम का भी प्रभु ने त्याग कराया है। आहाहा! समझ में आया इसमें? कठिन काम है। पर की एकत्वबुद्धि का त्याग कराया, साथ में निमित्त से होता है और व्यवहार से होता है—ऐसे जो भाव, उनका भी त्याग कराया है। आहाहा!

और निश्चय का ग्रहण कराया है... स्व भगवान चैतन्यस्वरूप, परमानन्द का स्वरूप है, वह निश्चय, उसका आश्रय कराया है, उसे **ग्रहण कराया है...** उसका त्याग कराया है, इसका ग्रहण कराया है। आहाहा! महाव्रत के परिणाम आदि राग हैं, वे पर आश्रित हैं, बारह व्रत के परिणाम भी पर आश्रित हैं। आहाहा! बारह व्रत के, अणुव्रत के परिणाम भी पर आश्रित हैं। आहाहा! होते हैं, पूर्ण वीतराग न हो, तब तक शुभभाव होता है, परन्तु दृष्टि में उसका त्याग कराया है। आहाहा! एकत्वबुद्धि का त्याग कराया, ऐसा तो मैं जानता हूँ कि प्रभु ने तो पर के आश्रित होनेवाले भाव, उन सबका त्याग कराया है। आहाहा! ऐसा भगवान अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त हजार वर्ष पहले हुए, वे ऐसा कहना चाहते हैं।

इस अर्थ का, एवं आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं:- काव्य १७३।

सर्वत्राध्यवसान-मेव-मखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चय-मेक-मेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं,
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्।।१७३।।

आहाहा! **श्लोकार्थ - आचार्यदेव कहते हैं कि- [सर्वत्र यद् अध्यवसानम्] सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान (होते हैं...)** तीन बोल लिये न? तीन। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय और परिग्रह, इसी तरह दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यह सब विकल्प हैं। इन सब की एकत्वबुद्धि तथा मनुष्य, नारकी, देव हूँ तथा पर जीव और पर पुद्गल मेरे हैं, ऐसा अध्यवसाय। **सर्व वस्तुओं में...** आत्मा के अतिरिक्त सभी वस्तुओं में। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! मार्ग बहुत कठिन है। आहाहा!

सर्व वस्तुओं में... आत्मा के अतिरिक्त परवस्तु सब हो, एकत्वबुद्धि होती है, **वे सब (अध्यवसान) 'जिनैः' जिनेन्द्र भगवान ने...** तीर्थंकरों ने, सर्वज्ञ परमात्मा ने **पूर्वोक्त रीति से त्यागने योग्य कहे हैं...** आहाहा! मैं लिखता हूँ, पृष्ठ बनाता हूँ, पुस्तक बनाता हूँ—ऐसी जो एकत्वबुद्धि है, उसे भी छुड़ाया है। आहाहा! क्योंकि परद्रव्य की क्रिया परद्रव्य के कारण से उसके कारण से वहाँ होती है। यह अपने आ गया है। कारणवाले हैं, सब द्रव्य कारणवाले हैं, दोपहर को आ गया था। आहाहा! तेरे अलावा दूसरे सभी द्रव्य कारणवाले हैं, इसलिए तेरे कारण से उनमें होता है, ऐसा है नहीं। वे तो कारणवाले ही हैं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, भगवान!

ऐसा सभी **जिनेन्द्र भगवान ने पूर्वोक्त रीति से त्यागने योग्य कहे हैं, इसलिए हम यह मानते हैं कि...** मुनिराज ऐसा कहते हैं, **इसलिए हम यह मानते हैं कि... [अन्य-आश्रयः व्यवहारः एव निखिलः अपि त्याजितः] 'पर जिसका आश्रय है ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुड़ाया है।'** आहाहा! कठिन काम। परद्रव्य की एकत्वबुद्धि छुड़ाने पर हम ऐसा मानते हैं कि परद्रव्य के आश्रय से होनेवाले भावों को भी प्रभु ने छुड़ाया है। आहाहा! अरेरे! ऐसी बात। समझ में आया?

जब यह आत्मा वस्तु है, स्वयं सत् है, इसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु भी सत् है। उसके साथ एकत्वबुद्धि (हो), सब चीज़ें, तीन लोक के नाथ और देव-गुरु-शास्त्र से भी एकत्वबुद्धि (हो), उसे—अध्यवसान को प्रभु ने छुड़ाया है। क्योंकि वह परवस्तु तेरी नहीं है, तू उसका नहीं है। आहाहा! हम तो उसमें से ऐसा निकालते हैं। आचार्य कहते हैं, पर—तेरे अतिरिक्त परद्रव्य की एकत्वबुद्धि छुड़ायी है, इसके अतिरिक्त हम तो ऐसा कहते हैं कि परद्रव्य के आश्रय से होनेवाले तुझमें भाव (उसे भी छुड़ाया है)। आहाहा! समझ में आया? वह तो एकत्वबुद्धि थी परन्तु अब परद्रव्य जो है, उसके आश्रय से होनेवाले तुझमें शुभ-अशुभभाव, वह व्यवहार है, उसे छुड़ाया है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, कठिन बहुत।

उपादान और निमित्त के झगड़े, निश्चय और व्यवहार के झगड़े और क्रमबद्ध (ऐसे) पाँच के झगड़े हैं। विमलचन्दजी! पाँच के हैं न? आहाहा! प्रभु! आहाहा! निमित्त से होता है, (ऐसा कहते हैं)। प्रभु! परद्रव्य से होता है तुझमें? और उसमें तुझसे होता है? प्रत्येक द्रव्य कारणवाले हैं, अपने कारण से हो रहे हैं, उसमें पर के कारण की कहाँ अपेक्षा है। कहो, निमित्त से कहो। व्यवहार से कथन है परन्तु उससे होता नहीं। आहाहा! एक बात—निमित्त-उपादान। निमित्त कहते हैं न? विद्यानन्दजी ने अभी कहा, अखबार में आया है। अध्यात्मियों को फटकार। निमित्त दिव्यध्वनि है, निमित्त है, उससे होता है तो वह उसकी महानता नहीं? निमित्त को मिलाना चाहिए। निमित्त अपने आप आते हैं, ऐसा नहीं है। निमित्त को मिलाना चाहिए। प्रभु! निमित्त पर है, उसे मिलाना चाहिए, यह तेरा कार्य है? आहाहा! प्रभु! हैं?

मुमुक्षु : ऐसा न माने तो मिथ्यात्व है, ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या हो परन्तु? वे ऐसा कहते हैं, मिथ्यात्व है। निमित्त मिलाना चाहिए। अपने आप आवे, ऐसा नहीं है। वह मिथ्यात्व है।

यहाँ प्रभु कहते हैं, परद्रव्य तो अपने आप कारणवाले हैं तो आते और जाते हैं। तेरे कारण से वे आवें और जाएँ, ऐसा नहीं है। अरेरे! ऐसी बातें, प्रभु... प्रभु... प्रभु..! उसे मिलाना, वह तो परद्रव्य की एकताबुद्धि हुई। वह तो अध्यवसाय—मिथ्यात्व है। उसे तो यहाँ छुड़ाया है, परन्तु अब निश्चय और व्यवहार जो दो के झगड़े हैं। एक उपादान और

निमित्त का तथा दूसरा निश्चय और व्यवहार का। वह यहाँ कहते हैं। प्रभु ने तो पर के आश्रय से होनेवाला व्यवहार अध्यवसान छुड़ाया है, साथ ही यह भी छुड़ाया है। आहाहा! यह श्लोक अलौकिक है। झगड़ा यह सब। शिक्षण शिविर में भी यह उपादान और निमित्त, निश्चय और व्यवहार, उन्हें सीखना हो कि देखो! व्यवहार से होता है, निमित्त से होता है। वह शिक्षण शिविर। आहाहा! प्रभु! प्रभु का विरह पड़ा, वस्तु तो यह रह गयी। आहाहा!

उपादान-निमित्त। उपादान—प्रत्येक द्रव्य की पर्याय निज क्षण में (होती है)। १०२ गाथा, प्रवचनसार। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय निज क्षण में उत्पन्न होती है, ऐसा पाठ है। आहाहा! उसे कोई निमित्त हो तो होती है, ऐसी बात नहीं है। आहाहा! प्रवचनसार, भगवान की दिव्यध्वनि। दोपहर में १०२ (गाथा) चलती है। प्रत्येक द्रव्य की जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, उस समय में उसका वह निज क्षण, निज काल है। आहाहा! उसे पर की अपेक्षा नहीं है तथा उल्टी-सीधी हो, ऐसा नहीं है। अरर! क्रमबद्ध भी इसमें आ गया।

निमित्त से होता है, ऐसा नहीं आया—एक बात। तथा यहाँ निश्चय से व्यवहार का निषेध कराया है तो व्यवहार से निश्चय होता है, यह भी नहीं आया और तीसरा—क्रमबद्ध उसके कारण से जो पर्याय होती है, उस समय में, उस समय में निश्चय से, उसे दूसरा कोई करने, उल्टी-सीधी करने में समर्थ नहीं है। अरे! अपनी पर्याय भी क्रमबद्ध हो, उसे जिनेन्द्र और इन्द्र भी बदलने को समर्थ नहीं है। आहाहा! इस एक श्लोक में तो पाँचों का हल है। आहाहा! क्या हो? प्रभु!

मुमुक्षु : अज्ञान दुनिया में रहनेवाला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा का ऐसा रहेगा, इस अभिप्रायवाले जगत में रहेंगे। संसार तो अनादि (से) है। अरे! कितने ही निगोद के जीव तो अभी बेचारे त्रसपना पाये नहीं। आहाहा! अनन्त-अनन्त काल हुआ, लट नहीं हुए और अभी अनन्त काल होंगे नहीं। इतने जीव पड़े हैं। प्रभु! तुझे अनन्त काल में मनुष्यपना मिला। 'ज्ञायते ते इति मनुष्यः' ऐसा गोम्मटसार में है। यह मनुष्यपना तो 'ज्ञायते ते इति' आत्मा का ज्ञान करे, उसके लिए मनुष्यपना है। आहाहा! यह राग से और पर से भिन्न भगवान है, उसका ज्ञान कर, यह कहते हैं। देखो!

पूर्वोक्त रीति से [त्याज्यं उक्तं] त्यागने योग्य कहे हैं... इसलिए हम यह मानते हैं कि... इसलिए हम ऐसा मानते हैं, मुनि कहते हैं, अमृतचन्द्राचार्य टीकाकार (कहते हैं) कि **'अन्य-आश्रयः व्यवहारः'** जितना अन्य के आश्रय से व्यवहार होता है... 'व्यवहार पर आश्रय, निश्चय स्व आश्रय'—यह सिद्धान्त है। निश्चय स्वआश्रित, व्यवहार परआश्रित। जितना व्यवहार त्यागनेयोग्य छुड़ाया है, पर के आश्रय से है। **पर जिसका आश्रय है, ऐसा व्यवहार ही...** 'व्यवहार ही' यह 'ही'। है? **'एव'** है न? **'अन्य-आश्रयः व्यवहारः एव'** संस्कृत है **'पर-आश्रयः व्यवहारः एव'** व्यवहार छुड़ाया है, पूरा व्यवहार छुड़ाया है। यह व्यवहार, वह धर्म नहीं है। आहाहा! अब यहाँ तक जाना।

मुमुक्षु : इस श्लोक का वे लोग क्या अर्थ करते होंगे?

पूज्य गुरुदेवश्री : करते होंगे कुछ, चाहे जो करते होंगे। क्या हो? 'जामे जितनी बुद्धि है, उतनो दिये बताये। बाको बुरौ न मानिये और कहाँ से लाये?' आहाहा! उसे उस बुद्धि में बैठा है, तत्प्रमाण बोलता है-मानता है। जैसा मन में बैठा हो, वैसा वाणी में आता है। आहाहा! प्ररूपणा में वह आता है, मन में वह बैठा हो कि निमित्त से होता है, व्यवहार से निश्चय होता है। यह अन्दर बैठा है, वह वाणी में आता है। प्रभु! आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा चलेगी, उसका अमृतचन्द्राचार्य उपोद्घात करते हैं कि भगवान ने जब तेरे अतिरिक्त कोई भी पर द्रव्य, त्रिलोकनाथ हो, देव हो, गुरु हो, शास्त्र हो परन्तु वह एकत्वबुद्धि (छुड़ाई है)। वे मेरे हैं, ऐसी एकत्वबुद्धि है। वे तो उनके हैं, वे तेरे हैं, वे उनके हैं, वे तेरे हैं—ऐसी मान्यता, वह अध्यवसाय एकत्वबुद्धि है। आहाहा! शरीर, शरीर का है, वाणी, वाणी की है, कर्म कर्म के हैं और वे तेरे हैं (ऐसा मानता है)। वे उसके हैं, वे तेरे हैं, यह बुद्धि एकत्वबुद्धि है। बात तो सीधी है, प्रभु! आहाहा!

यह सब झगड़े। आहाहा! निमित्त-उपादान के, व्यवहार-निश्चय के और क्रमबद्ध, पाँच के। यह सोनगढ़ के सामने पाँच है। आहाहा! पाँचों का एक मिनिट में छुटकारा है। आहाहा! १०२ गाथा। जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह उसका जन्मक्षण—एक बात। और उस उत्पाद को उसके ध्रुव की अपेक्षा नहीं, यह दूसरी बात। क्योंकि उत्पाद, वह सत् है। सत् को कोई हेतु नहीं होता। आहाहा! वह उत्पाद जिस क्षण में होता है, उसे ध्रुव

की अपेक्षा नहीं तो फिर निमित्त की अपेक्षा है, यह कहाँ रहा ? प्रभु ! हो निमित्त। आहाहा ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : यह झगड़ा तो दुनिया में रहनेवाला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : रहे। नव तत्त्व रहनेवाले हैं। आहाहा ! 'विरला जाने कोई' ऐसी बात है। जिसकी श्रद्धा में, अभी व्यवहार श्रद्धा में भी ठिकाना नहीं, उसे आत्मा का आश्रय होकर सम्यग्दर्शन हो, प्रभु ! कठिन है, भाई ! और वह भी प्राणी बेचारा मिथ्यात्व के कारण दुःखी हो, भवभ्रमण हो, वह कहीं चाहनेयोग्य है ? वह दुःखी होता है, (यह चाहने योग्य है) ? आहाहा ! सब भगवान है, भगवानस्वरूप से है परन्तु उसकी इसे खबर नहीं है। आहाहा !

यहाँ तो प्रभु आचार्य महाराज का पुकार है, तीर्थंकरों का पुकार है। **'जिनैः'**—कहा है न ? **'जिनै'** कहा है, कि एकत्वबुद्धि छोड़। आहाहा ! मैं बोल सकता हूँ, मैं चल सकता हूँ, शरीर की क्रिया बराबर धारकर कर सकता हूँ। छोड़, छोड़, अध्यवसाय छोड़, प्रभु !

यह जड़ की क्रिया उस समय में उसके कारण से जन्मक्षण है, उससे उत्पन्न हुई है। आहाहा ! इसलिए वहाँ आगे उसे जन्मक्षण है, ऐसा कहकर ध्रुव की भी अपेक्षा नहीं तो निमित्त की अपेक्षा भी नहीं। उपादान हो गया स्वतन्त्र—एक बात। और वहाँ व्यवहार राग है, इसलिए यहाँ निर्मल समकित होता है, ऐसा भी नहीं है। समकित की पर्याय निश्चय जिस समय में उत्पन्न होने का उसका जन्मक्षण है। आहाहा ! वह जन्मक्षण है ऐसा पाठ प्रवचनसार १०२ गाथा में है। जिस समय में सम्यग्दर्शन की पर्याय उत्पन्न होती है, उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं तो फिर व्यवहार की अपेक्षा है, व्यवहार से होता है, यह अपेक्षा नहीं, प्रभु ! आहाहा ! तीन लोक के नाथ जिनेश्वर, परमेश्वर का यह फरमान है। भाई ! किसी के अनादर की बात नहीं है। अनादर नहीं, प्रभु ! वह भगवान है। आहाहा ! और उसके आत्मा को नुकसान होता है, वह कहीं किसी को अच्छा लगेगा ? आहाहा ! भले भटके, दुःखी हो—ऐसा नहीं होता, बापू ! वस्तु तो यह है, प्रभु ! आहाहा !

पर जिसका आश्रय है, ऐसा व्यवहार ही... 'ही' है, **'एव'** है न ? **'अन्य-आश्रयः व्यवहारः एव निखिलः अपि त्याजितः'** आहाहा ! क्या कहा प्रभु ने ? कि पर

की एकताबुद्धि तो प्रभु ने छुड़ाई परन्तु मैं तो उसमें से ऐसा निकालता हूँ... और आगे २७२ में कहेंगे कि पर के आश्रय से 'ही' **'एव'** है न! आहाहा! **'अन्य-आश्रयः व्यवहारः एव निखिलः अपि त्याजितः'** पर जिसका आश्रय, ऐसा व्यवहार। यह दया, दान, व्रत, भक्ति, व्यवहार पर आश्रय है। **सम्पूर्ण छुड़ाया है।** आहाहा! हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग तो छुड़ाया है ही... आहाहा! परन्तु पर के आश्रय से होनेवाले भक्ति के परिणाम दया, दान आदि के व्रत, पूजा, भक्ति, दया, दान वह व्यवहार सब ही छुड़ाया है। अरे! प्रभु! ऐसा है। अब वहाँ 'ही' दोनों में लेंगे।

'तत्' तब फिर,... 'अमी सन्तः' यह सत्पुरुष... धर्मात्मा-समकिती। आहाहा! सत्पुरुष। अरेरे! सम्यग्दृष्टि जीवों, ऐसी पुकार करते हैं। **'एकम् सम्यक् निश्चयम् एव निष्कम्पम् आक्रम्य' 'एकम् सम्यक् निश्चयम् एव'** यहाँ **'एव'** शब्द है। एक सम्यक् निश्चय को ही, एकान्त कहते हैं। आहाहा! यह धीर का काम है, बापू! यह कहीं उतावल बड़ी धमाधम, धमाधम चले, वह मार्ग नहीं है, भाई! आहाहा!

दो कहा—पर के आश्रय से व्यवहार 'ही' छुड़ाया है। समस्त व्यवहार। तीन लोक के नाथ ऐसा कहते हैं कि हमारी भक्ति के परिणाम और हमारे सामने देखने से तुझे राग होगा, वह राग छुड़ाया है। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि वह राग पर आश्रय से हुआ है। आहाहा! और मोक्षपाहुड़ में तो यहाँ तक कहा है, १६वीं गाथा। **'परदव्वादो दुग्गई'** प्रभु! हम तुझसे परद्रव्य हैं। हमारे द्रव्य पर तेरा लक्ष्य जाएगा तो तेरी चैतन्य की गति का निर्मल ज्ञान नहीं होगा, राग होगा, वह दुर्गति है। ऐसी बात—पाठ है। मोक्षपाहुड़ १६ वीं गाथा। आहाहा! यह त्रिलोकनाथ तीर्थंकर कहते हैं, **'परदव्वादो दुग्गई'** तेरे हिसाब से हम परद्रव्य हैं। यदि हमारे ऊपर तेरा लक्ष्य जाएगा तो चैतन्य की गति नहीं रहेगी, राग होगा। उस राग को यहाँ छुड़ाया है। आहाहा! आहाहा! होता है, आता है, समकित को भी भक्ति आदि का राग आता है, परन्तु वह हेय है, हेयबुद्धि से आता है। समझ में आया? मुनि को भी पंच महाव्रत के परिणाम आते हैं, अन्तर अनुभव आनन्द का प्रचुर वेदन होने पर भी, परन्तु वे हेय हैं। आते हैं तो भी वे हेय हैं—वे छोड़नेयोग्य हैं, ऐसा यहाँ कहा है। आहाहा! व्यवहार नहीं आता, ऐसा नहीं है। पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक राग आता है, परन्तु वे हेय है। आहाहा! गजब है।

अरे! प्रभु! तेरे घर की बात तूने मध्यस्थ से सुनी नहीं। मध्यस्थ होकर जैसा स्वरूप है, (वैसा सुना नहीं)। प्रभु! तू तो ज्ञानस्वरूप है न! ज्ञानस्वरूप को पर तो ज्ञेय है न! राग और शरीर आदि पूरी दुनिया ज्ञेय है न! उसमें ज्ञेय है, वे मेरे हैं—ऐसा कहाँ से आया? स्वज्ञेय पूर्णानन्द का नाथ प्रभु! ज्ञायक स्वज्ञेय है, मैं हूँ, उसमें रागादि परज्ञेय हैं, वे परज्ञेय मेरे हैं—ऐसा कहाँ से आया? छोड़! वह मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म पड़े, प्रभु! आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ का यह कथन है, प्रभु! पंचम काल में परमात्मा का विरह पड़ा और बड़ी गड़बड़ खड़ी हुई। आहाहा! 'चोर कोतवाल को दण्डे' ऐसा हुआ। आहाहा! सत्य बात को खोटी सिद्ध करना, प्रभु! प्रभु! तुझे नुकसान है, बापू! भाई! तुझे ऐसा नहीं है।

यहाँ व्यवहार और निमित्त की एकता छुड़ाकर तथा व्यवहार की अस्थिरता है, उसे छुड़ाया है। आहाहा! गजब बात है! दिगम्बर सन्तों की भाषा एक-एक श्लोक, एक-एक कलश गजब की बात है। आहाहा! श्वेताम्बर के करोड़ों श्लोक देखो तो ऐसी बात वहाँ नहीं है। आहाहा! यह एक ही कलश (बस है)। आहाहा! अर्थात? तेरा तत्त्व जो चैतन्य ज्ञायकमूर्ति प्रभु! उसके अतिरिक्त परद्रव्य की एकताबुद्धि; है नहीं तेरे और (उनकी) एकताबुद्धि, वह मिथ्यात्व है, इसलिए छोड़।

दूसरा, तेरा स्वभाव तो आनन्द और ज्ञान है। उसमें पर-आश्रय से होता राग, व्यवहार वह बन्ध का कारण है इसलिए दृष्टि में से छोड़। अस्थिरता में से नहीं छूटे, अस्थिरता से तो शुद्ध उपयोग पूर्ण होगा, तब छूटेगा। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं। आहाहा! ढुंढिया—स्थानकवासी में से निकले और हमारी बातें झूठी सिद्ध करते हैं, ऐसा कहते हैं। प्रभु! ऐसा रहने दे। आहाहा! ऐसा कहते हैं कि स्थानकवासी में से आये और हमारी आलोचना करते हैं। हमारी नहीं, यह तो शास्त्र की बात है, शास्त्र का पुकार यह है।

जो कोई निमित्त से (होता है, ऐसा) मानता है एकत्वबुद्धि है। कोई व्यवहार से निश्चय माने, वह भी झूठी दृष्टि है। आहाहा! और क्रमबद्ध—जिस समय में होनेवाला है, वह होगा, उसे उल्टा-सीधा माने तो कर्ताबुद्धि है। क्रमबद्ध में अकर्ताबुद्धि है। समयसार ३०८, ३०९, ३१०, ३११ गाथा। वहाँ क्रमबद्ध में अकर्ताबुद्धि सिद्ध किया। आहाहा!

पर का कर्ता नहीं, राग का कर्ता नहीं। निश्चय से तो... सूक्ष्म बात है, प्रभु! मोक्ष और बन्ध और उदय और निर्जरा का भी कर्ता नहीं। आहाहा! यह ३२० गाथा। जाननहार है, ज्ञायक है, जाननेवाला है। रागादि का उदय आवे, (उसका) जाननेवाला; निर्जरा हो, उसका जाननेवाला; बन्ध हो, उसका जाननेवाला; मोक्ष हो, उसका जाननेवाला। मोक्ष करनेवाला नहीं। आहाहा! द्रव्य, पर्याय का करनेवाला नहीं; पर्याय, पर्याय का करनेवाली है। आहाहा! गजब बात है, भाई!

जैनधर्म कोई पक्ष नहीं, पन्थ नहीं, वाड़ा नहीं, वस्तु का स्वरूप है। वस्तु का स्वरूप है, वह जैनधर्म। है। 'जिन सो हि है आत्मा अन्य सो हि है कर्म, यही वचन से समझ ले जिनधर्म का मर्म' आहाहा! कठिन पड़े, परन्तु बापू! मानना पड़ेगा, भाई! आहाहा! अरे रे! उलझ गये, पाप में पूरे दिन (पड़े हों), उन्हें तुम ऐसी बातें करते हो कि शुभभाव भी छोड़ने जैसा है। भाई! श्रद्धा में तो छोड़, भले अस्थिरता तो रहेगी। वह अस्थिरता तो पूर्ण वीतराग होगा, तब जाएगी। आहाहा!

अमृतचन्द्राचार्य ने दोनों जगह **'एव'** शब्द प्रयोग किया है। व्यवहार **'एव'** समस्त छुड़ाया। व्यवहार 'ही'। जितना व्यवहार (वह समस्त)। आहाहा! और भावपाहुड़ में ८३ गाथा में कहा है कि दया, दान, व्रत, भक्ति आदि वह कोई जैनधर्म नहीं है। ऐसा पाठ है। अष्टपाहुड़ है। भावपाहुड़ की ८३ गाथा है। आहाहा! भावपाहुड़, हों! **'पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं'** ***जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने इस प्रकार कहा है कि-पूजा आदिक...*** पूजा, व्रत आदि वह पुण्य है। और **'वयसहियं'** व्रत सहित पुण्य। ***पूजा और आदि शब्द से भक्ति, वन्दना, वैयावृत्य, आदिक समझना, यह तो देव-गुरु-शास्त्र के लिये होता है और उपवास आदिक व्रत हैं, वह शुभक्रिया है, इनमें आत्मा का रागसहित शुभ परिणाम...***

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।।८३।।

आहाहा! पूजा, व्रत आदि जिनधर्म नहीं है, ऐसा यहाँ कहा है। भावपाहुड़, गाथा ८३। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग है। दृष्टि को तो पहले सुधार, पश्चात् व्रत-फ्रत तो बाद में।

दृष्टि के सुधार बिन तू आगे किस प्रकार जाएगा? यहाँ **'पूयादिसु वयसहियं पुएएं हि जिणेहिं सासणे भणियं'** जिन शासन में उसे पुण्य कहा है। यह व्यवहार जो पराश्रय कहा न? (वह) पुण्य है, हेय है, वह जिनशासन नहीं है। आहाहा!

सन्तों ने तो वीतरागता प्रसिद्ध की है। दृष्टि और स्थिरता दोनों की वीतरागता को प्रसिद्ध (किया है)। दृष्टि में वीतरागता—निमित्त से (नहीं) होता और व्यवहार से नहीं होता, निश्चय से होता है, यह दृष्टि भी वीतराग और स्थिरता भी वीतराग। स्वरूप में स्थिरता हो, व्रतादि त्याग हो, यह वीतराग, यह धर्म है। दृष्टि भी वीतरागी पर्याय है। आहाहा! शुभ-अशुभभाव **'पूयादिसु वयसहियं पुएएं हि जिणेहिं सासणे भणियं'** जैनशासन में कुन्दकुन्दाचार्य का पुकार है कि उसे तो पुण्य कहा है।

प्रवचनसार में तो यह पाठ है, ७७ गाथा। पुण्य और पाप में भेद माने, अन्तर माने, वह घोर संसार में भटकनेवाला है। प्रवचनसार, प्रवचनसार ७७ गाथा है न? आहाहा! देखो! **'ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं'** शुभ और अशुभभाव में कोई अन्तर नहीं है। दोनों बन्ध के कारण हैं, ऐसा जो नहीं मानता **'हिंडंदि घोरमपारं संसारं'** आहाहा! घोर संसार में भटकनेवाले हैं। प्रभु! तुझे दुःख होगा। आहाहा! **'मोहसंछण्णो'** मिथ्यात्व से ढँक गया है। आहाहा! ७७ गाथा है, प्रवचनसार।

यह यहाँ कहते हैं, व्यवहार भगवान ने छुड़ाया है। क्योंकि व्यवहार, वह पुण्य-पाप का भाव है। और यहाँ तो व्यवहार गिने तो पुण्य का भाव है। आहाहा! उसे भी निश्चय से **'एव'** छुड़ाया है। **तब फिर, यह सत्पुरुष...** अरे! सन्त-धर्मात्मा **एक सम्यक् निश्चय को ही...** यहाँ उसे 'ही' कहा है—एकान्त कहा है। ऐसा नहीं कि कथंचित् निश्चय और कथंचित् व्यवहार, ऐसा नहीं कहा। आहा! निश्चय को ही अंगीकार कर और व्यवहार को नहीं, ऐसा अनेकान्त है। यह तो अनेकान्त ऐसा सिद्ध करते हैं, निश्चय से भी होता है, व्यवहार से भी होता है, यह अनेकान्त। उपादान से होता है, निमित्त से होता है। यह अनेकान्त है। आहाहा! (ऐसा जगत मानता है) क्या हो?

ऋषभदेव भगवान (के साथ में) तो चार हजार राजाओं ने दीक्षा ली थी और जब वेश बदल डाला तो देव आये (और कहा कि) नग्नपने में दूसरा करोगे तो दण्ड देंगे। छोड़ दो।

ऋषभदेव भगवान के साथ चार हजार राजा साधु (हुए), दीक्षा ली। भगवान तो तीन ज्ञान के धनी समकिती अनुभवी (थे)। उनसे (-राजाओं से) पालन नहीं हुआ, (इसलिए) कुछ करने लगे। देव आये (और कहा कि) नग्नपने में कुछ भी फेरफार करोगे तो दण्ड देंगे। (मुनिपना) छोड़ दो। छाल के कपड़े पहनो या ऐसा करो। ऐसा काल था। अभी कोई नहीं आवे, सामने नहीं देखे। हैं? आहाहा! काल में अन्तर हैं न, पुण्य में अन्तर है न? आहाहा!

एक सम्यक् निश्चय को ही... है? **'एकम्'** शब्द है। दूसरा व्यवहार नहीं। एक। आहाहा! **एक सम्यक् निश्चय को ही निश्चलतया अंगीकार करके...** भगवान त्रिकालीनाथ का आश्रय करके **'शुद्धज्ञानघने'** आहाहा! **शुद्धज्ञानघनस्वरूप निज महिमा में...** शुद्धज्ञानघन प्रभु चैतन्यस्वरूप। आहाहा! चैतन्यघन ध्रुव, नित्यानन्द प्रभु है। वह निज महिमा—अपनी महिमा में। यह व्यवहार की महिमा छोड़ दे, निमित्त की महिमा छोड़ दे, प्रभु! आहाहा! **निज महिमा में (-आत्मस्वरूप में) 'धृतिम् किं न बध्नन्ति' स्थिरता क्यों धारण नहीं करते?** आहाहा! अरे रे! तुम समकिती जीवों! तुम सत्पुरुषों अन्तर में निमग्न क्यों नहीं होते? आहाहा! ऐसी पुकार है। तुम व्यवहार को छोड़कर निश्चय में क्यों नहीं आते? आहाहा! परन्तु जिसे व्यवहार से निश्चय होता है, (ऐसा माने) उसकी रुचि व्यवहार में रहे, वह वहाँ से हटे कहाँ से?

इस शास्त्र में लिखा है (कि) व्यवहार साधन है। वह तो स्वरूप के आश्रय से निश्चय हुआ है, उसका राग बाकी है, उसे व्यवहार साधन का आरोप देकर कथन किया है। आहाहा! जयसेनाचार्य में बहुत कथन है। जयसेनाचार्य का पसन्द पड़ता है। विद्यासागर है न? ज्ञानसागर के शिष्य। उन ज्ञानसागर ने जयसेनाचार्यदेव की समयसार की टीका का अर्थ किया है। समयसार किया है। क्योंकि उसमें ऐसा बहुत है व्यवहार साधन, निश्चय साध्य। अमृतचन्द्राचार्य का नहीं। आहाहा! और यह तो फिर अमृतचन्द्राचार्य को काष्टासंघी सिद्ध करते हैं, यह विद्यासागर है। क्रियाकाण्डी अधिक है, जवान है। आहाहा!

मूल भूमिका सम्यग्दर्शन। व्यवहार को छोड़कर, निमित्त का लक्ष्य छोड़कर और ज्ञानघन भगवान में निष्कम्परूप से क्यों स्थिर नहीं होते? आहाहा! **स्थिरता क्यों धारण नहीं करते?** श्लोक बहुत सरस है।

भावार्थ – जिनेन्द्रदेव ने अन्य पदार्थों में आत्मबुद्धिरूप अध्यवसान छुड़ाये हैं... भगवान ने तेरे अतिरिक्त जगत के जितने सब द्रव्य हैं, उनसे एकत्वबुद्धि छुड़ायी है, आत्मबुद्धि छुड़ायी है। **यह समस्त पराश्रित व्यवहार ही छुड़ाया है। इससे यह समझना चाहिए कि यह समस्त पराश्रित व्यवहार ही छुड़ाया है।** आहाहा! यही यह कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा में आयेगा। **'निश्चयनयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की'** उसका यह उपोद्घात है। आहाहा! यह तो बहुत थोड़े प्राणी सुनने के योग्य हों। आहाहा! ऐसी वस्तु एकान्त लगे। लो! निश्चय से होता है... निश्चय से होता है... व्यवहार से होता है, यह तो बातें ही नहीं करते। बात नहीं करते? कि व्यवहार से नहीं होता है।

मुमुक्षु : व्यवहार का फल संसार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार स्वयं राग है, वह तो उदयभाव संसार है। संसार है। आहाहा! क्या हो? सोनगढ़ के सामने बड़ा विवाद—उपादान, निमित्त का, निश्चय व्यवहार का और क्रमबद्ध—पाँच का (विवाद)। एक क्रमबद्ध का निर्णय करे तो सब उड़ जाए ऐसा है। यह भाई हुकमचन्दजी करनेवाले (लिखनेवाले) हैं। क्रमबद्ध के बहुत लेख लिखे हैं, एक पुस्तक बनानेवाले हैं। भाई ने तो लिखा है—दस लक्षणी पर्व। दस लक्षणी धर्म का बहुत सरस, बहुत सरस (लिखा है)। अभी आ गये, शिविर में रह गये। बहुत सरस। ऐसा तो किसी पण्डित ने बनाया नहीं। और जगनमोहनलालजी पुराने पण्डित, ८० वर्ष की बड़ी उम्र, फूलचन्दजी और कैलाशचन्दजी की छोटी उम्र है। उन्होंने तो सबने प्रशंसा की है परन्तु जगनमोहनलालजी ने तो यहाँ तक कहा, कि अरे! उसे क्या कहलाता है? भारिल्ल... भारिल्ल! भारिल्लजी! तुमको सरस्वती का वरदान लगता है! ऐसा शब्द लिखा है? हिन्दी है न? हिन्दी पुस्तक है, उसमें पाठ दिया है। सरस्वती का अर्थ उसमें ऐसा है, यह हुकमचन्दजी अभी... आहाहा! सब पण्डितों का प्रमुख है। उम्र है ४४ वर्ष की, परन्तु मस्तिष्क और क्षयोपशम... आहाहा! ऐई!

मुमुक्षु : आपके पास सुनकर गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह तो बेचारा कहे न! (मैंने) सब यहाँ से सुना हुआ कहा है। परन्तु तो भी उनकी स्वयं की शक्ति है न! क्षयोपशम की शक्ति है। दसलक्षणी पर्व का

विस्तार अभी तक किसी पण्डित ने ऐसा नहीं किया। जगनमोहनलालजी पण्डित ने ऐसा कहा, तुमको सरस्वती का वरदान है। ऐसा विस्तार! आहाहा! जगनमोहनलालजी के भी कितनी निर्मानता! नहीं तो पुराना व्यक्ति, वाँचन बहुत, पुराना पण्डित तो भी नया ४४ वर्ष का (है, उसे कहते हैं कि) तुमको सरस्वती का वरदान है। ऐसी शैली कभी की नहीं, हुई नहीं। आहाहा! ऐसे तो ३८ पण्डितों ने अभिनन्दन दिया है। हिन्दी पुस्तक, हिन्दी पुस्तक है न? उसमें ३८ पण्डितों ने (अभिनन्दन दिया है)। एक श्वेताम्बर है, वह तो श्वेताम्बर, परन्तु दूसरे सब ३७ दिगम्बर पण्डितों ने अभिनन्दन दिया। तुम्हारी यह दसलक्षणी पर्व, (उसमें) अजब बातें की हैं। वे ही अब क्रमबद्ध की पुस्तक बनानेवाले हैं। और यह क्रमबद्ध शब्द पहला यहाँ से निकला है। बहुत वर्ष पहले से (निकला है)। आहाहा!

जगत के द्रव्य की क्रमबद्ध पर्याय जिस समय में जो होनेवाली है, वह होगी, उस समय में (होगी), दूसरे समय में दूसरी, तीसरे समय में तीसरी। मोती के हार की भाँति। मोती के हार में जहाँ-जहाँ मोती वहाँ-वहाँ (उसका) स्थान है। वह स्थान। ऐसे जहाँ-जहाँ पर्याय, वहाँ-वहाँ उसका काल। आहाहा! परन्तु उसकी दृष्टि जाए कहाँ? क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले की दृष्टि अकर्ता पुरुषार्थ में जाती है, अकर्ता पुरुषार्थ में जाती है। आहाहा! नियतवाद में नहीं जाता। आहाहा! राग का भी कर्ता नहीं और पर्याय का भी कर्ता नहीं ऐसी अकर्ताबुद्धि होती है। आहाहा! क्या हो?

मुमुक्षु : यहाँ आनेवाले हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आनेवाले होंगे, आयेंगे। वे तब आये थे, परन्तु मैंने पढ़ा नहीं था। अभी शिविर में रह गये न! रह गये परन्तु मैंने पढ़ा नहीं था। बहुत खबर नहीं परन्तु पढ़ा, फिर (लगा), ओहो! गजब काम किया है। अपने तो चाहे जो व्यक्ति कहे, आठ वर्ष का बालक भी सत्य कहता हो तो बराबर है। उसमें क्या है? बहुत स्पष्ट किया है, बहुत स्पष्ट किया है। पढ़ा है भाई विमलचन्दजी? पढ़ा नहीं दसलक्षणी? दसलक्षणी मिला नहीं? हैं? आहाहा! क्रमबद्ध का प्रकाशित करनेवाले हैं। क्रमबद्ध का गजब करेंगे, गजब! आहाहा! क्रमबद्ध का सिद्धान्त तो सर्वज्ञ परमात्मा के घर का। आहा! 'जो-जो देखी वीतराग ने सो

सो होशी वीरा' भगवान को जहाँ जिस समय में जो पर्याय दिखी, उस समय में वहाँ होगी। दिखी, इसलिए होगी नहीं, उसका स्वभाव ही (ऐसा) है। आहाहा! इन पाँच का बड़ा विवाद।

दिल्ली में है न? ज्ञानमती। वह यह शिक्षण में दे—निमित्त से होता है। उपादान से, निमित्त से दोनों से होता है। व्यवहार से होता है, निश्चय से होता है। होने दो, बापू! होने दो। सत्य होगा वह रहेगा, जगत में असत्य नहीं रहेगा।

यहाँ कहते हैं, **इससे यह समझना चाहिए कि यह समस्त पराश्रित व्यवहार ही छुड़ाया है। इसलिए आचार्यदेव ने शुद्धनिश्चय के ग्रहण का ऐसा उपदेश दिया है कि–'शुद्धज्ञानस्वरूप अपने आत्मा में स्थिरता रखो।' और, 'जबकि भगवान ने अध्यवसान छुड़ाये हैं, तब फिर सत्पुरुष निश्चय को निश्चलतापूर्वक अंगीकार करके...** अर्थात् एकत्वबुद्धि छुड़ायी है तो अब ऐसे एकत्व कर न! आहाहा! **स्वरूप में स्थिर क्यों नहीं होते?–यह हमे आश्चर्य होता है,'** आहाहा! **यह कहकर आचार्यदेव ने आश्चर्य प्रगट किया है।** ऐसा कहकर, आचार्यदेव ने आश्चर्य बताया है। आहाहा! प्रभु! जब भगवान ने पर की एकत्वबुद्धि छुड़ायी तो प्रभु! तू यहाँ एकत्व क्यों नहीं करता अब? एकत्व ऐसे कर तो व्यवहार भी छूट जाता है। पर तो छूट गया परन्तु व्यवहार (भी छूट जाता है)। ऐसे (स्व में) एकत्व करे, ऐसा एकत्व है और ऐसे ज्ञायकभाव के साथ एकत्व करे (तो) व्यवहार छूट जाता है। आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २७२

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।२७२।।

एवं व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन।
निश्चयनयाश्रिताः पुनर्मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम्।।२७२।।

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बन्धहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्।

प्रतिषेध्य एव चायं, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्, पराश्रितव्यवहारनयस्यै-कान्तेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च।।२७२।।

अब इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं:-

व्यवहारनय इस रीत जान, निषिद्ध निश्चयनयहिसे।
मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ती करे।।२७२।।

गाथार्थ : [एवं] इस प्रकार [व्यवहारनयः] (पराश्रित) व्यवहारनय [निश्चयनयेन] निश्चयनय के द्वारा [प्रतिषिद्धः जानीहि] निषिद्ध जान; [पुनः निश्चयनयाश्रिताः] निश्चयनय के आश्रित [मुनयः] मुनि [निर्वाणम्] निर्वाण को [प्राप्नुवंति] प्राप्त होते हैं।

टीका : आत्माश्रित (अर्थात् स्व-आश्रित) निश्चयनय है, पराश्रित (अर्थात् पर के आश्रित) व्यवहारनय है। वहाँ, पूर्वोक्त प्रकार से पराश्रित समस्त अध्यवसान (अर्थात् अपने और पर के एकत्व की मान्यतापूर्वक परिणमन) बन्ध का कारण होने से मुमुक्षुओं को उसका (-अध्यवसान का) निषेध करते हुए ऐसे निश्चयनय के द्वारा वास्तव में व्यवहारनय का ही निषेध कराया है, क्योंकि व्यवहारनय के भी पराश्रितता समान ही है (-जैसे अध्यवसान पराश्रित है। उसी प्रकार व्यवहारनय भी पराश्रित है, उसमें अन्तर नहीं है)। और इस प्रकार यह व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है; क्योंकि आत्माश्रित निश्चयनय का आश्रय करनेवाले ही (कर्मों से) मुक्त होते हैं और पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकांततः मुक्त नहीं होनेवाला अभव्य भी करता है।

भावार्थ : आत्मा के पर के निमित्त से जो अनेक भाव होते हैं, वे सब व्यवहारनय के विषय हैं, इसलिए व्यवहारनय पराश्रित है, और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है, वही निश्चयनय का विषय है; इसलिए निश्चयनय आत्माश्रित है। अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है; इसलिए अध्यवसान का त्याग व्यवहारनय का ही त्याग है, और जो पूर्वोक्त गाथाओं में अध्यवसान के त्याग का उपदेश है, वह व्यवहारनय के ही त्याग का उपदेश है। इस प्रकार निश्चयनय को प्रधान करके व्यवहारनय के त्याग का उपदेश किया है, उसका कारण यह है कि–जो निश्चयनय के आश्रय से प्रवर्तते हैं, वे ही कर्मों से मुक्त होते हैं और जो एकान्त से व्यवहारनय के ही आश्रय से प्रवर्तते हैं, वे कर्मों से कभी मुक्त नहीं होते।

प्रवचन नं. ३३४, गाथा-२७२ शुक्रवार, आसोज कृष्ण १४
दिनाङ्क - १९-१०-१९७९

समयसार २७२ गाथा। कलश हो गया है।

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।२७२।।

हरिगीत

व्यवहारनय इस रीत जान, निषिद्ध निश्चयनयहिसे।
मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ती करे।।२७२।।

टीका : आत्माश्रित (अर्थात् स्व-आश्रित) निश्चयनय है,... स्व-आश्रित है न? प्रवचनसार १८९ गाथा में ऐसा कहा कि 'शुद्धदव्य निरूपणस्वरूप निश्चयनय।' राग-विकार आत्मा की पर्याय में होता है, इसलिए वह ज्ञेय का अधिकार है, इसलिए उसमें शुद्धद्रव्य के कथन अपेक्षा से निश्चयनय से राग और विकार पर्याय में अपने में है। निश्चयनय से। पर्याय इसकी है न? ज्ञेय का अधिकार है न? ज्ञेय की परिपूर्णता, उसका अपना स्वरूप... विकार होवे तो भी निश्चयनय से अपने में ही है। आहाहा! वहाँ शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चय, ऐसा कहा। शुद्धनय नहीं कहा। शुद्धद्रव्य निरूपणस्वरूप

निश्चयनय और अशुद्धनयस्वरूप व्यवहारनय। कर्म के निमित्त से होता है - ऐसा कहना, वह अशुद्धनयरूप व्यवहारनय का कथन है और विकार पर्याय में होता है, यह स्व-आश्रित अपने में अपने से होता है; इसलिए उसे शुद्धद्रव्य निरूपण निश्चय कहा है। यह ज्ञानप्रधान कथन में ज्ञेय की व्याख्या की।

यहाँ दर्शनप्रधान कथन में (कहते हैं), आहाहा! स्व-आत्माश्रित निश्चयनय। आत्माश्रित अर्थात् यह पर्याय नहीं। यहाँ तो त्रिकाली ज्ञायकभाव स्व, उसका नाम स्व-आश्रित। ऐसे तो कहेंगे, निश्चय से मुनि मोक्ष को प्राप्त होते हैं। इसका अर्थ निश्चयनय से प्राप्त होते हैं अर्थात् निश्चय का विषय है, जो ध्रुव ज्ञायकभाव है... आहाहा! उसके अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है और उसके अवलम्बन से वह मुक्ति का मार्ग होता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! अनन्त काल से इसने स्वद्रव्य की चैतन्यशक्ति का सामर्थ्य क्या है, उसकी प्रतीति की ही नहीं।

यहाँ आत्माश्रित का अर्थ स्व-आश्रित किया। वह पराश्रित शब्द है न, बाद में टीका में? पराश्रित, तो यहाँ आत्माश्रित अर्थात् स्व-आश्रित। अपना स्वरूप जो है, पूर्ण आनन्द ज्ञायक चैतन्यसत्ता... यह तो कल दोपहर को कहा था न कि जिसकी पर्याय में यह ज्ञात होता है, जिसके अस्तित्व में यह ज्ञात होात है, वह जाननेवाली पर्याय है, वह तो अपने अस्तित्व में-अपने में है। यह ज्ञात होता है - ऐसा कहना, यह तो व्यवहार का-असद्भूतव्यवहार का कथन है। असद्भूतव्यवहार का कथन है। आहाहा! क्योंकि जिसकी सत्ता में (अर्थात्) अभी पर्याय की सत्ता हों! जिसकी सत्ता में, ये चीजें हैं - वह ज्ञात होती हैं - उसका अस्तित्व पर्याय में ज्ञान का है। उस ज्ञान को वास्तव में तो वह जानता है; पर को जानता है—ऐसा कहना (व्यवहार है)। क्योंकि पर में तन्मय नहीं है; इसलिए पर को निश्चय से जानता है—ऐसा नहीं है और अपनी पर्याय में तन्मय है; इसलिए निश्चय से अपने को स्वयं पर्याय को जानता है। आहाहा!

अब यहाँ तो इससे आगे दूसरी बात लेंगे कि जो पर्याय है, वह द्रव्य के आश्रय से शुद्ध होती है। यह स्व-आश्रय, वह आत्मा जो स्ववस्तु है, पर्याय के अस्तित्व में यह ज्ञात होती है, वह पर्याय ज्ञात होती है परन्तु अब वह तो वह पर्याय ज्ञायक को जानती है। यह तो समयसार गाथा १७ में आ गया है न? ज्ञान की पर्याय है, (उसका) स्व-परप्रकाशक

स्वभाव होने से वह ज्ञान की पर्याय स्वद्रव्य को जानती है, तथापि उसका वहाँ लक्ष्य नहीं है। यहाँ कहते हैं कि लक्ष्य करे स्व का, उसे यहाँ आत्माश्रित कहते हैं। आहाहा! यह क्या कहा?

यह आत्मा है भगवान, प्रकाश... चैतन्यप्रकाश की मूर्ति है। अब इसकी जो पर्याय है, उसमें यह ज्ञात होता है। यह ज्ञात होता है, वह पर्याय ज्ञात होती है, वह (पर) वस्तु नहीं। उस वस्तु में कहाँ तन्मय होता है? क्योंकि उस वस्तु और पर्याय के बीच तो अत्यन्ताभाव है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! जिसकी सत्ता में 'यह है'—ऐसा ज्ञात होता है, वह इसकी सत्ता ज्ञात होती है। ज्ञान की अवस्था की सत्ता का अस्तित्व ज्ञात होता है। आहाहा! परन्तु वह अस्तित्व की पर्याय का भी व्यवहार है। पर्याय है, वह व्यवहार है; द्रव्य है, वह निश्चय है। अभी यहाँ यह लेना है।

वहाँ (प्रवचनसार) १८९ (गाथा में) ऐसा कहा कि शुद्धद्रव्य निरूपण—शुद्धद्रव्य के कथन की अपेक्षा से पर्याय में राग है, यह निश्चयनय है। स्व में है, इस अपेक्षा से। यहाँ कहते हैं कि यहाँ दर्शन प्रधान कथन है; इसलिए स्व-आश्रित अर्थात् पर्याय नहीं, गुणभेद नहीं; अकेला ज्ञायकभाव जो त्रिकाली भूतार्थ सत् साहेब सत्स्वरूप प्रभु, पूर्ण स्वरूप ध्रुव, उसके आश्रित निश्चयनय है। यह पहली लाईन का अर्थ होता है। आहाहा!

निश्चयनय है, वह तो ज्ञान की पर्याय है, परन्तु वह विषय करती है द्रव्य को; इसलिए उसे स्व-आश्रित निश्चयनय कहा। समझ में आया? नय तो ज्ञान की पर्याय है परन्तु वह निश्चय ज्ञान की पर्याय है... यह तो शान्ति से समझनेयोग्य बात है। बापू! वह त्रिकाली ज्ञायक को विषय करती है। इसलिए उसे त्रिकाली को यहाँ निश्चयनय कहा जाता है। आहाहा! स्व-आश्रित निश्चयनय, ऐसा कहा न? स्व-आश्रित निश्चयनय।

भगवान पूर्णस्वरूप है। जिस पर्याय में पर ज्ञात होता है, उसी पर्याय में आत्मा ज्ञात होात है, तथापि उसका लक्ष्य वहाँ नहीं है। क्या कहा? जिस ज्ञान की पर्याय में यह... यह... ज्ञात होता है - ऐसा कहते हैं, वह तो पर्याय ज्ञात होती है, तथापि वह पर्याय ज्ञात होती है, उस पर्याय में द्रव्य भी ज्ञात होता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह वस्तु जो है, वह पर्याय में ज्ञात होती है, क्योंकि ज्ञान की पर्याय का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। यह स्व-प्रकाशक है, इसलिए ज्ञान की पर्याय, द्रव्य को, त्रिकाली को जानती है, तथापि उसका

लक्ष्य वहाँ नहीं है; उसका लक्ष्य पर्याय और राग पर होने से वह (द्रव्य) जानने पर भी जानता नहीं।

यहाँ तो स्व-आश्रित से जानता है - ऐसा कहते हैं। लक्ष्य बदला है। आहाहा! समझ में आया? आत्माश्रित अर्थात् वह व्यवहार का 'पराश्रित' शब्द है न, इसलिए यहाँ 'स्व-आश्रित' (कहा है)। स्व-आश्रित, वह निश्चयनय है। स्व-आश्रित ज्ञायक अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु, ध्रुवस्वभाव, वह स्व-आश्रित, उसे निश्चयनय कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

पराश्रित (अर्थात् पर के आश्रित) व्यवहारनय है। अब उसके सामने (लेते हैं)। जिसके दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे सब पराश्रित हैं। पराश्रित हैं, इसलिए वह व्यवहार है और इसलिए वह निषेध करनेयोग्य है - ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। आहाहा! अब यहाँ कितने ही (अज्ञानी) यह कहते हैं कि व्यवहार करते हुए सरागचारित्र से वीतरागीचारित्र होता है। यहाँ कहते हैं कि उसका तो निषेध करना है। निषेध करने पर जो स्व का आश्रय हो, उसे निश्चय कहा जाता है। जिसका निषेध करना है, उसके आश्रय से निश्चय में-अन्तर में जाया जाएगा? समझ में आया?

हाँ, कितनी ही जगह कहा है कि व्यवहार साधन है, साधक है; निश्चय साध्य है। यह तो साधक का ज्ञान कराया है। मोक्षमार्गप्रकाशक २५६ पृष्ठ। व्यवहार कहा है न? (तो कहते हैं) - वह तो निमित्त आदि का ज्ञान कराने को कहा है। निमित्त है, उसका ज्ञान कराने को कहा है। आदरणीय है और आश्रय करनेयोग्य है - ऐसा नहीं। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म, भाई! कहो, नवरंगभाई! ऐसा मार्ग है, प्रभु! आहाहा!

यहाँ एक सेकेण्ड के असंख्यातवें भाग में एक समय की पर्याय है, वह तो ठीक, परन्तु अन्दर वह पर्याय स्वयं वास्तव में तो व्यवहार है और त्रिकाली जो वस्तु है-ज्ञायकस्वरूप है, वही एक स्वयं निश्चय है। निश्चय और व्यवहार इस प्रकार है। अब यहाँ व्यवहार में तो पराश्रितभाव हो, उसे व्यवहार बताना है। समझ में आया? वरना तो पर्यायमात्र व्यवहार है। पंचाध्यायी। पर्यायमात्र व्यवहार है। केवलज्ञान हो या मोक्षपर्याय हो, तो भी वह व्यवहार है। क्योंकि वह पर्याय एक समय की अवधिवाली-नाशवान है।

भगवान त्रिकाली अविनाशी शुद्ध चैतन्य है, वही निश्चय है, वही सत्य है और वही आत्मा है। आहाहा! अब ऐसा निर्णय कब करे?

ऐसा जो निश्चय स्व-आश्रित है, तब व्यवहार पराश्रित है। वहाँ व्यवहार पर्याय है, ऐसा न लेकर... पर्याय स्वयं व्यवहार है। बनारसीदास (की) परमार्थ वचनिका में भी आया है न? कि निश्चय मोक्षमार्ग है... वह व्यवहार है। पर्याय है न! (इसलिए व्यवहार है)। आहाहा! एक समय की अवधिवाली चीज़ और पलटती चीज़ और नाश होनेवाली चीज़, उसे यहाँ व्यवहार कहा है। चाहे तो निश्चयमोक्षमार्ग हो। जो यहाँ निश्चयनय आश्रित निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं, उसे यहाँ निश्चयमोक्षमार्ग को व्यवहार कहते हैं। किस अपेक्षा से? त्रिकाल द्रव्य की अपेक्षा से भेद है, इसलिए अभेद की अपेक्षा से भेद को व्यवहार कहा जाता है। यहाँ अपेक्षा दूसरी है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि व्यवहार पराश्रित है। व्यवहारनय है न? वह व्यवहारनय पराश्रित है, इसलिए अकेली पर्याय नहीं। पर के आश्रित होता दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का शुभभाव या अशुभभाव, पराश्रित होता भाव, वह व्यवहारनय का आश्रित है। अब ऐसी बातें! एक तो निश्चयमोक्षमार्ग। यह तो राग है, वह व्यवहार है तो इसे (निश्चयमोक्षमार्ग को) निश्चय कहा, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा से तो त्रिकाल द्रव्य है, वह निश्चय है और पर्याय है, वह स्वयं ही, निश्चयमोक्षमार्ग है वह स्वयं ही व्यवहार है। क्योंकि यह तो आ गया न कि मोक्षमार्ग की पर्याय और मोक्ष दोनों द्रव्य में नहीं है। आहाहा!

मोक्ष की पर्याय और मोक्ष के मार्ग की पर्याय द्रव्य के ऊपर तैरती, ऊपर तैरती है। जैसे पानी के घन में तेल की बूँद ऊपर तैरती है, वैसे मोक्ष की पर्याय, मोक्ष के मार्ग की पर्याय भी द्रव्य से ऊपर तैरती है, अन्दर प्रवेश नहीं करती। आता है न कलश? ऊपर तैरती है। पहले कलश में आता है। अब यहाँ यह नहीं लेना है। यहाँ तो मात्र पराश्रित जितना भाव है, उसे व्यवहार कहने में आता है। आहाहा! अब ऐसी अपेक्षाओं का पार नहीं होता।

मुमुक्षु : यहाँ मोक्ष की पर्याय है, वह अन्तर में जाती है या वह भी ऊपर तैरती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जाये, वह बात भी नहीं है। वह पर्याय द्रव्य के प्रति ढलती है, इसलिए आश्रय किया, ऐसा कहने में आता है। यह तो कहा गया है। पर्याय जो निर्मल होती

है, वह निश्चय से षट्कारक परिणमन से होती है। सम्यग्दर्शन की पर्याय, सम्यग्दर्शन की पर्याय वह कर्ता, कर्म, करण (आदि षट्कारक से स्वयं से होती है)। पर्याय की कर्ता (पर्याय), (पर्याय का) कर्म पर्याय, पर्याय का कार्य पर्याय, पर्याय का साधन पर्याय, पर्याय का अपादान पर्याय... थी-थकी, थी-थकी आता है न? अपादान। वास्तव में वह उपादान लिया है और उसका आधार भी वह, इसलिए पर्याय के षट्कारक पर्याय से है। परन्तु फिर भी वह पर्याय स्वतन्त्ररूप से लक्ष्य वहाँ करती है, वह स्वयं कर्ता होकर करती है। पर का आश्रय हुआ, इसलिए पराधीन है, ऐसा नहीं है। यह क्या कहा? समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो मात्र पराश्रित व्यवहार कहा, वह व्यवहार वास्तव में तो पर्याय स्वयं ही व्यवहार है, तथापि वह यहाँ अभी नहीं लेना है। यहाँ तो आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ की एकताबुद्धिरूप अध्यवसान है, उसे छुड़ाया है। दूसरे को बचाऊँ, जिलाऊँ, सुधारूँ—ऐसा करूँ, वह एकत्वबुद्धि छुड़ायी है तो साथ में आचार्य कहते हैं कि जैसे पर के आश्रय से एकत्वबुद्धि छुड़ायी है तो मैं तो ऐसा कहता हूँ कि पराश्रित व्यवहार ही छुड़ाया है। क्योंकि एकत्वबुद्धि भी पर के आश्रय से है और दया, दान, व्रत, रागादि हो, वह भी पर के आश्रित है। आहाहा! इसलिए भगवान ने तो व्यवहार ही छुड़ाया है। यह व्यवहार वह पर्याय छुड़ानी है, अभी ऐसा नहीं लेना है। आहाहा!

इसे होनेवाला जो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का भाव, शास्त्र का ज्ञान (होता है)। वह सब व्यवहार है, विकल्प है। आहाहा! इसे भगवान ने छुड़ाया है। क्योंकि वह पराश्रित है। आहाहा! शास्त्रज्ञान, वह भी पराश्रित है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग भी पराश्रित है। पंच महाव्रत के परिणाम भी पराश्रित, अणुव्रत के परिणाम भी पराश्रित हैं। आहाहा! यहाँ इन दो लाईन में (भरा है)। **आत्माश्रित (अर्थात् स्व-आश्रित) निश्चयनय है,...** निश्चयनय है, वह तो ज्ञान का अंश है परन्तु स्व पूर्ण वस्तु को ही निश्चयनय कहा है। उसका आश्रय करनेयोग्य जो चीज़ है, उसे निश्चयनय कहा है। समझ में आया? ग्यारहवीं गाथा में कहा न? **'भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ'** (पर्याय की) गौण करके पहले ऐसा कहा कि व्यवहार अभूतार्थ है। पर्याय को गौण करके 'नहीं' ऐसा कहा। पर्याय को गौण करके 'नहीं', ऐसा कहा न वहाँ? और द्रव्य को मुख्य करके वह 'है' ऐसा कहा। उसको

(पर्याय को) असत्यार्थ कहा था, वह तो गौण करके असत्यार्थ कहा था। पर्याय है अवश्य परन्तु गौण करके उसे असत्य कहा। अब यहाँ व्यवहार है अवश्य; जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक स्व-आश्रित दृष्टि और अनुभव भी है और जरा पराश्रित का रागभाव भी है। है, उसका निषेध है न? आहाहा! समझ में आया? अब निवृत्ति कहाँ इसमें? बनिये को निवृत्ति कब मिले? आहाहा! ऐसा मार्ग है। व्यवहार पराश्रित है, वह यह।

वहाँ, पूर्वोक्त प्रकार से पराश्रित समस्त अध्यवसान... अब यह पराश्रित व्यवहार कहा, उस व्यवहार के दो प्रकार करके निषेध करते हैं। **पराश्रित समस्त अध्यवसान (अर्थात् अपने और पर के एकत्व की मान्यतापूर्वक परिणमन)...** मैं पर का कर सकता हूँ, पर को प्राप्त कर सकता हूँ, पर को छोड़ सकता हूँ, पर को ले सकता हूँ, दूसरे को सुखी कर सकता हूँ, दुःखी कर सकता हूँ, दूसरे का मोक्ष करा सकता हूँ, दूसरे को बन्ध करा सकता हूँ, जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ—ऐसी जो परद्रव्य के साथ की एकत्वबुद्धि, वह अध्यवसान। वह **बन्ध का कारण होने से...** वह अध्यवसान बन्ध का कारण होने से। आहाहा! **मुमुक्षुओं को...** मुमुक्षु को। आहाहा! जो मोक्षार्थी है, मोक्ष जिसका प्रयोजन है। आहाहा! ऐसे **मुमुक्षुओं को उसका (अध्यवसान का) निषेध करते हुए...** उस अध्यवसान का निषेध अर्थात् एकत्वबुद्धि का (निषेध करते हुए)। मैं उसे प्राप्त कर सकूँ, उसे छोड़ सकूँ, उसे मदद कर सकूँ, उसे ऐसा कर सकूँ, सुखी कर सकूँ इत्यादि। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य की एकत्वबुद्धि का अध्यवसान, उसका निषेध कराते हुए **निषेध करते हुए ऐसे निश्चयनय के द्वारा वास्तव में व्यवहारनय का ही निषेध कराया है,...** एकत्वबुद्धि का निषेध कराया है, वह पर के आश्रय से जो व्यवहार होता है, उसका निषेध कराया है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी सूक्ष्म बात है, बापू! मार्ग बहुत अलौकिक। आहाहा! अनन्त काल से भटकता है। श्रीमद् में आता है न? 'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान, सेवे नहीं गुरु-सन्त को' सेवा की नहीं अर्थात् वहाँ पैर दबाना होगा? यह चौथी गाथा में भी आता है। स्वयं तो समझा नहीं परन्तु समझे उनकी सेवा की नहीं। **'सुदपरिचिदानुभूदा'** सेवा का अर्थ वे कहते हैं, वह (तूने) माना नहीं।

मुमुक्षु : सिद्धान्त कहते हैं, वह स्वीकार रखना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु यह सिद्धान्त ऐसा कहते हैं। कहने का आशय यह है।

सेवा करना अर्थात् क्या पैर दबाना है ? उन्होंने जो कहा, इसमें है न ? आ गया है। चौथी (गाथा में) **अपने में अनात्मज्ञपना होने से (स्वयं आत्मा को नहीं जानता होने से) और दूसरे आत्मा को जाननेवालों की संगति-सेवा नहीं की होने से...** अन्त में है, पहले पैरेग्राफ की अन्तिम दो लाईन। है ? जाननेवालों की संगति अर्थात् सेवा नहीं की होने से। आहाहा! संस्कृत में **'उपासना' 'परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च'** है न ? सेवा नहीं की। **'अनुपासनाच्च'** अर्थात् सेवा नहीं करने से। संस्कृत टीका है। उसका अर्थ संगति की तो संगति करना, वह व्यवहार है परन्तु उन्होंने जो कहा है, उस प्रकार से माना नहीं और जाना नहीं, वह उसने संगति और सेवा की नहीं। आहाहा! काम बहुत कठिन। जन्म-मरणरहित की बातें, बापू! कठिन, भाई! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, एकपने की बुद्धि जिन्होंने—प्रभु ने छुड़ाई। क्योंकि स्वद्रव्य और परद्रव्य के बीच तो अत्यन्त अभाव है। इसलिए दूसरे का कुछ करे, यह तो किसी प्रकार बनता नहीं। क्योंकि जो द्रव्य है, वह निकम्मा तो किसी काल में हो नहीं सकता। अर्थात् ? जो द्रव्य है, वह निकम्मा अर्थात् पर्याय के कार्यरहित द्रव्य कभी हो ही नहीं सकता। पर्याय के कार्य बिना का कभी कोई द्रव्य नहीं हो सकता। अब निकम्मा कोई नहीं है तो उसका काम दूसरा किस प्रकार करे ? आहाहा! समझ में आया ? जरा सूक्ष्म बात है।

मुमुक्षु : पूरी दुनिया दूसरे का काम करती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरी दुनिया करती नहीं। रामजीभाई सब बहुत करते थे। सलाह देते थे न उनको ? ढेबरभाई। ढेबरभाई आते थे, उन्हें सलाह देते थे। एक महीने कैद में जाना पड़ा न। वह तो एक विकल्प हो और वाणी निकलने की थी। आहाहा! ऐई! शान्तिभाई! ऐसा मार्ग है। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा पर की एकत्वबुद्धि जब छुड़ाते हैं तो वह पर की एकत्वबुद्धि-वह व्यवहार मिथ्यात्व है। इस अपेक्षा से तो मैं ऐसा मानता हूँ कि पर के आश्रय का सम्पूर्ण व्यवहार छुड़ाया है। आहाहा! **निषेध करते हुए ऐसे निश्चयनय के द्वारा वास्तव में व्यवहारनय का ही...** है ? एकान्त नहीं ? **व्यवहारनय का ही निषेध कराया है,...** बिल्कुल व्यवहारनय, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वह सब व्यवहार है, उसका

निषेध कराया है। वे बन्ध के कारण हैं। आहाहा! कठिन काम। जगत कहाँ झुका है और कहाँ झुकना चाहिए, इसकी खबर नहीं होती। आहाहा!

वह यहाँ कहते हैं कि **वास्तव में व्यवहारनय का ही...** आहाहा! भगवान ने जब एक द्रव्य जो आत्मा, वह दूसरे द्रव्य की कोई भी (पर्याय कर सकता नहीं, ऐसा कहा क्योंकि), पर्याय बिना का द्रव्य नहीं होता, इसलिए उसकी पर्याय यह कर नहीं सकता, तो भी एकत्वबुद्धि से (अपने को) कर्ता मानता है, उसका यहाँ निषेध किया है, तो हम ऐसा कहते हैं कि पर के आश्रित जितना व्यवहार होता है, उसका निषेध किया है। पर के आश्रय की एकत्वबुद्धि का निषेध किया। उसके साथ पराश्रित व्यवहार; एकत्वबुद्धि भले न हो। आहाहा! दोनों पराश्रित हैं। आहाहा! अब ऐसी बातें! निवृत्ति कहाँ है? कान्तिभाई! पूरे दिन धन्धा-पानी और... आहाहा! उसमें ऐसी बातें... सब अवसर आ गया है, कहते हैं। आहाहा! मोक्षमार्गप्रकाशक में (कहते हैं)। आहाहा!

व्यवहारनय का ही निषेध कराया है, क्योंकि व्यवहारनय के भी पराश्रितता समान ही है... यह क्या कहा? जैसे पर को जिलाऊँ, मारूँ, मोक्ष कराऊँ, (ऐसी) पराश्रित एकत्वबुद्धि छुड़ायी है, उसी प्रकार सब पराश्रित का व्यवहारनय समान ही हैं। जैसे एकत्वबुद्धि ऐसे पर के आश्रय से होनेवाला विकल्प, राग चाहे तो दया, दान, देव-गुरु की श्रद्धा, देव-गुरु-परमात्मा की श्रद्धा का राग, वह सब व्यवहार है, उसे यहाँ छुड़ाया है। आहाहा! समझ में आया? लोगों को बहुत कठिन पड़ता है परन्तु ज़्या हो, भाई! मार्ग यह है। आहाहा!

मुमुक्षु : हस्तावलम्बन है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हस्तावलम्बन, यह तो निमित्त का कथन किया है। है ही नहीं। हस्तावलम्बन जानकर कथन किया है, परन्तु उसका फल संसार है। है? आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं **कि व्यवहारनय के भी पराश्रितता समान ही है (जैसे अध्यवसान पराश्रित है, उसी प्रकार व्यवहारनय भी पराश्रित है,...)** आहाहा! अब यहाँ (अज्ञानी कहता है कि) पराश्रित व्यवहार से स्व-आश्रित निश्चय होता है। व्यवहार-

राग की दशा, उसकी दिशा, राग की दशा की दिशा परसन्मुख है और सम्यग्दर्शन के निश्चय की दशा, उसकी दिशा स्वसन्मुख है। आहाहा! समझ में आया? दोनों का पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। अब दोनों का मेल किस प्रकार करना? अब वह कहता है, व्यवहार साधन कहा है न? साधन से निश्चय साध्य होता है, ऐसा जगह-जगह जयसेनाचार्य में, द्रव्यसंग्रह में ब्रह्मदेवसूरि में आता है। वह तो वहाँ निमित्त का ज्ञान कराया है। मोक्षमार्गप्रकाशक में (लिखा है कि) व्यवहार का निमित्त आदि का ज्ञान कराया है कि यह था। परन्तु वह आदरणीय है और उससे निश्चय होता है, यह बात वहाँ है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

(जैसे अध्यवसान पराश्रित है, उसी प्रकार व्यवहारनय भी पराश्रित है, उसमें अन्तर नहीं है)। आहाहा! जैसे एक द्रव्य भगवान आत्मा, वह परद्रव्य का कुछ भी करे, प्राप्त करे छोड़े—ऐसा कुछ है ही नहीं, तथापि पर के साथ की एकत्वबुद्धि भगवान ने छुड़ायी है तो हम तो ऐसा ही कहते हैं कि जितना पराश्रित व्यवहार है, वह सब भगवान ने छुड़ाया है। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य महासन्त.. आहाहा! केवली के मार्गानुसारी, एक-दो भव में तो केवल (ज्ञान) लेनेवाले हैं। केवल (ज्ञान) लेकर मोक्ष जानेवाले हैं। आहाहा! उनकी यह वाणी है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। वाणी तो वाणी की है। भाषा है।

और इस प्रकार यह व्यवहारनय... आहाहा! **इस प्रकार निषेध करने योग्य ही है;...** बिल्कुल पर के साथ एकत्वबुद्धि और पर का आश्रय—दोनों छोड़नेयोग्य ही है। पर के साथ एकत्व की बुद्धि और पर के आश्रय से होनेवाला भाव, सब छोड़नेयोग्य ही है। आहाहा! कठिन काम है। **इस प्रकार यह व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है;...**'ही' कहा है। एकान्त नहीं होता? निषेधनेयोग्य ही है। कथंचित् आदरणीय और कथंचित् निषेधनेयोग्य, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यहाँ ऐसा कहते हैं कि सरागचारित्र से वीतरागचारित्र होता है। यहाँ तो इन्कार करते हैं। उसकी रुचि छोड़कर—परसन्मुख के दशा के भाव की रुचि छोड़कर, स्वसन्मुख के भाव की रुचि में जाए, उसे पर का निषेध हो जाता है। आहाहा! निषेध करना भी नहीं पड़ता। आहाहा! राग के त्याग का कर्तापना तो नाममात्र है, आया न? हैं? आहाहा! राग

का ग्रहण तो ठीक, (त्यागकर्ता भी नहीं है।) वैसे तो ग्रहण-त्याग कहा, प्रवचनसार १८९ (गाथा)। आत्मा में राग का ग्रहण-त्याग है, वह निश्चय से है, शुद्धद्रव्य के निरूपण के निश्चय से है। राग (को) ग्रहण करता है, उत्पन्न करता है और व्यय करता है। ग्रहण-त्याग है; और पंचास्तिकाय में तो ऐसा भी कहा कि पर्यायमात्र द्रव्य में संयोग होती है और वियोग होता है। आहाहा! विकार की तो बात क्या करना, परन्तु निर्विकारी पर्याय का उत्पाद, वह द्रव्य के साथ संयोगसम्बन्ध है और उसका व्यय होता है, वह वियोग है। आहाहा!

ऐसा जो स्वद्रव्य, उसका आश्रय करने के लिये परद्रव्य की एकताबुद्धि और परद्रव्य के आश्रय से होनेवाला व्यवहार, उसे छुड़ाया है। सूक्ष्म बात है, भाई! सहज गाथा ही यह आयी। आठ दिन से बन्द था। २७१ गाथा तक आ गयी थी। आहाहा!

इस प्रकार... इस प्रकार, अर्थात्? जैसे स्व का पर कर सकता है—आदि एकत्वबुद्धि का निषेध (किया है), उसी प्रकार पर का आश्रय होता भाव, उसका भी निषेध एक ही विधि से है। आहाहा! व्यवहारश्रद्धा, व्यवहारचारित्र अर्थात् दया, दान के परिणाम, शास्त्र का व्यवहारज्ञान, वह सब व्यवहार है, वह निषेधनेयोग्य है। आहाहा!

अब वे यहाँ कहते हैं कि इससे साधन होता है। शास्त्र में शब्द ऐसे हैं। जयसेनाचार्य की टीका (में ऐसा आता है)। इसलिए उन ज्ञानसागर में जयसेनाचार्य की टीका में से समयसार बनाया। अमृतचन्द्राचार्य में से नहीं। है न? वे विद्यासागर साधु हैं, (ये) उनके शिष्य हैं। वे नहीं मानते हैं। पंचाध्यायी, टोडरमल और बनारसीदास के ग्रन्थ नहीं। आचार्य का लाओ, आचार्य का लाओ और चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण नहीं मानते। अब यह कहते हैं कि स्वरूपाचरण चौथे से है। यह तो सिद्धान्त प्रवेशिका में आता है। हैं?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे से शुरु होता है। राग का उपयोग है, (वह) हटकर ऐसे जाता है, इसलिए अरागी उपयोग, वह शुद्ध उपयोग ही है। स्वद्रव्य का आश्रय होना, वह शुद्ध उपयोग ही है, अकेली परिणति नहीं। शुरुआत पहली, हों! ...समझ में आया? आहाहा! जहाँ उपयोग शुद्ध उपयोग है, शुभराग को जहाँ छुड़ाने को कहा, तब अब आश्रय करनेयोग्य यहाँ कहा, तो वह आश्रय करनेयोग्य परिणाम जो हुए, वे परिणाम शुद्ध ही हैं,

वास्तव में उपयोग ही है और चौथे से स्वरूपाचरण ही है। यह विद्यासागर इनकार करते हैं। उन्होंने फिर हाँ की है, मनोहरलालजी (ने) चौथे में होता है। उसमें कहा, उसमें है न? सिद्धान्त प्रवेशिका में। कुछ मति, कुछ मति कल्पना से क्रियाकाण्ड में ऐसे जुड़ गये हैं, इस कारण तत्त्व की दृष्टि का (लोप हो गया)।

क्रियाकाण्ड भी ऐसा कहाँ है? नौवें ग्रैवेयक गया, ऐसा द्रव्यलिंग भी कहाँ है? यह तो किसी के लिये नहीं, बापू! ऐसा नहीं, हों! यहाँ तो कहा न कि आहाहा! धर्मध्यान का आज्ञाविचय और अपायविचय का विचार करते हुए, अपायविचय। आहाहा! आज्ञाविचय— परमात्मा क्या कहते हैं, उसका विचार, यह आज्ञाविचय। अपायविचय में कर्म का विपाक दु:खरूप है तो (मैं) और सभी आत्माएँ कर्म से रहित होओ। प्रभु! आहाहा! ऐसा कहते हैं। किसी को नुकसान न होओ। आहाहा! द्रव्यसंग्रह में अपायविचय का ऐसा अर्थ किया है। द्रव्यसंग्रह है न? अपायविचय। सभी आत्मायें परमात्मा होओ। हमारी पवित्र भावना तो यह है, भाई! कोई नुकसान में न रहो। आहाहा! ऐसा विचार अपायविचय में धर्मध्यान में करता है। ऐई! बताया था न? इसमें से बताया था? नहीं? नहीं? अपायविचय कितने में कहा था?

अन्तरआत्मा किसे कहना कि चौथे गुणस्थान में अशुद्धलेश्यावाले जीव को जघन्य अन्तरात्मा कहना। परन्तु वह है उसमें, धर्मध्यान का निकालो न, धर्मध्यान में है न? अपायविचय। इस ओर के पृष्ठ पर है। यहाँ ध्यान का विषय है न पीछे? ३५ अक्षर का... द्रव्यसंग्रह में आता है। पंच परमेष्ठी... पंच परमेष्ठी। धर्मध्यान का आज्ञाविचय, उसके अपायविचय के अर्थ में है। सब जीव परमात्मपद को प्राप्त करो, ऐसा विचार करना। आहाहा!

भेदाभेद रत्नत्रय की भावना के बल से हमारे अथवा अन्य जीवों के कर्म का नाश कब होगा, इस प्रकार का चिन्तवन, उसे अपायविचय... कहते हैं। सबके कर्मों का नाश (होओ)। अपायविचय, १८३ पृष्ठ है। **इस श्लोक में कहे क्रम के अनुसार पदार्थ का निश्चय करना, वह आज्ञाविचय है।** भगवान ने कहा वह। वह पहला धर्मध्यान का बोल। दूसरा—**भेदाभेद रत्नत्रय की भावना के बल से हमारे अथवा अन्य जीवों के कर्म का नाश कब होगा, इस प्रकार का चिन्तवन, उसे अपायविचय**

नाम का दूसरा धर्मध्यान जानना। सब जीव परमात्मा हो जाओ, बापू! आहाहा! तू भगवान है न! बापू! ऐसी भावना है, देखो! आहाहा! दशलक्षणी में भाई ने ऐसा लिखा है न?

मुमुक्षु : तीर्थंकरप्रकृति बँध जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह और अलग। यह तो अपायविचय में (आया)। भाई हुकमचन्दजी दशलक्षण पर्व में एक-एक पूरा करते हुए लिखते हैं कि यह मेरी पवित्र भावना है। सब पूर्णानन्द को प्राप्त करो, ऐसी पवित्र भावना से मैं विराम पाता हूँ। है? अन्त में। आहाहा! यह तो अपने ब्रह्मदेव टीकाकार में से निकाला। वह (हुकमचन्दजी) तो गृहस्थ (ऐसा कहते हैं)। तभी आत्मायें प्रभु पूर्ण आनन्दस्वरूप हैं न, नाथ! आहाहा! सब कर्मरहित होकर (सबका) मोक्ष होओ। आहाहा! कोई भी प्राणी (दुःखी न होओ)। दूसरे का मोक्ष करा दूँ, यह अलग वस्तु। वह बन्ध-मोक्ष के परिणाम में एकत्वबुद्धि हुई और यह दूसरे सबके आत्मायें पूर्णानन्द को प्राप्त होओ, मैं और सब, यह अलग वस्तु है।

मुमुक्षु : यह भावना करनेयोग्य न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भावना तो अन्दर की एकाग्रता की है। यह एकाग्रता की है। भले विकल्प साथ में है परन्तु मूल एकाग्रता है। धर्मध्यान है न? निश्चय धर्मध्यान है, वह शुद्ध निर्मल है, विकल्प नहीं। आहाहा! वैसे तो दस प्रकार के धर्म से ही शुभभाव कहा है; नहीं तो है तो चारित्र के भेद, परन्तु वह विकल्प उठता है न? दशलक्षणी पर्व। शुभभाव कहा है, परन्तु वह अपेक्षित है। बाकी तो अन्दर... आहाहा! पूर्ण स्वरूप परमानन्द का नाथ! मेरी सत्ता पूर्ण है, ऐसी ही मुझे भी पूर्ण प्रगट होओ। सब भगवान आत्माओं को पूर्ण होओ। आहाहा! कोई शत्रु या दुश्मन-मित्र है ही नहीं। सब भगवान आत्मायें हैं। आहाहा! अपायविचय में यह विचार करना, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यहाँ (कहते हैं) **व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है;**... यहाँ तो जरा अपाय का विचार आया कि यह निषेधयोग्य है, वहाँ तो फिर यह कहा कि सब जीव (कर्मरहित होओ)। परन्तु यह अपनी भावना है। भले विकल्प साथ में-साथ में आता है, परन्तु मूल तो अन्दर एकाग्रता है। सभी जीव पूर्णानन्द को प्राप्त होओ! मैं भी पूर्णानन्द को प्राप्त हो जाऊँ। हमारे और दूसरे दोनों को। दोनों का आया न? आहाहा!

इस प्रकार यह व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है; क्योंकि आत्माश्रित निश्चयनय का आश्रय करनेवाले ही... आहाहा! भगवान आत्मा का आश्रय करनेवाले... **निश्चयनय का आश्रय करनेवाले ही...** एकान्त कहा। व्यवहार का आश्रय करनेवाले मोक्ष जाते हैं, उसका निषेध किया। आहाहा! ऐसा है। मार्ग तो ऐसा है, बापू! **क्योंकि आत्माश्रित निश्चयनय का आश्रय...** आत्माश्रित निश्चयनय (कहा है), देखा? **करनेवाले ही...** आहाहा! जो आत्मा के आश्रय से जो पर्याय प्रगट होती है, वह आत्मा के आश्रय से हुई, वह निश्चयनय हुई। आहाहा!

पूर्णानन्दस्वरूप भगवान, पूर्ण ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से होनेवाला... आहाहा! उसकी ही मुक्ति होती है। **निश्चयनय का आश्रय करनेवाले ही (कर्मों से) मुक्त होते हैं...** आहाहा! **और पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकांततः मुक्त नहीं होनेवाला अभव्य भी करता है।** आहाहा! व्यवहार का आश्रय तो अभव्य भी करता है। नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार अभव्य और भव्य (भी) मिथ्यादृष्टिरूप से गया। व्यवहार तो बहुत किया। ऐसा व्यवहार किया कि उसकी चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो क्रोध न करे, परन्तु वह तो सब पराश्रित राग की क्रिया थी। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! वीतरागमार्ग वीतरागभाव से उत्पन्न होता है। आहाहा!

यह वीतरागभाव स्व आश्रय से उत्पन्न होता है। क्योंकि स्वयं स्ववस्तु ही वीतरागभाव स्वरूप है। अकषायस्वरूप कहो, चारित्रस्वरूप कहो, वीतरागस्वरूप कहो, पूर्णानन्द पवित्र स्वरूप कहो, उस भगवान के आश्रय से वीतरागता होती है। आहाहा! और पराश्रय से तो अकेला व्यवहार ही-राग ही होता है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षपाहुड़ की १६वीं गाथा में तो यहाँ तक कहा, **'परदव्वादो दुग्गई'** आहाहा! प्रभु ऐसा कहते हैं कि मैं परद्रव्य हूँ। तेरा लक्ष्य यदि (तुझसे) छूटकर मेरे ऊपर जाएगा तो राग होगा, इसलिए उसकी दुर्गति अर्थात् चैतन्य की गति नहीं मिलेगी। आहाहा! मोक्षपाहुड़। अब यहाँ (लोग) कहते हैं कि भक्ति से कल्याण होता है। यह भगवान कहते हैं कि मेरी भक्ति करे तो राग होगा। राग, वह चैतन्य की गति नहीं; दुर्गति है। इसलिए चाहे तो स्वर्ग मिले परन्तु वह गति कहीं सिद्धगति नहीं न, वह दुर्गति ही है। आहाहा!

पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकांततः मुक्त नहीं होनेवाला... कभी

मुक्त नहीं होगा। ऐसे व्यवहारनय का आश्रय तो अभव्य करता है। इसमें यह क्या नया किया? आहाहा! यह व्रत पालन किये, अपवास किये और प्रतिमाएँ लीं। ऐसा (करके) नौवें ग्रैवेयक में गया, ऐसी तो अभी क्रिया भी नहीं है, ऐसा तो अभी शुभभाव भी नहीं है। आहाहा!

पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकांतत: मुक्त नहीं होनेवाला... कभी मुक्त नहीं होगा। **अभव्य भी करता है।** अभव्य भी, क्यों कहा? भव्य भी करता है और अभव्य भी करता है, ऐसा। भव्य नौवें ग्रैवेयक में अनन्त बार गया, उसने निर्दोष पंच महाव्रत ऐसे पालन किये, भगवान की श्रद्धा, देव-गुरु-शास्त्र की (श्रद्धा ऐसी की कि) सिर काटे तो भी दूसरा न माने, ऐसी व्यवहारश्रद्धा की है, परन्तु यह सब परद्रव्य की (श्रद्धा)। आहाहा! ऐसा व्यवहार तो अभव्य भी करता है, जिसकी कभी मुक्ति भी नहीं होगी, तो फिर भव्य ने भी मिथ्यादृष्टिरूप से ऐसा अनन्त बार किया है। आहाहा! बहुत कठिन काम।

मुमुक्षु : अशुद्ध व्यवहार है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पराश्रित व्यवहार सब अशुद्ध है, मलिन है।

मुमुक्षु : दोनों में शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अभी नहीं, अभी यह नहीं। अभी सम्यग्दर्शन निश्चय, यह नहीं। व्यवहार, व्यवहार सम्यग्दर्शन आदि है, वह अभी लेना है। निश्चय है, वह तो निर्मल स्व-आश्रित जाते हैं। अभी यह है। निश्चयमोक्षमार्ग पर्याय है, उसे व्यवहार कहना, वह किस अपेक्षा से? वह तो त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से इसे व्यवहार कहा। वह दूसरी अपेक्षा है; और इसे निश्चय कहना किस अपेक्षा से?—कि जब इस राग को व्यवहार कहते हैं, तब अरागी मोक्षमार्ग की पर्याय को निश्चय कहते हैं, इस अपेक्षा से। राग को जब व्यवहार कहते हैं, तब अरागी पर्याय को निश्चय कहते हैं। अरागी पर्याय को जब व्यवहार कहते हैं, तब द्रव्य को निश्चय कहते हैं। आहाहा! अब बनियों को इतना सब याद किस प्रकार रहे? ऐसा है, बापू! मार्ग का... आहाहा!

पराश्रित व्यवहारनय। वह तो पराश्रित है। यह किया और यह छोड़ा, यह लिया और वह दिया, शास्त्रज्ञान किया, दया पालन की, व्रत किये, भक्ति की और पूजा की, करोड़ों-

अरबों के दान दिये। वह तो सब व्यवहार है, पराश्रित है। **एकांततः मुक्त नहीं होनेवाला...** एकान्त अर्थात् कभी मुक्त नहीं होगा, ऐसा। जिसका एक भव भी घटता नहीं। ऐसा व्यवहार तो अभव्य भी करता है। आहाहा! इसलिए दूसरों को भी व्यवहार को छोड़ना। जब अभव्य भी व्यवहार अनन्त बार करता है, तो भी भव-मुक्ति नहीं होती, इसलिए इसे व्यवहार छोड़नेयोग्य है। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३३५, गाथा-२७२, शनिवार, आसोज कृष्ण १५
दिनाङ्क - २०-१०-१९७९

समयसार, गाथा २७२ का भावार्थ। भावार्थ है न?

भावार्थ : आत्मा के पर के निमित्त से जो अनेक भाव होते हैं, वे सब व्यवहारनय के विषय हैं इसलिए व्यवहारनय पराश्रित है,... अभी यह सिद्धान्त सिद्ध करना है। नहीं तो पर्याय स्वयं है, वह व्यवहार है और वस्तु है, वह निश्चय है। नय अधिकार में आता है। प्रमाण है, वह पूज्य नहीं, निश्चय है, वह पूज्य है। क्योंकि जिसमें पर्याय का निषेध वर्तता है, द्रव्य का आश्रय वर्तता है, आदर वर्तता है; इसलिए वह निश्चयनय पूज्य है। अब वहाँ तो व्यवहार पर्याय है, उसे व्यवहार कहकर निषेध किया है। यहाँ यह अपेक्षा नहीं लेना।

यहाँ तो आत्मा को... न्याय समझ में आता है? थोड़ा न्याय है परन्तु बड़ा अन्तर है। **पर के निमित्त से जो अनेक भाव...** शुभ और अशुभराग, **वे सब व्यवहारनय के विषय हैं...** वह सब व्यवहारनय का विषय होने से। वह जो पहला (व्यवहार) कहा, यह दूसरा, यह (व्यवहार) दूसरा। पहला कहा वह तो पर्याय स्वयं व्यवहारनय है। अभी वह बात नहीं है। अभी तो पराश्रित जो भाव हो... आहाहा! 'पराश्रित' शब्द है न? उसे यहाँ व्यवहार कहने में आया है। आहाहा!

वे सब व्यवहारनय के विषय हैं इसलिए व्यवहारनय पराश्रित है,... आहाहा! दूसरे प्रकार से कहें तो आत्मा जो वस्तु है, उसमें पर्याय का और निमित्त, राग का तो निषेध

करते आये हैं, कहते हैं। परन्तु जो अबद्धस्वरूप जो निश्चय है, अबद्ध ज्ञायकस्वभाव चिदानन्द विज्ञानघन ध्रुव, वह निश्चय है, उसका भी विकल्प करे, वह निषेध्य है। आहाहा!

दो प्रकार हैं। यहाँ निश्चयनयाश्रित मुनिवरो मुक्ति को पाते हैं, ऐसा कहेंगे। वह विकल्पवाला नय नहीं है। वह त्रिकाली ज्ञायकभाव का अवलम्बन—आश्रय, वह निश्चयनय है; और वहाँ पहले जो कहा कि अबद्ध हूँ, एक हूँ, शुद्ध हूँ, यह विकल्प है, उसका निषेध किया है। भाई! कहा था कल उस शुद्ध का, कि १४४ में नयातिक्रान्त कहा। यह एक ही पक्ष से कहा है, ऐसा नहीं कि दूसरा भी पक्ष वहाँ है। निश्चयनय आश्रित मुक्ति होती है, यह एक ही सत्य है। व्यवहारनय है अवश्य परन्तु उसके आश्रय से और उसका अवलम्बन मुक्ति का कारण नहीं है। अर्थात् वह भी है और यह भी है, ऐसा यहाँ नहीं है। और उस शुद्ध का अर्थ पुण्य अधिकार में नय के विकल्प से रहित किया है। तब जयसेनाचार्य ने इस शुद्ध का अर्थ ऐसा किया है, रागादि भावकर्मरहित। यह तो उसका विकल्प। संस्कृत टीका है। आत्मा रागादि रहित, भावकर्म रहित, वह निश्चय है। और यहाँ पर्याय का व्यवहार न लेकर पराश्रित भाव हो, उसे व्यवहारनय कहने में आया है। आहाहा! समझ में आया?

पर के निमित्त से जो अनेक भाव होते हैं, वे सब व्यवहारनय के विषय... ऐसा कहा। पर्याय व्यवहारनय का विषय है, यह अभी नहीं लिया। समझ में आया? भाई! नहीं तो पर्याय व्यवहार ही है। पंचाध्यायीकार तो (कहते हैं), पर्यायमात्र व्यवहार है। चाहे तो केवलज्ञान हो। अरे! मोक्ष की पर्याय हो। जीव के दो भेद डालना बन्ध और मोक्ष, यह व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म है, भाई!

यह तो दिवाली का दिन है, भगवान आज मोक्ष पधारे हैं। आहाहा! यह मोक्ष की प्रथम क्रिया, इस व्यवहार का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय किया, तब प्रथम सम्यग्दर्शन हुआ था। समझ में आया? और अन्त में तो यह योग का कम्पन भी छूटकर... आहाहा! अकम्प ज्ञायकभाव में स्थिर हुए, केवलज्ञान तो था, बारहवें गुणस्थान की अपेक्षा से चारित्र भी था, परन्तु आत्मा का जो चारित्र, जो पूर्ण चाहिए, वह तेरहवें में नहीं था, आहाहा! वह आत्मआचरण जो एकाकार पूर्ण हो, उसी समय में उसका व्यय होकर मुक्ति

होती है। आहाहा! उसे वहाँ तक व्यवहार लिया। क्योंकि असिद्ध भाव को व्यवहार में डाला है। यह क्या कहा? जो उदयभाव गिना है, शास्त्र में आता है न? उसमें असिद्धभाव है, वह उदयभाव है। चौदहवें गुणस्थान तक असिद्धभाव है। आहाहा! सिद्ध नहीं, तब तक अभी इतना संसार है। आहाहा! यह व्यवहार की तो यहाँ अभी बात नहीं करते।

अभी तो पर के आश्रय से जितना भाव हो—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, नामस्मरण, पंच परमेष्ठी का स्मरण इत्यादि। वह **पर के निमित्त से जो अनेक भाव...** यहाँ भाषा यह है। पर के निमित्त से। पर्याय नहीं, परन्तु पर के निमित्त से जो भाव हो... आहाहा! वे सब। वे अनेक भाव होते हैं, वापस हैं अवश्य। भाव होते हैं, ऐसा कहा है न? हैं? समझ में आया? आत्मा में पर के आश्रय से वे भाव होते अवश्य हैं, हैं अवश्य परन्तु वे सब व्यवहारनय का विषय होने से... आहाहा! ऐसा काम। **व्यवहारनय पराश्रित है,...** आहाहा! वह तो पराश्रित है। अभी इतना यहाँ लिया है, हों! यहाँ तो असिद्ध तक व्यवहारनय लिया है। आहाहा! वैसे तो बारहवें गुणस्थान तक अशुद्धनय लिया है। भाई! और अशुद्धनय में फिर शुद्ध कहाँ से आया? ऐसा वहाँ प्रश्न किया है।

मुमुक्षु : शुद्ध उपयोग कैसे आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ से आया? (कहते हैं)। बारहवें गुणस्थान तक अशुद्धनय है। अभी केवल पूर्ण नहीं और सिद्धदशा नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अरे! ऐसे काल में नहीं समझे प्रभु! कब समझेगा? आहाहा! उसे—असिद्धभाव को अभी यहाँ व्यवहाररूप से गिना नहीं तथा पर्याय को व्यवहाररूप से है अवश्य, उसे भी अभी नहीं गिना। दो बात। आहाहा! धीरे से समझने की बात है, भाई! यह तो वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म, प्रभु! आहाहा! जितना पर के आश्रय से व्यवहार होता है, उसे यहाँ अभी व्यवहार कहने में आता है। आहाहा! दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत, तप, अपवास आदि ये सब विकल्प हैं। आहाहा! ये सब पर के आश्रित हुए भाव हैं।

और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है... देखा? यहाँ अब पर्याय नहीं ली। नहीं तो वह अशुद्ध पर्याय है, वह पर के आश्रय से व्यवहार, परन्तु शुद्ध पर्याय भी नहीं ली। यहाँ तो स्वाभाविक भाव जो त्रिकाल है, हैं? त्रिकाली ज्ञायकभाव। 'पारिणामिकभाव'

शब्द से तो परमाणु में पारिणामिकभाव भी है, इसीलिए यहाँ ज्ञायकभाव प्रयोग किया है। समझ में आया? पारिणामिकभाव तो छहों द्रव्यों में, ध्रुव में पारिणामिकभाव, परमपारिणामिकभाव सबमें है। परन्तु उसे परमपारिणामिकभाव न कहकर इसे ज्ञायकभाव कहा है। क्योंकि ज्ञानस्वरूप जो त्रिकाल है... आहाहा! ऐसे ज्ञायकभाव को परमपारिणामिक में डालकर वह **एक अपना स्वाभाविक भाव...** वह ज्ञायकभाव त्रिकाल। उसमें पर्याय नहीं आती, निर्मल पर्याय भी उसमें नहीं आती। नहीं तो उसमें पराश्रित व्यवहार का निषेध है तो निर्मल पर्याय की कहाँ बात? अब यह बात यहाँ नहीं है। पराश्रित का निषेध। निर्मल पर्याय है, वह स्व का आश्रय करती है। आहाहा! गजब बात है। इसलिए पर्याय न लेकर... **स्वाभाविक भाव है, वही निश्चयनय का विषय...** परन्तु यह करता है कौन? निर्मल पर्याय जो है, निर्विकल्प पर्याय है, वह त्रिकाल को विषय करती है। समझ में आया? आहाहा!

क्या शैली और किस जगह क्या अपेक्षा है, यह जाने बिना एकान्त कर डाले। और यहाँ तो एकान्त है कि नयातिक्रान्त विकल्पातीत हो, उसे सम्यग्दर्शन होता है, यह एकान्त है। उसे फिर दूसरा भी पक्ष है कि विकल्प से होता है, ऐसा पक्ष है नहीं। उसमें डाला है न कि यह यह भी तथ्य है और यह भी तथ्य है। प्रवीणभाई ने पढ़ा? आया है? वह पुस्तक दी? अविरुद्ध निर्णय। वहाँ आया था, मन्दिर में आया था। यह भी तथ्य है और यह भी तथ्य है। यह भी तथ्य है और यह भी तथ्य है। अविरुद्ध निर्णय। अरे! भगवान! प्रभु! तेरी मुक्ति हो, ऐसा करना है तुझे। क्या करना है? भाई! आहाहा! यहाँ तो एकान्त स्वद्रव्य का आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है, यह एकान्त है। इसमें कथंचित् विकल्प से भी होता है और कथंचित् व्यवहार से समकित होता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! भाई! परम सत्य भी थोड़ा अमृत जैसा होना चाहिए। आहाहा! बड़ी लम्बी-लम्बी बातें करे, (परन्तु) सत्य (का) तो अन्दर पता नहीं होता। आहाहा!

यहाँ परमात्मा ने कहा हुआ सन्त प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! भाई! **जो एक अपना स्वाभाविक भाव है...** त्रिकाली, हों! यहाँ। आहाहा! **वही निश्चयनय का विषय है, इसलिए निश्चयनय आत्माश्रित है।** परन्तु वह आत्माश्रित है, यह पर्याय आश्रय करती

है। इसलिए पर्याय को न लेकर पर्याय निश्चय का आश्रय करती है, वही वस्तु है। समझ में आया? पर्याय पर का आश्रय करती थी, वह व्यवहार में गया। अब जो पर्याय स्व का आश्रय करती है, उस पर्याय नहीं लिया, उसका आश्रय जो निश्चय है, वह भाव वस्तु है। समझ में आया? विषय करती है तो पर्याय। क्या कहा, समझ में आया?

मुमुक्षु : यह ध्यान ऐसा करती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दूसरा। ज्ञायक त्रिकाल भगवान, उसे वर्तमान ज्ञान की पर्याय ज्ञेय बनाकर विषय करती है परन्तु यहाँ यह कहते हैं कि पर्याय उसका विषय करती है, ऐसा खुल्ला नहीं कहकर स्वाभाविकभाव निश्चय का विषय है, ऐसा कहते ही उस पर्याय का विषय स्वाभाविक है, ऐसा आ जाता है। समझ में आया? गाथा ऐसी है। आहाहा! अरे! प्रभु का मार्ग है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ! वहाँ ऐसा नहीं कहा कि स्वाभाविक के आश्रय से भी मुक्ति होती है और पराश्रय से भी मुक्ति होती है। ऐसा नहीं कहा।

मुमुक्षु : दो प्रकार से मुक्ति नहीं कही।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो प्रकार ऐसा कहा नहीं। दो प्रकार जानने के लिये भले हो। वैसे ऐसा भी नहीं कहा कि नयातिक्रान्त से मुक्ति हो, समकित हो और नय के विकल्प से भी समकित हो, ऐसा अनेकान्त नहीं किया। क्या कहा यह? १४४ में नयातिक्रान्त कहा और यहाँ निश्चयनयाश्रित मुनिवरो मुक्ति को पाते हैं - ऐसा कहा? वहाँ (१४४ में) निश्चयनय का जो विकल्प है, उससे रहित निर्विकल्प वह वस्तु है, वह नयातिक्रान्त है और यहाँ निश्चयनय अर्थात् विकल्प नहीं। यह कहा न? **स्वाभाविक भाव है, वही निश्चयनय का विषय है...** त्रिकाली ज्ञायकभाव, वह सम्यग्दर्शन का विषय होने से अथवा सम्यग्ज्ञान का विषय होने से। आहाहा! विषय करनेवाली तो पर्याय है परन्तु उसका विषय जो है निश्चय, वह ज्ञायक त्रिकाली भाव है। आहाहा!

अब ऐसा (समझने के लिये) निवृत्ति कब मिले? आहाहा! अरे! ऐसा अवसर कब मिले? भाई! वीतराग तीन लोक के नाथ की वाणी इस जगत में कहीं है नहीं। आहाहा! उनके सम्प्रदाय में रहे होने पर भी (उसे खबर नहीं)। यह दोपहर में आया था न? समय में—जैन दर्शन के सम्प्रदाय में रहे होने पर भी जिसे अभी अज्ञान की भ्रमणा है (कि) राग

से होता है और निमित्त से होता है... वह सब संसारतत्त्व मिथ्यादृष्टि जीव है। आहाहा! समझ में आया? यह और दोपहर में आयेगा तब अभी।

यहाँ तो एक अपना स्वाभाविक भाव। पाठ में ऐसा था न? आत्माश्रित अर्थात् अपने आश्रित, ऐसा। एक अपना स्वाभाविकभाव—एक ही त्रिकाली भाव। आहाहा! पर्याय विषय करती है, उसका भी पर्याय का विषय, सम्यग्दर्शन का विषय सम्यग्दर्शन नहीं। सम्यग्दर्शन का विषय सम्यग्दर्शन नहीं, उसका विषय त्रिकाल। एक ज्ञानप्रधान कथन में प्रवचनसार (चरणानुयोग अधिकार गाथा-२४२) में ऐसा आता है कि ज्ञायक और ज्ञान दो की प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन। यह ज्ञानप्रधान कथन है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! ज्ञायकस्वरूप भगवान और ज्ञान, नौ तत्त्व आदि का जो यथार्थ ज्ञान है, उन दोनों की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा। यह ज्ञानप्रधान कथन है। आहाहा! दृष्टिप्रधान कथन में तो अकेला त्रिकाली ज्ञायकभाव। उसकी पर्याय में पर का ज्ञान आ गया परन्तु वह पर का ज्ञान है, यह लक्ष्य छोड़कर, यह पर का ज्ञान है, उसका लक्ष्य छोड़कर, उसमें पर का ज्ञान है अवश्य परन्तु वह पर्याय अन्दर में झुकायी है, तथापि पर का ज्ञान तो उसमें है परन्तु उपयोग झुकाया है अन्दर में। इसलिए उसे स्वज्ञेय में उसका उपयोग है। आहाहा! समझ में आया? इसलिए जो पर्याय में छह द्रव्य का ज्ञान है, वह कहीं चला नहीं जाता परन्तु वहाँ अब उपयोग नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

एक। कितनी ही जगह, भाई! 'एक' शब्द आवे वहाँ शुद्ध का अर्थ किया है और कितनी ही जगह शुद्ध आवे, वहाँ एक का भी अर्थ किया है। शुद्ध का अर्थ एक। ऐसे बहुत अर्थ उसमें आते हैं, ख्याल में बहुत सब हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : कलश टीकाकार ने बहुत (अर्थ) किये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत अर्थ किये हैं। **'अहमेक्को खलु सुद्धो'** ३८ गाथा। ७३ गाथा में शुद्ध का अर्थ वहाँ 'मैं' किया है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! बहुत संक्षिप्त बात है। जितना पराश्रितभाव विकल्प उठता है, चाहे तो दया का, वीतराग की भक्ति का और भगवान के स्मरण का, वह सब व्यवहार पराश्रित होने से... आहाहा! निषेध किया गया है। आहाहा! एक अपना स्वाभाविक भाव

है। निषेधने का अभी बाद में कहेंगे। **वही निश्चय**... 'वही', एकान्त है। **वही निश्चयनय का विषय**... यहाँ विकल्पवाला निश्चयनय नहीं लेना। समझ में आया? जो १४४ में विकल्पवाला निश्चयनय आता है न? अबद्ध और शुद्ध हूँ और एक हूँ, वह भी विकल्प। वह विकल्प (आया) उससे क्या? वहाँ तो ऐसा लिया। यहाँ तक आया, उससे क्या? व्यवहार छोड़कर निश्चय के (विकल्प में) यहाँ तक आया (उससे क्या?) आहाहा!

मुमुक्षु : आँगन में तो आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आँगन कब कहलाये? अन्दर जाए तो आँगन कहलाये, नहीं तो (नहीं)। आहाहा! यह आँगन में आया तो भी उससे क्या? ऐसा वहाँ तो कहा। इससे क्या? हिन्दी में यह (आता है)। इससे क्या? व्यवहार का क्रियाकाण्ड दया, दान, व्रत का लक्ष्य भले छोड़ा और यह तो पहले से छुड़ाते आये हैं, ऐसा कहा है, अर्थ में है। आहाहा! परन्तु निश्चय का विषय जो है एकरूप, अबद्धस्पृष्ट, शुद्ध और चैतन्यघन अखण्डानन्द, ऐसा जो विकल्प है, उसे भी छुड़ाने के लिये (कहते हैं), इससे क्या? बापू! यहाँ तक तुझे सम्यग्दर्शन नहीं है। आहाहा! वहाँ ऐसा नहीं कहा कि इससे सम्यग्दर्शन है और इससे रहित होकर सम्यग्दर्शन है। ऐसा अनेकान्त नहीं किया। आहाहा! वस्तु तो ऐसी है, भाई! इसे बैठे, न बैठे यह अलग बात है। परमात्मा सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ की आज्ञा का स्वरूप तो यह है। आहाहा!

अपने आश्रय से जो भाव, वह निश्चयनय का विषय—ध्येय। विषय अर्थात् ध्येय। निर्मल पर्याय का ध्येय त्रिकाली द्रव्य है। यह तो ३२० गाथा में आ गया कि ध्याता पुरुष समकिती किसका ध्यान करे? कि जो सकल निरावरण अखण्ड एक। यह एक आया, वहाँ भी एक आया। जो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव परम (भाव) लक्षण निज परमात्म द्रव्य, वही मैं हूँ—ऐसा पर्याय जानती है। पर्याय ऐसा मानती नहीं कि मैं पर्याय हूँ।

मुमुक्षु : खण्ड-खण्ड हूँ, ऐसा नहीं मानती।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बाद में। पर्याय, यह मैं हूँ—ऐसा पहले मानती है। आहाहा! निज परमात्मद्रव्य जो यह निश्चयनय का विषय कहा वह। आहाहा! सूक्ष्म है, भाई! अब

तो बहुत वर्ष हुए। यह तो अब ४५वीं तो दीपावली चलती है। परिवर्तन के बाद का ४५ वाँ वर्ष चलता है। आहाहा! सूक्ष्म तो आये।

विषय ही यहाँ जरा ऐसा है। पराश्रित व्यवहार। पर्याय व्यवहार, ऐसा नहीं लिया। पंचाध्यायी कहती है कि पर्यायमात्र व्यवहार और द्रव्य, वह निश्चय। आहाहा! पर्याय भी भेद है न? चाहे तो केवलज्ञान, परन्तु सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। सद्भूत व्यवहारनय का विषय है, निश्चय का विषय नहीं। आहाहा! निश्चय का ध्येय तो त्रिकाली ज्ञायकभाव परम स्वभावभाव है। यद्यपि द्रव्यसंग्रह में मोक्षमार्ग के नाम आये हैं। ६५ नाम आये हैं। मोक्षमार्ग के नाम हैं, इसमें एक परम पारिणामिकभाव भी गिना है, परन्तु वह परम पारिणामिकभाव पर्याय है। समझ में आया? यह बात अभी दो दिन पहले हो गयी थी। उसमें भी परम पारिणामिकभाव आया है, शुद्धोपयोग आया है।

यह तो उन जतीशभाई का शुद्ध उपयोग का प्रश्न था कि यह लोग बारम्बार माँगते हैं कि तुम समकित होता है, वह शुद्ध उपयोग है (और) शुद्धोपयोग समकिती, यह कहाँ से लाये? जतीशभाई का प्रश्न (था)। लोग पूछते हैं न? भाई! विकल्प है, उससे अचेत हो, तब वह उपयोग कौन सा कहलाता है? हमारे तो सीधा शुद्धोपयोग लाओ। परन्तु यह उसमें सीधा ही है, बापू! राग का जो उपयोग है, वह अशुद्ध है (जिसे यहाँ) पराश्रित कहा। और जो उपयोग अन्तर में गया, निर्विकल्प उपयोग हुआ, वह उपयोग क्या है? प्रथम (शुद्धोपयोग) उत्पन्न होने के काल में। पश्चात् उसकी परिणति रहे, फिर विकल्प आवे। विकल्पसहित परन्तु समकित होता है, निर्विकल्पसहित भी समकित होता है, परन्तु समकित होने के काल में समकित विकल्पसहित होता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! सम्यग्दर्शन होने के काल में तो निर्विकल्प दृष्टि से ही सम्यक्त्व होता है, परन्तु पश्चात् सविकल्पदशा होने पर भी समकित रहता है और निर्विकल्प हो, तब भी समकित रहता है, होता है।

मुमुक्षु : यह तो श्रद्धा का आचरण आया, हमारे तो चारित्र का आचरण चाहिए है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अन्दर एकाग्रता, अनन्तानुबन्धी का अभाव आचरण आया आंशिक। परन्तु अब यह लोग तो आचार्य का कथन माँगते हैं। नहीं तो कलश टीका में है

कि तुम सम्यग्ज्ञान-सम्यग्ज्ञान की बातें करते हो, सम्यग्दर्शन की, तो मोक्षमार्ग तो तीन (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) है। (तो कहते हैं) उस सम्यग्दर्शन में तीनों आ जाते हैं। है? कलश टीका में, दो-तीन जगह है। खबर है न? आहाहा! परन्तु वह तो (कहते हैं), यह नहीं। हमें तो आचार्य का वचन लाओ। यह लड़के व्याख्यान करने जाते हैं न? व्याख्यान करने वहाँ गये। जतीशभाई गये थे, वहाँ माँगते होंगे। अरे! प्रभु! तू शान्ति से विचार, बापू! भाई! यह कोई पक्ष की बात नहीं है। आहाहा! जब राग और निमित्त से भिन्न पड़ते हैं, तब वह उपयोग पहला कौन सा कहलाता है? अकेली परिणति ही हुई है? परिणति तो है परन्तु वह उपयोग होकर परिणति हुई है। आहाहा!

यह तो निश्चय का आश्रय, विषय है, वह उपयोग का विषय है। इतना यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया? क्योंकि विषय है, वह पर्याय का विषय है न? हैं? विषय है, वह विषय है, वह विषय का विषय नहीं है, पर्याय का विषय है, तो निर्विकल्प पर्याय है, नयातिक्रान्त जो कही, वह तो शुद्धोपयोग कहा। उस शुद्धोपयोग का विषय त्रिकाली है। आहाहा! बात तो ऐसी है, परन्तु अब कठिन काम है। अभी गड़बड़ में चढ़ गया है और लोगों को सरल-सरल यह कुछ प्रतिमा एक, दो धारण करे, कुछ क्रियाकाण्ड करे और कुछ अपवास करे और रूखा आहार करे और अकेला रहे, बाहर जंगल में रहे और ऐसे क्रियाकाण्ड में जगत को माहात्म्य आ गया। वस्तु पड़ी रही एक ओर। आहाहा! समझ में आया? गुजराती तो अब समझते हो? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि **जो एक...** एक के अर्थ में शुद्ध भी प्रयुक्त होता है और शुद्ध के अर्थ में एक भी प्रयुक्त होता है। **एक अपना (शुद्ध) स्वाभाविक भाव है वही निश्चयनय का विषय है, इसलिए निश्चयनय आत्माश्रित है।** त्रिकाल के आश्रित है। आश्रय करनेवाली पर्याय है, परन्तु आश्रय है त्रिकाल का। आहाहा! समझ में आया कुछ इसमें? आश्रय करती है, वह पर्याय है, परन्तु उस पर्याय का आश्रयवान वस्तु है, वह त्रिकाली है। आहाहा! यह तो टीका का सादी भाषा में अर्थ किया है। टीका में है, उसका पण्डित जयचन्दजी ने सादी भाषा में (अर्थ) किया है।

अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है... अब ऐसे दो सिद्ध करके अब

क्या कहते हैं ? पर्याय व्यवहारनय का विषय है, ऐसा न लेकर... आहाहा ! पर का कुछ कर सकता हूँ, पर से मुझमें होता है—ऐसा जो एकत्व अध्यवसाय मिथ्यात्व... आहाहा ! उसे यहाँ व्यवहार का विषय लिया है। समझ में आया ? आहाहा ! ऐसी बातें हैं। बहिनें, लड़कियाँ सब अनजाने हों, उन्हें तो (ऐसा लगता है) यह क्या कहते हैं ? यह क्या लगायी है ? हम तो कुछ समझते नहीं।

अरे ! भगवान ! तू परमात्मा होने के योग्य है। कल आया नहीं था ? अपाय में, अपाय में। आहाहा ! अपाय का विचार करते हुए धर्मी तो ऐसा विचारता है, सब जीव परमात्मा होओ। आहा ! कोई विरोधी न रहो, कोई साधकरूप न रहो। आहाहा ! ऐई ! विरोधी तो उसके तत्त्व का है परन्तु वह न रहो और साधकरूप भी न रहो। आहाहा ! आज्ञाविचय और अपायविचय। धर्मध्यान का दूसरा बोल है। द्रव्यसंग्रह में यह अपायविचय में ऐसा अर्थ किया है। सब जीव भगवान होओ, परमात्मा होओ, पूर्णानन्द को प्राप्त होओ, प्रभु ! तुम दुःखी हो।

मुमुक्षु : दीपावली का आशीर्वाद दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा ! आया था न कल ? अपाय, अपायविचय। द्रव्यसंग्रह। द्रव्यसंग्रह में धर्मध्यान में आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय ऐसे बोल हैं न ? उसमें अपायविचय में ऐसा अर्थ किया है। सब आत्मायें पूर्णानन्द को प्राप्त होओ, मुक्त होओ। आहाहा ! ऐसा अपायविचय में धर्मी विचार करता है। आहाहा !

कोई विरोधी है ही नहीं। भगवान द्रव्य तो भगवान साधर्मी है। जैसा द्रव्य है, आनन्द का नाथ और जैसा यह है, वैसा वह है, वह तो साधर्मी है। पर्याय है, उसका ख्याल करके कहते हैं, अब वह पर्याय भी छोड़ दे और परमानन्द को प्राप्त हो, प्रभु ! आहाहा ! परमात्मा मोक्ष पधारे। आहाहा ! तो तू भी आत्मा है न, नाथ ! आहाहा ! तो तू भी परमानन्द की प्राप्ति करके तेरी मुक्ति हो न, प्रभु ! आहाहा ! कोई विरोध न रहो। आहाहा ! ऐई ! ऐसी बातें हैं।

अब यहाँ क्या कहते हैं ? **अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है...** इसको 'भी' डाला न ? अर्थात् पर्याय है, वह व्यवहारनय का विषय है परन्तु अब अभी अध्यवसान भी व्यवहारनय का विषय, यह डालना है। अध्यवसान अर्थात् एकत्वबुद्धि। पर को

जिलाऊँ, मारूँ, बचा सकूँ, एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कुछ करूँ, ऐसी एकत्वबुद्धि। यह **अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है...** व्यवहारनय का ही विषय है। **इसलिए अध्यवसान का त्याग व्यवहारनय का ही त्याग है,...** इस एकत्वबुद्धि का त्याग जो कराया, वह व्यवहारनय का ही त्याग कराया है। आहाहा! समझ में आया?

फिर से, **अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है...** ऐसा तो कहा, पर के आश्रित व्यवहार होता है, परन्तु यहाँ तो अध्यवसान भी एक व्यवहारनय का विषय है। वह अध्यवसान पर के आश्रय से जो दया, दान, व्रत हों, वह तो है ही परन्तु उसकी एकत्वबुद्धि, वह भी व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है, प्रभु! तू सादा है अन्दर सहजानन्द मूर्ति है, प्रभु! आहाहा!

कहते हैं कि **अध्यवसान भी...** आहाहा! **व्यवहारनय का ही विषय है...** उसमें पहले कहा था न? कि व्यवहारनय पराश्रित है। पराश्रित है तो अब यह अध्यवसान भी, ऐसा कहते हैं। रागादि दया, दान तो पराश्रित है, वह तो व्यवहार है परन्तु उसकी एकत्वबुद्धि, वह भी व्यवहारनय का ही विषय है। आहाहा! क्या शैली! अमृतधारा बरसायी है! आहाहा!

अमृतचन्द्राचार्य। अब उन्हें काष्ठासंघ में डाल दिया। क्योंकि जयसेनाचार्य की टीका में बहुत व्यवहार साधन, निश्चय साध्य आता है तो वह पसन्द किया। और इन अमृतचन्द्राचार्य में ऐसा आवे, वह उन्हें पसन्द नहीं होता; इसलिए कहते हैं, ये काष्ठासंघी हैं। यह बात नहीं है। जयसेनाचार्य की टीका बराबर है। क्योंकि वहाँ व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है, यह बहुत आता है न! वह तो ज्ञान कराया है। कहा नहीं? मोक्षमार्गप्रकाशक में, २५६ पृष्ठ। व्यवहार का निमित्त आदि का ज्ञान कराया है। आहाहा! उस समय में कौन था? कैसे था? उसका ज्ञान कराया है। व्यवहार कोई साधन-फाधन है नहीं। आहाहा!

अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है... एकत्वबुद्धि। भले पराश्रितभाव है, वह तो व्यवहारनय का विषय है परन्तु अब पर का एकत्वपना मान्यता, वह भी व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! क्या सन्तों की वाणी! बापू! धर्मोपदेश तो इसका नाम कहलाये। आहाहा! जिसमें वीतरागता खड़ी हो, इसका नाम धर्मोपदेश है। जिसमें राग

खड़ा हो, वह विकथा है। विकथा कही है न? तरंगिणी कैसी? 'सुदृष्टि तरंगिणी'! उसमें पच्चीस प्रकार की विकथा वर्णन की है। राग से धर्म होता है और यह माने, वह सब विकथायें हैं। पाप कथा है, वह धर्म कथा नहीं। ऐसी कथा की व्याख्या की है। सुदृष्टि तरंगिणी नाम का ग्रन्थ है। है न? सब देखा है न। आहाहा! वह धर्म कथा नहीं। आहाहा! निमित्त से अन्दर में कुछ होता है, एक पर्याय दूसरी पर्याय को कुछ करती है, ऐसी बात, वह धर्म कथा नहीं है; वह विकथा है, पाप कथा है। ऐसे बाहर का निमित्त दूसरे को करे, वैसे अन्दर का निमित्त राग जो व्यवहार है, वह निश्चय वीतरागता भाव को करे, वह भी अन्तर का निमित्त उसे करे, वह भी झूठा नय है, एकत्वबुद्धि है। आहाहा!

मुमुक्षु : विकथा बहुत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वत्र विकथा ही बहुत है। आहाहा! क्या हो? तीन लोक का नाथ अन्दर विराजता है। सच्चिदानन्द प्रभु, वह निर्विकल्प चीज़ है और निर्विकल्प से ही प्राप्त होती है। आहाहा! यह एकान्त ही है। और निर्विकल्प से प्राप्त होती है तथा विकल्प से भी प्राप्त होती है, ऐसा इसमें अनेकान्त नहीं है, वह तो फुदड़ीवाद हो गया। आहाहा!

अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है, इसलिए अध्यवसान का त्याग, व्यवहारनय का ही त्याग है,... अर्थात् कहते हैं जो एकत्वबुद्धि का त्याग कराया, उसका अर्थ कि व्यवहारनय का ही त्याग कराया है। उसमें से यह निकाला, व्यवहारनय का त्याग कराया है। यह अध्यवसान का त्याग कराया, वही व्यवहारनय का त्याग कराया है। आहाहा! क्या कहा यह?

स्वद्रव्य परद्रव्य की किसी भी पर्याय को करे कि इससे तुझे कुछ लाभ होगा, ऐसी जो एकत्वबुद्धि, वह व्यवहारनय का विषय है। जैसे व्यवहारनय का विषय दया, दान और व्रत है, वैसे यह पर की एकत्वबुद्धि भी व्यवहारनय का विषय है। समझ में आया? आहाहा! व्यवहारनय, निश्चयनय इसमें निवृत्ति कहाँ लोगों को? बहिनों को निवृत्ति कहाँ? बेचारी पूरे दिन पकाने और लड़के को सम्हालने और यह पानी छानने और सवेरे कलश... क्या कहते हैं कलश को? साफ करते हैं न सवेरे? कलश साफ करे न सवेरे उठकर? कलश, कलश साफ करे। बर्तन साफ करे, उसमें लड़के को सम्हाले, रोवे उसे लोरियाँ सुनाना और उसे खिलाना और उसको पिलाना... अरर्र!

अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है... ऐसा क्यों कहा, समझ में आया ? कि उसमें ऐसा कहा, व्यवहारनय का विषय होने से पराश्रित होने से समस्त पर के निमितत से जो अनेक भाव होते हैं, ऐसा कहा था न ? इसलिए उसे व्यवहार कहा परन्तु इस एकत्वबुद्धि को भी व्यवहार कहा, ऐसा। आहाहा ! क्या कहा यह ? कि पर के आश्रय से जितने दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, पाठ हों, वह तो व्यवहारनय का विषय है परन्तु उसमें दो की एकताबुद्धि, वह भी व्यवहारनय का ही विषय है। पहली एकत्वबुद्धि छुड़ायी है। उसमें से निकाला, कि जब भगवान ने जब पर की एकत्वबुद्धि के अध्यवसान का त्याग कराया है तो मैं तो ऐसा समझता हूँ कि पर का आश्रय और व्यवहार का ही त्याग कराया है, वहाँ ऐसा लिया। आहाहा ! बापू ! मार्ग ऐसा सूक्ष्म होता है। वीतराग सर्वज्ञ, जिसे इन्द्र और गणधर, उसे एकावतारी इन्द्र पिल्ले की भाँति बैठकर सुनते हैं। आहाहा ! भाई ! वह उपदेश कैसा होगा ? आहाहा ! जिसे एक भवतारी इन्द्र और इन्द्राणी एक भवतारी—मोक्ष जानेवाली, भगवान के पास जाए। ऐसे बैठे और सुने। आहाहा ! बापू ! वह उपदेश कैसा होगा ? आहाहा ! यह कोई अलौकिक बातें हैं। आहाहा !

इसलिए अध्यवसान का त्याग व्यवहारनय का ही त्याग है, और जो पूर्वोक्त गाथाओं में अध्यवसान के त्याग का उपदेश है,... देखा ? अब आया। पहले वह लिया कि व्यवहार के आश्रित पर के आश्रित व्यवहार है तो वह अध्यवसाय भी व्यवहार है। अब कहते हैं कि अध्यवसान का त्याग पहले कराया है। पहले यह कराया है। आहाहा ! पहले की गाथा में अध्यवसान के त्याग का (उपदेश है)। अर्थात् क्या कहा ? पर को जिलाऊँ, पर को मारूँ, मदद करूँ इत्यादि। ऐसा जो पर के **अध्यवसान के त्याग का उपदेश है, वह व्यवहारनय के ही त्याग का उपदेश है।** समझ में आया ? आहाहा !

थोड़ा परन्तु बहुत करके जानना, प्रभु ! ऐसी बात है, नाथ ! आहाहा ! यह तो दिवाली का दिन है। आहाहा ! यह दिन इन्द्र मनाते हैं, इन्द्र मनाते हैं। भगवान मोक्ष पधारे। आहाहा ! जिनका जन्म कल्याणक, जिनका दीक्षा कल्याण और केवल कल्याणक, जिनका मोक्ष कल्याणक। आहाहा ! जिनका गर्भ कल्याणक। आहाहा ! वह यह दिन है। आहाहा !

इस प्रकार निश्चयनय को प्रधान करके... निश्चयनय को मुख्य करके।

व्यवहारनय के त्याग का उपदेश किया है... निश्चय को मुख्य आश्रय करनेवाले को उससे लाभ होता है, इसलिए उसे मुख्य करके (उसका प्रधान उपदेश है)। व्यवहारनय का विषय है अवश्य। मुख्य करके कहा, इसका अर्थ क्या? विषय नहीं है, ऐसा नहीं है, परन्तु यह मुख्य करके उसका आश्रय लिवाया है। आहा! है? निश्चयनय को मुख्य करके व्यवहारनय के त्याग का उपदेश किया है।

उसका कारण यह है... आहाहा! **कि-जो निश्चयनय के आश्रय से प्रवर्तते हैं...** आहाहा! भगवान शुद्ध स्वभाव प्रभु के आश्रय में जो प्रवर्तते हैं। प्रवर्तते हैं, वह पर्याय है परन्तु उस त्रिकाल के आश्रय से प्रवर्तते हैं। आहाहा! और उस पर्याय में त्रिकाली ज्ञायक का ज्ञान होता है, तथापि उस पर्याय में त्रिकाली द्रव्य नहीं आता। उस श्रद्धा की पर्याय में त्रिकाली चीज़ का सामर्थ्य जितना है, उतना प्रतीति में आता है। परन्तु उस प्रतीति में द्रव्य-वस्तु नहीं आती। वस्तु-द्रव्य आ जाए तो द्रव्य का अभाव हो जाए और पर्याय में अकेला द्रव्य आ जाए। आहाहा! यहाँ तो विषय करनेवाली पर्याय भिन्न रहकर विषय करती है। विषय करनेवाली कहा न? खाली एक विषय करनेवाला और एक उसका विषय। एक विषय करनेवाला और एक विषय। आहाहा! निर्विकल्प सम्यग्दर्शन ज्ञान की पर्याय वह विषय करनेवाली और उसका विषय त्रिकाली ज्ञायक। आहाहा!

मुमुक्षु : गुरुदेव! निर्विकल्प काल में तो कोई भेद नहीं रहता तो फिर विषय करनेवाला और विषय....

पूज्य गुरुदेवश्री : भेद नहीं रहता, इसलिए तो कहते हैं। अभेद अभेद की दृष्टि होती है। पर्याय भेदरूप से भिन्न है, वह काम तो अभेद का करती है। पर्याय मिलकर काम नहीं करती। पर्याय का विषय अभेद है। इसीलिए कहा न कि निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ—ऐसा पर्याय मानती है। पर्याय मैं हूँ, पर्याय मैं हूँ—ऐसा वह नहीं मानती, यह (द्रव्य) मैं हूँ।

मुमुक्षु : पर्याय स्वयं जैसी है, वैसी नहीं मानती।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैसी है, वैसी उसे कहा जाता है कि जैसी है, उसने जो विषय किया है, उतनी उसकी पर्याय है। आहाहा! है सूक्ष्म बात, भाई! विषय करनेवाली की पर्याय की ताकत इतनी है, वह द्रव्य के कारण नहीं है। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नयातिक्रान्त वह दशा है, वह दशा षट्कारकरूप से स्वतन्त्र परिणमती है। वह पर्याय कर्ता होकर स्व का लक्ष्य करती है। स्वतन्त्र कर्ता होकर (लक्ष्य करती है), पराधीनरूप से नहीं। आहाहा! सूक्ष्म है, भाई! अरे! तत्त्व है, वह सूक्ष्म है, भगवान! यदि सूक्ष्म न हो तो अनन्त काल में वह क्यों नहीं मिला हो? आहाहा! सूक्ष्म है। आहाहा! शास्त्र का जानपना भी अनन्त बार किया, ग्यारह अंग अनन्त बार पढ़ा और यह व्रत, नियम जो कहते हैं, नौवें ग्रैवेयक गया, वह तो अनन्त बार किये परन्तु यह चीज़ हाथ नहीं आयी। आहाहा!

यह चीज़ जो अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु! वह तो निर्विकल्पदृष्टि से ही हाथ आवे, ऐसा है। क्योंकि स्वयं निर्विकल्प अभेद स्वरूप है। आहाहा! उसका विषय करनेवाली निर्विकल्प पर्याय है। यह एक ही बात है कि निर्विकल्प पर्याय से ही वह ज्ञात हो, ऐसा है। इसका अनेकान्त ऐसा नहीं कि निर्विकल्प पर्याय से भी ज्ञात हो और विकल्प से भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। ऐसा है, कि निर्विकल्प पर्याय से ज्ञात हो, तब फिर निर्विकल्प परिणति भी होती है और सविकल्प परिणति भी होती है। सविकल्प परिणति होने पर भी सम्यग्दर्शन न हो, ऐसा नहीं है। परन्तु उत्पन्न होने के काल में सविकल्पदशा से भी उत्पन्न हो, निर्विकल्प से उत्पन्न हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहो, पण्डितजी! ऐसी बातें हैं। हैं?

मुमुक्षु : वास्तविक दिवाली है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिवाली है यह, दिवाली है न, बापू!

इस प्रकार निश्चयनय को प्रधान करके... मुख्य करके। अर्थात् क्या कहा? कि व्यवहारनय का विषय नहीं है, ऐसा नहीं है; विषय है, परन्तु उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा नहीं है। उसके लिये एकान्त ही है कि स्व के आश्रय से ही होता है। सम्यक् एकान्त ही है। उसके आश्रय से भी होता है और व्यवहार के आश्रय से भी समकित होता है, ऐसा अनेकान्त नहीं है। आहाहा! पश्चात् अनेकान्त है। सविकल्पदशा हो तो भी समकित होता है और उपयोग निर्विकल्प में जमा हो तो भी समकित होता है। आहाहा! समझ में आये ऐसा है, हों! धीरे-धीरे (समझना)। यह कहीं उतावल की बात

नहीं है, बापू! यह कहीं परीक्षा (नहीं) देनी है। लौकिक में वे सात कक्षा पढ़ जाए और बी.ए., एलएलबी, वह नहीं। यह तो अलग बात है। आहाहा!

जो निश्चयनय के आश्रय से प्रवर्तते हैं... आहाहा! यह तो एकान्त किया। त्रिकाली ज्ञायकभाव के आश्रय में प्रवर्तता है, वह विकल्पातीत नयातिक्रान्त में भी एक ही आया। नयातिक्रान्त से ही वह प्राप्त होता है। नयातिक्रान्त से भी प्राप्त होता है और निश्चय के विकल्प से भी प्राप्त होता है, यह भी सत्य है और वह भी सत्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा! हाँ, व्यवहार, व्यवहाररूप से है; नहीं है—ऐसा नहीं है परन्तु व्यवहार का आश्रय करने से धर्म होता है, यह बात अत्यन्त झूठ है। आहाहा! **जो निश्चयनय के आश्रय से प्रवर्तते हैं, वे ही कर्मों से मुक्त होते हैं...** वे ही। व्यवहार से भी कर्म से छूटते हैं और निश्चय से भी कर्म से छूटते हैं, कथंचित् ऐसा कथंचित् वैसा—ऐसा नहीं है। आहाहा! है न, सामने पुस्तक है? किस शब्द का क्या अर्थ होता है?

और जो एकान्त से व्यवहारनय के ही आश्रय से प्रवर्तते हैं,... एकान्त से क्यों कहा? कि निश्चयनय का आश्रय है और व्यवहार रागादि भी है परन्तु एकान्त से व्यवहार के आश्रय से ही प्रवर्तता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! वे कर्म से नहीं छूटते। है? **एकान्त से व्यवहारनय के...** एकान्त से अर्थात्? निश्चयनय का आश्रय नहीं और अकेला व्यवहार का ही आश्रय है, ऐसे एकान्त से व्यवहारनय के आश्रय से मुक्ति को नहीं पाते। परन्तु निश्चय का आश्रय है, वहाँ व्यवहार होता है, पूर्ण नहीं हो वहाँ। उसे ऐसा भी कहा जाता है कि यह व्यवहार साधन है। समझ में आया? निश्चय का आरोप देकर। परन्तु एकान्त से व्यवहार, निश्चय के आश्रय बिना, त्रिकाली ज्ञायक के आश्रय बिना एकान्त से दया, दान और व्रत, भक्ति और तप, पूजा तथा दान से कल्याण माने, **वे कर्मों से कभी मुक्त नहीं होते।** अर्थात् मिथ्यात्व से नहीं छूटते। मिथ्यात्व से नहीं छूटते, वे कर्म से नहीं छूटते। विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २७३

कथमभव्येनाप्याश्रीयते व्यवहारनयः इति चेत् -

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवो जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु।।२७३।।

व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।
कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु।।२७३।।

शीलतपःपरिपूर्णं त्रिगुप्तिपञ्चसमितिपरिकलितमहिन्सादिपञ्चमहाव्रतरूपं व्यवहारचारित्रं अभव्योऽपि कुर्यात्; तथापि स निश्चयचारित्रोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव, निश्चयचारित्रहेतुभूतज्ञान-श्रद्धानशून्यत्वात्।।२७३।।

अब प्रश्न होता है कि अभव्य जीव भी व्यवहारनय का आश्रय कैसे करते हैं? उसका उत्तर गाथा द्वारा कहते हैं:-

जिनवरप्ररूपित व्रत, समिति, गुप्ती अवरु तप शील को।
करता हुआ भी अभव्य जीव, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं।।२७३।।

गाथार्थ : [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेव के द्वारा [प्रज्ञप्तम्] कथित [व्रतसमितिगुप्तयः] व्रत, समिति, गुप्ति, [शीलतपः] शील और तप [कुर्वन् अपि] करता हुआ भी [अभव्यः] अभव्य जीव [अज्ञानी] अज्ञानी [मिथ्यादृष्टिः तु] और मिथ्यादृष्टि है।

टीका : शील और तप से परिपूर्ण, तीन गुप्ति और पाँच समितियों के प्रति सावधानी से युक्त, अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र (का पालन) अभव्य भी करता है; तथापि वह (अभव्य) निश्चारित्र (-चारित्ररहित), अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि (वह) निश्चयचारित्र के कारणरूप ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है।

भावार्थ : अभव्य जीव महाव्रत-समिति-गुप्तिरूप व्यवहारचारित्र का पालन करे, तथापि निश्चय सम्यग्ज्ञानश्रद्धान के बिना वह चारित्र 'सम्यग्चारित्र' नाम को प्राप्त नहीं होता; इसलिए वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है।

प्रवचन नं. ३३६, गाथा-२७३ रविवार, आसोज कृष्ण १५
दिनाङ्क - २१-१०-१९७९

समयसार, २७३ गाथा। **अब प्रश्न होता है...** शिष्य का प्रश्न है **कि अभव्य जीव भी व्यवहारनय का आश्रय कैसे करते हैं?** अभव्य जीव है, जिसे कभी मुक्ति नहीं है, अनन्त भव में भी मुक्ति नहीं है, ऐसा अभव्य जीव व्यवहारनय का किस प्रकार आश्रय करता है? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। **उसका उत्तर कहते हैं:-** ऐसी जिसे जिज्ञासा है, उसे यह उत्तर दिया जाता है।

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवो जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु।।२७३।।

जिनवरप्ररूपित व्रत, समिति, गुप्ती अवरु तप शील को।
करता हुआ भी अभव्य जीव, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं।।२७३।।

क्या कहना चाहते हैं? है तो यह व्यवहाराभास। निश्चय नहीं, तो भी यहाँ व्यवहार कहने में आया है। एक सिद्धान्त यह। जहाँ निश्चय होता है, वहाँ व्यवहार होता है। यहाँ तो निश्चय है नहीं, तो भी अभव्य जीव का दृष्टान्त है, हों! कितने ही ऐसा कहते हैं कि यह तो अभव्य के लिये हैं। इसमें से कितने ही ऐसा निकालते हैं। भव्य जीव के लिये नहीं, अभव्य का तो दृष्टान्त देते हैं, जिसे कभी मुक्ति होती नहीं। अनन्त परिभ्रमण चार गति में नरक और निगोद में सदा रहा करे, ऐसे जो अभव्य जीव, वे भी व्यवहारनय का आश्रय किस प्रकार करते हैं? व्यवहारनय (कहा)। निश्चय से निश्चय के बिना व्यवहारनय नहीं परन्तु अभी व्यवहारनय है, ऐसा कहा है। निश्चयनय रहित का भी व्यवहारनय है, ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया?

कहते हैं कि **शील...** ऐसा शील पाले, कषाय की मन्दता और मिथ्यात्व की मन्दता। क्या कहा, समझ में आया? अभव्य। वह मिथ्यात्व की भी मन्दता करता है और कषाय की भी मन्दता उसे होती है। आहाहा! तथापि वह आत्मज्ञान नहीं है। अन्दर चैतन्यमूर्ति उस राग की क्रिया से भिन्न चीज़ का उसे भान नहीं है, इसलिए उसे दर्शन और

ज्ञान नहीं है, इसलिए उसका सब वर्तन अचारित्र है। आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है, हों! मिथ्यात्व मन्द और कषाय मन्द। यह टीका में लिया है। इसकी टीका में—जयसेनाचार्य की टीका में है, इसी गाथा में है। आहाहा!

जिसने कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा का भी त्याग किया हो। सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र की श्रद्धा भी ऐसी कि मस्तक जाए तो भी दूसरी श्रद्धा न करे, परन्तु वह तो परद्रव्य की श्रद्धा हुई। आहाहा! सूक्ष्म बात है। उसने मिथ्यात्व मन्द किया है। क्योंकि कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा छोड़ी है। सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र की श्रद्धा की है, इसलिए उसका मिथ्यात्व मन्द है। आहाहा!

दूसरे प्रकार से कहें तो उसे गृहीत मिथ्यात्व की जो नयी पकड़ थी, वह मन्द कर डाली है। आहाहा! अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व, जो चैतन्य के ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होनी चाहिए, अनुभव होना चाहिए, उसका उसे अभाव है। इसलिए उसे मिथ्यात्व और कषाय की मन्दता—शुभभाव; कितना शुभभाव कि जिसे यहाँ शील में डाल दिया। कषाय की मन्दता... आहाहा! प्राण जाए तो उसके लिए बनाया हुआ आहार ले नहीं, ऐसी जिसकी क्रिया। शील—कषाय की मन्दता और मिथ्यात्व की मन्दता का शील स्वभाव है व्यवहार। आहाहा!

और तप से परिपूर्ण,... यहाँ जरा विशिष्टता है। वीतरागने कहा हुआ जो अनशन, ऊनोदर, वृत्तिसंक्षेप, रसपत्यिाग (इत्यादि) इस बारह प्रकार के तप में भी परिपूर्ण बराबर है। आहाहा! परिपूर्ण शब्द प्रयोग किया है न? अनशन, ऊनोदर, रसपरित्याग, कायक्लेश की सब क्रिया सख्त है कि राग की मन्दता और मिथ्यात्व की मन्दतारूपी भाव में ऐसे तप की परिपूर्णता का भाव उसे होता है। आहाहा! यह बात निश्चयतप की नहीं है। निश्चयतप तो सम्यग्दृष्टि को ही होता है। आहाहा!

आत्मस्वरूप भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, उस चैतन्य के प्रकाश में वेदन में जिसे सम्यक् भाव अनुभव प्रगट हुआ है, उसे सच्चा तप और सच्चा चारित्र होता है। यहाँ तो बारह तप में क्रिया की बात करते हैं। आहाहा! अरेरे! हजारों रानियाँ छोड़ी हों, करोड़ों की आमदनी की दुकानें बन्द कर दी हों, व्यापार (बन्द किया हो)। आहाहा! उसके लिये

बनाया हुआ आहार हो तो प्राण जाए तो न ले। ऐसा जिसका मन्द कषाय का स्वभाव ही हो गया है। आहाहा! और अनशन, ऊनोदर में परिपूर्ण है। अनशन में छह-छह महीने के अपवास करे, ऊनोदरी में एक-एक रस ले और दूसरे रस का त्याग करे। आहाहा! अनशन, ऊनोदर, वृत्तिसंक्षेपवृत्तियों को बहुत ही संक्षेप कर डाले कि इस अमुक घर में ही मुझे जाना, अमुक चीज़ मिले तो लेना, नहीं तो लेना नहीं। ऐसी जिसकी बहुत कषाय की मन्दता है। लोग तो दुनिया उसे ऐसा कहे कि आहाहा! क्या साधु, क्या इसकी क्रिया!

यहाँ तो तप से परिपूर्ण में बहुत विस्तार है। रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रति संयमता, इन्द्रियदमन—पाँच इन्द्रिय का दमन है। आहाहा! जो शरीर से विषयसेवन नहीं करता। आहाहा! ब्रह्मचर्य पालन करता है, इसलिए उसे यहाँ तप में परिपूर्ण कहा है। आहाहा! अनशन, ऊनोदर, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग। रसों में भी एकाध-दो रस चलें, बाकी रस नहीं चलें। ऐसा जिसका त्याग होता है। आहाहा! तथापि वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा धर्म होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

यह रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंयमता, प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य। उसका देव-गुरु और धर्म का भी व्यवहार विनय बहुत होता है। आहाहा! मन्द मिथ्यात्व है न!

अमृतचन्द्राचार्य ने **तप से परिपूर्ण,...** शब्द प्रयोग किया है। ऐसा तप, उसकी क्रिया। आहाहा! परन्तु वह सब क्रिया राग की है। आहाहा! वह धर्म नहीं है। अभी तो ऐसी क्रिया का ठिकाना नहीं और मानते हैं कि हम चारित्री हैं और हम तपस्वी हैं और हम साधु हैं। बापू! कठिन काम, भाई! आहाहा! प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, सज्झाय, शास्त्रों का ग्यारह अंग का ज्ञान करे, करोड़ों श्लोक कण्ठस्थ करे। आहाहा!

मुमुक्षु : उत्साह है, भावना से।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभभाव, धर्म नहीं। आहाहा! कठिन काम है।

विनय, वैयावृत्य, सज्झाय, स्वाध्याय करे। पूरे दिन बराबर स्वाध्याय (करे)। शास्त्रवांचन, मनन और शास्त्रों का जानपना (करे) परन्तु वह सब शुभभाव है। अन्तर

भगवान आनन्दस्वरूप ज्ञानमूर्ति प्रभु को ज्ञातारूप की दृष्टि और अनुभव के बिना उस क्रियाकाण्ड का व्यवहार उसे संसार और बन्ध का कारण है। आहाहा! कठिन काम है।

यहाँ 'परिपूर्ण' शब्द प्रयोग किया है न! पूर्ण अकेला भी नहीं, परिपूर्ण। परि (अर्थात्) समस्त प्रकार से तप की जितनी व्यवहार की उत्कृष्टता है। आहाहा! देव-गुरु का विनय, शास्त्र अध्ययन, विकथा का त्याग, बाहर की विकथा (न हो), अन्दर शास्त्र का स्वाध्याय ही किया करे परन्तु वह सब क्रियाएँ मन्दराग की हैं। आहाहा! सज्झाय, ध्यान। शुभभाव का ध्यान भी करे। आता है न मोक्ष अधिकार में? धर्मध्यान शुभभाव। मोक्ष अधिकार में आता है। इतनी कषाय मन्द लगे कि, मानो अन्दर ध्यान में-राग की मन्दता के ध्यान में इतना उतर गया हो, दूसरे को ऐसा लगे कि आहाहा! परन्तु वह सब क्रियाकाण्ड का राग है। आहाहा! वह सब परलक्षीभाव है। ऐसा है।

तप से परिपूर्ण,... आचार्य का कथन जरा कठिन है। बारह प्रकार के तप, हों! अभ्यन्तर जो छह हैं, वे भी विकल्पात्मक तप लेना है। आहाहा! मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में ले लिया है। अभ्यन्तर, वह भी बाहर की तरह ही अभ्यन्तर के विकल्प हैं वे। आहाहा!

तीन गुप्ति... मन को, वचन को, काया को बराबर गोपन करे। अशुभ में न जाने दे। आहाहा! ऐसी मन, वचन और काया की वृत्ति हो, तथापि वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! अरेरे! लोग कहाँ चढ़ गये हैं और कहाँ मानते हैं (और मार्ग) कहाँ रह गया है। आहाहा! मन, वचन और काया को अशुभ से गोपन करे। उसमें आता है न? भाई! शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ में निवृत्ति। शुभयोग आता है। समयसार में। प्रवृत्ति-निवृत्ति ली है। शुभभाव में प्रवृत्ति और अशुभ की निवृत्ति। परन्तु वह सब शुभभाव है—राग। आहाहा! ऐई! इस अभव्य को भी ऐसी दशा तो होती है, कहते हैं। जिसे कभी एक भव का अभाव नहीं होगा, उसे भी ऐसी स्थिति होती है, बापू! यह तो भव्य ने भी ऐसा अनन्त बार किया है। यह तो अभव्य का दृष्टान्त है। भव्य जीव भी नौवें ग्रैवेयक (गया)। 'मुनिव्रत धार (अनन्त बार) ग्रीवक उपजायो' 'मुनिव्रत धार (अनन्त बार) ग्रीवक उपजायो, पै (निज) आतमज्ञान बिन सुख लेश न पायो।' आत्मज्ञान जो अन्तर आनन्द का स्वाद आना चाहिए... आहाहा! ज्ञान

उसे कहते हैं कि जिसमें अतीन्द्रिय का स्वाद साथ में आवे। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! क्योंकि जो अनन्त गुण है, भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द, ज्ञान, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, ईश्वरता... ईश्वरता गुण है। ईश्वरभाई! प्रभुता नहीं? गुण है न? उन अनन्त गुण में वापस ईश्वरता है। एक-एक गुण में अनन्त ईश्वरता का रूप है। आहाहा! ऐसा जो भगवान अतीन्द्रिय निर्विकल्प आनन्द का नाथ... आहाहा! उसकी दृष्टि किये बिना और उसके आनन्द का स्वाद आये बिना जितना यह क्रियाकाण्ड सब करे, वह संसार है। आहाहा! कठिन काम। यहाँ तो थोड़ा जहाँ बाहर से त्याग करे, वहाँ ऐसा होता है कि ओहोहो! त्यागी हो गये। धर्म के, धर्म का त्यागी है। नियमसार में पाठ है, वह धर्म का त्यागी है। आहाहा! अन्तर आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु का जिसे स्वाद नहीं, अनुभव नहीं, आनन्द नहीं... आहाहा! वह सब बाहर के त्यागी, वे धर्म के त्यागी हैं। आहाहा! बहुत कठिन काम।

यहाँ तो परिपूर्ण तप और तीन गुप्ति **और पाँच समितियों**... उसके लिये बनाया हुआ आहार का एक बिन्दु भी प्राण जाए तो न ले। अभी तो चौका करके लेते हैं। उसके लिये चौका बनावे और ले। यह तो चौका क्या, उसके लिये एक पानी की बूँद बनायी (प्रासुक की) हो तो न ले। दिन के दिन निकाले पानी के बिना, ऐसी जिसकी समिति होती है। ऐषणा समिति। आहाहा!

मुमुक्षु : श्रावक चौका बनावे हमारा क्या दोष?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ यह प्रश्न हुआ था। मनोहरलालजी ने प्रश्न किया था। जयपुर में आकर दो प्रश्न किये थे। ऐसे क्षुल्लक नाम धराते थे परन्तु रेल में बैठते और पैसे रखते थे और सब ऐसा करते थे। उन्होंने यह प्रश्न किया था। खास आये थे, मिलने ही खास आये थे। मनोहरलालजी दो प्रश्न किये थे कि इस राग को पुद्गल क्यों कहा? दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव को पुद्गल कहा। कहा, भाई! वह चैतन्य की जाति नहीं है। इस चैतन्य की जाति में हो तो भात उसकी कायम रहे। वह तो निकल जाता है, निकल जाता है, वह चैतन्य की जाति नहीं है। इसलिए उसे पुद्गल कहकर अभाव कराया है। और ये दूसरे भाई ने—चन्दुभाई ने कहा वह। गृहस्थ करते हैं न? ऐसा। यह प्रश्न किया था। यदि

आपसे उद्देशिक का स्पष्टीकरण होवे तो लोगों में बहुत संगठन हो। उद्देशिक का क्या कहना है? प्रभु! ऐसा कि लोग उनके लिये बनाते हैं न! भले ये कहे कहनेवाले करते हैं, उन्होंने कब करवाया है? लोग बनाते हैं और लेते हैं, भाई! वे लोग बनाते हैं और लेते हैं, उसके अनुमोदन कोटि टूट जाती है। आहाहा! बहुत कठिन बात है, बापू! किसी का बुरा हो, ऐसी बात नहीं है। भला होओ, परन्तु वस्तु तो—मार्ग तो यह है। आहाहा! समझ में आया?

यह तो प्रश्न कहा था न? ६९ का वर्ष। यह प्रश्न तो हमारे दीक्षा लेने से पहले था। मेरा यह प्रश्न था। ६९ के वर्ष, ७० में दीक्षा (ली थी)। कहा, उसके (साधु के) लिए यह मकान बनावे, वह स्वयं करे, नहीं करावे नहीं परन्तु वह प्रयोग करे तो नौ कोटि में से कौन सी कोटि टूटती है? यह प्रश्न ६९ में था। समझ में आया? हमारे गुरु भद्रिक थे और उन्हें वापस दीक्षा लेनी की मेरी (भावना) थी, इसलिए उन्होंने फिर ऐसा उत्तर दिया कि तुम्हारे भाई ने तुम्हारे लिये मकान बनाया और तुम प्रयोग करो उसमें क्या? मेरे मन में तो उस समय था कि प्रयोग करे, वह अनुमोदन कोटि टूटती है। परन्तु अब इन्हें कहाँ कहना? क्योंकि तब दशवैकालिक के आठ अध्ययन कण्ठस्थ थे। उसमें यह था। वह न किया हो, कराया न हो परन्तु किये हुए के लिये ले, वह उसकी अनुमोदन की कोटि टूटती है। इसलिए उसकी एक भी कोटि सच्ची नहीं रहती। आहाहा! उसकी ऐषणासमिति भी सच्ची नहीं रहती तथा अहिंसाव्रत भी सच्चा नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया? वह अनुमोदन है। यह प्रश्न किया था कि भाई! भगवान का प्रभु का विरह पड़ा है। मैंने ऐसा कहा था, हों! भाई! वीतराग प्रभु का विरह है और अभी ऐसा मैं स्पष्टीकरण करूँ कि लोग बनावे, उसमें लेनेवाले को क्या है? लेनेवाले को अनुमोदन है। उसे खबर है कि मेरे लिये यह बनाया है। भले किया नहीं, कराया नहीं, परन्तु उसके लिये किया हुआ लेता है, वह उसका अनुमोदन है। नौ कोटि में उसका त्याग नहीं रहता। व्यवहार से त्याग (नहीं रहता)। आहाहा!

पश्चात् तो धीरे से कहा था परन्तु अब इतना... धीरे से कहा था, देखो! भाई! मैं तो अभी किसी को द्रव्यलिंगी क्षुल्लक भी नहीं मानता। (स्वयं) क्षुल्लक थे परन्तु शान्ति से (सुनते थे)। वस्तु की यह स्थिति है, बापू! क्या कहें? जिसके लिये किया हुआ लेता है,

वह द्रव्यलिंगी नहीं। द्रव्यलिंगी क्षुल्लक भी नहीं और द्रव्यलिंगी साधु भी नहीं। आहाहा! कठिन लगे। उस समय बोले नहीं, उस समय सुन रखा। बाद में उन्हें खटका (हो), ऐसा लगता है। वस्तु तो यह है, कहा। बापू! आहा!

दशवैकालिक में एक बोल है। हमने तब कण्ठस्थ किया था।... अठारह बोल है, उसका एक बोल तोड़े तो वह साधु नहीं। ऐसा बोल है।... अठारह बोल है। पंच महाव्रत, छह काय की दया इत्यादि कुछ अठारह बोल है। उसमें एक भी बोल तोड़े तो वह साधु नहीं है, ऐसा पाठ है। और यह प्रश्न तो (मैं) थोड़ा सा संस्कृत, व्याकरण पढ़ता था, तब पढ़ानेवाले को मैंने प्रश्न किया। 'गारियाधार' १९६९ में। कहा, यह सब पढ़े हुए हैं, यह अर्थ समझते हैं या नहीं? व्याकरण में। कहा, सिद्धान्त में एक बोल ऐसा है, सारस्वत व्याकरण वाला एक ब्राह्मण था, पढ़ाने को रखा था। कहा, जिसके लिए यह आहार आदि बनाया हुआ आहार है, उसे लेता है... उसे तो कुछ खबर नहीं हो परन्तु इस दश अठेय ठाणा वैकालिक के ठाणांग की व्याख्या क्या? सिद्धान्त में ऐसे दस शब्द हैं कि दस अठेय ठाणा ऐसा, वह तो दस को आठ से गुणा करना या दस को आठ से इकट्ठा करना? यह तो उस समय का क्या अधिकार है, तत्प्रमाण (होता है)। तब लगा, संस्कृतवाला तो इसमें नहीं जाने न? डेढ़ महीने संस्कृत पढ़े थे, डेढ़ महीने। बाद में कहा, यह तो संस्कृत का इसका अर्थ समझता नहीं तो संस्कृत में क्या था? दस आठेय शब्द है न? अर्थात् दस को आठ गुणन करना या दस को आठ इकट्ठा करना या दस में से आठ निकालना? नवरंगभाई! यह तुम्हारा पानी को छानकर पीना न। ६९ में व्याकरणवाले को पूछा, हों! व्याकरणवाले को। कहा, यह सब पढ़े हुए हैं, इसलिए व्याकरणवाले अर्थ समझते हों। वह तो यह अर्थ गुरुगम बिना वस्तु समझ में आये, ऐसी नहीं है। ऐसे संस्कृत के व्याकरण के कोई अर्थ समझ में आये, ऐसा नहीं है। ऐसा प्रश्न किया।

एक प्रश्न किया ८० में। काशी का बड़ा विद्वान आया था। बोटाद। काशी का बड़ा विद्वान था। उससे एक पूछा, यह मैं पूछता हूँ, इसका अर्थ करो। संजोगी केवली, संजोगी केवली का अर्थ करो। ८० के वर्ष की बात है। तो वह कहे, संयोगी (अर्थात्) संयोगवाले केवली। कहा, यह बात—अर्थ सच्चा नहीं है। यह संयोगी केवली ही नहीं होता, सयोगी

केवली चाहिए। तुम संस्कृत के अर्थ करने लगते हो परन्तु इसके भाव को नहीं समझते। सयोगी केवली चाहिए—योगवाले केवली। संयोगी केवली—संयोगवाले केवली, ऐसा नहीं है। चन्दुभाई! ऐसा प्रश्न किया। ८० की बात है। काशी में पढ़ा हुआ आया था। माणेकचन्दजी!

मुमुक्षु : आप सबका पानी उतार देते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। यह तो ऐसा कि ये संस्कृत पढ़े हुए हैं। यह संस्कृत पढ़े हुए सार निकाल सकते हैं? पढ़े हुए निकालते नहीं तो उसमें पढ़ना क्या? संस्कृत पढ़ना छोड़ दी। संस्कृत छोड़ दी। आहाहा! संयोगी केवली—कहा, अर्थ करो यह तुम व्याकरणवाले। संयोगवाले केवली। कहा, यह संयोगवाले केवली हो सकते ही नहीं। इस सं का अर्थ वहाँ शून्य ही खोटा है। सयोगी केवली चाहिए। योगवाले केवली। इसलिए तुम पढ़े हुए संस्कृतवाले भी यह अर्थ नहीं समझते तो बहुत पढ़-पढ़कर रुकना वहाँ, उसमें कुछ दम नहीं है।

मुमुक्षु : स्कूल में मास्टर जैसे परीक्षा करे, वैसे आपने परीक्षा की।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो बातचीत करते-करते निकली। सुनता था। माणेकचन्दजी का भतीजा या ऐसा था, काशी में पढ़ता था।

यहाँ कहते हैं कि **तीन गुप्ति और पाँच समितियों...** में पूर्ण। भाषा स्पष्ट बोले समिति। उसके लिए आहार का बिन्दु, पानी की बूँद की हुई ले नहीं। आहाहा! देखकर चलते हुए भी कोई ऊँची नजर नहीं। आहाहा! नीचे हरितकाय कुचले, या फूल कुचले, (ऐसा नहीं)। एक साधु आये थे। आहार करके आवे, (तब) नीचे नीम के फूल के ढ़ेर, उन पर पैर रखकर, ऊँचा देखकर चला आता था। कहा, इसको कुछ (भान नहीं है)। अरे रे! एक-एक फूल में अनन्त जीव। नाम नहीं देते। ऐसा का ऐसा (चला आता था)। हाथ में उसके लिये किया हुआ पानी और किया हुआ आहार, उसे खाकर आवे। इस नीम के नीचे, यह नीम है न? नीचे फूल थे। एक फूल के एक राई जितने टुकड़े में तो असंख्य शरीर और एक-एक शरीर में अनन्त जीव। (ऐसे तो) ढ़ेर पड़े थे। उन पर पैर रखकर चले। नीचे देखना नहीं कि यह क्या है? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि यह तो समिति से पालनेवाला। ईर्यासमिति, भाषासमिति, ऐषणासमिति, लेने-रखने में बराबर सावधानी। एक बात। वह पश्चात् क्या कहते हैं? कि **तीन गुप्ति और पाँच समितियों के प्रति सावधानी से युक्त,...** तुम्हारे वहाँ उस प्रकार का प्रमाद नहीं। है तो मिथ्यात्व। सावधानी से ऐसे बराबर (चले)। किसी भी प्राणी को कुछ हो, दुःख हो, ऐसे चले नहीं, ऐसा बोले नहीं। ऐषणासमिति, सावधानीभरी क्रिया (हो)। आहाहा! यहाँ परिपूर्ण लिया, तीन गुप्ति, समिति में सावधानीपना लिया। अर्थात् स्पष्ट लिया। तप में परिपूर्ण, शील में परिपूर्ण, गुप्ति और समिति में सावधानीपना। आहाहा! ऐसा सावधानीपना। आहाहा! दो बोल (हुए)।

अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप... अहिंसादि पाँच महाव्रत बराबर पालन करे। आहाहा! अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह का त्याग। एक वस्त्र का टुकड़ा भी रखे नहीं। नग्न दिगम्बर, आया था न कल? समयस्त। **पाँच महाव्रतरूप...** अहिंसा, हों! **व्यवहारचारित्र (का पालन) अभव्य भी करता है;...** ऐसा तो अभव्य जीव ने भी किया, अनन्त बार करता है। आहाहा! और तू इतना जहाँ करे, उससे तो कुछ ठिकाना भी नहीं तो भी (मानता है कि) मानो हम त्यागी हैं और हम चारित्री हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! बहुत कठिन काम है। वीतराग का मार्ग (अलौकिक है)।

ऐसा सावधानीपना समिति, गुप्ति में और तप में परिपूर्ण, शील में परिपूर्ण। जिसका नव-नव कोटि से शरीर का ब्रह्मचर्य, ऐसा निरतिचार (पालन करे)। आहाहा! ऐसा व्यवहारचारित्र अभव्य भी करता है। (यह) मन्द मिथ्यात्व और मन्द कषाय में ऐसे भाव से सब करता है। आहाहा! मन्द मिथ्यात्व उसमें डाला है, भाई! जयसेनाचार्य की टीका है न? उसमें डाला है। यह पहले बहुत बार कहा जा चुका है।

ऐसा **अभव्य भी करता है; तथापि वह (अभव्य) निश्चारित्र (-चारित्र -रहित),...** है। उसे चारित्र नहीं है। ऐसा सावधानीपना (होने पर भी)। ओहोहो! महाव्रत पाले, पाँच समिति, गुप्ति की सावधानी, शील और तप में परिपूर्ण तो भी कहते हैं कि वह चारित्र नहीं है। आहाहा! गजब बातें हैं।

वह (अभव्य) निश्चय चारित्ररहित है। **निश्चारित्र (-चारित्ररहित),...** स्वरूप

का चारित्र चाहिए। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान, आत्मा के आनन्द के स्वाद सहित आनन्द में रमणता चाहिए, उस चारित्र से रहित व्यवहारचारित्रवाला है। आहाहा! अब यहाँ यह कहते हैं कि व्यवहारचारित्र होवे तो उससे निश्चय होता है। यहाँ तो कहते हैं, अभव्य ने भी व्यवहारचारित्र अनन्त बार पालन किया है तो कहीं निश्चय तो हुआ नहीं। भव्य जीव भी नौवें ग्रैवेयक गया तो अनन्त बार पालन किया, तो निश्चय तो हुआ नहीं।

मुमुक्षु : वह तो अभव्य था, इसलिए नहीं हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दृष्टान्त ही यह कहते हैं, परन्तु अभव्य का तो दृष्टान्त दिया है। अभव्य भी ऐसा करता है और भव्य ने भी ऐसा अनन्त बार किया है। अर्थात् सम्यग्दर्शन रहित यह सब क्रियाएँ संसार में भटकने के लिए है। आहाहा! कठिन काम है। अब यह बड़े त्योहार के दिन हैं। बहुत गाँव से लोग आये हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए प्रथम व्यवहार क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ही बात है। कुछ व्यवहार-फ्यवहार (नहीं), निश्चय सीधे आश्रय करना वह।

मुमुक्षु : पहले यह निश्चय क्या है, उसे समझना तो पड़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह और अलग वस्तु, यह तो ज्ञान करना। यह जानने की, यह तो जानने की बात है।

मुमुक्षु : प्रथम व्यवहार ऐसा आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार, यह व्यवहार नहीं है। जानना, करना यह आवे परन्तु वह कहीं व्यवहार नहीं कि उससे हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! ग्यारह अंग का ज्ञान कहा न? अभी यह कहेंगे, यह प्रश्न करेंगे। आगे का प्रश्न है, यही प्रश्न है। ग्यारह अंग पढ़ा है। एक आचार अंग में अठारह हजार पद और एक पद में इक्यावन करोड़ से अधिक श्लोक। ऐसे अठारह हजार पद का जानपना किया। आहाहा! ऐसे दोगुने सूयगडांग, उससे दोगुना ठाणांग, उससे दोगुना समवाय (ऐसे) ग्यारह अंग का ज्ञान अनन्त बार किया, आहाहा!

यहाँ तो यह कहते हैं, वह चारित्ररहित है। जिसे आत्मज्ञान की-वस्तु की खबर

नहीं। आहाहा! आत्मा निर्विकल्प चिदानन्द जो विकल्प से भी प्राप्त हो ऐसा नहीं, नयातिक्रान्त है। आहाहा! ऐसे व्यवहार से तो (प्राप्त) नहीं, परन्तु नय का विकल्प जो है कि मैं शुद्ध हूँ और अबद्ध हूँ और परिपूर्ण हूँ, ऐसे विकल्प से भी वह प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : नय पक्ष से भी प्राप्त नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, हाँ, नय पक्ष से भी प्राप्त नहीं होता।

मुमुक्षु : ऐसा तो जानपना करना न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भले हो परन्तु इससे कुछ (होता नहीं)। उससे क्या? आहाहा! यह तो आया है अन्दर। उससे क्या? ऐसा आया था, मैं अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, अभेद हूँ, अखण्ड हूँ, आनन्द हूँ—ऐसा जो विकल्प का पक्ष आया, उससे क्या आया? उससे तुझे क्या लाभ हुआ? आहाहा! गजब बातें हैं। लीलाधरभाई! ऐसा कहीं सुनने को मिले, ऐसा नहीं है। वहाँ कहीं कलकत्ता-फलकत्ता में। कलकत्ता में रहते हो न? आहाहा! कठिन काम, भाई! भगवान का मार्ग वीर का मार्ग है। आहाहा!

मुमुक्षु : समझ में आये तो कठिन नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आये तो सरल है। न समझ में आये, उसे कठिन है न? सत् सरल ही है। अन्दर पूरी चीज़ पड़ी है। अखण्डानन्द निर्विकल्प परमात्मस्वरूप है। आहाहा! उसे अपने स्वभाव से पकड़ना। अलिंगग्रहण में आता है न? अलिंगग्रहण का छठवाँ बोल। अपने स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा वह प्रत्यक्ष ज्ञाता है। ऐसे क्रियाकाण्ड से ज्ञात हो, ऐसी चीज़ वह आत्मा है ही नहीं। आहाहा! अलिंगग्रहण में बीस बोल हैं न, उसमें छठवाँ बोल है। इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है; इन्द्रिय से जाननेवाला नहीं है; इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है; दूसरों के द्वारा मात्र अनुमान से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है; अकेला स्वयं अनुमान करके जाने, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह अनुमान किया नहीं, ऐसा आया। वह तो स्वयं प्रत्यक्ष अपना स्वभाव, निर्विकल्प वीतरागी स्वभाव... आहाहा! उस वीतरागी स्वभाव द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञाता हो, ऐसा आत्मा है। सूक्ष्म बात है, भाई!

यह तो तल की बातें हैं। पाताल में-तल में अन्दर क्या है? आहाहा! एक समय की पर्याय जो है, वह ऊपर तैरती है। पर्याय के अन्दर गहरे पूरा पाताल भरा है। आहाहा!

जिसके तल में अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण के सागर का पुंज प्रभु! आहाहा! वह अपने निर्विकल्प स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा है! आहाहा! ऐसे क्रियाकाण्ड से तीन काल में अनादि काल अनन्त बार किया। उससे भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

अज्ञानी, इस **(–चारित्ररहित), अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है...** आहाहा! पंच महाव्रत का सावधानीपना, तप में परिपूर्ण, पाँच समिति, गुप्ति में बराबर, तथापि कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! अरे! लोग कहाँ चढ़ गये, बेचारे को सत्य मिला नहीं। आहाहा! जीवन चला जाता है, मृत्यु के समीप है। उससे पहले कहते हैं कि आत्मा का निर्विकल्प ध्यान और निर्विकल्प से न जाना तो सब व्यर्थ है। आहाहा! ऐसा पहले श्रद्धा में निर्णय तो करे, लो! यह तुम्हारा आया। यह अभी परलक्षी श्रद्धा, हों! आहाहा! यह कहते हैं, पहले आवे। आहाहा! आँगन में खड़ा (रहकर) ऐसा निर्णय तो करे। भले अन्दर पहले जा नहीं सके परन्तु वह प्राप्त होता है निर्विकल्प दृष्टि से। विकल्प के क्रियाकाण्ड लाख, करोड़, अरब किया करे (तो भी उसे प्राप्त हो, ऐसा नहीं है)।

यह तो छहढाला में काह था न? 'लाख बात की बात निश्चय उर लाओ, छोड़ी जगत द्वंद्व फंद...' द्वैतपना छोड़ो। यह द्रव्य और पर्याय, ऐसे भेद का द्वैतपना छोड़। आहाहा! **'निज आतम उर ध्याओ।'** आत्मा भगवान पूर्णानन्द का नाथ अन्दर है। आहाहा! लो! (डंका) बजा, नौ बजे, नौ। अफर! आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

वह **अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है...** ऐसा व्यवहार पालने पर भी आत्मा के सम्यग्दर्शन बिना, आत्मा के ज्ञान बिना वह अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! **क्योंकि (वह) निश्चयचारित्र के कारणरूप...** यहाँ तो सिद्धान्त सिद्ध करना है। नहीं तो ज्ञान-श्रद्धान कारण और चारित्र कार्य, ऐसा एक गुण का कारण-कार्य नहीं है। क्या कहा? समझे? यहाँ तो सिद्ध करना है कि **निश्चयचारित्र के कारणरूप...** अन्तरस्वरूप की रमणतारूप निश्चयचारित्र। अतीन्द्रिय आनन्द में रमणता। 'निज पद रमे सो राम कहिये।' ऐसा जो भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की सत्ता के स्थल में, अतीन्द्रिय आनन्द की सत्ता के स्थल में रमे। आहाहा! ऐसा जो निश्चयचारित्र, उसके **कारणरूप ज्ञान-श्रद्धान से**

शून्य है। निश्चयचारित्र का कारण मूल तो सम्यग्दर्शन और ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान बिना निश्चयचारित्र नहीं आ सकता। आहाहा! अपेक्षित बात हैं, हों! नहीं तो किसी गुण का कारण कोई गुण है, यह और आवे तब पूरी अलग वस्तु। यहाँ तो क्या अपेक्षा सिद्ध करनी है? आहाहा!

निश्चयचारित्र के कारणरूप ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान जो सच्चे हैं, वह निश्चयचारित्र का कारण है और उसे तो इन सम्यग्दर्शन-ज्ञान की शून्यता है। चैतन्य का अनुभव सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो है नहीं। आहाहा! समझ में आया? थोड़ी सूक्ष्म बात तो आयी है। करने का तो यह है, भाई! बाकी सब थोथा है। आहाहा! दुनिया में मान दे, मान मिले, बड़ा माने, उससे क्या हुआ?

निश्चयचारित्र के कारणरूप... यहाँ इतने में वजन है। सिद्ध तो यह करना है कि जिसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान है, वह निश्चयचारित्र का कारण है। वह जहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान ही नहीं, वहाँ निश्चयचारित्र कहाँ से आया? इतना सिद्ध करना है। नहीं तो एक गुण की पर्याय दूसरे गुण को करे, ऐसा है नहीं, भाई! आया है न? शुभभाव में शुद्ध का अंश है। यह आया है न? वहाँ यह सिद्ध करना है। भले किया है स्वयं पण्डित ने— बनारसीदासजी ने, परन्तु बात बराबर की है कि शुभभाव में भी शुद्ध का अंश है। यदि शुभ में शुद्ध का अंश न हो और अकेली अशुद्धता ही हो तो अशुद्ध बढ़कर शुद्ध हो, ऐसा नहीं होता। क्या कहा यह? कि ज्ञान जो है, ज्ञान की उघड़ी हुई सम्यक् दशा वह तो बढ़कर-आगे बढ़कर पूर्ण हो परन्तु अब यहाँ यदि चारित्र की अत्यन्त अशुद्धता ही हो, अत्यन्त अशुद्धता हो तो वह अशुद्धता बढ़कर शुद्धता कहाँ से होगी? ऐसा सिद्ध करने के लिए और ज्ञान की शुद्धता से चारित्र की शुद्धता होती है, ऐसा नहीं है—ऐसा वहाँ सिद्ध करना है न? है न वहाँ? बात बराबर है।

ऐसा कि ज्ञान का उघाड़—क्षयोपशम है, वह उघाड़ है, इतना तो निर्मल है। वह अंश बढ़-बढ़कर आगे जाकर केवल (ज्ञान) होता है। परन्तु वह ज्ञान की शुद्धता बढ़कर हुई तो क्रिया की शुद्धता उसके कारण बढ़े, एक गुण की शुद्धता बढ़ने पर दूसरे गुण की शुद्धता उसके कारण से बढ़े, ऐसा नहीं हो सकता—ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : 'सर्व गुणांश वह समकित' तो आप फरमाते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह परन्तु वह क्या हुआ? वह तो अनन्त गुण की पर्याय की व्यक्तता हुई, ऐसा कहा। हैं?

मुमुक्षु : सम्यक्त्व के कारण हुई न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस सम्यग्दर्शन की पर्याय के साथ सब हुई है, एकसाथ हुई है। यह सूक्ष्म विषय है। वस्तु है न पूरा द्रव्य? अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अपार अनन्त की संख्या का गुण का पार नहीं, ऐसी जहाँ निर्विकल्प दृष्टि अन्दर हुई, तब सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगटी, उसके साथ अनन्त गुण की शक्ति में, जितनी शक्ति है, उस सबका व्यक्त का एक अंश साथ में प्रगट हुआ, साथ में प्रगटा है। सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगटी, इसलिए प्रगट हुआ है, ऐसा नहीं है। परन्तु साथ में प्रगट हुआ, ऐसा कहा। भाई! इतना अन्तर है, शब्द का अन्तर है। सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई, इसलिए अनन्त पर्यायें प्रगट हुईं—ऐसा नहीं है परन्तु सम्यग्दर्शन की पर्याय की प्रगटता के साथ ही अनन्त (पर्यायें) अपनी स्वतन्त्रता से प्रगटी हैं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। बनिये को निवृत्ति नहीं मिलती और मार्ग ऐसा सूक्ष्म। आहाहा! अरे रे! और चला जाता है। कहीं होकर कहीं चला जाएगा। कोई पता नहीं, प्रभु! आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा का कहा हुआ सन्त प्रसिद्ध करते हैं, प्रभु! निश्चयचारित्र का कारण ऐसा निश्चयसम्यग्दर्शन और ज्ञान, उसका उसे शून्य है। आत्मज्ञान नहीं। ऐसी क्रिया चाहे जितनी करे परन्तु आत्मज्ञान नहीं। आहाहा! तथा आचरण चाहे जितना करे परन्तु उसे निश्चयचारित्र नहीं। क्योंकि निश्चयचारित्र का कारण जो मुख्य सम्यग्दर्शन और ज्ञान, वह तो नहीं है। आहाहा! 'चारित्तं खलु धम्मो' 'दंसण मूलो धम्मो' आता है न? सम्यक्त्व मूल धर्म है। चारित्र धर्म का मूल समकित है। 'चारित्तं खलु धम्मो' 'दंसण मूलो धम्मो'। धर्म अर्थात् चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है, वहाँ ऐसा कहा है। अपेक्षा से कहा है। भाई! ऐसा कहते हैं।

यहाँ तो सिद्ध यह करना है कि ऐसा आचरण करने पर भी उसे सच्चा चारित्र नहीं है। सच्चा क्यों नहीं है? कि उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान जो चाहिए, वह पहला नहीं है;

इसलिए वह सच्चा नहीं है। आहाहा! अब ऐसे बड़े त्योहार में ऐसी बातें! आहाहा! भगवान केवल प्राप्त हुए... आहाहा! मोक्ष प्राप्त हुए। गौतमस्वामी केवल(ज्ञान) प्राप्त हुए। वह दिन दिवाली का कल गया। आहाहा! भगवान मोक्ष प्राप्त हुए और गौतम को केवल(ज्ञान) हुआ। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि उस निश्चयचारित्र का कारण (सम्यग्दर्शन और ज्ञान है)। एक ओर ऐसा कहे कि प्रत्येक गुण असहाय है। पंचाध्यायी में आता है कि एक गुण को दूसरा गुण निमित्त है, उपादान नहीं। उपादान प्रत्येक स्वतन्त्र है। प्रत्येक गुण की शक्ति स्वतन्त्र है तथा उसकी प्रगट पर्याय में भी प्रत्येक गुण की पर्याय स्वतन्त्र है। यहाँ दूसरा सिद्ध करना है, कि ऐसा आचरण करने पर भी उसे निश्चयचारित्र नहीं है। क्यों?—कि उसे दर्शन और ज्ञान की शून्यता है इसलिए (नहीं है)। आहाहा! चेतनजी! आहाहा! धीमे से.. धीमे से... बापू! यह तो गटकने की चीज़ है। आहाहा! यह उतावल से आम पके, ऐसा नहीं है। यह तो धीरज का काम है, भाई! और यह उलझन का काम नहीं है। उलझन को निकाल डाले, यह तो ऐसी बात है। अब इस चार लाईन में ऐसा हुआ।

निश्चयचारित्र का कारण (ऐसे) ज्ञान और श्रद्धान से शून्य है। एक ओर कहना कि ज्ञान और दर्शन की पर्याय है, इसलिए चारित्र की पर्याय होती है—ऐसा नहीं है। परन्तु यहाँ तो सिद्ध यह करना है कि जिसे ऐसा आचरण पाँच समिति, गुप्ति (में) सावधान, तप में परिपूर्ण, शील में परिपूर्ण, ऐसा होने पर भी चारित्र नहीं है और निश्चयचारित्र नहीं, उसका कारण कि उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं है। समझ में आया? आहाहा! अपने आप समझ में आये तो बराबर समझ में आये ऐसा नहीं है। बहियों के कारण निवृत्ति कहाँ है? उस हीरा और माणिक के कारण आहाहा! यह तो इनका दृष्टान्त दिया। आहाहा!

भावार्थ : अभव्य जीव महाव्रत-समिति-गुप्तिरूप व्यवहारचारित्र का पालन करे... वह भी कैसा? सावधानी से भरपूर और परिपूर्ण। दो शब्द प्रयोग किये हैं। आहाहा! **तथापि निश्चय सम्यग्ज्ञानश्रद्धान के बिना...** परन्तु आत्मज्ञान नहीं है, अन्दर आत्मा का अनुभव, सम्यग्दर्शन चाहिए, (वह नहीं)। आहाहा! चिदानन्द प्रभु आत्मा सच्चिदानन्द का अनुभव जो सम्यग्दर्शन चाहिए, उसे सम्यग्ज्ञान चाहिए। उस **निश्चय सम्यग्ज्ञान-**

श्रद्धान के बिना वह चारित्र 'सम्यक्चारित्र' नाम को प्राप्त नहीं होता;... आहाहा! वह मिथ्याचारित्र है। आहाहा! ऐसा पालने पर भी मिथ्याचारित्र, देखो! स्त्री-पुत्र छोड़े, शरीर से ब्रह्मचर्य पाले, वस्त्र का टुकड़ा भी न रखे, तो कहते हैं कि वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! वह चारित्र नहीं है क्योंकि चारित्र का मूलकारण जो मूल, वह मूल ही नहीं है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान जो 'दंसण मूलो धम्मो' (वह ही नहीं है)। समझ में आया? धर्म चारित्र, उसका मूल दर्शन है। ऐसा है न? धर्म चारित्र, उसका मूल दर्शन। यह अपेक्षा से कहा है। चारित्र, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता, ऐसा सिद्ध करना है। जिसे सम्यग्दर्शन होता है, पश्चात् स्वरूप में रमणता, उसे चारित्र होता है। क्योंकि जो चीज़ अभी अनुभव में आयी नहीं कि यह है, उसमें रमणता कहाँ से आवे? जो चीज़ दृष्टि में आयी नहीं कि इसकी सत्ता इतनी बड़ी है और ऐसा है, उसका ज्ञान हुए बिना उसमें रमणता आवे कहाँ से? आहाहा!

मुमुक्षु : धर्म का मूल तो सम्यग्दर्शन कहा, परन्तु सम्यग्दर्शन का मूल कौन सा?

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यग्दर्शन का मूल आत्मा, आत्म-आश्रय। वह यहाँ अभी काम नहीं है। समझ में आया? भूतार्थ का आश्रय, वह सम्यग्दर्शन। आहाहा! पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... प्रभु पूर्णानन्द का नाथ, यह कारणपरमात्मा, वह सम्यग्दर्शन का कारण है। लो! ठीक! यह कारणपरमात्मा जो त्रिकाली ज्ञायक चैतन्यमूर्ति, वह सम्यग्दर्शन का कारण है। यह भी अपेक्षा से (कहा है)। समझ में आया? यह तो भाई! अन्तर से अनेक अपेक्षाएँ बहुत मस्तिष्क में आती हैं। वे कितनी ही कही जाती है और कितनी ही रह जाती है। आहाहा!

इसलिए वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है। ऐसा पालन करने पर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, अनुभव चाहिए, निर्विकल्प सम्यग्दर्शन और निर्विकल्प सम्यग्ज्ञान का वेदन, इसके बिना वह चारित्र-फारित्र अचारित्र और मिथ्याचारित्र है। अब शिष्य का प्रश्न है, वह कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३३७, गाथा-२७४, २७५ सोमवार, कार्तिक शुक्ल १
दिनाङ्क - २२-१०-१९७९

समयसार, २६८ (कलश)। (आज) सुप्रभात है न? सुप्रभात के दो अर्थ लिखे हुए हैं। आत्मा में सम्यग्दर्शन हो, वह भी एक सुप्रभात है। क्योंकि जो प्रकाश का पुंज प्रभु! उसकी पर्याय में उस प्रकाश का स्वरूप पूर्ण प्रतीति में और ज्ञान तथा वेदन में आया, इसलिए उसे सुप्रभात कहा जाता है। ऐसे पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त हो, उसे यहाँ सुप्रभात लिया जाता है। कलश टीका में समकित दृष्टि की बात ली है। कलश टीका। यहाँ केवलज्ञान लिया है।

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः,
शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभातः।
आनन्द-सुस्थित-सदास्खलितैक-रूप-
स्तस्यैव चाय-मुदयत्यचलार्चिरात्मा।।२६८।।

[**चित्-पिण्ड तस्य एव**] **पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेता है...** अर्थात् क्या कहते हैं? कि यह चिदानन्द भगवान पूर्ण स्वरूप शुद्ध है, उसका जो आश्रय करता है **'भूदत्थमस्सिदो'** ग्यारहवीं गाथा। अखण्ड पूर्ण आनन्दस्वरूप प्रभु का जो आश्रय करे, अवलम्बन करे, उसे ध्येय बनाकर जो अनुभव करे, उसे यहाँ उस भूमिका का आश्रय अर्थात् अन्तर आनन्द का आश्रय (करे, वह) उस भूमिका का आश्रय। आहाहा! सूक्ष्म बात है। [**चित्-पिण्ड-चण्डिम-विलासि-विकास-हासः**] जिसे **चैतन्यपिण्ड के निरर्गल... 'चण्डिम'** अर्थात् निरर्गल है, प्रौढ़ है, प्रताप है। **'चण्डिम'** के बहुत अर्थ होते हैं। चैतन्यपिण्ड का प्रताप प्रौढ़ हुआ। आहाहा! जिसका निरर्गल (विकास है)। ऐसा जो प्रगट हुआ कि जिसे कोई विघ्न आता नहीं। **निरर्गल विलसित विकासरूप जिसका खिलना है...** आहाहा!

यह नूतन वर्ष है। आहाहा! इसका नाम सुप्रभात कहते हैं। यह (सूर्य) तो उगता और अस्त हो जाता है। सवेरे उगता है, दोपहर में मध्य में जाता है और शाम को अस्त हो

जाता है। यह तो कहते हैं, उगा, वह उगा। आहाहा! चैतन्य के पूर का नूर, अकेला तेज, उसका जिसने आश्रय लिया... आहाहा! उसे चैतन्य **'चण्डिम'** चैतन्यपिण्ड का **'चण्डिम'** अर्थात् निरर्गल अथवा प्रौढ़ अथवा जिसका प्रताप विलसता विकास है। ज्ञान और आनन्द का विलसता विकास पर्याय में है। आहाहा! जैसे कमल खिले वैसे आत्मा शक्तिरूप है, उसमें से व्यक्तता में खिलता है। आहाहा!

ऐसा **विकासरूप जिसका खिलना है...** है न? चैतन्यपिण्ड **'चण्डिम'** प्रताप **'विलासि'** उसका विलास, उसका **'विकास'** उसका **'हासः'**, **'हासः'** अर्थात् निधान, **'हासः'** अर्थात् हीनता नहीं, **'हासः'** अर्थात् खिलता है। निधान खिलता है। अन्दर चैतन्य का निधान अन्तर का आश्रय करने पर वह चैतन्य खिलता है। **'हासः'** का अर्थ यहाँ खिलना है। निधान का प्रगट होना है। आहाहा! **(अर्थात् चैतन्यपुंज का अत्यन्त विकास होना ही जिसका खिलना है),...**

[शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभातः] शुद्ध प्रकाश निर्मल **'भर'** उसकी **अतिशयता के कारण...** दो अर्थ हैं। शुद्ध प्रकाश का **'भर'** चैतन्य प्रकाश का पुंज, भगवान चैतन्य प्रकाश का **'भर'**। अपने भर कहते हैं। गाड़ा भरतो हैं न? भर... भर कहते हैं, भरे, पूरा भर भरे पूरा। भर... भर कहते हैं। उसी प्रकार भगवान पूरे चैतन्य का पुंज का भर है। आहाहा! पूरा गाड़ा भरे, यहाँ काठियावाड़ में भर कहते हैं। **'भर'** और **'निर्भर'** भरपूर परन्तु अतिशय से विकसित हुआ। आहाहा! है? **अतिशयता के कारण जो सुप्रभात के समान है,...** इसका नाम सुप्रभात और नूतन वर्ष है। आहाहा! जो प्रवाह प्रगट हुआ, वह प्रगट हुआ, उसे अब अस्त होना नहीं होगा। आहाहा! ऐसा चैतन्य ध्रुव भगवान का अवलम्बन लेकर जो पर्याय प्रगट हुई, उस द्रव्य का नाश हो तो पर्याय का नाश हो। आहाहा! ऐसा जिसका निधान पर्याय में विकसित हो गया है। इसका नाम सुप्रभात है। यह नूतन वर्ष इसका नाम है।

सुकाल हुआ। सुप्रभात है न? पर्याय में जो दुष्काल था, आहाहा! राग और विकार की एकता में पर्याय में दुष्काल था, वह स्वभाव की एकता होने पर पर्याय में सुकाल हो गया। आहाहा! वह सुकाल यह, हों! अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त

वीर्य यह चतुष्टय है, उसका अनुभव हुआ और या चतुष्टय है, उसकी व्यक्तता प्रगट हुई। आहाहा! समझ में आया? यह पैसे का ढ़ेर होकर आया, यह ढ़ेर बड़ा हो, ऐसा कहते हैं। **'भर'** भरपूर **'निर्भर' 'हासः'** आहाहा! अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द से भरपूर **'भर' 'निर्भर'** उससे अतिशय से **'हासः'** जिसकी पर्याय में खिलावट हो गयी है। आहाहा! निधान खिल गया है। लाख पँखुड़ी का कमल जैसे खिलता है, वैसे अनन्त गुण की पँखुड़ी का कमल आत्मा, अनन्त गुण की पँखुड़ी का कमल। आहाहा! उस अनन्त गुण की अन्दर खिलावट हो गयी है। इसका नाम यहाँ सुप्रभात, नूतन वर्ष, सुकाल, स्वकाल... स्वकाल है न? यह स्वकाल है, वह सुकाल है। निर्मल पूर्ण आनन्द और ज्ञान का प्रगट होना, वह इसका स्वकाल है, वह इसका सुकाल है, वह इसकी सुप्रभात दशा है। आहाहा! आचार्य ने स्वयं रखा है, हों सुप्रभात। है? आहाहा! सुप्रभात।

[**आनन्द-सुस्थित**] **आनन्द में सुस्थित ऐसा जिसका सदा अस्खलित एक रूप है...** अतीन्द्रिय आनन्द की दशा जहाँ प्रगटी है। आहाहा! अनन्त ज्ञान प्रगट हुआ, उसे यहाँ आगे चित्पिण्ड में ले लिया। शुद्ध प्रकाश में ज्ञान ले लिया और आनन्द में अतीन्द्रिय आनन्द लिया। अतीन्द्रिय आनन्द [**सुस्थित-सदा-अस्खलित-एक-रूपः**] **आनन्द में सुस्थित ऐसा जिसका सदा अस्खलित...** अब स्खलित न हो, वापस गिरे नहीं, ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हुआ। आहाहा! [**अचल-अर्चिः**] वहाँ वीर्य डाला है। दर्शन, ज्ञान, आनन्द, वीर्य—चार। [**अचल-अर्चिः**] जिसका वीर्य का प्रकाश अन्दर [**अचल-अर्चिः**] फिरे नहीं, ऐसा हो गया है।

जिसकी ज्योति अचल है, ऐसा यह आत्मा उदय को प्राप्त होता है। आहाहा! लो! इसका नाम सुप्रभात, इसका नाम नूतन वर्ष कहलाता है। बाकी सब बातें हैं। आहाहा! प्रथम अनन्त चतुष्टय स्वरूप की दृष्टि और अनुभव हुआ, वह भी एक सुकाल और स्वकाल और प्रभात है तथा उसमें से पूर्ण ज्ञान, दर्शन, आनन्द प्रगट होना, वह तो सुप्रभात, अतिशय सुप्रभात है। और वह उदित हुआ, सो उदित हुआ; अब अस्त हो—ऐसा नहीं है। इतनी बात यह सुप्रभात की की है।

अब अपने २७४ गाथा। २७३ हो गयी न? २७४।

गाथा - २७४

तस्यैकादशाङ्गज्ञानमस्ति इति चेत् -

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु।।२७४।।

मोक्ष-मश्रद्दधानोऽभव्य-सत्त्वस्तु योऽधीयीत।
पाठो न करोति गुण-मश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु।।२७४।।

मोक्षं हि न तावदभव्यः श्रद्धत्ते, शुद्धज्ञानमयात्मज्ञानशून्यत्वात्। ततो ज्ञानमपि नासौ श्रद्धते। ज्ञानमश्रद्धधानश्चाचाराद्येकादशाङ्गं श्रुतमधीयानोऽपि श्रुताध्ययनगुणाभावान्न ज्ञानी स्यात्। स किल गुणः श्रुताध्ययनस्य यद्विविक्तवस्तुभूतज्ञानमयात्मज्ञानं, तच्च विविक्तवस्तुभूतं ज्ञानमश्रद्दधानस्याभव्यस्य श्रुताध्ययनेन न विधातुं शक्येत। ततस्तस्य तद्गुणाभावः। ततश्च ज्ञानश्रद्धानाभावात् सोऽज्ञानीति प्रतिनियतः।।२७४।।

अब शिष्य पूछता है कि-उसे (अभव्य को) ग्यारह अंग का ज्ञान तो होता है; फिर भी उसको अज्ञानी क्यों कहा है? इसका उत्तर कहते हैं:-

मोक्ष की श्रद्धाविहीन, अभव्य जीव शास्त्रों पढ़ै।
पर ज्ञान की श्रद्धारहित को, पठन ये नहिं गुण करै।।२७४।।

गाथार्थ : [मोक्षम् अश्रद्दधानः] मोक्ष की श्रद्धा न करता हुआ [यः अभव्यसत्त्वः] जो अभव्य जीव है, वह [तु अधीयीत] शास्त्र तो पढ़ता है, [तु] परन्तु [ज्ञानं अश्रद्दधानस्य] ज्ञान की श्रद्धा न करनेवाले उसको [पाठः] शास्त्रपठन [गुणम् न करोति] गुण नहीं करता।

टीका : प्रथम तो अभव्य जीव (स्वयं) शुद्धज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से शून्य होने के कारण मोक्ष को ही श्रद्धा नहीं करता। इसलिए वह ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं करता। और ज्ञान की श्रद्धा न करता हुआ वह (अभव्य) आचारांग आदि ग्यारह अंगरूप श्रुत को (शास्त्रों को) पढ़ता हुआ भी, शास्त्रपठन के जो गुण, उसके अभाव के कारण ज्ञानी नहीं है। जो भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान, वह शास्त्र पठन का गुण है; और

वह तो (ऐसा शुद्धात्मज्ञान तो), भिन्न वस्तुभूत ज्ञान की श्रद्धा न करनेवाले अभव्य के शास्त्र -पठन के द्वारा नहीं किया जा सकता (अर्थात् शास्त्र-पठन उसको शुद्धात्मज्ञान नहीं कर सकता); इसलिए उसके शास्त्रपठन के गुण का अभाव है; और इसलिए ज्ञान-श्रद्धान के अभाव के कारण वह अज्ञानी सिद्ध हुआ।

भावार्थ : अभव्य जीव ग्यारह अंगों को पढ़े, तथापि उसे शुद्ध आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता; इसलिए उसे शास्त्रपठन ने गुण नहीं किया; और इसलिए वह अज्ञानी ही है।

गाथा - २७४ पर प्रवचन

२७४, **अब शिष्य पूछता है कि...** प्रभु आपने तो ऐसा कहा कि पंच महाव्रत पाले, समिति-गुप्ति पाले। आहाहा! ऐसा व्यवहारचारित्र कैसा? कि शील और तप में परिपूर्ण। आहाहा! है न? यह शब्द कल आ गया है। जिसका—अज्ञानी का शील और तप ऐसा परिपूर्ण है। सम्यग्दर्शन बिना। आहाहा! और समिति तथा गुप्ति में जिसका सावधानपना है। दो शब्द प्रयोग किये हैं—एक में परिपूर्ण और दूसरे में सावधानपना। समिति-गुप्ति सावधानपने है, ऐसी पंच महाव्रत की क्रिया, अहिंसा आदि पंच महाव्रत को पाले तो भी प्रभु! तुम उसे चारित्ररहित कहते हो। क्योंकि चारित्र का मूल जो सम्यग्दर्शन और ज्ञान... अन्तिम है न वह? **'निश्चयचारित्र के कारणरूप ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है।'** यह न्याय कल दिया था। इसमें दोनों न्याय है।

एक गुण दूसरे गुण का वास्तव में निश्चय से तो कारण नहीं है। यहाँ एक अपेक्षा सिद्ध करना है कि जहाँ आगे निश्चय जो चारित्र है, उसके पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान होना चाहिए। ऐसा करके निश्चयचारित्र का मूल सम्यग्दर्शन-ज्ञान कहने में आया है। नहीं तो किसी गुण का कारण कोई गुण, यह तो हो नहीं सकता। बात समझ में आती है? प्रत्येक गुण असहाय और प्रत्येक पर्याय भी स्वतन्त्र असहाय है। उसे दूसरी पर्याय का सहायपना नहीं है। एक गुण को दूसरे गुण का सहायपना नहीं है। अर्थात् कारणपना नहीं है। अब यहाँ कारण कहते हैं, वह दूसरी अपेक्षा है कि जहाँ निश्चयचारित्र जो स्वरूप की रमणता है,

उसका मूल कारण तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान होवे तो चारित्र होता है, इतना ही सिद्ध करना है। समझ में आया? आहाहा! एक ओर इनकार करते हैं। पंचाध्यायी के इनकार करते हैं कि एक गुण दूसरे गुण को कुछ कर नहीं सकता। असहाय-निःसहाय प्रत्येक गुण स्वतन्त्र है। यहाँ कहते हैं कि **'निश्चयचारित्र के कारणरूप ज्ञान-श्रद्धान...'** यह तो उसे निश्चयचारित्र से पहले ज्ञान-श्रद्धा का होना चाहिए। वह नहीं है, इतना सिद्ध करना है।

मुमुक्षु : पंचाध्यायी पण्डित का लिखा हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पण्डित का भले लिखा हुआ हो परन्तु सत्य है या नहीं? तिर्यंच का समकित भी सिद्ध समान समकित है। बात सत्य, सब यह प्रश्न करते हैं। सिद्ध समान तिर्यंच का समकितपना। सिद्ध का समकित दोनों के समकित में कुछ अन्तर नहीं है। स्थिरता में अन्तर है, चारित्र में अन्तर है। वस्तु के स्वरूप के कथन में, श्रद्धा और ज्ञान में कुछ अन्तर नहीं है। आहाहा! समकिती बात करे और केवली करे, उस श्रद्धा-ज्ञान में कुछ अन्तर नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

यह यहाँ कहकर ऐसा कहते हैं कि निश्चयचारित्र जो चाहिए वस्तु की रमणता, उसका कारण जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान अर्थात् उसके पहले होना चाहिए, ऐसा। इस अपेक्षा से कारण गिना है। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं, वहाँ निश्चयचारित्र नहीं है। यह बात आ गयी है। ग्यारह अंग जाने। एक आचार अंग के अठारह हजार पद, एक पद में इक्यावन करोड़ से अधिक श्लोक, उसके दोगुने सूयगडांग, डबल ठाणांग, (ऐसे) दोगुने करते हुए ग्यारह (अंग) तक ले जाना। अठारह हजार, छत्तीस हजार, बहत्तर हजार, एक लाख ४४ हजार, ऐसे दोगुने। यह सब ग्यारह अंग का ज्ञान तो होता है न उसे? है? **उसे ग्यारह अंग का ज्ञान तो होता है; फिर भी उसे अज्ञानी क्यों कहा?** आहाहा! उसे निचारित्र कहा, वह तो ठीक। सम्यग्दर्शन-ज्ञान ज्ञान नहीं, इसलिए कहा, परन्तु उसे अज्ञानी कैसे (कहते हो)? ग्यारह अंग का ज्ञान हो और अज्ञानी? अरबों श्लोक कण्ठस्थ हों, पानी के पूर की भाँति अन्दर शास्त्र चलते हों। ऐसे ग्यारह अंग का ज्ञान (हो) और तुम उसे अज्ञानी कहते हो। उसे क्यों (अज्ञानी) कहते हो? ऐसी यदि तुझे जिज्ञासा हो तो उसका उत्तर कहते हैं।

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु।।२७४।।

गाथा बहुत अच्छी आयी है।

मोक्ष की श्रद्धाविहीन, अभव्य जीव शास्त्रों पढ़ै।
पर ज्ञान की श्रद्धारहित को, पठन ये नहिं गुण करै।।२७४।।

टीका : प्रथम तो अभव्य जीव (स्वयं) शुद्धज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से शून्य होने के कारण... अर्थात्? मोक्ष अर्थात् तो पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति, वह मोक्ष है। मोक्ष कोई दूसरी चीज़ नहीं है। उस मोक्ष को ही श्रद्धता नहीं है। क्योंकि ज्ञान को श्रद्धता नहीं। वह तो पुण्य और पाप के दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम की श्रद्धा करता है। आहाहा! उसे आत्मा जो वस्तु है, उसका उसे ज्ञान नहीं। मोक्ष का ज्ञान नहीं, ऐसा कहते हैं। क्योंकि मोक्ष है, वह तो पूर्ण ज्ञानस्वरूप है। पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, उसकी उसे श्रद्धा नहीं है। क्यों? कि ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसी उसे श्रद्धा नहीं है। उसे तो यह दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा, यह हूँ—ऐसा माननेवाला ज्ञानस्वरूपी भगवान है, ऐसा वह नहीं मानता। ग्यारह अंग के पठन को ज्ञान नहीं कहते। आहाहा!

चैतन्य का ज्ञान, ज्ञान का ज्ञान; शास्त्र का ज्ञान भी नहीं। आहाहा! चैतन्यमूर्ति जो ज्ञान स्वरूपी प्रभु, उसका ज्ञान। उसे स्वज्ञेय बनाकर निर्मल ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द आवे, ऐसा जो ज्ञान, उस ज्ञान को वह अभव्य श्रद्धता नहीं है। क्या कहना चाहते हैं, समझ में आया? कि ग्यारह अंग का भले पठन हो परन्तु यह ज्ञानस्वरूपी आत्मा है और मोक्ष होता है, वह अकेला ज्ञानस्वरूप ही पवित्रस्वरूप ही रहता है, इस बात की श्रद्धा उसे नहीं है। आहाहा! चन्दुभाई! क्या कहा? समझ में आया? भगवान आत्मा तो अकेला ज्ञानमूर्ति, ज्ञायकभाव, ऐसा जो स्वभाव, उसकी पूर्ण प्राप्ति का नाम मुक्ति। अब उस ज्ञान को ही श्रद्धता नहीं है। क्योंकि मुक्ति को श्रद्धता नहीं है। क्योंकि मुक्ति अर्थात् पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति और उसे श्रद्धता नहीं है। क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसे श्रद्धता नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

अभव्य जीव (स्वयं) शुद्धज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से शून्य होने के कारण

मोक्ष को ही... क्या कहते हैं ? कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसे पठन-फठन का वहाँ काम नहीं। आहाहा! वह तो ज्ञानस्वरूप है, उसका ज्ञान नहीं; इसलिए उसे ज्ञानस्वरूप की पूर्ण की प्राप्तिरूप मोक्ष, उसकी श्रद्धा नहीं। उसकी श्रद्धा नहीं, इसलिए आत्मा ज्ञानमय है, उसकी भी श्रद्धा नहीं। समझ में आया ? यह सुप्रभात आने के बाद यह आया है। आहाहा!

शुद्धज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से... अर्थात् आत्मा तो शुद्ध ज्ञानमय है। ज्ञानवाला, ऐसा भी नहीं। दया, दान और विकल्पवाला आत्मा है ही नहीं। वह तो आस्रवतत्त्व और पुण्यतत्त्व, वह भिन्न तत्त्व है। आहाहा! यह तो **शुद्धज्ञानमय...** है ? **शुद्धज्ञानमय...** आहाहा! यह ज्ञान अर्थात् अन्दर वस्तु का स्वभाव, हों! ज्ञान अर्थात् यह शास्त्र का जानना और पढ़ना, यह ज्ञान नहीं। जैसे शक्कर मिठासमय, वैसे ज्ञानमय आत्मा। आहाहा! ऐसा जो ज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से तो शून्य है, उसका तो ज्ञान नहीं, भले ग्यारह अंग पढ़ा हो। आहाहा!

कहो, पहले ऐसा होना चाहिए या नहीं ? प्रवीणभाई! भाई ने प्रश्न किया नहीं था ? पहले हो, वह विकल्पसहित ऐसा आत्मा है, रागरहित है, ऐसा पहले हो, परन्तु वह कोई वास्तविकता नहीं है। यह १३वीं गाथा में आया है। नय, निक्षेप और प्रमाण से आत्मा का निर्णय करे, परन्तु वह अभूतार्थ है। आ गया है ? नय, निक्षेप और प्रमाण। परोक्ष और प्रत्यक्ष प्रमाण। निक्षेप चार और नय सात अथवा दो—निश्चय और व्यवहार, उनसे... आहाहा! नय, निक्षेप, प्रमाण से आत्मा को जाना परन्तु तो भी उस आत्मा के ज्ञान के लिये वे अभूतार्थ हैं। उस आत्मा का ज्ञान करने के लिये उनका लक्ष्य छोड़ना पड़ेगा। आहाहा! क्या कहा यह ?

नय, निक्षेप और प्रमाण का ज्ञान। सर्वज्ञ ने कहे हुए नय, निक्षेप और प्रमाण का भी ज्ञान, वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। वह तो एक भूमिका में विकल्प से निर्णय में आया कि यह आत्मा ऐसा है और वैसा है। आहाहा! वह भी विकल्प है, वह वास्तविक निर्णय नहीं। आहाहा! वास्तविक निर्णय तो उसे कहते हैं... आहाहा! कि ज्ञानमय अन्दर अकेला वेदन में आवे। अकेला शुद्धज्ञानमय द्रव्य आत्मा और शुद्ध ज्ञानमय गुण। शुद्ध ज्ञानमय, ऐसा पर्याय में आवे। आहाहा! उसे वह श्रद्धता नहीं है। वह ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसी वह श्रद्धा नहीं

करता। वह कुछ करनेवाला है राग का, दया का, व्रता का, भक्ति का (करनेवाला है, ऐसी श्रद्धा करता है)। आहाहा!

मुमुक्षु : थोड़ी सी भूल रह जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बड़ी मण में आठ-पंशेरी की भूल है, मण में आठ-पंशेरी की भूल। आठ-पंशेरी अर्थात् मण में मण की भूल। आहाहा! अपने आता है या नहीं? मण में आठ-पंशेरी की भूल। मण में मण की भूल। आहाहा!

क्या प्रभु की शैली! कहते हैं कि जो ज्ञानस्वरूपी भगवान, उसका जिसे ज्ञान नहीं, उसे आत्मज्ञान भी नहीं और उसे मुक्ति की श्रद्धा भी नहीं। मुक्त तत्त्व अकेला ज्ञानस्वरूप रहे, वहाँ कहीं राग-फाग रहता नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं। **शुद्धज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से...** आत्मा के ज्ञान से। दूसरी बात—निमित्तरूप ज्ञान नहीं, शास्त्र का ज्ञान नहीं, राग का ज्ञान नहीं, पर्याय का ज्ञान नहीं; शुद्धज्ञानमय आत्मा का ज्ञान—ऐसा कहते हैं न? पर्याय का भी नहीं, गुण-गुणी भेद का भी नहीं। इसलिए कहा, **शुद्धज्ञानमय आत्मा, शुद्धज्ञानमय आत्मा...** ऐसा कहा न? सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो सिद्धान्त है। सूक्ष्म है। समझ में आया?

शुद्धज्ञानमय आत्मा... वस्तु त्रिकाली का ज्ञान। निमित्त का नहीं, राग का नहीं, पर्याय का नहीं; शुद्धज्ञानमय आत्मा का ज्ञान, शुद्धज्ञानमय आत्मा का ज्ञान। शुद्धज्ञानमय आत्मा का ज्ञान, वह पर्याय है। परन्तु किसका वह ज्ञान? कि शुद्धज्ञानमय आत्मा का ज्ञान। सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो अमृतचन्द्राचार्य की टीका तो गजब है। आहाहा! एक-एक लाईन में बहुत ही गम्भीरता भरी है। ओहोहो! शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हैं। शिष्य कहता है, प्रभु! ग्यारह-ग्यारह अंग पढ़ा और अज्ञानी? हजारों लोगों को, लाखों लोगों को समझावे, सभाएँ भरे और ग्यारह अंग की बातें करे। (तो भी अज्ञानी?) सुन.. सुन... कहते हैं। रतनचन्दजी! आहाहा!

भगवान शुद्धज्ञानमय, ऐसा कहकर तो शास्त्र का ज्ञान भी उड़ा दिया, निमित्त का ज्ञान उड़ाया, राग का ज्ञान उड़ाया, एक समय की पर्याय का ज्ञान भी उड़ाया। शुद्धज्ञानमय आत्मा का ज्ञान। तीनों बातें आ गयी कि शुद्धज्ञानमय आत्मा, ज्ञानमय अर्थात् गुण हुआ,

आत्मा शुद्धज्ञानमय आत्मा हुआ, उसका ज्ञान यह पर्याय हुई। यह ज्ञान। ग्यारह अंग का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, परन्तु वस्तु सत्य तो यह है। आहाहा!

उस मोक्ष की ही अभव्य जीव श्रद्धा नहीं करता। क्यों? कि **शुद्धज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से शून्य होने के कारण मोक्ष को ही श्रद्धा नहीं करता।** मोक्ष (में) तो अकेला ज्ञानस्वरूप ही रह जाता है। आनन्दमय, अकेला ज्ञानस्वभाव ही रहता है। अब उस मोक्ष की श्रद्धा नहीं करता। क्यों? कि शुद्धज्ञानमय आत्मा की श्रद्धा नहीं करता, इसलिए वह मोक्ष की श्रद्धा नहीं करता। आहाहा!

मुमुक्षु : मोक्ष की श्रद्धा नहीं करता, इसलिए आत्मा की बात न लेकर...

पूज्य गुरुदेवश्री : साथ में डाला न? मोक्ष, मोक्ष अर्थात् क्या? शुद्ध ज्ञानमय की पूर्ण पर्याय—दशा।

मुमुक्षु : अकेली आत्मा की...

पूज्य गुरुदेवश्री : आया नहीं, ऐसा कहते हैं। उसे यह तो आया नहीं। पूर्ण अकेला ज्ञान, उसमें कर्ता और राग और अमुक वह तो कोई है नहीं। आहाहा! समझ में आया? गाथा सूक्ष्म आ गयी है, यह नूतन वर्ष है। आहाहा! इसमें अंक १३ का है। ७ और (दो) ९ और ४ = १३ का है। १३, १३ सयोगी केवली। २७४ है न? आहाहा!

(यहाँ) क्या कहा?—कि अभव्य (को) ग्यारह अंग (का ज्ञान) होने पर भी वह मोक्ष की श्रद्धा नहीं करता। क्यों?—कि आत्मा तो शुद्धज्ञानमय है। मोक्ष में अकेला ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप ही रहता है। वहाँ कोई दया, दान के विकल्प का फल और विकल्प वहाँ नहीं रहते। वह कुछ आत्मा नहीं है। आहाहा! दरबार!

यहाँ तो आत्मा की बात है। 'आत्मधर्म' आत्मधर्म कैसे हो? नरसिंह मेहता ने ऐसा कहा है न कि 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिह्नयो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी; शुं कर्युं सेवा अने पूजा-भक्ति करवा थकी, तीर्थ अने भक्ति करवाथी?' वह सब संसार है। आहाहा! यह आत्मा क्या चीज़ है? सूक्ष्म बात है, भगवान! यह बात यहाँ चलती है।

अनादि काल से अज्ञानी अभव्य जीव, जिसकी मुक्ति कभी नहीं होती, जैसे घोरडु मूँग होता है न? घोरडु मूँग... घोरडु मूँग। वह कभी पानी में नहीं बफता, पापड़ हो, पीसे

तो चूरा होकर पापड़ हो परन्तु बफता नहीं है। ऐसी एक जीव की जाति है। घोरडु मूंग की तरह एक जीव की (जाति है)। बहुत थोड़े हैं। कहते हैं कि वह अभव्य भी शास्त्र का ज्ञान करता है, क्रियाकाण्ड, महाव्रत आदि करता है परन्तु अन्दर आत्मा है, उसका ज्ञान नहीं करता। जो वस्तु है अन्दर सद्चिदानन्द प्रभु। आहाहा! उसका वह ज्ञान नहीं करता, इसलिए ग्यारह अंग का पठन भी उसका अज्ञान है। आहाहा! और कदाचित् अहिंसा, सत्य, अचौय आदि पंच महाव्रत आदि पालता हो तो भी आत्मज्ञान बिना वे महाव्रत-फहाव्रत सब संसार के कारण हैं। यह सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा!

यह तो जन्म-मरणरहित की बातें हैं, प्रभु! बाकी चौरासी के अवतार तो अनन्त काल किये। आहाहा! चौरासी लाख योनि में एक-एक योनि में अनन्त अवतार किये हैं। अभी तक कहाँ रहा? मोक्ष हुआ है? जो चना सिककर दाल (भूंगड़ा) हो वह फिर से उगेगा? यदि उसी प्रकार मोक्ष हुआ हो तो फिर से जन्म होगा? तो अनादि से भवभ्रमण कर रहा है। आहाहा! जिसकी आदि नहीं। इससे पहले... इससे पहले.. इससे पहले.. इससे पहले.. भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... भव। नरक के, निगोद के, चींटी के, कौवे के, कुत्ते के अनन्त भव किये, प्रभु! आहाहा! एक आत्मज्ञान बिना (किये)। यह आत्मा कौन है अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु? आहाहा! उसके ज्ञान बिना का शास्त्रज्ञान भी शून्य है। उसके ज्ञान बिना महाव्रत की क्रियाएँ दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, वह सब निरर्थक है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यहाँ यह बात चलती है, लो!

शुद्धज्ञानमय आत्मा। जैसे शक्कर मिठास का पिण्ड है, शक्कर वह मिठास का पिण्ड है; वैसे भगवान आत्मा अन्दर ज्ञान का पिण्ड है। भाषा तो समझ में आये ऐसी है। यह तो सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! यह तो ४५वीं दिवाली चलती है यहाँ। यहाँ ४५वाँ वर्ष लगा। दरबार! यह ४५वाँ वर्ष आज यहाँ लगता है। ४५ वर्ष से यहाँ हैं न?

मुमुक्षु : इसीलिए दरबार को कहा उस बार देरी हुई थी तो झट चलो कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : तब कहा था। मैंने कहा था, दरबार को कहा था मेरा ख्याल है परन्तु आज ठीक हुआ। जल्दी आये।

यह तो बापू! क्या कहें? भाई! अन्दर आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु है। वह सत्, शाश्वत्, ज्ञान और आनन्द का सागर है, उसका जब तक ज्ञान नहीं करे और शास्त्र का ज्ञान कर-करके रुक जाएगा, बाहर की दया, व्रत, भक्ति और पूजा करके वहाँ रुक जाएगा, उसका परिभ्रमण नहीं मिटेगा, प्रभु! नरसिंह मेहता ने कहा है न? 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिह्नयो नहीं, त्यां लगी साधना (सर्व झूठी)' अभी समाचार-पत्र में आया था, अखबार में आया था, चिट्ठी आयी थी। नरसिंह मेहता का पूरा भजन कोई लाया अवश्य था। नहीं? कोई भजन लाया था। 'शुं कर्युं तीर्थ ने सेवा करवा थकी, शुं कर्युं भक्ति ने पूजा...' बहुत शब्द हैं। यहाँ कोई चिट्ठी लाया अवश्य था, अखबार में आया था। अभी दस-पन्द्रह दिन पहले।

मुमुक्षु : अखबार में है? है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अखबार में आया था, आया था न, खबर है। यहाँ लाये थे कोई?

यह देह तो मिट्टी है, धूल है। अन्दर दया, दान, व्रत, भक्ति, काम-क्रोध के परिणाम होते हैं, वह तो विकार है। भगवान तो उनसे भिन्न अन्दर स्थित है, चैतन्यमूर्ति है। ऐसे आत्मा का ज्ञान किये बिना अभव्य अर्थात् जिसकी मुक्ति की योग्यता बिल्कुल नहीं है, उस जीव को भी आत्मज्ञान बिना वह शास्त्र का ज्ञान भी कुछ कार्यकारी नहीं है। आहाहा! इसमें तो पण्डिताई उड़ जाती है। आहाहा!

आचारांग आदि ग्यारह अंगरूप श्रुत को (शास्त्रों को) पढ़ता हुआ भी,... कहते हैं कि शास्त्र है, ग्यारह अंग है। एक-एक अंग में अठारह हजार पद, एक-एक पद में इक्यावन करोड़ अधिक श्लोक है। ऐसा पठन उसमें किया, अनन्त बार इस जीव ने किया। है? वह **पढ़ता हुआ भी, शास्त्रपठन के जो गुण...** परन्तु शास्त्र पढ़कर गुण क्या उसका? पढ़-पढ़कर पढ़ा। हमारे ७५ वर्ष पहले आता था। दलपतराम थे। ७५ वर्ष पहले हमारी परीक्षा (लेते थे)। अभी तो यहाँ ९१वाँ वर्ष चलता है। ७५ वर्ष पहले कवि दलपत डाह्याभाई 'कदड़ा, कदड़ा' ऐसा शब्द आता 'कवि दलपतराम डायाभाई' वे परीक्षा लेने आते थे। यह ७५ वर्ष पहले की बात है। वे ऐसा बोलते 'वांचे पण नहिं करे विचार ऐ समझे नहिं सघळो सार' तब कहते थे, ७५ वर्ष पहले की बात है। यह तो अभी शरीर को ९१वां चलता है। नब्बे और एक। 'वांचे पण नहीं करे विचार'। पण्डितजी!

वे दलपतराम कवि थे। उन्हें बहुत छोटी उम्र में देखा है। पाँचवीं-छठवीं में परीक्षा लेने आए हुए थे। पाँचवीं-छठवीं अर्थात् तब तो बारह वर्ष की उम्र की बात है। फिर तो उनका एक लड़का अपने यहाँ आया था। यहाँ आये थे नानालाल, नानालालभाई अपने यहाँ गुरुकुल में आया था। नानालाल, वह दलपतराम का पुत्र था। उसका यहाँ ६० वर्ष मनाया था। हमारे जहाँ हो वहाँ सब आवे न! दरबार आवे, गरासीया आया, राजा आवे, सब आवे। उनका एक दूसरा लड़का है, वहाँ वढवाण में है। दलपतराम का एक लड़का वह व्याख्यान में आता है, आता है, सब सुनने आते हैं परन्तु बापू! मार्ग अलग है, भाई! यह जन्म-मरण को मिटाने का पन्थ, प्रभु! (कोई अलग है)।

कहते हैं कि वह जो शास्त्र पढ़ा परन्तु उसका गुण **उसके अभाव के कारण...** शास्त्र पढ़ने का गुण तो आत्मज्ञान होना चाहिए। अकेला शास्त्र पढ़ना, वह कोई वस्तु नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, वह **ज्ञानी नहीं है।** आहाहा! **शास्त्रपठन के जो गुण उसके अभाव के कारण ज्ञानी नहीं है।**

जो भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान वह शास्त्र पठन का गुण है;... क्या कहते हैं? आहाहा! शास्त्र चाहे जितने पढ़े। लाखो-करोड़ों मुखाग्र किये—कण्ठस्थ किये परन्तु शास्त्र पढ़ने का (गुण नहीं हुआ)। भिन्न वस्तु ज्ञानमय है। अन्दर आत्मा दया, दान, काम, क्रोध के विकल्प से भिन्न है। वह तो निर्विकल्प चैतन्य प्रभु है। आहाहा! उस परमात्मस्वरूप की शक्ति का वह सत्त्व है। उसके ज्ञान बिना, **भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय...** ऐसा कहा न? भिन्न अर्थात् शरीर से तो भिन्न, वाणी से तो भिन्न... वह तो मिट्टी, धूल है, परन्तु अन्दर पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उनसे वह भिन्न है... शक्कर में ऊपर मैल हो, उस मैल से शक्कर भिन्न चीज़ है। आहाहा! उसी प्रकार भगवान आत्मा अन्दर (रागादि से भिन्न है)। बैठना सूक्ष्म, बापू!

अनन्त काल में किया नहीं। ऐसी की ऐसी जिन्दगी गँवा दी है। मनुष्य के भव चले जाते हैं और जो समय जाता है, उतना मृत्यु के समीप जाता है। क्योंकि मृत्यु का समय निश्चित है। इस समय में देह छूटेगी, यह तो निश्चित है और जितना काल जाता है, वह सब मृत्यु के समीप जाता है ऐसा। मृत्यु नजदीक आती है। आहाहा! उसमें यह आत्मा का

कहते हैं कि ज्ञान और पहिचान नहीं की (तो) अवतार निष्फल है। सफल है... कल दोपहर में आया था, (चार) गति (में) भटकने का सफल है। और धर्मी को गति का फल अफल है।

यह कल आया था, याद है? आहाहा! जिसने आत्मा का ज्ञान किया कि शुद्ध चिदानन्द प्रभु है, और जिसकी दृष्टि आत्मा के ऊपर पड़ी है, उसे अब गति का फल, भटकने का फल है नहीं। उसे अब भटकने का रहता नहीं। आहाहा! अफल कहा है न? धर्मी का अफल अर्थात् कि फलना इन चार गति का फल मनुष्य गति, यह पशुगति, यह नारकी है नीचे नरक है, माँस और शराब खाने (पीनेवाले) मरकर नीचे नरक में जाते हैं। ये पशु हैं, वे तिरछे हैं न आड़े? यह मनुष्य ऐसे खड़े हैं। गाय, भैंस, घोड़ा, ऐसे आड़े-आड़े हैं। आड़े क्यों हुए? यह वक्रता बहुत की थी। आड़े हैं न? गाय और भैंस, गिलहरी, नेवला, कोण ऐसे आड़े हैं और यह मनुष्य खड़े हैं। दरबार! यह तो सादी भाषा है, बापू! वक्रता बहुत की थी तो आत्मा तो आड़ा हो गया अन्दर, परन्तु उसे शरीर आड़ा मिल गया। आहाहा! ऐसे अवतार अनन्त किये। 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिह्नयो नहिं।' आहाहा! 'त्यां लगी साधना सर्व झूठी।' आहाहा!

मुमुक्षु : मनुष्य देह व्यर्थ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : मनुष्य देह व्यर्थ गया, बापू! धूल में ऐसा अनन्त बार हुआ। अरबोंपति अनन्त बार हुआ, राजा अनन्त बार हुआ, नरक का कीड़ा अनन्त बार हुआ, कीड़े-कौवे के भव अनन्त किये। अभी तक भव कर-करके मर गया है, अनन्त काल हुआ कभी भव बिना रहा है? जो चना सिंक जाता है, वह बाद में उगता है? इसी प्रकार जिसे मोक्ष होता है, उसके बाद भव होंगे? अभी तक इसका मोक्ष नहीं हुआ तो भव में भटकता है। आहाहा! कौवे के, कुत्ते के भव कर-करके... बापू! अनन्त अवतार हुए।

यहाँ कहते हैं कि **शास्त्रपठन के जो गुण...** आहाहा! क्या कहा? **शास्त्रपठन के जो गुण... भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा...** आहाहा! शास्त्र को तो यह पुकार करना है। सिद्धान्त शास्त्र को तो यह कहना है कि प्रभु! तू राग से और शरीर से अन्दर भिन्न है। उसका यदि ज्ञान नहीं किया तो तेरे शास्त्र के पठन का तुझे कुछ गुण नहीं आया।

आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है। लोग बहुत आये हैं, इस बार दिवाली पर लोग (बहुत आये हैं), पूरा भर गया है। इस बार अधिक आ गये। आहाहा! गाथा भी ऐसी है। **शास्त्रपठन के जो गुण...** आहाहा! पढ़, पढ़कर पढ़ा परन्तु अन्दर आत्मा है क्या? उसका ज्ञान नहीं किया तो शास्त्र पठन का गुण इसे नहीं आया। आहाहा! इसलिए इसका परिभ्रमण टला नहीं, प्रभु! आहाहा!

और वह तो (ऐसा शुद्धात्मज्ञान तो), भिन्न वस्तुभूत ज्ञान की श्रद्धा न करनेवाले... आहाहा! भगवान आत्मा चैतन्य की ज्योति चैतन्य के प्रकाश का नूर का पूर अन्दर भरा है। आहा! तत्त्व है न? वस्तु है न? पदार्थ है न? अनादि-अनन्त नित्य वस्तु है न? कहीं नयी हुई है? आत्मा (वस्तु) नयी हुई है? है। कब की? अनादि से। है, वह अनन्त काल रहेगी। अनादि और अनन्त काल है... है... है... है, वह कहाँ जाए? आहाहा! वह 'है' ऐसा जो आत्मा, उसे कहते हैं कि भिन्न वस्तु जो ज्ञानमय है, उसे श्रद्धा नहीं करता। ज्ञानमय मेरी चीज़ है, राग से भिन्न हूँ, दया, दान, व्रत के (विकल्प) आवें, विकल्प हों परन्तु तो भी उनसे भिन्न हूँ, ऐसा भान करना, (वह नहीं किया)। आहाहा! कठिन बात है।

भिन्नवस्तुभूत ज्ञान को नहीं जानते हुए। देखा? भिन्नवस्तुभूत ज्ञान को नहीं जानता। पहले में आत्मा को नहीं जानता कहा था। वह ज्ञानस्वरूप ही चैतन्य प्रकाश की (मूर्ति है)। जिसकी सत्ता में, जिसकी मौजूदगी में... यह ज्ञात होता है किसे? किसमें ज्ञात होता है यह? यह जो है, वह ज्ञात किसमें होता है? चैतन्य में। जड़ में ज्ञात होता है? चैतन्य की सत्ता अन्दर है, ज्ञान सत्ता में यह सब ज्ञात होता है। यह ज्ञात होता है, वास्तव में तो इसकी अपनी दशा ज्ञात होती है। क्योंकि पर को तो वह स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! ऐसी जो जाननेवाले की दशा, उस दशावाला जो त्रिकाल ज्ञानमय है, उसकी श्रद्धा नहीं करता। आहाहा! कठिन काम है, प्रभु! क्या हो? यह तो जंगल में आ पड़े हैं। यह ४५(वीं) दिवाली होगी। ४५ वर्ष में आये हैं। ४५ और ४५=९० हुए। जन्म के, हों! गर्भ को ९१ चलता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, तेरी भिन्नवस्तु। नाथ! अन्दर भिन्न है न, नाथ! आहाहा! स्फटिक रत्न जैसे निर्मल जैसे भिन्न है। जैसे स्फटिक रत्न निर्मल है, वैसे भगवान अन्दर आनन्द का नाथ

ज्ञानस्वरूपी पुण्य और पाप के मलिन भाव से भिन्न तत्त्व है, प्रभु! आहाहा! ऐसी भिन्न वस्तु का यदि ज्ञान नहीं किया तो उसकी श्रद्धा भी नहीं। उस **ज्ञान की श्रद्धा न करनेवाले अभव्य के शास्त्र-पठन के द्वारा नहीं किया जा सकता...** आहाहा! ऐसा है।

मुमुक्षु : तब पठन तो व्यर्थ गया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर वह मूल तत्त्व जानना (चाहिए उसे) नहीं जाना (तो) तेरा पठन किस काम का? दरबार!

मुमुक्षु : शास्त्र नहीं पढ़ना न? ऐसा हुआ न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात कहाँ है? यह वहाँ अभ्यास करता है। भाई! पहचानते हैं न? दरबार! पहचानते हो न इसे? नहीं सुनते? दरबार नहीं वह 'सरवाळावाला', 'सरवाळावाला'। आता है, यहाँ बहुत बार रहता है।

यहाँ कहते हैं, शास्त्र पढ़ने का गुण जो भिन्नवस्तु है... आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु सत् अर्थात् शाश्वत्, चिद अर्थात ज्ञान और आनन्द का सागर। अपरिमित अनन्त ज्ञान और आनन्द से भरपूर प्रभु है, वह सच्चिदानन्द है। उसे राग से भिन्न जानना, वह शास्त्र पढ़ने का गुण था, वह गुण तो किया नहीं। तूने पढ़कर क्या किया? कहते हैं। आहाहा! कठिन बातें, बापू!

(अर्थात् शास्त्र-पठन उसको शुद्धात्मज्ञान नहीं कर सकता); इसलिए उसके शास्त्रपठन के गुण का अभाव है;... आहाहा! **और इसलिए ज्ञान-श्रद्धान के अभाव के कारण वह अज्ञानी सिद्ध हुआ।** आहाहा! यह भले दया पालता हो, व्रत पालता हो, भक्ति करता हो, पूजा करता हो और शास्त्र पढ़ता हो परन्तु उस आत्मा का ज्ञान अन्दर भिन्न वस्तु है, (वह) यदि न करे तो इस पढ़ने का फल कुछ नहीं आया। आहाहा! लोग बहुत आये हैं। पूरा भर गया है। एक तो लोग कहते थे कि, जहाँ हो वहाँ पटाखे (फूटते हैं)। यह क्या कहलाता है पटाखा? फटाका धमामधम (फूटते हैं)। इसलिए (सब) छोड़कर यहाँ निवृत्ति लेनी है। गाँव में धड़ाधड़ होती है, मुम्बई में तो यह पटाखे फूटते हैं, नहीं? आहाहा!

यहाँ कहते हैं **अज्ञानी सिद्ध हुआ।** आत्मा का ज्ञान जहाँ नहीं, वह दूसरे के पठन

का चाहे जितना ज्ञान किया और चाहे जितने व्रत और तप और भक्तियाँ कीं, परन्तु जिसे आत्मज्ञान नहीं है, उन सबको संसार का परिभ्रमण मिटता नहीं है। यहाँ सूक्ष्म बात है, भगवान! अनन्त काल हुआ, भाई! अनन्त भव हुए। आहाहा! 'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान, सेये नहीं गुरु-सन्त को...' परन्तु गुरु-सन्त क्या कहते हैं, यह बात इसने मानी नहीं। 'सेये नहीं गुरु-सन्त को, छोड़ा नहीं अभिमान।' इसने अभिमान नहीं छोड़ा। हमको जानपना है, हम जानते हैं परन्तु रह गयी बात पूरी। यह यहाँ कहा।

ज्ञान-श्रद्धान के अभाव के कारण वह अज्ञानी... है। भले वह ग्यारह अंग पढ़ा हो, भले महाव्रत पालता है, वह शरीर से आजीवन ब्रह्मचर्य पालता हो तो भी अज्ञानी है। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है। इस शरीर से विषय सेवन करता है तो वह शरीर की क्रिया मैं करता हूँ, यह भी भ्रमणा है। तथा शरीर से विषय नहीं सेवन किया तो मैंने नहीं सेवन किया, शरीर की क्रिया नहीं हुई तो मैंने नहीं की, यह भी भ्रमणा है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। समझ में आया?

आहा! यहाँ तो मार्ग ऐसा है, प्रभु! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा वीतराग सर्वज्ञदेव का यह हुकम है कि जब तक तेरा आत्मज्ञान न करे, तब तक मर जाएगा, बापू! चौरासी के अवतार कर-करके अनन्त अवतार हुए, तूने तेरी दया नहीं की। पर की दया करने निकल गया परन्तु तेरी दया नहीं की। मेरा क्या होगा? यहाँ देह छूटेगी तो मैं जाऊँगा कहाँ? आत्मा कहीं नाश हो, ऐसा है? देह छूटे तो आत्मा तो जाए। भाषा ऐसी कहते हैं न? यह आत्मा गया। ऐसा कहा कि आत्मा नाश हुआ - ऐसा कहते हैं? मरते समय ऐसा कहते हैं न कि यह आत्मा गया, जीव गया। गया, ऐसा कहा न? या मर गया ऐसा कहा? कहीं गया। आहाहा! अरे! अज्ञान में रहा है, वापस अज्ञान में गया चार गति में। आहाहा! इसलिए यहाँ आचार्य महाराज का पुकार है कि—

भावार्थ : अभव्य जीव ग्यारह अंगों को पढ़े, तथापि उसे शुद्ध आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता; इसलिए उसे शास्त्रपठन ने गुण नहीं किया; और इसलिए वह अज्ञानी ही है। आहाहा!

गाथा - २७५

तस्य धर्मश्रद्धानमस्तीति चेत् -

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ।।२७५।।

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचयति स तथा पुनश्च स्पृशति।
धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तम् ।।२७५।।

अभव्यो हि नित्यकर्मफलचेतनारूपं वस्तु श्रद्धत्ते, नित्यज्ञानचेतनामात्रं न तु श्रद्धत्ते, नित्यमेव भेदविज्ञानानर्हत्वात्। ततः स कर्ममोक्षनिमित्तं ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धत्ते, भोगनिमित्तं शुभकर्म-मात्रमभूतार्थमेव श्रद्धत्ते। तत एवासौ अभूतार्थधर्मश्रद्धानप्रत्यय-नरोचनस्पर्शनैरुपरितनग्रैवेयिक-भोगमात्रमास्कन्देत्, न पुनः कदाचनापि विमुच्येत। ततोऽस्य भूतार्थधर्मश्रद्धानाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति। एवं सति तु निश्चयनयस्य व्यवहारनयप्रतिषेधो युज्यत एव ।।२७५ ।।

शिष्य पुनः पूछता है कि-अभव्य को धर्म का श्रद्धान तो होता है; फिर भी यह क्यों कहा है कि 'उसके श्रद्धान नहीं है'? इसका उत्तर कहते हैं:-

वो धर्म को श्रद्धे, प्रतीत, रुचि अरु स्पर्शन करे।
वो भोगहेतू धर्म को, नहिं कर्मक्षय के हेतु को।।२७५।।

गाथार्थ : [सः] वह (अभव्य जीव) [भोगनिमित्तं धर्म] भोग के निमित्तरूप धर्म की ही [श्रद्दधाति च] श्रद्धा करता है, [प्रत्येति च] उसी की प्रतीति करता है, [रोचयति च] उसी की रुचि करता है [तथा पुनः स्पृशति च] और उसी का स्पर्श करता है, [न तु कर्मक्षयनिमित्तम्] परन्तु कर्मक्षय के निमित्तरूप धर्म को नहीं। (अर्थात् कर्मक्षय के निमित्तरूप धर्म की न तो श्रद्धा करता है, न उसकी प्रतीति करता है, न रुचि करता है और न उसका स्पर्श करता है।)

टीका : अभव्य जीव नित्यकर्मफलचेतनारूप वस्तु की श्रद्धा करता है किन्तु

नित्यज्ञानचेतनामात्र वस्तु की श्रद्धा नहीं करता क्योंकि वह सदा (स्व-पर के) भेद-विज्ञान के अयोग्य है। इसलिए वह कर्मों से छूटने के निमित्तरूप, ज्ञानमात्र, भूतार्थ (सत्यार्थ) धर्म की श्रद्धा नहीं करता, (किन्तु) भोग के निमित्तरूप, शुभकर्ममात्र, अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है; इसीलिए वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्शन से ऊपर के ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त होता है किन्तु कभी भी कर्मों से मुक्त नहीं होता। इसलिए उसे भूतार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से (यथार्थ) श्रद्धान भी नहीं है।

ऐसा होने से निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय का निषेध योग्य ही है।

भावार्थ : अभव्य जीव के भेदज्ञान होने की योग्यता न होने से वह कर्मफलचेतना को जानता है किन्तु ज्ञानचेतना को नहीं जानता; इसलिए उसे शुद्ध आत्मिक धर्म की श्रद्धा नहीं है। वह शुभकर्म को ही धर्म समझकर उसकी श्रद्धा करता है, इसलिए उसके फलस्वरूप ग्रैवेयक तक के भोगों को प्राप्त होता है किन्तु कर्मों का क्षय नहीं होता। इस प्रकार सत्यार्थ धर्म का श्रद्धान न होने से उसके श्रद्धान ही नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार व्यवहारनय के आश्रित अभव्य जीव को ज्ञान-श्रद्धान न होने से निश्चयनय द्वारा किया जानेवाला, व्यवहार का निषेध योग्य ही है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि-यह हेतुवादरूप अनुभव प्रधान ग्रन्थ है, इसलिए इसमें अनुभव की अपेक्षा से भव्य-अभव्य का निर्णय है। अब यदि इसे अहेतुवाद आगम के साथ मिलायें तो-अभव्य को व्यवहारनय के पक्ष का सूक्ष्म, केवलीगम्य आशय रह जाता है जो कि छद्मस्थ को अनुभवगोचर नहीं भी होता, मात्र सर्वज्ञदेव जानते हैं; इस प्रकार केवल व्यवहार का पक्ष रहने से उसके सर्वथा एकांतरूप मिथ्यात्व रहता है। इस व्यवहारनय के पक्ष का आशय अभव्य के सर्वथा कभी भी मिटता ही नहीं है।

गाथा - २७५ पर प्रवचन

अब शिष्य का दूसरा प्रश्न है। प्रभु! **अभव्य को धर्म का श्रद्धान तो होता है;...** भक्ति करे, पूजा करे, दया पाले, व्रत करे, अपवास करे। उसे धर्म की श्रद्धा नहीं?

शिष्य पूछता है। **अभव्य को धर्म का श्रद्धान तो होता है; फिर भी यह क्यों कहा है कि 'उसके श्रद्धान नहीं है'** २७५।

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं।।२७५।।

वो धर्म को श्रद्धे, प्रतीत, रुचि अरु स्पर्शन करे।
वो भोगहेतू धर्म को, नहिं कर्मक्षय के हेतु को।।२७५।।

आहाहा! **टीका : अभव्य जीव नित्यकर्मफलचेतनारूप वस्तु की श्रद्धा करता है...** क्या कहते हैं? जरा सूक्ष्म बात है, प्रभु! अज्ञानी, कर्म का फल जो राग आता है, उसे मानता है, परन्तु राग के फलरहित मेरी चीज़ है, उसे वह नहीं मानता। आहाहा! ज्ञानचेतना प्रभु है। वह तो देखने-जाननेवाला, ज्ञाता है। जगत ज्ञेय है, स्वयं ज्ञाता है। जगत दृष्ट है, स्वयं दृष्टा है। ऐसा न मानकर मैं पर का कर्ता हूँ और पर से मुझे कुछ लाभ होता है, ऐसा जो **अभव्य जीव नित्यकर्मफलचेतनारूप वस्तु की श्रद्धा करता है...** वह तो दया, दान और व्रत, पूजा करके कुछ मुझे फल मिलेगा, स्वर्ग मिलेगा, पैसा धूल-बूल कहलाती है, वह मिलेगी, (ऐसी श्रद्धा करता है)। आहाहा! रामजीभाई! पटेल हैं, राजकोट के पटेल हैं, करोड़पति हैं, करोड़पति हैं। दरबार! पहचानते हो तुम? रामजीभाई किसान हैं, राजकोट के, ये करोड़पति हैं। देखो! बैठे, यह बैठे। यहाँ रहते हैं। करोड़पति हैं। बहुत जमीन, घर में बहुत जमीन है। यहाँ आवे, इसलिए कहते हैं। यहाँ रहते हैं, बहुत बार यहाँ रहते हैं। आते हैं, प्रेम है, यहाँ रह जाते हैं, बहुत बार रह जाते हैं।

यहाँ तो यह कहते हैं कि अज्ञानी अनादि से पुण्य के परिणाम करके उसके फल को चाहता है। दया, दान, व्रत, भक्ति करूँ तो उसमें से कुछ मिलेगा, ऐसे उसके फल को चाहता है परन्तु आत्मा उससे भिन्न है, उसे वह नहीं जानता। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३३८, गाथा-२७५ मंगलवार, कार्तिक शुक्ल २
दिनाङ्क - २३-१०-१९७९

समयसार, २७४ है न? २७५? २७४ हो गयी, २७५। शिष्य का प्रश्न है कि अभव्य जीव को धर्म की श्रद्धा तो होती है, तो फिर उसे समकित नहीं होता, ऐसा तुम कैसे कहते हो? श्रद्धा तो होती है तो भी उसे श्रद्धा नहीं है, ऐसा कैसे कहा? उसका उत्तर (देते हैं)।

एक तो बात यह है कि जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में जहाँ अनुजीवी गुण की व्याख्या ली है, वहाँ भव्य और अभव्य लिये हैं। क्या कहा, समझ में आया? जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, गोपालदास (बरैया कृत) उन्होंने अनुजीवी गुण की व्याख्या करते हुए ज्ञान, दर्शन, आनन्द, भव्य, अभव्य ऐसे गुण की व्याख्या गुण की की है, परन्तु वास्तव में गुण नहीं है। उसकी पर्याय की योग्यता है। पर्याय की योग्यता। यदि गुण होवे तो कायम रहे। भव्यत्व गुण यदि अनुजीवी कहो तो कायम रहे और सिद्ध में तो भव्यत्व है नहीं। न्याय समझ में आता है? पाठ तो यह है उसमें। यह प्रश्न हो गया है। ऐसा कि उसमें भव्य को अनुजीवी गुण कहा है न? और सिद्ध में तो भव्यत्व है नहीं। इसका अर्थ यह कि पर्याय में भव्य को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करने की योग्यता है, अभव्य की प्राप्त करने की योग्यता नहीं है, इतनी बात। समझ में आया? यह पर्याय की अपेक्षा से बात ली जाती है, गुण की अपेक्षा से नहीं ली जाती। गुण तो त्रिकाल रहा।

यदि भव्य जीव उसे गुणरूप से कहें तो त्रिकाल रहना चाहिए। भव्यत्व अर्थात् उसकी योग्यता है, वह प्राप्त हो गयी, पश्चात् भव्यत्व नहीं रहता, इसलिए उसकी पर्याय में उसकी योग्यता (है, उसका) यहाँ प्रश्न है। अभव्य को धर्म की श्रद्धा है, तथापि उसे श्रद्धा नहीं है—ऐसा क्यों कहते हो? तो सुन, किसकी श्रद्धा है उसे? यह पर्याय की बात चलती है। पण्डितजी! पर्याय की, गुण की नहीं।

अभव्य जीव नित्यकर्मफलचेतनारूप वस्तु की श्रद्धा करता है... देखा? यह राग और द्वेष, इनके फल को वह मानता है। आहाहा! यहाँ कर्मचेतना न लेकर कर्मफलचेतना ली है (अर्थात् कि) यह राग और द्वेष और हर्ष-शोक को अनुभव करता है, आनन्द को

नहीं, ऐसा कहना है। आहाहा! **नित्यकर्मफलचेतना...** कर्मफलचेतना अर्थात् जड़कर्म, वह नहीं। राग और द्वेष, उनका फल जो सुख-दुःख—विपाक, उसकी वह श्रद्धा करता है। कर्म की बात अभी नहीं है। उसे जो राग और द्वेष होता है—दया, दान, व्रत आदि के परिणाम का फल जावे सुख, हर्ष, उसका वह वेदन करता है, उसकी वह श्रद्धा करता है। समझ में आया? उसे भगवान आनन्दस्वरूप है, उसकी पर्याय में आनन्द का वेदन उसे नहीं होता, इसलिए उसे दुःख का वेदन कर्मफलचेतना अर्थात् दुःख का वेदन है। आहाहा! समझ में आया?

अभव्य जीव (पर्याय में) नित्यकर्मफलचेतना... ऐसी भाषा (-शब्द) तो 'नित्य' है अर्थात् उसका अर्थ कि कायम उसकी पर्याय में हर्ष-शोक के वेदन का उसे श्रद्धान है। हर्ष और शोक। दया, दान, व्रत के परिणाम होते हैं, उसमें से उसे प्रसन्नता होती है, हर्ष होता है, उस हर्ष का वेदन है। आहाहा! दया-दान के परिणाम हैं, वे कर्मचेतना हैं और उनका वेदन होना, वह कर्मफलचेतना है। कर्मफल शब्द से जड़ कर्म की यहाँ बात नहीं है। आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु की श्रद्धा की उसे खबर नहीं है। अभव्य हो या अभव्य जैसे जीव जो अनादि हैं... आहाहा! उन्हें अन्दर कर्मफलचेतना की श्रद्धा है। क्योंकि वस्तु है वह आनन्दमूर्ति प्रभु, उसकी तो उसे प्रतीति नहीं, भान नहीं, वेदन तो है ही नहीं। आहाहा! और नित्य अर्थात् कायम। कायम अर्थात् पर्याय में, हों! **कर्मफलचेतनारूप वस्तु की श्रद्धा करता है...** वह तो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम पुण्य आदि, उसमें शान्ति दिखती है, कषाय की मन्दता (होती है), उसे वह वेदता और श्रद्धा करता है। आहाहा! समझ में आया?

अभव्य तो दृष्टान्त दिया है कि अभव्य को भी ऐसी स्थिति है तो भव्य जीव भी अनादि काल से अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया, दिगम्बर जैन साधु हुआ। श्वेताम्बर, वह तो कोई जैनधर्म ही नहीं है। बात सूक्ष्म पड़ेगी, प्रभु! दुःख लगेगा। श्वेताम्बर और स्थानकवासी, वे तो जैन ही नहीं हैं, वे तो अजैन हैं। जैन में से भ्रष्ट होकर अजैन पन्थ निकला है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! क्या हो? आहाहा! अर्थात् कि वह जीव भी राग की दया, दान, व्रत आदि के परिणाम को कर्मचेतना करके और उसके फल को वेदता है। आहाहा! उसमें उसे धर्म की मान्यता है। अनादि से जीव अभव्य हो या भव्य, परन्तु जिसे आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु है,

सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूप सदा पद मेरो, उसकी इसे खबर नहीं, इसलिए पर्याय में जो राग और हर्ष-शोक होता है, उसे वह कायम अर्थात् पर्याय में हमेशा वेदता है। नित्य है अर्थात् (हमेशा वेदता है)। आहाहा!

किन्तु नित्यज्ञानचेतनामात्र वस्तु की श्रद्धा नहीं करता... आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञान चैतन्यप्रभु है, उसकी जो ज्ञानचेतना, ज्ञान में अनुभव करना, ज्ञान का अनुभव करना; वह जो हर्ष-शोक का अनुभव था, उसके बदले कहते हैं, ज्ञान का अनुभव करना, उसे है नहीं। वस्तु तो त्रिकाल ज्ञान है परन्तु उसकी नित्यज्ञानचेतना अर्थात् कायम ज्ञान का वेदन जो चाहिए, उस वस्तु की श्रद्धा नहीं करता। 'नित्य' शब्द से यह (अर्थ है)। नित्य अर्थात् कायम वस्तु की बात नहीं है। यहाँ पर्याय की बात है। धीरे से समझना, बापू! यह तो वीतराग मार्ग है, भाई! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव के कथन अलौकिक हैं। आहाहा!

अभव्य जीव का तो दृष्टान्त है, परन्तु अभव्य की भाँति अनादि से अज्ञानी यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम का फल जो सुख अर्थात् इसका माना हुआ सुख, उस सुख अर्थात् दुःख को वह वेदता है। आहाहा! **नित्यज्ञानचेतनामात्र वस्तु...** ज्ञानस्वरूपी भगवान चैतन्यमूर्ति का पर्याय में ज्ञान का चेतना, अनुभव करना, वेदना, वह कायम जो इसे होना चाहिए, उसे यह श्रद्धा नहीं करता, उसे यह नहीं मानता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा!

व्रत करे, अपवास करे, तपस्यायें करे, महीने-महीने के, छह-छह महीने के अपवास करे और निर्जल उपवास आठ-आठ दिन निकाल डाले, महीना-महीना निकाल डाले, पानी बिना के अपवास (करे) परन्तु वह सब लंघन है। वह सब कर्मफलचेतना है। आहाहा! वहाँ भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका वेदन जो ज्ञान और आनन्द का (वेदन) कायम रहना चाहिए, उसे यह मानता नहीं है। पर्याय में आया नहीं, इसलिए मानता नहीं। समझ में आया? यह तो सिद्धान्त है, उसमें भी कुन्दकुन्दाचार्य के सिद्धान्त। आहाहा! यह पुस्तक पढ़ी है पहले कहीं?

मुमुक्षु : अभी ही पढ़ी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पढ़ने के लिये दी है। कैलाशचन्दजी ने तो इसके लिए ऐसा कहा

कि उन्होंने समन्वय स्याद्वाद किया है। इस पुस्तक में। आहाहा! उन्होंने तो ऐसा कहा, राग की क्रिया से, सराग समकित से निश्चय समकित होगा, ऐसा लिखा है। यहाँ कहते हैं कि यह सरागपना जो है, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, नामस्मरण, यह आनुपूर्वी गिनना, वह सब विकल्प है / राग है। यह राग, वह कर्मचेतना है; कर्म अर्थात् कार्य; कर्म अर्थात् जड़, ऐसा नहीं। यह विकार के कार्य की चेतना है, विकाररूपी कार्य की चेतना है। आहाहा!

यद्यपि कि यह ज्ञानचेतना जो कही है, वह भी एक शुद्धोपयोगरूपी कर्मचेतना है। क्या कहा यह? कि यह तो नित्य ज्ञानचेतना वस्तु को नहीं (श्रद्धा करता) अर्थात् क्या? कि ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा, उसका जो उपयोग शुद्ध होना और शुद्धोपयोगरूपी जो कार्य (प्रगटे), उसे कर्मचेतना कहकर, उसे वह अनुभव नहीं करता, (ऐसा कहा)। शुद्धोपयोग प्रवचनसार में आता है। आता है न? है न, खबर है। बहुत बार (आ गया), यह तो बहुत समय से चलता है, यह तो ४५ वर्ष से चलता है, इस जंगल में। आहाहा! सूक्ष्म बात पड़े, प्रभु! अनजाने व्यक्ति को तो ऐसा लगे यह तो कैसा मार्ग यह? भाई! यह मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि अभव्य अथवा अज्ञानी जो अनादि काल के जीव, वे नित्यज्ञानचेतना जो वस्तु, उसका जो शुद्धोपयोग—ऐसी जो कर्मचेतना, उसका फल जो आनन्द, उसे वह नहीं जानता, श्रद्धा नहीं करता। आहाहा!

मुमुक्षु : एक शब्द में ज्ञानी और अज्ञानी की दोनों की बात ले ली।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों बात है। यह नित्यज्ञानचेतना तो वस्तु कही। जो आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञान का पिण्ड प्रभु है... आहाहा! कल आया नहीं था? भर और भर, भर— जैसे अपने गाड़ा में भर कहते हैं न? गाड़ा, गाड़ा भरे। माल भर भर भरा। वैसे यह भगवान आनन्द से भर-भरपूर है। अरे! परन्तु कभी सुना नहीं, कभी देखा नहीं। आहाहा! भर। अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का वह भर-भरपूर भगवान है। उसकी जब दृष्टि हो, तब उसे नित्यज्ञानचेतना अर्थात् कायम आनन्द का वेदन उसे होता है। उसे वह श्रद्धता नहीं अर्थात् कि उसे वह है नहीं। पर्याय में आवे तो श्रद्धा करे न? द्रव्य तो द्रव्य है, त्रिकाली है। क्या कहा, समझ में आया? पर्याय में आनन्द आवे तो 'यह आनन्दस्वरूप है', ऐसा उसका

चेतना का वेदन हो। पर्याय में वेदन है न? वेदन ध्रुव का कुछ नहीं, ध्रुव का वेदन नहीं। वेदन है, वह तो पर्याय का ही है। आहाहा!

इसीलिए अलिंगग्रहण का बीसवाँ बोल ऐसा लिया है। १७२ गाथा, प्रवचनसार। भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञायक चिदानन्द द्रव्यस्वभाव जो है, उसे वह स्पर्शता नहीं, उसे वह छूता भी नहीं, वह तो निर्मल शुद्ध आनन्द की पर्याय को वेदता है। वह आत्मा शुद्ध आनन्द की पर्यायस्वरूप है। बीसवाँ बोल है। द्रव्यस्वरूप नहीं। द्रव्य है, वह वेदन में नहीं आता। सूक्ष्म बात है, भाई! वस्तु जो है ज्ञायक चिदानन्द सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा, जो सर्वज्ञ जिनेश्वर ने देखा वह, हों! अज्ञानी जो आत्मा... आत्मा करे, उस आत्मा की खबर उन लोगों को नहीं है। वेदान्तवाले जो आत्मा कहे, सर्व व्यापक कहे, सब बात झूठ है। वह तो सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिन्होंने आत्मा देखा, (वह आत्मा)।

यह तो एक गुजराती में स्तवन में आता है, 'प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल, प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल, निज सत्ता से शुद्ध हमको पेखता हो लाल।' प्रभु! हमारी सत्ता निज शुद्ध चैतन्य है, उसे तुम आत्मा देखते हो। पुण्य और पाप, शरीर-फरीर सब पर है और उसे तुम आत्मा देखते नहीं। हमारे आत्मा को भी ऐसा तुम नहीं देखते। आहाहा! समझ में आया? 'निज सत्ता से शुद्ध' पवित्र परमात्मा ज्ञानमयचेतना, कल आया था न? ज्ञानमय शुद्ध आत्मा। वह शुद्ध पवित्र प्रभु, उसे तुम आत्मारूप से, हे नाथ! परमात्मा त्रिलोकनाथ को कहते हैं, प्रभु! आप देखते हो। जैसे आप देखो, वैसा हम देखें, तब हमें समकित होगा। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसा मार्ग सूक्ष्म पड़े। बेचारा क्रियाकाण्ड की कुथली में पड़े, पूरे दिन सामायिक करो और प्रौषध करो और प्रतिक्रमण करो। अज्ञान में सामायिक कैसी और प्रौषध कैसा? सब मिथ्यात्व है वहाँ। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **नित्यज्ञानचेतना**... वस्तु तो नित्य है परन्तु उसके वेदन में जो ज्ञानमात्र वस्तु की श्रद्धा होना चाहिए, आनन्द का वेदन (होना चाहिए), उसकी उसे श्रद्धा (नहीं है)। श्रद्धा नहीं करता अर्थात् कि उसकी पर्याय में वह नहीं आता तो श्रद्धा कहाँ से करे? आहाहा! श्रद्धा करने में या ज्ञान की पर्याय में द्रव्य आता नहीं परन्तु द्रव्य का ज्ञान और द्रव्य की जितनी सामर्थ्य है, उतनी ज्ञान में और श्रद्धा में आती है, वह पर्याय में आती है, उसकी सामर्थ्य जितनी है, वह पर्याय में आती है परन्तु वह द्रव्य, पर्याय में नहीं आता।

समझ में आया ? द्रव्य, पर्याय में नहीं आता। इसलिए वहाँ कहा, प्रभु! आपने तो यह कहा है कि आत्मा द्रव्यस्वरूप जो त्रिकाल है, उसे अनुभव के वेदन में वह छूता नहीं। आहाहा! आत्मा की अन्दर निर्मल आनन्द पर्याय, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आनन्द की पर्याय को वेदता, वह द्रव्य को छूता नहीं, उस द्रव्य को आलिंगन करता नहीं। 'आलिंगन' शब्द है, वहाँ बीसवें बोल में 'आलिंगन' (शब्द है)। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

भगवानस्वरूप आत्मा, नित्य प्रभु सच्चिदानन्द आत्मा का जिसे ज्ञान और श्रद्धा और आनन्द की दशा हुई है, उसे वेदता है ज्ञान और आनन्द की पर्याय को, वह द्रव्य को नहीं वेदता, द्रव्य को कोई वेद नहीं सकता। अर्थात् कि यहाँ कहते हैं कि जिसे वेदन में आनन्द और ज्ञान की चेतना आयी नहीं, इसलिए उसे श्रद्धा नहीं करता। उसे खबर नहीं कि यह वह कौन चीज़ है। पण्डितजी! आहाहा! वह तो दया, दान,व्रत, भक्ति और पूजा के भाव—राग, उस कर्मचेतना और कर्मफलचेतना अर्थात् उसका दुःख, उसका फल दुःख (उसे वेदन करता है और श्रद्धा करता है)। भले स्वर्ग में हो तो सुख, वह भी वह दुःख। वह सुख नहीं दुःख है। यह करोड़ोंपति, अरबोंपति कहलाते हैं, ये सब बेचारे दुःखी प्राणी हैं, भिखारी हैं, भिखारी। आहाहा! माँगनेवाले हैं, यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... पैसा लाओ, इज्जत लाओ। बड़े भिखारी, मिथ्यादृष्टि बड़े भिखारी! यहाँ कहाँ सन्त मुनि को पड़ी है कि जगत सुगठित रहेगा या नहीं ? वे तो नागा बादशाह से आघा है। वरांका कहा है।

मुमुक्षु : उन्हें ऐसा रुचे अवश्य ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वरांका कहा है न, भिखारी कहा है। कहा नहीं ? सिद्धान्त में वरांका शब्द है। भिखारी! अन्तर लक्ष्मी आनन्द और ज्ञान की पड़ी है, उसके सामने तो देखता नहीं और यह पुण्य और पाप, राग और उसके फलरूप से धूल में तेरी दृष्टि पड़ी है। आहाहा! यह करोड़ोंपति हों या अरबोंपति हों, वे सब भिखारी हैं, बेचारे दुःखी हैं। इस दुःख के वेदन में पड़े हैं। उन्हें नित्यकर्मचेतना का (ज्ञानचेतना का) वेदन नहीं है। आहाहा! उन्हें तो इस राग का, शुभ-अशुभराग, उसके फलरूप से हर्ष और शोक विकार का उन्हें वेदन है, वह कर्मफलचेतना का वेदन है। कर्म अर्थात् जड़ कर्मरूप की यहाँ बात

नहीं है। पुण्य और पापरूपी, भावरूपी कर्म अर्थात् कार्य, पुण्य और पापरूपी / कर्मरूपी कार्य, उस कार्य का फल वेदना, उसे कर्मफलचेतना कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! यह संक्षिप्त शब्द हैं। कल तो कहा था न? भाई आये थे न? नहीं तो विस्तरित करना था परन्तु वे दरबार आये, इसलिए फिर ऐसी बात समझे नहीं न, यह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना और निजकर्मचेतना और कर्मफलचेतना... क्या है यह वह? अभी तो सम्प्रदाय में भी ठिकाना नहीं तो बेचारे अन्यमति की बात क्या कहना? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **अभव्य जीव नित्यकर्मफलचेतना...** कायम उसे विकार के फल का ही वेदन है। उसकी ही उसे श्रद्धा है, वेदन में आता है, वह मैं हूँ—ऐसी श्रद्धा है। समझ में आया? आहाहा! एक महिला थी। बहुत बार कहा था। एक लड़की थी बेचारी, दो वर्ष की विवाहित। जवान महिला थी 'लाठी' (में)। उसके पति ने दूसरी बार विवाह किया था। पहली पत्नी मर गयी थी और विवाह किया और दो वर्ष विवाह (को हुए)। इसमें उसे शीतला निकली। दाने (पड़े)। दाने-दाने में लट पड़ी, ईयल। कीड़े, कीड़े। अठारह वर्ष की उम्र, जवान शरीर, दो वर्ष का विवाह। (ऐसे) करवट फिरावे तो हजारों कीड़े (ऐसे गिरें), ऐसे फिरावे तो हजारों कीड़े (ऐसे गिरें)। यह कर्मफलचेतना। वहाँ विकार का वेदन है।

वह ऐसा कहती, माँ! मैंने ऐसे पाप इस भव में किये नहीं। यह क्या आया यह? मुझसे करवट बदली नहीं जाती। रजाई! रजाई में भी कीड़े। यह कीड़े बारीक-बारीक हजारों। माँ! मैंने यह पाप इस भव में किये नहीं। बापू! यह पूर्व के कर्म का उदय है, परन्तु तेरा वेदन वर्तमान में राग और विकार के ऊपर है, वह वेदन तेरा है। शरीर का वेदन नहीं, शरीर का वेदन (नहीं)। शरीर आत्मा की पर्याय में है नहीं तो वेदन कहाँ से आवे? उसकी पर्याय में होवे, उसका वेदन हो। शरीर, कर्म, रोग, देह, वह कहीं आत्मा की पर्याय में नहीं आते। आत्मा की पर्याय में तो आहाहा! मुझे यह हुआ, मुझे यह हुआ, अरेरे! मैं दुःखी हूँ, ऐसी जो कल्पना का विकारी भाव इसकी पर्याय में आया, उसे यह श्रद्धा करता और मानता है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो दुःख का दृष्टान्त दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दु:ख का, अब सामने सुख का। यह दु:ख का नहीं, कहते हैं।

मुमुक्षु : खम्मा, खम्मा होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी खम्मा नहीं। आहाहा! यह बाहर से पंखा लगे और हीरा के पलंग में सोता हो और स्त्री ऐसे खम्मा-खम्मा करती हो। आहाहा! वह क्या धूल है? आहाहा! 'सगी नारी रे... तेरी कामिनी टग टग जुए, आ रे कायामां हवे कांइ नथी अेम घ्रुसके घ्रुसके रोवे।' क्या कहा? खम्मा-खम्मा करते हैं न?

ऐसा बीस वर्ष का जवान, दो वर्ष का विवाहित मरता हो। आहाहा! अभी फिर ऐसा रिवाज है न थोड़ा सा, उस स्त्री को अन्त में उसके पास ले जाते हैं, अन्त में ले जाए, ऐसा जरा रिवाज है। हमारा भाई था, उसको भी ऐसा किया था। मुझसे छोटा था न? उसका विवाह हुआ था। छोटी उम्र में—बीस वर्ष की उम्र में। कन्या बहुत रूपवान थी, बहुत रूपवान। गारियाधार की। परन्तु अन्त में कौन जाने शरीर ऐसा निरोगी था, बहुत निरोगी। मेरी दीक्षा के बाद ७१ में विवाह था, ७३ में मर गया, गुजर गया। परन्तु इतनी पीड़ा। अन्त में भाई खुशालभाई कहे, अरे रे! मैंने 'कानजी' को आज्ञा दी और यह भाई चला, यह तो। लोग कहने लगे कि अब स्त्री को हम अन्तिम (बार ले जाते हैं)। स्त्री उसके पास गयी, उसने ऐसे हाथ रखा, तुरन्त मर गया! स्त्री भी बाद में छह महीने पश्चात् झूरकर मर गयी। यह हमारे घर में ही बना हुआ है यह तो। आहाहा! यह तुझे खबर नहीं। तेरा तो ७४ में जन्म, यह ७३ की बात है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! यह वेदन शरीर का नहीं। समझ में आया? अन्दर राग और द्वेष के विकारी भाव (होते हैं)... आहाहा! उनका जो सुख-दु:ख की कल्पना का दु:ख, उस कर्मफल का वेदन है। कर्म शब्द से जड़ नहीं। विकारी परिणाम, वह कर्म अर्थात् कार्य, उसका यह फल दु:ख है। वह इस पर्याय की बात है, कर्म की-जड़ की बात नहीं। समझ में आया?

यह अज्ञानी अभव्य जीव... यह तो अभव्य का दृष्टान्त है, हों! भव्य ने भी अनन्त बार ऐसा किया है, उसे स्वयं को भान नहीं है। आहाहा! **नित्यकर्मफलचेतनारूप वस्तु**

की श्रद्धा करता है... क्योंकि वह उसकी पर्याय में भासित होता है। उसकी पर्याय में दु:ख और राग और हर्ष-शोक भासित होते हैं, भासित होते हैं, उसकी श्रद्धा करता है।

किन्तु नित्यज्ञानचेतनामात्र वस्तु की श्रद्धा नहीं करता क्योंकि वह (अभव्य) सदा (स्व-पर के) भेद-विज्ञान के अयोग्य है। उसकी पर्याय की बात है, हों! समझ में आया? यह स्पष्टीकरण तत्त्वार्थसार में लिया है। तत्त्वार्थसार है न? अमृतचन्द्राचार्य का। उसमें कैसे... ? खूबचन्दजी, खूबचन्दजी ने अर्थ किया है। किसका भाई? खूबचन्दजी। बंसीधरजी के भाई खूबचन्दजी यहाँ आये थे। उन्होंने अर्थ किया है। उसमें उन्होंने यह अर्थ किया है, उसमें जरा आया है। तत्त्वार्थसार में यह जरा उन्होंने रखा है कि यह अन्दर वेदन है, वह पर्याय है, वह कहीं त्रिकाल का (वेदन) नहीं है। समझ में आया? तत्त्वार्थसार। भाषा कुछ ली है।

सदा (स्व-पर के) भेद-विज्ञान के अयोग्य है। आहाहा! अभव्य का तो दृष्टान्त दिया है। अभव्य जीव है, घोरडु मूंग जैसा होता है। घोरडु मूंग और मोठ जैसा होता है, उसे लाख पानी में बाफो पर बफती नहीं है। चूरा होता है, उसका पापड़ और बड़ी होती है परन्तु वह बफता नहीं है, ऐसे जीव जगत में है। आहाहा! कि यह राग और द्वेष की क्रिया करके चूरा हो... आहाहा! परन्तु वह बफता नहीं है, यह आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका अनुभव उसे दृष्टि में नहीं आता। शान्तिभाई! यह सब ऐसा काम है। आहाहा!

सदा (स्व-पर के) भेद-विज्ञान के अयोग्य है। अभव्य। यह तो अभव्य का दृष्टान्त है, हों! क्योंकि अभव्य भी इतना करता है। व्रत और तप और भक्ति कितनी करे! पूजा, दान, दया, व्रत, छह-छह महीने के उपवास करे, तो भी वह सब राग की क्रिया के वेदन को वेदता है। उसे आत्मा का ज्ञानानन्दस्वरूप है, ऐसा राग से भिन्न करके भेदज्ञान का वेदन उसे है नहीं। आहाहा! कठिन काम है। अब ऐसा उपदेश। परमात्मा तो ऐसा कहते हैं, बापू! आहाहा!

सदा (स्व-पर के) भेद-विज्ञान के अयोग्य है। सदा ही कहा न? पर्याय में, हों! वह जीव सदा राग के विकल्प से भिन्न पड़ने के योग्य ही नहीं है। जैसे घोरडु मूंग सीजने के योग्य नहीं है, सीजता नहीं है, चढ़ता नहीं है। इसी प्रकार वे जीव ऐसे हैं और

ऐसे जीव की जाति भव्य भी कितने ही ऐसे हैं कि अनादि से निगोद में पड़े हैं। आहाहा! अभी त्रस भी नहीं हुए। वे सब कर्मफल को वेदते हैं। भेदज्ञान का अभाव है।

संवर (अधिकार में) कहा है न? **'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन'** जो अभी तक मुक्ति को प्राप्त हुए, वे **'भेदविज्ञानतः सिद्धाः'** यह दया, दान और व्रत के परिणाम से भिन्न पड़ा हुआ भगवान, उसकी ज्ञान और अनुभव से सिद्ध को प्राप्त हुए हैं। **'अस्यैवाभावतो बद्धा'** कर्म के कारण बँधे हैं, ऐसा नहीं कहा। विकार के, भेदज्ञान के अभाव के कारण बँधे हुए हैं। आहाहा! संवर (अधिकार में) यह श्लोक है। **'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन'** जितने सिद्ध हुए वे **'अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन'** आहाहा! अभी तक जितने परमात्मा हुए—णमो सिद्धाणं—सिद्ध, वे सब दया, दान, व्रत, भक्ति के राग से भिन्न पड़े हुए भेदज्ञान से सिद्ध हुए हैं। आहाहा! समझ में आया? और जो बँधे हुए हैं, वे भेदविज्ञान के अभाव के कारण बँधे हुए हैं। कर्म के जोर के कारण बँधे हैं, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! राग के भेदज्ञान के अभाव के कारण बँधे हुए हैं। आहाहा! फिर तो यहाँ कहा कि भेदज्ञान तब तक भाना... गाथा है न बाद में? जब तक केवलज्ञान हो, तब तक भाना। पहले राग से भिन्न करके अनुभव करना और फिर स्थिरता करते-करते राग से भिन्न पड़कर, स्थिरता करते हुए पूर्ण स्थिरता हो, तब तक भेदज्ञान को भाना। ज्ञान, ज्ञान में प्रतिष्ठित—ज्ञान में स्थिर हो। आहाहा!

इसलिए वह (अभव्य जीव) कर्मों से छूटने के निमित्तरूप, ज्ञानमात्र, भूतार्थ (सत्यार्थ) धर्म की श्रद्धा नहीं करता,... भाषा देखो! भूतार्थ (अर्थात्) त्रिकाल भूतार्थ है, वह अभी नहीं लेना। यहाँ तो भूतार्थ (सत्यार्थ) वर्तमान धर्म है, वह लेना है। ग्यारहवीं गाथा में जो भूतार्थ लिया है, वह तो त्रिकाल लिया है। **'भूदत्थमस्सिदो'** त्रिकाली ज्ञायक भगवान का आश्रय लेकर होता है। यहाँ कहते हैं, भेदविज्ञान के **कर्मों से छूटने के निमित्तरूप, ज्ञानमात्र, भूतार्थ (सत्यार्थ) धर्म**... ज्ञाता-दृष्टा होना, वीतरागी पर्याय प्रगट करना... आहाहा! ऐसे **(सत्यार्थ) धर्म की श्रद्धा नहीं करता,...** आहाहा! ज्ञान की पर्याय, श्रद्धा की पर्याय, शान्ति की पर्याय, वीतरागी पर्याय है नहीं; इसलिए उसकी श्रद्धा नहीं करता। आहाहा! एक व्यक्ति कवि कहता, 'देखे वैसा भासे' नहीं कुछ कहा था? 'भाणो भाळे अेवुं भाखे'। एक कवि था (वह कहता), 'भाणो भाळे अेवुं भाखे', 'भाणो

भाळे अेवुं भाखे'। कवि था। जैसा देखते हैं वैसा कहते हैं। 'भाणो भाळे अेवुं भाखे' एक भाषा है, कवि की है। उसी प्रकार यहाँ तो परमात्मा ने जैसा जाना, वैसा कहा है। आहाहा!

कहते हैं, **ज्ञानमात्र,...** धर्म तो आत्मा की ज्ञानक्रिया। यह दया, दान, व्रत, भक्ति की क्रिया नहीं। यह ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु की ज्ञान में एकाग्रता होना। आहाहा! संवर में लिया है न? जाननक्रिया आधार है, आत्मा आधेय है। संवर अधिकार। क्या कहा यह? राग की क्रिया आधार है और उससे आत्मा ज्ञात होता है, ऐसा है नहीं। परन्तु 'उपयोग में उपयोग है' ऐसा पाठ है। उपयोग में अर्थात् क्या? कि जाननक्रिया—ज्ञान की, ज्ञान की जाननक्रिया, श्रद्धा क्रिया, शान्ति क्रिया, वह ज्ञान की क्रिया। वह जाननमात्र, वह आधार है और उसमें आत्मा ज्ञात होता है। जाननक्रिया, वह आधार है और आत्मा उसमें ज्ञात होता है, इसलिए आधेय है। आत्मा आधेय है। पर्याय से ज्ञात होता है न? जिससे ज्ञात हुआ, वह आधार। आहाहा! वस्तु ऐसी है, भाई! जाननक्रिया। संवर अधिकार लिया है।

राग और आत्मा को आधार-आधेय सम्बन्ध है ही नहीं। राग आधार और आत्मा आधेय, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह दया, दान और व्रत का भाग राग, वह आधार और आत्मा उसके आधार से रहा, ऐसा नहीं है। आधार-आधेय सम्बन्ध उसके साथ है ही नहीं। आहाहा! सम्बन्ध होवे तो उसे जाननक्रिया... त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव पूर्ण आनन्द प्रभु, उसका ज्ञान, प्रतीति और रमणता—ऐसी ज्ञान की क्रिया; ज्ञान की क्रिया अर्थात् आत्मा की क्रिया, अनन्त गुण की परिणति की क्रिया, ऐसा। ज्ञानक्रिया शब्द से? ज्ञान अर्थात् आत्मा। पूरा आत्मा, उसकी क्रिया अर्थात् अनन्त गुण की परिणतिरूपी क्रिया। वह आधार है और आत्मा आधेय है—उससे आत्मा ज्ञात होता है। आहाहा! राग आधार है और राग से आत्मा ज्ञात होता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! उसमें उन्होंने डाला है। सराग को। अविरुद्ध दर्शन में, अविरुद्ध निर्णय में डाला है। राग ऐसा है और वीतरागभाव से होता है परन्तु तो भी राग अन्दर उन्नति शोधने में साधन है। पढ़ा है न भाई ने? अरे! प्रभु! क्या करता है? आहाहा! जगत को सत्य मिलता नहीं और ऐसे का ऐसा चौरासी के अवतार में भटका करता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **(सत्यार्थ) धर्म की श्रद्धा नहीं करता,...** सत्यार्थ धर्म, हों! सत्यार्थ वस्तु यहाँ नहीं, पर्याय है। आहाहा! जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जो त्रिकाली

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से होता है, ऐसा सत्यार्थ धर्म है, उसकी वह श्रद्धा नहीं करता, क्योंकि उसे वह प्रगट नहीं होते। उसे ख्याल में आये नहीं, इसलिए उनकी श्रद्धा नहीं करता। आहाहा! **ज्ञानमात्र,... कर्मों से छूटने के निमित्तरूप, ज्ञानमात्र,...** क्या कहा? ज्ञानमात्र। मदद में जरा भी राग का कण भी नहीं। दया, दान, व्रत, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि राग (की) बिल्कुल मदद नहीं। ज्ञानमात्र। अकेला स्वरूप चिदानन्द प्रभु ज्ञान-आनन्द। 'ज्ञानमात्र' शब्द से अनन्त गुणमात्र। ऐसी जो परिणति, वह सत्यार्थ धर्म, वह सच्चा धर्म है। भगवान ने उसे धर्म कहा है। आहाहा!

मुमुक्षु : दूसरे धर्म खोटे...

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे धर्म, धर्म ही नहीं; फिर प्रश्न कहाँ? ऐसा है। दरबार! आहाहा!

(सत्यार्थ) धर्म की श्रद्धा नहीं करता,... आहाहा! तब अब किसकी श्रद्धा करता है? **भोग के निमित्तरूप,...** जिसमें भोग मिले, वह स्वर्ग के या नरक के आदि। आहाहा! **भोग के निमित्तरूप, शुभकर्ममात्र,...** शुभकर्म अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यह शुभकर्म है। शुभकर्म अर्थात् शुभकार्य है। जिसे लोग सदाचरण कहते हैं, वह असदाचरण है। आहाहा! सदाचरण तो ज्ञानमात्र वस्तु है, उसकी एकाग्रता (होना), श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, वह सदाचरण है। और दया, दान, व्रत, भक्ति आदि, वह असदाचरण है। है?

वह **शुभकर्ममात्र, अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है;...** यह पर्याय है। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति करो, बस! उनसे कल्याण (होगा)। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अनादि से इस प्रकार वहाँ रुक गये हैं। उनके गुरु भी यही कहते हैं और सुननेवाले भी उसे हाँ-हाँ करते हैं। समझ में आया? आहाहा! है या नहीं इसमें? आहाहा!

कर्मों से छूटने के निमित्तरूप,... निमित्तरूप न? कर्म का छूटना तो उसके कारण से (होता है)। कर्म छूटे तो। परन्तु उसका निमित्तरूप यहाँ ज्ञानमात्र भूतार्थ धर्म। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो आत्मा के आश्रय से होता है, वह कर्म छूटने में निमित्त है। कर्म तो उसके कारण से छूटते हैं, उपादान उसके कारण से, परन्तु उसमें यह निमित्त है। निमित्त है, इसलिए छूटते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? अरे! ऐसी बातें, लो!

कर्मों से छूटने के निमित्तरूप, ज्ञानमात्र,... जानना, देखना, आनन्द की परिणति होना, शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... उपशमरस, अकषायस्वभाव ज्ञानमात्र प्रगट होना, उस **(सत्यार्थ) धर्म की श्रद्धा नहीं करता, (किन्तु) भोग के निमित्तरूप,...** यह निमित्तरूप कहा। **शुभकर्ममात्र,...** शुभकर्म बँधता है, उसमें यह परिणाम तो निमित्त है। **शुभकर्ममात्र,...** है? **भोग के निमित्तरूप, शुभकर्म...** अर्थात् ऐसा कहना है कि एक तो शुभकर्म बँधता है, उसमें शुभ परिणाम निमित्त है और यह जो बँधा है, वह प्राप्त भोग सामग्री का निमित्त है। है उपादान सबके स्वतन्त्र। आहाहा! समझ में आया? ऐसी गाथायें हैं। आहाहा!

अभी तो दुनिया में एक ही चला है, व्रत करो, अपवास करो, और यह करो और होली करो और ओली करो न... यह ओली... ओली करते हैं न कुछ? चैत्र महीने में और आसोज महीने में। वह सब राग की क्रिया शुभकर्म है। वह शुभकर्म भोग का निमित्त है; अनुभव का निमित्त नहीं। आहाहा! अथवा कर्म के छूटने का निमित्त नहीं। यह दया, दान, व्रत के पुण्य परिणाम तो **भोग के निमित्तरूप, शुभकर्ममात्र, अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है;...** यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव असत्यार्थ धर्म है, झूठा धर्म है। है न?

मुमुक्षु : बहुत वजन दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वजन? अभूतार्थ धर्म है, झूठा धर्म है, अज्ञानी की मानी हुई कल्पना का धर्म है। आहाहा! असत्यार्थ... अभूतार्थ कहो या असत्यार्थ कहो, झूठे धर्म की श्रद्धा करता है। जो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, वह झूठा धर्म है, वह धर्म नहीं। आहाहा! गजब काम। ऐसी बात सुनना मुश्किल पड़ती है, उसे श्रद्धा में कब बैठे? बाहर सम्प्रदाय में तो पूरे दिन एक ही चलता है—व्रत करो और अपवास करो, सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, सूर्यास्त से पूर्व भोजन करो। करो, करो और करो। करो, करो और मरो। राग को करना, वहाँ आत्मा का मरना है। आहाहा!

भोग का निमित्त। आहाहा! भविष्य में जो अनुकूल भोग मिले, उनका निमित्त शुभकर्म, वर्तमान शुभ परिणाम। शुभकर्म अर्थात् शुभ परिणाममात्र अभूतार्थ धर्म। वर्तमान परिणाम की बात है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वे वर्तमान अभूतार्थ **शुभकर्ममात्र,**

अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है; इसीलिए वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा,... उसे झूठे **धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्शन से...** आहाहा! ऐसा करे बेचारा, स्त्री-पुत्र छोड़े, कुटुम्ब छोड़े, दुकान छोड़े, धन्धा छोड़े... (उसे अधर्म कहना)।

मुमुक्षु : यहाँ तो ऐसा फरमाओ कि लड्डू खाओ और मोक्ष में जाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : लड्डू खाओ और मोक्ष में जाओ, खाने का ही यहाँ नहीं है। यहाँ तो आत्मा का आनन्द खाओ और मोक्ष में जाओ, ऐसा है। आहाहा! आत्मा के आनन्द का अनुभव... कल आया था न? धर्मी जीव लीलामात्र में कर्म खपाता है। आनन्द में रहते-रहते कर्म खिर जाते हैं अपने आप। आहाहा! कोई कष्ट-बष्ट नहीं, यह परीषह सहन करना और यह कष्ट, काय-क्लेश करना, वह तो सब दुःख है, वह तो विकार है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! दुनिया में क्या चलता है, सब खबर है या नहीं? आहाहा! वीतरागमार्ग कोई अलग प्रकार का है। परमेश्वर त्रिलोकनाथ के यह कथन हैं।

असत्यार्थ धर्म की श्रद्धा करता है। असत्यार्थ धर्म को 'ही'। एकान्त है न? वह राग की क्रिया को ही धर्म श्रद्धा करता है। जो राग है, वह भोग का निमित्त है क्योंकि राग से पुण्य बँधेगा और पुण्य से बाहर भोग मिलेंगे। आहाहा! **इसीलिए वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा,...** झूठे धर्म की श्रद्धा। आहाहा! पानी उतर जाए, ऐसा है। वे कहें, आठ-आठ चारों आहार के त्यागरूप अपवास करते हैं, आठ दिन के अपवास। किसे अपवास कहना? अप-वास है वह तो, बुरा वास है। आत्मा आनन्दस्वरूप ज्ञाता-दृष्टा के उप में—समीप में गये बिना बसना नहीं होता। इसका नाम उपवास है। आनन्दमूर्ति प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द के समीप में उप अर्थात् समीप में वास अर्थात् बसना, उसका नाम उपवास है। यह तो सब लंघन है। अरेरे! ऐसी बातें कठिन पड़े।

मुमुक्षु : शरीर न गिरे, तब तक अपवास करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : करते हैं न। गिर जाता है। छोटी-छोटी लड़किया आठ-आठ अपवास करे और फिर मर जाती है। बहुत चारों आहार त्याग करे और फिर सहन नहीं होता, (इसलिए) देह छूट जाती है। सुना है, अखबार में आता है। उसमें क्या हुआ? सब अज्ञान है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि भोग के निमित्तरूप ऐसे जो शुभपरिणाम... आहाहा! शुभपरिणाम से कर्म बँधेगा। वह कर्म बँधेगा कर्म के कारण से और उसके कारण से संयोग मिलेंगे। वह निमित्त कर्म, उस भोग का निमित्त है। आहाहा! संसार के शारीरिक और मानसिक के अनुकूल संयोग उसे मिलते हैं। आहाहा! उसका वह निमित्त है। उसकी श्रद्धा की, उसकी प्रतीति की, उसकी रुचि और स्पर्शन (करता है)। वह राग को छूता है—स्पर्शता है; भगवान को स्पर्शता नहीं। आहाहा! स्पर्शन आता है। श्रद्धना, रचना, स्पर्श करना। आत्मा को स्पर्श करना। स्पर्श करना है तो पर्याय, वह कहीं एकाकार नहीं होती। पर्याय उस ओर ढल गयी है, वह स्पर्शन है। क्या कहा, समझ में आया? एकाकार नहीं होती। पर्याय, पर्यायरूप से रहकर द्रव्य का ज्ञान करती है, तथापि शास्त्र में ऐसा आता है, द्रव्य को स्पर्श करती है, ऐसा आता है। यहाँ राग को स्पर्श करता है, कहा।

मुमक्षु : चार शब्द रखे हैं उनका क्या... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न। **श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्शन से ऊपर के ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त होता है...**

मुमुक्षु : एकार्थ है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : एकार्थ ही है।

मुमुक्षु : चार शब्द रखे हैं तो वाच्य अलग हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, श्रद्धा, उसकी प्रतीति, उसकी रुचि, उसे स्पर्शना।

मुमुक्षु : वाच्य में कुछ अन्तर है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई अन्तर नहीं। आहाहा! **असत्यार्थ धर्म की श्रद्धा, झूठे धर्म की मान्यता, उसकी प्रतीति, उसकी रुचि, उसका पोषाण, उसे स्पर्श करना। ऊपर के ग्रैवेयक तक के...** नौवें ग्रैवेयक। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै (निज) आतमज्ञान बिना लेश सुख न पायो।' ऐसा मुनिपना भी अनन्त बार लिया। वह सब राग की, चेतना की क्रियाएँ की। आहाहा! **ऊपर के ग्रैवेयक तक के...** ऊपर का ग्रैवेयक अर्थात् नौवाँ ग्रैवेयक, ऐसा। नौ ग्रैवेयक है न ? भगवान ने खड़े पुरुष के आकार इस लोक को भगवान ने देखा है। उसमें जहाँ ग्रीवा होती है न ? ग्रीवा, वहाँ ग्रैवेयक है, ग्रैवेयक। नौ

पासडा है। वहाँ **तक के भोगमात्र को प्राप्त होता है किन्तु कभी भी कर्मों से मुक्त नहीं होता।** आहाहा! ऐसा क्रियाकाण्ड करे तो स्वर्ग में जाए परन्तु कर्म से नहीं छूटता, समकित नहीं पाता। आहाहा! **इसलिए उसे भूतार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से...** शिष्य ने प्रश्न किया, उसका उत्तर (देते हैं)। उसे धर्म की श्रद्धा है न? तो श्रद्धा कैसे नहीं? कि **भूतार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से (यथार्थ) श्रद्धान भी नहीं है।** ऊपर पहले प्रश्न ऐसा किया था न? **अभव्य को धर्म का श्रद्धान तो होता है; फिर भी यह क्यों कहा है कि 'उसके श्रद्धान नहीं है'?** संस्कृत में है **'तस्य धर्मश्रद्धानमस्तीति चेत्'** संस्कृत है **'तस्य धर्मश्रद्धानमस्तीति'** नहीं, नहीं; उसे सच्चे धर्म के श्रद्धान के अभाव के कारण श्रद्धान भी नहीं है। उसे सच्ची श्रद्धा भी नहीं है, मिथ्या श्रद्धा है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३३९, गाथा-२७५ से २७७ बुधवार, कार्तिक शुक्ल ४
दिनाङ्क - २३-१०-१९७९

समयसार, २७५ गाथा का भावार्थ। अन्तिम लाईन है न ऊपर? **ऐसा होने से निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय का निषेध योग्य ही है।** अर्थात्? आत्मा शुद्धस्वरूप के आश्रय से पर के आश्रय का वहाँ निषेध है। पर के आश्रय से जो भाव होता है, वह सब व्यवहार है। उसका निषेध (योग्य है)। स्वआश्रय (से) अन्दर में उसकी उत्पत्ति नहीं होती। निषेध का अर्थ तो यह है कि अन्दर स्व का आश्रय करता है, तब वह व्यवहार उत्पन्न ही नहीं होता। इसलिए उसे व्यवहार का निषेध कहा जाता है। क्योंकि जब तक अपूर्ण है, उसे स्व का—शुद्ध चैतन्यवस्तु का आश्रय है, तथापि वहाँ व्यवहार आता है। पूर्ण आश्रय नहीं है न, इसलिए वह व्यवहार होने पर भी स्व के आश्रय से उसका निषेध है। आहाहा!

भावार्थ : अभव्य जीव के भेदज्ञान होने की योग्यता न होने से... यह तो दृष्टान्त है, हों! कि अभव्य भी ऐसा करता है, तथापि उसे मुक्ति नहीं तो भव्य जीव भी ऐसा

करे, उसे भी धर्म नहीं है, ऐसा सिद्ध करना है। **वह कर्मफलचेतना को जानता है...** भगवान आनन्दस्वरूप है, उसके फल का आनन्द, उसे वह जानता नहीं। वह पुण्य के परिणामरूपी सुख—कल्पना, हर्ष-शोक, वह कर्मफल है। 'कर्म' शब्द से विकारी परिणाम का जो कार्य है, उसका वह दुःख फल है, वह कर्मफलचेतना, उसे वह अनुभव करता है।

किन्तु ज्ञानचेतना को नहीं जानता;... ज्ञानस्वरूपी भगवान की एकाग्रता उसे नहीं होती, इसलिए उसे वह नहीं जानता। **इसलिए उसे शुद्ध आत्मिक धर्म की श्रद्धा नहीं है।** आहाहा! **वह शुभकर्म को ही धर्म समझकर उसकी श्रद्धा करता है...** शुभभाव दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा ये शुभभाव है, इसे धर्म समझकर श्रद्धान करता है। **इसलिए उसके फलस्वरूप ग्रैवेयक तक के भोगों को प्राप्त होता है...** नौवें ग्रैवेयक में जाता है, उत्कृष्ट। **किन्तु कर्मों का क्षय नहीं होता। इस प्रकार सत्यार्थ धर्म का श्रद्धान न होने से...** सत्यार्थ धर्म का श्रद्धान, हों! त्रिकाली की श्रद्धा हो, वह त्रिकाली की यथार्थ श्रद्धा, उस सत्यार्थ धर्म की श्रद्धा की खबर नहीं है। असत्यार्थ जो शुभ कर्म-पुण्य है, उसे वह धर्म मानता है। आहाहा! इसीलिए **उसके श्रद्धान ही नहीं कहा जा सकता।**

इस प्रकार व्यवहारनय के आश्रित अभव्य जीव को ज्ञान-श्रद्धान न होने से निश्चयनय द्वारा किया जानेवाला, व्यवहार का निषेध योग्य ही है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि-यह हेतुवादरूप अनुभव प्रधान ग्रन्थ है... यह ग्रन्थ अनुभवप्रधान ग्रन्थ है। **इसलिए इसमें अनुभव की अपेक्षा से भव्य-अभव्य का निर्णय है। अब यदि इसे अहेतुवाद आगम के साथ मिलायें तो-अभव्य को व्यवहारनय के पक्ष का...** यहाँ तो इन्होंने कहा कि राग का अनुभव करता है और स्व का अनुभव नहीं, ऐसा उसे हेतु दृष्टान्त देकर सिद्ध किया है परन्तु आगम से देखें तो उसे कुछ व्यवहार का पक्ष गहरे-गहरे रह जाता है। राग की परिणति की क्रिया जो दया, दान, शुभराग, अरे! गुण-गुणी के भेद का विकल्प, ऐसा सूक्ष्म आगम की अपेक्षा से, अहेतुवाद की अपेक्षा से **सूक्ष्म, केवलीगम्य आशय रह जाता है जो कि छद्मस्थ को अनुभवगोचर नहीं भी होता,...** नहीं भी होता। नहीं ही —ऐसा नहीं। किसी छद्मस्थ को ख्याल में भी आ जाता है और किसी को ख्याल में नहीं आता।

अनुभवगोचर नहीं भी होता, अनुभवगोचर नहीं भी होता,... क्या कहा यह ? राग से सूक्ष्म राग के भाव को धर्म मानता है, ऐसा जो उसका पक्ष है, उसे सूक्ष्म है वह भाव, वह केवलीगम्य है। छद्मस्थ को अनुभवगम्य नहीं भी होता, जान भी सकता है और कोई जान भी नहीं सकता—दोनों बातें हैं। आहाहा! **मात्र सर्वज्ञदेव जानते हैं;...** कि उसे राग का पक्ष है और वह वहाँ धर्म मानकर खड़ा है, **इस प्रकार केवल व्यवहार का पक्ष रहने से उसके सर्वथा एकांतरूप मिथ्यात्व रहता है।** आहाहा! ज्ञायकस्वरूप जो भगवान, उसका उसे अन्तर आश्रय नहीं है, इसलिए उसे अकेला राग का आश्रय, व्यवहार रह जाता है। **इस व्यवहारनय के पक्ष का आशय अभव्य के सर्वथा कभी भी मिटता ही नहीं है।** यह तो दृष्टान्त दिया है, हों! कि ऐसा व्यवहार अभव्य करता है, तथापि कभी उसे मुक्ति नहीं होती तो फिर भव्य जीव भी ऐसा व्यवहार करे तो उससे भी उसे धर्म नहीं है। यह तो दृष्टान्त है।

इसमें से ऐसा निकालते हैं कि यह तो अभव्य के लिये है। इसमें कितने ही पण्डित ऐसा कहते हैं। ऐसा नहीं है, यह तो दृष्टान्तरूप से दिया है। अभव्य व्यवहार की ऐसी क्रिया करता है कि साधारण प्राणी को ख्याल में भी न आवे कि, इसका अज्ञान है। ऐसी क्रिया करनेवाला भी एक आगम की अपेक्षा से वह केवलीगम्य सूक्ष्म (आशय में रह जाता है)। छद्मस्थ को किसी को ख्याल में आवे और किसी को ख्याल में न आवे। इस प्रकार भव्य जीव भी दया, दान, व्रत की ऐसी क्रिया करे कि उसके परिणाम को कोई सूक्ष्मरूप (आशय रह जाए, उसे) सर्वज्ञ जाने। मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। ख्याल में आवे, तथापि बाहर प्रसिद्ध न करे। सूक्ष्म अन्दर अभिप्राय में अन्तर है, ऐसा ख्याल में आवे परन्तु सम्प्रदाय की दृष्टि से बाहर प्रसिद्ध करे तो विरोध आवे। है ? आहाहा!

मुमुक्षु : गुप्त में तो दोष उसे ख्याल में आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ख्याल में आ जाए, किसी को ख्याल में आ जाए, वहाँ ऐसा कहा है। परन्तु बाहर की व्यवहार प्ररूपणा, श्रद्धा, आचरण ऐसा हो कि जिसमें से सूक्ष्म दोष उसे ख्याल में आ जाए कि यह व्यवहार का पक्ष है, परन्तु बाहर प्रसिद्ध न कर सके। सम्प्रदाय में विरोध आवे, ऐसा है, उसमें लिखा है। मोक्षमार्गप्रकाशक में (लिखा है)। आहाहा!

गाथा - २७६-२७७

कीदृशौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत् -

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणदि चरित्तं तु ववहारो।।२७६।।

आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो।।२७७।।

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयम्।
षड्जीवनिकायं च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः।।२७६।।

आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च।
आत्मा प्रत्याख्यान-मात्मा मे सम्वरो योगः।।२७७।।

आचारादिशब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वाज्ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था दर्शनस्याश्रयत्वाद्दर्शनं, षड्जीव-निकायश्चारित्रस्याश्रयत्वाच्चारित्रमिति व्यवहारः।

शुद्ध आत्मा ज्ञानाश्रयत्वाज्ज्ञानं, शुद्ध आत्मा दर्शनाश्रयत्वाद्दर्शनं, शुद्ध आत्मा चारित्राश्रयत्वा-च्चारित्रमिति निश्चयः।

तत्राचारादीनां ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यानैकान्तिकत्वाद्व्यवहारनयः प्रतिषेध्यः। निश्चयनयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकान्तिकत्वात्तत्प्रतिषेधकः।

तथाहि ह्न नाचारादिशब्दश्रुतमेकान्तेन ज्ञानस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्या-भावात्; न च जीवादयः पदार्था दर्शनस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्य-भव्यानां शुद्धात्माभावेन दर्शनस्याभावात्; न च षड्जीवनिकायः चारित्रस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन चारित्रस्याभावात्।

शुद्ध आत्मैव ज्ञानस्याश्रयः, आचारादिशब्दश्रुतसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव ज्ञानस्य सद्भावात्; शुद्ध आत्मैव दर्शनस्याश्रयः, जीवादिपदार्थसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव दर्शनस्य सद्भावात्; शुद्ध आत्मैव चारित्रस्याश्रयः, षड्जीवनिकायसद्भावेऽ-सद्भावे वा तत्सद्भावेनैव चारित्रस्य सद्भावात्।।२७६-२७७।।

अब यह प्रश्न होता है कि ''निश्चयनय के द्वारा निषेध्य व्यवहारनय, और व्यवहारनय का निषेधक निश्चयनय, वे दोनों नय कैसे हैं?'' अतः व्यवहार और निश्चयनय का स्वरूप कहते हैं:-

'आचार' आदिक ज्ञान है, जीवादि दर्शन जानना।
षट् जीवकाय चरित्र है;-ये कथन नय व्यवहार का।।२७६।।

मुझ आत्म निश्चय ज्ञान है, मुझ आत्म दर्शन चरित है।
मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरु, मुझ आत्म संवर योग है।।२७७।।

गाथार्थ - [आचारादि] आचारांगादि शास्त्र [ज्ञानं] ज्ञान है, [जीवादि] जीवादि तत्त्व [दर्शनं विज्ञेयम् च] दर्शन जानना चाहिए [च] तथा [षड्जीवनिकायं] छह जीव-निकाय [चरित्रं] चारित्र है-[तथा तु] ऐसा तो [व्यवहारः भणति] व्यवहारनय कहता है।

[खलु] निश्चय से [मम आत्मा] मेरा आत्मा ही [ज्ञानम्] ज्ञान है, [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [दर्शनं चारित्रं च] दर्शन और चारित्र है, [आत्मा] मेरा आत्मा ही [प्रत्याख्यानम्] प्रत्याख्यान है, [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [संवरः योगः] संवर और योग (-समाधि, ध्यान) है।

टीका - आचारांगादि शब्द श्रुतज्ञान है क्योंकि वह (शब्दश्रुत) ज्ञान का आश्रय है; जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं क्योंकि वे (नव पदार्थ) दर्शन के आश्रय हैं; और छह जीव-निकाय चारित्र है क्योंकि वह (छह जीवनिकाय) चारित्र का आश्रय है; इस प्रकार व्यवहार है। शुद्ध आत्मा ज्ञान है क्योंकि वह (शुद्धात्मा) ज्ञान का आश्रय है; शुद्ध आत्मा दर्शन है क्योंकि वह दर्शन का आश्रय है; और शुद्ध आत्मा चारित्र है क्योंकि वह चारित्र का आश्रय है; इस प्रकार निश्चय है। इनमें व्यवहारनय प्रतिषेध्य अर्थात् निषेध्य है, क्योंकि आचारांगादि को ज्ञानादि को आश्रयत्व अनैकान्तिक है-व्यभिचारयुक्त है; (शब्दश्रुतादि को ज्ञानादि का आश्रयस्वरूप मानने में व्यभिचार आता है क्योंकि शब्दश्रुतादि के होने पर भी ज्ञानादि नहीं भी होते, इसलिए व्यवहारनय प्रतिषेध्य है;) और निश्चयनय व्यवहारनय का प्रतिषेधक है, क्योंकि शुद्ध आत्मा के ज्ञानादि का आश्रयत्व ऐकान्तिक है। (शुद्ध आत्मा को ज्ञानादिक आश्रय मानने में व्यभिचार नहीं है क्योंकि जहाँ शुद्ध आत्मा होता है, वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता ही है।) यही बात हेतुपूर्वक समझायी जाती है-

आचारांगादि शब्दश्रुत एकान्त से ज्ञान का आश्रय नहीं है क्योंकि उसके (अर्थात् शब्दश्रुत के) सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण ज्ञान का अभाव है; जीवादि नवपदार्थ दर्शन के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण दर्शन का अभाव है; छह जीव-निकाय चारित्र के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण चारित्र का अभाव है। शुद्ध आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है, क्योंकि आचारांगादि शब्दश्रुत के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (-शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही ज्ञान का सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही दर्शन का आश्रय है, क्योंकि जीवादि नवपदार्थों के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (-शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही दर्शन का सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय है, क्योंकि छह जीव-निकाय के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (-शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही चारित्र का सद्भाव होता है।

भावार्थ : आचारांगादि शब्दश्रुत का ज्ञान, जीवादि नव पदार्थों का श्रद्धान तथा छह काय के जीवों की रक्षा-इन सबके होते हुए भी अभव्य के ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं होते, इसलिए व्यवहारनय तो निषेध्य है; और जहाँ शुद्धात्मा होता है, वहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र होता ही है, इसलिए निश्चयनय व्यवहार का निषेधक है। अतः शुद्धनय उपादेय कहा गया है।

गाथा - २७६-२७७ पर प्रवचन

अब यह प्रश्न होता है कि 'निश्चयनय के द्वारा निषेध्य व्यवहारनय, और व्यवहारनय का निषेधक निश्चयनय, वे दोनों नय कैसे हैं?' क्या कहते हैं कि निश्चयनय द्वारा व्यवहार निषेध किया जाता है, वह व्यवहार और निश्चय है कैसा? आप किसे निश्चय और व्यवहार कहते हो? आहाहा! ऐसा पूछा जाए तो उसका उत्तर दिया जाता है। **अतः व्यवहार और निश्चयनय का स्वरूप कहते हैं:-** ऐसा कहकर क्या कहते हैं? है न इसमें?

(उपोद्घात) है। **'कीदृशौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ'** शिष्य का प्रश्न है कि निषेध

करने योग्य है और निषेध करनेवाला। निश्चय निषेध करनेवाला, निषेध करने योग्य व्यवहार, उसका क्या स्वरूप है ? आप किसे कहना चाहते हो व्यवहार और निश्चय ? देखा ? अमृतचन्द्राचार्य ने रखा है। **'व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्'** ऐसा प्रश्न है। ऐसी जिसे अन्तर जिज्ञासा हुई है, उसे यह उत्तर दिया जाता है। आप यह क्या कहना चाहते हो ? व्यवहार किसे कहना ? निश्चय किसे कहना ? व्यवहार प्रतिषेध करने योग्य है, निश्चय प्रतिषेधक है। यह क्या है परन्तु यह ? ऐसा आप क्या कहना चाहते हो ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है।

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणदि चरित्तं तु ववहारो।।२७६।।

आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो।।२७७।।

'आचार' आदिक ज्ञान है, जीवादि दर्शन जानना।
षट् जीवकाय चरित्र है;-ये कथन नय व्यवहार का।।२७६।।

मुझ आत्म निश्चय ज्ञान है, मुझ आत्म दर्शन चरित है।
मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरु, मुझ आत्म संवर योग है।।२७७।।

टीका - आचारांगादि शब्दश्रुत... अब क्या कहते हैं ? आचारांग आदि शब्द है। उसका ज्ञान, वह शब्दश्रुत का ज्ञान है; आत्मा का ज्ञान नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है। आचारांग आदि, ग्यारह अंग आदि शब्दश्रुत, यह शब्दश्रुत है, वह ज्ञान है। क्योंकि शब्दश्रुत का ज्ञान यहाँ है। उस शब्दश्रुत का ज्ञान है, आत्मा का ज्ञान नहीं। आहाहा! समझ में आया ? जो शास्त्र का ज्ञान हुआ, उसे यहाँ शब्दश्रुत का ज्ञान हुआ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या कहा ?

शब्दश्रुत ज्ञान है... शब्दश्रुत, वह ज्ञान है **क्योंकि वह (शब्दश्रुत) ज्ञान का आश्रय है,...** यह क्या कहा ? कि जो ग्यारह अंग आदि शास्त्र हैं, वे ही ज्ञान हैं। क्यों ? —कि उनमें ज्ञान होने में उनका आश्रय है, इसलिए वह शब्दश्रुत, वह ज्ञान है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। शब्दश्रुत, वह ज्ञान का (आश्रय है)। ज्ञान अर्थात् ? शास्त्र को जो पठन, ऐसा

जो ज्ञान, उसका आश्रय शब्दश्रुत है। इसलिए उस ज्ञान को शब्दश्रुत का ज्ञान कहा जाता है। आहाहा! ग्यारह अंग पढ़ जाए, करोड़ों श्लोक (कण्ठस्थ हों), अरे! नौ पूर्व तक भी लब्धि हो जाती है। भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि को। परन्तु वह शब्दश्रुत शास्त्र हैं, उनका ज्ञान है, इसलिए उस ज्ञान को शब्दश्रुत का ज्ञान कहा जाता है। आहाहा! वह आत्मज्ञान नहीं है, वह धार्मिक ज्ञान नहीं है। ऐसी बात है।

आचारांगादि शब्दश्रुत... शब्दश्रुत। **वह ज्ञान है...** क्योंकि उस ज्ञान में शब्दश्रुत का आधार है, इसीलिए उसे शब्दश्रुत ज्ञान कहने में आता है। क्या कहा यह? शास्त्र आदि के ज्ञान में आश्रय शब्दों का है, इसलिए उस ज्ञान को शब्दश्रुत का ज्ञान कहने में आता है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। यह एकदम गम्भीर टीका है। आहाहा! ग्यारह अंग पढ़ जाए तो कहते हैं कि यह शब्दश्रुत ज्ञान है, यह तो शब्दश्रुत का ज्ञान है। क्योंकि शब्दश्रुत ज्ञान का, यह जानना जो हुआ, उसका आश्रय तो शब्दश्रुत है। जो शब्दश्रुत का जानना हुआ, उस ज्ञान का आश्रय तो शब्दश्रुत है। आहाहा! उस ज्ञान का निमित्त शब्दश्रुत है। यह व्यवहार जो शब्दश्रुत का ज्ञान, उसका हेतु शब्दश्रुत है, उस ज्ञान का निमित्त शब्दश्रुत है, उस ज्ञान का कारण शब्दश्रुत है। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वरूप ज्ञान नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ज्ञान नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म अधिकार है।

शिष्य का प्रश्न है कि आप व्यवहार और निश्चय कहते हो, वह किस प्रकार, किसे क्या कहते हो? तो कहते हैं कि सुन, भाई! जो कुछ आचारांग, सूयगडांग, ठाणांग आदि शास्त्रों का जो ज्ञान (होता है), वह शब्दश्रुत का ज्ञान, शब्द का ज्ञान है। क्योंकि उसके ज्ञान में शब्दश्रुत का आश्रय, आधार और निमित्त है, उसके ज्ञान में-व्यवहार ज्ञान में शब्दश्रुत का हेतु है। आहाहा! समझ में आया? इसलिए उसे व्यवहार श्रुतज्ञान कहा जाता है। इसलिए उसका निषेध किया जाता है। आहाहा!

जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं... क्या कहते हैं? जीव आदि नौ पदार्थ, वह दर्शन है। क्योंकि वे नौ पदार्थ दर्शन का आधार है। नौ तत्त्व की श्रद्धा का आश्रय नौ तत्त्व है, इसलिए वह व्यवहार श्रद्धा है। आहाहा! क्या कहा? जीव आदि नौ पदार्थ स्वयं समकित

है व्यवहार। यहाँ वह जो मोक्षमार्ग में नौ तत्त्व की श्रद्धा (आती है), वह अभेद की बात है, वह यह यहाँ नहीं है। वहाँ अभेद की बात है। उमास्वामी ने भी 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' के जो सात बोल कहे, वह एक वचन लिया है और यह तो बहुवचनवाला है। क्या कहा यह? मोक्षमार्गप्रकाशक में तत्त्वार्थश्रद्धानंसम्यग्दर्शन तो निश्चय कहा है। वह एकवचन से है। एक आत्मा का आश्रय करके उसने नौ को जाना है। यहाँ नौ तत्त्व हैं, वे भेदवाले हैं। आहाहा! थोड़ा सूक्ष्म पड़े ऐसा है।

यहाँ तो जीव आदि नौ पदार्थ, वे समकित हैं, ऐसा कहा। जैसे वह शब्द का ज्ञान, वह शब्द है, वह ज्ञान, वह शब्दश्रुत है। वैसे यहाँ नव तत्त्व की श्रद्धा, वह दर्शन है। वह नव तत्त्व, वह दर्शन है। क्योंकि नव पदार्थ दर्शन का आधार, निमित्त है। व्यवहार समकित का आश्रय नव तत्त्व है, व्यवहार समकित का हेतु नव तत्त्व है, व्यवहार समकित का आश्रय नव तत्त्व है, इसलिए उन नव तत्त्व को ही दर्शन कहा जाता है। आहाहा! व्यवहार। समझ में आया?

मुमुक्षु : बहुत सूक्ष्म लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात है, भाई! ऐसे (स्वरूप का) आश्रय नहीं और ऐसे (पर का) आश्रय है, ऐसे दो भाग कहने हैं। आहाहा! जिसमें भगवान चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्द स्वभाव (का) जिसके ज्ञान में आश्रय नहीं, उसके ज्ञान में पराश्रय है, इसलिए वह व्यवहार ज्ञान निषेध करने योग्य है। आहाहा! व्यवहार ज्ञान निषेध करने योग्य है। व्यवहार क्रियाकाण्ड तो ठीक। आहाहा! क्या कहा? समझ में आये ऐसा है, भाषा तो सादी है।

यह भगवान आत्मा आनन्द का नाथ सागर प्रभु! जिसके ज्ञान की पर्याय में उसका आश्रय, उसका हेतु, उसका निमित्त, उसका कारण नहीं, उस ज्ञान में हेतु, आश्रय और कारण पर शब्द है। इसलिए उसे शब्दज्ञान कहने में आता है। उस शब्द का ज्ञान है उसे। ऐसे नव तत्त्व की श्रद्धा, वह नव तत्त्व की, नव तत्त्व, वह श्रद्धा है। आत्मा की श्रद्धा नहीं। आत्मा का अन्दर आश्रय होकर जो श्रद्धा होनी चाहिए, वह नहीं। नव तत्त्व की श्रद्धा, उस श्रद्धा का आश्रय नव तत्त्व है। श्रद्धा का निमित्त नव तत्त्व है, व्यवहार समकित। व्यवहार समकित

का हेतु नव तत्त्व है। इसलिए नव तत्त्व ही समकित है। जैसे उसमें शब्दश्रुत, वही ज्ञान है; वैसे यह नव तत्त्व, वह ही दर्शन है। आहाहा! समझ में आया?

जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं... यह व्यवहार दर्शन की बात है, हों! **क्योंकि वे (नव पदार्थ) दर्शन के आश्रय हैं,...** नौ पदार्थ व्यवहार समकित का आश्रय है। व्यवहार समकित अर्थात् राग। आहाहा! समझ में आया? व्यवहार ज्ञान अर्थात् विकल्पवाला ज्ञान। व्यवहार श्रद्धा अर्थात् राग की श्रद्धा। इस राग की श्रद्धा में नव तत्त्व आश्रय है, इसलिए नव तत्त्व को समकित कहा जाता है। व्यवहार समकित। व्यवहार समकित का आश्रय नव तत्त्व है, व्यवहार समकित का हेतु, निमित्त, कारण नव तत्त्व है, इसलिए नव तत्त्व समकित है। आत्मा समकित है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। अकेले अमृत के झरने रखे हैं। अमृतचन्द्राचार्य! अब उन्हें उड़ा देते हैं। आहाहा!

दो बात हुई। एक तो जो यहाँ शब्द का—शास्त्र का ज्ञान हुआ, उस ज्ञान को शब्दज्ञान कहने में आता है, बस। वह कहीं आत्मज्ञान नहीं है, वह धार्मिक ज्ञान नहीं है। आहाहा! और जो श्रद्धा में नव तत्त्व का आश्रय है, उस नव तत्त्व को ही दर्शन कहते हैं, नव तत्त्व को दर्शन कहते हैं। जैसे शब्दश्रुत को, शब्द को ज्ञान कहते हैं, वैसे यहाँ नव तत्त्व को दर्शन कहते हैं। क्योंकि वह दर्शन—व्यवहार दर्शन का आधार—आश्रय नव तत्त्व है। इसलिए नव तत्त्व, वह व्यवहार समकित है। वह वास्तविक नहीं है। आहाहा!

एक दूसरे प्रकार से कहें तो इस शास्त्र के ज्ञान के अतिरिक्त, जैन के अतिरिक्त अन्यत्र शास्त्र का ज्ञान भी नहीं होता। समझ में आया? जैन के अतिरिक्त, सम्प्रदाय के अतिरिक्त शास्त्र का ज्ञान भी अन्यत्र नहीं होता। अब यहाँ तो जैन में रहा हुआ शास्त्र का ज्ञान करता है। आचारांग आदि का ज्ञान है न यहाँ तो? हैं? कहीं वेदान्त का और अमुक का, वह यहाँ बात है ही नहीं। आहाहा! शास्त्र जो भगवान ने कहे हुए, आचारांग आदि, जैन में रहे हुए जैन सम्प्रदाय के लोग, क्योंकि दूसरे को तो आचारांग आदि है कहाँ? आहाहा! उन्हें भी आचारांग आदि का जो ज्ञान है, वह जैन में होनेवाले में आचारांग होता है न? दूसरे को कहाँ होता है? परन्तु उसे भी वह शब्दश्रुत ज्ञान कहने में आता है, वह आत्मज्ञान नहीं

है। आहाहा! चन्दुभाई! यह तो आचारांग आदि शब्द जैन में लिये हैं। यह अन्य के जो शब्दों का ज्ञान, उसे तो वह व्यवहार ज्ञान भी नहीं कहना।

वेदान्त के या किसी ईश्वरकर्ता या वैशेषिक आदि मतों का ज्ञान, उसे तो शब्दज्ञान -व्यवहार शब्दज्ञान रूप से भी यहाँ तो इनकार किया है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो जैन में, सम्प्रदाय में आया है और जिसे आचारांग आदि कान में पड़े हैं और उन आचारांग आदि का ज्ञान हुआ है, वह आचारांग शब्द है; इसलिए उस ज्ञान को शब्दश्रुत (कहते हैं)। जैन में रहे हुए को आचारांग आदि का ज्ञान हो, उसे भी व्यवहारज्ञान और बन्ध का कारण कहा जाता है। आहाहा!

एक ओर प्रवचनसार में ज्ञान अधिकार पूरा होता है, (वहाँ) ऐसा कहते हैं कि ज्ञान के लक्ष्य से आगम का अभ्यास करना। आता है? प्रवचनसार में ज्ञान अधिकार पूरा होने के बाद ज्ञेय अधिकार शुरु करते हैं। ज्ञान के लक्ष्य से अभ्यास करना। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसके लक्ष्य से अभ्यास करना। यहाँ तो कहते हैं कि लक्ष्य बिना का जो अभ्यास है... ऐई! आहाहा!

मुमुक्षु : लक्ष्यपूर्वक का ज्ञान अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस लक्ष्यपूर्वक का ज्ञान है, वह तो अन्तर के ज्ञान में जाता है, वह सम्यग्ज्ञान में जाता है। और यह लक्ष्यरहित अकेला अभ्यास है, (वह) शब्दश्रुत का ही ज्ञान है। बड़ा अन्तर है। लक्ष्य, अन्दर ज्ञान का लक्ष्य। यह ज्ञाता है, उसके लक्ष्य से जो करता है, उसका अन्दर ज्ञान यथार्थ होता है। अन्तर है, भाई! थोड़े अन्तर में बड़ा तो अन्तर है। यह प्रवचनसार में ज्ञान अधिकार पूरा करके पश्चात् यह गाथा ली है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

यहाँ तो स्व और पर के विभाजन की बात है और यह शास्त्र का, जैन में कहे हुए आचारांग आदि (शास्त्र का) ज्ञान, वह पर का ज्ञान और शास्त्रज्ञान है। आहाहा! तो दूसरे के, अज्ञानी के कहे हुए शास्त्रों का ज्ञान, वह तो व्यवहार ज्ञान, श्रुतज्ञान व्यवहार भी कहने में नहीं आता। यहाँ तो शास्त्र का ज्ञान जो भगवान ने कहे हुए शास्त्र, उन्हें जो जानता है, पढ़ता है, जानता है, उसके ज्ञान में आचारांग शब्द का आश्रय होने से उस ज्ञान को शब्दश्रुत और व्यवहार ज्ञान निषेधयोग्य कहने में आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : पढ़ने का शुरु किया, तब से ही निषेधयोग्य है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आगम आदि का अभ्यास ही निषेधनेयोग्य है। जिसमें पर का आश्रय है। यह तो वीतराग के कहे हुए आगम की यहाँ तो बात है। सूक्ष्म बात है, भगवान! यह तो अमृतचन्द्राचार्य की टीका, यह तो गजब है, आहाहा! इसके एक-एक शब्द और एक-एक अर्थ बहुत ही गम्भीर है। आहाहा!

यहाँ तो क्या कहा ? यह बहुत बार कहा गया है कि 'आचारांग' आदि शब्द उठाया है तो यह आचारांग आदि तो जैन में ही होते हैं। हैं ? आहाहा! आचारांग, सूयगडांग, ठाणांग, समवायांग, भगवती (आदि) ग्यारह अंग जैन में होते हैं। उन आचारांग का ज्ञान, वह शब्दज्ञान है। क्योंकि वह शब्द है, इसलिए शब्द का ज्ञान, वह व्यवहार ज्ञान, वह वास्तविक बन्ध का कारण है, वह निषेध योग्य है। दूसरे के ज्ञान की बात तो यहाँ व्यवहार भी कहा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : शब्दश्रुत में फेरफार हो सकता है अर्थ में ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शब्दश्रुत, वीतराग के शब्दश्रुत, वह श्रुत। यह जरा सूक्ष्म बात है। श्वेताम्बर में जो शास्त्र कहे, वे शब्दश्रुत नहीं हैं। सूक्ष्म पड़े, बापू! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो आचारांग आदि कहे हैं, उनकी जो रचना। श्वेताम्बर में तो रचना अपनी कल्पना से की हुई है, इसलिए वह तो आचारांग आदि का ज्ञान व्यवहार से भी नहीं है। आहाहा! प्रभु! कठिन काम है, भाई! सबका मोक्ष होओ, यह तो पहले कहा था परन्तु मार्ग तो यह है। आहाहा!

यह डॉक्टर का ज्ञान और वकालात का ज्ञान, वह तो कहीं व्यवहार भी नहीं है। तथा अन्यमति के शास्त्र का ज्ञान, वह व्यवहार भी नहीं है। आहाहा! ऐई! यहाँ तो भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव की ध्वनि में से आचारांग आदि आये, उनकी रचना सन्तों ने की, उस शब्द का ज्ञान, उसे शब्दज्ञान कहा जाता है। वह शब्द का ज्ञान है, आत्मा का ज्ञान नहीं, वह तो शब्द का ज्ञान है। आहाहा! क्या शैली इनकी! गजब शैली है!

मुमुक्षु : शास्त्री, आचार्य आदि यह सब कुज्ञान ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा के सम्यग्ज्ञान बिना का वह सब कुज्ञान है। आत्मा के ज्ञान

सहित होवे तो उसे व्यवहार ज्ञान कहने में आता है। वह भी निषेधयोग्य है। समझ में आया? आहाहा! है न सामने सूत्र?

इसी प्रकार जीव आदि नौ पदार्थ... मुझे तो ऐसा कहना था कि जीव आदि नव पदार्थ वीतराग के अतिरिक्त कहाँ है? है? जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। ऐसे नौ पदार्थ सर्वज्ञ वीतराग के अतिरिक्त के पन्थ में कहीं है नहीं। उनके नव तत्त्व की श्रद्धा, वह नव तत्त्वरूप है, वह आत्मारूप नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : लक्ष्य में अन्तर है?

पूज्य गुरुदेवश्री : लक्ष्य था कहाँ? अपना लक्ष्य हुआ तो यहाँ का ज्ञान हुआ। वह तो अपने लक्ष्य के अतिरिक्त अकेले शब्द का ज्ञान किया है। और लक्ष्यवाला ज्ञान है, उसके साथ भी जितना शब्दज्ञान है, वह सब व्यवहार है। धीरे से समझना, भाई! यह तो सिद्धान्त है, यह कहीं वार्ता नहीं है। आहाहा!

नव तत्त्व को सम्यग्दर्शन कहा। क्योंकि व्यवहार समकित जो राग / विकल्प है, उसका आश्रय नव तत्त्व है, इसलिए नव तत्त्व वह व्यवहार समकित है। क्योंकि व्यवहार समकित का आश्रय, निमित्त, हेतु, कारण नव तत्त्व है; इसलिए नव तत्त्व को ही व्यवहार समकित कहा। यह नव तत्त्व तो जैनदर्शन में ही होते हैं, अन्यत्र तो होते नहीं। वेदान्त आदि एक तत्त्व (सर्व) व्यापक (ऐसा) मानता है। दूसरा कोई ईश्वरकर्ता मानता है। उसमें नव तत्त्व स्वतन्त्र है, ऐसा तो कहीं है नहीं। आहाहा! जिसमें नव तत्त्व का यथार्थ सत् है, उसकी जिसे श्रद्धा है, वह भी नव तत्त्व की श्रद्धा है अर्थात् श्रद्धा ही नव तत्त्व है। वह श्रद्धा नव तत्त्व है, वह आत्मतत्त्व नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : नौवें ग्रैवेयक आत्मा आवे अवश्य?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा गया। आत्मा का ख्याल आया आत्मा, यह आत्मा कहते हैं, इतना। ज्ञान नहीं। धारणा में ख्याल में आया। आहाहा! ग्यारह अंग पढ़े, उसमें ऐसा आता नहीं कुछ? उसमें सब आता है। आत्मा ऐसा... ऐसा। वह ग्यारह अंग पढ़ा, उसमें नहीं आया? परन्तु वह आत्मा विकल्पसहित का ख्याल में आत्मा आया है। इसलिए वास्तव में उस विकल्प का आश्रय पर है, उससे ज्ञान में आया है, वहाँ स्व का आश्रय नहीं है। आहाहा!

जीवादि नव पदार्थ दर्शन... भाषा देखो! यह जीव आदि नव तत्त्व, वह समकित है। वे समकित का आश्रय है, इसलिए उन्हें समकित कहा गया है। आहाहा! उस शब्दज्ञान को ज्ञान में शब्द ज्ञान कहा है। उसी प्रकार इस व्यवहार श्रद्धा को नव तत्त्व का आश्रय होने से नव तत्त्व ही दर्शन है। आहाहा! यहाँ कहने का आशय तो आचारांग आदि शास्त्र शब्द लिये हैं, (वे) जैन के (लिये हैं)। नव तत्त्व भी जैन के लिये हैं। इसलिए जैन में रहे हुए भी नव तत्त्व के आश्रय से नव की श्रद्धा करते हैं, वह व्यवहार समकित का आश्रय नव तत्त्व होने से, वह श्रद्धा नव तत्त्व है, उसमें जीवतत्त्व नहीं आया। आहाहा! यह भेदवाले की बात है, हों! वह 'तत्त्वार्थश्रद्धानंसम्यग्दर्शन' है, एकवचन है, अभेद है।

१३वीं गाथा में कहा था न **'भूदत्थेणाभिगदा'** नव तत्त्व को भूतार्थ से जाने। भूतार्थ अर्थात् आत्मा के ज्ञान के स्वभाव से जाने। १३वीं गाथा, समयसार। यहाँ तो अकेले नव तत्त्व को जानने की, मानने की श्रद्धा, उस श्रद्धा में आश्रय और हेतु और निमित्त और कारण नव तत्त्व है; इसीलिए वह समकित ही नव तत्त्व है, वह श्रद्धा ही नव तत्त्व है। आत्मा उसमें कहीं नहीं आया। आहाहा! सूक्ष्म पड़े परन्तु अब सुनना तो पड़ेगा या नहीं?

मुमुक्षु : स्वभाव प्रत्यक्ष, बाकी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बाकी अज्ञान है। आहाहा! कहेंगे, अभी आयेगा।

यहाँ तो दो बोल आचारांग आदि और नव तत्त्व, वे जैन में ही होते हैं, ऐसा सिद्ध करके उनकी भी श्रद्धा, वह शब्दज्ञान है, उनकी श्रद्धा नव तत्त्व है, उसमें आत्मा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

तीसरा बोल। **(और) छह जीव-निकाय चारित्र है,...** भाषा देखो! छह जीव-निकाय-छह जीव का समूह, वह चारित्र है। छह जीव का समूह, वह चारित्र है। क्योंकि व्यवहार—राग के चारित्र में छह जीव-निकाय का लक्ष्य जाता है, आश्रय उसमें वह है। और इसमें एक ही रखा है क्योंकि उसमें पाँचों महाव्रत आ जाते हैं। क्या कहा? उसमें जैसे आचारांग आदि, ऐसा सब आ गया। उसमें नव तत्त्व आ गया, वैसे इसमें भी छह जीव-निकाय की मुख्यता गिनकर पर के लक्ष्य से होनेवाला जो राग का भाव, उस चारित्र का आश्रय पर है और महाव्रत आदि पाँचों का आश्रय पर है। आहाहा! यह तो एक छह जीव-

निकाय का क्यों दिया ? कि वह अन्यत्र कहीं जैन के अतिरिक्त है नहीं। अन्यत्र तो ऐसे सत्य बोलना या ऐसी बात आती है। छह जीव-निकाय—पृथ्वीकाय, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, त्रसकाय—छह जीव-निकाय यह। छह जीव-निकाय, वह कहीं जीव नहीं है, छह जीव-निकाय वह जीव नहीं है; जीव तो वह ज्ञानस्वरूप है, वह जीव है। पंचास्तिकाय में आता है। समझ में आया ? आहाहा!

छह जीव-निकाय जो सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा हुआ, उनके सम्प्रदाय में रहे हुए को... आहाहा! छह जीव-निकाय। निकाय कहा न (अर्थात्) समूह, छह जीव का समूह, वह चारित्र है। है तो परजीव परन्तु यहाँ व्यवहारचारित्र जो शुभराग है, उसका आश्रय, हेतु वह छह जीव-निकाय है। इसलिए इस राग का हेतु, पंच महाव्रत के परिणाम का हेतु पर है, उसमें यह मुख्य छह जीव-निकाय डाला। चार महाव्रत इसमें समाहित कर दिये। इस व्यवहार अहिंसा में पाँचों ही महाव्रत आ गये। आहाहा! ऐसी बात है।

छह जीव-निकाय। एक ही जीव नहीं है, एक ही एकेन्द्रिय आदि, पंचेन्द्रिय एक ही जीव नहीं है। एकेन्द्रिय पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, निगोद के अनन्त जीव... आहाहा! ऐसे छह जीव-निकाय वह चारित्र है। आहाहा! दया पालने का भाव पराश्रय का है न ? व्रत का भाव, वह पराश्रय का है। इसलिए पराश्रय को ही चारित्र कहा है। छह जीव-निकाय वह चारित्र है, छह जीव-निकाय को पालना, उसे चारित्र न लेकर, छह जीव-निकाय, वह चारित्र है।

मुमुक्षु : ऐसा उल्टा किसलिए लिया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह लिया, वह उल्टा इस कारण से लिया कि यह छह जीव-निकाय इसके राग का आश्रय है, इसलिए वह आश्रय है, वह चारित्र है, ऐसा कहा।

मुमुक्षु : तो यह लेनेवाले को चारित्र...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह लेनेवाले को सब एक ही है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। गाथाएँ ऐसी आ गयी।

मुमुक्षु : कार्य का कारण में उपचार करके...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह यह सब एक ही है। छह जीव-निकाय चारित्र है, ऐसा कहा है। नव तत्त्व, वह समकित है—ऐसा कहा है।

मुमुक्षु : उपचरित कथन कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, एक ही वह वस्तु है। उपचरित कहो या व्यवहार कहो, बस एक ही वह है। आहाहा! समझ में आया? यह तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी है, भाई! आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य ने शब्द किये और उनकी टीका अमृतचन्द्राचार्य ने की। आहाहा! अब ऐसी टीका करनेवाले को ऐसा माने वह काष्ठापंथी है और वह ऐसे हैं। अरर! प्रभु! प्रभु! क्या करता है तू? आहाहा! भगवान! तेरी बुद्धि भली हो परन्तु ऐसा तुझे नहीं करना चाहिए। आहाहा! भाई! अपराध का बहुत दोष है, प्रभु! आहाहा!

अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त मुनि ऐसा कहते हैं कि छह जीव-निकाय, छह काय है वह चारित्र है, व्यवहार। क्योंकि जो व्यवहार राग चारित्र का वह आश्रय है, इसलिए वही चारित्र है। क्यों कहा या नहीं पहले? कि शास्त्रज्ञान में शब्द आश्रय है, इसलिए वह शब्द ज्ञान ही है। ऐसे श्रद्धा में नव तत्त्व का आश्रय है, इसलिए नव तत्त्व ही दर्शन है। इसी तरह चारित्र में व्यवहार के आश्रय में छह जीव-निकाय है, इसलिए छह जीव-निकाय ही चारित्र है। पण्डितजी! आहाहा! जो गाथा आयी हो, उसका अर्थ होता है न, दूसरा उसमें क्या होगा? उसमें चाहे जितना होवे तो सत्य हो, वैसा रहेगा। आहाहा!

छह जीव-निकाय। तीनों बोल लिये। आचारांग आदि शब्द, नव तत्त्व आदि तत्त्व और छह जीव-निकाय—यह जैन परमेश्वर के अतिरिक्त कहीं नहीं होते। इसलिए जैन परमेश्वर के सम्प्रदाय में रहकर भी... आहाहा! अन्य की बात तो क्या करना? कहते हैं। रतनचन्दजी! आहाहा! जिस ज्ञान में आचारांग आदि का आश्रय रहे, वह ज्ञान शब्दश्रुत है। जिस श्रद्धा में नव तत्त्व का आश्रय रहे, वह नव तत्त्व वह सम्यक्त्व है, व्यवहार। जिस चारित्र में छह जीव-निकाय की दया का भाव है, वह छह जीव-निकाय स्वयं ही व्यवहार चारित्र है। है या नहीं परन्तु इसमें? आहाहा! गाथा तो जो आयी हो, उसका अर्थ होगा न? आहाहा!

मुमुक्षु : आप कहते हो वह हमको...

पूज्य गुरुदेवश्री : चीमनभाई नहीं पढ़ते हों, वहाँ उस पाठशाला में ? नहीं ? लोहा तो बहुत घुमाते हैं। आहाहा! प्रत्येक को ऐसा है न! अरे! प्रभु! मार्ग कोई ऐसा है... आहाहा!

यहाँ तो पर आश्रय से होनेवाला ज्ञान, वह शब्दज्ञान ही है। पर आश्रय से होनेवाली श्रद्धा, वह श्रद्धा नव तत्त्व है। पर की दया के भाव से पर का आश्रय जो आता है, इसलिए वह चारित्र छह जीव-निकाय चारित्र है। छह जीव-निकाय की दया पालने का भाव चारित्र नहीं है, छह जीव-निकाय चारित्र है। आहाहा! समझ में आया ? है न इसमें ? लिखा है या नहीं ?

मुमुक्षु : आप न समझाओ तो समझ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : उन बहियों में कैसे समझ में आता है ? वहाँ हीरा-माणिक में जाता है अन्दर।

मुमुक्षु : उसमें रुचि है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : रुचि है। रुचि अनुयायी वीर्य। जहाँ रुचि हो, वहाँ वीर्य काम करता है। आहाहा!

यहाँ तो कहने का आशय यह है कि तीनों ही जैनदर्शन के व्यवहार लिये हैं। दूसरे का व्यवहार, वह व्यवहार भी नहीं है, ऐसा कहा है। आहाहा! अन्यमति का—वीतराग के अतिरिक्त के शास्त्रों का ज्ञान, वीतराग के अतिरिक्त के कहे हुए तत्त्वों की श्रद्धा, वीतराग के अतिरिक्त की कही हुई दया आदि के भाव, वह बात यहाँ है ही नहीं। जिसमें आचारांग आदि शास्त्र पड़े हैं। आहाहा! जिसमें नव तत्त्व जगत में रहे हैं, जिसमें छह जीव-निकाय आदि पंच महाव्रत का आश्रयरूप तत्त्व रहे हैं। आहाहा! उसे ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहकर उन्हें कहा है, वह व्यवहार है। आहाहा!

क्योंकि वह (छह जीव-निकाय) चारित्र का आश्रय है;... है ? छह जीव-निकाय चारित्र का आश्रय होने से जीव-निकाय को चारित्र कहा गया है। आहाहा! यह पण्डितजी हमारे बैठे हैं या नहीं ? पण्डितजी! यह तो पण्डित को सच्चा पण्डित बनाया जाता है। पाण्डित्य, आया था न कल अपने ? नहीं ? कल आया था। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि मुद्दे की रकम जो भगवान चैतन्यस्वरूप में आत्मदल अनन्त गुण का पिण्ड, वह भी सर्वज्ञ ने कहा, वह आत्मा, हों! यह सर्वज्ञ ने कहा हुआ यह व्यवहार... आहाहा! और सर्वज्ञ ने कहा हुआ, जो परमेश्वर ने कहा, वह आत्मा, आत्मा। दूसरे आत्मा कहते हैं, वह आत्मा नहीं। आहाहा! समझ में आया?

इस प्रकार व्यवहार है। ठीक! इन तीनों का व्यवहार कहा। शब्द श्रुतज्ञान, नव तत्त्व श्रद्धा, छह जीव-निकाय चारित्र, यह व्यवहार है। आहाहा! बात यह है कि जिसने लक्ष्य ही अकेला पर के ऊपर किया है, उसे उस पर के ऊपर की श्रद्धा और पर का ज्ञान और पर की दया, वह स्वयं छह जीव-निकाय में ही गया, पर में गया है, यहाँ आत्मा में आया नहीं। आहाहा! घनाभाई! प्रवीणभाई तो गये लगते हैं। दोनों 'किशोरभाई' भी, ठीक! समझ में आया? आहाहा! सामने पुस्तक होवे, उसे ठीक पड़ता है।

मुमुक्षु : ऐसा का ऐसा समझ में आये, ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अभी समझने में पुस्तक होवे तो ठीक पड़ता है। यह व्यवहार कहा।

अब निश्चय (कहते हैं)। **शुद्ध आत्मा ज्ञान है...** यह शुद्ध आत्मा ज्ञान है, शुद्ध आत्मा त्रिकाल, वह ज्ञान है। वर्तमान ज्ञान, यह शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। क्या कहा? वर्तमान जो सम्यग्ज्ञान, यह शुद्धात्मा वह ज्ञान है। आहाहा! **क्योंकि वह (शुद्धात्मा) ज्ञान का आश्रय है,...** भाषा देखो! यह ज्ञान है, वह कौन सा? आत्मज्ञान, शुद्ध आत्मा का ज्ञान हुआ, पर्याय। यह ज्ञान, वह आत्मा है। वह शुद्ध (आत्मा)। क्योंकि उस ज्ञान का आश्रय आत्मा है। आहाहा! क्या शैली! यह गजब शैली है! संक्षिप्त में बहुत समाहित कर दिया है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त के व्यवहारों की तो कहीं बातें ही उड़ा दी। आहाहा! छह जीव-निकाय और नव तत्त्व और छह काय की दया, यह तो अन्यत्र कहीं है नहीं। आहाहा! ऐसा जैन में रहे हुए परन्तु इस प्रकार हो तो वह सब व्यवहार है, बन्ध का कारण है। आहाहा!

शब्द श्रुतज्ञान बन्ध का कारण, नव तत्त्व की श्रद्धा बन्ध का कारण, छह जीव-निकाय चारित्र व्यवहार, बन्ध का कारण। समझ में आया? मस्तिष्क में कुछ आया था और

वापस गया। समझ में आया? वह आया है न? परसत्तावलम्बी ज्ञान। बनारसीदास, परमार्थवचनिका। परसत्तावलम्बी ज्ञान, वह मोक्ष का कारण नहीं है। इसी प्रकार यह शास्त्र का ज्ञान परसत्तावलम्बी ज्ञान है। आहाहा! मस्तिष्क में आया था, वापस चला गया, और वापस आया। कुछ आया था। ऐसे तो आवे तब आवे। यह कहीं तैयार कर रखा है? आहाहा! यह जितना परसत्तावलम्बी जानपना है... आहाहा! वह सब बन्ध का कारण है। बनारसीदास कहे गये हैं, लो! और यह वापस अन्त में ऐसा कहा है कि यह वचनिका केवलीवचन अनुसार है। है? उसमें अन्तिम शब्द है। यह वचनिका केवलज्ञानी के वचन अनुसार है। ये समकिती गृहस्थाश्रमी ऐसा कहे? हाँ, सुन न अब। है या नहीं? है यहाँ?

मोक्षमार्गप्रकाशक, देखो! यही निकला। **(तत्त्व) वचनातीत, इन्द्रियातीत, ज्ञानातीत है, इसलिए यह विचार बहुत क्या लिखना? जो ज्ञाता होगा, वह थोड़ा लिखा हुआ (भी) बहुत समझेगा। जो अज्ञानी होगा, वह यह चिट्ठी सुनेगा अवश्य, परन्तु समझेगा नहीं। यह वचनिका जैसी है, वैसी-(यथायोग्य)-सुमतिप्रमाण केवलीवचनानुसार है।** आहाहा! अब इसे कहे, इन गृहस्थों के वचन को न माने। मुनि हो या केवली हो, समकिती है, उनके वचन तो केवली जैसे ही होते हैं, उनमें फेरफार कहीं नहीं होता, स्थिरता में अन्तर है, रागादि में (अन्तर है)। आहाहा!

शुद्ध आत्मा ज्ञान... यहाँ शुद्ध आत्मा का ज्ञान है, ऐसा न कहकर शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। यह क्या कहा? कि जो यहाँ शुद्ध आत्मा का ज्ञान होता है, वह शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। क्योंकि उस ज्ञान का आश्रय शुद्ध आत्मा है। सम्यग्ज्ञान—निश्चय सम्यग्ज्ञान। यह शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है, शुद्ध आत्मा, शुद्ध आत्मा वह ज्ञान है। क्यों यह ज्ञान कहा? कि स्व चैतन्य के आश्रय से हुआ सम्यग्ज्ञान। जिसका आधार भगवान है, उसके आश्रय से हुआ ज्ञान, वह शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। है तो ज्ञान की पर्याय परन्तु शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। क्या कहा समझ में आया?

जैसे उसमें कहा, नव तत्त्व वह श्रद्धा है। आचारांग शब्दश्रुत ज्ञान है। वैसे यहाँ शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। शुद्ध आत्मा तो त्रिकाली द्रव्य है और ज्ञान तो वर्तमान पर्याय है, परन्तु

यह शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। क्यों ? ज्ञान कौन ? पर्याय, सम्यग्ज्ञान की पर्याय। यह शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। ले! ज्ञान की पर्याय, यह शुद्ध आत्मा वह ज्ञान है। **क्योंकि वह (शुद्धात्मा) ज्ञान का आश्रय है,...** वह सम्यग्ज्ञान का आधार, हेतु, निमित्त, निमित्त भी कहलाता है। निमित्त, कारण, हेतु, आश्रय इस सम्यग्ज्ञान का हेतु, कारण द्रव्य है, शुद्ध द्रव्य है। इसलिए शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। समझ में आया ? ऐसी बातें हैं। वह छह काय की दया पालो, व्रत पालो और अपवास करो, यह सीधा सट्ट था— भटकने का। आहाहा! ऐसा वीतराग का मार्ग। आहाहा! परमेश्वर त्रिलोकनाथ! आहाहा!

जैसे उसमें ऐसा कहा कि शब्दश्रुत, वह ज्ञान है, वह शब्द वह ज्ञान है, ऐसा। यह शब्द वह ज्ञान है। यहाँ शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। वह शब्दश्रुत जो ज्ञान का आश्रय था, इसलिए उसे शब्दश्रुत कहा। इसी प्रकार इस ज्ञान की पर्याय में आश्रय द्रव्य है, इसलिए शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। समझ में आया ? सम्यग्ज्ञान उसे कहते हैं कि जो शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। क्योंकि ज्ञान का आश्रय शुद्ध आत्मा है। सम्यग्ज्ञान का ध्येय वहाँ द्रव्य के ऊपर है। आहाहा! ऐसी बात है। भले उसे पाँच समिति और तीन गुप्ति का ज्ञान हो, ग्यारह अंग और नौ पूर्व का न भी हो। आहाहा! परन्तु वह शुद्ध आत्मा जो त्रिकाली है, उसका ज्ञान, वह शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। शुद्ध आत्मा द्रव्य है, वह ज्ञान है। समझ में आया ? जैसे वे छह जीव-निकाय, वह चारित्र है; नव तत्त्व, वह श्रद्धा है, उसी प्रकार यह शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। क्योंकि सम्यग्ज्ञान है तो पर्याय, परन्तु उस सम्यग्ज्ञान का आधार, आश्रय, हेतु, कारण, निमित्त आत्मा है। इसलिए शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है, यह ज्ञान निश्चय है। आहाहा! विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३४०, गाथा-२७६, २७७ गुरुवार, कार्तिक शुक्ल ५
दिनाङ्क - २५-१०-१९७९

समयसार, २७६-२७७ गाथा, आज हिन्दी चलंगा। हिन्दी (लोग) आये हैं न। **टीका – आचारांगादि शब्द श्रुतज्ञान है क्योंकि वह (शब्दश्रुत) ज्ञान का आश्रय है,...** क्या कहते हैं ? शास्त्र का जो ज्ञान होता है, वह तो शब्दज्ञान है। टीका है, टीका। २७६-२७७। आचारांग आदि का ज्ञान, वह शब्दज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान नहीं। आहाहा! शास्त्र का ज्ञान—आचारांग, सूयगडांग, ठाणांण, ग्यारह अंग का जो ज्ञान (होता है), वह शब्दज्ञान है। वह शब्द का ज्ञान है, वह आत्मा का ज्ञान नहीं। आहाहा! क्योंकि जिस ज्ञान में शब्द का आश्रय है, शास्त्र के शब्द का आश्रय है, उस ज्ञान को यथार्थ ज्ञान नहीं कहते। आहाहा! सूक्ष्म बात है। समझ में आया ?

आचारांगादि शब्द श्रुतज्ञान... वह तो शब्दश्रुत है। शब्द का ज्ञान है। आहाहा! शब्द जो जड़, उनका वह ज्ञान है। आचारांग का ज्ञान है, वह तो शब्दश्रुत ज्ञान है, जड़ ज्ञान है। वह आत्मज्ञान नहीं, वह आत्मा का सम्यग्ज्ञान नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है। **क्योंकि वह (शब्दश्रुत) ज्ञान का आश्रय है,...** इस शब्दश्रुत से जो ज्ञान हुआ, उसका आश्रय शब्दश्रुत है। इस कारण से ज्ञान को ही शब्दश्रुत कहा गया है। आहाहा! यह आचारांग शास्त्र का पठन-बठन करना, वह सब पठन शब्दज्ञान है। क्योंकि शब्द है, उनका ज्ञान तो शब्दज्ञान है। आहाहा! वह आत्मज्ञान नहीं, वह सम्यग्ज्ञान नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! एक बात (हुई)।

जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं... जो सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्दर्शन है, उसका आश्रय नव तत्त्व है, तो नव तत्त्व ही व्यवहार सम्यग्दर्शन है। नव तत्त्व ही व्यवहार सम्यग्दर्शन है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं, वह सच्चा सम्यग्दर्शन नहीं। आहाहा! नव तत्त्व की श्रद्धा, उस श्रद्धा में नव तत्त्व का आश्रय है, इस कारण से नव तत्त्व को ही सम्यग्दर्शन कहा। नव तत्त्व ही सम्यग्दर्शन है, व्यवहार, हों! व्यवहार। यह सत्य सम्यग्दर्शन नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

नव तत्त्व पदार्थ **दर्शन हैं क्योंकि वे (नव पदार्थ) दर्शन के आश्रय हैं,...** व्यवहार सम्यग्दर्शन जो राग, व्यवहार सम्यग्दर्शन अर्थात् राग, उस राग का आश्रय नव तत्त्व

है तो उन नव तत्त्व को यहाँ व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है। वह सम्यग्दर्शन नहीं। समझ में आया? दो बातें (हुई)।

यहाँ बात तो यह कही कि यह जैनदर्शन वीतरागमार्ग में जो आचारांग आदि शास्त्रज्ञान है, वह शास्त्र का ज्ञान (होता है), उसे व्यवहार ज्ञान कहते हैं, सम्यग्ज्ञान नहीं। दूसरे मत का जो शास्त्रज्ञान है, वह तो व्यवहार भी नहीं। जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ, जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ, जिन्होंने बारह अंग कहे, उनमें से आचारांग आदि का ज्ञान (होता है), उसे यहाँ शब्दश्रुतज्ञान कहा है। वह व्यवहार है, वह कोई सम्यग्ज्ञान नहीं है। अन्यमत के जितने शास्त्र का ज्ञान है, वह तो व्यवहार भी नहीं। समझ में आया?

आचारांग आदि लिया है न? जैनदर्शन के ग्यारह अंग लिये हैं। आहाहा! जैनदर्शन ने जो ग्यारह अंग कहे, उन ग्यारह अंग का ज्ञान शब्दज्ञान है। क्योंकि ग्यारह अंग हैं, वह शब्द है और उनका ज्ञान है, वह शब्दज्ञान है। आहाहा! अज्ञानी के, वीतराग के अतिरिक्त, आचारांग आदि के अतिरिक्त दूसरे अज्ञानी के कोई भी शास्त्र का ज्ञान, वह तो व्यवहार शब्दज्ञान भी नहीं है। समझ में आया?

नव तत्त्व। जैन परमेश्वर ने नव तत्त्व कहे हैं। उन नव तत्त्व की श्रद्धा। नव तत्त्व, वही दर्शन है। व्यवहार, राग। व्यवहार समकित अर्थात् राग। वह राग, नव तत्त्व वही सम्यग्दर्शन है। क्योंकि व्यवहार सम्यग्दर्शन—राग का आश्रय नव तत्त्व है। नव तत्त्व के अतिरिक्त अन्यमति के जितने तत्त्व हैं, उनकी श्रद्धा तो व्यवहार भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई!

यह तो समयसार है। सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव की वाणी है, उस वाणी में जो ग्यारह अंग की रचना हुई, उन ग्यारह अंग का ज्ञान करे, वह शब्दज्ञान है; वह आत्मज्ञान नहीं। आत्मा के मोक्ष का—तिरने का उपाय नहीं। आहाहा! शास्त्रज्ञान है, वह आत्मा को तिरने का उपाय नहीं है। आहाहा! वह तो शब्दज्ञान है, बन्ध का कारण है। ऐसी बात है, प्रभु! कल तो बात आ गयी है। यह तो ये लोग नये आये हैं न!

यह नव तत्त्व, वही सम्यग्दर्शन अर्थात् भगवान ने कहे हुए जो जीव, अजीव, पुण्य-पाप (आदि) नव भेद, उन भेद की श्रद्धा, वह राग है, उस राग को व्यवहार सम्यग्दर्शन

कहा। उस सम्यग्दर्शन का आश्रय नव तत्त्व है तो नव तत्त्व, वही दर्शन है—ऐसा कहा। नव तत्त्व है, वही दर्शन है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! दो बातें (कीं)।

तीसरी बात। **(छह जीवनिकाय)...** चारित्र है। छह जीव काय है न? पृथ्वीकाय, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति (और) त्रस। छह काय। छह काय की रक्षा, वह राग है और राग का आश्रय छह काय के जीव हैं तो उन छह काय के जीव को व्यवहारचारित्र कहा। बात तो छह काय (और) पंच महाव्रत; छह काय तो एक बोल लिया है, परन्तु छह काय और पंच महाव्रत के परिणाम का आश्रय पर है। वह पर छह काय जीव है, वही चारित्र कहा। व्यवहार—राग। क्योंकि छह काय है, राग है, उसमें लक्ष्य पर जीव—छह काय के ऊपर जाता है, तो छह काय वही स्वयं व्यवहारचारित्र अर्थात् राग है। सच्चा चारित्र नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह छह जीव-निकाय वह वीतराग ने कहे वे छह (काय) जीव। अज्ञानी को कहीं छह काय जीव नहीं है। अज्ञानी को कहीं नव तत्त्व भी नहीं है। अज्ञानी को कोई आचारांग आदि शास्त्र भी नहीं है।

यह तो जैन में रहे हुए आचारांग आदि शास्त्र, जैन में रहे हुए जो नव तत्त्व और जैन में कहे हुए जो छह काय के जीव, उनके आश्रय से होनेवाली जो श्रद्धा या ज्ञान या चारित्र, वह सब व्यवहार है। क्योंकि राग का आश्रय पर है, राग का आश्रय पर है। इसलिए उसे व्यवहार कहने में आया है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म। कल तो आया था।

क्योंकि वह (छह जीवनिकाय) चारित्र का आश्रय है;... 'चारित्र' शब्द से राग। पंच महाव्रत का शुभराग है न? उस राग का आश्रय छह काय का लक्ष्य है तो उन छह काय के जीव को ही चारित्र कहने में आया है। व्यवहार—राग। समझ में आया? जिस राग का आश्रय छह जीव-निकाय आदि हैं तो छह जीव-निकाय को ही व्यवहारचारित्र कहा। व्यवहारचारित्र अर्थात् राग। उस राग में छह जीव निकाय के जीव का आश्रय है तो उसे व्यवहार कहा। वह राग है, बन्ध का कारण है। आहाहा!

आचारांग आदि का ज्ञान भी बन्ध का कारण है। नव तत्त्व की श्रद्धा का राग समकित (व्यवहार) वह भी बन्ध का कारण है और छह काय की दया का भाव तथा छह काय के जीव के लक्ष्य से हुआ राग, वह बन्ध का कारण है। वह मोक्ष का कारण नहीं। आहाहा! समझ में आया?

अब (कहते हैं) **इस प्रकार व्यवहार है।** इस प्रकार व्यवहार है। इस प्रकार से व्यवहार है। शब्दश्रुत ज्ञान, जिस ज्ञान में शब्दश्रुत निमित्त है तो वह शब्दज्ञान व्यवहार है, सच्चा ज्ञान नहीं। ऐसे नव तत्त्व की श्रद्धा, वह नव तत्त्व ही दर्शन है। क्योंकि सम्यग्दर्शन—राग, व्यवहार, राग का आश्रय नव तत्त्व है, तो नव तत्त्व, उसे दर्शन (कहा), वह व्यवहार है। इसी तरह छह काय की दया का भाव, उसमें छह काय का आश्रय है तो उस दया के भाव को, छह काय के जीव, वही चारित्र कहा। वह राग है, वह व्यवहार है, वह बन्ध का कारण है। गजब बात है।

क्योंकि यह शास्त्र आदि का ज्ञान, नव तत्त्व के भेदवाली श्रद्धा और छह काय की दया का भाव, इनमें आत्मा उपादेय है, यह बात नहीं आयी। आहाहा! आत्मा त्रिकाली शुद्ध चैतन्य उपादेय आया नहीं। वह आया नहीं तो उस श्रद्धा, ज्ञान में सात प्रकृति का उपशम, क्षयोपशम, क्षय भी नहीं हुआ। क्या कहा? आहाहा!

जिसने यह शास्त्र का ज्ञान किया, वह शब्दज्ञान। उसमें आत्मा उपादेय नहीं आया। उसमें तो राग उपादेय आया। तो राग जो हेय है, हेय है, बन्ध का कारण है, उसको अपना माना तो उसमें मिथ्यात्व प्रकृति आदि सात प्रकृति का उपशम, क्षयोपशम (हुआ नहीं)। आत्मा शुद्ध चैतन्य उपादेय है, ऐसा आया नहीं तो वह नव तत्त्व की श्रद्धा, छह काय की दया अथवा शास्त्रज्ञान में, सात प्रकृति का उपशम, क्षयोपशम नहीं हुआ। आत्मा को उपादेय किये बिना सात प्रकृति का उपशम, क्षयोपशम नहीं होता। आहाहा! भारी कठिन काम। समझ में आया? भाषा समझ में आती है। आहाहा!

जिसमें पर आश्रय आया, जिस ज्ञान में पर शब्द का ज्ञान आया; जिस श्रद्धा में नव तत्त्व का आश्रय आया, जिस दया के भाव में, व्यवहार—राग में छह काय का आश्रय आया, वह बन्ध का कारण है। कारण कि उसमें आत्मा त्रिकाली शुद्ध चैतन्य है, वह उपादेय है—ऐसा नहीं आया। आया नहीं तो उसमें कर्म की प्रकृति का उपशम, क्षयोपशम, क्षय हुआ नहीं। समझ में आया? आहाहा! यह नव तत्त्व की श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान और छह काय की दया का, पंच महाव्रत, उस दशा में त्रिकाल आत्मा जो उससे भिन्न है, ऐसी उपादेयबुद्धि हुई नहीं, तो उन तीन में कर्म की प्रकृति का उपशम, क्षयोपशम हुआ नहीं। आहाहा! तीनों

बोल में दर्शनमोह का उदय है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

जिनेश्वरदेव, जिनेश्वर स्वयं यह कहते हैं, हमारे कहे हुए शास्त्र, हमने कहे हुए नव तत्त्व, हमने कहे हुए छह काय के जीव, उनके आश्रय से तेरी श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र (हो), वह सब बन्ध का कारण है। हम निमित्त हैं तो हस्तावलम्बरूप से दिखाया। आता है न? भाई! ग्यारहवीं गाथा, ग्यारहवीं गाथा। हस्तावलम्ब रूप से, निमित्त रूप से दिखलाया, परन्तु है बन्ध का कारण; वह मोक्ष का कारण और धर्मरूप नहीं है। आहाहा! हस्तावलम्ब रूप से निमित्त थे, इसलिए निमित्त का कथन किया। शास्त्र का ज्ञान व्यवहार, छह काय की दया व्यवहार, नव तत्त्व की श्रद्धा व्यवहार, वह हस्तावलम्ब निमित्त है तो बात की है, परन्तु है बन्ध का कारण। आहाहा! छह काय की दया पाले तो कहे, बन्ध का कारण।

मुमुक्षु : छह काय में स्वयं रह जाता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं पूरा कहा न, शुद्ध उपादान उपादेय परमात्मस्वरूप है, अपना निजानन्द प्रभु उपादेय करना तो रह गया और तेरी दृष्टि यहाँ रुक गयी। शास्त्र के ज्ञान में, नव तत्त्व की भेद श्रद्धा में और छह काय की दया, पँच महाव्रत में तेरी रुचि रुक गयी। भगवान अन्दर शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु है... आहाहा! उसका आश्रय और अवलम्बन रह गया, तो तुझे कुछ लाभ नहीं हुआ। लाभ हुआ—बन्ध का। आहाहा! कल बनारसीदासजी का परसत्तावलम्बी का कहा था। परसत्तावलम्बी ज्ञान बन्ध का कारण है। आहाहा!

ज्ञानी को भी स्व के आश्रय में पूर्ण आश्रय न हो, तब तक वह आता है, परन्तु है बन्ध का कारण। और अज्ञानी को तो अकेला है तो मात्र बन्ध का कारण है। आहाहा! धर्मी जीव को शुद्ध आत्मा... यह कहते हैं, देखो! **शुद्ध आत्मा ज्ञान है...** है तीसरी लाईन? **शुद्ध आत्मा ज्ञान है...** है? क्या कहते हैं? **शुद्ध आत्मा ज्ञान है...** शुद्ध आत्मा तो त्रिकाली चीज़ है। शुद्ध आत्मा तो त्रिकाली चीज़ है, वह ज्ञान है। क्यों ऐसा कहा? कि उस ज्ञान का आश्रय शुद्ध आत्मा है, इसलिए शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है—ऐसा कहा। आहाहा! शब्द के ज्ञान में शब्द का आश्रय था, इसलिए शब्दज्ञान कहा। यहाँ शुद्धात्मा का ज्ञान (कहा)। जिस ज्ञान में शुद्धात्मा का आश्रय हुआ, उस ज्ञान को ज्ञान कहने में आता है, तो शुद्धात्मा का ज्ञान, वह ज्ञान है। क्यों? क्योंकि वह शुद्धात्मा ज्ञान का आश्रय है। सम्यग्ज्ञान का आश्रय शुद्धात्मा

है, सच्चे ज्ञान का आश्रय शुद्धात्मा है। सच्चे ज्ञान के आश्रय में शास्त्र के ज्ञान का आश्रय नहीं है। आहाहा! फिर सोनगढ़ का विरोध करे न?

मुमुक्षु : कुज्ञान ही चला है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरी प्रवृत्ति ही यह चली है, बापू! अन्दर भगवान शुद्ध चैतन्य सच्चिदानन्द प्रभु, पवित्र अनन्त गुण का पिण्ड पवित्र है, वह शुद्ध चैतन्य द्रव्य है। उसे उपादेय करके जो ज्ञान हुआ तो उस शुद्धात्मा का ज्ञान, वह ज्ञान। शुद्धात्मा का ज्ञान। ऐसा कहा है न यहाँ? **शुद्ध आत्मा ज्ञान है...** शुद्धात्मा का, ऐसा भी नहीं लिया। **शुद्ध आत्मा ज्ञान है...** क्यों ऐसा कहा? जैसे उसमें कहा कि शब्दज्ञान, शास्त्र का ज्ञान, वह शब्दज्ञान है। क्योंकि उस ज्ञान में शब्द का आश्रय था। वैसे शुद्ध आत्मा ज्ञान है, क्योंकि उस ज्ञान में शुद्ध आत्मा का आश्रय है। आहाहा! समझ में आया? आश्रय ऐसे गुलांट खाता था, अब आश्रय ऐसे (अन्दर) किया। व्यवहार ज्ञान में पर का आश्रय था। निश्चय सम्यग्ज्ञान में स्व का आश्रय है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! अभी तो प्रवृत्ति व्यवहार, व्यवहार, व्यवहार अकेली। क्या हो?

तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान विराजते हैं, उनकी यह वाणी है। समझ में आया? महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर परमात्मा विराजते हैं, वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य मुनि गये थे। संवत् ४९। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये और इस शास्त्र में यह आया। अरेरे! भगवान ऐसा कहते हैं कि हमारी वाणी में से जो शास्त्र रचे गये, उस शास्त्रज्ञान से तुझे जो ज्ञान हुआ, वह शब्दज्ञान कहलाता है। ऐसा भगवान कहते थे। आहाहा! समझ में आया?

और शुद्ध आत्मा ज्ञान है... शुद्ध आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान—ऐसा नहीं लिया। क्या कहते हैं? शुद्ध आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान—ऐसा नहीं है। शुद्ध आत्मा ज्ञान है, (ऐसा कहा है)। जैसे उसमें ऐसा लिया कि शास्त्रज्ञान, वह शब्दज्ञान है। क्योंकि शास्त्र शब्द है न? तो शब्द का ज्ञान, वह शब्दज्ञान है। शब्द का ज्ञान, वह शब्दज्ञान है। ऐसे यहाँ शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। क्योंकि जिस ज्ञान में शुद्धात्मा उपादेय आया। शुद्ध भगवान पूर्णानन्द प्रभु, जिस ज्ञान में आदरणीय-उपादेय आया, वह शुद्धात्मा, वही ज्ञान है। आहाहा! समझ में आया?

पहले में ऐसा लिया कि शास्त्र का ज्ञान, वह शब्दज्ञान है। ज्ञान तो यहाँ हुआ, परन्तु

वह शब्दज्ञान है। यहाँ कहते हैं कि शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। शुद्ध आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान—ऐसा न लेकर (यह कहा)। पहले में भी शब्दज्ञान—शब्द से ज्ञान हुआ, इसलिए शब्दज्ञान, ऐसा नहीं लिया। वहाँ तो शब्दज्ञान जो है, वह शब्दज्ञान ही है, उसका ही ज्ञान है। समझ में आया? ऐसे यहाँ कहते हैं कि शुद्ध आत्मा का ज्ञान वह ज्ञान, नहीं। शुद्ध आत्मा ज्ञान है। क्योंकि जिस ज्ञान की पर्याय में शुद्ध आत्मा उपादेय हुआ, इसलिए शुद्ध आत्मा, वह ज्ञान है। ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। आहाहा! वीतराग सर्वज्ञदेव का यह हुकम है।

शुद्ध आत्मा ज्ञान है... ऐसा नहीं कहा कि शुद्ध आत्मा का आश्रय, वह ज्ञान है। ऐसा नहीं कहा। पहले में ऐसा नहीं कहा कि ज्ञान में शब्दश्रुत आश्रय है, इसलिए शब्दज्ञान है। जिस ज्ञान में शब्द आश्रय है, वही शब्दज्ञान है। आहाहा! धीरे-धीरे समझना, प्रभु! यह तो धर्मकथा है। यह कोई वार्ता नहीं। यह तो त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर की दिव्यध्वनि में निश्चय और व्यवहार आये, उनकी यह बात है। आहाहा!

भगवान तो ऐसा कहते हैं... आहाहा! कि हमारी जो वाणी निकली और वाणी से गणधरों ने शास्त्र रचे, उस शास्त्र का ज्ञान किया, वह शास्त्रज्ञान शब्दज्ञान है। आहाहा! शास्त्र का ज्ञान तो यहाँ हुआ है, परन्तु उस ज्ञान को शब्दज्ञान कहा। वह शब्द का ज्ञान है। आहाहा! ऐसा यहाँ कहते हैं कि शुद्ध आत्मा का आश्रय लेनेवाला ज्ञान, ऐसा नहीं कहा। वह शुद्ध आत्मा ज्ञान है। क्यों? है? **क्योंकि वह (शुद्धात्मा) ज्ञान का आश्रय है,...** सम्यग्ज्ञान का आश्रय शुद्ध आत्मा है। जिस ज्ञान में शुद्ध आत्मा उपादेयरूप से आया, उस ज्ञान को शुद्धात्मा का ज्ञान कहने में आता है। आहाहा! ऐसी बातें। कहो, बलुभाई! उस वर्षीतप में कहीं समझ / भान था? (इन्होंने) वर्षीतप किया था। लंघन। एक दिन भोजन, एक दिन अपवास। श्वेताम्बर में करते हैं न? आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं कि हम तुझसे परद्रव्य हैं तो तेरा लक्ष्य हमारे ऊपर जाएगा तो तुझे राग होगा। आहाहा! और तेरा लक्ष्य हमारे शास्त्र के शब्द पर जाएगा तो तुझे शब्द का ज्ञान होगा, आत्मा का (ज्ञान) नहीं होगा। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! और तेरा लक्ष्य नव तत्त्व पर जाएगा तो नव तत्त्व ही व्यवहार समकित, राग है। इसी तरह तेरा लक्ष्य छह जीव-निकाय पर या पंच महाव्रत के परिणाम पर जाएगा तो वह छह काय के जीव, वह चारित्र है।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि शुद्ध आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान है। शुद्ध आत्मा का आश्रय उस ज्ञान ने लिया, ऐसा पहले शब्द नहीं लिया है। **शुद्ध आत्मा ज्ञान है**... (ऐसा कहा है)। क्योंकि त्रिकाली शुद्धस्वरूप ज्ञान में आया और उस ज्ञान में शुद्ध आत्मा को उपादेय किया तो उस शुद्ध आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान है। क्योंकि उस ज्ञान का आश्रय शुद्धात्मा है। उस ज्ञान का आश्रय शुद्धात्मा है। व्यवहार ज्ञान का आश्रय पर है। व्यवहार शब्दज्ञान का आश्रय शब्द है और निश्चय सम्यग्ज्ञान का आश्रय शुद्ध आत्मा है। ऐसे दो गुलांट खायी है। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

शुद्ध आत्मा ज्ञान है... कल अपने यह आया था? आहाहा! क्यों? शुद्ध आत्मा ज्ञान है। शुद्ध आत्मा तो त्रिकाली वस्तु है। शुद्ध आत्मा तो त्रिकाली चीज़ है। परन्तु शुद्ध आत्मा को उपादेय करके जो ज्ञान हुआ, उस शुद्धआत्मा के ज्ञान में शुद्ध आत्मा का आश्रय हुआ। शुद्धात्मा के ज्ञान में शुद्ध आत्मा का आश्रय हुआ, इसलिए शुद्ध आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान है। आहाहा! अलौकिक बात है। साधारण लोगों को पकड़ना कठिन पड़ता है। आहाहा!

ऐसे दो दिशा बदली है कि नव तत्त्व की श्रद्धा, शब्दज्ञान और चारित्र। यह राग की दशा पर-सन्मुख की दिशा के ऊपर है। इसीलिए उसे शब्दज्ञान, नव तत्त्व की श्रद्धा और छह काय का चारित्र, ऐसा कहा। जिसमें पर का आश्रय है, उसे ही पर का स्वरूप कहा; और जिस ज्ञान में स्व का आश्रय है, उसे वह शुद्धात्म ज्ञान ही कहा। उस शुद्ध आत्मा का आश्रय करके जो ज्ञान प्रगट हुआ, उस ज्ञान का आश्रय शुद्धात्मा है, इसलिए शुद्धात्मा, वह ज्ञान है। चन्दुभाई! आहाहा! सम्यग्ज्ञान उसे कहते हैं। मोक्ष का मार्ग जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीन, उनमें एक अवयव ज्ञान यहाँ पहला लिया है, यहाँ दर्शन पहला नहीं लिया। वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र लिया है। यहाँ पहला ज्ञान (लिया है)। क्यों? कि ज्ञान में जो चीज़ है, उसे समझने के बाद उसकी प्रतीति अन्दर अनुभव होता है। हैं?

मुमुक्षु : टोडरमलजी ने भी ऐसा ही लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही लिया है। टोडरमलजी ने नव तत्त्व का श्रद्धान लिया है। तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन। टोडरमलजी ने तत्त्वार्थ श्रद्धा में वहाँ आगे पहले जीव लिया है। नौ तत्त्व लिये हैं, परन्तु वह अभेद से लिया है। इतनी बात।

मुमुक्षु : ज्ञान पहले लिया है, बाद में दर्शन लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्धात्मा का ज्ञान, वह ज्ञान है। क्योंकि उस ज्ञान में शुद्धात्मा का आश्रय-अवलम्बन है। आहाहा! शास्त्रज्ञान आदि को तो परसत्तावलम्बी ज्ञान कहने में आया है। वह तो बन्ध का कारण है। परद्रव्य की ओर का लक्ष्य है न? आहाहा! और यह ज्ञान—सम्यग्ज्ञान उसे कहते हैं कि शुद्धात्मा ज्ञान। शुद्धात्मा का ज्ञान, ऐसा नहीं। शुद्ध आत्मा ज्ञान है। क्यों?—कि ज्ञान का शुद्धात्मा आश्रय है इसलिए। आहाहा! समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म है।

इसी प्रकार यहाँ शब्द लिया है न? देखो न! उसमें भी कहीं लिया है न? शब्दश्रुत ज्ञान। क्योंकि उसमें लिया है न? शब्दश्रुत क्यों? कि, शब्दश्रुत ज्ञान का आश्रय है। शब्द के ज्ञान में शब्द आश्रय है। इसी तरह शुद्धात्मा का ज्ञान है, उस ज्ञान में शुद्धात्मा आश्रय है। गुलाँट खिलायी है। आहाहा! समझ में आया? धीरे से बात समझना। सूक्ष्म है, भाई! यह तो अपूर्व वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं है। सर्वज्ञ परमात्मा, वह भी दिगम्बर धर्म के सिवाय यह बात कहीं नहीं है। आहाहा! सनातन जैनदर्शन की ध्वनि यह है। आहाहा!

कहते हैं कि पहले में ऐसा कहा कि आचारांग आदि शब्दश्रुत ज्ञान। आचारांग आदि का श्रुतज्ञान, ऐसा नहीं कहा। क्या कहा? आचारांग आदि का ज्ञान, ऐसा नहीं कहा। आचारांग आदि शब्दश्रुत ज्ञान, ऐसा कहा। बड़ा अन्तर है। शब्द-अन्तर है। आचारांग आदि शब्दश्रुत ज्ञान। आचारांग आदि का, ऐसा नहीं कहा। आचारांग आदि शब्दश्रुत ज्ञान। क्योंकि यह ज्ञान हुआ, उसमें श्रुतज्ञान का अवलम्बन है। इसलिए वह शब्दज्ञान ही है। वह शब्दज्ञान ही है। आहाहा! समझ में आया? इसी तरह नव तत्त्व में भी श्रद्धा में नव तत्त्व का आश्रय है तो नव तत्त्व वह दर्शन है। व्यवहार-राग। नव तत्त्व ही व्यवहार है। क्योंकि नव तत्त्व व्यवहार दर्शन का आश्रय है और छह काय के जीव चारित्र है, क्योंकि व्यवहार चारित्र में आश्रय छह काय के जीव का वहाँ लक्ष्य है। आहाहा! समझ में आया? मार्ग तो अपूर्व है, भाई! आहाहा!

इसी प्रकार यहाँ कहा **शुद्ध आत्मा ज्ञान है**... शुद्ध आत्मा का ज्ञान, ऐसा नहीं

कहा। समझ में आया? उसमें आचारांग आदि का ज्ञान, ऐसा नहीं कहा। आचारांग आदि का ज्ञान, ऐसा नहीं कहा। आचारांग आदि शब्दश्रुत ज्ञान, ऐसा कहा है। उसमें कुछ अन्तर है? चन्दुभाई! आहाहा! बड़ा अन्तर है। दिशा फेर है। व्यवहार ज्ञान, व्यवहार श्रद्धा और व्यवहार चारित्र की दशा की दिशा (परसन्मुख) ऐसे है। और निश्चय ज्ञान, दर्शन की दशा की दिशा यहाँ (अन्दर सन्मुख) है। समझ में आया? भाषा समझ में आती है? थोड़ी-थोड़ी हल्की है। आहाहा!

शास्त्रज्ञान, उसे ज्ञान कहा। शास्त्र का ज्ञान, उसे ज्ञान—ऐसा नहीं कहा? वह शास्त्र का ज्ञान, वह ज्ञान है। वह शब्दश्रुत वह ज्ञान है। ऐसा कहा। क्योंकि जिस ज्ञान में शब्दश्रुत का आश्रय, हेतु, कारण, निमित्त, आश्रय, लक्ष्य वहाँ जाता है, इसलिए (कहा)। इसी प्रकार यहाँ **शुद्ध आत्मा ज्ञान है**... शुद्ध आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान—ऐसा न लेकर, शुद्ध आत्मा वह ज्ञान है (ऐसा लिया)। उस ज्ञान में शुद्ध आत्मा का लक्ष्य जाता है, उस सम्यग्ज्ञान में शुद्धात्मा का आश्रय रहता है। सम्यग्ज्ञान में शास्त्र के ज्ञान का आश्रय नहीं रहता। आहाहा! अब इसमें कहाँ पढ़ने का समय मिले? मनसुख! व्यापार के कारण, धन्धे के कारण समय कहाँ मिलता है? और पढ़े तो अन्दर से समझ में भी नहीं आता। आहाहा! अरे! समय चला जाता है।

प्रभु कहते हैं कि ज्ञान—सम्यग्ज्ञान मोक्ष के मार्ग का जो अवयव, तीन होकर मोक्षमार्ग है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र। उन तीन में जो अवयवी का अवयव सम्यग्ज्ञान, यह शुद्धात्मा, वह ज्ञान। शुद्धात्मा का ज्ञान, वह ज्ञान न कहकर, शुद्ध आत्मा वह ज्ञान है। अर्थात् कि जिस ज्ञान में शुद्धात्मा का आश्रय है, इसलिए शुद्धात्मा, वह ज्ञान कहने में आया है। भाषा गुजराती आ जाती है। आहाहा! गाथा ऐसी आ गयी है। आहाहा!

शुद्ध आत्मा दर्शन है... उसमें दूसरे में क्या कहा था? नव तत्त्व, वह दर्शन है। नव तत्त्व, वह दर्शन। दर्शन—व्यवहार दर्शन तो राग है, व्यवहार समकित वह तो राग है। परन्तु नव तत्त्व, वह दर्शन (ऐसा कहा)। क्योंकि राग का आश्रय वह है। आहाहा! समझ में आया? इसी प्रकार यहाँ **शुद्ध आत्मा दर्शन है**... शुद्ध आत्मा की श्रद्धा दर्शन है, ऐसा नहीं लिया। शुद्ध आत्मा दर्शन है। भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, शुद्ध चैतन्य द्रव्यस्वस्वभाव,

वह दर्शन है। क्योंकि वह दर्शन का आश्रय है। निश्चय सम्यग्दर्शन का आश्रय शुद्ध आत्मा है। आहाहा! निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्मा के आश्रय से होता है। वह कोई निमित्त के आश्रय से नहीं होता, राग के आश्रय से नहीं होता, पर्याय के आश्रय से नहीं होता। तीनों निकाल दिये। **शुद्ध आत्मा, (वह) दर्शन है...** क्योंकि उस सम्यग्दर्शन का आश्रय शुद्धात्मा है, इसलिए शुद्ध आत्मा, वह दर्शन कहा। शुद्धात्मा की श्रद्धा, वह दर्शन—ऐसा नहीं लिया। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा अटपटा किसलिए लिया?

पूज्य गुरुदेवश्री : इस प्रकार ही लेते हैं, अटपटा नहीं, इस प्रकार से वस्तु का स्वरूप है। इसमें यह (पर) आश्रय है तो इसमें यह (स्व) आश्रय है, ऐसे लेना है। व्यवहार में वह (पर) आश्रय है, निश्चय में स्व आश्रय है, ऐसा लेना है। अटपटा नहीं है। आहाहा! स्वाश्रय निश्चय, पराश्रय व्यवहार। आहाहा! भाई! यह तो वीतरागी बात है, भाई! मुनि... आहाहा! 'मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलं।' कुन्दकुन्दाचार्य तीसरे नम्बर में (लिये)। पहले भगवान, दूसरे गणधर, तीसरे कुन्दकुन्दाचार्य। उनकी यह वाणी है। आहाहा! दिगम्बर सन्त मुनि जंगल में रहते थे और भगवान के पास गये थे, वहाँ से आकर यह बनाया है। आहाहा!

भगवन्त! तेरे व्यवहार ज्ञान के आश्रय में तो शास्त्र है, शब्द है; इसीलिए उसे शब्दज्ञान कहा गया है। निश्चयज्ञान में आश्रय शुद्धात्मा है, इसलिए शुद्धात्मा, वह ज्ञान कहने में आया है। आहाहा! ऐसे शब्दश्रुत को ज्ञान कहने में आया; वह ज्ञान, शुद्धात्मा वह ज्ञान है—ऐसा कहने में आया। आहाहा! रतनचन्दजी! ऐसा मार्ग है। **शुद्ध आत्मा दर्शन है...** यह सम्यग्दर्शन, सच्चा सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्दर्शन। जिसमें शुद्धात्मा उपादेय वर्तता है, शुद्धात्मा उपादेय वर्तता है—ऐसा जो दर्शन, उसे सात प्रकृति का उपशम, क्षयोपशम, क्षय वर्तता है। जैसे यहाँ स्व का आश्रय लिया, त्रिकाल चिदानन्द भगवान पूर्णानन्द स्वद्रव्य स्वभाव के आश्रय से दर्शन हुआ तो वह शुद्ध आत्मा ही दर्शन है। उसके आश्रय से हुआ तो वही दर्शन है। आहाहा! समझ में आया? है इसमें?

यह तो वीतराग और उसमें कुन्दकुन्दाचार्य (कहते हैं)। आहाहा! न हुए, न होंगे—

कहा है न, बनारसीदास ने ? कुन्दकुन्दाचार्य जैसे हुए नहीं, होंगे नहीं, है नहीं—ऐसा कहा है। आहाहा! साक्षात् त्रिलोक के नाथ के पास गये थे। मुनि थे, भावलिंगी सन्त थे। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय थे। सच्चा मोक्षमार्ग था। वे भगवान के पास गये थे, वे वहाँ से आकर यह कहते हैं। आहाहा! टीका अमृतचन्द्राचार्य की है। परन्तु यह तो भाव में भरा है, वह टीका करते हैं। अन्दर भाव में यह बात पड़ी है।

मुमुक्षु : एक हजार वर्ष के बाद यह टीका हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इतनी गम्भीर चीज़ है कि करनेवाले एक हजार वर्ष में निकले। क्या कहा ? इतनी गम्भीर चीज़ थी, यह शास्त्र इतना गम्भीर है कि हजार वर्ष में अमृतचन्द्राचार्य टीका करनेवाले निकले। इसमें महत्ता है, तुच्छता नहीं।

मुमुक्षु : पण्डितजी ऐसा कहते हैं हजार वर्ष के बाद इसका स्पष्टीकरण आप कर रहे हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आया ? आहाहा!

(**श्रोता :** सुननेवाले का भी भाग्य है)।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो कहते हैं, **शुद्ध आत्मा दर्शन**... निश्चय समकित किसे कहना ? कि निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्मा वह। निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्मा वह। शुद्ध आत्मा, वह सम्यग्दर्शन, ऐसा क्यों कहा ? नहीं तो सम्यग्दर्शन तो पर्याय है और आत्मा तो द्रव्य है। समझ में आया ? शुद्ध आत्मा, वह तो द्रव्य है; दर्शन है, वह तो पर्याय है और यहाँ तो कहते हैं, शुद्ध आत्मा, वह दर्शन है। यह द्रव्य है, वह पर्याय है।

मुमुक्षु : शुद्ध आत्मा को एक समय का बना दिया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : समय का बनाया नहीं। है तो त्रिकाल। परन्तु इस सम्यग्दर्शन का आश्रय त्रिकाली है, इसलिए उसे शुद्ध आत्मा वह समकित है—ऐसा कहा। समकित तो पर्याय है, परन्तु उस पर्याय का आश्रय त्रिकाली द्रव्य है। त्रिकाली भगवान पूर्णानन्द का नाथ, वह सम्यग्दर्शन में आदरणीय है। आहाहा! समझ में आया ?

शुद्ध आत्मा दर्शन है क्योंकि... प्रत्येक में क्योंकि कहा है। उसमें भी क्योंकि,

कहा था। **क्योंकि वह दर्शन का आश्रय है,...** सम्यग्दर्शन का आलम्बन त्रिकाली भगवान है। त्रिकाली शुद्ध चैतन्यप्रभु, द्रव्यस्वभाव, वह सम्यग्दर्शन का आश्रय—आलम्बन है। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन हुआ है। सम्यग्दर्शन कोई देव-गुरु की श्रद्धा से नहीं हुआ, किसी राग से नहीं हुआ, किसी पर्याय से नहीं हुआ। वह त्रिकाली शुद्धात्मा को आदर करने से सम्यग्दर्शन हुआ है; इसलिए शुद्ध आत्मा वह सम्यग्दर्शन है। आहाहा! बात तो ऐसी आयी है।

क्योंकि वह दर्शन का आश्रय है,... कौन? शुद्ध आत्मा। शब्द इतना है **शुद्ध आत्मा दर्शन है...** क्यों? **क्योंकि वह दर्शन का आश्रय है,...** कौन? शुद्ध आत्मा। सम्यग्दर्शन का आश्रय शुद्ध आत्मा है। यह शब्द फिर से नहीं डाला। पहले इतना डाला, **शुद्ध आत्मा, (वह) दर्शन है...** क्यों? कि **वह दर्शन का आश्रय...** शुद्ध आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? भाषा थोड़ी है परन्तु भाव गम्भीर है। यह तो जैनदर्शन है, उसमें भी दिगम्बर दर्शन है। कहीं नहीं है, इसके अतिरिक्त कहीं मार्ग नहीं है। श्वेताम्बर में भी नहीं है तो अन्यमत में तो होगा ही कहाँ से? आहाहा! यह चीज़ श्वेताम्बर में भी नहीं है। क्योंकि उन्होंने कल्पित शास्त्र बनाकर दो हजार वर्ष पहले श्वेताम्बर पन्थ निकाला है। यह तो सनातन वीतराग परमात्मा (द्वारा निरूपित है)। आहाहा! इसकी गम्भीरता तो देखो! आहाहा! एक शब्दफेर से कितनी गम्भीरता है!!

शुद्धात्मा का दर्शन, वह दर्शन—ऐसा शब्द न लेकर; शुद्धात्मा का ज्ञान, वह ज्ञान न लेकर, शुद्ध आत्मा वह ज्ञान है (ऐसा कहा)। क्योंकि ज्ञान का आश्रय शुद्धात्मा है। शुद्धात्मा, वह दर्शन है। शुद्धात्मा की श्रद्धा, वह दर्शन है—ऐसा न लेकर शुद्धात्मा, वह दर्शन है (-ऐसा लिया)। क्यों? कि दर्शन का आधार शुद्धात्मा है। आहाहा! सम्यग्दर्शन त्रिकाली शुद्धात्मा का आदर करता है। सम्यग्दर्शन त्रिकाली ज्ञायक द्रव्यस्वभाव का आदर करता है। इस कारण से शुद्धात्मा, वह दर्शन है, ऐसा कहा गया है। आहाहा! भाषा तो सादी है, परन्तु भाव तो गम्भीर, बहुत गम्भीर!!

ओहोहो! इन मुनिराज ने जंगल में (रहकर) टीका की है, उसमें अमृतचन्द्राचार्य ने... आहाहा! अकेला अमृत बहाया है। हजार वर्ष पहले दिगम्बर सन्त मुनि थे। कुन्दकुन्दाचार्य

तो दो हजार वर्ष पहले (हुए)। फिर टीका हजार वर्ष पहले हुई। कोई ऐसा कहता है कि कोई ऐसी चीज़ इसमें नहीं कि हजार वर्ष में टीका करनेवाले निकले। परन्तु इतनी टीका गम्भीर थी कि टीका करनेवाले निकले ही नहीं। समझ में आता था सन्तों को परम्परा में ख्याल में सब आता था, परन्तु टीका करना... यह गम्भीर चीज़ है। तीन लोक के नाथ की वाणी और सन्त की वाणी तो वीतराग केवली के मार्गानुसारी, केवली ने कहा, उनके आड़तिया हैं। यह तो आड़तिया हैं। माल तो भगवान का है। बीच में आड़तिया होकर बताते हैं कि भगवान ऐसा कहते हैं। आहाहा!

शुद्ध आत्मा दर्शन है... शुद्ध आत्मा की श्रद्धा दर्शन है, ऐसा नहीं लिया। ऐसे आश्रय बताना है न! ऐसे आश्रय (स्व) और ऐसे आश्रय (पर)। व्यवहार का आश्रय पर और निश्चय का आश्रय स्व। समझ में आया? पहले से यह उठाया है न? यह पहले से आया है न? पहले से आया है। २७२। निश्चय और व्यवहार आया था। २७२ है। आत्माश्रित निश्चयनय। २७२। आत्माश्रित निश्चयनय, पराश्रित व्यवहार। यह सिद्ध करते हैं। आत्माश्रित निश्चय, पराश्रित व्यवहार, यह यहाँ सिद्ध किया है। आत्माश्रित ज्ञान, आत्माश्रित दर्शन, आत्माश्रित चारित्र, यह निश्चय है। पराश्रय ज्ञान, पराश्रय श्रद्धा, पराश्रय चारित्र, यह व्यवहार है। आहाहा!

और शुद्ध आत्मा चारित्र है... क्या कहते हैं? तीसरा बोल। शुद्धात्मा में रमणता करना, वह चारित्र—ऐसा नहीं लिया। शुद्धस्वरूप भगवान, उसमें लीनता। दृष्टि में, ज्ञान में तो वस्तु आयी। वस्तु दृष्टि में आयी, ज्ञान की पर्याय में वस्तु ज्ञेयरूप से आयी तो फिर उसमें लीनता हुई, वह चारित्र, ऐसा नहीं कहकर, यहाँ तो चारित्र (अर्थात्) शुद्ध आत्मा ही चारित्र है (ऐसा कहा)। शुद्ध आत्मा त्रिकाली और चारित्र वर्तमान पर्याय। समझ में आया? आहाहा! गजब बात है!

दृष्टि गुलाँट खिलाते हैं। चारित्र—शुद्धात्मा, वह चारित्र। क्यों? शुद्धात्मा वह चारित्र, क्यों? शुद्धात्मा की रमणता चारित्र—ऐसा नहीं कहा। शुद्धात्मा ही चारित्र है। आहाहा! है? **क्योंकि वह चारित्र का आश्रय है;...** वहाँ फिर यह शब्द नहीं लिया। **क्योंकि वह...** 'वह' अर्थात् शुद्धात्मा। पहले यह आया था न? **शुद्ध आत्मा चारित्र है...** ऐसा कहा न?

शुद्धात्मा चारित्र है क्योंकि वह... 'वह' अर्थात् शुद्धात्मा। वह चारित्र का आश्रय है, ऐसा। 'वह' अर्थात् उसे लेना। क्या कहा, समझ में आया? शुद्ध आत्मा, वह चारित्र। चारित्र (अर्थात्) स्वरूप में रमणता, वीतरागदशा, आनन्द की रमणता (होना)। वह शुद्धात्मा ही चारित्र है। क्यों? कि उस चारित्र का आश्रय —आधार शुद्धात्मा है। आहाहा! अधिकार थोड़ा सूक्ष्म आया। आहाहा!

इस प्रकार निश्चय है। ऊपर कहा था न कि **इस प्रकार व्यवहार है।** है न? इस प्रकार निश्चय है। ऊपर आया था। तीसरी लाईन, चारित्र का आश्रय— **इस प्रकार व्यवहार है।** अब यह **इस प्रकार निश्चय है।** तीन प्रकार। स्व का आश्रय हुआ, इसलिए दर्शन वह आत्मा; स्व का आश्रय हुआ, इसलिए ज्ञान वह आत्मा; स्व का आश्रय हुआ, इसलिए शुद्धात्मा वह चारित्र। यह निश्चय है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३४१, गाथा-२७६, २७७ शुक्रवार, कार्तिक शुक्ल ६
दिनाङ्क - २६-१०-१९७९

समयसार, गाथा २७६-२७७। फिर से थोड़ा लेते हैं। **आचारांगादि शब्द श्रुतज्ञान है क्योंकि वह (शब्दश्रुत) ज्ञान का आश्रय है,...** क्या कहते हैं? कि आचारांग आदि का ज्ञान है, वह शब्दश्रुत है। वह कोई वास्तविक ज्ञान नहीं है। आहाहा! आचारांग, सूयगडांग, ठाणांग। एक-एक शास्त्र में अठारह हजार पद, एक-एक पद में इक्यावन करोड़ से अधिक श्लोक। उस शास्त्र का ज्ञान, वह शब्दज्ञान है; वह कोई आत्मज्ञान नहीं है। आहाहा! है? शब्दश्रुत ज्ञान (क्यों कहा)? क्योंकि वह **ज्ञान का आश्रय है,...** यह आचारांग आदि शब्द हैं, वह व्यवहार जो ज्ञान है, उसका आश्रय शब्द है; इसलिए शब्दश्रुत कहा जाता है, वह आत्मज्ञान नहीं है। आहाहा! एक बात।

जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं... नव तत्त्व, वह दर्शन है। व्यवहार समकित

अर्थात् राग, उस राग का आश्रय नव तत्त्व है, तो नव तत्त्व को व्यवहार दर्शन कहा गया है, वह वास्तविक दर्शन नहीं है। आहाहा! नव तत्त्व, वह दर्शन है। क्योंकि व्यवहार दर्शन जो राग है, उसका आश्रय नव तत्त्व है। आश्रय के कारण से नव तत्त्व को ही दर्शन कहा। यह व्यवहार है, यह निषेध करनेयोग्य है। आहाहा!

(छह जीव-निकाय) चारित्र है... व्यवहारचारित्र जो शुभराग है, उस शुभराग का आश्रय छह जीव-निकाय दया है। उन छह जीव-निकाय में तो पंच महाव्रत आ गये। वे पंच महाव्रत के परिणाम पर के आश्रय से हैं, तो वह राग का कारण है, वह चारित्र नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। **(छह जीव-निकाय) चारित्र है...** भाषा ऐसी ली है—चारित्र। शुभराग व्यवहार है, ऐसा नहीं कहकर छह जीव-निकाय चारित्र है, (ऐसा कहा)। क्योंकि छह जीव-निकाय का, पंच महाव्रत का राग है, उस राग में पर का आश्रय है। इसलिए छह जीव-निकाय को ही चारित्र, व्यवहार कहा है। वह निषेध करनेयोग्य है। आहाहा!

वह छह जीव-निकाय का चारित्र, व्यवहार—राग, नव तत्त्व की श्रद्धा राग और आचारांग आदि शास्त्र का ज्ञान—ये तीनों **इस प्रकार व्यवहार है।** है ? व्यवहार है। आगे कहेंगे, यह व्यवहार प्रतिषेध (करनेयोग्य) है, आदरणीय है नहीं। आहाहा! कठिन काम। जगत को जहाँ शास्त्र का थोड़ा ज्ञान हो, वहाँ ऐसा होता है कि ज्ञान हो गया। ज्ञान दूसरी चीज़ है, भाई! यह कहते हैं।

शुद्ध आत्मा ज्ञान है... शुद्ध आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान है—ऐसा नहीं कहा। शुद्ध आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान—ऐसा नहीं कहा। शुद्ध आत्मा ज्ञान है। क्योंकि जो ज्ञान है, उसका आश्रय स्वद्रव्य आत्मा है। उस सम्यग्ज्ञान का आश्रय आत्मा है; इसलिए वह ज्ञान सम्यक् और निश्चयज्ञान है। आहाहा! समझ में आया ? **शुद्ध आत्मा ज्ञान है क्योंकि वह (शुद्धात्मा) ज्ञान का आश्रय है,...** ज्ञान में शुद्ध आत्मा का आश्रय, वह ज्ञान है। जिस ज्ञान में शब्द—शास्त्र का आश्रय है, वह ज्ञान नहीं है। आहाहा! कठिन काम।

शुद्ध आत्मा दर्शन है... शुद्ध आत्मा समकित है, शुद्ध आत्मा समकित है। नहीं तो शुद्ध आत्मा की अनुभव में निर्विकल्प प्रतीति होना, वह निश्चय, सत्य सम्यग्दर्शन है।

यहाँ तो कहते हैं कि **शुद्ध आत्मा दर्शन है...** वह शुद्ध आत्मा सम्यग्दर्शन है। क्योंकि सम्यग्दर्शन का आश्रय शुद्ध आत्मा है। व्यवहार का आश्रय पर है, निश्चय का आश्रय स्व है। आहाहा! **शुद्ध आत्मा दर्शन है...** क्योंकि दर्शन का आश्रय आत्मा है। सत्य सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्दर्शन जो चौथे गुणस्थान में दर्शन होता है, उसका आश्रय शुद्ध आत्मा है। शुद्ध आत्मा के आश्रय से वह होता है तो शुद्ध आत्मा, वह दर्शन है—ऐसा कहने में आया है। आहाहा! बात वाँचन हो गयी है। यह तो (फिर से लिया)।

शुद्ध आत्मा चारित्र है... शुद्ध आत्मा के आश्रय से चारित्र हुआ, ऐसा नहीं कहकर, शुद्ध आत्मा चारित्र है, (ऐसा कहा)। वीतरागी पर्याय चारित्र जो मोक्ष के मार्ग की पर्याय, वह चारित्र है, वह शुद्ध आत्मा है। क्योंकि चारित्र का आश्रय शुद्ध आत्मा है। निश्चयचारित्र का अवलम्बन—आश्रय आत्मा है। व्यवहारचारित्र का आश्रय पर है। इसलिए वह व्यवहार निषेध करनेयोग्य है। स्वाश्रय, वह निश्चय; पराश्रय, वह व्यवहार—यह सिद्धान्त। आहाहा!

इस शास्त्र का ज्ञान चाहे जितना करे तो भी वह ज्ञान, ज्ञान नहीं है, वह शब्दज्ञान है। आहाहा! समझ में आया? जो ज्ञान, शुद्ध आत्मा ही ज्ञान है। क्योंकि ज्ञान की सम्यक्पर्याय में शुद्ध आत्मा आश्रय है, उस शुद्ध आत्मा के आश्रय से ज्ञान हुआ है। वह ज्ञान निश्चयज्ञान, सम्यक्ज्ञान, यथार्थ ज्ञान है। आहाहा! और शुद्ध आत्मा दर्शन है। यह आ गया न? क्योंकि शुद्ध आत्मा... यहाँ तो शुद्ध आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन (है), ऐसा पहले नहीं कहकर शुद्ध आत्मा दर्शन है (ऐसा कहा)। क्योंकि सम्यग्दर्शन जो निश्चय, निर्विकल्प अनुभव (हुआ), शुद्धोपयोग में आत्मा का जो अनुभव होता है और चारित्र की जो स्थिरता होती है, वह शुद्ध आत्मा ही चारित्र है। क्योंकि चारित्र का आश्रय शुद्ध आत्मा है। चारित्र का आश्रय शुद्ध आत्मा है। आहाहा! **इस प्रकार निश्चय है।** कल यहाँ तक तो आ गया है।

इनमें व्यवहारनय प्रतिषेध्य अर्थात् निषेध्य है,... क्या कहते हैं? शास्त्र का ज्ञान शब्दज्ञान है, वह तो शब्दज्ञान है, वह कोई (वास्तविक) ज्ञान नहीं है। निषेध्य है, बन्ध का कारण है। आहाहा! आचारांग आदि को, अठारह हजार पद और एक-एक पद के इक्यावन करोड़ अधिक श्लोक, उसका—शास्त्र का ज्ञान वह शब्दज्ञान है। वह शब्दज्ञान व्यवहार है; व्यवहार है, वह निषेध्य है। आहाहा! ऐसी बातें। सूक्ष्म बात है, भाई!

व्यवहारनय प्रतिषेध्य... है। क्योंकि आचारांग आदि का ज्ञान, वह तो शब्दज्ञान है, वह कोई आत्मज्ञान नहीं। आत्मा जो आनन्दस्वरूप भगवान, उसका स्पर्श करके अन्दर एकाग्र होकर जो आनन्दसहित ज्ञान होता है, अतीन्द्रिय आनन्द सहित जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान को ज्ञान कहा जाता है। वह ज्ञान निश्चय है और शब्दज्ञान है, वह व्यवहार है, निषेध्य है। व्यवहार निषेध्य है, निश्चय निषेधक है। सम्यग्ज्ञान व्यवहार ज्ञान का निषेध करनेवाला है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

व्यवहारनय प्रतिषेध्य... है। क्योंकि आचारांगादि को ज्ञानादि को आश्रयत्व अनैकान्तिक है... आचारांग आदि का ज्ञान है, वह अनेकान्तिक है, एकान्तिक ज्ञान नहीं। वह तो व्यभिचार है। आहाहा! पराश्रय से जितना शास्त्र का ज्ञान हुआ, वह सब अनेकान्तिक व्यभिचार है, दोष है। आहाहा! है? **आचारांगादि को ज्ञानादि को आश्रयत्व अनैकान्तिक है...** तीनों। आचारांग आदि का ज्ञान, नव तत्त्व की श्रद्धा और छह जीवनिकाय अथवा पंच महाव्रत के परिणाम (जो) पर के आश्रय से (होते हैं)। वह सब अनेकान्तिक व्यभिचारयुक्त हैं। उसमें आत्मा का ज्ञान नहीं आया, उसमें आत्मा का दर्शन नहीं आया, उसमें आत्मा का चारित्र नहीं आया। आहाहा! भाषा समझ में आती है न थोड़ी-थोड़ी? आहाहा!

(शब्दश्रुतादि को ज्ञानादि का आश्रयस्वरूप मानने में व्यभिचार आता है...) आहाहा! शास्त्र का ज्ञान शब्दज्ञान है। उसे ज्ञान मानने में व्यभिचार आता है क्योंकि यथार्थज्ञान नहीं है। आहाहा! है? **(क्योंकि शब्दश्रुतादि के होने पर भी...)** आचारांग आदि शास्त्र का शब्दज्ञान होने पर भी **(ज्ञानादि नहीं भी होते,...)** सम्यग्ज्ञान नहीं होता। आहाहा! ऐसी बातें हैं। आचारांग आदि का ज्ञान, (उसमें) करोड़ों श्लोक और अरबों श्लोक (आवें), वह शब्दज्ञान है। उसे ज्ञान कहना, वह व्यभिचार है। आहाहा! क्योंकि उसमें **(ज्ञानादि नहीं भी होते,...)** आचारांग आदि ज्ञान में सम्यग्ज्ञान नहीं है। आहाहा! सम्यग्ज्ञान में तो आत्मा अन्दर त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु, उसमें अभिमुख—सन्मुख होकर जो ज्ञान अन्दर जाता है, वह आत्मा का ज्ञान (है और) वह ज्ञान है। वह ज्ञान निश्चय है, शब्दज्ञान, वह व्यवहार है, वह निषेध्य है। निषेधक निश्चय, निषेध्य व्यवहार। आहाहा! यह तो गजब। पण्डिताई की पण्डिताई उतर जाए, ऐसा सब इसमें तो है। बात यह है, बापू!

भगवान! अन्दर आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, ज्ञान का पुंज है, आनन्द का सागर है, प्रभुता का पिण्ड है। आहाहा! उसका आश्रय लेने से सम्यग्ज्ञान होता है। यह आचारांग आदि ज्ञान में व्यभिचार है क्योंकि उसमें सम्यग्ज्ञान नहीं होता। आहाहा! यह तुम्हारे लोहे का ज्ञान और वह नहीं, हों! यह तो आचारांग आदि (ज्ञान)। सर्वज्ञ वीतराग ने कहे हुए आचारांग। अन्यमत में तो वह आचारांग, सूयगडांग शब्द भी नहीं है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो आचारांग, सूयगडांग, ठाणांग आदि जो कहे (वे)। इसलिए यह शब्द लिया है। अन्यमत में कहे हुए भाव को तो व्यवहार भी (नहीं कहा जाता)। यह तो व्यवहार आचारांग आदि के ज्ञान को व्यवहार कहकर, निश्चय आत्मा का ज्ञान उसमें आया नहीं; इसलिए वह निषेध्य है। शास्त्रज्ञान निषेध करनेयोग्य है। आहाहा! ऐसी बात है, लोगों को सूक्ष्म पड़ती है। क्या हो? मार्ग तो अलौकिक है।

क्योंकि आचारांग आदि को (ज्ञान) मानने में... **(शब्दश्रुतादि के होने पर भी...)** शब्दश्रुत ज्ञान हो, नव तत्त्व की श्रद्धा हो, छह काय की दया और पंच महाव्रत हो, तथापि उसमें **(ज्ञानादि नहीं भी होते,...)** उसमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र नहीं होते। ज्ञानादि तीन लिये न? उन तीन में यह तीन नहीं होते। क्या कहा? आचारांग आदि का करोड़ों, अरबों श्लोकों का ज्ञान, नव तत्त्व की श्रद्धा और छह काय की दया, पंच महाव्रत के परिणाम जो पर के आश्रय से हैं, उसमें ज्ञान-दर्शन-चारित्र नहीं होता। उसमें सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र नहीं है। आहाहा! है?

(इसलिए व्यवहारनय प्रतिषेध्य है;)... किस कारण से? 'इसलिए' अर्थात् किस कारण से। आचारांग आदि का करोड़ों श्लोकों का ज्ञान-जानपना (होवे) परन्तु वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। नव तत्त्व की व्यवहार श्रद्धा, नौ भेदवाली (श्रद्धा) वह सम्यग्दर्शन नहीं है। और छह काय की दया तथा पंच महाव्रत के परिणाम, वे चारित्र नहीं। इन तीनों में ज्ञान-दर्शन-चारित्र नहीं होते। तीनों में, ज्ञान-दर्शन-चारित्र जो स्व के आश्रय से होने चाहिए, वे नहीं हैं। आहाहा! समझ में आया? **(इसलिए व्यवहारनय प्रतिषेध्य है;)**... किस कारण से व्यवहार निषेध्य है? कि आचारांग आदि शब्दज्ञान में ज्ञान नहीं है। नव तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा में श्रद्धा नहीं है और छह काय की दया तथा पंच महाव्रत के परिणाम में

चारित्र नहीं है। इस कारण से व्यवहारनय प्रतिषेध्य है। आहाहा! भरतजी! सूक्ष्म बात है। अभी तो व्यवहार करे, आचारांग शास्त्र का जानपना करके अपनी कल्पना से बातें करे और माने कि ज्ञान है। बापू! यह ज्ञान कोई दूसरी चीज़ है। आहाहा! और समकित व्यवहार से माने। यह नव तत्त्व के भेद की श्रद्धा, वह समकित। वह श्रद्धा नहीं। आहाहा!

जिसमें भगवान पूर्णानन्द का नाथ, अनन्त गुण का सागर, उसके सन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभव में प्रतीति होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। इसलिए नव तत्त्व की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन नहीं है, इसलिए वह प्रतिषेध्य है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! गाथा आ गयी है। चलते, पढ़ते-पढ़ते यह आयी है। आहा!

और निश्चयनय व्यवहारनय का प्रतिषेधक है,... क्या कहते हैं? कि आत्मा शुद्ध चिदानन्द का अनुभव, सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र। आत्मा जो त्रिकाली आनन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का दल, उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता, वह आनन्द की दशा की रमणता (होवे), उस दशा के कारण से व्यवहार प्रतिषेध्य है, निश्चय प्रतिषेधक है। आहाहा! निश्चय प्रतिषेध करनेवाला है, व्यवहार प्रतिषेध करनेयोग्य है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। अब यहाँ तो बनिये को निवृत्ति भी नहीं मिलती। अभी व्यवहार क्या चीज़ है (इसकी खबर नहीं)। उसमें ऐसा निश्चय। मार्ग बापू! प्रभु का मार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा!

इस कारण से व्यवहार निषेध्य है और निश्चय निषेधक है। इस कारण से। किस कारण से? कि शास्त्र का ज्ञान है, वह ज्ञान नहीं है, नव तत्त्व की श्रद्धा, वह श्रद्धा नहीं है; छह काय की दया और पंच महाव्रत, वह कोई चारित्र नहीं है। इस कारण से आत्मा के आश्रय से ज्ञान, दर्शन और चारित्र हुए, वे प्रतिषेधक हैं। व्यवहार का प्रतिषेध करनेवाले हैं और व्यवहार प्रतिषेध करनेयोग्य है, व्यवहार छोड़नेयोग्य है। छोड़नेयोग्य, प्रतिषेध करनेयोग्य (है)। आहाहा! है या नहीं अन्दर? आहाहा!

क्योंकि शुद्ध आत्मा के ज्ञानादि का आश्रयत्व ऐकान्तिक है। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप अनन्त गुण का पवित्र का पिण्ड प्रभु, उसके आश्रय से होनेवाले जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र वह ऐकान्तिक—सम्यक् है। है? **शुद्ध आत्मा के ज्ञानादि...**

शुद्ध आत्मा का ज्ञान, शुद्ध आत्मा का समकित, शुद्ध आत्मा का चारित्र, (उसका) आश्रय तो ऐकान्तिक है। उसके आश्रय से होनेवाले ज्ञान (आदि) ऐकान्तिक सम्यग्दर्शन, ज्ञान है। उसमें कोई अनेकान्त व्यभिचार नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

(शुद्ध आत्मा को ज्ञानादिक आश्रय मानने में व्यभिचार नहीं है...) क्या कहते हैं? भगवान आत्मा जो शुद्ध चैतन्यमूर्ति, आनन्दकन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का दल, उसके आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, वह ऐकान्तिक सम्यक् है। उसमें व्यभिचार नहीं आता। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! **(शुद्ध आत्मा को ज्ञानादि..)** ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों लेना। शुद्ध स्वरूप भगवान पूर्णानन्द प्रभु की दृष्टि, उसका ज्ञान, उसमें रमणता, वह सम्यक् चारित्र, ज्ञान, दर्शन है। वह एकान्तिक—अव्यभिचार है, उसमें दोष नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। **शुद्ध आत्मा के ज्ञानादि का आश्रयत्व ऐकान्तिक है।**

(शुद्ध आत्मा को ज्ञानादिक आश्रय मानने में व्यभिचार नहीं है क्योंकि जहाँ शुद्ध आत्मा होता है,...) शुद्ध आत्मा पवित्र प्रभु जहाँ है, **(वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता ही है।)** जहाँ शुद्ध आत्मा के आश्रय से जो दर्शन, ज्ञान हुए, वे यथार्थ हैं। पर के आश्रय से (जो) ज्ञान और दर्शन हुए, वे यथार्थ नहीं हैं। आहाहा! समझ में आया? **(शुद्ध आत्मा को ज्ञानादिक आश्रय मानने में व्यभिचार नहीं है क्योंकि जहाँ शुद्ध आत्मा होता है,...)** जहाँ शुद्ध पवित्र भगवान, सच्चिदानन्द प्रभु, सहजात्म पूर्णानन्द का नाथ के आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, वह अव्यभिचार है, वह यथार्थ है। वह व्यवहार का प्रतिषेध करनेवाला है और व्यवहार प्रतिषेध होने योग्य है। आहाहा! व्यवहार, वह बन्ध का कारण है और आत्मा के आश्रय से जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र हुए, वह मोक्ष का यथार्थ कारण है। ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या हो? सब बिखर गया। तत्त्व कहीं रह गया और लोग मार्ग कहीं मान बैठे। भभूतमलजी! आहाहा!

क्यों? **(शुद्ध आत्मा को ज्ञानादिक आश्रय मानने में व्यभिचार नहीं है...)** सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र में त्रिकाली भगवान आत्मा का आश्रय मानने में व्यभिचार नहीं है, उसमें यथार्थता है। और शास्त्र का ज्ञान, नव तत्त्व की श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम, वह व्यभिचार है, क्योंकि बन्ध का कारण है। उसमें आत्मा आया नहीं। वह

तो अनात्मा है। आहाहा! शास्त्र का ज्ञान, नव तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा, भेदवाली (श्रद्धा), वैसे तो 'तत्त्वार्थश्रद्धानंसम्यग्दर्शनं' कहा है, वह तो एक वचन है, अभेद है। अभेद में तो आत्मा अकेला आता है। और पंच महाव्रत के परिणाम, वह पर के आश्रय की बात है, इसलिए बन्ध का कारण है। आहाहा! वह मोक्ष का मार्ग नहीं, वह संवर-निर्जरा नहीं। व्यवहार शास्त्र का ज्ञान, व्यवहार नव तत्त्व की श्रद्धा, व्यवहार पंच महाव्रत, वह संवर-निर्जरा नहीं है। वह आस्रव और बन्ध का कारण है। आहाहा! सामने है या नहीं? आहाहा!

एक प्रश्न चला था, भाई! नियतप्रदेशत्व है न? २४वीं शक्ति। वह विद्यानन्द कहते हैं न? अपदेश अर्थात् वहाँ अखण्ड प्रदेश चाहिए। यह बात खोटी है। क्योंकि आत्मा में अनन्त शक्ति, अनन्त गुण है। उनमें एक नियतप्रदेशत्व नाम का २४वाँ गुण है। नियतप्रदेशत्व नाम का गुण। इस नियतप्रदेशत्व गुण की व्याख्या—असंख्य प्रदेशी लोकाकाश के जो प्रदेश हैं, उतने प्रदेश हैं, उसे नियतप्रदेशत्व कहा जाता है। यह कहते हैं कि अपदेश अर्थात् अखण्ड है। विद्यानन्दजी। लोगों को प्रसन्न रखे, लोग इकट्ठे हों। बेचारे लोगों को खबर नहीं होती। सब जय नारायण, सब जय नारायण किया करते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : धर्म की प्रभावना तो बहुत होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञान की प्रभावना है, मिथ्यात्व की प्रभावना है। भाई! क्या करें? अरे रे! आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक कहा, कहा न? धर्मध्यान के अपाय के बोल में। धर्मध्यान का बोल है—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, (संस्थानविचय) उनमें अपायविचय में तो ऐसा लिया है, द्रव्यसंग्रह में (लिया है) कि वह धर्मात्मा स्वयं अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य का विचार करता है, अनुभव करता है, उसका निर्णय और स्थिरता करता है तो उसमें अपाय आया। उस अपाय में ऐसा विचार करता है कि मुझे भी पूर्णानन्द (प्राप्त) होओ और सब प्राणी पूर्णानन्द को (प्राप्त) होओ। आहाहा! कोई अपूर्ण न रहो। आहाहा! द्रव्यसंग्रह में अपायविचय में ऐसा अर्थ किया है। नहीं यहाँ? समझ में आया? क्या कहते हैं? क्या कहा?

अपायविचय। धर्मध्यान का एक अपायविचय बोल है। उस अपायविचय का

ब्रह्मदेव ने द्रव्यसंग्रह की टीका करनेवाले ने ऐसा अर्थ किया है कि इस भगवान आत्मा को-अपने को पूर्णानन्द की प्राप्ति होओ और सर्व जीवों को पूर्णानन्द की प्राप्ति होओ। कोई आत्मा में विरोध न रहो। भगवान सब आत्मा हैं तो पूर्णानन्द की प्राप्ति होओ, ऐसा अपायविचय में विचार करना, ऐसा आया है। द्रव्यसंग्रह में आया है। समझ में आया? आहाहा! ३८ गाथा के (श्लोक में) ऐसा आया है न? ३२ कलश। सर्व जीव पूर्णानन्द के नाथ में मग्न हो जाओ, लीन हो जाओ, प्रभु! आहाहा! कोई विरोध-बिरोध है ही नहीं। जगत में कोई विरोधी है ही नहीं। पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु, उसमें मैं और तुम सब अन्दर मग्न हो जाओ, लीन हो जाओ। आहाहा! ऐसी विचारणा ज्ञानी करता है। ऐसा कहते हैं, किसी का विरोध नहीं करते। आहाहा! ऐसा पाठ है, हों! द्रव्यसंग्रह में अपायविचय में ऐसा पाठ है। बताया था।

यहाँ कहते हैं कि इस आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (होते हैं) वही यथार्थ है। पर के आश्रय से जितने शब्दज्ञान, नव तत्त्व की श्रद्धा और पंच महाव्रत के परिणाम (होते हैं), वह अयथार्थ है, वह कोई वस्तु नहीं। वह बन्ध का कारण है। आहाहा! अबन्धकारण तो भगवान अबन्धस्वरूप है, चिदानन्द आत्मा चिदानन्द प्रभु, अन्दर सहजात्मस्वरूप अबन्ध है, उसकी दृष्टि करने से, ज्ञान करने से अबन्ध परिणाम होते हैं। अबन्धस्वभाव है, उसका दृष्टि-ज्ञान करने से अबन्ध परिणाम होते हैं और पर का आश्रय करने से बन्ध परिणाम होते हैं। आहाहा! भरतजीव! ऐसी बात है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

यह कहते हैं, **यही बात हेतुपूर्वक समझायी जाती है:-** क्या कहते हैं अब? **आचारांगादि शब्दश्रुत एकान्त से ज्ञान का आश्रय नहीं है...** आहाहा! शास्त्रज्ञान चाहे जितना करे, नौ पूर्व भी करे, नौ पूर्व! अभव्य को भी नौ पूर्व का (ज्ञान) होता है और आचारांग के एक आचारांग अठारह हजार पद, एक पद में इक्यावन करोड़ अधिक श्लोक, ऐसे दोगुने, उससे दोगुने ऐसे ग्यारह अंग का ज्ञान है, वह शब्दज्ञान है। आहाहा! है? शब्दश्रुत ज्ञान में **ज्ञान का आश्रय नहीं है...** वह ज्ञान का आधार नहीं है। आहाहा!

शास्त्र, वे (भी) सर्वज्ञ परमात्मा ने (कहे हुए)। आचारांग आदि शब्द लिया है न?

दूसरा नाम नहीं लिया। आचारांग, सूयगडांग भगवान ने कहे हुए शास्त्र। उस शास्त्र का ज्ञान भी शब्दज्ञान है। उसमें आत्मा नहीं आया। आहाहा! आचारांग, सूयगडांग वह तो सर्वज्ञ के कहे हुए सब शास्त्र है न? उन्हें यहाँ व्यवहार कहा है। उन्हें व्यवहार कहकर उसका निषेध किया है। आहाहा! यह शब्दज्ञान है, वह निषेध्य है। आत्मज्ञान, जो अन्दर चिदानन्द प्रभु का ज्ञान करना, उसका अन्तर अनुभव करना और अनुभव करके प्रतीति करना, स्वरूप में रमणता करना, वह एकान्तिक ज्ञान, दर्शन, चारित्र है। वह अव्यभिचारी मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! है?

आचारांगादि शब्दश्रुत एकान्त से ज्ञान का आश्रय नहीं है... ज्ञान ही है, ऐसा नहीं। **क्योंकि उसके (अर्थात् शब्दश्रुत के) सद्भाव में भी...** ग्यारह अंग का ज्ञान होने पर **भी अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण ज्ञान का अभाव है;...** यह सिद्धान्त लिया। यह आचारांग आदि का ज्ञान अभव्य को भी होता है। भव्य को तो होता है परन्तु यह तो अभव्य को भी होता है। तो दृष्टान्त दिया है। आचारांग आदि का ज्ञान अभव्य को ग्यारह अंग का हुआ होने पर भी ज्ञान नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा अन्दर आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, सहजानन्द की मूर्ति प्रभु, उसके अवलम्बन से जो अन्दर में अनुभव हुआ, उसे ज्ञान कहते हैं।

एकान्त से ज्ञान का आश्रय नहीं है... शब्दश्रुत, वह एकान्त से ज्ञान का आधार नहीं है। **(अर्थात् शब्दश्रुत के) सद्भाव में भी...** ग्यारह अंग का ज्ञान होने पर भी। शब्दज्ञान कहो या ग्यारह अंग का ज्ञान कहो। आहाहा! पानी उतर जाए ऐसा है। ग्यारह अंग का ज्ञान, करोड़ों-अरबों श्लोकों का ज्ञान, ऐसा होने पर भी अभव्य का सम्यग्ज्ञान नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **सद्भाव में भी...** सद्भाव कहा न? ग्यारह अंग का सद्भाव है, ग्यारह अंग का जानपना उसके पास है, तो भी **अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण...** परन्तु उसमें शुद्ध आत्मा का अभाव है। उसकी दृष्टि में त्रिकाल आत्मा आया नहीं। आहाहा! त्रिकाली सच्चिदानन्द प्रभु, आत्मा सच्चिदानन्द शुद्ध तत्त्व है, उसका आश्रय नहीं तो ग्यारह अंग का ज्ञान होने पर भी, उसे ज्ञान कहने में नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! बात तो बहुत सादी है, भाषा कहीं बहुत ऐसी (कठिन) नहीं है, परन्तु मर्म तो है वह है। आहाहा!

ज्ञान का अभाव है;... पहले क्या कहा? अभव्य, कि जिसे कभी मुक्ति नहीं है, किसे? अभव्य जीव है। घोरडुं मूंग जैसा कि जो कभी बफता नहीं। ऐसा जीव है, (उसकी) कभी मुक्ति नहीं होती। उसे भी ग्यारह अंग के ज्ञान की अस्ति है तो भी सम्यग्ज्ञान नहीं है। आहाहा! यह तो अभव्य का तो दृष्टान्त दिया है, हों! भव्य को भी ग्यारह अंग का (ज्ञान) अनन्त बार हुआ, नौवें ग्रैवेयक गया। यह तो दृष्टान्त दिया है। भव्य को भी ग्यारह अंग का ज्ञान अनन्त बार हुआ तो भी सम्यग्ज्ञान नहीं है। आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्य प्रभु, अपनी ज्ञान की पर्याय में पूरा द्रव्य ज्ञेय न हो, तब तक ज्ञान यथार्थ नहीं होता। शास्त्रज्ञान, वह परज्ञेय है। आहाहा! अपनी ज्ञान की दशा—पर्याय में स्वज्ञेय प्रभु आत्मा जो सच्चिदानन्द है, वह पर्याय में स्वज्ञेय नहीं हो, तब तक ज्ञान सच्चा नहीं होता। परज्ञेय शास्त्र आदि हैं, वे ज्ञान नहीं हैं। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा! थोड़ी-थोड़ी गुजराती आ जाती है।

मुमुक्षु : शुभ व्यवहार है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार भी बन्ध का कारण है न। निश्चय से तो (निश्चय) बिना व्यवहार, व्यवहार कहलाता ही नहीं। परन्तु यह साधारण व्यवहाररूप से कहने में आता है। बन्ध का कारण है, संसार है। अनादि काल का संसार है। आहाहा! यह बात है।

और, **जीवादि नवपदार्थ दर्शन के आश्रय नहीं हैं,...** जीव, अजीव आदि नव भेद है न? भेद, हों! अभेद नव तत्त्व की श्रद्धा, अभेद में तो अन्तर आत्मा आया। नौ में भेद आये, जीव और अजीव, पुण्य और पाप। उनमें संवर, निर्जरा, मोक्ष को भी अज्ञान में अनादि से माना। वह संवर, निर्जरा सच्चे नहीं है, वे सच्चे नहीं हैं।

अभव्य को भी नव तत्त्व की श्रद्धा है परन्तु वह संवर, निर्जरा, मोक्ष नहीं है। जितने अंश में राग घटे, उसे संवर कहा जाता है; जितने अंश में राग घटे, उसे निर्जरा कहा जाता है और राग का अभाव, उसे मोक्ष कहा जाता है, ऐसा अज्ञान में संवर, निर्जरा, मोक्ष (माने हैं)। वे अज्ञानी के हैं। वह बन्ध का कारण है। सच्चा संवर, निर्जरा, मोक्ष नहीं। नव तत्त्व में नाम आये या नहीं? नव तत्त्व में संवर, निर्जरा, मोक्ष आये हैं या नहीं? तो अभव्य को संवर, निर्जरा, मोक्ष कहाँ से आये? मिथ्यादृष्टि में नव कहाँ से आये? यह व्यवहार। जिस

गुणस्थान में राग कुछ घटता है, इस अपेक्षा से संवर, निर्जरा और मोक्ष कहने में आये हैं। वास्तविक नहीं? चन्दुभाई! क्रियाकोष में बहुत विस्तार है। एक क्रियाकोष पुस्तक है, उसमें इसका विस्तार बहुत है।

यह ऐसा है तो भी क्यों (यथार्थ) नहीं? उसे चाहे जितने हों। अरे! इसमें भी है। कलशटीका में है न? कलशटीका है न? उसमें भी छठवें श्लोक में कहा है। देखो! छठवाँ श्लोक। ***'संसार अवस्था में जीवद्रव्य नव तत्त्वरूप परिणमा है, वह तो विभावपरिणति है, इसलिए नव तत्त्वरूप वस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है।'*** इन नव तत्त्व में संवर, निर्जरा आये (परन्तु) वह सच्चे संवर, निर्जरा नहीं हैं। समझ में आया? यह कलशटीका है और क्रियाकोष में भी विस्तार लिया है। नव तत्त्व की श्रद्धा अभव्य को कहते हैं तो संवर, निर्जरा, मोक्ष कहाँ से आये? कि संवर, निर्जरा, मोक्ष उपचार से कहा है, वास्तविक नहीं। आहाहा! यहाँ तो यह कहा, ***'नव तत्त्वरूप वस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है।'*** नव तत्त्व का भेदवाला अनुभव मिथ्यात्व है। आहाहा! झेला जाए नहीं। इन पैसेवालों को पैसे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती, ऐसा निर्णय करने का समय नहीं मिलता। आहाहा! यहाँ तो छठवें श्लोक में मिथ्यात्व कहा है। नव तत्त्व का अनुभव मिथ्यात्व है।

यह यहाँ कहते हैं, **जीवादि नवपदार्थ दर्शन के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भाव में...** यहाँ सद्भाव कहा न? अभव्य को नव तत्त्व की श्रद्धा का सद्भाव कहा। वे नव तत्त्व क्या? सच्चे संवर, निर्जरा, मोक्ष नहीं। वह आस्रव उतना घटे, इस अपेक्षा से संवर कहा और बन्ध इतना कम पड़े तो मोक्ष कहा, और बन्ध है, उसे बन्ध कहा। जितना राग अल्प बँधा, उसे उपचार से मोक्ष कहा। वह नव तत्त्व की श्रद्धा है। नव तत्त्व में वह सच्चे संवर, निर्जरा, मोक्ष नहीं हैं। अरेरे! समझ में आया?

यहाँ यह कहा या नहीं? **जीवादि नवपदार्थ दर्शन के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भाव में...** नव तत्त्व की श्रद्धा होने पर भी **अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण दर्शन का अभाव है;...** पण्डितजी! समझ में आया? नव तत्त्व में संवर, निर्जरा, मोक्ष लिये हैं, परन्तु वह भाव संवर, निर्जरा, मोक्ष नहीं। उपचारिक व्यवहार शब्द लिया है। नहीं तो यहाँ तो अभव्य मिथ्यात्वी को नव तत्त्व की श्रद्धा का सद्भाव कहा

है। मिथ्यादृष्टि को नव तत्त्व की श्रद्धा का सद्भाव कहा है। वह कौन से नव तत्त्व? सच्चे संवर, निर्जरा, मोक्ष तो सम्यग्दर्शन बिना होते नहीं, और यहाँ तो नव तत्त्व का सद्भाव कहा है, पाठ में है। समझ में आया? अरे..! अरे..! ऐसा कठिन। यह तो व्यवहारिक संवर, व्यवहारिक निर्जरा और व्यवहारिक (मोक्ष), उदय में आते वे कर्म जरा खिरते जाते हैं न? इसे अज्ञानी की निर्जरा कही। और राग का जितना अल्प बन्ध होता है, उसे मोक्ष कहा। वह व्यवहाारिक संवर, निर्जरा, मोक्ष। निश्चय संवर, निर्जरा, मोक्ष नहीं। हैं?

मुमुक्षु : मोक्ष भी कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्ष कहा न! नव तत्त्व में आया या नहीं? यह तो चर्चा बहुत हो गयी है, यहाँ तो बहुत बार चर्चा हो गयी है। चर्चा समाधान है न? एक चर्चा समाधान पुस्तक है, उसमें बहुत लिया है। यह नव तत्त्व की श्रद्धा कही न? मिथ्यात्वी कहा, वहाँ नव तत्त्व कहाँ से आये? वह तो व्यवहार आस्रव। उस गुणस्थान में जितना आस्रव घटा है, उतना संवर व्यवहार से कहने में आया है। है तो आस्रव। जरा घटा तो व्यवहार (संवर) कहा। थोड़े कर्म खिरते हैं तो विपाक (निर्जरा कही) और अल्प बन्ध होता है, इस अपेक्षा से बन्ध थोड़ा घटता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि को भी मन्द मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी मन्द होती है। सुनो! क्या कहा?

अभव्य को और मिथ्यादृष्टि को भी सिद्धान्त में ऐसा लिया है, अभी आ गया था, समयसार, समयसार टीका में है। जयसेनाचार्यदेव की टीका में है। मिथ्यादृष्टि को भी मिथ्यात्व का मन्दपना और अनन्तानुबन्धी की मन्दता होती है। तथापि मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! टीका में है। सब ख्याल है, बहुत बार बताया है। यह जो सच्चे संवर, निर्जरा, मोक्ष वह यह नहीं। खोटे संवर, निर्जरा, मोक्ष सहित के नव तत्त्व की श्रद्धा, वह मिथ्यात्व है। अरे! अरे! ऐसी बातें अब। है?

जीवादि नवपदार्थ दर्शन के आश्रय नहीं हैं,... नव भेद समकित का आलम्बन नहीं है। आहाहा! **क्योंकि उनके सद्भाव में...** नव तत्त्व की श्रद्धा की अस्ति में भी, नव तत्त्व की श्रद्धा की अस्ति में भी **अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण दर्शन का अभाव है;...** यह नव तत्त्व कौन से? वे सच्चे संवर, निर्जरा, मोक्ष नहीं। आहाहा!

यह अधिकार है। चर्चा समाधान में है। अपने उसमें आ गया न? नव तत्त्व का अनुभव मिथ्यात्व है। नव तत्त्व का अनुभव अर्थात् उसमें संवर, निर्जरा, मोक्ष आये? संवर, निर्जरा, मोक्ष है तो समकित है। संवर अर्थात् वहाँ जितना राग घटे, इस अपेक्षा से संवर कहा और जितने कर्म खिरते हैं, विपाक निर्जरा, विपाक को निर्जरा कही और किंचित् मिथ्यात्व के बन्ध की अवस्था कम होती है, मन्द मिथ्यात्व में, मन्द अनन्तानुबन्धी में बन्ध अल्प होता है, उसे मोक्ष कहा। ऐसे नाम कहकर नव तत्त्व की श्रद्धा मिथ्यात्वी को भी होती है (ऐसा कहा)। रतनचन्दजी! ऐसी बात है। आहाहा!

एक ओर 'तत्त्वार्थश्रद्धानंसम्यग्दर्शनं' उमास्वामी कहते हैं, मोक्षमार्गप्रकाशक में 'तत्त्वार्थश्रद्धानंसम्यग्दर्शनं' कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि नव तत्त्व की श्रद्धा मिथ्यात्व में है। यह जो 'तत्त्वार्थश्रद्धानंसम्यग्दर्शनं' (कहा है), वहाँ तो अन्दर जीव का आश्रय होकर, जीव का भान, अनुभव हुआ है तो उसमें दूसरे तत्त्व नहीं हैं, ऐसा ज्ञान साथ में आ गया तो 'तत्त्वार्थश्रद्धानंसम्यग्दर्शनं' कहने में आया है। समझ में आया? ओहोहो! सब बातें बहुत सूक्ष्म। श्लोक ही ऐसा आया है, वहाँ (क्या हो)? नव तत्त्व के सद्भाव में भी। सम्यग्दर्शन के आश्रय में आत्मा नहीं, इसलिए उसे मिथ्यात्व कहने में आता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, बापू! शशीभाई! यह तुम्हारे मकान नया होनेवाला है न? उसका यह मांगलिक होता है। आहाहा! लोग तो आज बहुत आये हैं, भर गया है। आहाहा! क्या कहा?

जीवादि नवपदार्थ दर्शन के आश्रय नहीं हैं,... समकित का कारण नहीं है। नव तत्त्व की श्रद्धा समकित का कारण नहीं है। आहा! नव तत्त्व की श्रद्धा समकित का कारण नहीं है। आहाहा! नव तत्त्व की श्रद्धा के सद्भाव में अभव्य को और भव्य को भी, अनादि नौवें ग्रैवेयक गया, उसे नव तत्त्व की श्रद्धा के सद्भाव में भी, आहाहा! **अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण...** शुद्ध परमात्मा सच्चिदानन्द प्रभु दृष्टि में आया नहीं; ज्ञान में आया नहीं, इस कारण से नव तत्त्व की श्रद्धा भी मिथ्याश्रद्धा है। आहाहा! सूक्ष्म है, भाई! अभी तो यह चर्चा बन्द है, इसलिए रात्रि में पूछना किसे? किसे पूछे? **शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण दर्शन का अभाव है;...**

छह जीव-निकाय चारित्र के आश्रय नहीं हैं,... क्या कहा? छह जीव-

निकाय की दया, छह जीवनि-काय की दया, पंच महाव्रत के परिणाम... आहाहा! वह चारित्र का आश्रय नहीं है, उसके आश्रय से चारित्र नहीं होता। आहाहा! यहाँ छह जीव-निकाय शब्द लिया है, बाकी छह जीव-निकाय में पंच महाव्रत रखे हैं क्योंकि छह जीव-निकाय व्यवहार अहिंसा में उसकी चार वाड है। इसलिए छह जीव-निकाय में पंच महाव्रत ले लिये हैं। पंच महाव्रत के परिणाम भी आत्मा के आश्रय से नहीं हैं, वे पर के आश्रय से हुए हैं, इसलिए वे चारित्र नहीं हैं। आहाहा! समझ में आता है न? भाई! पंच महाव्रत के परिणाम, छह जीव-निकाय की दया, वह चारित्र नहीं है। क्योंकि उसमें तो पर का आश्रय है, वह तो राग है। आहाहा! गजब बात है। गाथा ही ऐसी आयी है।

मुमुक्षु : आप ऐसी गाथा लाये हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : लाये कहाँ, आयी न! यह तो अपने चलते-चलते आयी है।

छह जीव-निकाय चारित्र के आश्रय नहीं हैं,... यहाँ तो लिखा है न, छह जीव-निकाय की रक्षा, छह जीव की दया पालनेवाले मुनि। ऐसा लिखते हैं—संवत्सरी के दिन पत्र लिखते हैं न तब (ऐसा लिखते हैं।) यहाँ कहते हैं कि छह जीव-निकाय की दया का भाव राग है। पंच महाव्रत के परिणाम वह राग है। उन पंच महाव्रत के परिणाम में आश्रय पर है, उसमें शुद्ध आत्मा आया नहीं। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! तीन लोक के नाथ महाविदेह में विराजते हैं, यह उनकी बात है, भाई! आहाहा! इन्द्र और गणधरों के बीच में त्रिलोक के नाथ सीमन्धर भगवान ऐसा कहते हैं, ऐसा कहते थे, वह बात यहाँ है। आहाहा! छह जीव-निकाय की दया, वह चारित्र नहीं, वह चारित्र का आश्रय नहीं। आहाहा! यहाँ तो (लोग कहे), छह काय की दया पालो, छह काय की दया पालो। परन्तु छह काय की दया में आत्मा आया या नहीं? छह काय में यह आत्मा है या नहीं? इसकी दया पालन की? आहाहा!

भगवान शुद्ध चिदानन्द भगवान को राग से लाभ होता है, (ऐसा माननेवालों ने) आत्मा की अरुचि करके आत्मा के प्रति क्रोध किया है। आहाहा! 'द्वेष अरोचक भाव' आनन्दघनजी, सम्भवनाथ (भगवान की) स्तुति करते हुए कहते हैं। आनन्दघनजी श्वेताम्बर में हुए, थोड़ी-थोड़ी बात की है। मूल बात तो इसके अतिरिक्त कहीं होती नहीं परन्तु थोड़ी

बात कोई-कोई मध्यस्थ से वैरागी थे तो की है। 'द्वेष अरोचक भाव'। जिसे यह भगवान पूर्णानन्द का नाथ रुचता नहीं और जिसे दया, दानादि का राग रुचता है, उसे आत्मा के प्रति क्रोध है। 'द्वेष अरोचक भाव' भगवान के प्रति द्वेष है। अरोचकभाव, वह द्वेष है। आहाहा! शुभभाव की प्रीति और रुचि (जिसे है), उसे आत्मा के प्रति द्वेष है, 'द्वेष अरोचक भाव'। वह स्वभाव रुचता नहीं और राग रुचता है, वह द्वेष है, वह मिथ्यात्वभाव है, वह आत्मा के प्रति अनादर है। आहाहा! ऐई! यह बात तो बहुत बार आ गयी है, यह कहीं पहली-वहली नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय है, जो उसे नहीं है। है न? **उनके सद्भाव में...** सद्भाव कहा न? पंच महाव्रत की अस्ति में भी, छह जीव-निकाय की दया के भाव में भी, जैसे नव तत्त्व की श्रद्धा की अस्ति में भी सम्यग्दर्शन नहीं है, क्योंकि शुद्ध आत्मा का आश्रय नहीं है। वैसे पंच महाव्रत के परिणाम, ऐसा होने पर भी स्व का आश्रय नहीं है, पर का आश्रय है तो वह चारित्र नहीं है। आहाहा! ऐसे शब्दज्ञान में पर का आश्रय है। उसमें आत्मा का आश्रय आया नहीं; इसलिए शब्दज्ञान, वह व्यभिचार मिथ्यात्व बन्ध का कारण है। यह तीनों—शब्दज्ञान, नव तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा और छह काय की दया, यह तीनों बन्ध के कारण हैं। आहाहा! ऐसी बात है। उसमें आत्मा आया नहीं। भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द प्रभु, सच्चिदानन्द आनन्द का दल है, आत्मा सच्चिदानन्द आनन्द का दल—पिण्ड है, उस आनन्द का जहाँ आश्रय नहीं, वहाँ आगे यह सब दुःख के परिणाम में पर का आश्रय है। ये रागादि दुःख हैं। चाहे तो दया का राग (हो)। आहाहा!

पुरुषार्थसिद्धि उपाय में यहाँ तक कहा कि पर की दया का भाव राग, वह हिंसा है। अमृतचन्द्राचार्य। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! यह तो जन्म-मरणरहित की बात है, भाई! बाकी जन्म-मरण कर-करके तो, चौरासी के अवतार कर-करके अनन्त काल से मर गया। अनन्त अवतार किये। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि छह काय की दया के सद्भाव में भी **अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण चारित्र का अभाव है।** पंच महाव्रत पालन करे, अट्ठाईस मूलगुण पालन करे, निरतिचार पालन करे, उसके लिये चौका करके आहार (बनाया हो तो) प्राण

जाए तो भी न ले, तो भी वह मिथ्यादृष्टि, मिथ्याचारित्र है। आहाहा! जिसमें भगवान आत्मा का आश्रय आया नहीं, उसका अवलम्बन लिया नहीं, उसकी समीप गया नहीं और राग के समीप में रहा तो वह अचारित्र है। आहाहा! उपवास भी उसे कहते हैं कि भगवान शुद्ध चैतन्यमूर्ति में उप अर्थात् समीप में वास अर्थात् बसना, अन्तर आनन्द में रहना, वह उपवास है। बाकी आत्मा के भान बिना यह अपवास आदि क्लेश है, लंघन है। आहाहा! समझ में आया? **अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण चारित्र का अभाव है।**

शुद्ध आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है,... आहाहा! सम्यग्ज्ञान में जो आनन्द आता है, अतीन्द्रिय आनन्द सहित जो ज्ञान आता है, उस ज्ञान का आश्रय तो आत्मा है। आहाहा! सम्यग्ज्ञान में अनन्त गुण की शक्ति की व्यक्तता का अंश प्रगट होता है तो वह आनन्द भी अनुभव में आता है। उस आनन्द और ज्ञान का आश्रय आत्मा है। आत्मा के आश्रय से वह ज्ञान और आनन्द हुए हैं। आहाहा! समझ में आया? उसे यहाँ ज्ञान कहते हैं। क्या कहा? देखो!

शुद्ध आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है, क्योंकि आचारांगादि शब्दश्रुत के सद्भाव में या असद्भाव में... क्या कहते हैं? किसी को आचारांग आदि शास्त्र का ज्ञान न भी हो तो भी शुद्ध आत्मा के आश्रय से हुआ ज्ञान यथार्थ है। और किसी को आचारांग आदि का ज्ञान हो, तो भी आत्मा के आश्रय से होनेवाला ज्ञान, वह ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है। आहाहा! दो शब्द लिये हैं। कौन से? 'सद्भाव में, असद्भाव में।' आचारांग आदि के ज्ञान की अस्ति हो तो भी अज्ञानी है और न हो तो भी अज्ञानी है। आत्मा का आश्रय है और शब्दज्ञान न भी हो, आत्मा का ज्ञान हुआ और शब्दज्ञान न भी हो, आत्मज्ञान हुआ और शब्दज्ञान हो, परन्तु यह शब्दज्ञान, वह कोई वास्तविक ज्ञान नहीं है। आहाहा! है? सद्भाव में, असद्भाव में कहा है न? शास्त्र का ज्ञान हो या न भी हो, परन्तु आत्मा के आश्रय से ज्ञान हो तो उसे ज्ञान है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३४२, गाथा-२७६ से २७९ तथा श्लोक - १७४ शनिवार, कार्तिक शुक्ल ७
दिनाङ्क - २७-१०-१९७९

२७६-२७७ (गाथा) है न? उसका भावार्थ। **आचारांगादि शब्दश्रुत का ज्ञान,...** आचारांग आदि शब्दश्रुत का ज्ञान, वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। वास्तव में तो आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप में जब जाता है, तब शब्दश्रुत ज्ञान त्याज्य हो जाता है अथवा उसमें उत्पत्ति नहीं होती। क्या कहा?

फिर से, **आचारांगादि शब्दश्रुत का ज्ञान,...** यह वास्तविक ज्ञान नहीं है। क्योंकि आत्मा अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य का अन्दर में ज्ञान करता है, तब वह शब्दश्रुत ज्ञान स्वयमेव त्याज्य हो जाता है। अन्तर में स्वभाव में त्रिगुप्त—मन, वचन, काया से गुप्त होकर अन्दर ज्ञान में गुप्त होता है, तब वह व्यवहार शास्त्र सहज होता नहीं, सहज उसका त्याग हो जाता है। बहुत सूक्ष्म बात।

व्यवहार त्याज्य कहा है, वह अपेक्षित कहा है। अपना ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान करने से जो ज्ञान होता है, वह यथार्थ है, वह मोक्ष का मार्ग है। उस समय शब्दश्रुत ज्ञान सहज त्याज्य हो जाता है। अन्तर ज्ञान में गुप्त होता है तो शब्दश्रुत का ज्ञान उत्पन्न होता ही नहीं, वहाँ रहता नहीं, स्वयमेव त्याज्य हो जाता है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! मोक्षमार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! शास्त्र का ज्ञान भी मोक्ष का मार्ग नहीं। आहाहा! यह ज्ञान परलक्ष्यी शब्दश्रुत ज्ञान है और आत्मा....

यह कहते हैं, **जीवादि नव पदार्थों का श्रद्धान...** यह श्रद्धान भी यथार्थ नहीं है। नव तत्त्व का श्रद्धान जो भेदवाला है, वह अपने स्वरूप की प्रतीति में, अनुभव में जब जाता है तो यह नव तत्त्व की श्रद्धा त्याज्य ही है। उसमें उत्पन्न नहीं होती तो स्वयमेव त्याज्य है। समझ में आया?

तथा छह काय के जीवों की रक्षा-इन सबके होते हुए भी अभव्य के ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं होते,... क्योंकि तीन हैं, वे कोई धर्म नहीं। आहाहा! अभव्य का तो दृष्टान्त दिया है। भव्य या अभव्य। अनन्त काल में अनन्त बार शब्दश्रुत ज्ञान किया है, नव

तत्त्व की श्रद्धा भी की है, छह काय की रक्षा, पंच महाव्रत के परिणाम भी किये हैं परन्तु वह तो बन्ध का कारण है। निषेध करने योग्य है। निषेध किस प्रकार होता है ? कि अपना आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप में जब एकाग्र होता है तो सहज इस व्यवहार का त्याग (हो जाता है)। स्वरूप गुप्त में आता नहीं तो व्यवहार का त्याग हो जाता है। समझ में आया ? बातें बहुत सूक्ष्म, भाई! जन्म-मरण मिटने का उपाय कोई अलौकिक है। आहाहा! बाहर के यह कोई क्रियाकाण्ड, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा, दान, दया यह सब तो बन्ध का कारण है। आहाहा!

यहाँ तो यह कहना है कि व्यवहार त्याज्य किस प्रकार है ? कि व्यवहार त्याज्य है, आत्मा अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र में होता है, तब उसका व्यवहार है, वह उसमें रहता नहीं। उसकी दृष्टि में नहीं और उसकी पर्याय में भी नहीं रहता। समझ में आया ? चन्दुभाई! आहाहा! भगवान आत्मा, कहते हैं कि ऐसे ज्ञान, दर्शन तो अनन्त बार हुए। **इसलिए व्यवहारनय तो निषेध्य है;...** आहाहा! जहाँ शुद्धात्मा होता है... बात बहुत थोड़ी है परन्तु मूल बात है। जहाँ शुद्धात्मा एक समय में परिपूर्ण प्रभु, जहाँ ज्ञान में ज्ञेय होकर उसका ज्ञान हुआ, वहाँ स्वयमेव व्यवहार त्याज्य ही है। वह व्यवहार राग, शास्त्रज्ञान, नव तत्त्व की श्रद्धा या छह काय की दया के भाव, वे दृष्टि के विषय में तो नहीं परन्तु उसकी पर्याय में भी है नहीं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : शास्त्र का ज्ञान है, वह कहाँ चला जाता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : है नहीं। अन्तर में एकाग्र हुआ तो वह है ही नहीं। है ही नहीं, उत्पत्ति ही नहीं। सहज व्यवहार का त्याग हो जाता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! समझ में आया ?

संस्कृत टीका में है। जयसेनाचार्य की टीका में है। जब आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन, आनन्द, चारित्र आदि में रमणता करता है तो त्रिगुप्त अवस्था में वह व्यवहार स्वयं, सहज नास्ति है, स्वयं नास्ति है। अस्ति में स्वभाव की अस्ति की दृष्टि का अनुभव हुआ तो वहाँ व्यवहार स्वयं त्याज्य ही है, नास्ति है।

मुमुक्षु : ध्यान में निश्चय और व्यवहार दोनों उत्पन्न होते हैं न।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो जब ध्यान न हो, तब निश्चय है, तब व्यवहार आता है तो उसे व्यवहार त्याज्य कहने में आया। परन्तु यहाँ तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र में लीन हो गया, तब तो व्यवहार सहज नास्ति है, अस्ति है नहीं। जब आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्रस्वरूप में रमणता करता है, उसके आश्रय में होता है, तब विकल्प है, परिणति है, विकल्प है, वह त्याज्य है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि जब अपने आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र के सन्मुख होकर लीन होता है, वहाँ सहज ही व्यवहार की नास्ति है। व्यवहार त्याज्यरूप नास्ति ही है। वहाँ अस्ति है ही नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! धर्म बहुत सूक्ष्म है।

वीतरागमार्ग का धर्म—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अलौकिक बात है। वह बाहर से धमाधम से मिल जाए, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा! बाहर से तो मिलता नहीं, परन्तु अभ्यन्तर में द्रव्यश्रुत शास्त्र का ज्ञान, नव तत्त्व की श्रद्धा का राग और पंच महाव्रत का राग, उसका स्वरूप के आश्रय में निषेध है। क्योंकि दृष्टि के विषय में नहीं है और उसकी पर्याय में अस्ति में निर्मल परिणति उत्पन्न हुई, उसमें मलिनता नहीं आती। आहाहा! समझ में आया?

आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, सत् शाश्वत् चिदानन्द ज्ञान और आनन्द का भण्डार के सन्मुख की दृष्टि और ज्ञान में लीन हुआ तो सहज व्यवहार का अस्तित्व (नहीं रहता)। इस अस्तिपने के अनुभव में व्यवहार का अस्तित्व रहता ही नहीं। व्यवहार सहज नास्तिरूप है। आहाहा! ऐसी बात है। समझ में आया? पाठ में है। **'निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्यः'** अन्तर में दृष्टि, ज्ञान और रमणता (हुए, वहाँ) व्यवहार त्याज्य (हो गया)। **'किं तु तस्यां त्रिगुप्तावस्थायां व्यवहारः स्वयमेव नास्तीति'** (जयसेनाचार्यदेव की टीका की) संस्कृत है। सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो धर्म की बात है। बाकी तो अनन्त बार पुण्य किया। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा अनन्त बार किये। आहाहा! करोड़ों रुपये का दान, अरबों रुपये के दान, करोड़ों मन्दिर बनाये—उसमें क्या हुआ? वह तो शुभराग है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो परमात्मा, जो निज परमात्मस्वरूप, परम आत्मस्वरूप, पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान, शान्ति के सागर की ओर की दृष्टि, ज्ञान में लीनता होती है, तो उस लीनता के काल

में भले निर्विकल्प ध्यान में न हो, तो भी राग है, वह त्याज्य है। अब जब ध्यान में है तो राग स्वयमेव नास्ति है। समझ में आया? नहीं आया? यह ठीक कहा।

फिर से, आत्मा अपने स्वरूप की दृष्टि, ज्ञान और रमणता होती है परन्तु ध्यान में नहीं है, निर्विकल्प ध्यान में नहीं है, तब उसे रागादि होते हैं। परन्तु अन्तर में उसे इस दृष्टि के कारण उनका त्याग है। और जब ध्यान में आता है, निर्विकल्प ध्यान में आता है, तब तो व्यवहार की नास्ति ही है। अस्ति है नहीं, नास्ति है। समझ में आया? आहाहा! अरेरे!

शास्त्र का ज्ञान, नव तत्त्व की श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम, अपने चैतन्य के ध्यान में ध्यान और ध्येय एकाकार होकर, ध्याता भी आत्मा, ध्यान भी आत्मा और ध्येय भी आत्मा—ऐसे निर्विकल्प ध्यान में जब आता है, तब तो वह व्यवहार त्याज्य नास्तिरूप है। है ही नहीं, इसलिए त्याज्य है। आहाहा! समझ में आया? गुजराती है। भाषा समझ में आती है? यह ऐसा मार्ग है, भाई! बाकी चौरासी के अवतार में भटक मरता है। आहाहा! अनन्त बार देव हुआ, अनन्त बार अरबोंपति गृहस्थ हुआ, मरकर नरक और निगोद में गया। आहाहा!

भगवान आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु, सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव ने जो आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड, निर्मलानन्द कहा, निर्मल वस्तु, उसकी पर्याय में उत्पन्न हुई, वह नन्द है। आहाहा! वस्तु आत्मा जो निर्विकल्प चीज़ है, उसकी दृष्टि, ज्ञान और रमणता में निर्विकल्प शान्ति में अन्दर आया तो कदाचित् ध्यान न हो तो यह विकल्प आता है। यहाँ निश्चय के आश्रय के कारण व्यवहार त्याज्य है। परन्तु जब आत्मा के ध्यान में लीन होता है, तब तो व्यवहार की नास्ति ही है। त्याग का अर्थ वहाँ व्यवहार है ही नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। कहो, चन्दुभाई! अब समझ में आया या नहीं? पहले इनकार करते थे। बात सत्य, परन्तु सूक्ष्म बात है।

मुमुक्षु : प्रश्न तो खड़े होते हैं परन्तु रात्रिचर्चा तो है नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : होता है, होता है। सब होता है। प्रश्न होते हैं। रात्रिचर्चा बन्द है। आहाहा!

कहते हैं कि यदि तुझे कल्याण करना हो और जन्म-मरण का नाश करना हो, भवभ्रमण का अभाव करना हो तो भगवान आत्मा में भव और भवभ्रमण का कारण—भाव,

इन दोनों से रहित प्रभु है। आहाहा! ऐसी चीज़ अन्दर पड़ी है। परमात्मस्वरूप परमेश्वर निर्विकल्प समाधि में परमात्मा ही ध्यान में रहता है। आहाहा! उस परमात्मा के आश्रय से जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुए, वही मोक्षमार्ग है, यह निश्चय है। इस निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार जितना शास्त्रज्ञान या नव तत्त्व की श्रद्धा या दया, दान के परिणाम, वह सब व्यवहार हो परन्तु निषेध्य है, आदरणीय नहीं। यह आदरणीय है तो, वह आदरणीय नहीं, इतना। परन्तु जब आत्मा अकेले ध्यान में आ जाता है... आहाहा! अन्तर में ध्यान-ध्याता-ध्येय एकरूप होकर ध्यानमय हो जाता है, तब तो उस त्रिगुप्ति अवस्था में यह व्यवहार त्याज्य, नास्तिरूप त्याज्य है। है ही नहीं, फिर त्याग क्या? आहाहा! ऐसी बातें हैं। वीतरागमार्ग सूक्ष्म है। भभूतमलजी! वहाँ कहीं यह बात सुनी ही नहीं। बाहर में धूल में और धूल में... धूल अर्थात् पैसा, मिट्टी-धूल। उसमें रुक-रुककर आत्मा भगवान चिदानन्द लक्ष्मी का भण्डार है, अनन्त ज्ञान-दर्शन का भण्डार, भगवान! वह भण्डार, भण्डार है। आहाहा!

वह शरीरप्रमाण भले हो परन्तु उसका स्वभाव तो अनन्त-अनन्त बेहद शक्तिवान स्वभाव है। ऐसा परमात्मा, अपना स्वरूप, परम स्वरूप। परमात्मा अर्थात् परम स्वरूप। उस परम स्वरूप की अन्तर दृष्टि, ज्ञान और रमणता हो, वही मोक्ष का मार्ग है। और उस समय सविकल्प अवस्था हो, विकल्प आते हैं, तो वह निषेध्य है, उनका आदर नहीं, इतना। आदर इसका है, उनका आदर नहीं। परन्तु जब ध्यान में आ जाता है, तब तो व्यवहार की नास्ति है। आदर नहीं, ऐसा वहाँ नहीं। आदर ही नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है। यह कहा। अन्दर है, हों! टीका में है।

पहले यह लिया। **'निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्यः'** परन्तु फिर कहा कि **'किंतु तस्यां त्रिगुप्तावस्थायां व्यवहारः स्वयमेव नास्तीति'** है इसमें संस्कृत? जयसेनाचार्यदेव की (टीका में) है। आहाहा! निश्चय आदरणीय है और व्यवहार हेय है। इसका इतना अर्थ है कि निश्चय स्वभाव भगवान पूर्ण आत्मा, उसकी दृष्टि, ज्ञान और रमणता में वह भाव आदरणीय है और उससे विरुद्ध भाव जो विकल्प आदि होते हैं, वह जब तक वीतराग न हो, तब तक वह व्यवहार आता है परन्तु वह व्यवहार आदरणीय नहीं है, त्याज्य है, हेय है। अस्तिरूप से है, परन्तु हेय है। यह अस्तिरूप से है,

यह उपादेय है। आहाहा! परन्तु जब ध्यान में आता है, तब अकेला अस्तित्व, पूर्णानन्द का नाथ (ही आदरणीय है)। तब तो मैं ध्यान करता हूँ, ऐसा भी ध्यान नहीं है। ऐसी स्थिति में व्यवहार त्याज्य नास्तिरूप—है ही नहीं, इसलिए त्याज्य है। आहाहा!

अभी यह व्यवहारनय के झगड़े। व्यवहार होवे तो निश्चय हो और व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। बड़ा झगड़ा। आहाहा! यह तो प्रभु! निमित्त का ज्ञान कराया है। व्यवहार साधन कहा है, वहाँ तो निमित्त क्या था, उसका ज्ञान कराया है। वह साधन नहीं है। साधन तो राग से प्रज्ञाछैनी मारकर, राग और भगवान स्वभाव के बीच प्रज्ञाछैनी मारकर भिन्न हुआ, वह साधनपना है। राग साधन है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह व्यवहार तो अभव्य को भी होता है, कहते हैं। तू भव्य हो तो भले हो। अभव्य को भी होता है, जिसका कभी कल्याण नहीं होता, उसे भी होता है तो तुझे व्यवहार आवे तो उसमें तेरा कल्याण नहीं है। शब्दज्ञान, नव तत्त्व की श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम वे तुझे कोई कल्याण का कारण नहीं है। तू भले भव्य हो। समझ में आया?

इसलिए व्यवहारनय तो निषेध्य है; और जहाँ शुद्धात्मा होता है,... शुद्ध आत्मा जहाँ दृष्टि में, ज्ञान में, चारित्र में—रमणता में होता है। शुद्ध स्वरूप भगवान पूर्ण प्रभु, पूर्णानन्द का नाथ आत्मा, जैसा शुद्धात्मा है, वैसी शुद्ध पर्याय केवली परमात्मा को प्रगट होती है, वह कहाँ से प्रगट होती है? कि अन्दर शुद्धात्मा में पड़ी है, उसमें से प्रगट होती है। उस त्रिकाली शुद्धात्मा का ज्ञान, वही एक ज्ञान है; उसका दर्शन, वह समकित, उसका चारित्र होता है, वह शुद्धात्मा से होता है। आहाहा!

इसलिए निश्चयनय व्यवहार का निषेधक है। स्वरूप की रमणता की अपेक्षा से व्यवहार निषेध्य है। व्यवहार निषेध करनेयोग्य है। परन्तु ध्यान में तो निषेध करनेयोग्य भी नहीं रहता, नास्ति ही है। अन्दर रमणता है, वहाँ (व्यवहार) है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

कलश - १७४

अब आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं-

(उपजाति)

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ।।१७४।।

श्लोकार्थ -''[रागादयः बन्धनिदानम् उक्ताः] रागादि को बन्ध का कारण कहा और [ते शुद्ध-चिन्मात्र-महः-अतिरिक्ताः] उन्हें शुद्धचैतन्यमात्र ज्योति से (-अर्थात् आत्मा से) भिन्न कहा, [तद्-निमित्तम्] तब फिर उस रागादि का निमित्त [किमु आत्मा वा परः] आत्मा है या कोई अन्य?'' [इति प्रणुन्नाः पुनः एवम् आहुः] इस प्रकार (शिष्य के) प्रश्न से प्रेरित होते हुए आचार्य भगवान पुनः इस प्रकार (निम्न प्रकार से) कहते हैं।।१७४।।

कलश - १७४ पर प्रवचन

अब आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं- आगामी कथन का काव्य कहते हैं। १७४। सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो परिचय करे, समझे, अभ्यास करे। अनादि काल से चार गति, चौरासी लाख योनियों में भटकता है। चींटी, कौआ, कुत्ते के भव, नरक के नारकी के, आहाहा! अनन्त-अनन्त भव किये। यह कहीं पहला भव नहीं है। मनुष्य के भव भी अनन्त बार आये और अनन्त बार अरबोंपति हुआ, परन्तु फिर से वापस मरकर नरक और निगोद में जाता है। आहाहा! अपनी चीज़ की दृष्टि, ज्ञान और अनुभव बिना यह सब संसार में परिभ्रमण का कारण है। आहाहा! श्लोक।

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ।।१७४।।

रागादि को बन्ध का कारण कहा... प्रभु! यह शास्त्र का ज्ञान, नव तत्त्व की श्रद्धा, पंच महाव्रत का राग, उस राग को तो आपने बन्ध का कारण कहा। 'शुद्ध-

चिन्मात्र-महः-अतिरिक्ताः' उन्हें शुद्धचैतन्यमात्र ज्योति से (-अर्थात् आत्मा से) भिन्न कहा,... भगवान शुद्ध चैतन्य से तो भिन्न कहा। आहाहा! **तब फिर उस रागादि का...** कारण कौन? क्या प्रश्न किया, समझ में आया?

एक तो यह कहा, कि जो तीनों बोल कहे—शास्त्रज्ञान, पंच महाव्रत (के विकल्प) और नव तत्त्व की (श्रद्धा को) राग कहा। उस राग को बन्ध का कारण कहा और आत्मा तो चैतन्यमात्र ज्योति है, उससे भिन्न कहा। तो फिर उस रागादि का कारण कौन है? रागादि बन्ध का कारण कहा (और) शुद्ध चैतन्यमात्र से भिन्न कहा, तो बन्ध का कारण है कौन? आहाहा! है?

तब फिर उस रागादि का निमित्त आत्मा है या कोई अन्य? क्योंकि यह तो कहते हैं, कि रागादि बन्ध का कारण है। शुद्ध चैतन्यमात्र से भिन्न है। भिन्न है तो फिर राग का कारण है कौन? समझ में आया? एक ओर तीनों भाव—राग बन्ध का कारण कहा, एक ओर कहते हैं कि, शुद्ध चैतन्यमात्र से भिन्न है, तो वह राग है, उसका कारण कौन है? शुद्ध चिन्मात्र से भिन्न है और राग बन्ध का कारण है, ऐसा कहा। उस राग का कारण है कौन? समझ में आया? ऐसा प्रश्नकार का प्रश्न है। **आत्मा है या कोई अन्य? 'इति प्रणुन्नाः' इस प्रकार (शिष्य के) प्रश्न से प्रेरित होते हुए...** इस प्रकार का जो शिष्य को प्रश्न होता है, उससे **प्रेरित होते हुए आचार्य भगवान पुनः इस प्रकार (निम्न प्रकार से) कहते हैं।** उसका उत्तर देते हैं। शिष्य को यह सुनकर अन्दर से ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ कि आप एक ओर कहते हो कि शुद्ध चिन्मात्र से राग भिन्न है और राग बन्ध का कारण है। तो राग का कारण कौन है? शुद्ध चिन्मात्र से तो भिन्न है और राग बन्ध का कारण है, तो राग का कारण कौन है? ऐसा शिष्य का अन्तर में समझने की जिज्ञासा से प्रश्न है, उसे यहाँ आचार्य उत्तर देते हैं। आहाहा! गाथा।

गाथा - २७८-२७९

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।।२७८।।

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं।।२७९।।

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः।।२७८।।

एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः।।२७९।।

यथा खलु केवलः स्फटिकोपलः, परिणामस्वभावत्वे सत्यपि, स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादि-निमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादि-निमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभिः परिणम्यते।

तथा केवलः किलात्मा, परिणामस्वभावत्वे सत्यपि, स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभिः परिणम्यते। इति तावद्वस्तुस्वभावः।।२७८-२७९।।

उपरोक्त प्रश्न के उत्तररूप में आचार्यदेव कहते हैं:-

ज्यों फटिकमणि है शुद्ध, आप न रक्तरूप जु परिणमे।
पर अन्य रक्त पदार्थ से, रक्तादिरूप जु परिणमे।।२७८।।

त्यों 'ज्ञानी' भी है शुद्ध, आप न रागरूप जु परिणमे।
पर अन्य जो रागादि दूषण, उनसे वो रागी बने।।२७९।।

गाथार्थ : [यथा] जैसे [स्फटिकमणिः] स्फटिकमणि [शुद्धः] शुद्ध होने से

[रागाद्यैः] रागादिरूप से (ललाई-आदिरूप से) [स्वयं] अपने आप [न परिणमते] परिणमता नहीं है [तु] परन्तु [अन्यैः रागादिभिः द्रव्यैः] अन्य रक्तादि द्रव्यों से [सः] वह [रज्यते] रक्त (-लाल) आदि किया जाता है, [एवं] इसी प्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [शुद्धः] शुद्ध होने से [रागाद्यैः] रागादिरूप [स्वयं] अपने आप [न परिणमते] परिणमता नहीं है [तु] परन्तु [अन्यैः रागादिभिः दोषैः] अन्य रागादि दोषों से [सः] वह [रज्यते] रागादि आदि किया जाता है।

टीका : जैसे वास्तव में केवल (-अकेला) स्फटिकमणि, स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी अपने को शुद्धस्वभावत्व के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से (स्वयं अपने में ललाई-आदिरूप परिणमन का निमित्त न होने से; अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता, किन्तु जो अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से स्फटिकमणि के रागादि का निमित्त होता है, ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही, शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ, रागादिरूप परिणमित किया जाता है; इसी प्रकार वास्तव में केवल (-अकेला) आत्मा, स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी, अपने शुद्धस्वभावत्व के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से (स्वयं अपने को रागादिरूप परिणमन का निमित्त न होने से) अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु जो अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से आत्मा को रागादि का निमित्त होता है, ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही, शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ ही, रागादिरूप परिणमित किया जाता है।-ऐसा वस्तुस्वभाव है।

भावार्थ-स्फटिकमणि स्वयं तो मात्र एकाकार शुद्ध ही है; वह परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप ललाई-आदिरूप नहीं परिणमता किन्तु लाल आदि परद्रव्य के निमित्त से (स्वयं ललाई आदिरूप परिणमते ऐसे परद्रव्य के निमित्त से) ललाई-आदिरूप परिणमता है। इसी प्रकार आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है; वह परिणमनस्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता परन्तु रागादिरूप परद्रव्य के निमित्त से (-अर्थात् स्वयं रागादिरूप परिणमन करनेवाले परद्रव्य के निमित्त से) रागादिरूप परिणमता है। ऐसा वस्तु का ही स्वभाव है, उसमें अन्य किसी तर्क को अवकाश नहीं है।

गाथा - २७८-२७९ पर प्रवचन

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।।२७८।।

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं।।२७९।।

नीचे हरिगीत

ज्यों फटिकमणि है शुद्ध, आप न रक्तरूप जु परिणमे।
पर अन्य रक्त पदार्थ से, रक्तादिरूप जु परिणमे।।२७८।।

त्यों 'ज्ञानी' भी है शुद्ध, आप न रागरूप जु परिणमे।
पर अन्य जो रागादि दूषण, उनसे वो रागी बने।।२७९।।

टीका :- जैसे वास्तव में केवल (-अकेला) स्फटिकमणि,... स्फटिकमणि का दृष्टान्त दिया है। **स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी...** वह बड़ा स्फटिकमणि देखा है, इतना (बड़ा)। जामनगर में इतना बड़ा स्फटिकमणि है, हमने देखा है। हम जामनगर गये थे न, व्याख्यान चलते थे। (संवत्) १९९१ के वर्ष की बात है, ९१। ४५ वर्ष हुए। १९९१ के वर्ष में गये थे। परिवर्तन नहीं किया था। गये थे तो डॉक्टर व्याख्यान सुनने आता था। उस समय ढाई हजार रुपये मासिक वेतन। सब आते थे, व्याख्यान में तो सब आवे, समझे, न समझे (दूसरी बात है)। फिर (वह कहे), महाराज! आप दृष्टान्त देते हो तो मेरे पास छह लाख का सोलेरियम है। छह लाख रुपये की मशीन, उस समय, हों! ४५ वर्ष पहले। एक सोलेरियम है। बालक को फोड़ा होता है न, फोड़ा? उसके ऊपर किरणें डाले तो मिट जाए। ऐसा एक सोलेरियम यन्त्र है। छह लाख रुपये, तब छह लाख, हों! ४५ वर्ष (पहले)। महाराज! आपको दृष्टान्त में काम आयेगा। ऐसा करके फिर उसने स्फटिकमणि बताया। इतना बड़ा स्फटिकमणि था। श्वेत—सफेद, उसमें रंग... रंग दिखता था। कहा, यह रंग है, वह स्फटिकमणि का स्वभाव नहीं है। नजरों से देखा है। ऐसा स्फटिकमणि इतना, हों! इतना बड़ा एक।

यहाँ कहते हैं कि **वास्तव में केवल (-अकेला) स्फटिकमणि,...** अकेला स्फटिकमणि **परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी...** पलटने का, बदलने का, पर्याय होने का स्वभाव होने पर भी, **अपने को शुद्धस्वभावत्व के कारण...** स्फटिक को शुद्ध स्वभाव है, इस कारण से **रागादि का निमित्तत्व न होने से...** रंग का कारण स्फटिक नहीं होने से। उसमें जो रंग दिखता है, उसका कारण स्फटिकमणि नहीं है। रागादि अर्थात् रंग। राग, वह रंग। रंग आदि का निमित्तपना नहीं होने से **(स्वयं अपने में ललाई-आदिरूप परिणमन का निमित्त न होने से...)** स्फटिकमणि जो लाल और पीला दिखता है, वह अपने स्वभाव से नहीं है। **अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता,...** अपने आप लाल और पीले रंगरूप स्फटिकमणि नहीं परिणमता। अपने आप, दूसरे के सम्बन्ध बिना अपने आप स्फटिकमणि लाल और पीले रंगरूप से परिणमता नहीं है। आहाहा!

किन्तु जो अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से स्फटिकमणि के रागादि का निमित्त होता है... नीचे लाल, पीला (फूल) होता है न? वह फूल के कारण उसमें रंग दिखता है। स्फटिकमणि अपने स्वभाव से परिणमन करता है, ऐसा नहीं है। परन्तु लाल, पीले फूल जो नजदीक में रखे होते हैं तो अन्दर लाल, पीला रंग दिखता है, वह फूल के कारण दिखता है। **अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता, किन्तु जो अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से स्फटिकमणि के रागादि का निमित्त होता है, ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही,... परद्रव्य के द्वारा ही, शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ,...** स्फटिकमणि स्वयं से, शुद्ध से भ्रष्ट होता हुआ। **रागादिरूप परिणमित किया जाता है;...** यह स्फटिक लाल और पीले रंग (रूप से) परिणमन में आ जाता है। अपने स्वभाव से नहीं, पर द्वारा, रंग के सम्बन्ध से रंगरूप से परिणम जाता है। इसमें बड़ी गड़बड़ है न? **ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही, शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ, रागादिरूप परिणमित किया जाता है;...**

इसी प्रकार... यह दृष्टान्त दिया। स्फटिकमणि स्वच्छ, निर्मल है, वह अपने आप रंगरूप से परिणमता नहीं है। क्योंकि स्फटिक स्वच्छ है परन्तु उसमें जो रंग दिखता है, वह दूसरी चीज़ के कारण रंग दिखता है। परद्रव्य के कारण उसमें लाल और पीला रंग दिखता है। अपने द्रव्यस्वभाव से नहीं। यह दृष्टान्त है।

इसी प्रकार वास्तव में केवल (-अकेला) आत्मा, स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी,... आहाहा! भगवान आत्मा तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप, शुद्ध परिणमन स्वभाववाला है। **अपने शुद्धस्वभावत्व के कारण...** अपने शुद्ध पवित्र भगवान स्वभाव के कारण से **रागादि का निमित्तत्व न होने से...** रागादि का निमित्तपने का अर्थ (यह कि) रागादि का कारण। रागादिक का कारण नहीं होने से। आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है। गड़बड़ यह है न सब? परद्रव्य के कारण से रंग, राग होता है, परद्रव्य के कारण से रंग, राग होता है। परन्तु परद्रव्य के कारण से, परद्रव्य के संग में स्वयं की योग्यता है तो होता है। यदि परद्रव्य से होता होवे तो लाल, पीले फूल यहाँ नीचे रखो। लकड़ी के नीचे लाल, पीले रखो तो उसमें लाल, पीला नहीं होता क्योंकि उसकी योग्यता नहीं है। इस स्फटिकमणि में लाल, पीला होने की योग्यता है तो लाल, पीले रंग से लाल, पीला दिखता है। समझ में आया? परद्रव्य के कारण से, इसका अर्थ—अपनी योग्यता है तो परद्रव्य के कारण से लाल, पीला रंग दिखता है। आहाहा!

यह लकड़ी है, देखो! इसके नीचे रखो तो क्या लाल, पीला दिखता है? इसकी योग्यता ही नहीं है। इसी प्रकार स्फटिकमणि में पर्याय में अपनी योग्यता है तो परद्रव्य के कारण से रंग दिखता है। ऐसे आत्मा में रागादि का निमित्त कर्म है, स्वयं की योग्यता के कारण से, परद्रव्य के निमित्त के कारण से अपने में राग और द्वेष दिखता है। आहाहा! अब ऐसी निवृत्ति कहाँ सब? आहाहा! है?

अपने शुद्धस्वभावत्व के कारण... भगवान चैतन्य प्रभु तो शुद्ध स्वरूप है। इसलिए अपने आप तो अशुद्धपने राग और द्वेषपने तो परिणमता नहीं। परन्तु **रागादि का निमित्तत्व न होने से (स्वयं अपने को रागादिरूप परिणमन का निमित्त न होने से) अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता,...** अपने आप अपने से विकाररूप नहीं होता। **परन्तु जो अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से...** रंग... रंग... फूल। यह फूल जो लाल और पीला है, वह स्वयं से लाल, पीला होता है। फूल-फूल। **अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से आत्मा को रागादि का निमित्त होता है...** यह परद्रव्य है, वह आत्मा को निमित्त होता है। आहाहा! इसमें झगड़ा था।

इसीलिए कहा था न तब? (संवत्) २०१३ के वर्ष, २२ वर्ष पहले ईसरी में वर्णीजी के साथ बड़ी चर्चा हुई थी। गणेशप्रसाद वर्णी दिगम्बर में बड़े (विद्वान) थे। चर्चा हुई तो कहे कि विकार स्वयं से नहीं होता, कर्म से होता है। (तो हमने कहा), स्वयं से होता है, पर्याय की अपनी योग्यता से होता है, परद्रव्य तो निमित्तमात्र है। बड़ी चर्चा हुई थी। अभी यह चलता कहाँ है? बनिये को निवृत्ति नहीं मिलती। ऊपर जो कहे उसे सुने (और) धन्धे में-पाप में जुड़ जाए। बड़ी चर्चा हुई थी। उन्हें ऐसा लगा कि अरे! कर्म के बिना विकार होगा? कहा, देखो! पंचास्तिकाय की ६२ गाथा। कर्म के कारक बिना अपने में अपने से राग-द्वेष होते हैं। षट्कारक के परिणमन से अपने में होते हैं, वह (कर्म) तो निमित्तमात्र चीज़ है। निमित्त से होते हैं, ऐसा नहीं है।

यहाँ निमित्त से होते हैं ऐसा कहा, नहीं, निमित्तमात्र है और अपनी योग्यता से राग-द्वेषरूप परिणमता है। यह योग्यता, आगे लेंगे। अभी आगे आयेगा, इस श्लोक का ही विवाद है। **'परसंग एव'** बाद का शब्द है न? **'परसंग एव'। 'पर एव'** नहीं, पर का संग स्वयं से किया है। इसका अर्थ ही अभी कहेंगे। बड़ी चर्चा हुई थी। बंशीधरजी बड़े पण्डित (थे)। इन्दौर के बड़े पण्डित थे न? तब सब बैठे थे, तब चर्चा हुई थी। फिर यहाँ आये, तब स्वीकार किया था। मैंने कहा, यह **'परसंग एव'** है, **'पर एव'** नहीं। अपनी पर्याय में पर का संग किया है तो राग-द्वेष हुए हैं, पर से राग-द्वेष होते हैं, ऐसा नहीं। पर को तो कभी स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई!

मुमुक्षु : परद्रव्य परिणमाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परद्रव्य परिणमाता नहीं। परिणमाने का अर्थ यह कि स्वद्रव्य का परिणमने का स्वभाव नहीं है, परन्तु अपनी पर्याय में परद्रव्य के कारण से राग, रंग की योग्यता से राग होता है। समझ में आया? यह बात ऐसी है, अटपटी बात है। बड़ी चर्चा पण्डितों के बीच हुई थी। सब थे, रामजीभाई थे, हिम्मतभाई थे, सब वहाँ थे। (संवत्) २०१३ के वर्ष। २२ वर्ष पहले, ईसरी... ईसरी! सम्मेदशिखर। बड़ी चर्चा हुई थी। मैंने कहा, यह क्या कहते हैं? पर से नहीं, पर के संग से। पर के संग से, अपने स्वभाव का संग छोड़कर निमित्त का संग किया तो लाल, पीले की योग्यता हुई। अपनी योग्यता है

तो हुआ। दूसरे किसी पत्थर के नीचे लाल, पीले (फूल) रखो तो नहीं होता। क्योंकि उसकी योग्यता नहीं है।

दूसरा दृष्टांत—एक दियासलाई होती है न? दियासलाई। यह बीड़ी पीते हैं न? तो एक ओर घिसकर पीते हैं और इस ओर ठण्डी है। इस ओर ठण्डी है न? और यहाँ उष्ण है। इस ओर उष्ण नहीं होती। उष्ण होवे तो पी नहीं सकता। और यदि लोहे का पाँच-सात हाथ लम्बा सरिया हो, लोहा... लोहा... वह चार अंगुल अग्नि में हो तो पूरा सरिया उष्ण हो जाता है। वह स्वयं से होता है। दियासलाई है या नहीं? ऐसे सुलगाकर बीड़ी पीते हैं या नहीं? तो इस ओर अग्नि है, इस ओर ठण्डी है। अब, दो-तीन अंगुल में इस ओर अग्नि तथा इस ओर शीतल है। वह तो स्वयं की योग्यता से है। तथा पाँच हाथ लम्बा लोहे का सरिया हो, अग्नि में चार अंगुल पड़ा हो ऐसे तो पूरा लोहा उष्ण हो जाता है। स्वयं से होता है। अग्नि से होता होवे तो लकड़ी में भी उष्ण होना चाहिए। बात समझ में आती है? पाटनीजी! ऐसी बात है, भाई!

मुमुक्षु : साहेब! एक ओर ऐसा कहते हैं कि बर्फ में वह लोहा रखा जाए तो वह ठण्डा होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात ही खोटी है, इसे स्पर्श ही नहीं करता। यह पानी अग्नि के कारण गर्म होता है, यह बात ही झूठी है। अज्ञानी संयोग से देखता है, अग्नि से देखता है। इस ओर से देखे तो पानी अपना शीतलपना छोड़कर उष्णरूप स्वयं की परिणति हुई है, अग्नि से नहीं। आहाहा! कौन माने? झगड़ा बड़ा, पण्डिताई का झगड़ा। तत्त्व की बात (नहीं मिलती)।

दियासलाई होती है न? दियासलाई। (बीड़ी) पीते हैं तो इस ओर ठण्डी है, उष्ण नहीं होती। तीन अंगुल उष्ण नहीं होती और लोहा पाँच हाथ लम्बा हो और चार अंगुल अग्नि में होवे तो पूरा उष्ण हो जाता है। वह अपनी योग्यता से होता है। यदि अग्नि से उष्ण होता होवे तो लकड़ी भी उष्ण हो जाए। दियासलाई भी इस ओर उष्ण हो जाए। न्याय समझ में आता है? अरे! झगड़ा... झगड़ा... झगड़ा। यह दृष्टान्त दिया था, हों! (पूरी) दियासलाई उष्ण नहीं होती। इस ओर सुलगती है, इस ओर ठण्डी रहती है और चार अंगुल में ठण्डी,

और वह (लोहा) पाँच हाथ में उष्णता। यहाँ लोहा चार अंगुल में अग्नि होवे तो ठेठ तक तप्त हो जाता है। वह स्वयं की योग्यता से होता है, अग्नि से नहीं।

इसी प्रकार आत्मा में जो राग-द्वेष होते हैं, वे निमित्त से नहीं होते। निमित्त का संग अपनी योग्यता से किया तो योग्यता से राग-द्वेष होते हैं और वह भी राग-द्वेष षट्कारकरूप से परिणमन करते हैं। वह राग-द्वेष षट्कारकरूप से परिणमे, उसमें निमित्त की आवश्यकता नहीं और द्रव्य-गुण का आश्रय नहीं। आहाहा! ऐसी बातें। किसे निवृत्ति है? ६२ गाथा में है न!

पंचास्तिकाय ६२ गाथा में ऐसा लिखा है। है यहाँ? पंचास्तिकाय नहीं होगा? है? पंचास्तिकाय है, हों! यह गाथा रखी थी, उस दिन, हों! २२ वर्ष पहले। देखो! ***जीव भी...*** पहले कर्म की बात की। कर्म जो परिणमता है, वह स्वयं के कारण से कर्म परिणमता है, यहाँ राग-द्वेष किया, इसलिए कर्मरूप परिणमता है, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार ***जीव भी (१) भावपर्याय से प्रवर्तते आत्मद्रव्यरूप से कर्तापने को धारण करता हुआ...*** कर्तापने को स्वतन्त्र धारता हुआ रागरूप परिणमता है। ***(२) भावपर्याय प्राप्त करने की शक्तिरूप करणपने को अंगीकृत करता हुआ...*** करण भी अपना करण है। ***(३) प्राप्य ऐसे भावपर्यायरूप से कर्मपने को अनुभवता हुआ, (४) पूर्व भावपर्याय का नाश होने पर भी ध्रुवत्व को अवलम्बता हुआ होने से जिसने अपादानपने को प्राप्त किया है ऐसा, (५) उपजते भावपर्यायरूप कर्म द्वारा समाश्रित होने से (अर्थात् उपजते भावपर्यायरूप कार्य स्वयं को दिया जाता होने से) सम्प्रदानपने को प्राप्त और (६) धार रखने में आते हुए भावपर्याय का आधार होने से जिसमें अधिकरणपने को ग्रहण किया है ऐसा—स्वयमेव... ऐसा स्वयमेव षट्कारकरूप से वर्तता हुआ अन्य कारक की अपेक्षा नहीं रखता।*** यह पुस्तक यहाँ की नहीं है। यह तो दो हजार वर्ष पहले की कुन्दकुन्दाचार्यदेव की पुस्तक है। पाठ में—टीका में है, देखो!

'अतः कर्मणः कर्तुर्नास्ति जीवः कर्ता,' आहाहा! **'न कारकांतरमपेक्षते' 'न कारकांतरमपेक्षते'** अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका है। विकार होने में निमित्त की अपेक्षा नहीं है। बड़ा विवाद था। तथा उन्हें तो ऐसा लगा कि आहाहा! यह तो भारी भूले हैं। फिर

कलकत्ता पत्र भेजा। शाहूजी, यह शान्तिप्रसाद शाहूजी, चालीस करोड़ रुपये। यहाँ आते थे, अभी गुजर गये हैं। यहाँ आते थे। वहाँ शाहूजी के पास उन्होंने पत्र भेजा कि ये लोग मूल में भूले हैं। विकार स्वयं से होता है, कर्म से नहीं—ऐसा कहते हैं। स्वयं से होता है तो स्वभाव हो जाएगा। गजराजजी के यहाँ आहार करते थे न? गजराजजी। वहाँ शाहूजी पत्र लेकर आये। (हमने) कहा, वहाँ जवाब दे दिया गया है। विकार अपनी पर्याय में षट्कारक से स्वयं से होता है, उसमें परकारक की अपेक्षा नहीं है। देखो! ६२ गाथा। संस्कृत। पण्डित हो या बड़ा त्यागी चाहे जो हो, वस्तु तो यह है। समझ में आया?

पाठ में है, **'न कारकांतरमपेक्षते'** निमित्तकारक की अपेक्षा नहीं है, यह तो निमित्त से कथन किया है। आहाहा! गजब बात, भाई! विकार करने की योग्यता स्वयं की योग्यता से होती है। पर को तो स्पर्श भी नहीं करता। कर्म जड़ है, उसके उदय को, पर्याय को स्पर्श नहीं करता और कर्म का उदय है, वह आत्मा के राग को स्पर्श नहीं करता। एक दूसरे में अभाव है। स्पर्श नहीं करता, उसमें उससे होता है—ऐसा कहाँ से आया? अपनी पर्याय में अपनी योग्यता से राग तथा द्वेष और मिथ्यात्वभाव स्वयं के कारण से होता है और अपने पुरुषार्थ से उनका नाश होता है। समझ में आया? बात तो ऐसी है।

इसमें से बहुत से यह निकालते हैं, देखो! पर के कारण से हुआ। पर के कारण से होता है, यह बात तो करते हैं। अपने द्रव्य का स्वभाव नहीं है, पर्याय की योग्यता, पर के निमित्त के कारण से योग्यता उत्पन्न हुई है। **'परसंगः एव'** कलश आयेगा। **'पर एव'** नहीं। **'परसंगः एव'**। पर्याय ने परसंग किया। संग को स्पर्श नहीं करता परन्तु पर का लक्ष्य किया। किसी द्रव्य को किसी द्रव्य की पर्याय स्पर्श नहीं करती, परन्तु **'परसंगः एव'**। पर का संग किया तो राग-द्वेष होते हैं। स्वयं के कारण से होते हैं, पर के कारण से नहीं। कर्म का उदय कठोर है तो राग-द्वेष हुआ, ऐसी बात यहाँ नहीं है। समझ में आया? अरे! कौन निर्णय करे?

यहाँ यह कहा, **अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु जो अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से...** वर्ण, गन्धवाले फूल। **आत्मा को रागादि का निमित्त होता है... कर्म ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही,...** परद्रव्य द्वारा ही। **शुद्धस्वभाव**

से च्युत होता हुआ ही,... स्वयं के कारण से शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ, **रागादिरूप परिणमित किया जाता है।–ऐसा वस्तुस्वभाव है।** आहाहा! यह तो निमित्त से कथन है। पर द्वारा ही। है न? **परद्रव्य के द्वारा ही,...** अर्थात् परनिमित्त द्वारा ही, उसका संग किया। अपना संग छोड़कर, स्वभाव जो असंग चैतन्यप्रभु, अपना संग छोड़कर, पर का संग किया तो पर द्वारा हुआ, ऐसा कहने में आया। कठिन बात।

यह बात तो तीनों सम्प्रदाय में गड़बड़ है। स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी और दिगम्बर तीनों में। यह बात पहले ही हमारे (संवत्) १९७१ से निकली है। १९७१, कितने वर्ष हुए? ६५। ६०+५। भभूतमलजी के जन्म से पहले की बात है। ४७ हुए? कितने हुए? यह तो ६५ (वर्ष पहले की बात है)। १९७१ के वर्ष। 'लाठी' में चातुर्मास था। १९७१ के वर्ष में मैंने कहा था कि विकार है, वह स्वयं से होता है; कर्म से नहीं। हमारे गुरु तो नहीं बोले। गुरु तो सुनते थे, सुनते थे। परन्तु एक सेठ बड़ा गृहस्थ था। उस दिन ७० वर्ष पहले, दस लाख रुपये। दामनगर। उस दिन दस लाख। अभी तो तीस गुने। बड़ा पैसेवाला, चालीस हजार की आमदनी थी। चालीस हजार की आमदनी! एक गाँव घर में था। दस हजार से उपज का गाँव। गरासदार। हमारे दशाश्रीमाली बनिया था। उसने विरोध किया कि हमारे गुरु कहते नहीं और तुमने कहाँ से निकाला? कहा, देखो! शास्त्र। निकाला कहाँ से? देखो! ६२ गाथा। पर कारक की अपेक्षा नहीं। कर्ता, कर्म, करण पर षट्कारक की अपेक्षा बिल्कुल नहीं। स्वयं से विकार होता है। आहाहा! विकार की पर्याय का कर्ता विकार, विकार का कार्य विकार, विकार का सम्प्रदान—करके स्वयं ने रखा, विकार से विकार हुआ, विकार के आधार से विकार हुआ। आहाहा! विकार का साधन विकार। अशुद्ध भाव है, भाई! आहाहा! यह वस्तु रखकर फिर दूसरी वस्तु समझे।

यह यहाँ कहा, **शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ ही,...** पाठ ऐसा है न? **परद्रव्य के द्वारा ही,...** परद्रव्य द्वारा का अर्थ—परद्रव्य निमित्त का लक्ष्य करने से अपने शुद्धस्वभाव से च्युत हुआ। चन्दुभाई! हमारे तो यह १९७१ से चलता है। ६५ वर्ष हुए। आहाहा! (संवत्) १९७० में तो दीक्षा ली थी। ६६ वर्ष दीक्षा, स्थानकवासी सम्प्रदाय में। १९७० में दीक्षा, मगसिर शुक्ल १०। ६६ वर्ष हुए। शरीर को तो गर्भ के ९१ चलते हैं। जन्म के ९० चलते हैं। आहाहा! प्रभु! वीतराग त्रिलोकनाथ की वाणी... आहाहा!

मैंने तो ऐसा कहा था कि पंचास्तिकाय है, वह अस्तिकाय को सिद्ध करता है। पंचास्तिकाय अस्तिकाय को सिद्ध करता है। राग का अस्तित्व अपने में है, यह सिद्ध करता है। बात समझ में आयी? पंचास्तिकाय है तो प्रत्येक द्रव्य अपने अस्तित्व में है। द्रव्य-गुण-पर्याय अपने अस्तित्व में है, यह सिद्ध करता है। विकार अपने अस्तित्व में है और अपने से है, यह वहाँ सिद्ध करते हैं। आहाहा!

यहाँ अपने प्रवचनसार १८९ गाथा। विकार आत्मा की पर्याय है, यह शुद्धद्रव्य निरूपण कथन की अपेक्षा से है। शुद्धद्रव्य, शुद्धद्रव्य अर्थात् अपनी पर्याय से। आहाहा! राग का ग्रहण और त्याग आत्मा करता है। पर के कारण से नहीं। राग का ग्रहण और त्याग। आहाहा! पर का ग्रहण-त्याग आत्मा में नहीं है। राग का ग्रहण-त्याग पर्यायदृष्टि में है और त्रिकाल स्वभाव का ग्रहण तथा राग का त्याग, यह स्वभावदृष्टि में है। क्या कहा?

तीन बातें की है कि पर का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में नहीं है। शरीर, वाणी, कर्म, जड़ आदि तो आत्मा ने ग्रहण भी नहीं किये और त्याग भी नहीं किये, ये तो भिन्न है। पर का ग्रहण-त्याग आत्मा में नहीं। आत्मा की पर्याय में शरीर, वाणी, मन, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब कोई है ही नहीं तो ग्रहण किया नहीं, तो त्याग कहाँ से? ग्रहण-त्याग है ही नहीं। परन्तु अपनी पर्याय में राग का ग्रहण-त्याग है। पर्यायदृष्टि से उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए राग का ग्रहण-त्याग है। और स्वभाव की दृष्टि में स्वभाव का ग्रहण और राग त्याग है। ग्रहण-त्याग के तीन बोल। समझ में आया? आहाहा! अपने शुद्ध स्वरूप का ग्रहण हुआ, वहाँ राग का त्याग हुआ। यह यहाँ कहा कि जहाँ निश्चय हुआ तो व्यवहार का त्याग हुआ। अरेरे! ऐसी बातें अब। कब निवृत्ति मिले! धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। धन्धे में पूरे दिन पाप। स्त्री, पुत्र, परिवार के लिए कर-करके पाप करके पोटला बाँधा और जाए... आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **ऐसा वस्तुस्वभाव है।** कि पर्याय में पर के निमित्त द्वारा विकार स्वयं की योग्यता से अपने में होता है। परकारक से नहीं होता, ऐसा वस्तु का स्वभाव है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३४३, गाथा-२७८, २७९, श्लोक - १७५, १७६ रविवार, कार्तिक शुक्ल ८
दिनाङ्क - २८-१०-१९७९

समयसार, २७८-२७९ (गाथा का) भावार्थ।

प्रश्न - भभूतमल गये?

उत्तर - एक दिन के लिये गिरनारजी गये हैं।

भावार्थ-स्फटिकमणि स्वयं तो मात्र एकाकार शुद्ध ही है;... स्वयं अपना स्फटिकमणि का जो स्वरूप है, वह तो निर्मल और शुद्ध ही है। **वह परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी...** उस स्फटिकमणि (का) पलटने का, बदलने का, परिणमने का स्वभाव होने पर भी **अकेला अपने आप ललाई-आदिरूप नहीं परिणमता...** अकेला स्वयं निमित्त के संग बिना अकेला लाल और रंगरूप से परिणमता नहीं है। लाल, काला आदि रंग। **किन्तु लाल आदि परद्रव्य के निमित्त से (स्वयं ललाई आदिरूप परिणमते...)** सामनेवाली चीज़। **(स्वयं ललाई आदिरूप परिणमते...)** सामनेवाली चीज़ के निमित्त से **ललाई-आदिरूप परिणमता है।** स्फटिकमणि की अपनी पर्याय में योग्यता है, उस योग्यता के कारण स्वयं अपने स्वभावरूप से नहीं परिणमता, तब निमित्त के संग में लाल और पीलेरूप परिणमता है। वह अपनी जाति से—द्रव्यस्वभाव से नहीं परिणमता परन्तु पर्याय में योग्यता के कारण पर के संग से लाल और पीलेरूप परिणमता है। ऐसी स्वयं की अन्दर योग्यता है, पर्याय में; द्रव्य में नहीं। यह तो दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है;... भगवान आत्मा तो शुद्ध पवित्र है। आत्मा तो परम पवित्र गुण का पिण्ड है। **वह परिणमनस्वभाववाला होने पर भी...** शुद्ध आत्मा (का) परिणमन—बदलने का, पलटने का पर्याय में स्वभाव **होने पर भी अकेला अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता...** अकेला पर के संग बिना, अकेला स्वयं राग और द्वेषरूप नहीं होता। **परन्तु रागादिरूप परद्रव्य के निमित्त से (-अर्थात् स्वयं रागादिरूप परिणमन करनेवाले (जड़-कर्म) परद्रव्य के निमित्त से) रागादिरूप...** अपनी उपादान विभाविकशक्ति के कारण, विभाविकशक्ति के कारण और

निमित्त पर, उसके-निमित्त के संग से विभाविकशक्ति के कारण से विकाररूप **परिणमता है।** पर के कारण नहीं। पर्याय में स्वयं की योग्यता ही ऐसी है। जैसे स्फटिक शुद्ध परिणमनेवाला होने पर भी लाल-पीले के संग के योग से पर्याय में लाल-पीलापन दिखता है। उसी प्रकार भगवान आत्मा वस्तु से तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति (है)। उसका परिणमन होने पर भी उस परिणमन में विभाविकशक्ति का एक गुण है, कि जो स्वयं से निमित्त के संग में राग और द्वेषरूप स्वयं से परिणमता है।

पर द्वारा भले कहो परन्तु पर द्वारा; पर द्वारा (अर्थात्) पर से नहीं, अपनी शक्ति के कारण से पर के निमित्त द्वारा स्वयं अपने रूप से, शुद्धरूप से न परिणमता विकाररूप परिणमता है। इसमें बड़ी गड़बड़ है।

(स्वयं रागादिरूप परिणमन...) कर्म रागादिरूप परिणमता है, कर्म। उनके संग में रागादिरूप परिणमता है। **ऐसा वस्तु का ही स्वभाव है,...** पर्याय में पर के संग से विकाररूप से होना, ऐसा पर्याय का स्वभाव है। वस्तु का स्वभाव स्वयं से विकाररूप हो, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। समझ में आया?

कलश - १७५

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(उपजाति)

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।।१७५।।

श्लोकार्थ : [यथा अर्ककान्तः] सूर्यकान्तमणि की भाँति (-जैसे सूर्यकांतमणि स्वतः से ही अग्निरूप परिणमित नहीं होता, उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य बिम्ब निमित्त है, उसी प्रकार) [आत्मा आत्मनः रागादिनिमित्तभावम् जातु न याति] आत्मा अपने को रागादि का निमित्त कभी भी नहीं होता, [तस्मिन् निमित्तं परसंगः एव] उसमें निमित्त परसंग ही (-परद्रव्य का संग ही) है।-[अयम् वस्तुस्वभावः उदेतितावत्] ऐसे

वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है। (सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, इसे किसी ने बनाया नहीं है।)।।१७५।।

कलश - १७५ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं- इस काव्य में सब है।

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।।१७५।।

निमित्त अर्थात् कारण।

श्लोकार्थ :- [**यथा अर्ककान्तः**] **सूर्यकान्तमणि की भाँति (-जैसे सूर्यकान्तमणि स्वतः से ही अग्निरूप परिणमित नहीं होता,...)** सूर्यकान्तमणि होता है, वह स्वयं अग्निरूप से नहीं परिणमता। **(उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य बिम्ब निमित्त है,...)** सूर्य के बिम्ब के निमित्त से अपनी योग्यता से वह सूर्यकान्तमणि अग्निरूप से—उष्णरूप परिणमता है। वह अपनी योग्यता के कारण से; पर के कारण से नहीं और पर से नहीं, परन्तु पर के संग के सम्बन्ध में अपनी योग्यता से सूर्यकान्तमणि जैसे उष्णतारूप परिणमती है **(उसी प्रकार)...**

[**आत्मा आत्मनः रागादिनिमित्तभावम् जातु न याति**] आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध परिणमनस्वरूप है, वह स्वयं अपनी जाति से, द्रव्यस्वभाव से विकाररूप परिणमे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। उसका द्रव्यस्वभाव ऐसा है कि विकाररूप होना, वह उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! है? **अपने को रागादि का निमित्त कभी भी...** निमित्त अर्थात् कारण। उपादानकारण स्वयं है, अशुद्ध उपादान। वह विभाविकशक्ति है, इसीलिए वह अशुद्ध उपादान के कारण से कर्म के, निमित्त के संग से विकाररूप होता है। उसका वस्तु का स्वभाव पर के संग बिना स्वयं विकाररूप हो, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। समझ में आया?

कलश टीकाकार ने तो बहुत स्पष्टीकरण किया है कि भाई! उपादान तो उसका ही

है। विकाररूप होने का उपादान विभाविकशक्ति तो उसकी अपनी है। परद्रव्य तो निमित्तमात्र है। वहाँ ही विवाद उठाते हैं, कि पर के कारण विकार होता है, कर्म के कारण विकार होता है। ऐसा नहीं है। बड़ा सिद्धान्त यहाँ है। कलशटीकाकार ने इसका अर्थ बहुत विस्तार से किया है, कि उपादान तो स्वयं का ही है। विभावरूप परिणमना, ऐसी पर्याय में स्वयं के कारण से विभावरूप परिणमता है। उसका वस्तु स्वभाव नहीं परन्तु पर्याय में विभावरूप होना ऐसी स्वयं की योग्यता है। इसलिए निमित्त के संग में; निमित्त द्वारा—ऐसा भले कहो, परन्तु वह परिणमता है स्वयं अपने से। आहाहा! यह बड़ा विवाद है।

बंशीधरजी आये थे न? तब वहाँ चर्चा हुई थी। (वह कहे), कर्म के कारण से हो, कर्म के कारण से (होता है)। जो कर्म द्वारा विकार होता है, कर्म के कारण से होता है। ऐसी बड़ी चर्चा वहाँ हुई थी। कहा, कर्म के कारण से बिल्कुल नहीं। जीव परद्रव्य को छूता भी नहीं। मात्र स्वभाव (की) दृष्टि नहीं है, त्रिकाली ज्ञायकभाव की दृष्टि नहीं होने से वर्तमान पर्याय की दृष्टि होने से उसकी योग्यता के कारण से रागादिरूप के निमित्तरूप से कर्म है, उसके संग में स्वयं अपने से रागरूप परिणमता है। आहाहा! ऐसा है। कर्म के कारण से विकार होता है, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है तथा उसके उपादान के कारण से होता है, यह बात भी सत्य है। पर्याय के उपादान के कारण से विकार होता है। शुद्ध उपादान और द्रव्यदृष्टि नहीं; त्रिकाली शुद्ध है, उसकी दृष्टि नहीं, इसलिए उसकी पर्याय में अशुद्ध उपादान के कारण से निमित्त के लक्ष्य से अपने में राग और द्वेष, मिथ्यात्व आदि का परिणमन होता है। समझ में आया? इसमें कुछ फेरफार होवे तो बड़ा फेरफार होता है। कर्म द्वारा विकार होता है, विकार होने का स्वभाव नहीं है; इसलिए वह विकार तो कर्म के कारण से होता है—ऐसा नहीं है।

बड़ा विवाद पूरा उठा था न तब? (संवत) २०१३ के वर्ष, वर्णीजी के साथ बड़ी चर्चा (हुई थी)। कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण विकार होता है। नहीं तो विकार पर्याय में स्वयं से होता है तो उसका स्वभाव हो जाता है। पर्याय में विभाविकशक्ति के कारण से,... विभाविकशक्ति से विभावरूप परिणमना, ऐसा नहीं है। विभाविकशक्ति तो सिद्ध में भी है परन्तु विभाविकशक्ति निमित्त के संग के लक्ष्य से... लक्ष्य से, निमित्त कुछ उसे स्पर्श भी नहीं करता, परन्तु वह विभाविकशक्ति निमित्त के लक्ष्य से स्वयं से अपने में

विकाररूप परिणमती है। पाटनीजी! ऐसी बात है। इस श्लोक का बड़ा विवाद है। **'परसंगः एव'** है न? वहाँ आगे विवाद है। पर के कारण से होता है। ऐसा नहीं कहा **'पर एव'** नहीं है इसमें। **'पर एव'** नहीं, **'परसंगः एव'** अर्थात् पर्याय पर का संग करती है, अपने असंग स्वभाव को भूलकर। आहाहा! चैतन्यस्वभाव शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञानानन्द का पिण्ड प्रभु, उसके लक्ष्य को छोड़कर पर्याय में पर के लक्ष्य से अपनी योग्यता से मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप परिणमता है। आहाहा! चन्दुभाई! इसमें बड़ा विवाद। इस श्लोक में बड़े-बड़े पण्डितों के साथ विवाद है। इन्होंने—कलश टीकाकार ने तो ऐसा स्पष्ट अर्थ किया है, कलश टीकाकार है न? कितना है यह? १७५। देखो!

प्रश्न किया था, उसका उत्तर... इस वस्तु का स्वरूप सर्व काल प्रगट है। कैसा है वस्तु का स्वभाव? 'जातु' किसी भी काल में जीवद्रव्य अपने सम्बन्धी हैं जो राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणाम, उनके कारणपनेरूप परिणमता नहीं। अपने स्वभाव से परिणमता नहीं। **भावार्थ ऐसा है कि द्रव्य के परिणाम का कारण दो प्रकार का है :** द्रव्य के परिणाम का कारण दो प्रकार का है। **एक उपादानकारण, एक निमित्तकारण।** टीका की है। **उपादानकारण अर्थात् द्रव्य में अन्तर्गर्भित है अपने परिणाम—पर्यायरूप...** परिणमन शक्ति वह तो जो द्रव्य की है, उसमें ही है। **उसी द्रव्य में होती है, ऐसा निश्चय है। निमित्तकारण—जिस द्रव्य का संयोग प्राप्त होने से अन्य द्रव्य अपनी पर्यायरूप परिणमता है...** अन्य द्रव्य तो अपनी पर्याय से परिणमता है। **वह तो जिस द्रव्य का उस द्रव्य में होता है। अन्य द्रव्य, गोचर नहीं होता, ऐसा निश्चय है।**

जिस प्रकार मृत्तिका घटपर्यायरूप से परिणमती है, उसका उपादानकारण है मृत्तिका में घटरूप परिणमनशक्ति; निमित्तकारण है बाह्यरूप कुम्हार, चक्र, दण्ड इत्यादि; उसी प्रकार जीवद्रव्य अशुद्ध परिणाम से—मोह-राग-द्वेषरूप परिणमता है, उसका उपादानकारण है जीवद्रव्य में अन्तर्गर्भित विभावरूप अशुद्ध परिणमनशक्ति.. इस श्लोक में ऐसा स्पष्टीकरण किया है। आहाहा! समझ में आया? विकार होने का उसका स्वभाव नहीं है, स्वभाव तो शुद्ध है परन्तु पर्याय में लक्ष्य पर के ऊपर होने से पर के संग

से अपनी योग्यता से पर्याय में मिथ्यात्व और राग-द्वेष का परिणमन होता है। समझ में आया? उपादान अपना है। निमित्त कहा कि आत्मा निमित्त नहीं अर्थात् शुद्ध आत्मा निमित्त नहीं। परन्तु उपादान स्वयं स्वयं का निमित्त है। आहाहा!

विकार जो संसार जो उत्पन्न होता है, वह अपना स्वभाव शुद्ध है, पूर्णानन्द है, वह तो शुद्धरूप परिणमे, वही उसका स्वभाव है, परन्तु उसके ऊपर लक्ष्य नहीं होने से पर्याय में पर के ऊपर लक्ष्य होने से पर्याय में राग और द्वेष का परिणमन होता है, वह अपनी योग्यता से अपने में अपने कारण से होता है, दूसरी चीज़ तो निमित्तमात्र है। निमित्त से उसमें विकार नहीं होता। आहाहा! उन्होंने बहुत लिया है। परिणमन शक्ति अपनी है, वह स्वयं कारण है।

'परसंगः एव' दर्शनमोह-चारित्रमोहकर्मरूप बँधा हुआ जो जीव के प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाहरूप पुद्गलद्रव्य का पिण्ड, उसका उदय, यद्यपि मोहकर्मरूप पुद्गलपिण्ड का उदय अपने द्रव्य के साथ... है। कर्म के उदय का व्याप्य-व्यापक(पना) कर्म के साथ है। क्या कहा? कर्म जो जड़ है, उसका उदय, वह व्याप्य और वह कर्म व्यापक। यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध कर्म में कर्म के साथ है। यह कर्म व्यापक और आत्मा-विकार व्याप्य, ऐसा सम्बन्ध है नहीं। समझ में आया? आहाहा! निर्णय करने का (समय नहीं मिलता)। स्वतन्त्र स्वयं अपनी भूल से ही भटकता है, कर्म के कारण नहीं, परद्रव्य के कारण नहीं। आहाहा! यह तो कहा नहीं उसमें...?

(अनुष्टुभ्)

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।१३१।।

कर्म के कारण से नहीं। राग से भिन्न करने के स्वभाव के अभाव के कारण बँधा हुआ है। कर्म से बँधा हुआ है, (ऐसा नहीं है)। वह तो परवस्तु है, उसके साथ क्या सम्बन्ध? इसमें बहुत डाला है। **अपने द्रव्य के साथ व्याप्य-व्यापकरूप है,...** उस कर्म का (व्याप्य-व्यापकपना) अर्थात् कर्म व्यापक है और विकार व्याप्य है, ऐसा नहीं है, तथापि समयसार में ७५-७६ गाथा में ऐसा आता है कि कर्म व्यापक है और विकार

व्याप्य है। वह किस अपेक्षा से? कि स्वभाव की दृष्टि हुई है। पर्याय की योग्यता तो स्वयं से ही थी परन्तु स्वभाव की दृष्टि हुई है, इसलिए स्वभाव का व्यापकपना उसकी व्याप्य अवस्था स्वभाव है। निर्मल पर्याय उसकी व्याप्य और व्यापक स्वभाव; इसलिए उसकी दृष्टि द्वारा विकार जो है, उसे कर्म के साथ व्याप्य-व्यापक डालकर निकाल डाला है। ७५-७६ (गाथा)। अरे! ऐसा है। कर्म व्यापक है, विकार व्याप्य है। यहाँ कहते हैं कि कर्म अपने-अपने साथ व्याप्य-व्यापक है।

मुमुक्षु : दोनों में सत्य क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों सत्य है। किस अपेक्षा से? कर्म जो है, वह तो परद्रव्य है। उस परद्रव्य के परमाणु व्यापक होकर पर्यायरूप परिणमते हैं, वह तो उसका पर्याय का व्याप्य-व्यापक कर्म के साथ है; आत्मा के साथ उसका व्याप्य-व्यापकपना है नहीं, कि कर्म व्यापक होकर आत्मा में विकार होता है—ऐसा है नहीं। तथापि ७५-७६ में ही कहा कि कर्म व्यापक और विकार व्याप्य है। यह तो स्वभाव की दृष्टि की है; इसलिए उसकी दृष्टि में विकार नहीं है, उसकी दृष्टि में पर्याय नहीं है, उसकी दृष्टि में पर के संग का सम्बन्ध नहीं है, इसलिए केवल द्रव्यस्वभाव की दृष्टि में स्वभाव स्वयं व्यापक है और निर्मल पर्याय उसकी व्याप्य है। मलिन पर्याय है, वह कर्म का व्याप्य है, (ऐसा) करके निकाल दिया है। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें कुछ? चिमनभाई! यह सब कहाँ समझना इसमें? ऐई! शान्तिभाई! यह सब भेदभंग। आहाहा! भेदभंग नहीं, वस्तु का स्वरूप है। आहाहा!

वस्तु स्वयं स्फटिकमणि शुद्धरूप से उसे परिणमन होने पर भी वह स्वयं अपने आप अकेला शुद्धरूप परिणमता है, यह बराबर है, परन्तु अकेला अशुद्धरूप परिणमे—ऐसा नहीं है। उसे पर का संग से हुई अपनी योग्यता से अशुद्धरूप परिणमे। आहाहा! कल दृष्टान्त दिया नहीं था? दियासलाई का। दियासलाई सुलगती है। यह ऐसे बीड़ी पीते हैं, तीन-तीन अंगुल की होती है। यहाँ पीवे तो ठण्डी है, यहाँ उष्ण है। यहाँ उष्ण नहीं होती वह स्वयं की योग्यता है। और लोहा पाँच हाथ लम्बा होता है, सरिये को चार अंगुल अग्नि में यदि रखा हो तो पाँच हाथ में अग्नि सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। यह उसकी स्वयं की योग्यता

है। लकड़ी में योग्यता नहीं और लोहे में योग्यता है। वैसे ही विकाररूप से परिणमना, वह जीव की पर्याय की अपनी-स्वयं की योग्यता है, कर्म के कारण नहीं।

'कर्म बिचारे कौन ? भूल मेरी अधिकाई' आता है या नहीं ? आहा! 'कर्म बिचारे कौन ? भूल मेरी अधिकाई' बाद में क्या आया ? 'अग्नि सहे घन घात, अग्नि सहे घन घात लोह की संगति पाई।' अग्नि लोहे का संग करती है, इसलिए सिर पर (घन) पड़ते हैं। अकेली अग्नि पर (घन नहीं पड़ते)। इसी प्रकार भगवान आत्मा यदि निमित्त के संयोग में जुड़कर विकार करे तो दुःखी होता है। आहाहा! अपने स्वभाव के संग में जाए तो सुखी और आनन्द होता है।

भगवान आत्मा परमानन्द की मूर्ति प्रभु! ज्ञान और आनन्द के स्वभाव की मूर्ति अपने स्वभाव के आश्रय में जाए, वहाँ तो परम ज्ञान और आनन्द प्रगट होता है। आहाहा! परन्तु वह पर के आश्रय से लक्ष्य में जाता है, स्वयं स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर, हों! ६२वीं गाथा कही नहीं ? पंचास्तिकाय की ६२ गाथा। विकार के षट्कारक स्वयं अपने से परिणमते हैं। परकारक की कुछ अपेक्षा है नहीं। ६२वीं गाथा। वर्णीजी के साथ वहाँ बड़ी चर्चा हुई थी। उन्हें नहीं जँचा। यह चलता नहीं था। तीनों सम्प्रदाय में विकार कर्म से होता है, कर्म से होता है, यही सबने लगायी थी।

यहाँ कहते हैं कि बापू! कर्म तो जड़ है। वह आत्मा की पर्याय को छूता भी नहीं—स्पर्श भी नहीं करता। कर्म का उदय और राग दोनों के बीच तो अत्यन्त अभाव है, अत्यन्त अभाव है। आहाहा! इसलिए कर्म का इसमें अत्यन्त अभाव है, उस कर्म के कारण राग होवे, तब तो उसका भाव हो गया। आहाहा! वह विकार परसंग से होता है, परसंग से। **'पर एव'** नहीं—पर से नहीं। पर का संग अपनी योग्यता से करता है, इसलिए विकार होता है। समझ में आया ? आहाहा! ऐसा निर्णय करने का समय कहाँ है ?

मुमुक्षु : किस अपेक्षा से बात होती है, यह समझ में आवे तो समझ जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही बात है, वस्तु की स्थिति ऐसी है। आहाहा! उन्होंने (कलश-टीकाकार ने) तो बहुत स्सष्टीकरण किया है। **'जीवद्रव्य के साथ व्याप्य-व्यापक नहीं है।'** विकार का परिणमन व्याप्य और कर्म व्यापक—ऐसा नहीं है।

कर्म जड़ व्यापक और उसकी उदय अवस्था, उसकी व्याप्य, उसके साथ सम्बन्ध है। आत्मा के साथ व्याप्य-व्यापक है नहीं। राजमल्लजी ने कितना स्पष्टीकरण किया है, लो! आहाहा!

यह तो उस दिन देखा नहीं था, उस दिन हाथ नहीं आया था। (संवत) १९७१ में कहा था, तब यह पुस्तक हाथ नहीं आयी थी। ७१ में पहले कहा था, लाठी में। विकार स्वयं से होता है, कर्म से नहीं। 'कर्म बिचारे कौन? भूल मेरी अधिकाई'। कर्म जड़ है। जड़ और इसके दोनों के बीच में अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव में यह भाव कर दे, ऐसा आवे कहाँ से? आहाहा! उस समय तो यह पुस्तक पढ़ी भी नहीं थी, समयसार भी पढ़ा नहीं था। खलबलाहट हो गया था। गुरु तो सुनते थे, उन्हें कुछ (नहीं था), परन्तु दामोदर सेठ थे, उन्होंने खलबलाहट किया कि यह ऐसा कहाँ से निकाला? अभी तक कोई कहता नहीं। हमारे गुरु ने तुमसे कहा नहीं और तुमने कहाँ से ऐसा निकाला? मेरे सामने नहीं कहे, दूसरे के सामने (कहा)। ऐसा कहाँ से निकाला यह? विकार कर्म बिना हो, ऐसा तो हमारे गुरु ने कभी कहा नहीं। हमने कभी पढ़ाया नहीं। कहा, मार्ग यह है। अपनी भूल स्वयं अपने द्वारा करता है और भूल को अपने स्वभाव के आश्रय से पुरुषार्थ से टालता है। एक ही बात है, बाकी सब बातें हैं। आहाहा!

उन्होंने स्वीकार किया था। यहाँ बंशीधरजी आये थे। वहाँ जरा सामने वर्णीजी के पक्ष में थे। यहाँ आये थे, महीने भर रहे थे। तब यह परसंग की गाथा चली थी। कहा **'परसंगः एव'** है। **'पर एव'** ऐसा नहीं—पर से ऐसा नहीं। परसंग अर्थात् अपने स्वभाव का लक्ष्य छोड़कर, स्वयं पर के ऊपर लक्ष्य करता है। भले लक्ष्य करता है, वह लक्ष्य वहाँ पर को स्पर्श नहीं करता, लक्ष्य करता है, वह पर को स्पर्श नहीं करता परन्तु पर का लक्ष्य करता है, वहाँ अशुद्धता उत्पन्न होती है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। जैन के नाम से तो बस! जैन में कर्म के कारण होता है, कर्म के कारण होता है। आहाहा!

स्थानकवासी में स्तुति में बोलते हैं न? पहले दस मिनिट स्तुति करते हैं। उसमें ऐसा बोले, ऐसा कुछ है, बोलते थे, सब बोलते थे न! 'कर्म ने डाला आडा अंक' ऐसा कुछ आता है। 'कर्म से राजा, कर्म से रंक, कर्म ने डाला आडा अंक।'

मुमुक्षु : यह तो संयोग की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु संयोग में वह तो निमित्त है। दूसरी चीज़ में संयोग में भी संयोगी चीज तो अपने आप आने के कारण से उपादान से आयी है। वह कर्म तो उसमें भी निमित्त है। आहाहा! साता का उदय है और यहाँ पैसा आया। वह उदय तो निमित्त है। वह पैसे (उसके) आने के उपादान के कारण से उसकी पर्याय वहाँ से आने की (थी), इसलिए आते हैं। वह साता का उदय पैसे को लाया नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह यहाँ कहते हैं।

सूर्यकान्तमणि की भाँति (-जैसे सूर्यकान्तमणि स्वतः से ही अग्निरूप परिणमित नहीं होता, उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य बिम्ब निमित्त है, उसी प्रकार) [**आत्मा आत्मनः रागादिनिमित्तभावम् जातु न याति**] निमित्त अर्थात् कारण। शुद्ध उपादान स्वयं नहीं है। **आत्मा अपने को रागादि का...** मूल उपादान कारण जो शुद्ध है, वह (रागादिक का निमित्त) **कभी भी नहीं होता,...** [**तस्मिन् निमित्तं परसंगः एव**] **उसमें निमित्त परसंग ही (-परद्रव्य का संग ही) है।** परद्रव्य का संग करता है, लक्ष्य करता है। अपना स्वभाव शुद्ध चैतन्य का लक्ष्य छोड़कर जो परद्रव्य है, उसका लक्ष्य करता है। लक्ष्य करता है, इसलिए कहीं परद्रव्य में उसका लक्ष्य स्पर्श कर जाता है, ऐसा नहीं है। कर्म का उदय है, उसमें उसे लक्ष्य स्पर्श करता है, ऐसा नहीं है तथा कर्म का उदय है, वह उस लक्ष्य को स्पर्श करता है, ऐसा भी नहीं है। द्रव्य की भिन्नता स्वतन्त्र है, उसमें किसकी कौन सी पर्याय किसे स्पर्श करे? आहाहा!

यह तो तीसरी गाथा में कहा नहीं? तीसरी गाथा। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय को स्पर्श करता है। दूसरे द्रव्य के साथ उसे चूमता नहीं, ऐसा पाठ वहाँ है। प्रत्येक द्रव्य अपने धर्म को चूमता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरी बात भी एक उसमें तीसरी गाथा में आयी है। समयसार है न यह? विरुद्ध कार्य और अविरुद्ध कार्य। विरुद्ध कार्य और अविरुद्ध कार्य स्वतन्त्र इस प्रकार से होकर पूरा जगत निभ रहा है। विरुद्ध विपरीतरूप से परिणमो या अविपरीतरूप से परिणमो, इस प्रकार से भी पूरा जगत स्वयं से इस प्रकार से हुआ है। है इसमें? आहाहा! तीसरी गाथा में है।

एक द्रव्य, प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय के धर्म को चूमता अर्थात् स्पर्श करता है। परद्रव्य के किसी भी गुण-पर्याय को कोई द्रव्य उसे चूमता, स्पर्शता नहीं है। आहाहा! गजब बात है। यह पैर जो इस जमीन पर चलता है, वह पैर जमीन को स्पर्श नहीं करता। जमीन के आधार से पैर नहीं चलता। परन्तु पैर के परमाणुओं में निचले परमाणुओं का अभाव है और पैर के परमाणुओं का उसमें अभाव है। अभाव है तो स्पर्श कहाँ से करे? अरे! अरे!

मुमुक्षु : सिद्धान्त तो सर्वत्र समान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वत्र समान है, सर्वत्र एक प्रकार का है। आहाहा! यह पैर जमीन को छूता ही नहीं। पैर के परमाणु अपनी गुण-पर्याय को स्पर्श करते हैं, परद्रव्य को चूमता-स्पर्शता ही नहीं। आहाहा! गजब बात है।

पानी अग्नि के कारण से गर्म नहीं हुआ। पानी उस अग्नि के कारण से गर्म हुआ, यह देखनेवाले संयोग को देखते हैं परन्तु अग्नि स्वयं ही उष्णरूप परिणमी है, उस काल में वह ऐसा देखता नहीं। अग्नि के कारण से पानी गर्म हुआ नहीं। अरे! अरे! अकेला (पानी) ठण्डा था, अग्नि आयी, इसलिए गर्म हुआ। परन्तु गर्म हुआ, वह अपनी पर्याय से हुआ है या अग्नि से हुआ है? अग्नि को पानी के परमाणु को स्पर्श भी नहीं करती तथा अग्नि के परमाणु पानी को छूते नहीं। आहाहा! गजब बात है।

यह चावल पकते हैं, पकते होते हैं तो पानी अन्दर फद-फद क्या कहलाता है? फद-फद पड़ते हैं न? ऐसा अन्दर पानी गर्म हो, उसमें चावल पके, परन्तु कहते हैं कि चावल पकते हैं, वह फद-फद जैसा पानी ऐसे-ऐसे होता है, उसे चावल स्पर्श भी नहीं करते। फद-फद जैसा पानी नहीं कहते? पानी ऐसे खदबद... खदबद... खदबद... होता है न? ऐसा गर्म होता है, उसमें चावल डाले तो चावल पक जाते हैं। परन्तु कहते हैं कि वे चावल के परमाणु अपने गुण-पर्याय को स्पर्श करते हैं परन्तु इस पानी की गर्म पर्याय को वह चावल की पर्याय स्पर्श नहीं करती और चावल पकते हैं। शशीभाई!

वीतराग की व्याख्या है कि अनन्त द्रव्य हैं, उनका अस्तित्व कब रहे? वे अनन्त द्रव्य अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में रहें और पर के कारण नहीं, तब अनन्तपने की

अस्तित्वता रहती है। एक दूसरे के कारण दूसरे में होवे तो वह अस्तित्व स्वतन्त्र अनन्तपना नहीं रहा। आहा!

मुमुक्षु : शशीभाई कहते हैं, डॉक्टर की दवा से बुखार उतरता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दवा बिल्कुल नहीं, डॉक्टर-बॉक्टर नहीं।

मुमुक्षु : डॉक्टर के पापा को बुखार आया हो तो भी नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : डॉक्टर मर नहीं जाता वहाँ? यह हेमन्तकुमार बड़ा डॉक्टर था, सर्जन। यहाँ आता था, दो-तीन बार आया था बेचारा। किसी का आपरेशन करता (था, तब कहे), मुझे ऐसा कुछ होता है। ऐसा कहकर ऐसे कुर्सी पर बैठा, वहाँ समाप्त हो गया। उन नरसिंहभाई का दामाद। जेतपुर, नहीं? वह किसी का ऑपरेशन करता था। है न, सुना है न? नरसिंह डॉक्टर। आहाहा! अभी केशुभाई का लड़का आया था। आहाहा! यह बात, बापू! आहाहा!

स्वतंत्र... स्वतंत्र प्रत्येक द्रव्य की उस क्षण की वह पर्याय क्रमसर होने की (हो), वह होती है। प्रत्येक द्रव्य में क्रमबद्ध जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह होती है। वह क्रमसर अनादि अनन्त है। पर के कारण कुछ है नहीं। एक तो (लोगों को) क्रमसर बैठता नहीं। भाई इनकार करते थे, वर्णीजी। एक के बाद एक होती है परन्तु एक के बाद उसके बाद यही होगी, ऐसा नहीं है। परन्तु इसके बाद यह होगी नहीं तो फिर क्रम कहाँ रहा? आहाहा! माला है, उसका जो मोती है, जिस जगह वह मोती है, वह वहीं है, उसे अन्यत्र आड़ा-टेड़ा कहीं करने जाए तो वह मोती, वह माला टूट जाती है। उसी प्रकार आत्मा और परमाणु की जिस समय में जो पर्याय होनी है, वह पर्याय स्वयं से ही वहाँ है, आगे-पीछे नहीं, आगे-पीछे करने जाए तो द्रव्य टूट जाएगा, द्रव्य नहीं रहेगा। थोड़ी सूक्ष्म बात है। हैं? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, [**तस्मिन् निमित्तं परसंगः एव**] निमित्त का अर्थ कारण भले लो। विकार का निमित्तकारण पर है परन्तु उपादानकारण स्वयं है। तब दूसरे को निमित्तकारणरूप से कहने में आता है। आहाहा! अब ऐसी बातें। **(-परद्रव्य का संग ही) है।** देखा? परद्रव्य के कारण नहीं। परद्रव्य का संग (करके) स्वयं लक्ष्य वहाँ किया है। संग का

अर्थ कहीं परद्रव्य को स्पर्शता नहीं कुछ। राग है, वह कर्म के उदय को छूता नहीं। तथा कर्म का उदय है, वह राग को स्पर्श नहीं करता। मात्र लक्ष्य जाता है ऐसे, इसलिए [**परसंगः एव**] पर के संग से उत्पन्न हुआ विकार अपनी योग्यता से होता है। आहाहा! ऐसी बातें।

[**अयम् वस्तुस्वभावः उदेतितावत्**] है? यह वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि अपने स्वभाव से विकाररूप न परिणमे परन्तु निमित्त के संग से विकाररूप परिणमे, वह अपनी योग्यता से वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? इसमें से यह निकालते हैं, वस्तु का स्वभाव। देखो! यह विकार पर के कारण ही होता है, ऐसा वस्तु का स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। ऐसा अर्थ किया। सब करते थे, तब करते थे न! यहाँ वह आया था न? जीवन्धरजी! जीवन्धर... जीवन्धर, वह ऐसा अर्थ करे, देखो! यह दीपक रखे (इसके ऊपर) ऐसे टोपी ढांक दे। देखो! टोपी का निमित्त है, इसलिए दीपक का प्रकाश बाहर नहीं आया न? ऐसा दृष्टान्त कहते। आहाहा!

सेठ और ऐसा कहते, ये अभी नये हैं। पहले-पहले स्थानकवासी में से आये, इसलिए इन्हें बहुत झंझोड़ना नहीं। कहा, झंझोड़ो। २००५ के वर्ष की बात है, नहीं? २००० के वर्ष की बात है। झंझोड़ो इस बात को। एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य के कारण नहीं होती, तीन काल में नहीं होती। झंझोड़ो। यहाँ गुप्त रखने की बात नहीं है, कहा। आहाहा! और वह भी उस द्रव्य की उस पर्याय का क्रमसर है, क्रम है, उस क्रम से वह होती है। आहाहा! आड़ी-टेड़ी नहीं होती। आड़ी-टेड़ी अर्थात् क्या? आड़ी-टेड़ी अर्थात् क्या परन्तु? यह यहाँ हो और यह यहाँ हो अर्थात् इसका क्या अर्थ? आहाहा! यह तो एक बार बहुत कहा था, भक्ति में से आकर एक बार बहुत वर्ष पहले (कहा), आड़ी-टेड़ी अर्थात् क्या? आड़ी-टेड़ी वस्तु में ही नहीं है। क्रमसर एक के बाद एक जो पर्याय होती है, वह-वह क्रमसर होती है, आड़ी-टेड़ी बिल्कुल नहीं होती, आगे-पीछे नहीं होती। यह पर्याय यहाँ होनेवाली थी, वह यहाँ हुई और यहाँ होनेवाली थी, वह यहाँ हुई और यह होनेवाली थी वह यहाँ हुई, ऐसा है नहीं, कहा। आहाहा!

मुमुक्षु : आड़ी-टेड़ी का वाच्य तो कुछ होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : आड़ी-टेड़ी का वाच्य यह। आड़ी-टेड़ी अर्थात् वह निमित्त है, उसके कारण बोला जाता है, बाकी आड़ी-टेड़ी बिल्कुल है नहीं। ऐसा कि आड़ी-टेड़ी भाषा है तो उसका वाच्य होगा या नहीं? ऐसा पूछते हैं। भाषा के कारण आड़ा-टेड़ा बोला जाए, (परन्तु) वस्तु ऐसी नहीं है। आहाहा! यह मेरा पुत्र है, यह मेरा गाँव है, ऐसा बोला जाए परन्तु उसका गाँव और पुत्र उसका है? उसका वाच्य यह है, लो! हमारा राजकोट। कहो! है राजकोट इसका? हमारा राजकोट का वाच्य क्या? वह तो कहनेमात्र कथन है। राजकोट का रहनेवाला है, इतना जानना। राजकोट इसका कब था? घर का मकान भी नहीं हो, किसी को मकान भी न हो तो भी किसी के (यहाँ) किराये पर रहता हो, तो भी कहे— राजकोट हमारा गाँव है, ऐसा कहे, लो! मकान भी घर का न हो। इससे क्या? यह तो बोलने का कथन है। आहा!

(-परद्रव्य का संग ही) है।-[**अयम् वस्तुस्वभावः उदेतितावत्**] वह विकार पर के कारण हो, यह वस्तु का स्वभाव है, ऐसा वह कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि परसंग के कारण स्वयं करे, ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। विकार अपनी संग से नहीं होता, पर के लक्ष्य से होता है, ऐसा ही कोई वस्तु का, पर्याय का स्वभाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : वाचक कर्म तो एक ही है, वाच्य दो अलग-अलग हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह एक ही वाच्य है। [**परसंगः एव**] यह एक ही वाच्य है। [**परसंगः एव**], [**पर एव**] ऐसा नहीं। ऐसा वस्तु का स्वभाव अर्थात् कि पर्याय का ऐसा स्वभाव है कि पर संग के कारण विकार अपने में होता है। अपने स्वभाव के संग के कारण विकार नहीं होता। यही वस्तु का स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं। अनजाने लोग आवे तो (ऐसा कहे), हमारे धर्म करना है। परन्तु पहले समझ तो सही। धर्म क्या? विकार कैसे होता है, इसकी खबर बिना धर्म कैसे करेगा? विकार है, वह तेरी पर्याय में तुझसे होता है और यदि तुझे धर्म करना हो तो उस विकार की दृष्टि छोड़कर त्रिकाली ज्ञायकभाव है, उसकी दृष्टि कर तो धर्म होगा। विकार मेरी पर्याय में है, मेरे कारण से है, ऐसा लक्ष्य रखकर, उसे पश्चात् रहित होकर मेरा स्वभाव जो चिदानन्द पूर्ण है, ऐसी दृष्टि करे तो उसे सम्यग्दर्शन धर्म होता है, बाकी धर्म-बरम हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ

में आया ? ऐसी वस्तु है। बनिये को व्यापार के कारण निर्णय करने का समय नहीं मिलता। पश्चात् सिर पर जो कहा हो, वह जय नारायण करके चले। यह तो वीतरागमार्ग है, बापू! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर का यह मार्ग है, यह कोई ऐरे-गैरे का मार्ग नहीं है। तीन काल के तीर्थंकर और तीन काल के केवली और मुनियों की यह पुकार है कि तेरा स्वभाव शुद्ध है, उसकी यदि दृष्टि कर तो अपवित्रता नहीं होगी, परन्तु तेरा पवित्र स्वभाव है, उसकी दृष्टि छोड़कर यदि पर के संग का लक्ष्य करेगा तो तुझे अपवित्रता होगी और उसके कारण संसार में भटकना पड़ेगा। आहाहा!

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाला, राग मेरा है—ऐसा विचारे या... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। राग है मुझमें, पर्याय में इतना ज्ञान रखकर...

मुमुक्षु : वह पुद्गल का परिणाम है, ऐसा विचारे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह लक्ष्य में रखे वह। १४वीं गाथा के भावार्थ में आया है। १४वीं गाथा में। पर्याय नहीं है, अभूतार्थ है—ऐसा कहा है, परन्तु पर्याय मुझमें है, पर्याय है—ऐसा लक्ष्य करके, उसे छोड़कर, भूतार्थ का आश्रय करना। १४वीं गाथा की टीका—भावार्थ में है। है न ? यह समयसार में आता है। पर्याय अभूतार्थ है, अभूतार्थ कही है। अभूतार्थ कही अर्थात् कि है ही नहीं, ऐसा नहीं है। वह तो वस्तु जो त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप है, उसे मुख्य करके, उसे निश्चय करके, उसका आश्रय लेने के लिए उसे मुख्य वस्तु कही है और पर्याय को है तो भी गौण करके, व्यवहार कहकर 'नहीं' ऐसा कहा है; गौण करके, व्यवहार कहकर। 'नहीं' ऐसा कहा है। त्रिकाली वस्तु को मुख्य करके निश्चय कहकर, 'है' ऐसा कहा है। आहाहा! ऐसा है सब, भाई! कठिन काम। सत्य की सत्य वस्तु को समझने के लिए बहुत प्रयत्न चाहिए, भाई! आहाहा!

अनन्त काल से भटकता है, बापू! आहाहा! यहाँ अरबोंपति मनुष्य हो और आहाहा! वह भाई गये ? मीठालाल गये लगते हैं ? वे बेचारे पूछते थे। मेरे पिता कहाँ गये होंगे ? महाराज! मैंने कहा, उनके परिणाम तो बहुत प्रेम के थे। उसे बेचारे को ऐसा। वैसे करोड़पति व्यक्ति है। ऐसे कि मेरे पिताजी कहाँ गये होंगे ? मैंने कहा, भाई! उन्हें प्रेम तो बहुत था, इसलिए नरक-तिर्यंच में तो नहीं जाए। उन्हें प्रेम बहुत था। सुनने आते थे, वहाँ

मुम्बई में भी रात्रि में भले बोल न सकें परन्तु सुनने में प्रेम बहुत, उत्साह बहुत और यहाँ तक कहते, उसमें आया है, काली पुस्तक में, काली छोटी, नहीं? 'ज्ञानकला'। उसमें ऐसा आया, उन्होंने स्वयं लिखा है कि सोनगढ़ भव के अभाव का कारखाना है। भव का अभाव करने का कारखाना सोनगढ़ है, ऐसा बोलते थे। वे बेचारे पहले से बोलते थे, हों! बहुत वर्ष पहले। नहीं तो वे स्थानकवासी थे। यह भभूतमल मन्दिरमार्गी है। उन्होंने चार लाख डाले थे न वहाँ? बैंगलोर। आठ लाख इनके और चार लाख उनके। तो भी बेचारा नरम व्यक्ति था और प्रेम। ऐसे शरीर ठीक न हो तो भी सुनने रात्रि में आवे सवेरे, दोपहर आवे और रात्रि में आते थे, वहाँ मुम्बई हमेशा सुनने (आते थे)। यह बात सुने और जिसके भाव ऐसे रहें, वह नरक और तिर्यंच में नहीं जाता। संस्कार पड़कर जाए, वह तो या मनुष्य (में) जाए और या स्वर्ग में ही जाए। यह चीज़ ऐसी परम सत्य है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **(सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, इसे किसी ने बनाया नहीं है।)** आहाहा!

कलश - १७६

'ऐसे वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादि को निजरूप नहीं करता' इस अर्थ का, तथा आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं:-

(अनुष्टुप्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः।।१७६।।

श्लोकार्थ : [इति स्वं वस्तुस्वभावं ज्ञानी जानाति] ज्ञानी ऐसे अपने वस्तुस्वभाव को जानता है, [तेन सः रागादीन् आत्मनः न कुर्यात्] इसलिए वह रागादि को निजरूप नहीं करता, [अतः कारकः न भवति] अतः वह (रागादि का) कर्ता नहीं है।।१७६।।

श्लोक - १७६ पर प्रवचन

ऐसे वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी... देखो! है ? क्या कहते हैं कि मेरा स्वरूप रागरहित है, ऐसा जानता हुआ राग होता है, उसका कर्ता नहीं होता। **ऐसे वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादि को निजरूप नहीं करता...** देखा! अपनी पर्याय में योग्यता से भले (राग) हो तो भी वह राग मेरा है, ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा! है ? **वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादि को...** अर्थात् इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि राग कर्म कराता है, ऐसा यहाँ नहीं है, परन्तु रागादिक परसंग के कारण मेरी पर्याय में होते (हैं, वह) मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसे वस्तु के स्वभाव को जानता हुआ राग-द्वेष आदि का कर्ता नहीं होता, उसका स्वामी नहीं होता। आहाहा! समझ में आया ? पर्यायबुद्धि छुड़ाई।

मुमुक्षु : किया करे और स्वामी नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वामी नहीं है। पर्यायबुद्धि छूट गयी है, इसलिए उसका स्वामी नहीं है, उसका ज्ञाता है।

मुमुक्षु : ज्ञाता है तो कर्ता कौन है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे ? करता नहीं। होता है, उसे जानता है।

मुमुक्षु : कर्म तो राग करता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म भी करता नहीं और इसने भी किया नहीं। हुआ है, उसे जानता है। पर्याय में स्वतन्त्र हुआ है, उसे द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से जानता है।

मुमुक्षु : कार्य है तो कारण कौन ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई कारण-फारण नहीं है। स्वयं कारण और स्वयं कार्य। ऐसा है यहाँ तो। विकार के परिणाम स्वयं ही कारण और स्वयं ही कार्य। षट्कारक में आया नहीं ? कर्ता, कर्म... कर्म अर्थात् कार्य, कार्य स्वयं और कर्ता भी स्वयं, करण स्वयं और सम्प्रदान स्वयं और अपादान स्वयं और आधार भी स्वयं। आहाहा! इसमें कुछ अन्तर पड़े, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ... कारण-कार्य में ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कारण-कार्य नहीं। पर्याय कारण और पर्याय कार्य।

मुमुक्षु : तो अकेली पर्याय की बात है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पर्याय की। द्रव्यदृष्टि हुई, इसलिए वह जो कार्य हुआ है, उसका कर्ता नहीं है।

मुमुक्षु : उसका कर्ता कौन ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता कोई नहीं। वह उसकी कर्ता वह। उसका भी जाननेवाला है। पर्याय का कर्ता पर्याय, उसका यह द्रव्यदृष्टिवाला जाननेवाला है। पर्यायबुद्धि गयी है न! ऐसी बात है, भाई! आहाहा! वीतरागमार्ग... अनन्त-अनन्त काल हुआ। आहाहा! चौरासी के अवतार कर-करके कहाँ नरक और कहाँ निगोद... ओहोहो! कहाँ जंगल में बाघ और भालू और बिच्छु और नाग... आहाहा! ऐसे अवतार करके वापस मरकर नरक में जाए। आहाहा! ऐसे अनन्त-अनन्त अवतार किये। यह दृष्टि—पर्यायबुद्धि, राग और पुण्य तथा पाप मेरे (मानने के कारण से किये हैं)। पर्याय में है, उसे बराबर जाने परन्तु मेरे, वह मेरा स्वभाव नहीं है। होता है मेरी पर्याय में मुझसे, परन्तु पर्यायबुद्धि जहाँ उड़ गयी है, (वहाँ उनका स्वामी नहीं होता)। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहा है, पर्यायबुद्धि गयी है, वह तो दूसरे आत्माओं को भी परमात्मस्वरूप देखता है। सब भगवान चैतन्यस्वरूप हैं, विराजते हैं। क्योंकि अपनी पर्यायबुद्धि गयी, इसलिए दूसरे की पर्याय को न देखकर उनका स्वरूप जो है, सच्चिदानन्द परमात्मा शुद्ध आनन्द का नाथ सब भगवानस्वरूप विराजते हैं, द्रव्यदृष्टि से भगवान है, (ऐसा देखता है)। आहाहा! यह आया नहीं ? कहा नहीं अपाय में ? अपायविचय में। आहाहा! समकिती धर्मध्यान के अपायविचार में ऐसा विचार करता है कि मैं भी अल्प काल में मुक्ति को प्राप्त करनेवाला हूँ परन्तु यह सब जीव मुक्ति को पाओ, आनन्द को पाओ—ऐसी मेरी भावना है, कहते हैं। मेरी पवित्र भावना तो यह है। आहाहा! है न ? द्रव्यसंग्रह में बताया था। द्रव्यसंग्रह में है। आहाहा!

वहाँ एक ओर ऐसा भी कहा, मुनि भावलिंगी सन्त हैं, अरागी वीतरागदृष्टि है। आहाहा! जिन्हें वीतरागतुल्य भी कहा, अरे! नियमसार कलश में वीतराग जैसे कहा। उन्हें भी प्रमत्तदशा में कोई स्वप्न आ जाए तो दु:स्वप्न भी आ जाए, तो भी उसके वे ज्ञाता और दृष्टा हैं, उसके कर्ता नहीं। आहाहा! मुनि भावलिंगी अनन्त आनन्द उछल गया जहाँ, पर्याय में आनन्द का ज्वार आया है। जैसे समुद्र के किनारे ज्वार आता है, वैसे आनन्दस्वरूपी भगवान, अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान की मूर्ति का जहाँ आश्रय लिया है, इसलिए पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है। उन्हें भी कोई निद्रा आ जाए तो कहते हैं कि स्वप्न में दु:स्वप्न आ जाए। आहाहा! यह द्रव्यसंग्रह में कहा है। प्रमाद है न? परन्तु वह आकर खिर जाता है। निर्जरा अधिकार में आया है न? भाई! सुख-दु:ख होकर खिर जाता है। दूसरी गाथा में (कहा है)। पहली गाथा में द्रव्यनिर्जरा, दूसरी गाथा में भावनिर्जरा। ज्ञानी को कर्म का साता-असाता का विपाक आवे अर्थात् सुख-दु:ख तो हो, पर्याय में होता है, ऐसा लिया है ज्ञानी को, परन्तु वह खिर जाता है। आहाहा! निर्जरा की दूसरी गाथा है। आहाहा!

आत्मा अनन्त आनन्दस्वरूप प्रभु की पर्याय में रागादि भले हो... आहाहा! परन्तु दृष्टि जहाँ द्रव्य और स्वभाव पर होने से उस राग को वह स्वामी नहीं होता। आहाहा! अपनी पर्याय से होता है, अपने से होता है, ऐसा मानने पर भी वस्तु की दृष्टि की अपेक्षा से, वह मेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा! ऐसा जानता हुआ उसका स्वामी और कर्ता नहीं होता। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं **'ऐसे वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादि को निजरूप नहीं करता'**... देखा? रागादि होते हैं, अपनी पर्याय की कमजोरी के कारण... आहाहा! तथापि उसे अपना नहीं करता। वस्तु स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वह विकार रागादि दया, दान के परिणाम आवे परन्तु धर्मी उन्हें अपना नहीं मानता, उनका स्वामी नहीं होता। आहाहा! शुद्ध चिदानन्दघन जहाँ स्वामीपने आया, पूर्णानन्द का जहाँ स्वामी हुआ, वह रंक का स्वामी (पना) कौन करे? आहाहा! **निजरूप नहीं करता' इस अर्थ का, तथा आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं:-**

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः।।१७६।।

आहाहा! [**इति स्वं वस्तुस्वभावं ज्ञानी जानाति**] अर्थात्? भगवान आत्मा तो शुद्ध चैतन्यघन परम अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, ऐसा धर्मी जानता है। ऐसा जानते हुए स्व को ज्ञानी जानता है। [**तेन सः रागादीन् आत्मनः न कुर्यात्**] **इसलिए वह रागादि को निजरूप नहीं करता,...** वह राग मेरा स्वभाव है, ऐसा वह नहीं मानता। वह मेरा स्वरूप नहीं, वह विकृत है, वह मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! अपनी पर्याय में अपने से होने पर भी द्रव्यस्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से उसका वह स्वामी नहीं होता। ऐसी बात है, भाई! है? इसलिए वह राग-द्वेष को नहीं करता, अपने नहीं करता।

अतः वह (रागादि का) कर्ता नहीं है। इस कारण से राग-द्वेष का कर्ता ज्ञानी—धर्मी नहीं है। जिसे सच्चिदानन्द प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान का सागर जहाँ नजर में आया, ऐसा जो आत्मा, उसे कर्म बेचारे कौन? रागादि भी कौन? वह मेरा कर्तव्य नहीं है, ऐसी दृष्टि में उसका कारक नहीं होता। (विशेष कहेंगे....)

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २८०

ण य रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सय-मप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं।।२८०।।

न च रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा।
स्वय-मात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानाम्।।२८०।।

यथोक्तं वस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेष-मोहादिभावैः स्वयं न परिणमते, न परेणापि परिणम्यते, ततष्टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानाम-कर्तैवेति प्रतिनियमः।।२८०।।

अब इसी प्रकार गाथा द्वारा कहते हैं-

कभि रागद्वेषविमोह अगर कषायभाव जु निजविषैं।
ज्ञानी स्वयं करता नहीं, इससे न तत्कारक बने।।२८०।।

गाथार्थ : [ज्ञानी] ज्ञानी [रागद्वेषमोहं] राग-द्वेष-मोह का [वा कषायभावं] अथवा कषायभाव को [स्वयं] अपने आप [आत्मनः] अपने में [न च करोति] नहीं करता, [तेन] इसलिए [सः] वह, [तेषां भावानम्] उन भावों का [कारकः न] कारक अर्थात् कर्ता नहीं है।

टीका : यथोक्त (अर्थात् जैसा कहा वैसा) वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी (अपने) शुद्धस्वभाव से ही च्युत नहीं होता, इसलिए वह राग-द्वेष-मोहादि भावरूप स्वतः परिणमित नहीं होता और दूसरे के द्वारा भी परिणमित नहीं किया जाता, इसलिए टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप ज्ञानी राग-द्वेष-मोह आदि भावों का अकर्ता ही है-ऐसा नियम है।

भावार्थ : आत्मा जब ज्ञानी हुआ, तब उसने वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना कि 'आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है-द्रव्यदृष्टि से अपरिणमनस्वरूप है, पर्यायदृष्टि से परद्रव्य के निमित्त से रागादिरूप परिणमित होता है;' इसलिए अब ज्ञानी स्वयं उन भावों का कर्ता नहीं होता, जो उदय आते हैं, उनका ज्ञाता ही होता है।

प्रवचन नं. ३४४, गाथा-२८०, श्लोक - १७७ मंगलवार, कार्तिक शुक्ल १०
दिनाङ्क - ३०-१०-१९७९

२८० गाथा।

ण य रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सय-मप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं।।२८०।।

कभि रागद्वेषविमोह अगर कषायभाव जु निजविषैं।
ज्ञानी स्वयं करता नहीं, इससे न तत्कारक बने।।२८०।।

टीका :- यथोक्त (अर्थात् जैसा कहा वैसा) वस्तुस्वभाव को... आत्मा का स्वभाव ज्ञान और आनन्द है। उसमें राग और द्वेष और विकार उसके स्वभाव में नहीं है। उसका त्रिकाली स्वभाव तो ज्ञानानन्द शुद्ध परमपारिणामिक ज्ञायकभाव ऐसा जो वस्तु का स्वभाव, ज्ञान और आनन्द, ऐसा जो आत्मा का स्वभाव, उसे जानता हुआ। वस्तु स्वभाव अर्थात् वस्तु अर्थात् आत्मा, उसका स्व-भाव अर्थात् ज्ञान और आनन्द। आहाहा! ज्ञान और आनन्द वह वस्तु-आत्मा का स्वभाव है, ऐसा धर्मी जानता हुआ। है? **जानता हुआ ज्ञानी...** आहाहा!

धर्म की शुरुआत यहाँ से होती है। इस देह से भिन्न भगवान, परन्तु पुण्य और पाप के विकल्प वह राग, उसके स्वाद से भी भिन्न चीज़ है। उसका स्वभाव ज्ञान और आनन्द है, उसके स्वाद को जानता, स्वादता जीव, उसे ज्ञानी कहते हैं। आहाहा! उसे धर्मी (कहते हैं)। आत्मा वस्तु जो धर्मी, उसका जो ज्ञान और आनन्द ऐसा धर्म, जो स्वभाव, उस वस्तुस्वभाव को जानता हुआ। आहाहा! संयोग को और राग को और पर्याय को जानता हुआ, ऐसा नहीं कहा। उसे नहीं जानता हुआ अर्थात् इसे (स्वभाव को) जानता हुआ। आहाहा!

ज्ञान और आनन्द जिसका स्वरूप है, जो वस्तु का स्वभाव, वस्तु है प्रभु आत्मा, उसमें बसे हुए-रहे हुए स्वभाव ज्ञान और आनन्द और ईश्वरता इत्यादि-इत्यादि ज्ञान-आनन्द स्वभाव उसका है, उसे जानता हुआ। उसे जानता हुआ **ज्ञानी (अपने) शुद्धस्वभाव से ही च्युत नहीं होता...** आहाहा! स्वयं शुद्धस्वभाव जो ज्ञान और आनन्द है, उसमें से,

धर्मी उसे कहते हैं—ज्ञानी उसे कहते हैं, धर्म की शुरुआत करनेवाला उसे कहते हैं कि जो अपने शुद्धस्वभाव ज्ञानानन्द से च्युत नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है।

इसमें धर्मी को करना क्या? करने का यह, कि वस्तु जो है आत्मा तत्त्व है, पदार्थ है, अस्ति-अस्ति तत्त्व है, मौजूदगीवाला, भाववाला स्वभाव है। उसका स्वभाव ज्ञान और आनन्द है। उस ज्ञान को, आनन्द को जानना और ज्ञान को, आनन्द को वेदना, इस जानने का अर्थ यह है। जानता हुआ अर्थात् वेदता हुआ। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वस्तु यथोक्त भगवान सर्वज्ञ ने कही है, ऐसी यह चीज़ जो अन्दर चिदानन्द प्रभु, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का रस भरा है। इसलिए धर्मी उस अतीन्द्रिय आनन्द के रस के स्वाद में दूसरे की या रागादि की क्रिया, उसे नहीं करता। रागादि की क्रिया रागादि होता अवश्य है परन्तु उसका वह कर्ता नहीं होता। समझ में आया? आहाहा!

वस्तुस्वभाव को जानता... यथोक्त अर्थात् जैसा भगवान ने कहा, वैसा अनुभवता हुआ। अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, प्रभु! ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेता हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द को वेदता हुआ। आहाहा! ऐसा धर्म है। माणेकचन्दभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! वस्तुस्वभाव को अनुभवता हुआ। जानता अर्थात् अनुभवता हुआ। भगवान आत्मा प्रज्ञाब्रह्म और आनन्द, ब्रह्म अर्थात् आनन्द, प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान और आनन्द। वह ज्ञान और आनन्द जिसका त्रिकाली स्वरूप है, ऐसे वस्तुस्वभाव को, वस्तुस्वभाव को अनुभव करता हुआ। आहाहा! उस अतीन्द्रिय आनन्द को वेदता हुआ। अतीन्द्रिय आनन्द जो वस्तु का स्वभाव है, उसे अनुभवता हुआ, उसके स्वाद में मग्न रहता हुआ। आहाहा!

ज्ञानी (अपने) शुद्धस्वभाव से ही च्युत नहीं होता... आहाहा! शक्कर की डली लड़कों को थाली में डाले। उस डली को स्पर्श करे वहाँ हाथ के, थूक भी छूए न? मेल स्पर्श करे, वह पानी जैसा हो, उसमें मक्खी चिपटे। उस शक्कर के स्वाद में चिपटे और फिर लड़का लेने जाए तो पंख दबाये तो भी छूटे नहीं। तो भी उखड़े नहीं, वहाँ से निकले नहीं। क्योंकि उस शक्कर का स्वाद है। आहाहा! इसी प्रकार यह भगवान आत्मा... अरे रे! एक बीड़ी पीवे वहाँ इसे (हो) जाता है कि मानो बस..! एक अरबी का क्या कहलाता है? भुजिया या चूरमे के लड्डू मिलें, वहाँ ऐसा हो जाता है कि आहाहा! अरे! प्रभु! वह

तो मिट्टी का स्वाद है। आहाहा! अरे! अन्दर राग होता है, वह भी दुःख का स्वाद और वस्तु के स्वभाव से विरुद्ध भाव है। उसके स्वाद में इसे आत्मा के स्वाद की खबर नहीं पड़ती। और आत्मा के स्वाद के समक्ष उस वस्तु के स्वभाव से ही च्युत नहीं होता। यह मक्खी उस शक्कर पर बैठी (पश्चात्) स्वाद (लेती हुई) उड़ती नहीं।

उसी प्रकार आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द (स्वरूप है)। उसे—अतीन्द्रिय आनन्द को लेता हुआ, चूसता हुआ, स्वाद लेता हुआ सम्यग्दर्शन में... आहाहा! स्वरूप से च्युत नहीं होता। अपने आनन्द के स्वभाव के स्वाद से च्युत नहीं होता। उसके स्वाद के समक्ष राग का स्वाद उसे दुःखरूप और आकुलता लगता है। आहाहा! इसलिए वह धर्मी जीव... आहाहा! अपने स्वभाव के स्वाद से ही च्युत नहीं होता।

इसलिए... इसलिए... आहाहा! **राग-द्वेष-मोहादि भावरूप...** पुण्य और पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव या भ्रमणा, ऐसे भावरूप से **स्वतः परिणमित नहीं होता...** आहाहा! क्योंकि आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप, उसके अस्तित्व के स्वाद के समक्ष... आहाहा! अपने आप वह राग और द्वेषरूप नहीं परिणमता। आहाहा! जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द के परिणमन के स्वाद में आया (तो) वह अपने आप स्वतः सुखरूप बुद्धि छोड़कर राग और पुण्य-पाप के भावरूप परिणमता नहीं। आहाहा! ऐसा है।

अरे! जन्म-मरण रहित... आहाहा! परसों के दिन कहा था न? दो कुत्ते ऐसे तड़पकर मर गये बेचारे। जवान लट्ठ जैसे थे। कौन जाने अंधेरा होगा ट्रक लगा, नीचे ऐसे कुचल गये। आहाहा! देह और राग मैं (ऐसी बुद्धि में) राग रहित चीज़ की खबर नहीं होती। उस राग और देह में दब गया और देह छूटे तो वहाँ ममता (होवे) ऐसे देह में जन्मे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव—ऐसा धर्मी, ऐसा जो आत्मा, उसका धर्म ऐसा जो ज्ञान, आनन्द, ईश्वरता, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता के स्वाद को लेता हुआ अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। इसलिए वह अपने स्वरूप से विरुद्ध ऐसे राग-द्वेषरूप नहीं होता। ऐसी बातें हैं, भाई! आहाहा!

इसलिए वह राग-द्वेष-मोहादि भावरूप स्वतः परिणमित नहीं होता...

अपने स्वभाव में से हटता नहीं, इसलिए आपने आप रागरूप नहीं होता। **और दूसरे के द्वारा भी परिणमित नहीं किया जाता,...** आहाहा! यों भी पर के द्वारा परिणमित किया जाता तो है ही नहीं परन्तु यहाँ स्वयं अपने द्वारा नहीं होता, इसलिए पर द्वारा नहीं होता। आहाहा! जन्म-मरण रहित (होने का मार्ग कोई अलग है)। आहाहा! दुनिया के स्वाद में, विषय के स्वाद में, मान के स्वाद में, इज्जत के स्वाद में, पैसे के करोड़ों के ढ़ेर होते हों, वहाँ उसकी मिठास के अभिमान में... आहाहा! स्वरूप से च्युत हो गया है। अपने स्वभाव की अतिशयता छोड़कर दूसरी चीज़ों की जिसे अतिशयता, विशेषता, विस्मयता जिसे भासित होती है, वह स्वरूप से च्युत हुआ है। आहाहा! और वह अज्ञान तथा राग-द्वेषरूप होता है।

ज्ञानी धर्मी स्वभाव में से च्युत नहीं होता। ऐसा भगवान चैतन्य चिन्तामणि रत्न हाथ आया, उसके समक्ष अब कंकर की कीमत क्या? आहाहा! भगवान आत्मा चैतन्य चिन्तामणि रत्न, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर जिसका स्वभाव उसे हद क्या? उसे मर्यादा क्या? भगवान आत्मा का स्वभाव अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय शान्ति... आहाहा! ऐसे स्वभाव की हद नहीं, मर्यादा नहीं, परिमितता नहीं। जिसका स्वभाव, उसे हद क्या? ऐसा बेहद स्वभाव भगवान आत्मा, उस स्वाद का रसीला जीव... आहाहा! राग के रसरूप स्वयं तो परिणमता नहीं परन्तु दूसरे के द्वारा परिणमित किया जाता नहीं जिसका। परिणमता नहीं किया जाता (तो) दूसरे के द्वारा परिणमावे किस प्रकार? आहाहा! यों भी दूसरे के द्वारा कुछ परिणमात नहीं किया जाता परन्तु यहाँ सिद्ध यह करना है। आहाहा! ऐसा धर्म, जैनधर्म ऐसा है। वह कहे, दया पालो और एकेन्द्रिय की दया पालो, व्रत करो और अपवास करो। बापू! भगवान यह सब क्रियाएँ राग है, वह दुःख है, आकुलता है। भगवान तो अनाकुल आनन्द का सागर, उसका जिसे स्वाद आया, (वह) राग का स्वाद स्वयं तो अपने आप करता नहीं, दूसरा करा नहीं सकता। उसे राग का स्वाद ही नहीं आता। आहाहा! राग आवे, उसे दुःखरूप जानकर उसे छोड़ देता है। आहाहा! ऐसा धर्म।

इच्छामि पडिकम्मणा, तत्सूतरी... करके सामायिक हो गयी, लो! बापू! सामायिक कोई अलौकिक बातें हैं, भाई! सामायिक में तो आत्मा के आनन्द का स्वाद आता है, समता का स्वाद आता है। आहाहा! परन्तु वह समता स्वयं चीज़ स्वाद स्वरूप उसे जिसने जाना

नहीं, देखा नहीं, अनुभव नहीं किया, उसे उसका स्वाद कहाँ से आवे ? वह सामायिक के नाम में बैठा हो तो भी राग की आकुलता को वेदता है। आहाहा!

वह **दूसरे के द्वारा भी परिणमित नहीं किया जाता, इसलिए टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप ज्ञानी...** टंकोत्कीर्ण अर्थात् शाश्वत् भगवान अन्दर शाश्वत वस्तु— नित्य वस्तु। ऐसी नित्य-शाश्वत वस्तु एक ज्ञायकभावस्वरूप, वह तो एक ज्ञायकभावस्वरूप है। जाननस्वभाव एकरूप जानन त्रिकाल स्वभाव... आहाहा! उसे **ज्ञानी राग-द्वेष-मोह आदि भावों का अकर्ता ही है... एक ज्ञायकभावस्वरूप ज्ञानी...** आहाहा! गाथा बहुत (अच्छी आयी है)। इसलिए शाश्वत एक ज्ञायकभावस्वरूप ज्ञानी। जाननस्वभाव, ऐसा नित्य प्रभु आत्मा, ऐसा जो धर्मी-ज्ञानी वह **राग-द्वेष-मोह आदि भावों का अकर्ता ही है...** वे राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, उनका वह कर्ता नहीं, उनका वह रचनेवाला नहीं, उसका वह कर्तव्य नहीं, उसका वह कार्य नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। धर्मी के आनन्द के, स्वाद के कार्य के समक्ष राग का कार्य उसका नहीं है। आहाहा! धर्मी को तो अतीन्द्रिय ज्ञायकभाव एक स्वभावरूप भाव जिसे दृष्टि में आया, उसके कार्य में तो ज्ञाता, दृष्टा और आनन्द उसका कार्य होता है। उसका कार्य राग और पुण्य-पाप के परिणाम, वह उसका कर्तव्य नहीं है। आहाहा! कठिन बातें हैं, भाई!

धर्म तो ऐसी चीज़ है, अभी तो साधारण हो पड़ी है। एक यात्रा करे, वहाँ हो गया धर्म। गिरनार गये और पालीताना गये, अब ऐसी तो अनन्त बार की है, सुन न! अनन्त बार यात्रा की और अनन्त बार दयाएँ पालन की और अनन्त बार व्रत पालन किये और अनन्त बार भक्ति की, वह सब राग है। उस रागरहित भगवान अन्दर जो चिदानन्द प्रभु है... आहाहा! उसके स्वभाव का जिसे ज्ञान नहीं, वह राग का कर्ता होकर मिथ्यात्व को सेवन करता है। आहाहा! समझ में आया ? इन चार लाइनों में इतना भरा है। लो!

ऐसा नियम है। है ? आहाहा! धर्मी उसे कहते हैं कि भले आठ वर्ष की बालिका हो शरीर, परन्तु जिसने आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु चैतन्य का भान किया है, जिसने आत्मा ज्ञायकस्वभाव को जाना, अनुभव किया है, उस ज्ञायक के स्वाद के समक्ष उसे राग-द्वेष और मोह का कर्तव्य उसका है नहीं। उसका कर्तव्य तो जानना, देखना और आनन्द, वह उसका कर्तव्य है। आहाहा! समझ में आया ? सूक्ष्म बातें हैं, भाई! यह तो बाहर में फुदक्का

मारना और यह करना और यह किया और लय खींचकर स्तुतियाँ की और भक्तियाँ की और पाँच-पच्चीस लाख खर्च किये, इसलिए धर्म हो जाए (ऐसा नहीं है)। उसमें धर्म-बर्म नहीं है। आहाहा!

भगवान अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु, सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ने सत् शाश्वत्, टंकोत्कीर्ण कहो या शाश्वत कहो, ऐसा एक ज्ञायकस्वभावरूप प्रभु, उसे भगवान ने आत्मा कहा। उसे जिसने देखा और जाना तथा अनुभव किया, वह उसके स्वाद के समक्ष राग के स्वाद को नहीं लेता। राग आता है, उसे वह जानता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। जन्म-मरण छोड़ने की धर्म की रीति ऐसी है, बापू! आहाहा!

भावार्थ : आत्मा जब ज्ञानी हुआ तब... आहाहा! यह देह तो मिट्टी है, धूल है। अन्दर कर्म है, वह जड़ है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम होते हैं, वह विकार और राग और दुःख है। आहाहा! उनसे आत्मा भिन्न है, ऐसा (जानकर) ज्ञानी हुआ, तब अपने स्वरूप को शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का दल, अतीन्द्रिय ज्ञान का पिण्ड - ऐसा जो आत्मा, उसका जिसे ज्ञान हुआ **तब उसने वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना...** आहाहा! **कि 'आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है...** वस्तु स्वयं शुद्ध है, त्रिकाल निरावरण है, त्रिकाल एक अखण्ड स्वरूप है, शुद्ध परमपारिणामिकभावरूप ऐसा निज परमात्मद्रव्य, वह अखण्ड है। आहाहा! आत्मा स्वयं शुद्ध ही है, ऐसा जाना। वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना कि आत्मा तो शुद्ध पवित्र, पवित्र का पिण्ड है वह तो। आहाहा! अकेला पवित्रता का (पिण्ड), अनन्त गुण पवित्रता के पिण्ड पड़े हैं। आहाहा! ऐसा जाना।

वह **द्रव्यदृष्टि से अपरिणमनस्वरूप है,...** क्या कहा? वह वस्तु है, ऐसी दृष्टि से देखे तो उसमें परिणमन, बदलना उसमें है ही नहीं। वह तो ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... भगवान नित्य प्रभु कायम एकरूप है। आहाहा! दृष्टि का—सम्यग्दर्शन का विषय, सम्यग्दर्शन जो प्रथम धर्म, उसका विषय वह द्रव्य, वह द्रव्यदृष्टि से तो एकरूप त्रिकाल है। वह द्रव्य है, वह परिणमता नहीं। परिणमती है, वह पर्याय है। पलटती है, बदलती है, वह पर्याय है। नहीं बदलता, नहीं पलटता, वह द्रव्य—वस्तु जो त्रिकाल एकरूप है। आहाहा! ऐसा धर्म कहाँ से निकाला? ऐई! कितने ही ऐसा कहते हैं, सोनगढ़वालों ने नया निकाला। अरे!

प्रभु! अनादि का प्रभु का मार्ग यह है, भाई! आहा! सीमन्धर भगवान वर्तमान विराजते हैं, वहाँ यह बात कर रहे हैं और वह बात यहाँ आयी है। आहाहा! यहाँ तो जरा सी यात्रा की और भक्ति की, पूजा की और व्रत पालन किये, शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया (तो मानता है कि) हो गया धर्म, लो! धूल भी धर्म नहीं, सुन न! आहाहा!

अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, ऐसी द्रव्यदृष्टि से तो जिसमें परिणमन ही नहीं है। परवस्तु तो उसमें नहीं, देव-गुरु-शास्त्र, वह द्रव्य में तो नहीं, पर्याय में भी नहीं। देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार कोई पर्याय में भी नहीं। आहाहा! इस पर्याय में वह नहीं परन्तु पर्याय में राग-द्वेष और पलटन है, परन्तु वह परिणमन है, वह त्रिकाली द्रव्य में नहीं है। आहाहा! ऐसी चीज़ है। अब इसमें निवृत्त होकर कब (निर्णय करे)? यह होली बाहर की, उसमें पाँच-पचास लाख इकट्ठे हों तो मानो... आहाहा! फँस गया अन्दर। आहा!

मुमुक्षु : पुण्य होवे तो इकट्ठे हों।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य धूल में भी नहीं वहाँ। ऐई! आहाहा

द्रव्यदृष्टि से—भगवान आत्मा के त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखे तो उसमें राग-द्वेष तो नहीं, परवस्तु तो नहीं परन्तु उसमें परिणमन भी नहीं है। आहाहा! यह द्रव्य है, वह दृष्टि का विषय है। आहाहा! समझ में आया? यह बाहर की वस्तु के उत्साह में जीवन चला जाता है। आहाहा! और मरकर वापस कहाँ का कहाँ अवतरेगा। आहाहा! इस आँधी में तिनका उड़कर कहाँ पड़ेगा? उसी प्रकार जहाँ आत्मा का भान नहीं, वे मिथ्यात्व में पड़े हैं। उस मिथ्यात्व की आँधी में कहाँ चौरासी के अवतार में अवतरित होगा? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! एकबार सुन। तेरा जो आत्मा है वस्तु त्रिकाली जो द्रव्य जिसे कहते हैं, द्रव्य अर्थात् वस्तु। आहाहा! उस वस्तु में तो यह पलटन—पर्याय परिणमती है, वह उसमें नहीं, तो फिर दूसरी चीज़ तो कहाँ रही? आहाहा! राग और द्वेष और दया, दान के परिणाम, वे तो पर्याय में हैं, वस्तु में वे हैं नहीं। आहाहा! समझ में आये ऐसा है, हों! आहाहा! अरे! ऐसा अवसर कब मिले? भाई! मनुष्यपना बिखर जाएगा। वह कहाँ जाकर अवतरित होगा, इसका ठिकाना नहीं, भाई! वापस मनुष्यपना कब पायेगा? आहाहा!

द्रव्यदृष्टि से... आहाहा! है? द्रव्यदृष्टि से अर्थात्? द्रव्य अर्थात् यह पैसा नहीं,

हों! एक व्यक्ति ऐसा कहता था, 'द्रव्यदृष्टि वह समकित दृष्टि'—अपने यहाँ था न? आया था, 'थान' वाला माणेकचन्द। (वह कहे), यह 'द्रव्यदृष्टि वह सम्यग्दृष्टि'। यहाँ सब पैसेवाले बहुत आते हैं। नानालालभाई सब करोड़पति उसके रिश्तेदार। वे सब पैसेवाले, वे समकितदृष्टि? अरे रे! जैन में जन्मे, उसे अभी द्रव्यदृष्टि किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती। द्रव्य अर्थात् यह पैसा, धूल, (ऐसा मानता है)।

यहाँ तो द्रव्य अर्थात् आत्मा जो त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु! आदि-अन्त रहित अनादि अनन्त नित्यानन्द, जिसमें परिणमन—बदलना भी नहीं। आहाहा! जिसमें पर्याय की भी नास्ति—अभाव है। आहाहा! उसमें संसार और बाहर की चीज़ का तो अभाव है ही परन्तु पर्याय निर्मल हो, उसकी पर्याय का भी द्रव्य में अभाव है। आहाहा! ऐसा धर्म कहाँ से (निकाला)? वे कहें, देव-गुरु की भक्ति करो; दूसरे कहें, दान करो, बड़ा दान दो, लाखों रुपये (दो)।

मुमुक्षु : गरीब दान कहाँ से दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दान में क्या है? दान तो यह है। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, उसमें सम्प्रदान नाम का गुण पड़ा है। आत्मा में एक सम्प्रदान नाम का गुण है। वह द्रव्यस्वभाव है। उसका आश्रय करने से जो निर्मल पर्याय हो और स्वयं रखे, वह दान है। आहाहा! यहाँ तो यह बात है। इन भभूतमल ने सवा लाख दिये तो मानो अन्दर में क्या हुआ! वहाँ इन्होंने बैंगलोर में मन्दिर बनाया, उसमें आठ लाख दिये थे। भभूतमल, पालीताना गये हैं न? दोपहर में आयेंगे। उन्होंने आठ लाख का मन्दिर में दान दिया। यहाँ सवा लाख तुमको दिये इसमें। अरे! करोड़ दे या पाँच करोड़ दे, वहाँ उसमें धर्म कहाँ है? आहाहा! इन्होंने भी लाख रुपये दिये हैं। पहले दिये थे, दूसरे दिये। आहाहा!

मुमुक्षु : हमारे किस प्रकार देना?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु है कहाँ, वह दे। ऐसे आत्मा में है नहीं और दे-ले कौन? आहाहा! यहाँ तो भगवान शुद्ध स्वरूप का ग्रहण और राग का त्याग, वह भी पर्याय में है। वस्तु में ग्रहण-त्याग वह कुछ है नहीं, वस्तु तो वस्तु त्रिकाल है। आहाहा! नित्यानन्द प्रभु अनादि अनन्त अनादि का है, अनन्त काल रहनेवाला है। जिसमें द्रव्य अर्थात् वस्तु से देखें

तो उसमें परिणमना, बदलना उसमें है ही नहीं। आहाहा! तो उसमें फिर यह शरीर, वाणी और मन और यह सब धूल यह तो इसकी पर्याय में भी नहीं है। आहाहा! शरीर, कर्म, परद्रव्य, देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देश, इसकी पर्याय में वह वस्तु नहीं है। आहाहा! इसकी पर्याय में राग और द्वेष और विकार आदि है परन्तु वह विकार आदि पर्याय इस द्रव्य में नहीं है। आहाहा! अरे! द्रव्यदृष्टि हुई, सम्यग्दर्शन हुआ, वह सम्यग्दर्शन की पर्याय भी द्रव्य में नहीं है। आहाहा! ऐसी चीज़ है।

अब ऐसे जवान मनुष्य हो, उगकर खड़ा होता हो। पन्द्रह, बीस, पच्चीस वर्ष की उम्र, जवान (हो), उसमें पाँच-पच्चीस लाख की आमदनी हो... आहाहा! फटकर मानो गधा हो गया मोटा! बड़ा बैल भार उठावे सब। आहाहा! दोपहर में कहा था न कि राग और द्वेष आदि। यह अजीव है, वह मेरा होवे तो मैं अजीव हो जाऊँ। निर्जरा अधिकार में है। आहाहा! वह मुझमें नहीं है।

मैं तो जीव चैतन्यस्वरूपी चैतन्य चिन्तामणि रत्न, जिनकी कीमत केवली भी वाणी में पूर्ण नहीं कह सकते। ऐसा जो भगवान द्रव्यस्वभाव, आहाहा! उसकी दृष्टि से, **द्रव्यदृष्टि से अपरिणमनस्वरूप है,...** आहाहा! यह कहा था न वहाँ तब? यह द्रव्यदृष्टि प्रकाश में आया है। यह कहा, अपरिणमनस्वरूप है। यह कहा, उसने लालभाई ने उसमें डाला है। सोगानी का द्रव्यदृष्टि प्रकाश। उसमें इस अपरिणमन का आधार यहाँ से दिया है। कहा, भाई! द्रव्य है, वह तो अपरिणमनस्वरूप है। उसमें है, है न उसमें? खबर है? पढ़ा है या नहीं? प्रवीणभाई! पढ़ा होगा। यह बहियाँ पढ़ने में रस होवे, ऐसा उसमें रस नहीं होता। आहाहा!

द्रव्यदृष्टि से... आहाहा! क्या बात की है न! भगवान ध्रुव चैतन्य प्रभु, नित्य... नित्य... नित्य... नित्य... अनादि अनन्त नित्य। जिसकी उत्पत्ति नहीं, जिसका नाश नहीं परन्तु जिसमें परिणमन नहीं। आहाहा! जिसमें पलटने की दशा भी नहीं। ऐसा नित्यानन्द ध्रुव भगवान, नित्यानन्द प्रभु आत्मा... आहाहा! यह सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा!

पर्यायदृष्टि से परद्रव्य के निमित्त से... तब अब कहते हैं कि पर्याय में क्या होता है? कि **पर्यायदृष्टि से...** अर्थात् वर्तमान परिणमन की दृष्टि से **परद्रव्य के निमित्त से...**

उपादान अपना, निमित्त तो परद्रव्य निमित्त। **रागादिरूप परिणमित होता है;...** पर्याय में राग, द्वेष, पुण्य, पाप, दया, दानरूप होता है। आहाहा! द्रव्यदृष्टि में तो पर्याय नहीं परन्तु पर्याय में परद्रव्य का निमित्त (है) और होता है स्वयं के कारण से। आहाहा! पर्याय में राग और द्वेष, तथा पुण्य और पाप, दया और दान, काम और क्रोध, वह इसकी पर्याय में होता है, परिणमता है, पर्याय में परिणमता है। **इसलिए अब ज्ञानी स्वयं उन भावों का कर्ता नहीं होता,...** क्योंकि जहाँ द्रव्यदृष्टि हुई... आहाहा! ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा निधान जहाँ देखा, उस निधान की दृष्टि से राग-द्वेषरूप से स्वयं परिणमता नहीं कि मुझमें राग-द्वेष है, ऐसा परिणमता नहीं। होते हैं, उन्हें वह जानता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

अरे! जिन्दगी चली जा रही है, आयुष्य तो घटता जाता है। जितनी अवधि देह की, मृत्यु की है, उस समय में कुछ वृद्धि होनेवाली नहीं है। ठामुकुं जितने दिन जाते हैं, उतने मृत्यु के समीप जाते हैं। देह छूटने के, मृत्यु के समीप देह, आयुष्य जाती है। आहाहा! उसमें कहते हैं कि प्रभु! तू एक बार द्रव्य को देख। द्रव्य को मान तो सही। आहाहा! तेरा तत्त्व कितना और कैसा चिन्तामणि रत्न पड़ा है वह। आहाहा! उसे देख तो सही। उसकी दृष्टि से देखे तो उसमें पर्याय नहीं। अब पर्याय है, वह परद्रव्य के निमित्त से राग-द्वेषरूप हो... आहाहा! परन्तु उन भावों का कर्ता ज्ञानी नहीं होता। आहाहा! यह राग होता है, राग आता है, राग होता है परन्तु उसे अपने ज्ञान में रहकर और राग है, इसलिए जानता है, ऐसा नहीं है। ज्ञान में रहकर, ज्ञान का स्वपरप्रकाशक स्वभाव है; इसलिए उस राग को जानता है, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

अरे! सुनने को मिलता नहीं। यह मनुष्य देह चली जा रही है। आहाहा! कितने ही तो जवान मनुष्य बेचारे उड़ जाते हैं। छोटी-छोटी महिलाएँ हैं न? बीस-बीस वर्ष की महिलाएँ भी उड़ जाती है, एकदम! किंचित् रोग हुआ और कुछ यह उल्टी हुई और कुछ ऐसा हुआ। आहाहा! परन्तु वह तो देह नाश होती है, अन्दर भगवान कहाँ नाश होता है? भगवान तो अन्दर नित्यानन्द प्रभु है। आहाहा! उसकी दृष्टि कर तो पर्याय में राग-द्वेष होते हैं, उनका कर्ता नहीं होकर जाननहार रहेगा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह पर का हीरा-माणिक का कर्ता तो नहीं। हीरा, माणिकरूप तो परिणमता भी नहीं। राग और द्वेषरूप परिणमता है परन्तु जहाँ आनन्द के स्वाद के समक्ष इस राग के स्वाद को आकुलता जानकर

उसका कर्ता नहीं होता। आहाहा! यह व्रत के, दया के परिणाम आये, भक्ति का परिणाम राग आया, उसका कर्ता नहीं होता। अपने ज्ञान में रहकर उसे स्पर्श किये बिना स्वयं अपने को और पर को जानता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। क्षण में देह उड़ जाती है। कुछ निश्चित करके नहीं आती है कि देखो! मैं मृत्यु कल आऊँगी, हों! ऐसा पहले कहकर आती है? आहाहा!

ज्ञानी स्वयं उन भावों का कर्ता नहीं होता, जो उदय आते हैं, उनका ज्ञाता ही होता है। ज्ञाता ही है। आहाहा! धर्मी की दृष्टि द्रव्य के ऊपर होने से ज्ञान, दर्शन और आनन्द की पर्याय से परिणमता हुआ वह रागरूप नहीं परिणमता, राग का जाननेवाला रहता है। आहाहा!

कलश - १७७

'अज्ञानी ऐसे वस्तुस्वभाव को नहीं जानता, इसलिए वह रागादि भावों का कर्ता होता है' इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं-

(अनुष्टुप्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः।।१७७।।

श्लोकार्थ : [इति स्वं वस्तुस्वभावं अज्ञानी न वेत्ति] अज्ञानी अपने ऐसे वस्तुस्वभाव को नहीं जानता, [तेन सः रागादीन् आत्मनः कुर्यात्] इसलिए वह रागादि को (-रागादिभावों को) अपना करता है, [अतः कारकः भवति] अतः वह उनका कर्ता होता है।।१७७।।

श्लोक - १७७ पर प्रवचन

अज्ञानी ऐसे वस्तुस्वभाव को नहीं जानता... अब उल्टा लेते हैं। ऐसे वस्तुस्वभाव को (अर्थात्) द्रव्यस्वभाव ज्ञायकमूर्ति आनन्द प्रभु, अकेला अतीन्द्रिय आनन्द के रस का

दल। आहाहा! मैसूरपाक की चक्की जैसे हो, वैसे यह अतीन्द्रिय आनन्द का चोसला प्रभु ध्रुव है। आहाहा! ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाव को नहीं जानता अज्ञानी। **इसलिए वह रागादि भावों का कर्ता होता है...** वस्तु को जाना नहीं, इसलिए उससे विरुद्ध भाव का वह कर्ता होता है। आहाहा! मैंने राग किया और मुझे राग का फल आयेगा और उसमें से पुण्य बँधेगा और मुझे भविष्य में सामग्री अच्छी मिलेगी तथा संयोग मिलेंगे भटकने के... आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! आहाहा! **रागादि भावों का कर्ता होता है' इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं–** श्लोक १७७।

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः।।१७७।।

आहाहा! **श्लोकार्थ :–** [**इति स्वं वस्तुस्वभावं अज्ञानी न वेत्ति**] **अज्ञानी अपने ऐसे वस्तुस्वभाव को...** भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर प्रभु! आहाहा! जैसे समुद्र पानी से भरा है, वैसे भगवान आनन्द और ज्ञान आदि स्वभाव से पूर्ण भरा है। ऐसे **अज्ञानी वस्तुस्वभाव को नहीं जानता...** उस ओर मुँह नहीं किया। उसके सन्मुख होकर (देखता नहीं)। पर से विमुख हुआ नहीं। आहाहा! अनादि से स्व से विमुख होकर पर से सन्मुख हुआ है। आहाहा! वस्तुस्वभाव को अज्ञानी (जानता नहीं है)। वस्तु का स्वभाव तो शुद्ध चैतन्य रत्न... आहाहा! परमानन्द का मणि... मणि— हीरा महाप्रभु! दिव्य शक्ति, चैतन्यदेव! ऐसे चैतन्यदेव को नहीं जानता हुआ। आहाहा!

[**तेन सः रागादीन् आत्मनः कुर्यात्**] **इसलिए वह रागादि को (–रागादिभावों को) अपना करता है,...** जो जानने में आया नहीं, उसे अपना करे कहाँ से? जानने में राग और द्वेष आया, वह उसे अपना करता है। आहाहा! क्या कहा यह? भगवान चिदानन्दमूर्ति आनन्द का नाथ अन्दर विराजता है। अतीन्द्रिय अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुणों का सागर, वह जिसने देखा नहीं, जाना नहीं, माना नहीं, आदर किया नहीं, वह उसे किस प्रकार से अनुभव करे? उसका अनजान जीव, फिर राग और द्वेष पर दृष्टि है, उसे वह करता है। आहाहा! यह पुण्य और पाप, दया और दान, काम और क्रोध के परिणाम का कर्ता होता है। कुछ तो कर्ता तो रचे तो सही। यह स्वरूप है, उसके कर्तापने का भान नहीं है, तब यहाँ कर्ता होता है। आहाहा!

एक तो भगवान सच्चिदानन्द प्रभु का आदर छोड़कर, अनादर करके, उसमें—वस्तु के स्वभाव में नहीं, ऐसे पुण्य और पाप के विकार का आदर, उसे करके उसका वह कर्ता होता है। ऐसी बात है। आहाहा! भाव तो (गम्भीर) है। भाषा कोई ऐसी कठिन नहीं है। आहाहा! यह वस्तु के अपने, ऐसा शब्द है न? **अज्ञानी अपने ऐसे वस्तुस्वभाव को नहीं जानता...** स्वयं जो ज्ञानानन्द सहजात्म प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का मणि, देव, दिव्यशक्ति देव, उसे तो वह जानता नहीं। इसलिए पामर, रंक, रंक ऐसे पुण्य और पाप के परिणाम का वह कर्ता होता है। बादशाह को भूलकर रंक का कर्ता होता है। आहाहा! ऐसा कहाँ वहाँ मुम्बई में सुनाई दे, ऐसा है वहाँ? आहाहा! बहुत कठिन काम, बापू!

उस वस्तुस्वभाव को नहीं जानता। अपना स्वरूप है न? ऐसे **अपने ऐसे वस्तुस्वभाव को...** स्वयं भगवान आनन्द सागर है अन्दर, अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द और अतीन्द्रिय प्रभु से भरपूर, ईश्वर से भरपूर भगवान, अनन्त ईश्वरता गुण से भरपूर भगवान स्वयं ईश्वर है, अनन्त गुण का ईश्वर है। ऐसा जो अपना स्वभाव, उसे अज्ञानी नहीं जानता। [**तेन सः रागादीन् आत्मनः कुर्यात्**] **इसलिए वह...** इसलिए वह। उसे नहीं जानता, इसलिए वह। आहाहा! पुण्य और पाप के भाव को अपना करता है। अपना करता है—मेरे हैं, ऐसा मानता है। पुण्य और पाप के भाव मलिनभाव, दुःखरूपभाव, आकुलतारूपभाव है। जो अनाकुल अपना स्वभाव है, उसे नहीं जानता; इसलिए आकुलता के भाव को अपना करता है। आहाहा! ऐसा धर्म! सोनगढ़वालों ने निकाला होगा ऐसा? अनादि का है, बापू! अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवली कहते आये हैं। भगवान सीमन्धर परमात्मा तो विराजते हैं। उनकी सभा में तो काले नाग, बाघ, सिंह, इन्द्र जाते हैं। आहाहा! बापू! यह बात सुनने का कहाँ है? आहाहा! यह कहीं पैसे देने से मिले, ऐसी बात नहीं है। आहाहा!

अपने स्वभाव को नहीं जानता। अतीन्द्रिय आनन्द का सागर और अतीन्द्रिय ज्ञान की मूर्ति प्रभु! चैतन्य हीरा, ऐसे चैतन्यहीरा को—अपने स्वभाव को नहीं जानता। **अज्ञानी नहीं जानता इसलिए...** नहीं जानता इसलिए। **'तेन'** है न **'तेन'? [तेन सः रागादीन् आत्मनः कुर्यात्] इसलिए वह रागादि को (–रागादिभावों को) अपना करता है,...** आहाहा! कहीं अपना अस्तित्व तो मानेगा न? जो मूल अस्तित्व त्रिकाली चैतन्यरत्न है, उसे तो जाना

नहीं, तब कहीं अपना अस्तित्व है, ऐसा तो मानना पड़ेगा न? यह राग और द्वेष में अस्तित्व—मेरा है, ऐसा करके मानेगा। आहाहा! स्त्री, पुत्र और परिवार की तो बात कहीं रह गयी। यह तो इसकी पर्याय में होते हैं, उनकी बात है। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देश वह तो इसकी पर्याय में भी नहीं है। इसके द्रव्य-गुण में तो नहीं परन्तु इसकी पर्याय में भी वह चीज़ तो नहीं है। आहाहा! ऐसा कठिन लगे। यह तो निश्चय की बातें, निश्चय की, ऐसा कहे। बापू! निश्चय अर्थात् सत्य।

परम सत्य सच्चिदानन्द प्रभु, परमसत्य प्रभु अन्दर सत् साहेब (विराजता है)। अनन्त-अनन्त गुण के रत्न से भरपूर रत्नाकर, रत्नाकर प्रभु—रत्न का आकर—समुद्र। आहाहा! ऐसी चीज़ को नहीं जानता, अपनी ऐसी चीज़ को नहीं जानता, इसलिए वह राग-द्वेष, पुण्य-पाप को अपना करता है। कहीं अपनापन मानना तो पड़ेगा। आहाहा! समझ में आया? **इसलिए वह...** तेथी समझे न? इसीलिए, समझ में आया? कि अपने स्वभाव को जानता नहीं, इसलिए, ऐसा। इसलिए—इस कारण से, वह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम को अपना करता है।

जो महाप्रभु अस्तित्व द्रव्य, वस्तु है, उसके पक्ष में चढ़ा नहीं, उसके पक्ष में गया नहीं और इस पक्ष में चढ़ गया है। जिसके पक्ष में चढ़ा, उसे अपना मानेगा। हैं? आहाहा! **अतः वह उनका कर्ता होता है।** इसलिए उन्हें अपना करता है। अपने को नहीं जानता, इसलिए उन्हें अपना करता है, इसलिए उनका कर्ता होता है। आहाहा! कैसी संक्षिप्त भाषा! रत्न भरे हैं। अमृतचन्द्राचार्य ने तो... आहाहा! भरतक्षेत्र में गजब टीका की है। अब २८१ आयेगी। (विशेष कहेंगे....) (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २८१

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रागादि बंधदि पुणो वि।।२८१।।

रागे च द्वेषे च कषाय-कर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि।।२८१।।

यथोक्तं वस्तुस्वभावमजानन्स्त्वज्ञानी शुद्धस्वभावादासन्सारं प्रच्युत एव, ततः कर्मविपाकप्रभवैः रागद्वेषमोहादिभावैः परिणममानोऽज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानां कर्ता भवन् बध्यत एवेति प्रति-नियमः।।२८१।।

अब इसी अर्थ की गाथा कहते हैं-

पर राग-द्वेष-कषायकर्मनिमित्त होवें भाव जो।
उन-रूप जो जीव परिणमे फिर बांधता रागादि को।।२८१।।

गाथार्थ : [रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु च एव] राग, द्वेष और कषायकर्मों के होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) [ये भावाः] जो भाव होते हैं, [तैः तु] उन-रूप [परिणममानः] परिणमित होता हुआ (अज्ञानी) [रागादीन्] रागादि को [पुनः अपि] पुनः पुनः [बध्यनाति] बाँधता है।

टीका : यथोक्त वस्तुस्वभाव को न जानता हुआ अज्ञानी अनादि संसार से लेकर (अपने) शुद्धस्वभाव से च्युत ही है। इसलिए कर्मोदय से उत्पन्न राग-द्वेष-मोहादि भावरूप परिणमता हुआ अज्ञानी राग-द्वेष-मोहादि भावों का कर्ता होता हुआ (कर्मों से) बद्ध होता ही है-ऐसा नियम है।

भावार्थ : अज्ञानी वस्तुस्वभाव को तो यथार्थ नहीं जानता और कर्मोदय से जो भाव होते हैं, उन्हें अपना समझकर परिणमता है, इसलिए वह उनका कर्ता होता हुआ पुनः-पुनः आगामी कर्मों को बाँधता है-ऐसा नियम है।

प्रवचन नं. ३४५, गाथा-२८१ से २८५ बुधवार, कार्तिक शुक्ल ११
दिनाङ्क - ३१-१०-१९७९

२८१ गाथा है न? समयसार २८१ गाथा।

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रागादि बंधदि पुणो वि।।२८१।।

पर राग-द्वेष-कषायकर्मनिमित्त होवें भाव जो।
उन-रूप जो जीव परिणमे फिर बांधता रागादि को।।२८१।।

क्या कहते हैं? वस्तुस्वभाव, भगवान आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान, आनन्द है। त्रिकाली स्वभाव नित्यानन्द प्रभु, उसका वीतराग आनन्द और ज्ञान उसका त्रिकाली स्वभाव है। उस **वस्तुस्वभाव को न जानता हुआ...** अनादि काल से यह वस्तु जो आत्मा भगवान, ज्ञान, आनन्द, शान्ति शक्ति समूह, स्वभाव का सागर और अनन्त-अनन्त गुण का गोदाम, ऐसा जो भगवान आत्मा वस्तु है। उस वस्तु को अनादि से जानता नहीं। अनादि से उस चीज़ को नहीं जानता हुआ **अज्ञानी अनादि संसार से लेकर (अपने) शुद्धस्वभाव से...** अनादि अज्ञानी अनादि संसार से लेकर। निगोद से लेकर। पहले निगोद में अनन्त काल था, पश्चात् त्रस में आया तो अनन्त काल से निगोद से लेकर। शुद्धभाव से **च्युत ही है।** आहाहा! अपना आनन्द और ज्ञानस्वभाव, वीतरागस्वभाव, शुद्धस्वभाव, मुक्तस्वभाव, ध्रुवस्वभाव से अनादि अज्ञानी च्युत है, भ्रष्ट है। आहाहा! स्वभाव की तो खबर ही नहीं है कि मैं कौन हूँ?

उस स्वभाव से **च्युत ही है।** अपना आनन्द—अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान, वह आत्मा का अनादि का स्वभाव है और वह अनादि से स्वभाव से च्युत है। स्वभाव भी अनादि है। उस ओर का लक्ष्य अनादि से चूक गया है। आहाहा! शुद्ध स्वभाव से **च्युत ही है।** स्वभाव से च्युत है। स्वभाव तो स्वभाव है ही, परन्तु अनादि से अज्ञानी की—मिथ्यादृष्टि की दृष्टि स्वभाव से च्युत है। अपना आनन्दस्वरूप प्रभु, वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा है, उसके स्वभाव से अनादि से भ्रष्ट है, च्युत है। आहाहा!

इसलिए... स्वभाव से च्युत है, इसलिए **कर्मोदय से उत्पन्न...** कर्म जो जड़ है, उनसे उत्पन्न होते हुए अपने में अपने कारण से **राग-द्वेष-मोहादि भावरूप परिणमता हुआ...** आहाहा! अपने स्वभाव में जो मोह-राग-द्वेष नहीं है। शुभ-अशुभभाव या मोह अर्थात् भ्रान्ति—मिथ्यात्व, वह अपने स्वभाव में है नहीं, परन्तु उस स्वभाव को चूककर अनादि से अज्ञानी अनादि से स्वभाव से च्युत है और अनादि से राग-द्वेष और मोह, जो कर्म के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसमें परिणमता है। आहाहा!

इसलिए कर्मोदय से उत्पन्न... निमित्त कर्म है। अपने में अपने स्वभाव से च्युत होकर उत्पन्न होता है, कर्म से नहीं। कर्म तो जड़ है, रूपी है, मूर्त चीज़ है। परन्तु उस कर्म के आधीन होकर, अपने स्वभाव से भ्रष्ट होकर, निमित्त के वश होकर, राग-द्वेष, दया, दान, काम, क्रोध के परिणाम, राग-द्वेष-मोहरूप परिणमता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अपना चिदानन्दस्वभाव, वास्तविक चीज़ तो यह ज्ञान और आनन्द का भण्डार भगवान है। अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय वीतरागता, उस स्वभाव का तो सागर आत्मा है परन्तु वह अनादि से ऐसा होने पर भी, अनादि से उस ओर की दृष्टि से च्युत है। आहाहा! इसलिए कर्म के निमित्त के वश होकर, अपने स्वभाव से च्युत होकर, पुण्य और पाप और मिथ्यात्वरूप परिणमता है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

राग-द्वेष-मोहादि भावरूप... हों! भावरूप से। अपने परिणाम में स्वभाव से च्युत हुआ, निमित्त के आधीन हुआ, निमित्त के वश हुआ, राग-द्वेष-मोहरूप आप स्वयं परिणमता है। आहाहा! कर्म से नहीं। कर्म तो जड़ है। 'कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई' कर्म तो जड़, अजीव, मिट्टी-धूल है। 'कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई' इस चिदानन्द भगवान को भूलकर निमित्त के वश होकर अनादि से दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, पुण्य और पाप के भाव तथा मिथ्यात्वरूप परिणमता है। आहाहा!

अज्ञानी, **परिणमता हुआ अज्ञानी राग-द्वेष-मोहादि भावों का कर्ता होता हुआ...** आहाहा! अपने ज्ञान और आनन्द का तो कर्ता नहीं, क्योंकि खबर नहीं। भगवान ज्ञान—जाननस्वभाव, प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप, प्रज्ञा और आनन्दस्वरूप है, उसकी तो खबर नहीं, इस कारण से **राग-द्वेष-मोहादि भावों का कर्ता होता हुआ...** यह पुण्य और पाप,

चाहे तो दया, दान, व्रत, और भक्ति, इस पुण्य परिणाम का कर्ता होता है। आहाहा! ऐसे हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, इस पाप का कर्ता होता है और मिथ्या भ्रम—यह मेरे हैं, ऐसे मिथ्यात्वरूप से परिणमता है। आहाहा! है तीन लाईन। माल यह है। समझ में आया? आज तो हिन्दी चलता है, हिन्दी लोग आये हैं। आहाहा!

आत्मा का वस्तुस्वरूप स्फटिकमणि जैसा निर्मल है। स्फटिकमणि निर्मल होता है। हमने स्फटिकमणि देखा है। इतना स्फटिकमणि, जामनगर में एक बड़ा डॉक्टर था। यहाँ १००वीं गाथा चलती थी, ४१ की बात है। (संवत्) १९९१ की बात है। ४१ वर्ष हुए। गाथा चलती थी तब तो स्थानकवासी सम्प्रदाय में थे। समयसार की १००वीं गाथा चलती थी। लोग तो उस समय भी बहुत आते थे न! हमारी तो प्रतिष्ठा बहुत थी न! वह डॉक्टर कहे, महाराज! मेरे पास एक सोलेरियम है। छह लाख रुपये का यन्त्र। आप देखो, आपके दृष्टान्त में काम आयेगा। उसने स्फटिकमणि बताया। इतना, हों! इतना मोटा स्फटिकमणि, स्वच्छ। बड़ा डॉक्टर था, ढाई हजार का वेतन उस समय, महीने के ढाई हजार। ४५ वर्ष पहले।

जैसे वह स्फटिकमणि स्वच्छ और निर्मल है, वैसे भगवान आत्मा तो स्वच्छ निर्मल शुद्ध चैतन्यघन है परन्तु उस स्फटिमणि में जो लाल, पीले फूल का संयोग होता है, उसकी पर्याय में लाल, काली झांईं उत्पन्न होती है, वह स्फटिक की पर्याय में उत्पन्न होती है। झांईं उत्पन्न होती है। लाल, पीले फूल संयोग (है, उनकी) झांईं पड़ती है, वह स्वयं की योग्यता से है। उस फूल के कारण से नहीं। आहाहा! वह तो निमित्तमात्र है। इसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्फटिक जैसा निर्मलानन्द है, आहाहा! वह अपने को भूलकर कर्म के निमित्त के वश होकर, अपनी पर्याय में अपनी योग्यता से, स्वतन्त्र कर्ता होकर राग, द्वेष और मिथ्यात्वभाव अनादि से करता है। आहाहा! पर का तो कभी किया नहीं। भभूतमलजी! क्या (कहा)? स्टील का तो कभी किया नहीं। वह तो धूल, लोहा है धूल। ऐई! तुम्हारे हीरा, माणिक का कभी किया नहीं। वह तो जड़ है, मिट्टी-धूल है। किया क्या? कि अपना शुद्ध आनन्द प्रभु, उससे च्युत होकर राग-द्वेष और मिथ्यात्व किया। बस! पर का किया नहीं, पर से हुआ नहीं, अपने स्वभाव से हुआ नहीं। आहाहा!

निमित्त के वश होकर (रागादिरूप परिणमता है)। ऐसा स्वभाव है, चिदानन्द

भगवान शुद्ध वीतरागमूर्ति आत्मा अन्दर है, परमेश्वरस्वरूप आत्मा है। कैसे जँचे? परमेश्वर -स्वरूप ही आत्मा है। परमेश्वरस्वरूप न हो तो पर्याय में केवलज्ञानी परमात्मा अरिहन्त हुए, वे कहाँ से हुए? वह अरिहन्त पद कहाँ से आया? बाहर से कोई चीज़ आती है? अन्दर में है। आहाहा! उस स्फटिक में जैसे निर्मलता भरी है, वैसे भगवान आत्मा में अन्दर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त स्वच्छता, निर्मलता—ऐसे अनन्त गुणों की पवित्रता का पिण्ड प्रभु आत्मा है। उस ओर की अनादि की नजर नहीं है। साधु हुआ, दिगम्बर मुनि हुआ। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै (निज) आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' दिगम्बर मुनि हुआ, नग्न हुआ, पंच महाव्रत पालन किये, परन्तु वह तो सब राग की क्रिया है। आहाहा! वह अपने शुद्ध स्वभाव को चूककर राग की क्रिया में परिणमता है, वह अज्ञानी राग-द्वेष-मोहरूप से परिणमता है, कर्ता होता है। परिणमन करके कर्ता होता है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

(कर्मों से) बद्ध होता ही है... वह अज्ञान से राग-द्वेष और मोह करता है तो उनसे कर्मबन्धन होता है। नवीन कर्मबन्ध होता है। है? **ऐसा नियम है।** भगवान त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का फरमान है, कि प्रभु! तेरी प्रभुता में अनन्त ज्ञान की, आनन्द की प्रभुता पड़ी है, उसे चूककर प्रभु! तू पामररूप से कर्म के निमित्त के वश होकर, पुण्य-पाप के भाव का कर्ता होकर, नये कर्म बाँधता है। आहाहा! भाषा तो सादी है, भाव तो है वह है। आहाहा! जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ वीतराग परमात्मा का यह फरमान है। आहाहा! **बद्ध होता ही है-ऐसा नियम है।** कौन सा नियम? कि अपने स्वरूप के अज्ञान से पुण्य और पाप के भावरूप होता है, उससे नये कर्म बँधते हैं, यह नियम है। यह नियम—कायदा है। आहाहा!

भावार्थ :- अज्ञानी वस्तुस्वभाव को तो यथार्थ नहीं जानता... दृष्टि राग और दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति और काम-क्रोध, यह कमाना और यह कमाना, पैसा कमाने पर, राग पर दृष्टि है। आहाहा! **अज्ञानी वस्तुस्वभाव...** भगवान वस्तु का स्वभाव; वस्तु स्वभाववान, उसके स्वभाव को जानता नहीं, **यथार्थ नहीं जानता...** यथार्थ नहीं जानता, क्यों कहा? कि शास्त्र भी जाने, शास्त्र भी कण्ठस्थ किये, शास्त्र में ऐसा आया था कि आत्मा शुद्ध है। ऐसी धारणा भी की थी। समझ में आया? परन्तु यथार्थ जाना नहीं। उस

धारणा को छोड़कर वस्तु को जानना था, उसे जाना नहीं। समझ में आया? आहाहा! 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।' 'अपने को आप भूल के' कर्म से भूला है, ऐसा नहीं। अपनी चीज़ को स्वयं भूला, (इसलिए) चौरासी में हैरान हो गया।

यहाँ यह कहा। **अज्ञानी वस्तुस्वभाव को तो यथार्थ नहीं जानता...** यथार्थ जानता नहीं। जिस प्रकार से ज्ञान और आनन्द प्रभु है, उस प्रकार से अन्दर दृष्टि में जानता नहीं। ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से ख्याल में, ज्ञान में, लक्ष्य में आया परन्तु वह तो धारणा रूप से आया। समझ में आया? आहाहा! परन्तु वस्तुस्वरूप जो चिदानन्द प्रभु, जो सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा, वह आत्मा, दूसरे कोई कहे वह नहीं।

त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर सीमन्धर भगवान विराजते हैं, महाविदेहक्षेत्र में अभी प्रभु विराजते हैं, तीर्थंकर है, करोड़ पूर्व का आयुष्य है, पाँच सौ धनुष का देह दो हजार हाथ ऊँचा है। समवसरण में वर्तमान में विराजते हैं। वहाँ की यह वाणी है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव दो हजार वर्ष पहले यहाँ से। ४९ के वर्ष में वहाँ गये थे। संवत ४९। कुन्दकुन्दाचार्यदेव दिगम्बर मुनि भगवान के पास गये थे। वहाँ आठ दिन रहे थे। आहाहा! लब्धि थी। वहाँ से आकर यह (शास्त्र) बनाया। भगवान ऐसा कहते हैं। आहाहा!

त्रिलोकनाथ परमेश्वर की यह आज्ञा है कि अज्ञानी वस्तु को यथार्थ नहीं जानता। आहाहा! यथार्थ क्यों कहा? कि ग्यारह अंग का ज्ञान भी उसने किया। पंच महाव्रत भी अनन्त बार पालन किये। परन्तु ज्ञान में यह चीज़ आनन्द है, त्रिकाली दल है, सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा, सत् चिदानन्द, सत् चिदानन्द—ज्ञानानन्द का सागर है, प्रभु! ऐसी अन्तर्दृष्टि नहीं की। आहाहा! इसके बिना ग्यारह अंग की बात धारणा में भी ले ली। पाटनीजी! आहाहा! वस्तु ऐसी है, भाई! चौरासी के अवतार... आहाहा!

वस्तुस्वभाव को तो यथार्थ नहीं जानता और कर्मोदय से जो भाव होते हैं... कर्म के निमित्त से अपने में जो राग-द्वेष और मिथ्यात्व भाव होते हैं, **उन्हें अपना समझकर...** उस विकारभाव को अपना समझकर। क्योंकि वस्तु जो है, वह उसकी सन्धि में आयी नहीं। सच्चिदानन्द प्रभु, अन्दर आनन्दकन्द, जिनेश्वर सिद्ध-समान स्वरूप है। 'सिद्ध-समान सदा पद मेरो'। आहाहा! 'चेतन रूप अनूप अमूरत, सिद्ध-समान सदा पद

मेरो, मोह महातम आतम अंग कियो परसंग महातम ढेरो, ज्ञानकला उपजी अब मोकूँ, कहूँ गुण नाटक आगम केरो। तासु प्रसाद सधे शिवमारग, वेगे घटे-मिटे घट वास वसेरो।' इस घट में, इस माँस की हड्डियों में बसता है। यह (शरीर) तो हड्डियाँ, माँस, चमड़ी है। त्रिलोक का नाथ आनन्द का कन्द प्रभु, वह भव में आता है, उस भव का नाश ज्ञानकला हुई है, उससे नाश होता है, ऐसा कहते हैं। दूसरी कोई क्रिया से नाश होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

इस वस्तु को नहीं जानता हुआ, **कर्मोदय से जो भाव होते हैं, उन्हें अपना समझकर परिणमता है,...** जो चीज़ अपने में है, उसे तो जाना नहीं, तो कहीं तो अपनापना मानना पड़ेगा। जो चीज़ है, उसे जाना नहीं तो कहीं अपनापना मानता तो होगा। समझ में आया? एक कमरा होता है। कोई कहे कि अमुक को बुलाओ, लक्ष्मीचन्द को बुलाओ। वहाँ गया तो लक्ष्मीचन्द दिखता नहीं। है नहीं। लक्ष्मीचन्द अन्दर कमरे में... तुम्हारे क्या कहलाता है? अलमारी। अलमारी में बैठा था। वहाँ नहीं, लक्ष्मीचन्द नहीं। इसी प्रकार यह भगवान राग-द्वेष और पुण्य-पाप की विकार की दशा के पीछे प्रभु विराजता है, उसे तो देखा नहीं। आहाहा! जिसे जानना चाहिए, जिसे आदर करना चाहिए, जिसका स्वीकार करके सत्कार करना चाहिए, उसे तो जाना नहीं। जाना क्या? कि राग और द्वेष और मोह। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! बाहर का यह क्रियाकाण्ड—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा यह सब भाव राग है। यह धर्म नहीं है। आहाहा! उस राग को अपना मानकर रागरूप मिथ्यादृष्टि परिणमता है, उससे नये कर्म बँधते हैं। आहाहा! ऐसी बात है।

इसलिए वह उनका कर्ता होता हुआ... क्योंकि अपने समझकर विकाररूप से, राग-द्वेषरूप से परिणमता है तो **वह उनका कर्ता होता हुआ पुनः-पुनः आगामी कर्मों को बाँधता है-ऐसा नियम है।** वस्तु के स्वभाव का यह नियम है। भगवान ने किया नहीं; है वैसा भगवान ने जाना है। भगवान कहीं किसी के कर्ता-बर्ता नहीं है। ईश्वरकर्ता की तरह परमात्मा कुछ करता नहीं है। परमात्मा ने तो जैसी चीज़ है, वैसी जानी, वैसी कही। आहाहा! **ऐसा नियम है।** कहा न?

गाथा - २८२

ततः स्थितमेतत् -

रागम्हि य दोसम्हि य कसाय-कम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा।।२८२।।

रागे च द्वेषे च कषाय-कर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता।।२८२।।

य इमे किलाज्ञानिनः पुद्गलकर्मनिमित्ता रागद्वेषमोहादिपरिणामास्त एव भूयो रागद्वेषमोहादि-परिणामनिमित्तस्य पुद्गलकर्मणो बन्धहेतुरिति।।२८२।।

'अतः यह सिद्ध हुआ (अर्थात् पूर्वोक्त कारण से निम्न प्रकार निश्चित हुआ)' ऐसा अब कहते हैं-

यों राग-द्वेष-कषायकर्मनिमित्त होवें भाव जो।
उन-रूप आत्मा परिणमें, वो बाँधता रागादि को।।२८२।।

गाथार्थ : [रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु च एव] राग, द्वेष और कषाय-कर्मों के होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) [ये भावाः] जो भाव होते हैं, [तैः तु] उन-रूप [परिणममानः] परिणमता हुआ [चेतयिता] आत्मा [रागादीन्] रागादि को [बध्नाति] बाँधता है।

टीका : निश्चय से अज्ञानी को, पुद्गलकर्म जिनका निमित्त है, ऐसे जो यह राग-द्वेष-मोहादि परिणाम हैं, वे ही पुनः राग-द्वेष-मोहादि परिणाम के निमित्त जो पुद्गलकर्म उसके बन्ध के कारण हैं।

भावार्थ : अज्ञानी के कर्म के निमित्त से जो राग-द्वेष-मोहादि परिणाम होते हैं, वे ही पुनः आगामी कर्मबन्ध के कारण होते हैं।

गाथा - २८२ पर प्रवचन

'अतः यह सिद्ध हुआ (अर्थात् पूर्वोक्त कारण से निम्न प्रकार निश्चित हुआ)' ऐसा अब कहते हैं- २८२।

रागम्हि य दोसम्हि य कसाय-कम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा।।२८२।।

यों राग-द्वेष-कषायकर्मनिमित्त होवें भाव जो।
उन-रूप आत्मा परिणमें, वो बाँधता रागादि को।।२८२।।

टीका :- निश्चय से अज्ञानी को, पुद्गलकर्म जिनका निमित्त है... भाषा देखो! अपने में जो राग-द्वेष और मिथ्यात्व होता है, उसमें कर्म तो निमित्तमात्र है, कर्म ने कराये हैं, ऐसा नहीं है। कर्म जड़ अजीव मिट्टी है। जैसे यह (शरीर) मिट्टी है, स्थूल मिट्टी है। कर्म वह सूक्ष्म—बारीक मिट्टी है। रूपी, मूर्त, अजीव, जड़ है। **निश्चय से अज्ञानी को, पुद्गलकर्म जिनका निमित्त है...** ऐसा कहा। किसका? उस विकार का। है?

ऐसे जो यह राग-द्वेष-मोहादि परिणाम हैं,... यदि कोई ऐसा कहे कि कर्म के कारण से आत्मा को राग-द्वेष और मोह हुए (तो) ऐसा नहीं है। कर्म तो निमित्तमात्र है। यदि आत्मा करे तो उसे निमित्त कहा जाता है, परन्तु विकार न करे तो निमित्त भी नहीं कहा जाता। जिसका निमित्त है... है? **पुद्गलकर्म जिनका निमित्त है...** किसका? जिसका (अर्थात्) किसका? ऐसे राग-द्वेष-मोह। आहाहा! दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा, काम, क्रोध, यह कमाने के भाव, कमाने के भाव यह सब विकारभाव है। उस विकारभाव में कर्म निमित्त है। निमित्त अर्थात् उसमें कराया नहीं। तूने अपनी पर्याय में अपने को भूलकर, निमित्त के आधीन होकर राग-द्वेष-मोह किये हैं। आहाहा! है?

राग-द्वेष-मोहादि परिणाम हैं, वे ही पुनः राग-द्वेष-मोहादि परिणाम के निमित्त... क्या कहते हैं? भगवान आत्मा अपना शुद्धस्वरूप आनन्द, ज्ञाता-दृष्टा को चूककर—भूलकर—भ्रष्ट होकर कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए राग-द्वेष, पुण्य-पाप, काम-क्रोधादिक को अपने मानकर परिणमता है। आहाहा! **राग-द्वेष-मोहादि परिणाम**

हैं, वे ही पुनः राग-द्वेष-मोहादि परिणाम के निमित्त... क्या कहते हैं ? यह राग तथा पुण्य और पाप के भाव, कर्म का निमित्त है, वह स्वयं से उत्पन्न हुए हैं। उन परिणाम से फिर से कर्म का बन्धन हुआ कि जो राग-द्वेष-मोह में निमित्त होगा। क्या कहा, समझ में आया ? वर्तमान राग और द्वेष के भाव, कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए, वही राग-द्वेष-मोहभाव नया कर्मबन्धन करेगा कि जिस कर्म का निमित्त पाकर फिर से भविष्य में राग-द्वेष-मोह उत्पन्न करेगा। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। वह तो दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, यात्रा करो, पूजा करो सीधासट्ट था भटकने का। आहाहा! भाई! यह बात नहीं है। यह धर्म नहीं है। यह तो पुण्य-पाप के परिणाम विकार है। आहाहा! यह विकार नया कर्मबन्धन (करेगा)। क्या कहते हैं ? देखो!

पुनः राग-द्वेष-मोहादि परिणाम के निमित्त जो पुद्गलकर्म... वर्तमान राग-द्वेष के परिणाम से बन्धन हुआ, वह बन्धन भविष्य में राग-द्वेष-मोह का निमित्त होगा। यहाँ जो राग-द्वेष-मोह करके, कर्म को निमित्त बनाकर अपने में राग-द्वेष-मोह किये, उन राग-द्वेष-मोह से जो कर्मबन्धन हुआ, वह बन्धन फिर से राग-द्वेष-मोह का निमित्त होगा। चक्कर (चलता है)। आहाहा! ऐसा सब कहाँ याद रखना ? निवृत्ति कहा ? फुरसत नहीं मिलती। सूक्ष्म बात है, भगवान!

मुमुक्षु : कुछ समझ में आवे ऐसा आवे तो ठीक।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा तो समझ में आये ऐसी सादी है। अत्यन्त सादी है। इसमें कहीं कोई संस्कृत और व्याकरण, यह कहीं नहीं है।

भगवान! तू चैतन्यमूर्ति शुद्ध पवित्र है, उसे भूलकर कर्म के निमित्त के आधीन होकर तेरी पर्याय में राग-द्वेष-मोह तू उत्पन्न करता है, उस राग-द्वेष-मोह से नये कर्म बँधते हैं, वह बन्धन और नये राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होने में निमित्त होता है। वर्तमान में तू निमित्त के आधीन होकर राग-द्वेष-मोह करता है, वे राग-द्वेष-मोह फिर से कर्मबन्धन करते हैं, वह कर्मबन्धन फिर से राग-द्वेष-मोह में निमित्त होगा। आहाहा!

(कोई) ऐसा कहता है कि अभी हम पुण्य बाँधेंगे तो भविष्य में अनुकूल संयोग मिलेंगे। उसका यहाँ निषेध करते हैं। क्या कहा, समझ में आया ? कि तेरे जो दया, दान,

व्रत के पुण्य परिणाम हैं, वे भी कर्म के निमित्त के आधीन होकर तुझे विकार हुआ है। तेरे स्वभाव से च्युत होकर (हुए हैं) और उन परिणाम से जो बन्धन होता है, वह बन्धन फिर से राग-द्वेष-मोह में कारण / निमित्त होगा। उस बन्धन से तुझे अनुकूल सामग्री मिलेगी और उससे लाभ होगा, ऐसा है नहीं—ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : कर्म के कारण से तो भोगने को मिलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं कि कर्म के निमित्त से चीज़ मिली थी। वे कर्म भी वापस राग-द्वेष करने में तुझे निमित्त होंगे। यह बन्धन हुआ, वह भविष्य में राग-द्वेष-मोह में निमित्त होगा। उस निमित्त से तुझे आत्मा में लाभ होगा, ऐसा वह कर्म नहीं है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! परमात्मा वीतराग जिनेश्वरदेव के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं नहीं है। त्रिलोकनाथ वीतराग सर्वज्ञदेव जिनचन्द्र प्रभु, भगवान तो महाविदेह में विराजते हैं। लाखों केवली विराजते हैं, बीस तीर्थंकर विराजते हैं। अनन्त तीर्थंकरों का यह मार्ग है। एक ही तीर्थंकर का नहीं, अनन्त तीर्थंकरों का यह मार्ग है।

वर्तमान में तू स्वभाव से च्युत होकर, पूर्व कर्म के निमित्त के आधीन होकर; कर्म से होते नहीं, तू आधीन होकर तुझमें राग-द्वेष-मोह करता है, वह राग-द्वेष-मोह कर्मबन्धन करेगा, वह कर्मबंधन तुझे भविष्य में राग-द्वेष-मोह में निमित्त होगा। वर्तमान बन्धन में तेरे राग-द्वेष-मोह निमित्त हुए और उनसे नया बन्धन हुआ, वह भविष्य में राग-द्वेष-मोह में निमित्त होगा। ऐसी बात है। आहाहा! ऐसा नहीं कि पुण्य बँधा है, शुभभाव से पुण्य बँधा है तो भविष्य में अनुकूल सामग्री मिलेगी, यहाँ यह बात की ही नहीं। समझ में आया? आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! दिगम्बर धर्म सूक्ष्म है। दिगम्बर धर्म ही जैनधर्म है, परन्तु सूक्ष्म, बहुत सूक्ष्म है। आहाहा!

मुमुक्षु : श्वेताम्बर धर्म सरल है, ऐसा?

पूज्य गुरुदेवश्री : श्वेताम्बर धर्म, धर्म ही नहीं है। बात तो ऐसी है, बापू! श्वेताम्बर और स्थानकवासी को तो अजैन में डाला है। मोक्षमार्ग प्रकाशक, टोडरमल, मार्ग ऐसा है, प्रभु! क्या कहें? आहाहा! अभी वाड़ा में है उसे समझ में नहीं आता तो उन्हें तो कहाँ (समझ में आये)? मार्ग ऐसा सूक्ष्म है, भाई! आहाहा! श्वेताम्बर पन्थ तो दो हजार वर्ष

पहले दिगम्बर में से निकला है और उसमें से भी पाँच सौ वर्ष पहले स्थानकवासी निकले हैं और उसमें से दो सौ वर्ष पहले तेरापन्थी तुलसी (निकले हैं)। लाडनू, तुलसी है न? तुलसी। स्थानकवासी में से वह निकला है। प्रभु! कठिन बात है, भाई! किसी व्यक्ति की बात नहीं है, वस्तु का स्वरूप ऐसा है। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं, तेरी धर्म भावना में ऐसी भावना कर कि तेरा भी कल्याण होओ और सभी जीवों का कल्याण होओ, ऐसी भावना कर। आहाहा! किसी को नुकसान होओ, ऐसी भावना तू नहीं करना। सब भगवान आत्मा है। वह भूल निकालकर भगवान हो जाए। तू भी भूल निकालकर भगवान हो जा और वह भी भूल निकालकर भगवान हो जाओ, ऐसी भावना कर। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! दो गाथा सूक्ष्म-सूक्ष्म (आयी)। पहले में तीन लाइनें थीं, दूसरी में तो दो ही लाइनें हैं। आहाहा!

भावार्थ :- अज्ञानी के कर्म के निमित्त से... निमित्त से, हों! उससे हुए नहीं। अपने में अपने अपराध से राग-द्वेष किये हैं। आहाहा! वह आता है न? गायन नहीं आता? 'पुण्य का नाम धराया, पुण्य-पाप का नाम धराया अपने को भूलके' गायन है न? हिन्दी में बहुत बार गायन बोलते हैं, भूल जाते हैं। हैं?

मुमुक्षु : भोगियों के भोग का मूल है, ऐसा कहते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह नहीं। वह तो कुछ गायन है।

मुमुक्षु : अनेक नाम धराये?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह।

मुमुक्षु : हम तो कबहु न निज घर आये। परघर फिरत....

पूज्य गुरुदेवश्री : 'हम तो कबहू न निज घर आये, हम तो कबहू न निजघर आये, परघर भ्रमत अनेक नाम धराये, परघर भ्रमत...' पुण्यशाली है और पापशाली है और ऐसा है और पैसेवाला है, सेठ है और राजा है और देव है... ऐसे परघर भ्रमत अनेक नाम धराये। 'अब हम कबहू न निजघर आये' सच्चिदानन्द प्रभु परमात्मा ने आनन्दकन्द आत्मा को देखा है, ऐसे आनन्द के घर में तू कभी आया नहीं। आनन्द का घर छोड़कर पर में भ्रष्ट हुआ। आहाहा! यह था, 'अब हम कबहू न निज घर आये, परघर भ्रमत अनेक नाम

धराये।' यह देव हुआ और यह सेठिया हुआ और यह दीन हुआ और गरीब हुआ, पण्डित हुआ और मूर्ख हुआ... यह पर के नाम अनेक धराये परन्तु निजघर भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु का कभी स्वीकार नहीं किया, उसका अनुभव नहीं किया, अनन्त काल हुआ परन्तु कभी उसकी दृष्टि नहीं की। जो करने का था, वह किया नहीं और जो नहीं करने का था वह अनन्त बार किया। आहाहा!

यह कहते हैं, **अज्ञानी के कर्म के निमित्त से जो...** भावार्थ (है)। निमित्त से, हों! निमित्त अर्थात् उससे हुए नहीं। **राग-द्वेष-मोहादि परिणाम होते हैं,...** इसमें से निकालते हैं, देखो! निमित्त से होता है। निमित्त से होता है, इसका अर्थ क्या? उसकी दृष्टि निमित्त के ऊपर है तो राग-द्वेष-मोह उत्पन्न हुए तो निमित्त से उत्पन्न हुए, ऐसा कहने में आया। निमित्त तो जड़ है। आत्मा की पर्याय को जड़ की पर्याय कभी स्पर्श नहीं करती। क्योंकि जड़कर्म उदय चीज़ है, वह अपने राग को स्पर्श नहीं करता और राग है, वह जड़कर्म है, उसे कभी नहीं छूता। एक-दूसरे में अभाव है, अत्यन्त अभाव है। कर्म की उदय की चीज़ और आत्मा में राग (होता है उन) दोनों के बीच तो अत्यन्त अभाव है। आहाहा!

अज्ञानी के कर्म के निमित्त से... यहाँ से निकालते हैं कि देखो! निमित्त से आया। परन्तु निमित्त से—इसका अर्थ क्या? अपने स्वभाव के आश्रय से विकार नहीं किया तो निमित्त के आश्रय से वश होकर विकार किया। समझ में आया? आहाहा! पर ने क्या किया? परचीज़ को तो कभी छूता नहीं। आहाहा! एक द्रव्य, एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! यह अँगुली है, वह शरीर को स्पर्श नहीं करती, ऐसा कहते हैं। बात कैसे जँचे? यह जड़ है और यह भी जड़ है, भिन्न चीज़ है। यह परमाणु भिन्न चीज़ है, यह परमाणु भिन्न चीज़ है।

एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता, ऐसा भगवान कहते हैं। समयसार की तीसरी गाथा। आहाहा! भारी भाई! सब्जी पर छुरी गिरती है न? छुरी। छुरी सब्जी को स्पर्श नहीं करती और सब्जी के टुकड़े होते हैं। यह बात कैसे बैठे? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। तीसरी गाथा में है। चूमता नहीं, ऐसा पाठ है। समयसार तीसरी

गाथा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! कठिन काम है, भाई! क्योंकि एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य के बीच में अत्यन्त अभाव है। दो के बीच में अत्यन्त अभाव है तो एक चीज़ दूसरी चीज़ को चूमे, ऐसा कभी नहीं होता। कठिन बात है, प्रभु! आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकर का हुकम कोई अलग प्रकार का है। आहाहा!

यह शरीर दूसरे शरीर को स्पर्श नहीं करता। कौन माने? स्त्री के शरीर को यह शरीर छूता नहीं करता, स्पर्श नहीं करता। चूमता नहीं, छूता नहीं, ऐसा भगवान कहते हैं। क्योंकि वह भी जड़ द्रव्य है और यह भी जड़ है, तो दो जड़ में अत्यन्तअभाव है। एक दूसरे में अभाव है। आहाहा! अरे! ऐसी बात कठिन पड़ती है, परन्तु क्या हो? भाई! परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का तो यह हुकम है, उनकी तो यह आज्ञा है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है, ऐसा परमात्मा फरमाते हैं। आहाहा! यह चश्मा है, वह नाक को छुआ ही नहीं है। कौन माने?

मुमुक्षु : आपके दृष्टान्त बहुत कठिन हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सिद्धान्त को समझाने के लिए दृष्टान्त है। चार पैसे का सेर तो मण के ढाई। मण के ढाई तो चार पैसे का सेर, यह चाबी है। इसी प्रकार एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य के बीच अभाव है, उनके दृष्टान्त की चाबी है। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! परमात्मा वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने तो अनन्त द्रव्य देखे हैं। अनन्त आत्मायें, यह अनन्त परमाणु, यह अनन्त परमाणु है न? यह एक नहीं। अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है। अन्दर आत्मा अत्यन्त भिन्न है। आत्मा शरीर को छुआ नहीं है, शरीर आत्मा को छुआ नहीं है। आहाहा! ऐसा अब गले उतारना। भभूतमलजी! सुखी होना हो तो उतारना पड़ेगा। नहीं तो मरकर हैरान हो जानेवाला है। आहाहा!

अज्ञानी के कर्म के निमित्त से जो राग-द्वेष-मोहादि परिणाम... 'मोह' शब्द से मिथ्यात्व। **होते हैं, वे ही पुनः आगामी कर्मबन्ध के कारण होते हैं।** लो! आहाहा! यह तो बहुत छोटी गाथा थी। अब जरा सूक्ष्म आयी।

गाथा - २८३ से २८५

कथमात्मा रागादीनामकारक एवेति चेत् -

अप्पडिकमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा।।२८३।।

अप्पडिकमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चखाणं पि।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा।।२८४।।

जावं अप्पडिकमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं।
कुव्वदि आदा तावं कत्ता सो होदि णादव्वो।।२८५।।

अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयम्।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता।।२८३।।

अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथाऽप्रत्याख्यानम्।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता।।२८४।।

यावदप्रतिक्रमण-मप्रत्याख्यानं च द्रव्य-भावयोः।
करोत्यात्मा तावत्कर्ता स भवति ज्ञातव्यः।।२८५।।

आत्मात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः।

यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोर्निमित्त-नैमित्तिकभावं प्रथयन्, अकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति। तत एतत् स्थितं परद्रव्यं निमित्तं, नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः।

यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्, तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषङ्गान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च।

ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु। तथा सति तु रागादीनामकारक एवात्मा।

तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावत्कर्तैव स्यात्।

यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च, यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात्।।२८३-२८५।।

अब प्रश्न होता है कि आत्मा रागादि का अकारक ही कैसे है? इसका समाधान (आगम प्रमाण देकर) कहते हैं-

अनप्रतिक्रमण दो भाँति, अनपचखाण भी दो भाँति है।
जीव को अकारक है कहा इस रीत के उपदेश से।।२८३।।

अनप्रतिक्रमण दो-द्रव्यभाव जु, योंहि अनपचखाण है।
जीव को अकारक है कहा इस रीत के उपदेश से।।२८४।।

अनप्रतिक्रमण अरु त्योंहि अनपचखाण द्रव्य रु भाव का।
जब तक करै है आतमा, कर्ता बनै है जानना।।२८५।।

गाथार्थ : [अप्रतिक्रमणं] अप्रतिक्रमण [द्विविधम्] दो प्रकार का [तथा एव] उसी तरह [अप्रत्याख्यानं] अप्रत्याख्यान दो प्रकार का [विज्ञेयम्] जानना चाहिए; [एतेत उपदेशेन च] इस उपदेश से [चेतयिता] आत्मा [अकारकः वर्णितः] अकारक कहा गया है।

[अप्रतिक्रमणं] अप्रतिक्रमण [द्विविधम्] दो प्रकार का है- [द्रव्ये भावे] द्रव्य सम्बन्धी तथा भाव सम्बन्धी; [तथा अप्रत्याख्यानम्] इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है-द्रव्य सम्बन्धी और भाव सम्बन्धी-[एतेन उपदेशेन च] इस उपदेश से [चेतयिता] आत्मा [अकारकः वर्णितः] अकारक कहा गया है।

[यावत्] जब तक [आत्मा] आत्मा [द्रव्यभावयोः] द्रव्य का और भाव का [अप्रतिक्रमणम् च अप्रत्याख्यानं] अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान [करोति] करता है [तावत्] तब तक [सः] वह [कर्ता भवति] कर्ता होता है, [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिए।

टीका : आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है; क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिभावों का कारक हो तो) अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान

का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध (दो प्रकार का) उपदेश है वह, द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ, आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है। इसलिए यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न माना जाए तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा, और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा, जिससे नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जाएगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिए परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो। और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है; (इस प्रकार यद्यपि आत्मा रागादि का अकारक ही है), तथापि जब तक वह निमित्तभूत द्रव्य का (-परद्रव्य का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता, तब तक नैमित्तिकभूत भावों का (-रागादिभावों का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता, और जब तक इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता, तब तक वह उनका कर्ता ही है; जब वह निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है, तभी नैमित्तिकभूत भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है, और जब इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान होता है, तब वह साक्षात् अकर्ता ही है।

भावार्थ : अतीत काल में जिन परद्रव्यों का ग्रहण किया था, उन्हें वर्तमान में अच्छा समझना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण है और उन परद्रव्यों के निमित्त से जो रागादिभाव हुए थे, उन्हें वर्तमान में अच्छा जानना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, भाव अप्रतिक्रमण है। इसी प्रकार आगामी काल सम्बन्धी परद्रव्यों को इच्छा रखना, ममत्व रखना, द्रव्य अप्रत्याख्यान है और उन परद्रव्यों के निमित्त से आगामी काल में होनेवाले रागादिभावों की इच्छा रखना, ममत्व रखना, भाव अप्रत्याख्यान है। इस प्रकार द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान-ऐसा जो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का दो प्रकार का उपदेश है, वह द्रव्य-भाव के निमित्तनैमित्तिक-भाव को बतलाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि-परद्रव्य तो निमित्त हैं और रागादिभाव नैमित्तिक हैं। इस प्रकार आत्मा रागादिभावों को स्वयमेव न करने से रागादिभावों का अकर्ता ही है, ऐसा सिद्ध हुआ। इस प्रकार यद्यपि यह आत्मा रागादिभावों का अकर्ता ही है, तथापि जब तक उसके निमित्तभूत परद्रव्य के अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है, तब

तक उसके रागादिभावों का अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है, और जब तक रागादिभावों का अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है, तब तक वह रागादिभावों का कर्ता ही है; जब वह निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करता है, तब उसके नैमित्तिक रागादिभावों का भी प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है, और जब रागादिभावों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है, तब वह साक्षात् अकर्ता ही है।

गाथा - २८३ से २८५ पर प्रवचन

अब प्रश्न होता है कि आत्मा रागादि का अकारक ही कैसे है? प्रभु! आप तो कहते हो कि पुण्य और पाप का कर्ता आत्मा नहीं है। यह आत्मा तो पुण्य-पाप राग का अकर्ता है। महाराज! यह किस प्रकार आप कहते हो? आहा! मुझे समझ में नहीं आया। मुझे शंका नहीं है परन्तु आशंका—समझ में नहीं आया कि आप क्या कहते हो? आहा! प्रभु! है? **आत्मा रागादि...** पुण्य-पाप के भाव का अकारक ही है। शुभ-अशुभभाव दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के परिणाम का आत्मा अकारक है। आहाहा! भारी बात, भाई! तो फिर यह धन्धा-फन्धा का कारक तो कहीं रह गया, वह तो अलग चीज़ रह गयी।

शिष्य का प्रश्न है। संस्कृत में है, देखो! **'कथमात्मा रागादीनामकारक'** ऊपर संस्कृत है। आहाहा! प्रभु! यह आप क्या कहते हो? क्या कहते हो? पुण्य-पाप के, राग-द्वेष के भाव का आत्मा कर्ता नहीं है। आप क्या कहते हो? कर्ता नहीं तो यह करता है और यह भोगता है कौन? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। आहाहा! भगवान आत्मा निर्मलानन्द प्रभु चैतन्यवस्तु, वह तो पुण्य और पाप, राग-द्वेषादि का कर्ता नहीं है। अकर्ता-अकारक है। किस प्रकार से है? वह अकारक है, वह किस प्रकार से है? आप कहते हो, वह मिथ्या नहीं है परन्तु मुझे समझ में नहीं आता। आशंका है। शंका नहीं। शंका में तो आप कहते हो वह झूठा है, यह शंका है। आप कहते हो, वह तो बराबर है परन्तु मुझे समझ में नहीं आता, यह आशंका। आहाहा! है प्रश्न?

ऐसा सुनकर प्रश्न होता है। आत्मा दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के राग का अकर्ता?

अकारक ही है, कर्ता है ही नहीं ? क्या कहते हो आप ? आहाहा ! उसका समाधान। ऐसा प्रश्न है, उसका समाधान। उसे उत्तर देते हैं। ऐसी जिज्ञासा जिसे अन्तर से हुई है, प्रभु ! यह आत्मा शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द नाथ, यह पुण्य-पाप के भाव का कर्ता नहीं ? अकारक है ? वह किस प्रकार से है ? मुझे समझ में नहीं आया, प्रभु ! ऐसा प्रश्न है। आहाहा ! प्रश्नकार तो प्रश्न करे। आपकी बात मिथ्या नहीं, हमें मिथ्या नहीं लगती परन्तु आप क्या कहते हो, वह मुझे समझ में नहीं आता। आत्मा पुण्य-पाप का अकर्ता ? तब क्या पर उनका कर्ता है ? आहाहा ! **इसका समाधान (आगाम प्रमाण देकर) कहते हैं-**

अप्पडिकमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा।।२८३।।

अप्पडिकमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चखाणं पि।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा।।२८४।।

जावं अप्पडिकमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं।
कुव्वदि आदा तावं कत्ता सो होदि णादव्वो।।२८५।।

अनप्रतिक्रमण दो भाँति, अनपचखाण भी दो भाँति है।
जीव को अकारक है कहा इस रीत के उपदेश से।।२८३।।

अनप्रतिक्रमण दो-द्रव्यभाव जु, योंहि अनपचखाण है।
जीव को अकारक है कहा इस रीत के उपदेश से।।२८४।।

अनप्रतिक्रमण अरु त्योंहि अनपचखाण द्रव्य रु भाव का।
जब तक करै है आतमा, कर्ता बनै है जानना।।२८५।।

थोड़ी सूक्ष्म बात है, हों ! टीका, टीका है ? **आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है;...** है ? टीका, टीका। है ? क्या है पढ़ना चाहिए। आत्मा... आहाहा ! प्रभु उत्तर देते हैं। शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हैं। प्रभु ! तूने ऐसा प्रश्न किया कि आत्मा राग-द्वेष का अकारक ? आत्मा राग-द्वेष को करता नहीं ? आप क्या कहते हो ? तो कहते हैं, आत्मा स्वयं रागादि का अकारक ही है। अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसमें से राग होता है, ऐसा कभी नहीं होता। वह शुद्ध चिदानन्द आत्मा प्रभु, उसमें से तो आनन्द और ज्ञान की दशा उत्पन्न होती है। ऐसा आत्मा है। आहाहा ! क्या कहा, समझ में आया ?

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का पिण्ड-दल है। वह तो अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान की पर्याय का कर्ता है। रागादि का कर्ता आत्मद्रव्य नहीं है। आहाहा! है ? पहली ही पंक्ति में यह डाला।

आत्मा स्वतः.. अपने से, निमित्त के आधीन हुए बिना, अपने से। आहाहा! अपने आधीन होकर। ज्ञानानन्द सहजानन्द प्रभु आत्मा, वह स्वतः अपने से। अपने में अनन्त गुण में विकार करनेवाला कोई गुण नहीं है। गुण अनन्त है। अपने में गुण संख्या से अनन्त है। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण है परन्तु कोई गुण विकार करे, ऐसा कोई गुण आत्मा में नहीं है। आहाहा! पर्याय में परलक्ष्य से विकार होता है, यह सिद्ध करना है। वस्तु स्वयं विकार करे, ऐसा कोई गुण वस्तु में नहीं है। आहाहा! समझ में आया ?

आत्मा स्वतः... अपने से पुण्य-पाप के भाव का अकारक ही है। क्यों ? **यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिभावों का कारक हो तो) अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।** क्योंकि भगवान ने राग और द्वेष से हट जाना, ऐसा कहा, वह नहीं बनता। यदि आत्मा कर्ता होवे तो उनसे हटना ही नहीं बनता। भगवान ने उनसे हटने का कहा कि राग और द्वेष से हटकर प्रतिक्रमण कर। हट जा। जो आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसकी दृष्टि करके, राग और द्वेष भाव है और जड़ निमित्त है, उससे हट जा। हट जा, कहने में आया तो आत्मा राग-द्वेष का कर्ता स्वयं से नहीं है। आहाहा! ऐसी बात। व्यापार के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। है ? आहाहा! क्या कहा ?

आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है;... क्यों ? **यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिभावों का कारक हो तो) अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान**... अर्थात् ? अप्रत्याख्यान और अप्रतिक्रमण अर्थात् राग से हटना और पर का लक्ष्य छोड़ना, ऐसा जो कहने में आया है, वही ऐसा बताता है कि आत्मा राग का कर्ता नहीं है। यदि राग का कर्ता होवे तो पर से हटना और अपने में आना, यह नहीं बन सकता। समझ में आया ? आहाहा! यह थोड़ी सूक्ष्म बात है। **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।** भगवान का तो उपदेश है कि राग और द्वेष, पुण्य और पाप के भाव से हट जा। तेरी चीज़ नहीं है। स्वभाव में आ जा—ऐसा कहा, वही

सिद्ध करता है कि स्वतः आत्मा अपने से राग-द्वेष का कर्ता नहीं है। समझ में आया? भाषा जरा सूक्ष्म है।

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध (दो प्रकार का) उपदेश है... भगवान का दो प्रकार उपदेश है कि द्रव्य जो परचीज़ है, वहाँ से हट जा और निमित्ताधीन होकर तुझे जो विकार होता है, उससे भी हट जा। क्योंकि तुझमें नहीं है। आहाहा! ऐसा जो भगवान का उपदेश है, वह ऐसा सिद्ध करता है कि आत्मा विकार का कर्ता नहीं है। यह तो पर के ऊपर दृष्टि करता है तो विकार का कर्ता होता है। यह तो पर के ऊपर दृष्टि करे तो। परन्तु अपने स्वभाव पर दृष्टि करे तो (राग उत्पन्न नहीं होता।) राग से हटने का उपदेश दिया, वही बात ऐसी सिद्ध करता है कि आत्मा अपने से विकार का कर्ता स्वतः नहीं है। समझ में आया? विशेष बात है....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३४६, गाथा-२८३ से २८५ गुरुवार, कार्तिक शुक्ल १२
दिनाङ्क - ०१-११-१९७९

समयसार, २८३ से २८५ गाथा। थोड़ा सूक्ष्म विषय है।

टीका :- आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है;... भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप, अपने आश्रय से राग-द्वेष का तो अकारक है। क्योंकि स्वभाव में मलिनता नहीं है। स्वभाव तो अनन्त गुण अत्यन्त पवित्र है। जो पवित्र है, उसका कर्तापना पवित्र की पर्याय में कर्तापना आवे, परन्तु उसमें राग का कर्तापना स्वयं स्व के आश्रय से हो नहीं सकता। सूक्ष्म बात है। आत्मा अपने से राग-द्वेष, मिथ्यात्व, राग-द्वेष, विषयवासना विकार आदि का स्वयं अकारक ही है। वस्तु स्वरूप से तो अकारक है। वस्तु पवित्र है। वह पवित्र स्वयं राग को, द्वेष को करे, ऐसा तो वस्तु में है नहीं।

क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिभावों

का कारक हो तो)... क्या कहते हैं ? आत्मा अपने आश्रय से यदि राग-द्वेष और पुण्य-पाप का कर्ता होवे तो। **द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।** आत्मा के अतिरिक्त जो परद्रव्य है, उसकी जो ग्रहणक्रिया है, उसके संस्कार हैं, उसे भला जानना, उसकी ममता, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण है। और उस निमित्त के आधीन अपने हुए पुण्य और पाप के भाव, उसे भाव अप्रतिक्रमण है। समझ में आया ?

वस्तु है चिदानन्द, ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप, वह अपने आश्रय से पुण्य और पाप, राग और द्वेष के भाव करे, यह तो है नहीं। स्वभाव तो अकारक है। परन्तु उस स्वभाव को भूलकर जो कुछ परद्रव्य गत काल में ग्रहण किये थे, उन परद्रव्य को लक्ष्य में लिया था, उन्हें भला जाना था, उसके संस्कार रहे हों, उसमें ममता रही हो, उसे द्रव्य अप्रतिक्रमण कहते हैं। और उसके निमित्त के आश्रय से अपने स्वभाव को भूलकर राग और द्वेष हुए हों, उन राग-द्वेष के संस्कार रहना, उनमें ममता रहना, उन्हें भला जानना, इसका नाम भाव अप्रतिक्रमण है। कहो, कितना याद रहा इसमें ?

द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण अर्थात् क्या ? कि द्रव्य अर्थात् इस आत्मा के अतिरिक्त जो परद्रव्य को ग्रहण किया था, ग्रहण अर्थात् लक्ष्य किया था और उन्हें भला जाना था, उनमें ममत्व रहे, उसके संस्कार रहे, इसका नाम द्रव्य अप्रतिक्रमण कहने में आता है। भगवान का यह उपदेश है कि यह द्रव्य अप्रतिक्रमण, पर के आश्रय से ममता होती है, उसे द्रव्य अप्रतिक्रमण कहना, और पर के आश्रय से होनेवाले जो पुण्य-पाप के भाव, निमित्त के आधीन होकर हुए विकारी भाव को भला जानना, (उनके) संस्कार रहना, ममता रखना, इसका नाम भाव अप्रतिक्रमण कहा जाता है। ऐसा जो उपदेश है, वह यह बताता है, निमित्त-निमित्त सम्बन्ध। परद्रव्य निमित्त है और विकारी परिणाम नैमित्तिक है। वस्तु स्वभाव निमित्त है और विकार परिणाम नैमित्तिक है, ऐसा है नहीं। समझ में आया इसमें ?

फिर से, यह वस्तु भगवान आत्मा है, वह तो अनन्त गुण का पिण्ड, सहज आत्मा, स्वभाव सागर, शुद्ध पवित्र स्वभाव का सागर है। वह अपने से विकार करे, अपने आश्रय से विकार करे, ऐसा कभी नहीं होता। वस्तु में विकार नहीं है। इसलिए वह अपने को भूलकर परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य करे और परद्रव्य को भला जाने, परद्रव्य के संस्कार रहे,

परद्रव्य में ममता रहे, इसका नाम द्रव्य अप्रतिक्रमण—द्रव्य (परद्रव्य) से छूटा नहीं। द्रव्य के लक्ष्य से छूटा नहीं। इसलिए उसे भाव का लक्ष्य हुआ नहीं। समझ में आया?

और उस परद्रव्य के निमित्त से, अपने नैमित्तिक जो पुण्य और पाप, राग-द्वेष आदि होते हैं, वे निमित्त के आधीन होते हैं, स्वभाव के आधीन नहीं। इसलिए उन निमित्ताधीन हुए विकारीभाव को जब तक भला जाने, संस्कार रहे, ममता रहे, तब तक उस भाव का भाव अप्रतिक्रमण कहने में आता है। उस भाव से विमुख नहीं हुआ, भाव से हटा नहीं। ऐसी बातें हैं। शब्द याद रहना मुश्किल है।

द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण। पश्चात् द्रव्य अप्रतिक्रमण के दो प्रकार और भाव अप्रतिक्रमण के दो प्रकार। निमित्त और अपना नैमित्तिक। पहले तो यह बात है कि आत्मा अपने से राग-द्वेष, पुण्य-पाप के विकार का अकारक ही है। स्वभाव के आश्रय से विकार हो, ऐसी वह चीज़ ही नहीं है। आहाहा! वह तो निमित्त के आश्रय से, निमित्त के लक्ष्य से, निमित्त की ममता में जाने से निमित्त का अप्रतिक्रमण है और निमित्त के आश्रय से होनेवाले विकारी (परिणाम का) अप्रतिक्रमण है। उसका जो उपदेश वीतराग ने कहा, उसका अर्थ हुआ कि अकेला आत्मा विकार का कर्ता नहीं है। मात्र निमित्त और निमित्त के आश्रय में जाता है, तब वह विकार का कर्ता होता है। समझ में आया? अरे! ऐसी बातें हैं।

यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिभावों का कारक हो तो)... आत्मा का स्वभाव यदि राग-द्वेष करने का होवे तो **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।** निमित्त (पर) तेरा लक्ष्य है, निमित्त के लक्ष्य से तुझे विकार होता है। वह द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान की अस्ति तेरे स्वभाव से नहीं है, वह निमित्त के आधीन होता है, इसलिए है। समझ में आया? यह पहाड़ा सूक्ष्म है। आहाहा! **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।**

द्रव्य अप्रतिक्रमण अर्थात् निमित्त जो परद्रव्य है, उसमें से विमुख न होना और उनके लक्ष्य में रहना, उन्हें भला जानना, इसका नाम द्रव्य अप्रतिक्रमण है। और उनके लक्ष्य से

हुए विकार को भला जानना, संस्कार रहना, ममता रहना, वह भाव अप्रतिक्रमण। कहा? **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का...** पर का, निमित्त का त्याग नहीं, आदर है और निमित्त के आश्रय से विकार होता है, उसका त्याग नहीं और आदर है, तब तक अप्रत्याख्यान है। समझ में आया? समझाणुं कांई, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

विगत कल ब्राह्मण आया था। 'पाघड़ी' का, यहाँ 'पाघड़ी' है न? (वह कहे), मैं मुम्बई में व्याख्यान सुनने आता था। ब्राह्मण है बेचारा, समझ में आया? आप ऐसा कहते थे। यह 'पाघड़ी' है न? मुम्बई में रहता होगा, जवान लड़का था। मैं व्याख्यान में आता था। आत्मा की बात बहुत अच्छी की। यह 'पाघड़ी' यहाँ है न? समझ में आया? आप ऐसा कहते थे। मैंने कहा, हाँ, बात सत्य है। पाँच रुपये रखे और इस प्रकार बोला, महाराज! मैं वहाँ सुनने आता था। अब यह बात ही ऐसी है। परिचय नहीं उसे यह बात बैठना कठिन पड़ती है। आहाहा!

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान। अर्थात् कि पर में से हटना और पर का त्याग करना। पर में से हटना—निमित्त से हटना, विकार से हटना, यह द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण और उनका त्याग करना, वह द्रव्य और भाव प्रत्याख्यान। त्याग न करना वह द्रव्य और भाव अप्रत्याख्यान।

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में... अब वापस दो प्रकार आये। पहले तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान (था)। अर्थात्? मात्र समुच्चय बात की थी। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का द्विविधपने का उपदेश, इतना (था)। उसमें द्रव्य और भाव के भेद नहीं किये थे। वे भेद अब डाले। परवस्तु निमित्त है, वह परद्रव्य है। उसके संस्कार रहना, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण और उससे हुए विकार के संस्कार रहना, वह भाव अप्रतिक्रमण तथा पूर्व के निमित्त का त्याग न करना, उस ओर का लक्ष्य छोड़ना नहीं और आश्रय लेना तथा उस ओर के होनेवाले विकार का त्याग न करना, वह अप्रत्याख्यान दो प्रकार का है—द्रव्य अप्रत्याख्यान, भाव अप्रत्याख्यान। द्रव्य अप्रतिक्रमण, भाव अप्रतिक्रमण। पाटनीजी! भभूतमलजी! ऐसा कहीं बहियों में आया नहीं होगा, वहाँ बहियों में कहीं सुना नहीं होगा। आहाहा! शान्ति से सुनना, भाई! यह तो वीतरागमार्ग है,

बापू! अनन्त काल में उसका वास्तविक तत्त्व इसे सुनने को मिला नहीं और सुनने को मिला हो तो दरकार की नहीं। सुनकर निकाल डाला कि यह तो होता है, होता है। स्वयं अपना क्या स्वरूप है, उस ओर इसने दृष्टि नहीं की। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि भगवान का ऐसा दो प्रकार का उपदेश है कि पर के निमित्त का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान। भेद बाद में डालेंगे, परन्तु पर का अप्रतिक्रमण और पर का त्याग नहीं। ऐसा जो भगवान का उपदेश है, वह ऐसा बताता है कि आत्मा अकेला अकारक है। यह तो पर का आश्रय करे तो कारक होता है। समझ में आया? ऐसी बात है। अब अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद दो प्रकार से है। पहले अप्रत्याख्यान और अप्रतिक्रमण के दो भेद कहे थे। अप्रत्याख्यान और अप्रतिक्रमण के दो भेद। अब एक-एक अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के दो-दो भेद (कहते हैं)। आहाहा! धीरे से समझना। ऐसा तुम्हारी बहियों में कहीं नहीं आया होगा। छह भाई बैठकर बातें करते थे। धूल की करते होंगे। यह क्या कहते हैं, यह समझना कठिन पड़े ऐसा है। आहाहा!

यहाँ ऐसा सिद्ध करना है कि प्रभु! तू आत्मा है। वह तो शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द निर्मलानन्द है। वह स्वयं अपने आश्रय से विकार करे, ऐसा तो बनता नहीं। क्योंकि उसमें विकार है नहीं। वह तो पवित्रता का पिण्ड है, भगवत्स्वरूप परमेश्वरस्वरूप है। तो परमेश्वरस्वरूप के आश्रय से अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ऐसे जो विकार के भेद यह उससे तो होते नहीं। समझ में आया? तब यह अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान बने कब? कि पर का त्याग न करे और पर के लक्ष्य में रहे, तब वह द्रव्य का अप्रतिक्रमण कहलाता है। और पर के लक्ष्य से हुए विकार का त्याग न करे और उसकी ममता न छोड़े, तब तक भाव अप्रत्याख्यान कहने में आता है और इसे भाव अप्रतिक्रमण कहने में आता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। यह तो सिद्धान्त है। वीतरागी सिद्धान्त है। यह कहीं वार्ता नहीं है, कथा नहीं है। आहाहा!

दो प्रकार का उपदेश है। **वह, द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,...** क्या कहते हैं? कि द्रव्य अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ऐसे दो भेद पहले कहे हैं। अर्थात् कि पर से हटा नहीं, पर में जुड़ा है और पर में राग-द्वेष किया करता है, उन दोनों में तू खड़ा है। अब ये दो हुए कैसे? कि निमित्त पर है और तेरे विकारी भाव

नैमित्तिक है। ऐसे निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से हुए हैं। तेरे स्वभाव के आश्रय से हुए यह हैं नहीं। आहाहा! ऐसा कब निवृत्त हो और फुरसत से मिलान करे? जिन्दगी चली जाती है। आहाहा!

द्विविध प्रकार का भगवान का उपदेश है कि निमित्त का लक्ष्य छोड़ दे और निमित्त से तुझमें होनेवाले भाव को छोड़ दे। ऐसा जो उपदेश है, वह ऐसा बताता है कि अकेला आत्मा राग का कर्ता नहीं है। अकेला आत्मा विकार का कर्ता नहीं है। उसे निमित्त-निमित्त सम्बन्ध में विकार होता है। उसे स्वभाव के सम्बन्ध में विकार नहीं होता। आहाहा! अटपटी बात है।

मुमुक्षु : धर्म क्या करना, यह समझ में नहीं आता?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसकी तो बात चलती है। जब तुझमें वस्तुस्वरूप तो धर्मस्वरूप पवित्र है ही। अब उसका आश्रय नहीं है, इसलिए तुझे पर का-निमित्त का आश्रय है। वह निमित्त अर्थात् परद्रव्य, उसका आश्रय है, उसका आश्रय छोड़ा नहीं तथा उसके आश्रय से होते विकार को छोड़ा नहीं, वह अधर्म है। और उस निमित्त का आश्रय छोड़ना तथा निमित्त के आश्रय से होते विकार का त्याग करना, उसका नाम धर्म है।

मुमुक्षु : उसका आश्रय छोड़े तो गरीब हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : गरीब ही है। पर से तो रहित ही है। क्या कहा, समझ में आया? इस पैसे का आश्रय छोड़े तो गरीब हो जाए। फिर मनुष्य पैसावाला न रहे (ऐसा कहते हैं)। यह सब करोड़पति और दो करोड़पति और यह सब करोड़पति रहे। फिर ये करोड़पति कहलाये नहीं, गरीब कहलाये। परन्तु थे कब पैसे इनके? पैसा परद्रव्य तो निमित्त है। वह परद्रव्य अच्छा है, भला है, यह संस्कार रहना, इसका नाम तो द्रव्य अप्रतिक्रमण है। और उस ओर के होते विकारभाव का त्याग न होना, इसका नाम वर्तमान भाव अप्रतिक्रमण है। और भविष्य के लिये निमित्त के संस्कार रहना और ममता रहना, वह भविष्य का अप्रत्याख्यान है। राग-द्वेष का त्याग न होना, वह भविष्य का अप्रतिक्रमण है। आहाहा! यह थोड़ी अटपटी बात है थोड़ी सूक्ष्म है। भाषा तो बहुत सादी आती है।

यह आत्मा अन्दर है, वह चैतन्यसूर्य, आनन्द का सागर है। आहाहा! शुद्ध

भगवन्तस्वरूप परमेश्वरस्वरूप है। उस परमेश्वरस्वरूप के आश्रय से विकार हो कहाँ से? उसमें है नहीं न। उसका कोई गुण विकार हो, ऐसा है नहीं तो उसके आश्रय से विकार हो कहाँ से? तब विकार होता तो है। तब प्रभु का उपदेश है कि विकार जो पर के लक्ष्य से होता है, उसकी ममता छोड़ और पर के लक्ष्य से विकार होता है, उसकी ममता छोड़। ऐसा छोड़ने का उपदेश कहा, वही बताता है कि आत्मा विकार का कर्ता नहीं है। स्वभाव से कर्ता नहीं है। शान्तिभाई! यह अटपटा है। वहाँ हीरा-माणिक जैसा नहीं है।

मुमुक्षु : उपयोग को स्थिर करे तो समझ में आये ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सत् उपयोग से इसे सत् देखना पड़े। आहाहा!

यहाँ तो एक ओर आत्मा तथा एक ओर परद्रव्य। इसलिए अब यदि आत्मा अकेला है... यह कहा न? स्वयं अकेला रागादिक का अकारक है। अकेला, निमित्त के आश्रय बिना और निमित्त के लक्ष्य बिना विकार ही होता नहीं। अपने लक्ष्य से और अपने आश्रय से तो विकार होता नहीं। क्योंकि वह तो पवित्र आनन्दकन्द प्रभु है। अब भगवान का उपदेश तो ऐसा है कि निमित्त का प्रतिक्रमण कर अर्थात् कि निमित्त का लक्ष्य छोड़ और निमित्त से होते राग का प्रतिक्रमण कर अर्थात् छोड़। छोड़, ऐसा कहने का आशय कि उसके स्वभाव में नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : गरीब हो जाना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : गरीब कब था? शरीर इसका नहीं। यह तो मिट्टी-धूल है। इसके कारण से आया है, इसके कारण से रहा है और इसके कारण से हट जाएगा। आहाहा! आज सुना है न? प्रेमचन्दभाई का, बहू को जरा सा दुःख हुआ, ऐसी देह छूट गयी। राणपुर। प्रेमचन्दभाई की बहू। ऐसे जरा सहज दर्द आया। जहाँ दर्द आया, कहा, वहाँ तो देह छूट गयी। छूटने में तो एक क्षण (हुआ), देर भी नहीं लगी। दर्द आया, आया, साथ में देह छूट गयी। राणपुर, अपने प्रेमचन्दभाई थे न? प्रेमचन्द मगनलाल राणपुरवाले। यह दो दिन पहले देह छूट गयी, लो! कुछ नहीं होता। जरा दर्द आया, साथ ही देह समाप्त हो गयी, छूट गयी एकदम। परन्तु इसकी चीज़ कहाँ थी? वह तो संयोगी चीज़ है।

यहाँ तो दो प्रकार से बात की है कि संयोगी चीज़ के संस्कार रहना और संयोग के

लक्ष्य से हुए विकार के संस्कार रहना, ये दोनों अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है। आहाहा! जब तक इस शुद्ध चिदानन्द प्रभु आत्मा का अनुभव न आवे, मैं आनन्द शुद्ध चैतन्य हूँ—ऐसी दृष्टि न हो, तब तक निमित्त का भी त्याग नहीं है, उसका लक्ष्य; और निमित्त के आधीन होते विकार का त्याग नहीं, वही द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान कहने में आता है।

दोष होता है अपने में, परन्तु उस दोष का लक्ष्य है परद्रव्य। क्योंकि दोष स्वद्रव्य के लक्ष्य से नहीं होता। स्वद्रव्य में दोष है ही नहीं। आहा! मात्र पर्याय में दोष होता है। आहाहा! वह लक्ष्य ऐसे पर में जाता है, इसलिए उसे निमित्त का भी त्याग नहीं है। निमित्त की ममता—मेरी है, ऐसा रहता है और उससे होता विकार, वह भी मेरा है—ऐसी उसकी ममता रहता है और प्रभु ने कहा कि द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण दोनों को छोड़ उसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा अकेला राग का कर्ता नहीं। मात्र पर के निमित्त के सम्बन्ध में जाता है तो राग का कर्ता अज्ञानभाव से होता है। आहाहा! समझ में आया? मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! यह गाथा ऐसी आयी है।

मुमुक्षु : परन्तु द्रव्य में कहाँ राग है? प्रभु!

पूज्य गुरुदेवश्री : परवस्तु-निमित्त में लक्ष्य जाता है। वह करता कहाँ है? हीरा-माणिक पर लक्ष्य जाता है या नहीं? लक्ष्य जाता है, उसकी वापस ममता थी कि यह ठीक होता है।

मुमुक्षु : लक्ष्य जाए या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : लक्ष्य जाता है न। यहाँ लक्ष्य नहीं है, इसलिए वहाँ लक्ष्य जाता ही है। जाता है, इसलिए इसे परद्रव्य की ममता रहती है। आहाहा! परद्रव्य के संस्कार रहते हैं कि यह होवे तो ठीक। और उसके निमित्त से होते विकार, उसे ठीक है—ऐसा मानता है। यह भी द्रव्य और भाव से अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इसके भाव में वर्तते हैं। इसलिए वस्तु का स्वभाव दृष्टि में है नहीं और इसीलिए तो भगवान ने उपदेश किया कि यह द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण है, उसे छोड़। इसका अर्थ हुआ कि स्वभाव में वह है नहीं। उसे छोड़ा जा सकता है। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वभाव नहीं है इसलिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु तो चिदानन्द भगवान परमेश्वर है। आहाहा! भगवत्स्वरूप है, त्रिकाल निरावरण है। त्रिकाल अखण्ड एक स्वरूप परमात्मस्वरूप है। उसके आश्रय से तो विकार होता नहीं। उसमें है नहीं, कहाँ से हो? इसलिए विकार है अवश्य और इसलिए प्रभु ने कहा कि निमित्त की ममता छोड़ और निमित्त से होते विकार की ममता छोड़। छोड़ -ऐसा कहने में आया, इसका ही अर्थ हुआ कि स्वतः अकेला आत्मा निमित्त के अवलम्बन बिना (विकार का) कारक नहीं है। निमित्त का अवलम्बन करता है और विकार करता है; इसलिए विकार का कर्ता होता है। ऐसा अटपटा है। आहाहा!

धीरे से समझे, धीरे से समझे। यह समझ में आये (ऐसा है)। आचार्यों ने, समझते हैं, उन्हें समझाया है न? यह आत्मा है, अन्दर भगवान है और वह समझ सकेगा, उसे समझाते हैं न? राग को समझाते हैं? शरीर को समझाते हैं? आहाहा! एक मनुष्य को प्यास लगी, तृषा। घर में हजार का, पाँच हजार का घोड़ा हो, या बैल हो, उसे कहे कि पानी लाना। प्यास लगी हो तो पानी लाना, ऐसा कहेगा? क्योंकि वह मेरी बात समझेगा नहीं परन्तु आठ वर्ष की लड़की होगी, उसे कहेगा कि बेटा! पानी लाओ। क्योंकि वह समझता है कि मेरी बात यह समझेगी। घोड़ा को नहीं कहता, आठ वर्ष की लड़की को कहेगा। इसी प्रकार यहाँ परमात्मा कहते हैं, हम कहीं राग को और शरीर को यह नहीं समझाते। अन्दर समझनेवाला है, उसे समझाते हैं। आहाहा! और वह समझनेवाला भगवान आत्मा शुद्ध पवित्र है, भगवत्स्वरूप है। भगवत्स्वरूप, भगवत्स्वरूप के आश्रय से विकार करे और पर का लक्ष्य करे, ऐसा नहीं बनता। आहाहा! वह अपने भगवत्स्वरूप को भूलकर, जब स्वद्रव्य को भूलता है, तब उसे परद्रव्य की ममता होती है। स्व के पवित्रता के गुण को भूलता है, तब उसकी पर्याय में राग-द्वेष होते हैं। आहाहा! यहाँ द्रव्य और गुण जहाँ पवित्र है तो यहाँ परद्रव्य और पर के आश्रय से होता विकार, वह दोष है। उसे छुड़ाते हैं। भगवान ने ऐसा कहा कि उसे छोड़। वह अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दोष है, ऐसा कहते ही आत्मा स्वतः अपने से विकार का कर्ता नहीं है। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से वह विकार का कर्ता होता है।

मुमुक्षु : परद्रव्य का त्याग किया नहीं जा सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहाँ कहा? परद्रव्य का लक्ष्य छोड़, परद्रव्य का लक्ष्य छोड़। परद्रव्य छोड़ना, यह बात नहीं है। उसका लक्ष्य, उसकी ममता छोड़ना, यह छोड़ना है। परद्रव्य तो परद्रव्य है। वह मेरा है और मुझे लाभदायक है; यह पैसा मेरा है, यह स्त्री मेरी है, पुत्र मेरा है, मकान मेरा है—ऐसी जो ममता है, वह तुझे नुकसान करनेवाली है। परद्रव्य कुछ नुकसान नहीं करता। आहाहा! गजब बात।

आचार्य क्या कहते हैं? आत्मा अकारक क्यों है? कि प्रभु ने अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दो प्रकार का उपदेश किया न? तो इसका अर्थ हुआ कि निमित्त के आश्रय से विकार होता है और निमित्त की ममता रहती है। पर के आश्रय से ममता (होती है)। स्व के आश्रय से विकार कभी होता ही नहीं। पर के आश्रय से ममता होती है और स्व के आश्रय से तो मैं शुद्ध हूँ, ऐसी दृष्टि होती है और स्व के आश्रय से गुण प्रगटें तो अन्दर पवित्रता प्रगटे। आहाहा! स्व के आश्रय से तो मैं द्रव्य हूँ, परिपूर्ण हूँ, ऐसे द्रव्य की प्रतीति होती है और उसके गुण पवित्र हैं, उसका आश्रय ले तो निर्दोष गुण की पवित्रता प्रगट होती है। आत्मा उसका लक्ष्य नहीं करता, इसलिए तो वह विकार और पर का कारक नहीं, परन्तु निमित्त के लक्ष्य से, निमित्त के होते भाव से—निमित्त से होते नैमित्तिकभाव से दोनों का उसे अत्याग है, दोनों का उसे अप्रतिक्रमण है, इसलिए उसे दोष है, इसलिए उसे छोड़, ऐसा कहने में आता है। इसमें होवे, उसे नहीं छोड़ा जा सकता। इसमें नहीं है, उसे छोड़ा जा सकता है, ऐसा तो उपदेश है। आहाहा! इसमें कहीं टाईल्स-बाईल्स में ऐसा सुना था? तुम्हारे क्या कहलाता है वह? 'थाणा' 'थाणा'! थाणा में तुम्हारे घर उतरे थे न? कमरे पर उतरे थे न? वहाँ सब पत्थर पन्द्रह लाख का। आहाहा! ऐसी बात, प्रभु! सुनना भी कठिन, भाई!

यहाँ तो एक ओर आत्मा शुद्ध चैतन्य वस्तु, द्रव्यस्वभाव; द्रव्यस्वभाव, द्रव्य शुद्ध और उसका स्वभाव शुद्ध, ऐसा जो भगवान आत्मा, वह स्वयं अपने से अपने आश्रय से विकार करे और निमित्त द्रव्य की ममता करे, ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा! मात्र उसे भूलकर, अपनी जाति, आनन्द की जाति को भूलकर, इस द्रव्य की दृष्टि नहीं; इसलिए

परद्रव्य के लक्ष्य से, परद्रव्य मेरे हैं, ऐसी ममता खड़ी करता है। उसे द्रव्य अप्रतिक्रमण कहा जाता है। भविष्य में उसका त्याग न करे तो द्रव्य अप्रत्याख्यान कहलाता है और उसके निमित्त से होनेवाला राग, उसका त्याग न करे तो उसे भाव अप्रतिक्रमण कहलाता है। भविष्य के लिये त्याग न करे तो भाव अप्रत्याख्यान कहलाता है तथा भविष्य का वर्तमान में त्याग करे दोनों का तो द्रव्य और भाव का प्रतिक्रमण हुआ और भविष्य के लिये (त्याग) करे तो द्रव्य और भाव का प्रत्याख्यान हुआ। पाटनीजी! ऐसा अटपटा मार्ग। वह तो... हो गयी सामायिक और हो गया प्रतिक्रमण। अरे! प्रभु! भाई! प्रभु का मार्ग अलग, भाई! एक सेकेण्ड भी अनन्त काल में यह समझा नहीं। आहाहा!

यहाँ तो दो बात लक्ष्य में आयी। एक तो द्रव्य है न? उस पर लक्ष्य नहीं है, इसलिए परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है। परद्रव्य इसका होता नहीं, परन्तु जब यह द्रव्य मैं हूँ, ऐसा नहीं, तब परद्रव्य की ममता हुए बिना नहीं रहती। अब यहाँ इस ओर देखो तो अकेला गुण का भण्डार है। प्रभु तो पवित्रता का भण्डार है। उसके ऊपर लक्ष्य नहीं है, इसलिए ऐसे देखने पर उसे विकार का भाव निमित्त के आधीन (होकर) नैमित्तिक होता है। निमित्त के आधीन नैमित्तिक होता है। निमित्त से होता है, ऐसा नहीं। इसमें बड़ा विवाद है। देखो! निमित्त-नैमित्तिक कहा है, इसलिए निमित्त से हुआ। निमित्त-नैमित्तिक कहा है, वह तो निमित्त के सम्बन्ध से करता है, इसलिए होता है, परन्तु निमित्त से होता है, ऐसा नहीं है। अभी यह बड़ा विवाद है। विद्यानन्दजी ने अभी यह डाला है न? नैमित्तिक निमित्त से होता है। निमित्त को इनकार करे, नैमित्तिक का इनकार करे, वह एकान्त मिथ्यात्व है। आहाहा! कर, भाई! क्या हो? सुननेवाले बेचारे...

मुमुक्षु : उसके ऊपर लक्ष्य करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लक्ष्य करता है। दूसरा तो क्या है? आहाहा! स्वद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर निमित्त का लक्ष्य करे, वह द्रव्य नहीं कराता। उसका लक्ष्य करे, तब निमित्त कहलाता है और निमित्त के आश्रय से स्वयं अपने में विकार होता है, (तब) वह स्वयं उसका अज्ञानभाव से कर्ता है। समझ में आया? निमित्त-निमित्त सम्बन्ध कहने से, निमित्त से हुआ है, ऐसा उसका अर्थ नहीं है; मात्र वह विकार होने में सामने की चीज़ निमित्त है, इसलिए उसे निमित्त-निमित्त सम्बन्ध कहा है। बाकी निमित्त को तो नैमित्तिक विकार स्पर्श

भी नहीं करता और विकार को निमित्त भी स्पर्श नहीं करता। एक दूसरे में तो अभाव है। आहाहा! ऐसी बात है।

यहाँ तो प्रभु को ऐसा कहना है, प्रभु! तू प्रभु है न! परमेश्वर है न! आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का दल है न, प्रभु! तो तेरे आश्रय से विकार हो, यह कैसे बने? विकार द्रव्य और गुण दोनों में नहीं है। आहाहा! द्रव्य एकरूप है, गुण अनेकरूप है। दोनों में दोष तो है नहीं। आहाहा! दोनों पवित्र हैं। अब दोनों को जब भूलता है, स्वद्रव्य वस्तु है, उसे भूलता है और परद्रव्य पर इसकी ममता जाती है। परद्रव्य इसे ममता कराता है, ऐसा नहीं। परन्तु निमित्त-नैमित्तिक का अर्थ इतना कि विकार करता है, वह निमित्त के लक्ष्य से करता है, इसलिए निमित्त कहा और जहाँ विकार हुआ, उसे नैमित्तिक कहा, तो निमित्त से भी छूटता नहीं और विकार से भी छूटता नहीं। इन दोनों को द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण कहा जाता है। और ऐसा दो उपदेश दिया, उसका अर्थ (यह है कि) छूट सकता है। क्योंकि उसमें है नहीं; इसीलिए आत्मा अकारक सिद्ध होता है। नेमचन्दभाई! ऐसी बात है। आज की बात सूक्ष्म है। यहाँ सुनने न आये हों और (कोई पूछे कि) क्या सुना? (तो कहे), कुछ कहते थे। ऐसे से ऐसे और ऐसे से ऐसे। बापू! मार्ग (अलग है)।

त्रिलोकनाथ... आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर, स्वयं सर्वज्ञ परमेश्वर हैं। यह प्रभु सर्वज्ञ परमेश्वर है। वे सर्वज्ञ परमेश्वर अपने आश्रय से सर्वज्ञ परमेश्वर में अपने आश्रय से अवगुण कैसे हो? स्वयं तो सर्वज्ञ परमेश्वर का पिण्ड प्रभु है। आहाहा! इसलिए परमात्मा कहते हैं कि सर्वज्ञ परमेश्वर के स्वद्रव्य को भूलकर परद्रव्य पर इसकी ममता जाती है, तब परद्रव्य को निमित्त कहने में आता है और इससे हुए विकार को नैमित्तिक कहने में आता है। इन दोनों से सुलटा नहीं उसे द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण कहा जाता है। और अप्रतिक्रमण, छोड़ने का जो कहा, उसका अर्थ यह है कि इसमें नहीं है, इसलिए छूट सकता है। निमित्त का लक्ष्य है, वह छूट सकता है और निमित्त से होते विकार के भाव भी छूट सकते हैं। क्योंकि इसमें नहीं है। अरे रे! ऐसा मार्ग है। सूक्ष्म पड़े ऐसा है। आहाहा! वीतराग... वीतराग... वीतराग... आहाहा! क्या कहा?

आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है;... यह लाईन, यह पहली लाईन। क्या कहा? भगवान आत्मा स्वयं से तो विकार का अकारक ही है। आहाहा! क्योंकि द्रव्य

और गुण तो अत्यन्त पवित्र का पिण्ड, भगवन्तस्वरूप, परमेश्वरस्वरूप है। उसे अपने आश्रय से विकार कैसे हो? इसलिए स्वयं तो विकार का अकर्ता द्रव्यस्वभाव है। समझ में आया? आहाहा! आहाहा! **यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिभावों का कारक हो तो)...** ऐसा। स्वयं से राग-द्वेष का कारक होवे तो **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का...** भगवान का उपदेश किसलिए है? यह दोनों है, दोष है, इनका त्याग कर। इसका अर्थ हुआ कि यह तेरे स्वभाव में नहीं है और तूने पर्याय में खड़े किये। इनका त्याग कर, ऐसा जो उपदेश आया, इसका अर्थ यह कि आत्मा अकारक है। आहाहा! समझ में आया? धीरे से समझना, बापू! यह कोई वार्ता नहीं है। यह तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर के अन्तर के अभिप्राय की बातें हैं। आहाहा!

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता। क्योंकि यह दोष है, यह अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है और इसीलिए इन्हें छोड़ा जा सकता है, ऐसा जो भगवान का उपदेश है, वह ऐसा सिद्ध करता है कि आत्मा स्वयं से विकार का अकारक है। मात्र निमित्त के आधीन जाता है, तब विकार करता है। वह पर्याय में पर्यायदृष्टि करता है, दूसरे प्रकार से ऐसा कहना है। द्रव्यदृष्टि छोड़ता है और पर्यायदृष्टि करता है, तब पर्यायदृष्टिवाला निमित्त के आधीन जाता है। वह निमित्ताधीन जाता है, इसलिए उसमें विकार होता है। इन दोनों का त्याग कर, ऐसा कहा, इसका अर्थ यह हुआ कि अकेला आत्मा विकार का कर्ता नहीं है। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से व्यवहार से अध्धर से खड़ा होता है। निमित्त द्रव्य और विकारीभाव एक समय की पर्याय में निमित्त-नैमित्तिक में खड़े होते हैं। वस्तु में है नहीं। आहाहा! समझ में आये ऐसा है, भाई! आठ वर्ष के बालक केवल(ज्ञान) पाये हैं, भाई! आहाहा! ऐसी महिमा सुनकर... आहाहा!

भगवतस्वरूप आत्मा, वह स्वयं तो राग का, संसार के विकार का अकारक है। आहाहा! ऐसी बात सुनकर, जहाँ आठ-आठ वर्ष के बालक, राजकुमार, चक्रवर्ती के पुत्र भी चल निकले। हम हमारे स्वरूप में स्थिर होने के लिये वनवास में जाते हैं। हमें परद्रव्य और परद्रव्य के आश्रय से राग होता है, उसका हमारे त्याग है। हमें तो स्वद्रव्य और स्वद्रव्य के आश्रय से रहा हुआ गुण का हमारे तो आदर है। आहाहा! क्या कहा? भगवान स्वद्रव्य और उसके आश्रय से रहे हुए गुण, उनका हमारे तो आदर है। इसलिए उनके निमित्त और

निमित्त से होते विकार, दोनों का हमारे आदर नहीं है, हम छोड़ते हैं। यह छोड़ने का दोष बताया, वही ऐसा कहा कि वह छोड़ने योग्य है। अर्थात् कि आत्मा उसका कर्ता नहीं। द्रव्य कर्ता नहीं, गुण कर्ता नहीं। मात्र पर्याय में निमित्त की ओर, निमित्त की ममता होने से निमित्त का अप्रतिक्रमण और उसके आश्रय से होते विकार का अप्रतिक्रमण दोष होता है। उस दोष का उपदेश किया, इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा उस दोषरहित है। आहाहा! समझ में आये उतना समझना, प्रभु! यह तो कहीं पार आवे, ऐसा नहीं है। आचार्यों को जिस हृदय से कहना है, वह पाररहित शक्ति है। आहाहा! उसकी गम्भीरता (बहुत है)।

अध्धर से... प्रभु! तू निमित्त के आधीन (होकर) अध्धर से निमित्त की ममता करता है और अध्धर से निमित्त के आधीन विकार होता है, वह अध्धर से होता है, ऊपर-ऊपर पर्याय में (होता है)। वस्तु द्रव्य और गुण में वह कुछ है ही नहीं। आहाहा! वह द्रव्य और गुण जो है, उसकी जिसे दृष्टि हुई, उसे तो निमित्त लक्ष्य में से छूट गया और निमित्त के आश्रय से (होते) विकार, वह भी उसे छूट गया। ऐसी छूटने की जो व्याख्या की है, वही ऐसा कहती है कि इसके स्वभाव में वह नहीं है। इसलिए आत्मा विकार का अकारक है, ऐसा सिद्ध होता है। आहाहा! मणिलालभाई! मुम्बई में ऐसा कुछ सुनने को मिले, ऐसा नहीं है। धूल मिले, धूल वहाँ। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! सन्तों के हृदय में (यह) कहना है।

दो प्रकार की बात की। द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान—दो। पश्चात् दोनों के दो भेद। द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण। द्रव्य अप्रत्याख्यान, भाव अप्रत्याख्यान। दोनों निमित्त-निमित्त सम्बन्ध में होते हैं। और इसलिए उनका त्याग हो सकता है। निमित्त-निमित्त का सम्बन्ध है, वह तो तूने सम्बन्ध खोटा किया है, इसलिए हुआ है। वह सम्बन्ध छूट सकता है। इसलिए आत्मा स्वयं स्वतन्त्र विकार का अकारक सिद्ध होता है। आहाहा! समझ में आये, उतना समझना। आहाहा! प्रभु की बातें जोरदार बात है, भाई! यह दिगम्बर सन्त दुनिया को तो केवलज्ञान बताने के लिये खड़े हुए हैं! प्रभु! तू केवलज्ञान का पिण्ड है न, नाथ!

अकेला ज्ञानस्वभाव, आनन्दस्वभाव, अनन्त पवित्रस्वभाव—ऐसा जो द्रव्य, वह स्वयं स्वयंसिद्ध विकार करे कहाँ से? आहाहा! अपने द्रव्य के लक्ष्य से और गुण के आश्रय

से तो वह विकार होता नहीं। आहाहा! इसलिए द्रव्यदृष्टि छोड़कर अथवा गुण का धारक गुणी की दृष्टि और गुण की दृष्टि छोड़कर जिसमें निमित्त परद्रव्य है, जो तुझमें नहीं है, उसकी ममता में गया और इसलिए तेरे स्वभाव में नहीं, ऐसे जो विकार खड़े हुए, उनको द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण कहा, इसका अर्थ यह हुआ कि तेरे स्वरूप में वह है नहीं। वह छूट सकता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म आ गया आज तो। आहाहा!

वह, द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,... देखा? क्या कहते हैं? स्वभाव कारण और विकार कार्य, ऐसा तो उसमें है ही नहीं। स्वभाव कारण और कार्य तो स्वभाव निर्मल, ऐसा चाहिए। तब यह जो विकार होता है, वह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से होता है। अर्थात? है? **द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट...** करता है। वस्तु परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है और उससे फिर भाव होते हैं, वह भाव नैमित्तिक है, द्रव्य निमित्त है। परद्रव्य निमित्त है और निमित्त के आश्रय से होता भाव, वह नैमित्तिक है। निमित्त से हुआ नहीं। आहाहा! वापस इसमें कोई कहे कि, देखो! निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। सम्बन्ध का अर्थ स्वयं निमित्त के लक्ष्य से विकार किया, इसलिए निमित्त-निमित्त सम्बन्ध कहा, परन्तु निमित्त से विकार हुआ नहीं है। समझ में आया? आहाहा! मात्र स्वद्रव्य के आश्रय को छोड़कर परद्रव्य का लक्ष्य किया, इसलिए उसे निमित्त कहा गया और निमित्त के आश्रय से होते विकार को नैमित्तिक कहा गया। परन्तु नैमित्तिक होता है उसकी पर्याय में अपनी स्वतन्त्रता से। विकार का एक समय का परिणमन षट्कारक से स्वतन्त्र है, जिसे निमित्त की भी अपेक्षा नहीं, जिसे द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं। इस प्रकार अत्याग, अप्रत्याख्यान और अप्रतिक्रमण की विकारी दशा पर्याय में षट्कारकरूप से स्वतन्त्र परिणमती है। भाई! ऐसी बात है। सूक्ष्म।

समझ में आये उतना समझो, बापू! भगवान का मार्ग तो बहुत गूढ़ है। आहाहा! आचार्यों ने तो काम किया है... गजब काम किया है! दिगम्बर मुनियों ने तो निहाल कर डाला। केवलज्ञान को खड़ा रखा है। पाँचवें काल में केवलज्ञान खड़ा रखा है। आहाहा! प्रभु! अल्पकाल में मोक्ष जाए, ऐसी बात तुझे कहते हैं, हों! ऐसा कहे। आहाहा! क्योंकि तेरा स्वभाव ही मुक्तस्वरूप है। मुक्तस्वरूप के आश्रय से प्रभु! बन्ध का भाव कैसे होगा। आहाहा! वह बन्ध के भाव निमित्त के अवलम्बन से होते हैं। निमित्त से नहीं। स्वभाव के

आश्रय से नहीं तथा निमित्त से नहीं, परन्तु निमित्त के लक्ष्य से तुझमें तेरे अपराध से विकार का परिणमन षट्कारकरूप से कर्ता, कर्म, करण से तुझमें होता है। ऐसा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, वह संसार है। आहाहा! भारी कठिन काम।

मुमुक्षु : आप परद्रव्य छोड़ने का कहो, तो हमें भारी तकलीफ होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परद्रव्य छोड़ने का किसने कहा? परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ना है। परद्रव्य ग्रहण कब किया है कि उसे छोड़े?

मुमुक्षु : रुपये ग्रहे बिना सब्जी नहीं आती।

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपये ग्रहे नहीं और सुमनभाई को ग्रहा नहीं। घर का दृष्टान्त देते हैं न! आहाहा! मात्र उसे छोड़ना है या ग्रहण करना है, यह तो स्वरूप में है ही नहीं। परवस्तु के त्याग-ग्रहणरहित आत्मा है। आहाहा!

भगवान आत्मा त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति। पर का त्याग और पर के ग्रहण से तो प्रभु शून्य है। उसकी यहाँ बात नहीं है। उसका लक्ष्य करता है। (जिसका) त्याग है अथवा तुझमें नहीं है, उसका तू लक्ष्य करता है। और यहाँ द्रव्य तुझमें है, उसका लक्ष्य तू छोड़ देता है। आहाहा! भगवान भण्डार में... 'भण्डारी'... ऐई! भण्डारी! भण्डारी कहलाते हैं न? भण्डारीजी! यह अन्दर की भण्डारी की बात चलती है। यह तो सच्चा भण्डारी होने की बात है। भगवान! आहाहा! क्या बात! गजब बात की है न! इसकी तो गम्भीरता का पार नहीं।

यह तो ऐसा कहते हैं कि द्रव्य और गुण एकरूप और अनेकरूप भले हों परन्तु वे दोनों शुद्ध, पवित्र और ध्रुव है। उस पवित्र के आश्रय से, प्रभु! विकार कहाँ (होगा)? उसमें कहाँ विकार है? कोई गुण नहीं, कोई द्रव्य ऐसा नहीं कि विकार करे। आहाहा! तब कहे, यह विकार होता है न? और हमें तो आत्मा को विकार का अकारक सिद्ध करना है न! विकार होता है और हमें विकार का अकारक सिद्ध करना है न! किस प्रकार से? कि आत्मा तो अकारक ही है, परन्तु अपना लक्ष्य छोड़कर निमित्त के लक्ष्य में, ममता में जाता है। निमित्त को ग्रहता है या निमित्त कराता है, ऐसा नहीं है। निमित्त को ग्रहता है और निमित्त को छोड़ता है, ऐसा नहीं। परन्तु निमित्त पर लक्ष्य जाता है, तब उसके ऊपर इसकी ममता रहती है और उसके कारण से होता विकार—नैमित्तिक, वह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध में

विकार है, वह व्यवहारनय का विषय है। इसीलिए तो उसका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करने का कहा। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान नास्ति से बात की है, परन्तु उसका त्याग—प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करने का भगवान ने कहा है। क्योंकि उसका यदि होवे तो उसका त्याग नहीं हो सकता। आहाहा! समझ में आया? ऐसा है। यह उतरता है न सब इसमें (टेप में)? ठीक! सूक्ष्म है। भाग्यशाली को तो कान में पड़े, ऐसा है, बापू! आहाहा! तीन लोक के नाथ की बात है।

भगवान परमात्मा सीमन्धर भगवान, आहाहा! वे ऐसा कहते हैं, प्रभु! तू पूर्णानन्द का नाथ है न, नाथ! प्रभु! तू अपूर्ण नहीं, विकारी तो नहीं परन्तु अपूर्ण नहीं। आहाहा! तू तो पर्याय से भी, ऊपर तैरती पर्यायवाला द्रव्य है। आहाहा! ऐसे द्रव्य के लक्ष्य को तूने छोड़ा है, प्रभु! वह द्रव्य स्वयं तो विकार का अकारक सिद्ध करना है। क्योंकि द्रव्य के लक्ष्य से विकार नहीं होता। इसलिए उस पर के लक्ष्य से विकार हो, इसलिए पर का लक्ष्य छुड़ाना है और उससे होते विकार का लक्ष्य छुड़ाना है। क्योंकि वह वस्तु में नहीं है। प्रभु स्वयं तो अकारक है। कारक इस प्रकार बना है, उसे तू छोड़ दे। आहाहा!

पर्यायदृष्टि से निमित्त के अवलम्बन में ममता जाने से तुझे विकार हुआ है, प्रभु! आहाहा! ऐसा जो हमारा उपदेश है, वही ऐसा कहता है कि वह छूट सकता है, वह तेरी चीज़ में नहीं है। आहाहा! और इसीलिए तेरी चीज़ के कारण से विकार हुए हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह तो अध्धर से पर्याय में अध्धर से निमित्त के लक्ष्य से नैमित्तिक दशा, निमित्त-निमित्त सम्बन्ध खड़ा हुआ है, उसका भगवान प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान (करने का उपदेश देते हैं)। यहाँ तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है, इतना बताया है। परन्तु उसका उपदेश दिया, इसका अर्थ यह हुआ कि उसे छोड़ दे। आहाहा!

सूक्ष्म पड़े, भगवान! परन्तु विचारना, मनन करना। अरे! इसके जैसी चीज़, बापू! कब मिले? भाई! आहाहा! यह सब अनन्त बार मिला। धूल, अरबों रुपये मिले, राजा हुआ, राजकुमार हुआ... आहा! हजारों रानियाँ हुई, उसमें क्या हुआ? प्रभु! इस परद्रव्य को तू स्पर्शा भी नहीं। आहाहा! तब कहते हैं, यहाँ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध कहते हैं न? सम्बन्ध कहते हैं, वह तो तूने लक्ष्य किया है, इसलिए कहा। परन्तु निमित्त को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! तूने निमित्त का लक्ष्य किया, इसलिए उसकी ओर से विमुख नहीं होता, इसलिए

विमुख हो जा, ऐसा तेरा स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? आज का बहुत सूक्ष्म पड़ा। इसकी गम्भीरता का पार नहीं है। इसमें इतनी गहराई भरी है। आहाहा!

वास्तविक यह है कि वह जो पूरा तत्त्व है, वस्तु है, प्रभु! वह तो अनन्त... अनन्त... गुणों में बसी हुई वस्तु है। वह वस्तु है, उसमें बसे हुए गुण अनन्त हैं। वे अनन्त गुण और गुण से रही हुई वस्तु, उसके लक्ष्य से तो विकार कभी होता नहीं। क्योंकि द्रव्य और गुण में तो विकार है नहीं। आहाहा! उसके लक्ष्य को प्रभु! तूने अनादि से छोड़ा है और यह लक्ष्य किया है, यहाँ (वस्तु का) नहीं किया और ऐसे (पर का लक्ष्य) किया है। इसलिए तुझे निमित्त की ममता हुई है। निमित्त ने ममता करायी नहीं है। निमित्त की ममता तूने की है। निमित्त के लक्ष्य से फिर विकार हुआ, उसकी ममता भी तूने की है। आहाहा! इन दोनों का अप्रतिक्रमण, अप्रत्याख्यान कहा, दोष बताया, इसका अर्थ यह कि वस्तु में है नहीं और इससे उसका त्याग हो सकता है। विशेष कहा जाएगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३४७, गाथा-२८३ से २८५ शुक्रवार, कार्तिक शुक्ल १३
दिनाङ्क - ०२-११-१९७९

समयसार, २८३ से २८५ (गाथा)। फिर से टीका।

टीका :– आत्मा... जरा सूक्ष्म बात है। **स्वतः रागादि का अकारक ही है;**... भगवानस्वरूप आत्मा, वह भगवानस्वरूप ही है, वीतरागमूर्ति है, ज्ञायकस्वभाव है, पूर्ण पवित्र अनन्त गुण का पिण्ड है। वह आत्मा स्वयं से अकारक है। राग, पुण्य और पाप के भाव (होते हैं), उनका स्वभावभाव, वह कर्ता नहीं है। समझ में आया? आत्मस्वभाव चैतन्य ज्ञान-आनन्द पूर्ण आनन्दस्वरूप है, पूर्ण भगवानस्वरूप आत्मा है। वह वीतरागस्वरूपी भगवान वीतरागस्वभाव से भरपूर प्रभु इन दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभाशुभभाव को वह करता नहीं, वह अकर्ता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति प्रभु का स्वभाव शुद्ध चैतन्य वीतराग है। उसका स्वभाव

अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय ईश्वर-प्रभुता, अनन्त स्वच्छता, अनन्त स्वसंवेदन प्रकाशस्वभाव स्वरूप है। आहाहा! यह आत्मा अपने आश्रय से राग और द्वेष, पुण्य-पाप करे, ऐसा नहीं बनता। आहाहा! यह स्वयं से राग अर्थात् पुण्य-पाप के भाव का **अकारक ही है; क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिभावों का कारक हो तो)**... स्वयं से अपने स्वभाव से पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति ऐसे जो विकारी भाव (होते हैं), उनका यदि स्वयं आत्मा कर्ता हो तो **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।**

पण्डित जयचन्दजी ने तो दूसरा लिया है न? भाई! पण्डित जयचन्दजी। ऐसा कि यह अप्रतिक्रमण (और अप्रत्याख्यान) शब्द क्यों रखे हैं? शुद्धनय की अपेक्षा से निषेध से बात की है। भाई! पण्डित जयचन्दजी ने अर्थ किया है न? पण्डित जयचन्द। पण्डित जयचन्दजी ने ऐसा (लिया है) कि यह अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान शब्द क्यों लिये हैं? कि इन्हें शुद्धनय से बताना है, इसलिए दोष है, वह इसका नहीं है, (ऐसा कहना है)। नहीं तो कहना है तो प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान। राग से हटना है और स्वभाव में आना है, ऐसा इसका स्वरूप है, बताना है ऐसा। परन्तु यह शुद्धनय का कथन है, इसलिए प्रतिक्रमण होना, यह न लेकर अस्तिरूप से उसे अप्रतिक्रमण दोष जो है, वह दोष इसके स्वरूप में नहीं है, इसलिए दोष आता है। बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! यह गाथा बहुत सूक्ष्म है, सूक्ष्म है। आहाहा! पण्डित जयचन्दजी ने अर्थ किया है। आचार्य नहीं। कि यह अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान शब्द क्यों प्रयोग किया?

वास्तव में तो प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान दो ही कहना है। क्योंकि यदि वह वस्तु स्वरूप में वास्तविक विकार होवे तो उसका पुण्य—विकार का प्रतिक्रमण करना और विकार का प्रत्याख्यान करना, यह बन नहीं सकता। समझ में आया? आहाहा! स्वयं जाति इसकी शुद्ध चिदानन्द सिद्धस्वरूपी भगवान आत्मा अपने आप, अपने आश्रय से, अपने अवलम्बन से दया, दान, व्रत, भक्ति, पुण्य-पाप के भाव, उन्हें नहीं करता, क्योंकि विकार है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! ऐसा क्यों नहीं करता? कि भगवान ने तो दो प्रकार का उपदेश किया है। शुद्धनय से अप्रतिक्रमण, अप्रत्याख्यान शब्द प्रयोग किया है।

वास्तव में तो भगवान कहते हैं कि विकार से हट जा और भविष्य में विकार का भाव करना नहीं। ऐसे प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण कहने का भाव है, परन्तु यहाँ शुद्धनय का कथन है, इसलिए उसके स्वरूप में नहीं है, ऐसा जो विकार, अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का विकार, उस विकार को टालने का जो उपदेश कहा, उसका अर्थ यह हुआ कि उसके स्वरूप में विकार करने का स्वरूप नहीं है। यदि इसके स्वरूप में विकार करने का होवे तो स्वरूप नित्य है तो नित्य विकार करे, कायम विकार ही करे। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भगवान! प्रभु का मार्ग सूक्ष्म है, बापू! वीतराग जिनेश्वर की बातें बहुत सूक्ष्म है। अभी तो आजकल स्थूल बातें हो गयी हैं न? आहाहा!

यहाँ तो प्रथम ऐसा कहते हैं कि आत्मा वस्तु जो है प्रभु, वह अपने अवलम्बन से और अपने आश्रय से दया, दान, व्रत, भक्ति के विकार के परिणाम करे, ऐसा नहीं होता। क्योंकि उसके गुण में और द्रव्य में यह पवित्रता भरी है। तो यह पवित्र है, वह अपवित्रता को करे, ऐसा किसी प्रकार से बनता नहीं। आहाहा! तो कहते हैं, ऐसा क्यों कहा प्रभु ने? दो प्रकार का उपदेश दिया है न? कि विकार से वर्तमान में हटना और भविष्य के विकार होने न देना, ऐसा प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का उपदेश किया है। इसका अर्थ निषेध से, शुद्धनय से, अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान कहा है, दोष से वर्णन किया है। यह दोष वस्तु में नहीं है। ऐसे दोष से छूटता है, दोष से विमुख हो जाता है, इसलिए इसमें दोष करने का स्वभाव नहीं है। समझ में आया? आहाहा! है?

यह **उपदेश नहीं हो सकता। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध (दो प्रकार का) उपदेश है वह, द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,...** क्या कहते हैं? शान्ति से सुनने की बात है, प्रभु! यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का कथन, यह अन्यत्र कहीं है नहीं। वीतराग के अतिरिक्त ऐसी बात नाममात्र भी कहीं सत्य नहीं है। यह तो परमेश्वर जिनेश्वरदेव प्रभु महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं, वहाँ से यह वाणी आयी है। आहाहा! ऐसा कहते हैं कि प्रभु शान्ति से सुन, कि तेरा स्वरूप है, वह तो परमेश्वरस्वरूप है, भगवानस्वरूप है, वीतरागस्वरूप है, क्योंकि यदि वीतराग और परमेश्वरस्वरूप न हो तो उसकी पर्याय में परमेश्वर और वीतरागता आयेगी कहाँ से? जो अरिहन्त परमात्मा होते हैं, (उन्हें) अनन्त

केवलज्ञान, अनन्त केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, यह पर्याय में अनन्तपना आया, वह आया कहाँ से ? बाहर से आता है ? उसमें है। आहाहा!

भगवान आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीतरागता, अनन्त शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... ऐसा अनन्त शान्ति से भरपूर प्रभु है। वह अपने आप विकार करे, ऐसा नहीं बन सकता। अर्थात् ? अपने आप अर्थात् ? अपने अवलम्बन से वह विकार करे, ऐसा नहीं होता। तब कहे, विकार होता कैसे है ? यह कहा, देखो! कि **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध (दो प्रकार का) उपदेश है...** अर्थात् क्या कहते हैं ? कि जो विकार जीव करता है, उसमें उसे परद्रव्य का लक्ष्य है, स्वद्रव्य का लक्ष्य नहीं। भगवान शुद्ध चिदानन्द प्रभु है, उसकी दृष्टि नहीं, इसलिए वह परद्रव्य के लक्ष्य में जाता है। इसलिए उसे परद्रव्य की ममता होती है। परद्रव्य की ममता, परद्रव्य के संस्कार और परद्रव्य मेरे हैं, ऐसा भाव उसे होता है और वह निमित्त नहीं कराता, परद्रव्य वह नहीं कराता। करता है स्वयं, परन्तु पर के लक्ष्य से (करता है)। इसलिए द्रव्य वह और उसके प्रति लक्ष्य स्वयं विकारी भाव करता है। यह दो निमित्त-निमित्त सम्बन्ध का जो उपदेश है, वह ऐसा बताता है कि स्वयं अपने आप विकार करे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म गाथा, बापू! आहाहा!

सादी भाषा में कहें तो वह वीतरागमूर्ति प्रभु अनाकुल आनन्द का सागर, उस आनन्द के सागर के अवलम्बन से दुःखरूपी विकार भाव को करे किस प्रकार ? समझ में आया ? भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द सच्चिदानन्द प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर, वह अतीन्द्रिय आनन्द स्वयं (दुःख को किस प्रकार करे) ? अपने में तो अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान है। वह स्वयं किस प्रकार विकार, दुःख और राग (करे) ? दया, दान, काम, क्रोध के परिणाम राग है, वह दुःख है, तो आनन्दस्वरूप भगवान दुःख को करे किस प्रकार ? उसमें दुःख का करने का स्वरूप है नहीं। आहाहा! सूक्ष्म पड़ेगा, प्रभु! वस्तु भी ऐसी सूक्ष्म है। आहाहा! भभूतमलजी! इस समय ऐसी बात में बराबर मौके से (उपस्थित) हो। आहाहा!

शान्ति से देखो तो कहते हैं कि, तेरा स्वरूप जो शाश्वत है, नित्य शाश्वत है, वह तो शान्त, अकषाय, आनन्द, वीतरागता... आहाहा! शुद्धता चिद्घन ज्ञान का पिण्ड आनन्द का कन्द है। ऐसा जो गुण का समुद्र प्रभु! वे सब गुण पवित्र हैं, उन पवित्र का समुद्र प्रभु! वह अपने अवलम्बन से, गुण के अवलम्बन से, विकार किस प्रकार करे? समझ में आया? आहाहा! तब कहता है, उसमें विकार होता है, इसीलिए तो प्रभु ने प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कहा कि विकार से हट जा और भविष्य का विकार करना नहीं। ऐसा जो प्रतिक्रमण और (प्रत्याख्यान का) उपदेश दिया, वह ऐसा बताता है कि निमित्त के ऊपर इसका लक्ष्य जाता है, इसलिए इसे निमित्त की ममता होती है। यह निमित्त (स्व) द्रव्य है, उस पर दृष्टि नहीं जाती और इसलिए यहाँ द्रव्य—परद्रव्य पर दृष्टि जाती है, इसलिए उसे यह द्रव्य मैं हूँ, ऐसा नहीं हुआ, तब यह निमित्त, वह मैं हूँ, वह मेरा है—ऐसी उसकी ममता हो गयी। वह परद्रव्य ने कराया नहीं, परद्रव्य में—निमित्त में—उसका लक्ष्य गया और इसलिए परद्रव्य को द्रव्य कहा और उसके लक्ष्य से होते भाव, पुण्य-पाप विकार को भाव कहा। वह द्रव्य द्रव्य के और भाव के निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। समझ में आया? आत्मा कारण और विकारी कार्य, ऐसा आत्मा में स्वभाव है ही नहीं। आहाहा! गजब बात करते हैं। ऐसी बात दिगम्बर मुनि केवलज्ञानी के पथानुगामी हैं। बातें बहुत सूक्ष्म है, बापू! लोग बाहर की प्रवृत्ति में रुक गये, सत्य पड़ा रहा एक ओर।

कहते हैं कि वह प्रभु तो पूर्णानन्द और अतीन्द्रिय शान्ति का सागर है न, नाथ! उस शान्ति के आश्रय से अर्थात् अकषायस्वभाव के आश्रय से अर्थात् वीतराग और अतीन्द्रिय आनन्द के आश्रय से विकार किस प्रकार हो? वह स्वयं तो विकार की अकारक वस्तु तो है। वस्तु का स्वरूप तो विकार का (अकारक है)। दया, दान और व्रत के परिणाम का विकार का भी कर्ता वह आत्मा नहीं है। आहाहा! तब कहे, यह हुआ क्या वह? कि तब प्रभु ने कहा न, कि भाई! तू विकार से हट जा। क्योंकि तेरे स्वभाव में नहीं है। भविष्य का विकार करना नहीं क्योंकि भविष्य में भी तू पवित्र है, तुझमें दोष रहेगा नहीं। आहाहा! यह सूक्ष्म है। तुम्हारे रुपये में समझ में आये ऐसा नहीं है वहाँ।

मुमुक्षु : कहाँ समझ में आये?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ तो वह रुपया-धूल समझ में आये। यह करोड़ोंपति व्यक्ति है।

मुमुक्षु : करोड़ोंपति तो समझ जाता है...

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! धूल में नहीं, यही कहते हैं। तेरा द्रव्य जो वस्तु आनन्दस्वरूप है, उसका यदि लक्ष्य करे, तब तो विकार होगा ही नहीं। तब तेरे द्रव्य पर दृष्टि नहीं होने पर तेरा लक्ष्य कहीं अन्यत्र, दूसरी चीज़ पर लक्ष्य है, फिर तो वह पैसा, स्त्री, परिवार, कर्म, चाहे जो, उस परद्रव्य के निमित्त पर तेरा लक्ष्य है, इसलिए तुझे निमित्त के संस्कार रह गये हैं। तूने निमित्त को भला माना है। वही द्रव्य का अप्रतिक्रमण है और उसके लक्ष्य से जो विकार हुआ, उससे तू छूटता नहीं, यही विकार का अप्रतिक्रमण है। वह निमित्त का अप्रतिक्रमण है, यह विकार का अप्रतिक्रमण है। पाटनीजी! धीरे से बात समझने की है, बापू! आहाहा!

भगवान आत्मा! ऐसा बुलाते हैं। आचार्य तो ऐसी पुकार करते हैं—भगवान आत्मा! आहाहा! चाहे तो एकेन्द्रिय का, दोइन्द्रिय का, त्रीन्द्रिय का चाहे जो आत्मा हो, (वह) वस्तु है, द्रव्य है, द्रव्य है। वस्तु है, उस वस्तु में बसे हुए अनन्त पवित्र गुण हैं। सब आत्माएँ वे भगवत्स्वरूप ही हैं। आहाहा! भगवत्स्वरूप से विरुद्ध विकार भाव को भगवान के आश्रय से, भगवान के स्वरूप के आश्रय से कैसे करे? इसीलिए तो प्रभु का प्रतिक्रमण—प्रत्याख्यान का उपदेश है कि तू इस विकार में से हट जा, पर के निमित्त के लक्ष्य को छोड़ दे और निमित्त के लक्ष्य से विकार होता है, उसे भी छोड़ दे। ऐसा जो उपदेश किया, उसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा स्वयं अपने से विकार करे, ऐसा है नहीं। निमित्त के लक्ष्य में जाए तो निमित्त-निमित्त सम्बन्ध में विकार होता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं। आहा!

यहाँ तो शुभभाव यह दया का, दान का, भक्ति का, व्रत का, पूजा का, यात्रा का यह राग, राग है। यहाँ तो यह कहते हैं कि यदि आत्मा राग का कर्ता हो तो आत्मा तो सदोष हो जाए और आत्मा तो निर्दोष त्रिकाल पवित्र है। इसलिए स्वयं पवित्र परमात्मा उस राग का कर्ता है ही नहीं। आहाहा! राग का अकर्ता है। आहाहा! अर्थात् कि सम्यग्दृष्टि होता है, उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है। इसलिए वह सम्यग्दृष्टि राग का कर्ता नहीं होता। आहाहा!

क्योंकि दृष्टि में विषय द्रव्य हैं और द्रव्य पवित्रता का पिण्ड है। इसलिए वह दृष्टि के विषयवाला समकिती राग होता है, उसका कर्ता नहीं होता, उसका जाननेवाला रहता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। अब ऐसा उपदेश। पकड़ में नहीं आवे ऐसा उपदेश। प्रभु का ऐसा उपदेश है, बापू! आहाहा!

अनन्त काल भटकते हुए हुआ। चौरासी लाख के अवतार (किये)। एक-एक योनि, चौरासी लाख योनि में एक-एक योनि में अनन्त अवतार किये, प्रभु! मुनिपना भी अनन्त बार लिया है, दिगम्बर मुनि अनन्त बार हुआ परन्तु आत्मज्ञान नहीं किया। यह राग की क्रिया करके माना कि हम साधु हैं और उसके कारण स्वर्ग में जाए। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै (निज) आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' छहढाला में है। आहाहा! प्रभु! तेरी पवित्रता के पिण्ड को तूने कभी देखा नहीं, जाना नहीं, उसका आदर किया नहीं। कहो, भण्डारीजी! बड़े भण्डारी तो यह बैठे। आहाहा! यह बड़ा भण्डारी यहाँ है। आहाहा!

भगवान परमात्मा का पुकार है कि तुझमें तो अनन्त.. अनन्त.. आनन्द आदि पवित्र गुणों का सागर, भण्डार है न, प्रभु! वह गुण और द्रव्य, वे विकार को किस प्रकार करे? निर्विकारी चीज़ वह विकार को किस प्रकार करे? तब कहे, उसमें विकार होता है न? यह संसार है न? भटकता है न? (तो कहते हैं) बापू! वह है, वह टालने योग्य है, ऐसा समझाने के लिये प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का भगवान ने उपदेश कहा। इसलिए कहते हैं, पर के लक्ष्य को छोड़ और पर के लक्ष्य से होते विकार को भी छोड़। आहाहा! स्व का लक्ष्य कर और स्व के आश्रय से है, उस पवित्र को प्रगट कर। आहाहा! समझ में आया? गाथा बहुत सूक्ष्म आयी है, बापू!

यह तो दिगम्बर सन्तों की वाणी कहीं है नहीं। वीतराग के अतिरिक्त, सर्वज्ञ के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं है नहीं। समझना बहुत कठिन पड़े। आहाहा! यह कहते हैं कि भगवान का **वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध (दो प्रकार का) उपदेश...** द्रव्य अर्थात् परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, वह मेरा माने और ममता का संस्कार रखता है, उन्हें भला जानता है—यह निमित्त। और उसके लक्ष्य से विकार करता है, यह नैमित्तिक।

इस निमित्त-निमित्त का प्रभु का जो उपदेश है कि उसे छोड़ दे, उसका प्रतिक्रमण कर, उसका प्रत्याख्यान कर। ऐसा कहते ही आत्मा स्वयं अपने से विकार करे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। मात्र निमित्त के आधीन जाकर नैमित्तिक दशा होती है, इससे वह विकार करता है और भटकता है। आहाहा! समझ में आया?

एक लड़का आया। यहाँ 'पालड़ी' है। ब्राह्मण का लड़का था, छोटा बीस-एक वर्ष का होगा। महाराज! वहाँ मुम्बई में मैं सुनने आता था। समझ में आया? ऐसा आप कहते थे। हाँ, बराबर सत्य बात की। एक ब्राह्मण का लड़का था कोई। पालड़ी है न? ढाई कोस (दूर)। ब्राह्मण है। वहाँ घाटकोपर रहता होगा। पाँच रुपये रखे और ऐसी बात (की), महाराज! मैं मुम्बई आपको सुनने आया था। समझ में आया?—ऐसा आप कहते थे। कहा, बात सत्य है। यह तो सब आत्मा की बात है। इसमें कहाँ ब्राह्मण और बनिया और ढ़ेढ़, इसमें कहाँ है। अन्दर आत्मा जो भगवान है, उसकी बातें हैं न, प्रभु! आहाहा! बनिया भी नहीं और आत्मा पुरुष भी नहीं और आत्मा स्त्री भी नहीं, आत्मा नपुंसक भी नहीं। आहाहा! आत्मा निर्धन भी नहीं और आत्मा सधन भी नहीं, आत्मा मूर्ख भी नहीं और पण्डित की पर्याय, वह पण्डित भी नहीं, पर्याय पण्डित है वह, हों। आहाहा!

वह तो अनन्त-अनन्त आनन्द का सागर... आहाहा! (उसकी) जाति की भात में तो विकार होना, यह हो नहीं सकता, प्रभु! उसकी जाति जो है, उस जाति में से तो पवित्रता, अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय शान्ति और समकित प्रगटे, ऐसी उसकी नात, ऐसी उसकी जाति है। तथापि वह अपना लक्ष्य छोड़कर, स्वद्रव्य को छोड़कर परद्रव्य की ममता में चला जाता है। आहाहा! अपने अनन्त गुणों की पवित्रता का आश्रय छोड़कर वह निमित्त के आश्रय से जो पुण्य और पाप के विकार होते हैं, उनमें वह घुस जाता है। आहाहा! मौके से यह बात अच्छी आ गयी है, हों! भण्डारीजी! बराबर यह बात ठीक आ गयी।

भाग्यशाली को तो कान में पड़े ऐसा है, ऐसी बात है। तीन लोक के नाथ की परमेश्वर की बात है, बापू! कठिन तो पड़े, क्या हो? लोग बाहर में हर्ष और उत्साह करके पड़े हैं, उन्हें अन्दर में हर्ष में-आनन्द में लाना। प्रभु! तू आनन्द है न! वहाँ जा न! उसका- आनन्द का उत्साह कर न! यह पर का उत्साह करने में, प्रभु! तुझे निमित्त की ममता होती है और निमित्त की ओर का विकार तेरेरूप मानकर तू करता है, प्रभु!

यह दु:खी (होने का), भटकने का रास्ता है। आहाहा! आहा! गाथा ने गजब किया है। क्या कहा यह?

द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,... क्या कहा यह? परद्रव्य के ऊपर इसकी ममता है। वह परद्रव्य ममता नहीं कराता। परद्रव्य के ऊपर इसका लक्ष्य जाता है अर्थात् पर मेरे हैं, ऐसा मानता है और पर के लक्ष्य से जो अपने में विकार होता है; वह अपने लक्ष्य से तो विकार होता नहीं, इसलिए पर के लक्ष्य से जो विकार, दया, दान, काम, क्रोध के भाव होते हैं, उनका यह कर्ता होकर तथा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से भटकता है। है?

निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ, आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है। क्या कहा यह? इस लाईन में तो बहुत है। परद्रव्य के लक्ष्य की ममता से और परद्रव्य के लक्ष्य से होते विकार से, इस निमित्त-निमित्त सम्बन्ध में जो दु:खी है, वह ऐसा बताता है कि आत्मा स्वयं आप विकार का कर्ता नहीं है। वह तो निमित्त के आश्रय-लक्ष्य में जाए तो विकार करता है। पाटनीजी! सूक्ष्म बात है। क्या कहा यह? कि **द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ, आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है।** यह क्या कहा?

भाई! यह तो वीतराग की वाणी है। यह कहीं कथा नहीं, यह वार्ता नहीं। यह तो प्रभु तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव केवलज्ञानी परमात्मा के मुख से दिव्यध्वनि निकली है। वह दिव्यध्वनि ये कुन्दकुन्दाचार्य महाविदेह में से लाये हैं, वह यह बात है, प्रभु! आहाहा! कहते हैं कि पर के निमित्त के लक्ष्य से ममता करने से तुझे जो विकार होता है, वह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध प्रसिद्ध करते हुए (ऐसा बतलाता है कि) आत्मा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध रहित यह आत्मा तो विकार का कर्ता सिद्ध नहीं होता। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : लॉजिक है.. लॉजिक है...

पूज्य गुरुदेवश्री : लॉजिक है। न्याय... न्याय... न्याय धातु है—'नि'। न्याय में 'नि' धातु है। जो वस्तु का स्वरूप है, वहाँ 'नि' अर्थात् ज्ञान को ले जाना। जिस प्रकार से

वस्तु की स्थिति है, वहाँ ज्ञान को ले जाना, इसका नाम न्याय। यह लौकिक के न्याय नहीं, हों! तुम्हारे वकालात के और वे नहीं।

मुमुक्षु : वहाँ भी न्याय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब न्याय, अन्याय है। यह तो भगवान के घर के न्याय हैं। आहाहा!

द्रव्य अर्थात् परवस्तु, उसकी ममता। उसमें तीन लिया। उन्हें भला जानना, संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना। परद्रव्य चाहे तो देव, गुरु और शास्त्र हों परन्तु वह परद्रव्य है। उस परद्रव्य को भला जानना और अपने को भला जानना छोड़ देना। आहाहा! तथा पर के संस्कार रहना और अपने संस्कार छोड़ देना। आहाहा! है न? भावार्थ में है। उन्हें भला जानना, संस्कार रहना और ममत्व (रहना)। पर को भला जानना और अपने को अच्छा जानना नहीं; पर के संस्कार रहना और अपने संस्कार नहीं डालना। पर को भला जानना, पर की ममता करना (और) स्वयं स्वरूप अखण्डानन्द पूर्ण है, उसका ममपना, उसका अहंकार—श्रद्धा करना नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भगवान! धीरे-धीरे समझने योग्य बात है, बापू! यह कहीं वार्ता नहीं है।

तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं। परमात्मा समवसरण में विराजते हैं। अभी हाजरा हूजूर विराजते हैं। पाँच सौ धनुष्य का देह है। करोड़ पूर्व का आयुष्य है। एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जाते हैं। इतना प्रभु का आयुष्य है। महाविदेह में प्रभु अभी मौजूद विराजते हैं। आहाहा! यह वहाँ से आयी हुई बात है। आहाहा! शान्ति से समझ में आये ऐसी है, बापू! यह कोई कथा नहीं, पकड़ी हुई बात (नहीं)। आहाहा!

निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,... अर्थात्? परद्रव्य के लक्ष्यवाला विकार और परद्रव्य की ममता, ये दो निमित्त-निमित्त को प्रसिद्ध करता हुआ। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध रहित भगवान आत्मा, वह तो अकर्ता सिद्ध होता है। इस निमित्त-निमित्त के सम्बन्ध से कर्ता होता है। समझ में आया? आहाहा! वह सीधासट्ट था—दया पालना, व्रत पालना, अपवास करना, यात्रा करना, भक्ति करना, पूजा करना। अरे! बापू! यह तो सब

राग की क्रिया है, भाई! तुझे खबर नहीं। यह भगवान जो आत्मा है, वह तो बाहर निकलता है, तब राग होता है। वह राग की क्रिया है, वह धर्म-बर्म नहीं है। आहाहा! गजब बात करते हैं न, प्रभु! इस राग का कर्ता आत्मा नहीं है। क्योंकि आत्मा तो पवित्र स्वरूप है। वह अपने आप अन्तर आश्रय से-अवलम्बन से राग करे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। इसलिए वह निमित्त के लक्ष्य से ममता करके विकार करे। उस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को प्रसिद्ध करते हुए आत्मा विकार का अकर्ता प्रसिद्ध होता है। आहाहा!

धीरे-धीरे समझना, प्रभु! वीतराग का विरह पड़ा, भरतक्षेत्र में परमात्मा रहे नहीं। वहाँ विराजित रहे। यहाँ केवलज्ञान रहा नहीं और लोगों ने बातें बिगाड़कर गड़बड़ कर डाली है। आहाहा! ऐसे तीन लोक के नाथ के घर की ऐसी बातें है, प्रभु!

निमित्त-निमित्त सम्बन्ध ऐसा प्रसिद्ध करता है, परद्रव्य के निमित्त का लक्ष्य करने से उसकी तुझे ममता रहने से, उसे भला जानने से, उसके संस्कार रहने से तुझमें जो विकार होता है, उसे भला जानने से, संस्कार रहने से, ममता रहने से, दो के सम्बन्ध से विकार होता है। आत्मा के सम्बन्ध से अविकार होता है, यह आत्मा विकार का अकर्ता है। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध में जाए तो कर्ता होता है, वह द्रव्य कर्ता नहीं। आहाहा! यह पर्याय में कर्ता होता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

इसलिए यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है... क्या कहा? परद्रव्य से विकार हुआ नहीं। परद्रव्य को तो आत्मा स्पर्श भी नहीं करता। क्योंकि कोई एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता ही नहीं, ऐसा भगवान का लेख है। तीसरी गाथा समयसार में है। प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक वस्तु अपने गुण और पर्याय को चूमती है, स्पर्शती है, परन्तु परद्रव्य को तो तीन काल में स्पर्श नहीं करती। अरर! यह बात बैठना (कठिन पड़ता है)। यह राग होता है, वह कर्म को स्पर्श नहीं करता परन्तु यह राग करनेवाला उसका लक्ष्य करता है। वह लक्ष्य कराता है या यह करता है, ऐसा नहीं परन्तु उस करनेवाले का लक्ष्य वहाँ जाता है, इसलिए निमित्त की ममता होती है और वह लक्ष्य जाने से यहाँ राग और द्वेष होते हैं, वह भाव है। यह निमित्त और नैमित्तिक की प्रसिद्धि करता आत्मा अकेला अकारक सिद्ध होता है। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में जाए तो कर्ता पर्याय में होता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। अभी तो बाहर

का व्यवहार और यह सब धमाधम चली है। व्यवहार बहुत करे, उसे धर्म होता है (ऐसा चला है)।

मुमुक्षु : पराश्रित भाव से स्वाश्रित भाव होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन काल में नहीं होगा, भाई! यह तो यहाँ प्रभु कहते हैं। आहाहा!

निमित्त-नैमित्तिक अर्थात् पर्याय में विकार, वह नैमित्तिक और परवस्तु, वह निमित्त, तथापि निमित्त से होता नहीं किन्तु निमित्त की ओर के लक्ष्यवाला विकार (होता है), इसलिए उसे निमित्त-निमित्त सम्बन्धवाला कहा। उस विकार का करनेवाला निमित्त के लक्ष्य से करता है, इसलिए निमित्त-निमित्त सम्बन्ध के कारण से जीव विकार का कर्ता होता है। परन्तु निमित्त-निमित्त सम्बन्ध रहित अकेला प्रभु आत्मा उस विकार का अकर्ता सिद्ध होता है। आहाहा! क्या समझ में आता है कुछ? आहाहा! ऐसी बातें!

मुमुक्षु : हम तो पर का सब काम करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं करता, अभिमान करता है। क्या करे? धूल। आहा! बापू! कठिन बातें, भाई! यह कहा नहीं था? इसमें तीसरी गाथा में है। **'एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे'** भगवान आत्मा एकत्वस्वरूप है। परद्रव्य—प्रत्येक द्रव्य एक स्वरूप है। कोई द्रव्य किसी द्रव्य को चूमता, स्पर्शता नहीं है। कैसे बैठे बात? इसमें तीसरी गाथा है। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्शता नहीं। इस जमीन पर पैर चले... प्रभु! कठिन पड़ेगा, नाथ! वह पैर जमीन को स्पर्शता नहीं, ऐसा भगवान का पुकार है। क्योंकि पैर के परमाणु और जमीन के परमाणु दोनों के बीच अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव के कारण इस जमीन को पैर स्पर्शता नहीं और पैर चलता है। भण्डारीजी! ऐसी बातें हैं। वहाँ 'सायला-बायला' में कहीं ऐसी बातें नहीं मिलती। माँ को तो प्रेम है। प्रेम है न, प्रेम है न! बापू! यही करनेयोग्य है, भाई! आहाहा! बाकी तो सब व्यर्थ है। आहाहा! गाथा ऐसी आयी है। आहाहा!

कहते हैं कि **द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ, आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है। इसलिए यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है...** निमित्त कुछ कराता नहीं, मात्र निमित्त है। **और आत्मा के रागादिभाव**

नैमित्तिक हैं। आत्मा में राग, द्वेष, दया, दान, काम, क्रोध के भाव होना, वह नैमित्तिक। नैमित्तिक अर्थात् निमित्त के सम्बन्ध से होते वे नैमित्तिक। निमित्त से हुए नहीं, निमित्त के कारण नहीं परन्तु निमित्त के सम्बन्ध से हुए, इसलिए उन्हें नैमित्तिक कहा। आहाहा! निमित्त को तो नैमित्तिक विकारभाव स्पर्श भी नहीं करता, भाई! मार्ग कठिन, बापू! नैमित्तिक विकार है, वह निमित्त को स्पर्श भी नहीं करता। वह निमित्त भी विकार को स्पर्श नहीं करता। मात्र विकार करनेवाला जो जिसे स्पर्श नहीं करता, ऐसे निमित्त के ऊपर उसका लक्ष्य जाता है। लक्ष्य जाता है, ममता करता है। वह निमित्त होता है और यहाँ नैमित्तिक विकार (होता) है। आहाहा! इस निमित्त-नैमित्तिक के... है न?

परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न माना जाए तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा,... भगवान ने ऐसा कहा कि राग से निवृत्त हो जा, तुझमें नहीं है, ऐसा जो उपदेश किया, उस राग का यदि आत्मा कर्ता होवे तो आत्मा तो नित्य है, आत्मा त्रिकाल है, त्रिकाल कर्ता रहे। इसलिए ऐसा है नहीं। आहाहा! है? **निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं।** इस निमित्त-नैमित्तिक में भी बड़ा घोटाला है। देखो! निमित्त है या नहीं? परन्तु निमित्त है, इससे किसने इनकार किया? परन्तु निमित्त यहाँ विकार कराता है, ऐसा नहीं है। वह विकार करनेवाला निमित्त पर लक्ष्य करता है, वह करता है, निमित्त नहीं कराता। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यह शरीर स्त्री के शरीर को स्पर्श नहीं करता। क्योंकि यह द्रव्य है, वह अस्तिरूप है और इस द्रव्यपने से वह नास्ति है। तथा इसका अस्तित्व है, वह उस द्रव्यपने से यह नास्ति है। इसलिए यह शरीर दूसरे शरीर को स्पर्श करता है, ऐसा भगवान इनकार करते हैं। कैसे जँचे? आहाहा! समझ में आये उतना समझना, प्रभु! मार्ग ऐसा है। आहाहा! अरे! वीतराग तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव के अतिरिक्त यह बात कहीं नहीं है। किसी जगह यह बात नहीं है। परमेश्वर या केवली ने जो तीन काल, तीन लोक देखे। ऐसा देखा, ऐसा जाना, वैसा कहा। आहाहा! इसके अतिरिक्त किसी जगह यह बात है नहीं। दूसरे भले आत्मा की बातें करे, सर्वव्यापक है और यह वेदान्ती और सर्वव्यापक (माननेवाले) सब

अज्ञानी हैं। भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव ने कहा, इसके अतिरिक्त जितने दूसरे कहनेवाले हैं, वे सब अज्ञानी है।

परमात्मा त्रिलोकनाथ का यह फरमान है कि निमित्त चीज़ है, दूसरी चीज़ है। तू भी है (और) दूसरी चीज़ है। ठीक अब तू है, वह स्वतन्त्र स्वयं तो विकार का अकर्ता है। तब कहे, विकार होता कैसे है ? कि इस पर्याय में निमित्त का लक्ष्य करता है। द्रव्य का लक्ष्य करे, तब तो विकार हो नहीं। परन्तु पर्याय में—अवस्था में—वर्तमान दशा में निमित्त की ममता करता है, इसलिए उसे निमित्त की ममता है और उसके निमित्त से होनेवाले (और) अपने कारण से (किये जाते) विकार, उसकी ममता है। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध प्रसिद्ध करता है कि आत्मा स्वयं अकर्ता है। अरे! अरे! ऐसा समझना। शान्तिभाई! वकीलात में न्याय आवे, दूसरे न्याय आवें, (तुम) व्यापारी, हीरा-माणेक के धन्धे में यह न्याय कहा आवे ?

मुमुक्षु : सच्चा हीरा तो यह है। दूसरे तो जड़ हीरा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! वह तो धूल है—मिट्टी है। वह तो मार डालता है। एक व्यक्ति मुम्बई में अच्छा हीरा था, उसे लेकर निकला था। मुम्बई में बना था। एक गली में गया तो एक किसी ने... क्या कहलाता है ? डाकू, लुटेरा। उसने उसे देखा। अन्दर गया, मार डाला और ले लिया। हीरा सुख के लिये था, वह मरने के लिये (निमित्त) हुआ। मुम्बई में बना था। आया था। छोटी गली में गया हो और कोई हीरा देख गया। अन्दर घुसकर (मार डाला)। यह हीरे की शोभाएँ! ओभा है बड़ी। शोभा नहीं, ओभा है। आहाहा!

हीरा तो यह चैतन्य हीरा अन्दर आनन्द का नाथ, आहाहा! जिसकी चमक की चमक जगत में दिखती नहीं। वह अन्तर्दृष्टि से दिखे, ऐसी वह चीज़ है। ऐसा हीरा, चमकता हीरा! वह तो कहते हैं विकार अकेला तो जाति से अपने स्वभाव के आश्रय से तो करता ही नहीं। इस अपेक्षा से भगवान आत्मा तो राग का अकर्ता है, परन्तु निमित्त के लक्ष्य में जाता है, यहाँ लक्ष्य में नहीं जाता, त्रिकाली आनन्द का नाथ सागर है, वहाँ दृष्टि नहीं जाती; इसलिए यह दृष्टि ऐसे जाती है। उस निमित्त की ममता से विकार करता है, वह विकार नैमित्तिक है, परचीज़ निमित्त है। यह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध व्यवहार को प्रसिद्ध करता

है। इसे प्रसिद्ध करते हुए आत्मा विकार का अकर्ता है, ऐसा प्रसिद्ध होता है। आहाहा! समझ में आया? याद रहना मुश्किल। घर (से) बहिनें-बहिनें नहीं आयी हों और (पूछे कि) क्या सुना तुमने? (तो कहे), कुछ कहते थे, कौन जाने। ऐसा है और वैसा है। यह बात तो ऐसी है, हों! बापू! सूक्ष्म बात है न, भाई!

प्रभु! तेरे घर की बात है, हों! प्रभु ने तेरे घर की बात की है, प्रभु! आहाहा! प्रभु रूप से तो बुलाते हैं। आचार्य ऐसा बुलाते हैं, प्रभु! भगवन्त! ऐसा करके बुलाते हैं। आहाहा! ७२ गाथा, समयसार। भगवान आत्मा! आहाहा! इससे सुना जाए नहीं, अरेरे! मैं भगवान? बापू! भगवान है, भाई! तूने पर्याय में राग-द्वेष करके पामरता मानी है, परन्तु तू तो प्रभु है और यदि प्रभु न हो तो प्रभुता केवलज्ञान अरिहन्त परमात्मा होगा कहाँ से? अरिहन्त परमात्मा हुए, सर्वज्ञ परमात्मा विराजते हैं, महाविदेहक्षेत्र में लाखों केवली विराजते हैं। वे केवलज्ञानी हुए कहाँ से? केवलज्ञान में अनन्त आनन्द आया। आया कहाँ से? बाहर लटकता है? अन्दर भरा है, प्रभु! अन्दर खजाना भरा है, भाई! आहाहा! प्रभु! तेरी नजरें वहाँ नहीं हैं। इस नजर में निधान को ले तो तुझे निधान दिखेगा। अन्दर निधान पड़ा है। आहाहा! अरेरे! ऐसी बातें हैं। कुछ करने का कहे कि यह करो, यह करो। परन्तु यह करने का मैं करूँ, ऐसा मानना ही मिथ्यात्व है। यह भगवान तो जानने-देखनेवाला है, यह करे किसे? आहाहा! समझ में आया?

परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न माना जाए तो द्रव्य अप्रतिक्रमण... अर्थात् कि द्रव्य और राग का लक्ष्य छोड़ना तथा द्रव्य का प्रत्याख्यान (अर्थात् कि) भविष्य का राग न करना, ऐसे **कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा,...** राग छोड़ने का उपदेश कहते हैं। यदि राग आत्मा का ही हो और आत्मा ही उसका कर्ता हो तो छोड़ने का वह उपदेश भगवान का है, वह मिथ्या होगा। आहाहा! समझ में आया इसमें? जाति ही दूसरी है। वहाँ उन रुपयों के कारण बैठे हैं। कोई तो तुम्हारी ऐसी बातें करता है, करता है, भाई होवे वह ठीक, छह भाई है तो एक-एक के पास करोड़ रुपये हैं, ऐसा कहते हैं। लो! यह छह व्यक्ति हैं। एक व्यक्ति कहता था, यहाँ तो सुना है वह कहा, यहाँ कहाँ देखने गये थे? ऐसा कहते थे, कोई कहता था। यह बलुभाई कहते थे, लो न! ये बलुभाई नहीं? वह डॉक्टर हैं न? बलुभाई नहीं? वह

अफ्रीका जानेवाले हैं, वे कहते थे। छह भाईयों के पास एक-एक के पास करोड़-करोड़ है। छह भाई हैं। करोड़ क्या, अरब रुपये हों, यह धूल। आहाहा!

कहाँ गये? पोपटभाई नहीं? गये? इन पोपटभाई का साला, गोवा। पोपटभाई कल यहाँ थे। उनका साला। गोवा में है, (उसके पास) दो अरब चालीस करोड़ है। पाणसणा के हैं। लींबडी के पास पाणसणा है न? वहाँ के। (अभी) गोवा में है। दो अरब चालीस करोड़, दो सौ चालीस करोड़। धूल! मर गया ६१ वर्ष की उम्र में। चालीस-चालीस लाख के बंगले अभी गोवा में हैं। अपने दशाश्रीमाली है। यहाँ हमारे दशाश्रीमाली जाति है न? उस दशाश्रीमाली जाति के पाणसणा के हैं। उनके बहनोई यहाँ व्याख्यान में बैठे थे। पाँच मिनिट में मर गया। हाय! हाय! मुझे कुछ होता है, ऐसा करके उड़ गया, लो! आहाहा!

प्रेमचन्दभाई की बहू को ऐसा हुआ न? भाई! कल ताराबेन के (समाचार थे)। आणन्दभाई के यहाँ समाचार थे। अपने आणन्दभाई। आणन्दभाई, राजकोट। उनकी बहन ताराबेन के वर को आठ दिन में दो हार्टअटेक आये। मुम्बई। यह अपने आणन्दभाई राजकोटवाले। उनकी बहिन एक ताराबेन है। उनके वर को आठ दिन में अभी दो अटेक आये। पश्चात् सिर में रक्त चढ़ गया है, भाषा बन्द हो गयी है। लड़के कल आये थे। बापू ने बुलाया है कि यहाँ आओ, भाषा बन्द हो गयी है। भाषा बोली नहीं जाती। रक्त सिर पर चढ़ गया। धूल वहाँ क्या करे? जड़ की पर्याय उस होने के काल में हुए बिना नहीं रहेगी। वह जड़ की पर्याय आत्मा बदल सके, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। आहाहा! निरोगी शरीर दिखे ऐसे क्षण में अह...! ऐसे होकर, फू... होकर उड़ जाता है, एकदम।

अन्दर नित्यानन्द प्रभु भगवान है न! आहाहा! वह कब नाश हो ऐसा है? ऐसा आत्मा, जिसकी दृष्टि करने से जिसे आनन्द का नाथ ज्ञात हो, वह निमित्त की ममता न करे और निमित्त के लक्ष्य से होते राग का कर्ता वह नहीं हो, इसका नाम धर्म कहा जाता है। आहाहा! कहो, बाबूभाई! ऐसा सूक्ष्म है। आहाहा!

और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा,... क्या कहा? जब भगवान ने ऐसा कहा कि निमित्त के लक्ष्य से ममता करते हुए विकार करता है और इससे वह आत्मा अपने लक्ष्य से विकार नहीं करता, इसलिए

उसके लक्ष्य से करता है। इससे ऐसा सिद्ध हुआ कि आत्मा को अकेले को रागादिपने का निमित्तपना आ पड़ने पर, यदि पर के लक्ष्य बिना और पर के सम्बन्ध बिना विकार अकेला करे तो आत्मा को अकेला विकार करने का आ पड़े। **जिससे नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जाएगा,...** वह तो नित्यकर्ता रहे। आत्मा तो नित्य है तो नित्य राग का कर्ता रहे और सदा दुःखी रहे, कभी धर्म को पाये नहीं, मुक्ति नहीं हो। आहाहा! न्याय तो सूक्ष्म है, बापू! आहाहा!

नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जाएगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। क्या कहा यह? कि आत्मा निमित्त के लक्ष्य से ममता और विकार करे, वह विकार का कर्ता अज्ञान (भाव) से होगा, परन्तु अकेला आत्मा यदि विकार का कर्ता होवे तो आत्मा नित्य है तो आत्मा नित्य विकार का कर्ता रहे, इसलिए नित्य दुःखी रहे। कभी समकित पावे नहीं और कभी धर्म पावे नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : मोक्ष का ही अभाव होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पश्चात् मोक्ष हुआ न? आहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है, भाई!

इसलिए परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो। है न? निमित्त, हों! स्वद्रव्य नहीं, विकार का कारण स्वद्रव्य नहीं, विकार का कारण परद्रव्य निमित्त। यह स्वयं पर का लक्ष्य करता है, इसलिए परद्रव्य (निमित्त है) परन्तु निमित्त से हुआ नहीं। यह बड़ा विवाद वापस। निमित्त के लक्ष्य से स्वयं करता है, निमित्त इसे कराता नहीं, निमित्त से विकार होता नहीं। आहाहा!

ऐसा सिद्ध होने पर... **इसलिए परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो। और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है...** लो! क्या कहा यह? पहले कहा कि **रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा,...** आत्मा में (अर्थात्) अकेला आत्मा यदि राग का कर्ता निमित्त-निमित्त सम्बन्ध बिना होवे तो **नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जाएगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा।** तो कभी समकित पावे नहीं और धर्म हो नहीं। **इसलिए परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो।** निमित्त हो, हों! अपने लक्ष्य से विकार नहीं होता, इसलिए पर के लक्ष्य

से होता है, वह निमित्त है। वह विकार कराता नहीं। आहाहा! यह सब व्यापार-ब्यापार बहुत बड़ा है, इसलिए विकार कराता है, ऐसा नहीं है। ऐसी इनकार करते हैं। घर का दृष्टान्त ठीक न! आहाहा! वह परद्रव्य विकार नहीं कराता। स्वयं करता है, तब उसे निमित्त कहने में आता है। आहाहा!

और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है (इस प्रकार यद्यपि आत्मा रागादि का अकारक ही है)... वस्तु स्वरूप तो प्रभु चैतन्य ज्योति है। अतीन्द्रिय आनन्द का सागर नाथ प्रभु! अकेला राग का कर्ता नहीं है, वह अकर्ता है। आहाहा! कहते हैं, ऐसा होने पर भी, **तथापि जब तक वह निमित्तभूत द्रव्य का (-परद्रव्य का) प्रतिक्रमण नहीं करता...** देखा! प्रतिक्रमण नहीं करता, (ऐसा) आया। जबतक निमित्त का लक्ष्य नहीं छोड़ता, वहाँ से हटता नहीं, निमित्त से हटता नहीं। निमित्त इसे पकड़कर रखता है—ऐसा नहीं है। स्वयं निमित्त के ऊपर के जोर में गया है, उसे—निमित्त को छोड़ता नहीं। आहाहा! है ? निमित्तभूत पर को **प्रतिक्रमण नहीं करता...** देखो! यहाँ प्रतिक्रमण आया। छोड़ता नहीं, यहाँ ऐसा कहा। देखा! पहला अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान था। वह शुद्धनय के कथन की अपेक्षा से निषेध से कथन था। बाकी कहना तो ऐसा है कि राग को छोड़ता नहीं, ऐसा। और प्रत्याख्यान करता नहीं, भविष्य का राग करना नहीं—ऐसा करता नहीं। तब तक नैमित्तिकभूत भाव को प्रतिक्रमण नहीं करता, वहाँ तक रागभाव को छोड़ता नहीं और रागभाव का प्रत्याख्यान—त्याग नहीं करता।

जब तक भाव को **प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता...** तब तक कर्ता ही है। पर्याय में कर्ता है, ऐसा कहते हैं। पर का त्याग नहीं करता, विकार का त्याग नहीं करता, प्रतिक्रमण नहीं करता, तब तक वह अज्ञानभाव से राग का, विकार का कर्ता है। वस्तुस्वभाव से नहीं। आहाहा! यह वस्तुस्वभाव क्या और वह पर्याय क्या....

तथापि जब तक वह निमित्तभूत द्रव्य का (-परद्रव्य का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तब तक नैमित्तिकभूत भावों का... अर्थात् विकार को **प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता...** जब तक उस भाव को नहीं छोड़ता, नहीं त्यागता, तब तक अज्ञान से कर्ता है। पर्यायदृष्टिवाला, द्रव्यदृष्टिरहित त्रिकाली द्रव्यदृष्टि के अभाव में

वर्तमान पर्यायदृष्टि को ही माननेवाला राग का और द्वेष का अज्ञानभाव से कर्ता है। आहाहा! यह कितना याद रखना? एक घण्टे में ऐसी सब बातें। आहाहा!

वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ भगवान तीर्थंकर चौबीस तो हो गये। वे तो सिद्ध हो गये। वे अभी अरिहन्त नहीं हैं। महावीर परमात्मा आदि तो णमो सिद्धाणं में गये और यह सीमन्धर भगवान हैं, वे णमो अरिहंताणं में हैं। चौबीस तीर्थंकर तो सिद्ध में गये अर्थात् णमो सिद्धाणं में हैं। यह बीस तीर्थंकर विराजते हैं, वे सिद्ध में नहीं, वे णमो अरिहंताणं में हैं। अरिहंत हो, तब तक वाणी होती है। सिद्ध को वाणी नहीं होती। आहाहा! उनकी यह वाणी है। विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३४८, गाथा-२८३ से २८५ शुक्रवार, कार्तिक कृष्ण १३
दिनाङ्क - १६-११-१९७९

समयसार, २८३, २८४, २८५ गाथा की टीका। २८३-२८४-२८५ गाथा की टीका। थोड़ा सूक्ष्म अधिकार है। **आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है;...** आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है कि अपने आश्रय से राग हो, ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध आदि के भाव, वे आत्मा के आश्रय से हों, ऐसा नहीं है; आत्मा का स्वभाव ही नहीं है। आहाहा! **आत्मा स्वतः...** पुण्य और पाप, राग और द्वेष, दया और दान, व्रत और भक्ति आदि के परिणाम का स्वयं **अकारक ही है;...** आहाहा!

आत्मा रागादिक का अकारक ही है। **क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिभावों का कारक हो तो)...** क्या कहते हैं अब? कि रागादि होते हैं, वे अपने स्वभाव के आश्रय से नहीं (होते), मात्र परद्रव्य के निमित्त के लक्ष्य से अपने में होते हैं, इसलिए अपने स्वभाव में वे रागादि नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म विषय है। थोड़ा चल गया है, यह तो फिर से (लिया है)।

अकेला ज्ञायकस्वरूप है। वह ज्ञायक राग का त्याग (करता है, ऐसा) कहना, वह भी इसे लागू नहीं पड़ता, कहते हैं। वह तो **अकारक ही है;...** आहाहा! राग का त्याग

आत्मा करे, यह भी एक व्यवहार का वचन है। स्वयं तो रागरहित ही इसका स्वरूप है और अपने आश्रय से राग या दया, दान या काम, क्रोध के परिणाम हों, ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। समझ में आया? आहाहा! वे परद्रव्य के निमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न होते हैं। निमित्त से नहीं, परन्तु परद्रव्य के निमित्त से, निमित्त के लक्ष्य से इसमें पुण्य-पाप का विकार होता है। इसलिए वह आत्मा का वास्तविक स्वभाव—स्व से राग करना, ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। आहाहा!

सम्यग्ज्ञानी धर्मी जीव शुद्ध आत्मस्वभाव के ज्ञायक की दृष्टि के कारण पर का त्याग करनेवाला तो वह है नहीं, वह स्वयं, स्वयं का देखनेवाला और जाननेवाला है, यह भी व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया? आत्मा पर को जाने, देखे और छोड़े, यह बात तो उसमें है ही नहीं। तीनों आ गये—दर्शन, ज्ञान और चारित्र। आत्मा अकेला पर को जाने, देखे और छोड़े ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। अरे! स्वयं अपने को जाने और देखे तथा राग के अभावस्वभावस्वरूप (अपना) स्वरूप है, वह भी स्वस्वामीसम्बन्ध का व्यवहार है। परमार्थ से वह भी इसे लागू नहीं पड़ता। आहाहा! कहो, यशपालजी! सूक्ष्म बातें हैं।

स्वयं भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप, वह ज्ञायक ही है। वह ज्ञायकस्वरूप है, वह अपने को जाने, अपने को देखे और राग का त्याग उसमें करे, यह भी व्यवहार है। राग करे, पर को जाने-देखे, यह तो एकदम असद्भूत व्यवहार है। बहुत सूक्ष्म। चेतनजी ने यह कहा कि यह फिर से लेना, कहा था। कल नहीं कहा था? थोड़ा सा अपने चल गया था। आहा!

भगवान आत्मा ज्ञायक, वह ज्ञायक ही है। ज्ञायक, वह पर को जाने और पर को देखे तथा पर को छोड़े, यह उसके स्वरूप में ही नहीं है। आहाहा! ऐसा आत्मा जिसकी दृष्टि में आवे, तब उसने आत्मा जाना और देखा, ऐसा कहने में आवे और वह भी आत्मा, आत्मा को जाने और देखे (-ऐसा) कहना, वह भी व्यवहार भेद पड़ा। आत्मा, आत्मा ही स्वयं है। आहाहा! सूक्ष्म है। यह आत्मा... यहाँ शुरुआत में पहली लाईन में ही पूरा सिद्धान्त भरा है।

आत्मा स्वतः... अर्थात् कि निमित्त के लक्ष्य बिना, निमित्त के आश्रय से राग होता है, उसके बिना अकेला अपने कारण से राग हो, ऐसा उसका स्वभाव ही नहीं है।

आहाहा! वह तो ज्ञायकस्वरूप भगवान, ज्ञायक, वह ज्ञायक ही है। वह ज्ञायक, उस राग के त्यागस्वभाव स्वरूप है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। वह तो त्याग के अभाव-स्वभाव स्वरूप ही उसका स्वरूप है। राग के त्याग के अभाव स्वरूप, उसका त्याग करे, इसका अभाव, ऐसा स्वरूप ही ऐसा है। राग का त्याग करना, वह भी उसके स्वरूप में नहीं है। आहाहा! धर्म की ऐसी बातें, लो!

आत्मा स्वतः... स्वयं से। वह तो ज्ञान, दर्शन और आनन्दस्वरूप है। वह अपने से पुण्य-पाप के परिणाम (होते हैं), उनका **अकारक ही है;**... आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम जो शुभ है, उनका वह स्वयं से तो **अकारक ही है;**... आहाहा! ऐसा उसका स्वभाव है, ऐसी दृष्टि अन्दर होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है। आहाहा! और राग के अभाव-स्वभाव स्वरूप, (ऐसा अपने में), पर के लक्ष्य को छोड़कर, शुद्ध चैतन्यमूर्ति के आश्रय में स्थिर हुआ, वह उसका चारित्रभाव है। आहाहा! परन्तु वह आत्मा आत्मा में स्थिर हुआ, यह भी स्वस्वामी अंश सम्बन्ध का व्यवहार है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। एक बात (हुई)।

अब कारण देते हैं। क्यों अकारक है? भगवान आत्मा स्वयं अपने आप से कोई भी दया, दान, भक्ति, व्रत आदि के परिणाम का तो **अकारक ही है;**... उसका स्वरूप ही अकारक है। आहाहा! **क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिभावों का कारक हो तो)**... अर्थात् आत्मा स्वयं अपने आश्रय से, अपने लक्ष्य से, अपने अवलम्बन से दया, दान, पुण्य, पाप का कर्ता होवे तो **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।** यहाँ शुद्धनय का कथन है, इसलिए अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान कहा है।

भगवान ने कहा कि राग छोड़, राग छोड़, वर्तमान राग का प्रतिक्रमण कर, भविष्य के राग का प्रत्याख्यान कर। तब ऐसा जो उपदेश आया, वह ऐसा सूचित करता है कि राग का कर्ता भगवान आप स्वयं नहीं है। यदि होवे तो राग का त्याग, वर्तमान और भविष्य के राग का प्रत्याख्यान, ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया? आहाहा! ऐसा धर्म का उपदेश। वह उपदेश कैसा था! इच्छामि पडिकम्मणा, इरिया विरीया... सामायिक हो जाती थी,

प्रतिक्रमण हो गया, लो! परन्तु यहाँ तो अभी आत्मा कौन है, इसकी तुझे खबर बिना (सामायिक आयी कहाँ से)? सुन तो सही। आहाहा!

आत्मा स्वतः... अपने से—वजन यहाँ है। भगवान आनन्द और ज्ञान और दर्शन स्वरूप ही है। ज्ञान से जानता है, देखता है—ऐसा नहीं, उस स्वरूप ही है। ज्ञान, दर्शन और आनन्द उसका अपना स्वरूप ही है। इसलिए अपने से विकार का **अकारक ही है;...** आहाहा! समझ में आया? क्यों? यदि ऐसा न हो तो, भगवान का उपदेश ऐसा है कि **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।** निषेध से बात की है। बाकी यदि उसका अपना स्वभाव होवे तो राग से छूट जा, राग का त्याग कर और राग का प्रत्याख्यान कर—छोड़, ऐसा जो व्यवहार का उपदेश, वह नहीं बन सकता। यदि आत्मा स्वयं से कर्ता हो तो राग को छोड़ और राग का प्रत्याख्यान कर, यह नहीं बन सकता। उसका स्वभाव ही यदि करने का हो तो यह नहीं बन सकता। आहाहा! अधिकार सूक्ष्म है।

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता... अभी द्रव्य-भाव की बात अभी नहीं है। अभी तो यह द्रव्य अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान बस, इतनी (बात है)। अर्थात् कि पर का प्रतिक्रमण और पर का प्रत्याख्यान, ऐसा कहना है, उसके बदले शुद्धनय का अधिकार है इसलिए अप्रत्याख्यान—अपच्चक्खाण कहेंगे। ऐसा जो भगवान का उपदेश है, वह नहीं बन सकेगा। यदि स्वयं ही अपने स्वभाव से स्वरूप ही दया, दान आदि विकार करने का हो तो उसे छोड़ने का जो कहा अर्थात् कि उससे लक्ष्य छोड़ दे, ऐसा कहा, वह उपदेश नहीं बन सकेगा। समझ में आया? आहाहा! अब ऐसा मार्ग। वह प्रतिक्रमण, इच्छामि, इरिया, विरिया करते। ऐ... वीरचन्दभाई! तुम्हारे पिताजी ऐसा करते थे। सामायिक करे और प्रौषध अष्टमी और पूर्णिमा के प्रौषध करे। हरगोविन्दभाई और सब करते थे, परन्तु यह। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन तो सही, प्रभु! यह राग का त्याग जो कहते हैं, इसका अर्थ ही (यह) कि आत्मा राग का कर्ता नहीं है। राग का प्रतिक्रमण कर, राग का प्रत्याख्यान कर, ऐसा कहने के उपदेश में ही ऐसा अर्थ आया कि आत्मा स्वयं से राग

करे और पुण्य करे, ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म अधिकार आया। उस त्रयोदशी को व्याख्यान था। यह वापस द्वादशी को आया। तेरह दिन बीच में पड़ा रहा। यशपालजी! आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञान, दर्शन और पर के, राग के अभाव-स्वभाव स्वरूप ही वस्तु है। भगवान आत्मा का स्वरूप ज्ञान, दर्शन और राग के अभाव-स्वभाव स्वरूप है। उसका स्वरूप ही यह है। और आत्मा, आत्मा को जाने तथा आत्मा आत्मा को देखे और आत्मा आत्मा में स्थिर हो, यह भी व्यवहार है। उसका स्वरूप ही ऐसा है, कहते हैं। आहाहा! यह ज्ञान, दर्शन और राग के अभाव-स्वभाव स्वरूप ही उसका स्वरूप है। ऐसी दृष्टि होने पर अन्दर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो, इसका नाम धर्म और मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! कठिन पड़े ऐसा है सबको। ऐसा मार्ग है, भाई! आहाहा! अनन्त काल से भटकता है। इसकी महिमा, इसकी जाति की महिमा, इसकी जाति की महत्ता बैठी नहीं। इसने हीन ही कल्पित किया है या राग का कर्ता और या राग का भोक्ता और... आहाहा! पर को जाननेवाला और पर को देखनेवाला और... आहाहा!

अपनी पर्याय में पर को जानना होता है। वह पर कहाँ वहाँ ज्ञात होते हैं? आहाहा! क्योंकि पर के साथ तो तन्मय नहीं है। इसलिए निश्चय से तो पर को जानता नहीं। आहाहा! निश्चय से तो जिसमें—पर्याय में तन्मय है, उसे जानता है, उसे भी व्यवहार कहना है। आहाहा! इसी प्रकार पर को देखता है, (ऐसा कहते हैं परन्तु) वह कहाँ पर में तन्मय होता है कि देखता है? वह देखने की पर्याय में तन्मय है, इसलिए स्वयं अपने को देखता है, यह भी व्यवहार है (क्योंकि) भेद पड़ा। आहाहा!

अब राग का त्याग करता है—ऐसा कहना, वह भी अत्यन्त असद्भूत व्यवहार है। आहाहा! यहाँ तो राग के अभाव-स्वभाव स्वरूप आत्मा है, ऐसा जो भेद है, वह भी व्यवहार है। आहाहा! वह तो राग के अभाव-स्वभाव स्वरूप ही त्रिकाली वस्तु ही ऐसी है, वीतराग स्वरूप ही वह है। आहाहा! वीतराग स्वरूप है, उसमें राग का अभाव करना या आत्मा राग का अभाव करे अथवा राग का अभाव करे तो वीतरागरूप रहे, ऐसा नहीं है। वह तो राग के अभाव-स्वभाव स्वरूप वीतरागस्वरूप ही विराजमान है। आहाहा! समझ

में आया? यह तो थोड़ा सा चला था। हमारे चेतनजी और कहे, टीका से फिर से लेना। इसलिए फिर से यह लिया है। आहाहा!

मुमुक्षु : आज बहुत सूक्ष्म आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही है। सूक्ष्म कहो या स्थूल कहो। वस्तु ऐसी है, वहाँ पहले से ही कहा न कि स्वयं से अकारक है, यह सिद्धान्त क्या कहता है? कि अपने आश्रय से राग करे या अपने आश्रय से पर को जानने का करे, यह पर का लक्ष्य जाता है, तब यह पर को जानता है—ऐसा कहते हैं, तथापि वह पर को जानता है, यह भी नहीं। क्योंकि उसकी पर्याय में जो पर सम्बन्धी का ज्ञान अपने में उस समय पर की अपेक्षा बिना स्वयं से पर्याय जानने-देखने की होती है। आहाहा! ऐसा है।

यदि ऐसा न हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की... अभी दो बोल है, हों! द्रव्य और भाव बाद में आयेंगे। यहाँ तो अभी अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान। अर्थात् पर से वापस हटना और भविष्य में पर में जुड़ना नहीं, ऐसा जो उपदेश है, वह ऐसा ही बताता है कि आत्मा स्वयं अपने से राग का कर्ता है नहीं। आहाहा! वह तो उसका लक्ष्य पर में जाता है, तब निमित्त के लक्ष्य से विकार होता है। निमित्त से नहीं। जैसे परद्रव्य से राग नहीं, वैसे पर के निमित्त से भी राग नहीं। आहा! क्या कहा यह?

भगवान ज्ञायकस्वरूप प्रभु! स्वयं से जैसे राग नहीं, वैसे उस निमित्त के लक्ष्य से भी राग नहीं है। निमित्त के लक्ष्य से स्वयं राग पर्याय में करता है, निमित्त से नहीं। जैसे आत्मा से राग नहीं, वैसे निमित्त से भी राग नहीं। समझ में आया इसमें? इसकी पर्याय में निमित्त का लक्ष्य करके, स्वभाव का आश्रय छोड़कर पर्याय में विकार करता है। इसलिए भगवान ने ऐसा कहा कि राग का प्रतिक्रमण कर, राग का प्रत्याख्यान कर। क्योंकि वह तेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा! समझ में आया इसमें?

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का... अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान, यह दो अभी लिये, हों! फिर और दूसरे दो लेंगे, फिर और द्रव्य तथा भाव दूसरे दो बाद में (लेंगे)। यह तो मात्र वर्तमान अप्रतिक्रमण, भविष्य का अप्रत्याख्यान—ऐसे दो बोल लिये हैं। गत काल की बात तो अभी है नहीं, इसलिए प्रश्न नहीं। यह लिया।

वर्तमान में राग का अत्याग, भविष्य में राग का अत्याग। ऐसा अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का उपदेश भगवान ने दिया, वह शुद्धनय से कहा। बाकी वास्तव में तो राग का वर्तमान में अभाव कर, भविष्य में राग का अभाव कर—ऐसा जो कहना है, वही ऐसा बताता है कि आत्मा अपने स्वभाव से राग करे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। आहाहा!

यह निमित्त जो परद्रव्य है, उसके ऊपर इसका लक्ष्य जाता है। यह स्वभाव शुद्ध चैतन्य अखण्ड अभेद है, उसका लक्ष्य छोड़कर पर जो इसमें नहीं है; जो इसमें है, उसका लक्ष्य छोड़कर, जो इसमें नहीं है, ऐसे पर का लक्ष्य करता है; इसलिए उस निमित्त के लक्ष्य से विकार (होता है)। निमित्त से राग-द्वेष नहीं होते परन्तु निमित्त के लक्ष्य से राग-द्वेष होते हैं। समझ में आया? आहाहा! जैसे आत्मा स्वयं राग का अकारक है, स्वयं अपने से राग करे, ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। वैसे निमित्त से राग हो, ऐसा भी स्वरूप नहीं है, परन्तु निमित्त के लक्ष्य से राग करता है, आहाहा! कहो, इसमें समझ में आया? सूक्ष्म है, भाई! यह अधिकार सूक्ष्म है। पढ़ते-पढ़ते यहाँ तक तो आया था। आहाहा!

भगवान का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दो प्रकार का उपदेश बन नहीं सकता। यदि स्वयं अपने से कर्ता हो, उसका स्वभाव ही राग करने का होवे तो राग को छोड़, वर्तमान राग को छोड़ और भविष्य में राग का प्रत्याख्यान (कर), ऐसा जो उपदेश, वह नहीं बन सकेगा। समझ में आया? आहाहा! गुजराती भाषा समझते हो? थोड़ी-थोड़ी? आहाहा! ऐसा उपदेश अब। ऐसा धर्म सरल था कि सामायिक करो, प्रोषध करो, प्रतिक्रमण करो, रात्रिभोजन न करो, हो जाए, लो! हो गया धर्म। अरे..! भाई!

धर्म करनेवाला कौन है? कि जिसमें राग है ही नहीं; जिसमें ज्ञान, दर्शन और आनन्द भरा हुआ है। आहाहा! धर्मी उसे जो धर्म करना हो तो उसमें तो ज्ञान, दर्शन और आनन्द भरे हैं। वह अपने आश्रय से राग-द्वेष करे, यह तो उसका स्वरूप ही नहीं है। इसलिए उसे भगवान का द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान (का उपदेश दिया है)। वर्तमान में राग से छूट और भविष्य को छोड़। क्योंकि तुझमें है नहीं। मात्र तू निमित्त के लक्ष्य से राग करता है, भविष्य में भी निमित्त के लक्ष्य से हो, उसे छोड़। आहाहा! ऐसा है उपदेश। बहुत दिन चला, तब ऐसा सूक्ष्म आया। यह अधिकार ही ऐसा है। आहाहा!

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में... अब दो पहले लिये थे—वर्तमान अप्रतिक्रमण और भविष्य का प्रत्याख्यान इतना लिया था। अब इनके वापस दो भेद किये। आहाहा! क्या कहा यह? **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध...** द्रव्य और भाव। इनके दो प्रकार लिये। पहले अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दो भेद लिये। वर्तमान अप्रतिक्रमण, भविष्य का अप्रत्याख्यान। अब अप्रतिक्रमण (के) दो प्रकार और अप्रत्याख्यान (के) दो प्रकार। अप्रतिक्रमण के दो प्रकार क्या? कि द्रव्य अर्थात् निमित्त पर लक्ष्य जाता है, वह अप्रतिक्रमण का निमित्त और उसके आश्रय से विकार होता है, वह भाव। निमित्त से नहीं होता, मात्र उसके लक्ष्य से करता है। समझ में आया? आहाहा! परद्रव्य के कारण राग-द्वेष नहीं होते, मात्र यहाँ वीतरागी स्वरूप भगवान आत्मा का आश्रय छोड़कर, जिसने निमित्त परद्रव्य पर लक्ष्य किया, इसलिए उसके आश्रय से राग-द्वेष होते हैं। वे निमित्त से हुए नहीं, स्वभाव से हुए नहीं। आहाहा! यह पहले दो प्रकार—अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के दो भेद लिये।

अब अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के वापस दो-दो भेद (कहते हैं)। पहले अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान—वर्तमान अप्रतिक्रमण, भविष्य का अप्रत्याख्यान (कहकर) दो भेद लिये। अब वापस एक-एक के दो-दो भेद (लेते हैं)। अप्रतिक्रमण के दो प्रकार —द्रव्य और भाव। क्योंकि द्रव्य अर्थात् पर के ऊपर इसका लक्ष्य जाता है, वह द्रव्य। और उसके कारण राग-द्वेष होते हैं, वह भाव। यह अप्रतिक्रमण के दो प्रकार। निमित्त और राग-द्वेष। ऐसे ही अप्रत्याख्यान के दो प्रकार। भविष्य में पर (के ऊपर) लक्ष्य जाएगा वह निमित्त। द्रव्य और भाव होंगे राग। अर्थात् द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य और भाव अप्रत्याख्यान। आहाहा! निवृत्ति नहीं मिलती, फुरसत नहीं मिलती। वीरचन्दभाई! यह निर्णय करने की निवृत्ति नहीं मिलती, फुरसत नहीं मिलती। स्त्री, पुत्र सम्हालना, धन्धा करना और सुनने का मिले तो दूसरा मिले। यह बात कहाँ (मिले)? आहाहा!

यहाँ तो तीन लोक का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु वीतराग की मूर्ति है। वह वीतराग की मूर्ति राग कैसे करे? कहते हैं। आहाहा! तब कहते हैं, उसमें राग होता है न? और भगवान का उपदेश भी है न कि राग का प्रतिक्रमण और राग का प्रत्याख्यान कर। ऐसा है न? हाँ,

है। वह कैसे है ? कि उसके स्वभाव, द्रव्य-गुण में नहीं। परन्तु पर्याय में उसका लक्ष्य परद्रव्य पर जाता है, इसलिए द्रव्य अप्रतिक्रमण कहा और उससे राग-द्वेष भाव हुआ, वह भाव अप्रतिक्रमण कहा। ऐसे भविष्य में पर के ऊपर लक्ष्य जाता है, वह द्रव्य अप्रत्याख्यान कहा और भाव होते हैं, वह भाव अप्रत्याख्यान कहा। बराबर है ? आहाहा! यह वीतराग का मार्ग है, भाई! आहाहा!

क्या कहते हैं ? कि **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में...** 'वास्तव में' भाषा ली है, देखा ? निमित्त पर लक्ष्य जाता है न इसका ? **द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध...** दो प्रकार पड़े हैं। अपना भगवान वीतरागस्वरूप ज्ञायक को छोड़कर और परद्रव्य पर लक्ष्य किया, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण और उससे होता राग, वह भाव अप्रतिक्रमण। आहाहा! मनहर है ? हैं ? ठीक! अकस्मात हुआ था (ऐसा) कुछ सुना था। समझ में आया ? आहाहा! भाई आनेवाले थे, वे आज नहीं आये। वे चन्दुभाई नहीं ? राजकोट से। आहाहा!

कहते हैं कि **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध (दो प्रकार का) उपदेश है वह,...** भगवान का उपदेश है कि राग होता है, वह निमित्त के लक्ष्य से होता है—यह द्रव्य। और होता है, वह भाव। द्रव्य और भाव दो। दो अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य और भाव दो अप्रत्याख्यान। भविष्य में पर के ऊपर लक्ष्य जाता है, वह द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव होते हैं, (वह) भाव अप्रत्याख्यान। आहाहा!

यह **उपदेश है वह, द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,...** अब क्या कहते हैं ? आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञायक चैतन्यमूर्ति प्रभु, स्वयं तो विकार दया, दान आदि का कर्ता नहीं है परन्तु निमित्त-निमित्त के सम्बन्ध से (अर्थात्) परद्रव्य निमित्त (तथा) नैमित्तिक विकार इसकी पर्याय। है ? द्रव्य और भाव का निमित्त-नैमित्तिकपना—द्रव्य वह निमित्त, भाव नैमित्तिक। अर्थात् क्या ? किसी भी द्रव्य पर, पर के ऊपर लक्ष्य जाता है, वह द्रव्य और उसके लक्ष्य से भाव होते हैं, (वह) नैमित्तिक। यह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध ऐसा बतलाता है कि वस्तु स्वयं अकेला आत्मा विकार का कर्ता

नहीं है। आहाहा! समझ में आया? क्या कहते हैं? प्रभु! आहाहा! मुनिराज की टीका तो देखो! क्या कहते हैं?

द्रव्य और भाव का जो उपदेश है **वह, द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता...** देखो? परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, (वह परद्रव्य) निमित्त और भाव होते हैं नैमित्तिक। वह निमित्त-नैमित्तिक को प्रसिद्ध करता है, उसका स्वभाव ढँक जाता है, स्वभाव का वहाँ भान नहीं रहता। निमित्त-नैमित्तिक प्रसिद्ध करता है। परद्रव्य पर लक्ष्य जाता है (वह) द्रव्य, भाव होता है, वह विकार। वह द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण दोनों। वह **निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता...** आहाहा! स्वभाव में भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु! आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु! वह स्वयं अपने से आनन्द को उत्पन्न करता है, वह भी अभी व्यवहार। राग को उत्पन्न करता है, यह तो वस्तु में है ही नहीं। आहाहा! यहाँ तो अभी व्यवहार, दया, दान और व्रत, भक्ति करे तो धर्म हो, तो निश्चय हो, ऐसा अभी कहते हैं, लो! लोग ऐसा कहते हैं। आहाहा!

भगवन्त! तेरा स्वरूप प्रभु! तेरा स्वरूप वीतराग प्रभु के भाव से भरपूर स्वरूप है। तेरी महत्ता में वीतरागता है। वह तेरे आश्रय से तो वीतरागता होती है। परन्तु तू तेरा आश्रय छोड़कर निमित्त का परद्रव्य का यह लक्ष्य करता है, वह निमित्त और उसके लक्ष्य से होता भाव, वह विकार। वह निमित्त-नैमित्तिक प्रसिद्ध करता है कि ज्ञायकभाव स्वयं कर्ता नहीं है। आहाहा! ऐसा उपदेश अब। कहो, लीलाधरभाई! कहाँ ऐसा कहाँ था? तुमने सुना था कहीं? यह तुम्हारा वह भतीजा तो और उसमें लग गया है, बाबा में— सांईबाबा! यह ऐसा वीतराग का मार्ग छोड़कर। आहाहा! तीन लोक के नाथ स्वयं, हों! तीन लोक का नाथ। आहाहा!

ज्ञायकभाव सच्चिदानन्द प्रभु सत् है और ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु। वह ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आश्रय से राग किस प्रकार करे? उसके स्वरूप में है नहीं। तब यह होता है न? कि वह स्व का आश्रय छोड़कर निमित्त का आश्रय करता है, वह परद्रव्य; निमित्त से होता नहीं, निमित्त का आश्रय करता है, इसलिए वहाँ पुण्य-पाप, दया-दान आदि विकार उत्पन्न होता है। वह निमित्त-नैमित्तिक प्रसिद्ध ऐसा करता है कि व्यवहार से वह विकार होता है।

आत्मा के स्वभाव से नहीं होता। आहाहा! जरा सूक्ष्म है परन्तु धीरे-धीरे विचारना, बापू! ऐसा समय कब मिलेगा? अरेरे! समय चला जाता है। मनुष्य देह। मनुष्य देह की इस धूल की स्थिति कितनी? यह तो मिट्टी है। चला जाएगा, यह भगवान यहाँ से चला जाएगा। जिसकी दृष्टि में अभी तत्त्व क्या है, यह आया नहीं, वह चौरासी में भटकेगा। आहाहा! प्रभु! कोई कहीं शरण नहीं है। आहाहा! क्या कहते हैं? आहाहा!

द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान के दो भेद कहे, वे निमित्त-नैमित्तिक को प्रसिद्ध करते हैं, निमित्त-नैमित्तिक को प्रसिद्ध करतो हैं। पर के ऊपर लक्ष्य जाता है और विकार होता है, उसे प्रसिद्ध करते हैं। स्वभाव के आश्रय से नहीं होता, ऐसा वह अकारक सिद्ध करते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया? सुनाई देता है न बराबर? नन्दलालभाई! सुनाई देता है? ऐसा? ठीक। आहाहा! क्या टीका! क्या टीका..! आहाहा! गजब की बात। और यह ऐसे दो और दो=चार जैसी बात जँचे ऐसी है।

भगवान आत्मा अपने से कारक बिलकुल नहीं है, कारक है ही नहीं; अकारक ही है। तब कहे, यह है न? यह द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान के कारण है। द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान हुआ कैसे? उस परद्रव्य के लक्ष्य से द्रव्य अप्रतिक्रमण और परद्रव्य के लक्ष्य से अप्रत्याख्यान (हुए) वह निमित्त-निमित्त (सम्बन्ध) पर्याय में व्यवहार प्रसिद्ध करता है। उस पर्याय में निमित्त के लक्ष्य से होता विकार, वह पर्याय में व्यवहार प्रसिद्ध करता है। वही आत्मा अकारक है, ऐसा सिद्ध करता है। आहाहा! प्रेमचन्दजी! समझ में आया? आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो भाई! जो होवे वह होवे न! प्रभु! क्या? आहाहा!

यह क्या कहा? **द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ, आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है।** आहाहा! यह क्या कहा? प्रभु! कहते हैं, प्रभु! सुन! भगवन्त! तू भगवनस्वरूप है। आहाहा! यह भगवनस्वरूप स्वयं अपने से विकार करे, ऐसा स्वरूप इसमें है ही नहीं। तब अब होता है न! वह कहीं मूल द्रव्य-गुण में तो होता नहीं; पर्याय में—अवस्था में होता है। वह अवस्था में कहाँ से होता है? स्व के लक्ष्य से तो होता नहीं। क्योंकि स्व तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायक आनन्द है। तब अब पर्याय

में पर के लक्ष्य से निमित्त परद्रव्य के ऊपर उसका लक्ष्य जाता है, उससे यह होता है। अर्थात् निमित्त और नैमित्तिक ऐसा प्रसिद्ध करते हैं कि आत्मा स्वयं अकारक है। उस निमित्त पर लक्ष्य जाता है, तब (रागादि) करता है, इस प्रकार व्यवहार खड़ा होता है। आहाहा! समझ में आया इसमें? इसमें समझ में आया? ऐसा कहा, समझ में आया? (नहीं कहा)। आहाहा! ऐसा मार्ग, 'प्रभु का मार्ग है शूरों का, यह कायर का वहाँ काम नहीं।' आहाहा! क्या सीधी बात करते हैं। आहाहा!

भगवन्त! तू तो भगवन्तस्वरूप है न, वीतरागस्वरूप है न! उस वीतरागस्वरूप के आश्रय से राग होगा? प्रभु! तब कहे, यह राग होता है न? अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ऐसे दोष दिखते हैं न? कि यह दोष है, वह निमित्त के लक्ष्य से द्रव्यस्वभाव का आश्रय छूटकर (होता है)। आश्रय है ही कहाँ वहाँ इसे? इसे आश्रय परद्रव्य के ऊपर है। यहाँ लक्ष्य नहीं, इसलिए वहाँ ऐसे लक्ष्य जाता है, उस निमित्त के लक्ष्य से जो राग-द्वेष, पुण्य-पाप होते हैं, वह निमित्त-नैमित्तिक को प्रसिद्ध करता हुआ आत्मा को अकारक प्रसिद्ध करता है। आहाहा! यह निमित्त-नैमित्तिक को—व्यवहार को प्रसिद्ध करता हुआ निश्चय भगवान आत्मा अकेला अकारक है, ऐसा प्रसिद्ध करता है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। ओहोहो! आचार्यों-दिगम्बर सन्तों (ने) ऐसी सादी भाषा, सादी भाषा में यह इतना सिद्ध किया है (कि) इसे प्रत्यक्ष हो जाए!! आहाहा!

प्रभु! तू तो वीतरागस्वरूप है न! ऐसा कहा न? स्वयं से अकारक है, ऐसा कहा न? पहले कहा न, **आत्मा स्वतः रागादि का अकारक...** अकारक अर्थात् वीतरागस्वरूप, ऐसा तू वीतरागस्वरूप ही है। अकषायस्वरूप प्रभु, तेरा स्वरूप ही चिदानन्द, सच्चिदानन्द त्रिकाली स्वरूप है। सच्चिदानन्द—सत् शाश्वत आनन्द और ज्ञान का कन्द प्रभु! वह स्वयं अपने से राग का अकारक है, ऐसा सिद्ध करने से तू वीतरागस्वरूप है, उस वीतरागभाव से, वीतरागभाव उत्पन्न होगा परन्तु रागभाव उत्पन्न नहीं होगा। आहाहा! थोड़ा सूक्ष्म पड़े परन्तु बारम्बार दो-तीन बार आता है। मार्ग ऐसा है, बापू! आहा! ओहो!

क्या कहा? यह दो प्रकार का जो उपदेश है। कौन से दो प्रकार का? द्रव्य और भाव। परद्रव्य का लक्ष्य और उत्पन्न होता भाव, यह निमित्त-नैमित्तिक भाव। यह दो प्रकार

का जो **उपदेश है वह, द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,...** अर्थात् भाव कौन सा? विकारी। द्रव्य कौन? पर। परद्रव्य के लक्ष्य से, निमित्त, वह द्रव्य और यहाँ विकार भाव, यह निमित्त-नैमित्तिक को प्रसिद्ध करता हुआ आत्मा अकारक है, ऐसा सिद्ध करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, बापू! यह कहीं कथा-वार्ता नहीं है। आहाहा! यह तो तीन लोक के नाथ की कथा है, यह तो धर्म कथा, धर्म कथा है। आहाहा!

द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को... द्रव्य, निमित्त और भाव, नैमित्तिक। परद्रव्य का लक्ष्य, वह निमित्त और नैमित्तिक पुण्य-पापभाव विकार भाव। वह उसे **प्रगट करता हुआ, आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है।** यह निमित्त-नैमित्तिक प्रसिद्ध ऐसा करता है कि आत्मा स्वयं अकर्ता है। यह तो निमित्त का लक्ष्य करे और विकार करे तो करे, बाकी स्वयं तो अकारक है। आहाहा! कहो, वीरचन्दभाई! ऐसा कहाँ है वहाँ तुम्हारे कलकत्ता में? धूल में भी नहीं कहीं।

मुमुक्षु : वहाँ तो धूल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल है, पैसा, पैसा। तुम्हारे लड़के अभी आये थे। रमणीक के दो। जुड़वाँ हैं न जुड़वाँ? सुनने आये थे। आहाहा! अरेरे! कौन किसका? बापू! अरेरे!

कहते हैं कि दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी नैमित्तिक, नैमित्तिक। वह निमित्त के लक्ष्य से नैमित्तिक होता है। वह नैमित्तिक, स्वभाव के लक्ष्य से नहीं होते। आहाहा! अरे! इससे इसका स्वभाव, भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु का स्वभाव, इस निमित्त के लक्ष्य से विकार-नैमित्तिक होता है, निमित्त-नैमित्तिक प्रसिद्ध करता हुआ, स्वभाव अकारक है, ऐसा प्रसिद्ध करता है। आहाहा! इस पर्यायबुद्धि में निमित्त के लक्ष्य से विकार होता है, वह ऐसा प्रसिद्ध करता है कि वस्तु का स्वभाव अकारक है। आहाहा! कहो, चेतनजी! चेतनजी कहते हैं, फिर से लेना। लेने योग्य था, फिर से लेने योग्य था। आहाहा! यह समझ में आये, ऐसा है, हों! भाषा तो सादी है। भाव भले सूक्ष्म हो। आहाहा!

इसलिए यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है... यह उस निमित्त (का) विवाद निकालते हैं। निमित्त वस्तु है, परन्तु निमित्त से होता नहीं। **परद्रव्य निमित्त है...** देखा! **और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं।** आहाहा! ज्ञायक भगवान अतीन्द्रिय

आनन्द का नाथ प्रभु, सच्चिदानन्द आत्मा अन्दर पूर्णानन्द का नाथ है। वस्तु है, वह वस्तु शुद्ध है। वस्तु स्वयं है, वह शुद्ध पवित्र और पूर्ण है। ऐसा भगवान अन्दर आत्मा, वह अपने आश्रय से स्वभाव से विकार का अकर्ता है। तब कहे, होता कैसे है ? कि उसका अपना स्वभाव है, उसकी दृष्टि छोड़कर; जो निमित्त इसमें नहीं है, जिसमें है, जिसमें जैसा है उसमें दृष्टि न देकर, जो इसमें नहीं उसमें दृष्टि देने से, उससे नहीं होता परन्तु उसकी दृष्टि देने से तुझमें विकार होता है। आहाहा! ऐसा निश्चित हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है, हों! वापस वह निमित्त नहीं, ऐसा नहीं है।

और लोग कहे, निमित्त है। भाई कैलाशचन्द्रजी ने निर्णय किया कि सोनगढ़वाले निमित्त नहीं है, ऐसा नहीं (कहते) परन्तु निमित्त से पर में नहीं होता, ऐसा कहते हैं। पूरा विवाद यह। देखो! यह परद्रव्य निमित्त है। परन्तु निमित्त है न ? निमित्त तो (तब कहलाता है कि) स्वयं पर के लक्ष्य से विकार करता है, इसलिए उसे निमित्त कहा गया और यहाँ स्वयं ने विकार किया। यह कहीं उससे विकार हुआ नहीं। आहाहा! समझ में आया ?

द्रव्य—परद्रव्य निमित्त है। अर्थात् कि स्वद्रव्य जो उपादान है, शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान का तो आश्रय है नहीं। आहाहा! इसलिए उसके आश्रय बिना इसकी दृष्टि कहीं तो अपना अस्तित्व स्वीकारना होगा। इसलिए स्वद्रव्य में अस्तित्व नहीं मानकर, परद्रव्य के लक्ष्य से विकार हुआ, वह मेरा है—ऐसा मानकर अज्ञानरूप से राग-द्वेष का कर्ता अज्ञानी होता है। आहाहा! ऐसा याद भी किस प्रकार रहे ? घण्टेभर तक ऐसी बातें, प्रभु! आहाहा!

प्रभु! तेरी बातें बड़ी है, भगवान! भगवान है, तू परमात्मा है, परमेश्वर है, भाई! तुझे तेरी खबर नहीं है। आहाहा! तेरी महत्ता और महिमा को सर्वज्ञ भी पूरा नहीं कह सकते प्रभु! ऐसी तेरी महिमा अन्दर है। एक-एक ऐसे भगवान आत्मा सब शरीर में भिन्न-भिन्न विराजते हैं। आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा का स्वभाव दोष का अकारक है। क्योंकि उसमें दोष है नहीं। वस्तु में अनन्त गुण हैं परन्तु वे सब पवित्र हैं, इसलिए उसका कोई गुण दोष करे ऐसा गुण नहीं है, इसलिए यह उसके द्रव्य के आश्रय से दोष न होकर... आहाहा! जो द्रव्य में नहीं है, ऐसे परद्रव्य पर लक्ष्य जाने से, परद्रव्य पर लक्ष्य जाने से, हों! परद्रव्य कराता है—ऐसा नहीं। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ अन्दर (विराजता है) उसके ऊपर लक्ष्य

नहीं होने से उसका लक्ष्य पर के ऊपर जाता है। अपना-प्रभु का अस्तित्व, अपने को महिमा की खबर नहीं, इसलिए अनादि से इसका लक्ष्य पर के ऊपर जाता है। वह परवस्तु है, यह निमित्त है और उस निमित्त से होते भाव अपने अपने से होते हैं। निमित्त से नहीं, स्वभाव से नहीं। समझ में आया? **परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं।**

यदि ऐसा न माना जाए तो... यदि ऐसा न माना जाए तो **द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा,...** यदि ऐसा न माने तो भगवान ने ऐसा कहा कि द्रव्य-परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाने से तुझे विकार होता है, इसलिए तू उसका कर्ता होता है। आहाहा! समझ में आया? वस्तु कर्ता है नहीं, वस्तु तो आनन्दकन्द प्रभु है। आहाहा! क्या कहा? **यदि ऐसा न माना जाए तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा,...** है? यह राग का कर्ता है। अज्ञानभाव से राग का कर्ता है। निमित्त के लक्ष्य से कर्ता है।

और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा,... आहाहा! निमित्त के लक्ष्य से राग-द्वेष होते हैं, यह वास्तविक है। समझ में आया? ऐसा प्रभु का उपदेश है, वह बराबर है। आहाहा! **और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा,...** निमित्त के लक्ष्य से विकार है यह यदि तू न माने तो अकेले आत्मा पर आ जाने से आत्मा विकार करे ऐसा है ही नहीं। आहाहा! **आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा,...** निमित्तपना समझे? निमित्त अर्थात् उपादानपना अपना, ऐसा। निमित्त अर्थात् कारण। रागादिभावों का निमित्त अर्थात् स्वयं कारणपना आ पड़ने से **नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जाएगा,...** आहाहा!

भगवान नित्यानन्द प्रभु यदि निमित्त के लक्ष्य से विकार हो, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक को प्रसिद्ध करने से आत्मा अकारक सिद्ध है, ऐसा न हो तो आत्मा राग का कर्ता नित्य सिद्ध होगा। यह तो पर्याय में क्षणिक में पर के लक्ष्य से करता है, परन्तु यदि ऐसा न माने तो आत्मा कर्ता (सिद्ध होगा), तो आत्मा नित्य है, तो आत्मा नित्य राग का कर्ता होवे तो कभी सुखी होगा नहीं, धर्म कभी होगा ही नहीं। समझ में आया इसमें कुछ?

फिर से, द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के **कर्तृत्व के...** अज्ञानभाव से यह राग-द्वेष करता है, ऐसा कहते हैं। यह उपदेश है, वह **निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा, और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा,...** निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से विकार होता है, ऐसा यदि न माने, निमित्त के लक्ष्य से होते (रागादि) नैमित्तिक न माने तो आत्मा के ऊपर कर्तापना आ पड़े, तो आत्मा नित्य है तो आत्मा नित्य विकार को करे तो कभी निर्विकारी नहीं होगा और ऐसा कभी नहीं बनता। आहाहा! समझ में आया इसमें? रात्रि में चर्चा बन्द है, नहीं तो इसमें से चर्चा हो। रात्रिचर्चा बन्द है न! क्या कहा यह?

द्रव्य और भाव के **कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश...** पर के लक्ष्य से विकार होता है, ऐसा जो उपदेश है, वह **निरर्थक ही होगा,...** अकेला आत्मा करे तो, **और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का...** अकेले आत्मा को पर के लक्ष्य बिना पुण्य और पाप का भाव आ पड़े और कर्ता हो, तब तो आत्मा नित्य है तो विकार भी नित्य करे, समाप्त। तब तो कभी इसे दुःख मिटे नहीं, कभी सुखी हो नहीं और धर्म हो नहीं तथा मोक्ष हो नहीं। आहाहा! समझ में आया इसमें?

एक ही आत्मा को रागादि... यह क्या कहा? निमित्त के लक्ष्य से विकार होता है, ऐसा यदि तू न माने तो अकेले आत्मा को रागादि का कर्तापना आ पड़ने से आत्मा नित्य है तो नित्यकर्तापना सिद्ध हो जाए। यह वीतरागस्वरूप है, उसे रागपने का कर्तापना सिद्ध हो जाए। आहाहा! गजब की बात है। **आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व...** (निमित्तपना) समझे? निमित्त अर्थात् कारण। आत्मा को राग-द्वेष का कारणपना आ पड़े। निमित्त के लक्ष्य से नैमित्तिक होने से, प्रसिद्ध करने से आत्मा अकारक है, ऐसा यदि सिद्ध न हो तो आत्मा अकेला राग का कर्ता सिद्ध होने से आत्मा नित्य है तो राग का कर्ता नित्य सिद्ध हो। आहाहा!

निमित्तत्व आ जाएगा, जिससे नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जाएगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। तो आत्मा का मोक्ष कभी होगा ही नहीं। आहाहा! क्या कहा यह? कि निमित्त के ऊपर लक्ष्य जाने से... निमित्त परवस्तु है। जैसे तू है, वैसे पर भी

है। उस पर के लक्ष्य से विकार होता है, वह निमित्त-नैमित्तिक प्रसिद्ध करता है कि आत्मा अकारक है। और ऐसा यदि न माने तो उपदेश निरर्थक होगा। तो आत्मा अकेला राग का कर्ता सिद्ध होने से निमित्त-निमित्त सम्बन्ध नहीं रहा। आत्मा राग का कर्ता सिद्ध होने से आत्मा राग का नित्यकर्ता सिद्ध हो तो कभी मोक्ष होगा नहीं। अब बनिया और व्यापारी को ऐसी बातें। अकेला न्याय का विषय है। हैं? **मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा।** फिर यह बात विशेष है..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३४९, गाथा-२८३ से २८५ रविवार, कार्तिक शुक्ल १४
दिनाङ्क - १८-११-१९७९

समयसार, गाथा २८३ से २८५, यह चलता है न? २८३ से २८५ फिर से लेते हैं।

टीका :- आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है;... क्या कहते हैं? आत्मा जो है, वह वस्तु, (वह) शुद्ध चिदानन्द ज्ञानानन्दस्वरूप, वह स्वयं से तो राग, दया, दान, व्रतादि के परिणाम का अकारक है तथा वस्तु है, वह पूर्ण पवित्र है, उसके सब गुण पवित्र हैं। जो पवित्र है, वह स्वयं से अपवित्रता—रागादि को उत्पन्न करे, ऐसा नहीं होता। समझ में आया?

आत्मा लिया न पहला? आत्मा अर्थात् शुद्ध चिदानन्द ज्ञानानन्द सच्चिदानन्दस्वरूप, वह स्वयं अपने से राग-द्वेष विकार, विकार का कर्ता होता ही नहीं, अकारक है। क्योंकि वस्तु और वस्तु का गुण, यह सब पवित्र है। पवित्र है, वह विकार के अपवित्र को करे, ऐसा नहीं होता। समझ में आया?

यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिभावों का कारक हो तो)... आत्मा स्वयं से अपने आश्रय से राग-द्वेष, पुण्य और पाप विकारीभाव (का) स्वयं से कारक हो... है? **(आत्मा स्वतः ही रागादिभावों का कारक हो तो) अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।** भगवान ने दो प्रकार का उपदेश कहा कि राग से हट जा, स्वभाव में आ जा। ऐसा जो उपदेश किया,

वही ऐसा बताता है, कि आत्मा अपने आश्रय से स्वयं आप विकार करे, ऐसा नहीं होता। रागादि भावों का **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।** भगवान का दो प्रकार का उपदेश है, कि विकार वर्तमान में है, उसे छोड़ दे और भविष्य में विकार हो, उसका प्रत्याख्यान कर, छोड़ दे। ऐसा जो उपदेश है।... अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान तो शुद्धनय का कथन है, इसलिए कहा है। बात तो ऐसी है कि भगवान का उपदेश ऐसा है कि वर्तमान में विकार जो पुण्य-पाप है, उसका प्रतिक्रमण अर्थात् विमुख हो जा और भविष्य में भी विकार होगा, उससे तू हट जा। ऐसा जो भगवान का उपदेश है, वह उपदेश ऐसा सिद्ध करता है, **द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।**

यदि अकेला आत्मा स्वयं से विकार करे तो वर्तमान और भविष्य में इस विकार से रहित हो, यह उपदेश नहीं बन सकेगा। समझ में आया? अकेला न्याय का विषय है। अकेला प्रभु सच्चिदानन्द आत्मा, वह तो पवित्रता का पिण्ड और पुण्य-पाप के भाव से रहित वस्तु है, वह आत्मा है। अब वह आत्मा स्वयं से विकार करे, ऐसा नहीं बन सकता। अर्थात् कि अपने आश्रय से राग, दया, दान या काम, क्रोध के परिणाम (कर नहीं सकता)। अपने में पवित्रता है, शुद्ध चैतन्यघन है, इसलिए उसके आश्रय से तो विकार हो नहीं सकता। इसलिए आत्मा की वस्तुस्थिति से विकार का अकर्ता है। यदि ऐसा न हो तो भगवान का जो दो प्रकार का उपदेश है कि वर्तमान में विकार से छूट जा, भविष्य में विकार का त्याग कर, प्रत्याख्यान कर—ऐसा जो कहा, उसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा स्वयं अपनी जाति से अकेला पर के लक्ष्य और सम्बन्ध बिना स्वयं अकेला आत्मा राग-द्वेष को करे, ऐसा कभी नहीं हो सकता। समझ में आया? यह तो परसों चल गया है, परन्तु यह तो मेल करने के लिये (फिर से लिया है।)

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान... ये तो पहले दो बोल लिये। पर से हटना और भविष्य में पर को न करना। ऐसा जो उपदेश था, वह ऐसा बताता है कि आत्मा स्वयं अकेला अपने आश्रय से विकार करे, ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के उपदेश में दो प्रकार आये। द्रव्य और भाव। पहले अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान (ऐसे) दो प्रकार कहे। अब अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दो प्रकार से (कहते हैं।) क्या कहा यह?

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से.. क्या कहते हैं ? आहाहा ! अपने स्वभाव के आश्रय बिना परद्रव्य जो है, जिसे स्वद्रव्य का लक्ष्य नहीं, उसे परद्रव्य का लक्ष्य है, वह परद्रव्य निमित्त है और निमित्त के अवलम्बन से अपने में नैमित्तिक विकार होता है, ऐसा जो द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिक का उपदेश, स्वयं (अपने से) अकेला कर्ता हो तो ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा सूक्ष्म है।

बात तो सिद्ध करनी है कि (तू) ज्ञायक चैतन्य है, उसकी दृष्टि कर। वह वस्तु स्वयं विकार का करनेवाली है ही नहीं, वह तो अबन्धस्वरूपी ही है। आहाहा ! उसमें विकार -संसार उत्पन्न हो, ऐसी वह चीज़ ही नहीं है। आहाहा ! तब कहे, उस चीज़ में ऐसा जो उपदेश किया, इस कारण से ऐसा सिद्ध होता है कि परद्रव्य का लक्ष्य करता है, उसमें नैमित्तिक विकार होता है, वह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध के व्यवहार से विकार होता है। अपने सम्बन्ध और अपने आश्रय से विकार हो, ऐसा कभी नहीं हो सकता। समझ में आया ? ऐसी बातें !

द्रव्य और भाव के भेद से.. द्रव्य अर्थात् परवस्तु। जैसे स्वद्रव्य चैतन्य भगवान है, उसका जब लक्ष्य छूटा, तब भगवान ने ऐसा कहा कि परद्रव्य का लक्ष्य करता है, उस द्रव्य के निमित्त से, नैमित्तिक—अपने में विकार होता है। निमित्त से नहीं होता, परन्तु निमित्त के लक्ष्य से नैमित्तिक में विकार होता है, ऐसा द्रव्य और भाव, अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान—ऐसे द्रव्य और भाव का जो उपदेश है, वह ऐसा सिद्ध करता है कि अकेला आत्मा अपने आश्रय से विकार करे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। आहाहा ! समझ में आया इसमें ?

(दो प्रकार का) उपदेश है वह, द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,... क्या कहते हैं यह ? भगवान का उपदेश है कि द्रव्य जो आत्मा है, वह अपना आश्रय छोड़कर जो द्रव्य—परवस्तु है, उसके ऊपर उसका लक्ष्य और आश्रय जाता है, उसके आश्रय से इसे विकार होता है, ऐसा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध का जो उपदेश है, वह यदि स्वयं कर्ता हो तो यह बात नहीं बन सकती। ऐसी बातें हैं। **(दो प्रकार का) उपदेश है वह, द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,...**

यह क्या कहते हैं ? यह द्रव्य नहीं। परद्रव्य का निमित्तपना और उसके आश्रय से होता नैमित्तिक, ऐसा जो उपदेश है, वह ऐसा सिद्ध करता है कि आत्मा स्वयं के आश्रय से विकार करे—ऐसा उसका स्वरूप है नहीं। वह निमित्त का लक्ष्य करता है तो नैमित्तिक में विकार होता है और (स्व) द्रव्य का लक्ष्य करे तो निर्विकारी पर्याय होती है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। समझ में आया इसमें ? क्या कहते हैं ?

(दो प्रकार का) उपदेश है वह, द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट... करता है। अर्थात् ? परवस्तु पर, निमित्त पर उसका लक्ष्य जाता है। निमित्त कराता नहीं परन्तु स्वद्रव्य के आश्रय का लक्ष्य छोड़कर पर में द्रव्य के लक्ष्य में जाता है, वहाँ निमित्त वह है और निमित्त के आश्रय से अपने को नैमित्तिक विकार होता है, ऐसा जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध प्रसिद्ध करता है, वह ऐसा सिद्ध करता है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बिना अकेला आत्मा राग का अकर्ता है। प्रवीणभाई! ऐसी सूक्ष्म बात है। आहाहा!

इसका अर्थ ऐसा है, प्रभु! तू ज्ञायक चिदानन्द आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु है, बस! उसका आश्रय और दृष्टि कर और उसका स्वीकार हो, स्वद्रव्य का स्वीकार हो तो पर्याय में निर्विकारी दशा हो। स्वद्रव्य का स्वीकार न हो, तब परद्रव्य के निमित्त पर इसका लक्ष्य जाए, तब नैमित्तिक में मिथ्यात्व और राग-द्वेष का विकार हुए बिना नहीं रहता। समझ में आया ? परसों सवेरे अपने आ गया था। यह तो बाद की जरा सन्धि है न, इसलिए (लिया है)। आहाहा!

भगवत्स्वरूप प्रभु... आहाहा! उसका स्वरूप ही चैतन्य सच्चिदानन्द अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त वीतरागता, वह स्वयं स्वरूप से ऐसा वीतराग है तो वीतराग के लक्ष्य से विकार हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। उस वीतराग स्वभाव के लक्ष्य से तो वीतरागी मुक्ति का मार्ग उत्पन्न होता है। वीतरागी प्रभु आत्मा, निर्दोष परमात्मस्वरूप के आश्रय से तो मुक्ति का मार्ग, मोक्ष का मार्ग शुरु होता है, परन्तु ऐसा नहीं है तब है क्या ? कि अपना आश्रय छोड़कर, ऐसी जो दृष्टि करनी चाहिए, उसे छोड़कर, ऐसे निमित्त की दृष्टि करता है। संयोगी निमित्त की दृष्टि करता है। निमित्त से होता है, ऐसा नहीं। आहाहा!

एक प्रकार से तो ऐसा भी है कि यह द्रव्य जो ज्ञायकस्वरूप है, उसका आश्रय करता

है, इसलिए द्रव्य के कारण अविकारी पर्याय होती है, ऐसा नहीं है। भाई! भगवान ज्ञायक चिदानन्द आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द, वह द्रव्य है। उसके आश्रय से निर्विकारी (पर्याय) हो, वह उसके कारण नहीं। वह पर्याय अन्दर लक्ष्य करती है उस पर्याय में निर्विकारी दशा होती है। इस प्रकार निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। अर्थात् क्या कहा?

आत्मा निमित्त अर्थात् कारण और उसकी जिसने दृष्टि की, उसकी पर्याय में निर्विकारी दशा होती है। ऐसा उसका स्वरूप है। निमित्त के कारण भी कहा जाता है। निमित्त कारण जो द्रव्य है, उसका लक्ष्य किया, इसलिए उससे निर्मल पर्याय होती है-ऐसा नहीं है, परन्तु उसका लक्ष्य किया है, उस पर्याय में मोक्ष का मार्ग—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। एक बात। जब अब उस द्रव्यस्वभाव पर, अस्तिपने का जो स्वभाव है, उसके ऊपर दृष्टि नहीं है, तब उसकी दृष्टि जब परद्रव्य के ऊपर जाती है, तब परद्रव्य नुकसान-विकार कराता नहीं। आहाहा! तथा स्वद्रव्य के आश्रय से द्रव्य निर्विकारी पर्याय करता नहीं। हिम्मतभाई! आहाहा!

भगवान आत्मा... समझ में आये, उतना समझना, बापू! यह तो गहरा मार्ग है। वीतराग मार्ग है। आहाहा! अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी जिसने अपना परिचय नहीं किया। आहाहा! वह निमित्त के परिचय में नैमित्तिक मिथ्यात्व, राग-द्वेष हों, उनसे परिभ्रमण कर रहा है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि जैसे वह स्वद्रव्य प्रभु चैतन्य ज्ञायक आनन्दस्वरूप है, उसके लक्ष्य से-उसके आश्रय से पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो, वह भी षट्कारक के स्वतन्त्र परिणमन से अविकारी दशा होती है। क्या कहा यह? भगवान अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान और शान्ति का सागर, उसका स्वीकार होने पर स्वीकार करनेवाली पर्याय में जो निर्दोषता होती है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, वह स्वतन्त्र होते हैं, वह द्रव्य कर्ता नहीं, वह पर्याय स्वयं ही कर्ता स्वतन्त्ररूप से होती है। आहाहा! द्रव्य तो मात्र निमित्त अर्थात् वस्तुरूप से-कारणरूप से है। इसी प्रकार जब आत्मा अपने स्वभाव के आश्रय से मोक्ष का मार्ग प्रगट करता है, वह भी स्वतन्त्र षट्कारक की परिणति खड़ी होती है, वह मोक्ष का मार्ग षट्कारक—पर्याय कर्ता, पर्याय कर्म, पर्याय करण, पर्याय सम्प्रदान, पर्याय

अपादान, पर्याय आधार। वह पर्याय भी स्वयं से मात्र स्वतन्त्ररूप से, लक्ष्य स्वयं स्वतन्त्ररूप से (करती है)। पर्याय स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर द्रव्य का लक्ष्य करती है। द्रव्य के कारण यहाँ पर्याय होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इसी तरह अपने स्वभाव को छोड़कर, भगवान ने जब द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के दो-दो प्रकार कहे, उसका अर्थ ऐसा हुआ कि एक दूसरी चीज़ पर उसका लक्ष्य जाता है। वह दूसरी चीज़ इसे विकार नहीं कराती। जैसे वर्तमान पर्याय स्व का आश्रय करते हुए द्रव्य निर्विकारी (पर्याय) नहीं कराता, निर्विकारी पर्याय स्वतन्त्र होती है। परसों से जरा थोड़ा दूसरा आया। वह का वह आता है कहीं? आहाहा!

यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण के दो प्रकार। द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण। भाव अप्रतिक्रमण और भाव अप्रत्याख्यान। द्रव्य अप्रतिक्रमण अर्थात् जो निमित्त परद्रव्य है, उसका आश्रय करता है। इसलिए यहाँ नैमित्तिक में विकार उत्पन्न होता है। निमित्त विकार कराता नहीं, तथा निर्विकारी दशा द्रव्य कराता नहीं। निर्विकारी दशा पर्याय स्वतन्त्ररूप से करती है। इसी प्रकार अपना आश्रय छोड़कर परद्रव्य के निमित्त का आश्रय करता है, तब वह निमित्त इसे विकार नहीं कराता, परन्तु निमित्त के लक्ष्य से इसे विकार होता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वह ऐसा प्रसिद्ध करता है कि आत्मा स्वयं अकेला निमित्त के आश्रय बिना विकार करे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। वह तो एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, तीन्द्रिया था, लो! मिच्छामी दुक्कडम... तस्सूतरी... यह सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा!

यह परमात्मा की बात है, प्रभु! तू परमात्मा है न! परमात्मा है, उसके आश्रय से कहीं विकार होगा? परमेश्वर है न तू! आहाहा! भगवान परमेश्वर है, उस परमेश्वर के आश्रय से विकार होगा? परमेश्वर के आश्रय से तो पर्याय में निर्विकारी मोक्ष का मार्ग होगा। इसलिए वह आत्मा राग का अकर्ता, उसका स्वरूप ही ऐसा है। राग का, दया, दान के विकल्प का अकर्ता, ऐसा ही उसका स्वरूप है। क्योंकि जब भगवान ने ऐसा कहा कि द्रव्य से लक्ष्य छोड़ और भाव से लक्ष्य छोड़। निमित्त-नैमित्तिक का सम्बन्ध, लक्ष्य छोड़। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध प्रसिद्ध करता है कि निमित्त के लक्ष्य से तुझे विकार होगा, यह

सिद्ध करता है कि आत्मा अकेला अपने आश्रय से विकार करे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। थोड़ा अभ्यास चाहिए, भाई! यह तो वस्तु की स्थिति है, वस्तु की मर्यादा ही यह है। भगवान ने कुछ की नहीं है। भगवान ने तो जानी है, जानी है, वैसी कही है। आहाहा!

यहाँ तक अपने (आया) कि **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव...** द्रव्य अर्थात् सामने निमित्त और भाव अपने में नैमित्तिक विकार होता है वह। वह **भेद से द्विविध (दो प्रकार का) उपदेश है वह, द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,...** वह द्रव्य अर्थात् पर का निमित्त और उससे होता विकार, इन दो को प्रसिद्ध करता हुआ, आत्मा अकारक है —ऐसा सिद्ध होता है। आहाहा! समझ में आया इसमें? श्रीपालजी! ऐसा स्वरूप है, भाई!

थोड़ा भी परमसत्य चाहिए, बापू! यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर का भरतक्षेत्र में विरह पड़ा परन्तु उनकी वाणी तो ऐसी ही रह गयी। आहाहा! यह टीका तो देखो! इन टीकाकार को काष्टासंघी कहते हैं, भाई! वह विद्यासागर है न? कल पुस्तक आयी है (उसमें लिखते हैं), 'अमृतचन्द्राचार्य काष्टासंघी' थे। दर्शनसार में काष्टासंघी को मिथ्यात्वी ठहराया है। मिथ्यात्वी... अरर! प्रभु.. प्रभु! क्या करता है, प्रभु! तू क्या करता है प्रभु? यह अमृतचन्द्राचार्य की टीका तो देखो! दर्शनसार पुस्तक है, उसमें काष्टासंघी को मिथ्यात्व में डाला है। अब यह अमृतचन्द्राचार्य ने स्त्री को मुक्ति सिद्ध नहीं की, स्त्री को मुक्ति है, नहीं ऐसा सिद्ध नहीं किया, इसलिए ये काष्टासंघी हैं, ऐसा (वे लोग) कहते हैं। आहाहा!

प्रवचनसार के पहले भाग की गुणगान किये हैं। भाई! प्रवचनसार, रामजीभाई! प्रवचनसार के पहले भाग में कुन्दकुन्दाचार्यदेव की अमृतचन्द्राचार्यदेव ने पूरी व्याख्या की है न? अनेकान्त में ऐसा है और वैसा है और अमुक है।

मुमुक्षु : जिनका संसार का किनारा निकट है...

पूज्य गुरुदेवश्री : किनारा निकट है, मोक्ष के नजदीक है। ऐसा जो कुन्दकुन्दाचार्यदेव की बातें अमृतचन्द्राचार्यदेव करे, उन्हें काष्टासंघी कहना... प्रभु... प्रभु...प्रभु! कोई पूछनेवाला

नहीं। अरेरे! आहाहा! है न? भाई! प्रवचनसार में पहला बड़ा कथन यह है। अनेकान्ती, सिद्धान्ति, ऐसा है, वैसा है। आहाहा! जिन्हें अनेकान्तविद्या सिद्ध हुई है। आहाहा! पूरा बड़ा पैराग्राफ है। वह स्वयं अमृतचन्द्राचार्यदेव ने किया है। यह अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका है। आहाहा! देखो तो टीका! गजब टीका है! आहाहा! यह तो मूल संघ के कुन्दकुन्दाचार्यदेव के अनुगामी थे। कुन्दकुन्दाचार्यदेव की परम्परा से अनुगामी (थे), उनका निषेध करते हैं। ये परम्परा के नहीं थे, जयसेनाचार्यदेव परम्परा के थे। कल दो पुस्तक खीमचन्दभाई को दिये। लिखा है, चिह्न किया है। इतना पढ़ा था, भाई ने पढ़ा था। आहाहा! प्रभु.. प्रभु.. प्रभु..! भगवान! तेरा भला हो। भगवान! ऐसा नहीं होता। आहाहा!

अमृतचन्द्राचार्यदेव की यहाँ पुकार है, आहाहा! ऐसी टीका—स्पष्टीकरण, कि अकेला भगवान आत्मा पर के सम्बन्ध के लक्ष्य बिना विकार करे, ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। आहाहा! क्योंकि वह स्वयं पवित्र का पिण्ड प्रभु है। उस पवित्रता का आश्रय ले तो पर्याय में पवित्रता ही होती है। अपवित्रता होती ही नहीं, इसलिए अपवित्रता का आत्मा अकारक है। अपवित्रता अर्थात् पुण्य-पाप, दया, दान के विकल्प का आत्मा अकर्ता है। क्यों अकर्ता है? कि भगवान ने दो प्रकार का उपदेश किया है। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान। भगवान ने इनके दो भेद किये हैं, द्रव्य और भाव। अप्रतिक्रमण अर्थात् द्रव्य का अप्रतिक्रमण अर्थात् (पर) द्रव्य से हटता नहीं, इसलिए वहाँ लक्ष्य जाता है, तब इसे नैमित्तिक में विकार होता है। ऐसे भविष्य में भी निमित्त पर लक्ष्य जाता है, तब इसे विकार होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के विकार की व्याख्या जो की है, वह ऐसा सिद्ध करती है, पर के लक्ष्य बिना अकेला आत्मा अपने आश्रय से विकार करे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! धन्य.. धन्य नाथ!

बाह्य त्याग में लोगों को अभिमान आ जाता है। बाह्य त्याग जरा करे, नग्न हो जाए, वस्त्र छोड़े तो मानो हम (त्यागी हो गये)। प्रभु.. प्रभु! ऐसा नहीं होता, बापू! भाई! तुझे नुकसान होगा, बापू! प्रभु! दुनिया में सत्य होगा, वह सत्य रहेगा, भाई! आहाहा! यह तो क्या कहना है? यह अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका। प्रवीणभाई! ऐसा ही अमृतचन्द्राचार्यदेव ने प्रवचनसार के पहले (अधिकार में) कुन्दकुन्दाचार्यदेव का स्पष्टीकरण किया। आहाहा!

प्रभु! तुझे तेरी प्रभुता की खबर नहीं है, हों! आहाहा! तू परमेश्वरस्वरूप है, परमात्मस्वरूप है, वीतरागस्वरूप है, अनन्त आनन्द के कन्द के पिण्ड स्वरूप है, अनन्त ज्ञान और शान्ति... शान्ति... शान्ति... अनन्त बेहद शान्ति का सागर है, प्रभु! तेरे आश्रय से विकार हो, यह आत्मा तो विकार का अकारक है। आहाहा! तब कहे, यह होता क्या है? दिखता है न यह संसार। वह ऐसा कहते हैं, प्रभु! भगवान ने निमित्त द्रव्य और उसके आश्रय से होता नैमित्तिक विकार, यह निमित्त-नैमित्तिक की प्रसिद्धि की है, वह सिद्ध करता है कि निमित्त-नैमित्तिक के सम्बन्ध बिना अकेला आत्मा राग को करे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! धीरे-धीरे कहा जाता है, बापू! हैं? आहाहा! मुद्दे की बात है, भाई! आहाहा! पुस्तक है न सामने? हैं?

मुमुक्षु : स्वभाव तो वीतरागी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वभाव तो चिदानन्द निर्मल अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द ही है। उसमें दु:ख और विकार कैसा? आहा! ऐसा भगवान पूर्ण स्वरूप स्वयं से विकार का अकारक है। आहाहा! क्योंकि सब गुण, अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. भरे हैं परन्तु कोई गुण विकार करे, ऐसा स्वगुण है ही नहीं। तो वह आत्मा तो स्वत: अपने गुण और शक्ति की अपेक्षा से दया, दान के परिणाम का भी अकारक सिद्ध होता है। आहाहा! हैं? गजब है, प्रभु! आहाहा! कहो, देवीलालजी! आहाहा!

यहाँ परमात्मा अमृतचन्द्राचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि जो यह निमित्त-नैमित्तिकपने का प्रसिद्ध करते हैं, उस परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, परद्रव्य से (विकार) नहीं होता, परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, इससे विकार होता है। स्वद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, तब निर्विकार होता है। वह द्रव्य से नहीं होता। वह पर्याय की स्वतन्त्रता से होता है। इस प्रकार निमित्त पर लक्ष्य जाने से, निमित्त विकार कराता नहीं परन्तु, इसे—विकार करनेवाले को निमित्त पर लक्ष्य जाने से निमित्त द्रव्य है और उससे उत्पन्न होता भाव अपने में अपने कारण से वह नैमित्तिक है, यह निमित्त-नैमित्तिक ऐसा प्रसिद्ध करता है कि... है? **निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ, आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है।** भाई! आहाहा! ऐसी बात है।

अरे! किसका पक्ष? प्रभु! जैसा सत्य है, वैसा रहने दे न। पालन न किया जा सके, वह अलग बात है, परन्तु दृष्टि और ज्ञान में तो गड़बड़ न करे। समझ में आया? आहाहा! स्वरूप में रमणता बन नहीं सकती, बापू! पुरुषार्थ मन्द है न! परन्तु दृष्टि और ज्ञान में तो जैसा है, वैसा रहने दे न! हैं? आहाहा!

दृष्टि और ज्ञान जब स्वभाव के ऊपर लक्ष्य जाता है, तब तो उसे मोक्ष का मार्ग उत्पन्न होता है। तब वह ऐसा सिद्ध करता है कि उसका लक्ष्य जब निमित्त के ऊपर जाता है, तब नैमित्तिक विकार उत्पन्न होता है। वह निमित्त-नैमित्तिक ऐसा प्रसिद्ध करता है कि अकेला आत्मा विकार का अकारक है। आहाहा! चन्दुभाई नहीं आये? दो-तीन दिन से आना है.. आना है... कहते थे। आहाहा! एक व्याख्यान में बस है। आहाहा! फिर उसका विस्तार— टीका है। आहाहा!

यह द्रव्य और भाव का... द्रव्य अर्थात् परवस्तु, हों! वह कराती नहीं, वह तो निमित्त है, परन्तु निमित्त पर इसका लक्ष्य जाता है, इसलिए इसे नैमित्तिक विकार होता है, वह निमित्त-नैमित्तिकपने को प्रसिद्ध करता हुआ आत्मा के अकर्तापने को बतलाता है। अकेला भगवान आत्मा, पर का लक्ष्य करके विकार होता है, वह यदि न करे तो अकेला आत्मा तो विकार का अकर्ता सिद्ध होता है। समझ में आया? आहाहा! निमित्त के ऊपर लक्ष्य जाने से, द्रव्य का लक्ष्य छोड़ने से, वस्तु का स्वरूप है, उसका लक्ष्य छोड़ने से, पर (के ऊपर) लक्ष्य जाने से पर्याय में नैमित्तिक-विकार होता है। वह निमित्त-नैमित्तिक ऐसा प्रसिद्ध करता है कि आत्मा अकेला निमित्त के लक्ष्य बिना स्व के लक्ष से विकार करे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! प्रवीणभाई! बराबर ठीक आ गये हैं। चन्दुभाई का विचारता था, परन्तु नहीं आये। आहाहा! ऐसी बात है। मार्ग ऐसा है, प्रभु! आहा..!

चारित्रदोष दूसरी बात है, वह भी निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से होता है। तथापि वह चारित्र दोष दूसरी बात है और श्रद्धा दोष मूल बात है। आहाहा! वह (चारित्रमोह) कमजोरी का दोष है और उसे टालना चाहता है तो भी वह नहीं टलता, तब तक इसकी पुरुषार्थ की कमजोरी है, परन्तु यह वस्तु... आहाहा! ज्ञायक अनन्त गुण का पिण्ड पवित्रता का सागर नाथ, अकेला विकार का अकर्ता है, अकारक है। क्योंकि इसके द्रव्य और गुण में विकार

है ही नहीं। द्रव्य-गुण में विकार नहीं तो पर्याय में विकार का कर्ता वह कैसे हो? आहाहा! तब कहे, इस विकार का उपदेश तो भगवान का है न? कि विकार से प्रतिक्रमण करके हट जा, भविष्य में से (प्रत्याख्यान करके) हट जा। ऐसा उपदेश है न? वह उपदेश ऐसा प्रसिद्ध करता है कि पर के लक्ष्य से उत्पन्न होता विकार, वह निमित्त-नैमित्तिक ऐसा प्रसिद्ध करता है कि अकेला आत्मा निमित्त के लक्ष्य बिना विकार करे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! कहो, देवीलालजी! ऐसी बात है। परसो थे या नहीं? परसों। यह तो परसों का अधिक है। आहाहा!

मुमुक्षु : मूल मन्त्र आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह तो प्रभु के मूल मन्त्र हैं।

आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है। इसलिए यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है... निमित्त है, हों! निमित्त है अर्थात् निमित्त कराता है और विकार निमित्त से होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! वास्तव में तो भगवान द्रव्य जो शुद्ध चैतन्य है, उसका लक्ष्य होने पर द्रव्य निर्विकारी पर्याय करता है। ऐसा भी नहीं है। आहाहा! क्योंकि द्रव्य है, वह तो ध्रुव है। मात्र लक्ष्य करनेवाली पर्याय स्वतन्त्र कर्तारूप से लक्ष्य करती है, इसलिए पर्याय में स्वतन्त्ररूप से षट्कारकरूप से निर्विकारदशा होती है। इसी प्रकार यहाँ निमित्त परद्रव्य है परन्तु निमित्त से नैमित्तिक विकार नहीं होता। आहाहा! है?

परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं। इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि परद्रव्य निमित्त है, इसलिए निमित्त यहाँ विकार कराता है। तो वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं हुआ। वह तो कर्ता-कर्म सम्बन्ध हुआ। भाई! परद्रव्य करावे और आत्मा विकार करे, परद्रव्य करावे और विकार करे तो कर्ता-कर्म सम्बन्ध हुआ। वह यहाँ इनकार करते हैं। यहाँ तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध प्रसिद्ध करता है। वह ऐसा प्रसिद्ध करता है कि एक दूसरी वस्तु है। जैसे तू स्वयं चीज़ है, वैसे दूसरी एक चीज़ है। जैसे अपनी चीज़ पर दृष्टि नहीं, तब पर के ऊपर उसका लक्ष्य जाता है। लक्ष्य जाने पर वह लक्ष्य जिसके ऊपर जाता है, वह विकार कराता नहीं। विकार, तू स्वयं नैमित्तिकरूप से निमित्त के लक्ष्य से तू करता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। सूक्ष्म बहुत, बापू! फिर सोनगढ़वालों को एकान्त करके (निकाल देते हैं)। आहाहा!

कल तो विद्यानन्दजी का एक लेख आया है। चातुर्मास हो गया न? इन्दौर में तो बहुत धामधूम हो गयी। एकान्त अध्यात्म की इन्दौर में से विदाई हो गयी, ऐसा लेख है। विदाईगिरी हो गयी। प्रभु! ठीक है, भाई! बापू! एकान्त कैसे कहलाये? प्रभु! शान्ति से देख, बापू! भगवान! ऐसे आक्षेप नहीं किया जाता। तू भी भगवान है, भाई! तेरी भूल निकल जाए, ऐसी भावना होती है। भूल रहकर भटक, ऐसी भावना होगी? भाई! आहाहा!

यह कहा था, तीन जगह, भाई! प्रवीणभाई! द्रव्यसंग्रह में धर्मध्यान का एक अवाय बोल आता है। आज्ञाविचय, अपायविचय। उसमें ऐसा बोल आता है कि धर्मी ऐसा विचार करता है कि मैं भी पूर्ण होऊँ और सब आत्माएँ परमात्मा होओ। आहाहा! ऐसा धर्मध्यान का अवाय का एक भेद है। आहाहा! वह दुःखी होकर भटके, ऐसा नहीं होता, बापू! आहाहा! सुखी होओ, पूर्णानन्द को प्राप्त करो। एक यह है। और सर्व जीवादि, भावना में है। इस बन्ध अधिकार में टीका में है। सर्व जीव शुद्ध पूर्ण स्वरूप मन-वचन-काया, कृत-कारित-अनुमोदना के भावरहित अकेला परमात्मा होओ। सर्व जीव परमात्मा होओ। 'सव्वे जीवा निरन्तर भावना कर्तव्यम्'—ऐसा पाठ है। सर्व जीवों को निरन्तर ऐसी भावना करना। दो। और ३८ गाथा का कलश। 'मज्जन्तु'। प्रभु! सब जीव आकर अन्दर समा जाओ। लोकालोक को जानने में अन्दर आ जाओ। आहाहा! ३८ गाथा, 'मज्जन्तु' श्लोक है न? प्रभु! कोई भटके, दुःखी हो, (ऐसा नहीं होता)। आहाहा! परमात्मा होओ, प्रभु! मोक्ष को पाओ, बापू! सुखी होओ। आहाहा! परन्तु सुखी होने का रास्ता यह है।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा प्रसिद्ध करता है कि अकेले स्वभाव के सम्बन्ध से विकार हो, उसका निषेध करता है। आहाहा! मात्र अपना आश्रय और लक्ष्य छोड़ता है, तब स्वयं स्वतन्त्ररूप से परद्रव्य निमित्त है, चाहे तो तीर्थंकर हो और चाहे तो तीर्थंकर की वाणी हो। आहाहा! उसके ऊपर लक्ष्य करता है, निमित्त (के ऊपर) लक्ष्य करने से उसे नैमित्तिक विकार होता है। यह निमित्त-नैमित्तिक विकार ऐसा प्रसिद्ध करता है कि यदि यह सम्बन्ध न हो तो अकेला आत्मा अकारक है। आहाहा! ऐसी बात है। थोड़ी सूक्ष्म पड़े परन्तु वस्तु तो ऐसी है। भगवान का यह कथन है, बापू! आहाहा!

आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है। इसलिए यह निश्चित हुआ कि

परद्रव्य निमित्त है... निमित्त है, इसका अर्थ (कि) कुछ करता नहीं, तुझे कराता नहीं, एक चीज है। क्योंकि ऐसा लक्ष्य छोड़ता है, तब ऐसे लक्ष्य जाता है तो यहाँ दूसरी चीज़ है या नहीं? ऐसा स्वरूप भगवान पूर्णानन्द है, उसमें लक्ष्य जाता है, तब तो वह पर में जाए नहीं। जब उसमें नहीं जाता, तब कहीं जाता है तो ऐसी परचीज़ तो है। तेरे अतिरिक्त भी दूसरे अनन्त आत्माएँ और अनन्त परमाणु हैं, उन परद्रव्य पर लक्ष्य जाने से, (वे तो) निमित्त हैं, यह तो निमित्त कहा और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक है। वह स्वयं निमित्त के लक्ष्य से, स्वभाव के लक्ष्य को छोड़कर निमित्त के लक्ष्य से; निमित्त कराता नहीं है, निमित्त के लक्ष्य से नैमित्तिक मिथ्यात्व और राग-द्वेष करता है, वह नैमित्तिक है। आहाहा! सूक्ष्म बात है परन्तु पकड़ में आये ऐसी तो है। प्रभु का मार्ग तो ऐसा है। आहाहा!

यदि ऐसा न माना जाए... अब ऐसा कहते हैं कि **यदि ऐसा न माना जाए तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा,...** द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण है, वह करते हैं, अज्ञानभाव, वह निरर्थक सिद्ध होगा। द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण। द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण, भाव अप्रत्याख्यान और द्रव्य अप्रत्याख्यान। ऐसा जो उपदेश निमित्त-नैमित्तिक का है, वह निरर्थक होगा **और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा,...** देखो! निमित्त शब्द से, निमित्त अर्थात् उसे आत्मा का कारणपना आवे, ऐसा। पर का कारणपना आने पर, पर के लक्ष्य बिना यदि विकार होवे तो उस विकार (में) आत्मा का ही कारण हो, आत्मा ही उसका-विकार का कारण हो। शब्द पड़ा 'निमित्त' है। है।

एक ही आत्मा को... आहाहा! बिगड़े दो। एकड़े एक और बिगड़े दो। दूसरी चीज़ है, उसकी ओर लक्ष्य जाता है तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से विकार होता है। वह ऐसा प्रसिद्ध करता है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धरहित आत्मा अकेला जो है, वह विकार का अकर्ता है। इसमें हमारे धर्म क्या करना ऐसी बात में? ऐसी बात में हमें करना क्या परन्तु? करना यह, धर्म यह। निमित्त और नैमित्तिक का सम्बन्ध छोड़कर भगवान ज्ञायक स्वरूप है, उसकी दृष्टि में सम्बन्ध करना, यह करना है। आहाहा! परन्तु बाहर में क्या

करना ? परन्तु बाहर में कर कहाँ सकता है ? (बाह्य चीज़) तो मात्र निमित्त है, यह तो कहा न ? बाह्य चीज़ तो निमित्त है। उसके लक्ष्य से तू नैमित्तिक विकार करता है। वह नहीं कराता, वस्तु में विकार करने का स्वभाव नहीं। आहाहा!

आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा,... निमित्त, कहा। भाषा देखी ? निमित्त शब्द से (आशय है) कारण। आत्मा को राग-द्वेष, पुण्य-पाप के करने का कारणपना आ पड़ने पर **नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जाएगा,...** जब भगवान आत्मा स्वयं ही विकार का कर्ता होगा, तब तो आत्मा नित्य है तो नित्य विकार करे ही, इसलिए कभी धर्म नहीं हो सकेगा। आहाहा! समझ में आया ? पुण्य-पाप के भाव का आत्मा को कारणपना आ पड़ने पर उस विकार के भाव का... आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, वह भाव यदि निमित्त के लक्ष्य से न हो, ऐसा यदि माने तो उस विकार का करनेवाला आत्मा सिद्ध हो। है न ? तो आत्मा को विकार का कर्तृत्व आ पड़ने से, पर के लक्ष्य बिना अकेला आत्मा ही विकार का कर्ता है, ऐसा आ पड़े। आहाहा! निमित्त के लक्ष्य बिना यदि विकार हो तो अकेला आत्मा में ही विकार आ पड़े। समझ में आया ? आहाहा!

रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा, जिससे नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जाएगा,... आत्मा तो नित्य है। जब निमित्त-निमित्त सम्बन्ध के बिना यदि विकार आत्मा से हो तो आत्मा नित्य हमेशा विकार किया ही करे, हमेशा दुःखी हुआ करे और संसार कभी छूटे नहीं। ऐसे तो न्याय हैं। ऐसे अमृतचन्द्राचार्यदेव! ऐसी टीका, बापू! और अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका बहुत गम्भीर तथा जयसेनाचार्यदेव की टीका (में) व्यवहार साधक और निश्चय साध्य, ऐसा उसमें आवे; इसलिए उन्हें बहुत मीठा लगे। वह तो एक ज्ञान कराया है, बापू! आचार्य कहीं खोटे नहीं है। आहाहा!

कहते हैं कि यदि इस प्रकार से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से विकार को प्रसिद्ध न करें तो अकेले आत्मा को विकार का करना आ पड़े। विकार अर्थात् मिथ्यात्व और राग-द्वेष। वे आ पड़ने पर आत्मा सदा मिथ्यात्व और राग-द्वेष किया ही करे। क्योंकि आत्मा नित्य है तो नित्य विकार और राग-द्वेष रहा करे। कभी मिथ्यात्वरहित होकर मुक्ति के मार्ग में आ नहीं सके। अकेले न्याय भरे हैं न! आहाहा!

ज्ञानसागर ने जयसेनाचार्यदेव की टीका की है न? और वे विद्यासागर उनके शिष्य हैं। भगवान! प्रभु... प्रभु... प्रभु..! लोग कैसे माने? सहन करते हैं? पाठ में लेख आया है। कल पुस्तक आयी, उसमें लेख आया है। अमृतचन्द्राचार्यदेव काष्टासंघी थे। काष्टासंघी स्त्री को मुक्ति को मानते थे। अरे! भगवान! ऐसा तू क्या करता है। समाज तो बेचारी भोली, ऊपर त्यागी हो, वस्त्र-वस्त्र छोड़े हों, छोटाभाई! उसे हाँ.. हाँ.. करे। बराबर है, बराबर है। वे और यहाँ के लिये कहते हैं, यहाँ के भोले मूर्ख। सिर पर कहे वह हाँ, हाँ किया करते हैं। वे ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रभु... प्रभु! यह शोभा नहीं देता भाई! आहाहा!

रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा, जिससे नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जाएगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। हमेशा विकार ही किया करे तो वह कभी मुक्त नहीं होगा। निमित्त के लक्ष्य से नैमित्तिक में पर्यायबुद्धि में होवे तो वह बुद्धि छोड़कर आत्मा अकेला अकारक है तो निर्विकारी हो सकता है। आहाहा! अकेला भगवान अपने आश्रय से निर्विकारी हो सकता है। आहाहा! पर के आश्रय से इस प्रमाण यदि विकार निमित्त-नैमित्तिक न हो तो उस विकार का कर्तृत्व अकेले आत्मा पर आ पड़ेगा। आ पड़ने पर आत्मा नित्य विकार का कर्ता रहे तो उसे कभी मोक्ष नहीं होगा। आहाहा!

इसलिए परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो। इसमें से उल्टा निकालते हैं। देखो! परद्रव्य निमित्त है, परद्रव्य निमित्त है। परन्तु निमित्त का अर्थ क्या? उस पर लक्ष्य जाता है। निमित्त विकार कराता है, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : लक्ष्य करता है तब...

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका लक्ष्य यहाँ से छूटता है और वहाँ का लक्ष्य करता है। निमित्त लक्ष्य कराता नहीं है। आहाहा! यहाँ चैतन्य भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप का लक्ष्य छोड़ देता है, तब उसका लक्ष्य ऐसे जाता है। वह लक्ष्य जाता है, वह विकार करता है; निमित्त कराता नहीं है। समझ में आया? आहाहा! प्रवीणभाई! ठीक इसमें बराबर आ गये। चन्दुभाई को सबने बहुत याद किया। गम्भीर चीज़ है। हैं? आहाहा! आज तो रविवार है, कितने ही सुनने आये हैं न?

इसलिए परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो। इसका अर्थ क्या

हुआ ? यह रागादि करता है, उसमें परद्रव्य निमित्त है, बस ! निमित्त से राग-द्वेष होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! **आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो।** निमित्त हो। निमित्त का अर्थ एक चीज़ है। **और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है....** लो ! ऐसा होने पर आत्मा भगवान शुद्ध चैतन्यप्रभु, अपने आश्रय से विकार करता है, वह अकारक सिद्ध हुआ, वह कर ही नहीं सकता। अपने आश्रय से विकार है ही नहीं। वह तो अपना—द्रव्य का आश्रय छोड़ता है, परद्रव्य का—निमित्त का लक्ष्य करता है तो होता है। इसलिए आत्मा के लक्ष्य से विकार हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ३५०, गाथा-२८३ से २८५ मंगलवार, मगसर शुक्ल १
दिनाङ्क - २०-११-१९७९

समयसार, २८३ से २८५। अर्थ चलता है न ? यहाँ तक आया, देखो ! **इसलिए परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो।** यहाँ से आया है। क्या कहते हैं ? कि यह आत्मा जो है आत्मा, वह तो शुद्ध आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है। वह स्वयं स्वत: स्व के आश्रय से विकार करे, ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया ? इस संसार का विकार जो है पुण्य और पाप या मिथ्यात्व, वह आत्मा स्वयं उसका स्वभाव तो शुद्ध है, चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु है, तो अपने आश्रय से विकार करे, ऐसा नहीं होता। क्योंकि उसका कोई गुण विकारी नहीं है, उसके सब गुण पवित्र और निर्मल है। तब अब विकार होता है, उसका करण क्या ? और उसे आत्मा विकार का अकारक है, ऐसा भगवान ने जो कहा, उसका क्या कारण ? कि प्रभु ने ऐसा कहा कि जो निमित्त परद्रव्य है, उसका लक्ष्य छोड़।

आत्मा द्रव्यस्वभाव के अतिरिक्त जितने परद्रव्य दूसरे हैं, उनका लक्ष्य अथवा प्रतिक्रमण कर अर्थात् विमुख हो और उनके निमित्त के लक्ष्य से विकार होता है, उससे विमुख हो। ऐसा प्रतिक्रमण करने की व्याख्या भगवान ने कही है। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा अपने स्वभाव की दृष्टि और आश्रय करे तो विकार नहीं होता। सूक्ष्म बात है,

भाई! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोधभाव, यह आत्मा के आश्रय से नहीं होते। क्योंकि आत्मा में कोई अपवित्रता नहीं है, आत्मा तो अनन्त गुण का पिण्ड पवित्र है। तब कहे, यह (रागादि) होते हैं न? परन्तु होते हैं, उसका प्रभु ने प्रतिक्रमण कहा है कि उनसे हट जा। परसन्मुख के द्रव्य के लक्ष्य से हट जा और निमित्त के लक्ष्य से विकार हो, वहाँ से हट जा। ऐसा जो भगवान का उपदेश है, वह ऐसा सिद्ध करता है कि अकेला आत्मा विकार का कर्ता नहीं हो सकता। अपना आत्मस्वभाव चैतन्य को छोड़कर परद्रव्य का अनादि से लक्ष्य करता है, तब परद्रव्य के निमित्त के अवलम्बन से अपने में अपने से विकार होता है। वह विकार और निमित्त (दो हुए), वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा प्रसिद्ध करता है कि आत्मा अपने कारण से अकेला राग का कर्ता नहीं है। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म। न्याय को पकड़ना कठिन। समझे बिना ऐसे के ऐसे धर्म हो जाए (-ऐसा होता नहीं)। आहाहा! इसलिए यहाँ आया।

यदि आत्मा (को) पर के निमित्त के लक्ष्य से विकार हो, ऐसा यदि न हो तो आत्मा को अकेले विकार का कर्तापना आ पड़े और वह कर्तापना आ पड़ने पर आत्मा नित्य है तो विकार नित्य करे तो कभी मोक्ष हो, ऐसा बने नहीं। सूक्ष्म न्याय है, भाई! वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म।

सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव ने जो सर्वज्ञ से तीन काल-तीन लोक देखे, उसमें इस प्रकार से स्वरूप है, ऐसा कहा, उन्होंने दूसरे का कुछ किया नहीं। जैसा स्वरूप है, वैसा ज्ञान में जाना; जाना, वैसा कहा। कि प्रभु! यहाँ तो आत्मा को प्रभु कहते हैं। आत्मा अन्दर प्रभु है। अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त वीतरागता, अनन्त प्रभुता—ऐसी अनन्त-अनन्त शक्तियों का पिण्ड आत्मा है, तो वह आत्मा अपने लक्ष्य से विकार करे, ऐसा तीन काल में नहीं बनता। इसलिए भगवान का उपदेश है कि निमित्त जो परद्रव्य है, उसके ऊपर तेरा लक्ष्य है, उसे छोड़ और निमित्त के आश्रय से विकार होता है, तेरे आश्रय से नहीं। समझ में आया? कल तो बहुत आया था।.... आहाहा!

अन्दर आत्मा; यह देह के परमाणु मिट्टी है, इनसे तो भिन्न है। अन्दर कर्म के रजकण हैं, वे तो उसकी पर्याय में भी नहीं है। शरीर, कर्म, यह स्त्री, कुटुम्ब-परिवार या यह धन्धा आदि की क्रियाएँ, इस भगवान आत्मा की पर्याय में भी वे तो नहीं हैं, वह तो

भिन्न चीज़ है। इसकी पर्याय में है तो विकार है। अब विकार है, वह विकार होता कैसे है? आत्मा के अन्तर के लक्ष्य से तो विकार होता नहीं क्योंकि आत्मा तो पवित्र है। आहाहा! तब वह विकार होता है, यह दुःख होता है, संसार परिभ्रमण का कारण जो विकार होता है, वह स्वद्रव्य के लक्ष्य को छोड़कर परद्रव्य का लक्ष्य करता है और लक्ष्य करने पर उसके आधीन (होकर) विकार करता है। उस विकार के कारण से फिर नया बन्धन होता है और इसलिए वह भटकता है। अब ऐसी बातें। यह बनिया और व्यापार में यह न्याय कहाँ से निकालना? आहाहा!

वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म, सूक्ष्म वस्तु है, प्रभु! वीतराग के अतिरिक्त कहीं है नहीं। जिनेश्वर परमेश्वर के मार्ग के अतिरिक्त मार्ग अन्यत्र कहीं है नहीं। सर्वत्र विपरीत मार्ग में चढ़ गये हैं। आहाहा! यह रास्ता भी ऐसा है, कहते हैं कि यदि तुझे धर्म और शान्ति चाहिए हो; धर्म कहो या शान्ति कहो, धर्म कहो या अतीन्द्रिय आनन्द कहो, धर्म कहो या अतीन्द्रिय वीतराग पर्याय कहो; वह यदि तुझे चाहिए हो तो वह जिसमें भरा है, उसके ऊपर दृष्टि कर। आहाहा! अन्तर और अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु है। आहाहा! यह अतीन्द्रिय वीतराग का दल है, पिण्ड है। उसका आश्रय कर तो तुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान, शान्ति और सुख होगा। वह क्यों नहीं करता कि अपना लक्ष्य छोड़कर, परद्रव्य के लक्ष्य में इसकी अनादि की प्रवृत्ति है। परद्रव्य जो आत्मा में नहीं है; वह नहीं है, उस द्रव्य पर इसका लक्ष्य है। है आत्मा में, उसमें उसका इसे लक्ष्य और आश्रय नहीं है। अरे रे! अब ऐसा उपदेश। वह तो दया पालना, व्रत करना, भक्ति करना सीधासट्ट था। अब ऐसा मार्ग। कहते हैं, कि दया, भक्ति, व्रत सब राग है, ले, कहते हैं, सुन। और वह राग आत्मा के स्वभाव के आश्रय से नहीं होता। स्वभाव के आश्रय से होवे तो स्वभाव नित्य है तो अन्दर राग का जो विकार का नित्यपना, कर्तापना सिद्ध हो, इससे कभी उसका मोक्ष हो नहीं। इसलिए यह राग और द्वेष, पुण्य और पाप के भाव होते अवश्य हैं, परन्तु वह निमित्त जो परद्रव्य है, उसके लक्ष्य से होते हैं, उससे नहीं—निमित्त से नहीं, परन्तु निमित्त के आश्रय से विकार होता है। आहाहा! अब ऐसा याद रखना। निवृत्ति नहीं मिलती, धन्धा पूरे दिन पाप का धन्धा। निवृत्ति नहीं मिलती और ऐसी बातें अब। बापू! यह समझना ही पड़ेगा, भाई! अनन्त काल से भटकता है, दुःखी है। आहाहा!

कहते हैं, क्या आया? यदि पर के लक्ष्य बिना विकार हो तो अकेले स्व के लक्ष्य से विकार हो तो विकारपना; त्रिकाली आत्मा है, त्रिकाली आत्मा है तो त्रिकाली कर्तापना रहे और त्रिकाली कर्तापना रहने से उसकी मुक्ति नहीं होगी। समझ में आया इसमें? यह सब तो कल आ गया था। इसलिए नित्यपने के कर्तापने का प्रसंग होने पर **एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा, जिससे नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जाएगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा।** समझ में आया यहाँ तक? आहाहा! **इसलिए परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो।** है? इस कारण से स्वद्रव्य प्रभु भगवान आत्मा, वह तो सच्चिदानन्द, सत्—यह ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है, उसके आश्रय से कभी विकार नहीं होता। यदि उसके आश्रय से होगा तो (स्वयं) त्रिकाली है तो त्रिकाली विकार होगा तो मुक्ति कभी होगी नहीं। लॉजिक है, भाई! न्याय से पकड़े तो जरा ऐसी बात है। आहाहा!

इसलिए परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो। अर्थात् क्या? कि जो कुछ मिथ्या भ्रान्ति और पुण्य-पाप जो करता है, वह स्वआत्मा के आश्रय से नहीं। इसलिए वह विकार परद्रव्य के निमित्त के लक्ष्य से होता है। **इसलिए... है? परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो।** इसका अर्थ?—परद्रव्य रागादि कराते हैं, ऐसा नहीं। समझ में आया? आहाहा! कल सहज कहा था कि स्वद्रव्य है, वह नित्य ध्रुव आनन्दकन्द प्रभु है। उसकी धर्म की पर्याय उस द्रव्य के लक्ष्य से होती है परन्तु द्रव्य से नहीं होती। स्वतन्त्र निर्मल वीतरागी पर्याय स्वद्रव्य के आश्रय से होती है। आहाहा! इसी प्रकार आत्मा में विकार होता है, वह निमित्त के आश्रय से होता है; निमित्त से नहीं होता, परन्तु निमित्त के आश्रय से होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : विकार निमित्त के आश्रय से होता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका लक्ष्य वहाँ जाता है। चैतन्य भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, सर्वज्ञ जिनेश्वर ने तो आत्मा आनन्द का अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द, दल है, यह तो (ऐसा देखा है)। उसकी तो इसे अनादि से खबर नहीं। इसलिए उसके ऊपर लक्ष्य नहीं तो लक्ष्य तो कहीं होना चाहिए। तो उस परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य है। कर्म, शरीर, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, धन्धा, यह सब परद्रव्य है। उस परद्रव्य पर लक्ष्य जाता है तो वह परद्रव्य विकार

नहीं कराते परन्तु परद्रव्य के ऊपर इसका लक्ष्य, आश्रय जाता है, इसलिए वह विकार स्वयं अपने में करता है। धर्म के नाम की ऐसी सूक्ष्म बातें। ऐसा जिनवर मार्ग। आहाहा!

इसलिए परद्रव्य ही... परद्रव्य ही **आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो।** इसमें से उल्टा निकाले निकालना हो तो। आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य के कारण ही विकार होता है, ऐसा नहीं। परद्रव्य तो परद्रव्य ही है; स्वद्रव्य है, वह स्वद्रव्य ही है परन्तु परद्रव्य का लक्ष्य करता है, इसलिए अपने स्वभाव के लक्ष्य को छोड़ता है, इसलिए इसे विकार, पुण्य और पाप तथा विकार का भाव निमित्त के लक्ष्य से होता है। निमित्त से होता है, ऐसा नहीं। अब ऐसी बातें। कहाँ गये? तुम्हारे आये थे न संघवी? तैयार नहीं हुए। ठीक! ऐसा कब सुनेंगे? वे पैसे और धूल में पूरे दिन... आहाहा! क्या कहा, समझ में आया इसमें? झांझरीजी!

यह बात अलग प्रकार की है। आहाहा! क्या कहा? कि आत्मा, आत्मा तो परमेश्वर है, भाई! तुझे खबर नहीं। आत्मा में तो अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति और अनन्त वीर्य, अनन्त प्रभुता भगवान आत्मा में भरी है, भाई! उसे आत्मा कहते हैं। ऐसा जो आत्मा अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण का सागर, (उसे) अपने आश्रय से यदि विकार हो तो आत्मा नित्य है, तो आत्मा में विकार का कर्तृत्व कायम रहे तो कभी उसकी मुक्ति होगी नहीं। इसलिए आत्मा के कारण से विकार हो, ऐसा नहीं है। तब परद्रव्य का लक्ष्य करता है, परद्रव्य से होता नहीं परन्तु तुरन्त परद्रव्य का अवलम्बन लेता है। स्वद्रव्य है, उसकी तो खबर भी नहीं।

अन्दर आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु, जिनेश्वर परमात्मा ने देखा, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द, कन्द है। आहाहा! वह अतीन्द्रिय ज्ञान का पिण्ड आत्मा है। ऐसा भगवान आत्मा अपने आश्रय से विकार करे, यह तो बनता नहीं। (क्योंकि) गुण में और द्रव्य में विकार है नहीं। कहाँ से करे वह? तब कहे, विकार है तो सही, कि जिससे इस चारगति में भटकता है। वह विकार होता कैसे है? कि निमित्त का लक्ष्य करता है, निमित्त का आश्रय करता है, अपने को भूल जाता है, उसको याद करता है। भगवान आत्मा का स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसे भूल जाता है और जो इसमें नहीं, (उसे याद करता है)। है, उसे भूलता है और इसमें नहीं, उसे याद करता है। समझ में आया? हीरालालजी!

अकेले आये हैं ? वे कोई नहीं आये शशीभाई और... आहाहा ! ऐसा मार्ग ! अब कहाँ इसमें (सुनने को मिले) ? वह एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिया, चौइन्द्रिया, तस्स मिच्छामि दुक्कडम्, हो गया, सामायिक हो जाती थी। तस्सूतरी करणन... अरे... भाई ! यह सामायिक नहीं है, बापू ! तुझे खबर नहीं कि सामायिक किसे कहना ? प्रतिक्रमण किसे कहना ?

प्रभु ! वीतराग त्रिलोकनाथ ने गणधरों और सन्तों के बीच में, इन्द्रों के बीच में तो यह बात करते थे। वह बात यह है। आहाहा ! प्रभु ! तू पामर नहीं कि जिससे तुझे तेरे आश्रय से विकार हो। आहाहा ! भगवान आत्मा शरीर में कर्म से भिन्न भगवान विराजता है, स्वयं प्रभु है, आत्मा प्रभु है। कैसे बैठे ? दो बीड़ी ठीक से पीवे तब तो दस्त ठीक से उतरे, ऐसे अपलक्षण। उसे ऐसा कहना—तू प्रभु है। उसे बैठे कैसे ? आहाहा ! भगवन्त ! आचार्य तो भगवन्तरूप से बुलाते हैं। आहाहा ! प्रभु ! तू भगवतस्वरूप है। भग अर्थात् अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान की लक्ष्मी से भरपूर वान, वान (अर्थात्) स्वरूप से भरपूर है। उसका आश्रय करे, तब तो विकार हो नहीं। क्योंकि उसमें—द्रव्य और गुण दोनों में विकार नहीं है। आहाहा ! तब (कोई कहे कि) यह विकार है तो सही। इसका कारण कौन ? कि इसका कारण स्वयं परद्रव्य का लक्ष्य और आश्रय करता है। भगवान को भूल जाता है। सच्चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का दल (है) उसका आदर नहीं करके, उसका अनादर करके, परद्रव्य का आदर करके, आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य और निमित्त पर आश्रय करके विकार को उत्पन्न करता है। यशपालजी ! समझ में आया ? हैं ? आहाहा ! ऐ नन्दाभाई ! ऐसी बातें हैं। वहाँ इनके सुरत-बुरत में कहीं नहीं मिलता। धन्धे-बन्धे में पाप है पूरे दिन। आहाहा !

यहाँ तो लॉजिक-न्याय से परमात्मा सिद्ध करते हैं। नि धातु है। जैसा स्वरूप है, वैसे ज्ञान को ले जाना, इसका नाम न्याय। ऐसा स्वरूप है, कि वह तो सच्चिदानन्द शुद्ध चिदानन्दमूर्ति प्रभु है। ऐसे स्वरूप पर आश्रय कर तो तुझे विकार नहीं होगा, सम्यग्दर्शन होगा, सुख-सुखी हो और सुख की घटना करते-करते पूर्ण सुखी, केवल (ज्ञान) होगा। ऐसी चीज़ पड़ी है तो भी वह होता क्यों नहीं ? आहाहा !

वह **परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो।** निमित्त अर्थात्

कारण। स्वद्रव्य नहीं। स्वद्रव्य जो भगवान आत्मा, वह स्वयं दया, दान और विकार... दया, दान, पुण्य-पाप के परिणाम, वे सब विकार हैं। उस विकार का कारण द्रव्य आत्मा—द्रव्य नहीं है। तब उस विकार का—रागादिभावों का कारण निमित्त परद्रव्य हो। आहाहा! इसमें से ऐसा निकालते हैं, देखा! निमित्त से राग-द्वेष होते हैं, ऐसा निकालते हैं। ऐसा यहाँ नहीं है। राग-द्वेष निमित्त से हों, यह यहाँ प्रश्न नहीं है। निमित्त का लक्ष्य करता है, इसलिए वह स्वभाव का लक्ष्य छोड़ता है, इसलिए पर के लक्ष्य से तुझे विकार होता है। प्रवीणभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। यह तो जैनधर्म का उपदेश होगा ऐसा? आहाहा!

इसलिए परद्रव्य ही... परद्रव्य 'ही' है। आत्मा को राग पुण्य-पाप के भावों का **निमित्त हो। और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है...** क्या कहा यह? कि भगवान आत्मा स्वयं पवित्र का पिण्ड प्रभु, उसका आश्रय नहीं और निमित्त का आश्रय है, इसलिए विकार होता है तो ऐसा यह सिद्ध किया कि आत्मा अकेला तो विकार का कर्ता है नहीं। आत्मा स्वयं के आश्रय से अकेला विकार का कर्ता नहीं है। परद्रव्य का लक्ष्य करता है, तो पर्याय में विकार होता है। आहाहा! द्रव्य और गुण तो शुद्ध है, द्रव्य और गुण तो पवित्र है। आहाहा! परन्तु उनकी दृष्टि इसे अनादि से नहीं है, और इसलिए अनादि से परद्रव्य पर इसकी दृष्टि, लक्ष्य है। आहाहा! यह परद्रव्य के निमित्त के लक्ष्य से आत्मा में विकार होता है। **ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है...** अकेला आत्मा दया, दान या पुण्य-पाप के परिणाम करे, यह बात तो सिद्ध नहीं हुई। वह तो पर का आश्रय करे तो पर्याय में विकार अवस्था होती है। स्व का आश्रय करे तो पर्याय में निर्मल धर्मदशा होती है। आहाहा! समझ में आया? मार्ग ऐसा है। यह गाथा ही ऐसी आयी है। यह तो तीन बार कही गयी है। द्वादशी को कही गयी, कल कहा गया और आज वापस (आया)। आहाहा! समझ में आये ऐसा है, भाई! शान्ति से (समझना)।

बापू! यह तो वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर परमेश्वर ने देखा, जाना वैसा कहा। यह समझना बापू! कठिन है, भाई! दुनिया की बातें कर-करके मर गया अनादि से। बाहर के धन्धे और यह और यह और उसमें पाँच-पच्चीस, पचास लाख करोड़, दो करोड़ मिले तो मानो बस, ओहो! मानो हम क्या फूले और फले! क्या फूले और फले! हमें संसार के

सुख का बहुत फल मिला। मर गया इसमें। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ को इसमें मार डाला है। पर की मिठास के प्रेम में प्रभु! तेरे आनन्द के नाथ आत्मा का अनादर करके तूने नाश कर डाला है। मानो वह है नहीं, यह है और वह है ही नहीं (ऐसा कर डाला है)। आहाहा! वीरचन्दभाई! अलग प्रकार की बातें है, बापू! यह तो दुनिया से अलग प्रकार है। आहाहा!

इसलिए परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो। इसमें से निकालते हैं, देखा! विकार पर के कारण होता है, विकार पर के कारण होता है। यह लिखा। ऐसा नहीं। पर का लक्ष्य करता है तो होता है, ऐसा बताते हैं। पर विकार कराता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! है इसमें? आहाहा! **इसलिए परद्रव्य ही...** आहाहा! गजब बात है। यह देव-गुरु और शास्त्र परद्रव्य। इन परद्रव्य का लक्ष्य करे तो राग होता है।

मुमुक्षु : स्त्री, पुत्र का करे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्त्री, पुत्र (का लक्ष्य करे) तो पाप राग होता है। स्त्री, पुत्र, परिवार, धन्धे के लक्ष्य में पाप राग होता है परन्तु देव-गुरु और शास्त्र के लक्ष्य में पुण्य राग होता है, परन्तु होता तो राग दोनों में है। झांझरीजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : इसमें से कौन-सा राग करनेयोग्य है?

पूज्य गुरुदेवश्री : इस ओर अन्दर स्थिर होनेयोग्य है। परसन्मुख का लक्ष्य छोड़कर चैतन्य के सन्मुख ढलना है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। जहाँ प्रभु विराजता है। अनन्त... अनन्त... ज्योति की गद्दी में बादशाह प्रभु है। अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति का बादशाह प्रभु है। उसमें बैठना है, वहाँ बैठ। आहाहा! इस निमित्त के आश्रय से विकार में बैठता है, वह तो भटकता अनादि से नरक और निगोद के भव कर-करके, प्रभु! अनन्त भव किये हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : मरणतुल्य हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहा?

मुमुक्षु : मरणतुल्य हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मरण हुआ न अन्दर। आत्मा का नकार किया, भावमरण हुआ।

'क्षण क्षण भयंकर भाव मरण' अपनी पवित्रता का स्मरण न करके निमित्त का स्मरण करके विकार उत्पन्न करे, वह भावमरण। वह आत्मा अविनाशी का नाश करता है कि यह नहीं, यह मैं। पुण्य-पाप के भव करूँ, वह मैं और वह मेरा कर्तव्य—ऐसा करके आत्मा जो अकारक है, उसके स्वभाव का विनाश करता है। आहाहा!

ऐसा उपदेश किस प्रकार का? स्थानकवासी में होवे तो सामायिक करो, प्रोषध करो, प्रतिक्रमण करो, रात्रिभोजन न करो, यह करो। श्वेताम्बर में होवे तो भक्ति करो, भगवान की भक्ति, पूजा, यात्रा, शत्रुंजय कैसा कहलाये? सम्मेदशिखर। दिगम्बर में होवे तो प्रतिमा ले लो, वस्त्र छोड़ो, यह छोड़ो, (ऐसा आता है)। ऐसी बातें कहाँ से (निकाली)? बापू! पूरी दुनिया की क्या जाति है, यह सब खबर है। आहाहा! ये गाथायें तो अलौकिक हैं। ओहोहो! कुछ पार पड़े ऐसा नहीं, इतनी गम्भीरता भरी है। आहाहा!

आत्मा के रागादिभावों का... अर्थात् पुण्य-पाप के भाव, दुःख भाव का निमित्त पर हो। **और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है...** अकेला स्वभाव भाव प्रभु है, वह तो विकार का कर्ता है ही नहीं—ऐसा सिद्ध हुआ। विकार का कर्ता तो निमित्त के आश्रय में जाए, तब विकार पर्याय में होता है। स्वद्रव्य का आश्रय करे तो विकार नहीं होता; इसलिए आत्मा तो विकार का अकारक सिद्ध होता है। आहाहा! यह सब लाईनें सूक्ष्म हैं। यह श्लोक ही सूक्ष्म है। यह प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान के श्लोक हैं।

प्रतिक्रमण कैसे? कि परसन्मुख का लक्ष्य है, उससे लक्ष्य छोड़ और उसके लक्ष्य से जो राग, पुण्य-पाप होता है, उसे छोड़। यह प्रतिक्रमण है। और आत्मा में जा। भविष्य में राग होता है, उसका त्याग कर। भविष्य में निमित्त का आश्रय छोड़ दे और भविष्य में निमित्त के आश्रय से विकार होता है, उसका प्रत्याख्यान (कर) अर्थात् कि छोड़ दे। आत्मा के आश्रय में जा तो तुझे प्रत्याख्यान होगा। आहाहा! ऐसा है। ओहो! आचार्यों ने जंगल में रहकर गजब काम किया है। यह अमृतचन्द्राचार्य की टीका है। आहाहा!

इससे ऐसा सिद्ध हुआ कि परद्रव्य ही आत्मा को रागादि का निमित्त कारण है। **ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है...** भगवान आत्मा

शुद्ध सिद्ध स्वरूपी प्रभु है। (उसे) स्वयं के आश्रय से विकार हो, (ऐसा नहीं है)। वह तो अकारक है, विकार का अकारक है। अपना आश्रय करे, तब तो निर्मल, निर्दोष, सुख और आनन्द आवे। वह आनन्द और सुख उसका कार्य है। यह रागादि का कार्य उसका है नहीं। अकेला आत्मा अपने आश्रय से राग करे, ऐसा नहीं होता। परन्तु अकेला आत्मा अपने आश्रय से आनन्द और शान्ति को करे, ऐसा हो सकता है। आहाहा!

(इस प्रकार यद्यपि आत्मा रागादि का अकारक ही है)... पुण्य-पाप के भाव का आत्मा तो कर्ता है ही नहीं। वस्तु स्वरूप जो भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु! सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा, वह आत्मा, हों! अज्ञानी आत्मा... आत्मा... करे, वह (आत्मा) नहीं। **(इस प्रकार यद्यपि आत्मा रागादि का अकारक ही है), तथापि जब तक वह निमित्तभूत द्रव्य का (-परद्रव्य का) प्रतिक्रमण नहीं करता...** आहाहा! भगवान आत्मा तो विकार का अकर्ता ही है परन्तु जब तक निमित्त की ओर का लक्ष्य नहीं छोड़ता... आहाहा! परद्रव्य के निमित्त की ओर का आश्रय नहीं छोड़ता। आहाहा! **तथा प्रत्याख्यान नहीं करता...** परद्रव्य के भविष्य का भी त्याग नहीं करता कि परद्रव्य के ऊपर मेरा लक्ष्य अब जाए ही नहीं, ऐसे प्रत्याख्यान नहीं करता। है?

तथापि जब तक वह निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता... जब तक परद्रव्य के ऊपर का लक्ष्य नहीं छोड़ता, जब तक परद्रव्य का आश्रय नहीं छोड़ता, **तब तक नैमित्तिकभूत भावों का (-रागादिभावों का) प्रतिक्रमण नहीं करता,...** तब तक वह विकारभाव को नहीं छोड़ता। तब तक वह पुण्य और पाप तथा मिथ्यात्वभाव को नहीं छोड़ता। आहाहा! सामने पाठ है, किस शब्द का अर्थ होता है। आहा! परमात्मा का ऐसा सूक्ष्म मार्ग। बनियों को धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। पूरे दिन पाप, यह धन्धा और यह धन्धा और यह धन्धा। उसमें और हमेशा दो-पाँच हजार की आमदनी होती हो और यदि तुम्हारे दुकान में बैठा हो तो फला-फूला पाप में। निवृत्ति नहीं मिलती। फुरसत मिले तब छह-सात घण्टे नींद में जाए। दूसरी निवृत्ति (मिले तो) स्त्री, पुत्र को सम्हालने में, प्रसन्न करने में जाए। एकाध घण्टा मिले, (वह) सुनने में जाए तो ऐसा सुनाने वाला मिले कि इसका एक घण्टा लुट जाए। राग से धर्म होगा, व्रत से धर्म होगा, इससे धर्म होगा-ऐसा सुने इसमें बेचारे का एक घण्टा लुट जाए। आहाहा! अरेरे! इसका

कब हो ? कहो, सुजानमलजी ! ऐसी बात है, भाई ! आहाहा ! दिगम्बर सन्तों ने तो करुणा करके जगत के उद्धार का मार्ग सीधा कर डाला है। आहाहा !

यद्यपि आत्मा स्वत: तो विकार का कर्ता नहीं है, यह तो सिद्ध हुआ। वह तो निमित्त के लक्ष्य से करे तो निमित्त-निमित्त सम्बन्ध, व्यवहार होवे तो विकार होता है। **तथापि जब तक वह निमित्तभूत भावों का प्रतिक्रमण नहीं करता,...** जब तक आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य की ओर से हटता नहीं, उसका लक्ष्य वहाँ परद्रव्य में लगा है, वहाँ से छूटता नहीं और **प्रत्याख्यान नहीं करता,...** भविष्य के लिये भी यह मुझे नहीं चाहिए, इस प्रकार उनकी ओर का लक्ष्य और आश्रय मुझे नहीं चाहिए, ऐसा **प्रत्याख्यान नहीं करता,...** आहाहा ! **तब तक नैमित्तिकभूत भावों का प्रतिक्रमण नहीं करता,...** परद्रव्य के प्रेम को और परद्रव्य के आश्रय को छोड़ता नहीं तो उसके आरय से होता विकार है, उसे भी वह नहीं छोड़ता। समझ में आया ? आहाहा ! सूक्ष्म पड़े ऐसा है, परन्तु भाई ! वस्तु तो यह है। सूक्ष्म पड़ता है, नाथ ! और यह तो तीसरी बार होता है। आहाहा ! गजब बात है।

सन्तों ने मोक्ष का मार्ग खुला कर दिया है। आहाहा ! क्योंकि तू आत्मा है या नहीं ? प्रभु ! अस्ति है या नहीं ? तत्त्व है या नहीं ? और तत्त्व है तो कोई उसका स्वभाव है या नहीं ? स्वभाव रहित तत्त्व होगा कोई ? कोई चीज़ परमाणु है तो भी उसका वर्ण, गन्ध, रस स्वभाव है। धर्मास्तिकाय है तो भी उसमें अरूपी गति आदि का स्वभाव है। तो तू प्रभु ! आत्मा है तो तेरा कोई स्वभाव है या नहीं ? तेरा शाश्वत रहे, ऐसा स्वभाव तो अतीन्द्रिय आनन्द, ज्ञान, शान्ति और प्रभुता है। आहाहा ! अर्थात् आत्मा के आश्रय से राग हो, यह तो कभी बनता नहीं। इसलिए आत्मा राग और विकार का अकर्ता सिद्ध होता है। मात्र उसकी पर्याय में परलक्ष्य में जाता है और उसे निमित्त की ममता होती है। निमित्त की ममता और निमित्त के ओर की ममता की मूढ़ता (करता है)। निमित्त-नैमित्तिक। यह परद्रव्य मेरे, ये मेरे हैं, मेरे हैं, मेरे (हैं)। यह स्त्री मेरी है, स्त्री मेरी है, पुत्र मेरे हैं, यह मकान मेरा है, पैसा मेरा है। आहाहा !

मुमुक्षु : बाबा हो जाना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाबा ही है। कहा नहीं ? वह तो यहाँ बात चलती है। अकेला

आत्मा राग का अकारक है, ऐसा सिद्ध होता है, वह बाबा ही है। भाषा तो सादी है परन्तु अब... हीरालालजी! आये हो बराबर ठीक। आहाहा!

अन्दर भगवान चैतन्य चमत्कारिक पदार्थ पड़ा है, जो चमत्कार दुनिया में कहीं नहीं है। इतने क्षेत्र में रहा हुआ लोकालोक को जाने, ऐसा चैतन्य चमत्कार! आहाहा! और शरीरप्रमाण रहा होने पर भी अतीन्द्रिय अनन्त... अनन्त... अनन्त... आनन्द का सागर! आहाहा! शरीरप्रमाण दिखने पर भी अन्दर अनन्त... अनन्त... शान्ति.. शान्ति.. अकषाय वीतरागभाव से पूर्ण भरपूर प्रभु, ऐसा यह आत्मा स्वतः कोई भी संसार के विकारी काम करे, यह तो उसका स्वरूप ही नहीं है। आहाहा! परन्तु यह अपने स्वभाव को दृष्टि छोड़कर माहात्म्य माहात्म्य महात्मा है महा, महात्मा स्वयं बड़ा प्रभु है। उस महात्मा को छोड़कर और जो पामर परद्रव्य जो इसमें है नहीं; है, उसे छोड़कर; नहीं है, उसमें लगा है। आहाहा! नहीं है, उसमें लगा है, इसलिए उस निमित्त का आश्रय करने से विकार का कारण है। अकेला आत्मा विकार करे, ऐसा उसका स्वरूप है नहीं। समझ में आया? कहो देवीदासभाई! ऐसी बातें हैं, ऐसी सूक्ष्म, बापू! आहाहा!

ओहोहो! वीतराग के सिवाय कहीं है नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा जिनेश्वरदेव सीमन्धर भगवान महाविदेह में विराज रहे हैं। यह बात वहाँ से आयी है। आहाहा! परमात्मा से अकषाय करुणा द्वारा यह बातें बाहर आयी है। आहाहा! प्रभु! तुझे कितनी बार कहें, प्रभु? बोल! तो तुझे प्रभुपना बैठे। आहाहा! और तुझे कितनी बार कहें कि निमित्त के आश्रय से विकार होता है, वह तू करता है, निमित्त से नहीं। यह कितनी बार तुझे कहें, तब यह बात बैठे? प्रभु! आहाहा! यशपालजी! बराबर टाईमसर आये हो। यह अधिकार ऐसा है न। बराबर! आहाहा! एक-एक लाईन का पार न पड़े, ऐसा यह श्लोक है। आहाहा! दुनिया दुनिया की जाने। इस मार्ग के बिना (कल्याण नहीं है)।

महाप्रभु विराजता है। चैतन्य चमत्कार तीन काल, तीन लोक को इतने क्षेत्र में रहा हुआ जाने, एक समय में जाने। आहाहा! इतना ही एक समय में अनन्त आनन्द अनुभव करे, इतना ही एक समय में अनन्त वीर्य अनन्त गुण की रचना करे! ऐसा जो भगवान आत्मा... आहाहा! वह स्वयं अपने आप, अपने लक्ष्य से अपने आश्रय से संसार का पुण्य-पाप का भाव करे, यह नहीं बन सकता, वह अकारक है। आहाहा! परन्तु वह अपने

स्वभाव के आश्रय को छोड़कर जो उसमें नहीं है, उसे लगकर... आहाहा! जो (अपने में) है, उसे छोड़कर और जो उसमें नहीं है, उसमें लगकर, बावल के साथ इसने बांथ भरी है। आहाहा! गजब किया है।

यह टीका अमृतचन्द्राचार्य, अरेरे! उन्हें काष्टासंघी कहना। यह पढ़ते हुए भाई! आँख में से आसूँ बह गये। ऐसा अन्दर... अरर! यह क्या कहते हैं यह? अमृतचन्द्राचार्य के लिए यह काष्टासंघी कहकर... झेल नहीं सका, सुन नहीं सका। आँख में आँसू आ गये। क्या कहा? काष्टासंघी। अरर! प्रभु! क्या करता है? यह उनकी टीका तो देखो! एक-एक शब्द का पार नहीं होता। दिगम्बर सन्त परन्तु... आहाहा! जिन्होंने प्रभु के दीवानरूप से काम किया है। प्रभु तीर्थंकर हैं, इन आचार्यों ने उनके दीवान, वजीररूप से काम किया है। आहाहा! दुनिया, दुनिया की जाने, परन्तु मार्ग तो यह है। चाहे जो विरोध करो। ऐ..! सोनगढ़ निश्चयाभासी है, निश्चय करे, निश्चय आदि चाहे जैसा कहे, नाथ! प्रभु! तेरा स्वरूप तो व्यवहार से रहित ही है। यह व्यवहार करना, वह तेरा स्वभाव नहीं है। यह व्यवहार करना, वह अकारक है। वह व्यवहार निमित्त के आधीन होता है, स्व के आधीन है नहीं। गजब बात है, नाथ! आहाहा! प्रभु! उस व्यवहार से निश्चय हो, तू कहता है, प्रभु! यह नहीं, यह शोभा नहीं देता। बापू! भाई!

यहाँ कहते हैं कि आत्मा तो अकारक सिद्ध होता है। व्यवहार के राग का भी आत्मा अकारक सिद्ध होता है। व्यवहार का राग तो पर्याय में परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, वहाँ और वहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, वहाँ होता है। स्वभाव का सम्बन्ध छोड़ता है, वहाँ होता है। आहाहा! कहो, यशपालजी! ऐसा सुना है? बापू! गजब बात है, भाई! दिगम्बर सन्तों की अमृत की धारा बहती है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है, प्रभु! और ऐसे बैठता नहीं कि, इतनी सब बड़ी बात! बापू! यह बड़ी नहीं, इससे भी बड़ी बातें हैं। आहाहा!

यह भगवान तो ज्ञान का दल है, आनन्द का सागर है, वीर्य का पिण्ड है, श्रद्धा की शक्ति से भरपूर तत्त्व है, अतीन्द्रिय आनन्द का पूर है, अतीन्द्रिय ज्ञान का पूर है। आहाहा! उस पूर का प्रवाह अनादि-अनन्त ध्रुव है। उस पूर का प्रवाह अनादि-अनन्त ध्रुव है। प्रभु! ऐसे ध्रुव को इस विकार का अकारक हम कहते हैं। क्योंकि ऐसा यह विकार प्रभु! उसमें है नहीं। द्रव्य में-गुण में कोई (गुण नहीं)। आहाहा! इसलिए आत्मा विकार का अकारक

सिद्ध होने से निमित्त ही विकार का कारण होओ। ऐसा कहा न ? कहा न ? रागादि भावों का निमित्त, वह हो। इसका अर्थ यह नहीं कि निमित्त रागादि कराता है, ऐसा नहीं है। निमित्त रागादि कराता है, ऐसी यहाँ बात नहीं है। मात्र तेरे विकार करने में, तेरा लक्ष्य वहाँ जाता है, वह निमित्त ही तेरे लक्ष्य में है, (निज) भगवान लक्ष्य में नहीं। आहाहा! यह तो स्थिर हुए का काम है, बापू! जिसे स्थिर होना हो, जन्म-मरण के दु:ख से मुक्त होना हो, उसकी बात है। आहाहा! क्या बात!

ऐसा होने पर भी अर्थात् आत्मा स्वत: अपने आश्रय से विकार करे, ऐसा नहीं होने पर भी **जब तक वह निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण नहीं करता...** परन्तु जब तक उस निमित्त का लक्ष्य नहीं छोड़ता... आहाहा! और स्व का लक्ष्य नहीं करता... आहाहा! स्व को ध्येय नहीं बनाता और निमित्त को ध्येय बनाकर निमित्त के आश्रय से विकार करता है... आहाहा! निमित्त का प्रत्याख्यान नहीं करता, निमित्त का प्रतिक्रमण नहीं करता अर्थात् वहाँ से हटता नहीं। आहाहा! **जब तक वह निमित्तभूत द्रव्य का (-परद्रव्य का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता (अर्थात् जब तक निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता) तब तक नैमित्तिकभूत...** तब तक उसे निमित्त के लक्ष्य से विकार हुए बिना रहता ही नहीं। आहाहा! जैसे स्वद्रव्य के लक्ष्य से निर्विकार हुए बिना नहीं रहता, वैसे परद्रव्य के (लक्ष्य से), (चाहे तो) तीन लोक का नाथ वीतराग हो परन्तु वे परद्रव्य हैं। परद्रव्य के लक्ष्य से नैमित्तिक विकार हुए बिना रहता नहीं। आहाहा! गजब बात है। ऐसा स्वरूप है, बापू! धीरे से बात करने की है। यह कहीं उतावल से आम पक जाएँ, यह बात नहीं है। आहाहा! मुझे तो इसमें यह अमृतचन्द्राचार्य की टीका को देखते हुए... उन्हें उसने कहा कि, यह ऐसा है। अरर! काष्टासंघी। प्रभु! प्रभु! प्रभु! आँख में से आँसू (निकल) गये, हों! यह वहाँ अन्दर देखा न अन्दर... बापू! तेरा तो नहीं। आहाहा! यह तो देखो! लाओ तो सही कहीं से। आहाहा! तथापि निमित्त से नहीं होता। निमित्त के लक्ष्य से विकार नैमित्तिक करता है, तो निमित्त को छोड़ता नहीं, तो नैमित्तिक को भी छोड़ता नहीं। आहाहा! समझ में आया ? चिमनभाई! ऐसी बातें है, बापू!

यह दिगम्बर धर्म में जन्में, परन्तु कभी ऐसा कब तुमने सुना ? आहाहा! यह दिगम्बर कोई सम्प्रदाय नहीं, यह तो वस्तु का स्वरूप है। आहाहा! भगवान अन्दर आनन्द का नाथ

पूर्णानन्द प्रभु, विद्यमान चीज़ परमेश्वररूप से विराजता है, उसका लक्ष्य छोड़ दे और जो तुझमें नहीं है, तेरे हिसाब से वह वस्तु ही नहीं है। क्या कहा यह ? तेरे हिसाब से निमित्त चीज़ जो अवस्तु है। उसकी अपेक्षा से वस्तु है, तेरी अपेक्षा से अवस्तु है। उस अवस्तु में तुझे माहात्म्य आने पर तो उससे हटता नहीं और उससे प्रत्याख्यान भविष्य में करता नहीं, तब तक... है न ?

निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण नहीं करता **तब तक नैमित्तिकभूत भावों का (–रागादिभावों का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता, और जब तक इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता, तब तक वह उनका कर्ता ही है;...** यह सिद्ध करते हैं। है अकारक भगवान, परन्तु निमितत का लक्ष्य छोड़ता नहीं, भविष्य में भी निमित्त का भी अनुमोदन किया करता है, कि ऐसा होवे तो ठीक, द्रव्य निमितत अच्छा होवे तो (ठीक), अच्छा निमित्त होवे तो ठीक, ऐसा भाव किया करता है, तब तक तो रागादि का—विकार का, मिथ्यात्व का कर्ता है। आहाहा! विशेष कहा जाएगा.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३५१, गाथा-२८३ से २८५ बुधवार, मगसर शुक्ल २
दिनाङ्क - २१-११-१९७९

समयसार २८३ से २८४ (गाथा) की टीका। अपने तीन बार आ गया है। यह चन्दुभाई आज नये आये हैं न ? सूक्ष्म पड़ेगा। हिन्दी तो स्पष्ट चलता नहीं।

आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है;... क्या कहते हैं ? इस देह में रही हुई चीज़ भगवान आत्मा देह से भिन्न है। कर्म से भी भिन्न है। द्रव्य, द्रव्य अर्थात् वस्तु आत्मा और उसके जो गुण, वे तो सब पवित्र है। परमेश्वरस्वरूप ही आत्मा है। परन्तु उसे कहते हैं कि कारक कैसे होता है ? विकार का करनेवाला कैसे होता है ? वह स्वयं तो अकारक ही है। आहाहा! वस्तु जो है... सूक्ष्म बात है, भगवान! अभी तो सम्यग्दर्शन की शैली कैसी है, यह बात सूक्ष्म है, भाई! आहाहा!

आत्मा स्वयं से अर्थात् स्वयं आत्मा दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम-क्रोध के भाव का स्वयं आत्मा अकारक है। ऐसी बातें हैं। क्योंकि उसका स्वभाव अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त प्रभुता, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का दल है, प्रभु! वह परमेश्वरस्वरूप ही आत्मा है। इसलिए निज स्वरूप से आत्मा अपने आश्रय से विकार करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। इसलिए वह आत्मा अपने से, स्वयं से राग-द्वेष अर्थात् पुण्य और पाप के भाव, चाहे तो हिंसा, झूठ, चोरी, विषय के भाव; चाहे तो दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत के भाव (हों), दोनों विकार हैं। उस विकार का आत्मा अपने से अकारक है, स्वयं अकारक है। क्योंकि वह पवित्र है। और वह पवित्र वस्तु है, उसका यदि आश्रय करे, तब तो पर्याय में, पर्याय में अर्थात् अवस्था में अतीन्द्रिय आनन्द और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा हो। वह भी द्रव्य के कारण नहीं। सूक्ष्म बात है।

द्रव्य जो वस्तु चैतन्य प्रभु भगवान अन्दर है, वह तो पूर्ण आनन्द और पूर्ण शान्ति का सागर है। वह स्वयं वस्तु है, वह स्वयं पर्याय में विकार का अकर्ता है। पर्याय में। द्रव्य-गुण में तो है नहीं। पर्याय में वह अकारक है, विकार का कर्ता आत्मा है ही नहीं। समझ में आया? क्यों?—कि द्रव्य जो वस्तु सच्चिदानन्द प्रभु, परमेश्वर भगवत्स्वरूप आत्मा के आश्रय से तो वीतरागीदशा होती है। वह वीतरागीदशा भी द्रव्य के कारण से नहीं। वह अपनी पर्याय की स्वतन्त्रता के कारण आत्मा स्वयं पर्याय में निर्विकारी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो धर्म, उसकी पर्याय का कर्ता स्वयं पर्याय होती है। समझ में आया? इससे आत्मा पर का कर्ता तो नहीं, परन्तु निश्चय से तो निर्मलपर्याय का भी कर्ता नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई!

अरे! धर्म, वह क्या चीज़ है? बापू! दुनिया को कहाँ पड़ी है कि मेरा क्या होगा? मैं कहाँ जाऊँगा? यहाँ की उम्र तो पूरी होने को आयी है। पाँच-पच्चीस वर्ष रहेगा, फिर देह छोड़कर चला जाएगा। कहाँ जाएगा? आहाहा! जिसे स्व चीज़ की खबर नहीं, स्व चीज़ का ज्ञान, पहिचान, सम्यग्दर्शन नहीं, वे तो बहुत पशु और देव और नरक आदि योनि में जाते हैं। मनुष्य का भव तो अनन्त काल में मिलता है। आहाहा! ये मनुष्य के भव अनन्त किये हैं। अनन्त बार अरबोंपति हुआ है। उसके भव की संख्या की अपेक्षा नरक की संख्या असंख्यगुणी अनन्त भव किये हैं। मनुष्य के अनन्त की संख्या की अपेक्षा, नीचे नारकी हैं, जिनके एक क्षण के दु:खों को करोड़ों भव और करोड़ों जीभों से नहीं कहा जा सकता, प्रभु!

ऐसा दुःख वहाँ है। ऐसे दुःखों में मनुष्य के भव के अनन्त भव की संख्या की अपेक्षा असंख्यगुणे अनन्त भव नरक के किये हैं। आहाहा! उसकी अपेक्षा असंख्यगुणे देव के भव किये हैं। क्योंकि पुण्य भी बहुत बार पर्यायबुद्धि से किया है। उस पुण्य के कारण, जो नरक के भव किये, (उनकी संख्या की अपेक्षा) देव के भव असंख्यगुणे अनन्त किये हैं। वह कोई नयी चीज़ नहीं है। आहाहा! उसकी अपेक्षा तिर्यंचगति के भव, निगोद से लेकर पंचेन्द्रिय के भव; स्वर्ग के जो अनन्त भव किये, नरक से असंख्यगुणे अनन्त; उनसे भी अनन्तगुणे अनन्त तिर्यंच के भव किये हैं। आहाहा!

यह आत्मा स्वयं अकारक है, परन्तु पर्याय में इसे जो विकार और मिथ्यात्व होता है, इसलिए इसे वह परिभ्रमण का कारण होता है। इसलिए यहाँ कहते हैं कि अकेला आत्मा तो अकारक है। आहाहा! क्यों? **क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही...)** विकार का कर्ता होवे तो, आत्मा स्वयं अपने से निमित्त के अवलम्बन बिना पुण्य और पाप के विकारी भाव स्वयं करे तो उसका स्वभाव हो जाए, तब तो वह त्रिकाल हो जाए।

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान... भगवान का उपदेश ऐसा आया, प्रभु! तू वर्तमान राग से हट जा और भविष्य के राग का प्रत्याख्यान कर, अर्थात् राग नहीं करना, ऐसे त्याग कर। ऐसा जो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का दो प्रकार का जो उपदेश है, वह ऐसा सूचित करता है कि अकेला आत्मा अकारक है। यह तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान... शुद्धनय का अधिकार है न? इसलिए अप्रत्याख्यान और अप्रतिक्रमण लिया है। बाकी ऐसा कहना, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कहना है। वर्तमान में राग न कर, भविष्य में राग को छोड़। ऐसा जो भगवान का उपदेश है, वह ऐसा सूचित करता है कि आत्मा स्वयं अपने से राग करे, ऐसी वह चीज़ नहीं है। समझ में आया? अरे! ऐसी सूक्ष्म बातें! क्योंकि भगवान का उपदेश जब अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का है, यह तो शुद्धनय का अधिकार है, इसलिए ऐसा लिया, वरना तो प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कहना है। वर्तमान राग से हट जा और भविष्य में राग को करना नहीं, ऐसा प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कर। यह ऐसा सूचित करता है कि स्वयं आत्मा स्वयं अकारक है। वह तो जब पर्यायबुद्धि करता है, तब उस विकार को करता है।

अब इससे सूक्ष्म सिद्धान्त है **अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता।** यह तो मात्र दो प्रकार लिये। वर्तमान का प्रतिक्रमण का स्वरूप और भविष्य का प्रत्याख्यान का स्वरूप। वह बताया है, वह यही बताता है कि आत्मा स्वयं अकारक है, इसलिए प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का—छूटने का उपदेश है। वह छूट सकता है और छूटने का उसका स्वभाव है। चन्दुभाई! आहाहा! सूक्ष्म है, इसमें, हों! न्यालभाई! वहाँ कहीं सुनाई दे, ऐसा नहीं है और समझ में आये, ऐसा नहीं है। धूल में वहाँ अकेला पाप है। आहाहा! बात सुनना कठिन पड़े, प्रभु! वह समझे कब? और जन्म-मरण छूटे कब?

प्रभु ऐसा पुकारते हैं कि हमने ऐसा कहा कि वर्तमान विकार से हट जा। ऐसा कहते ही आत्मा स्वयं अपने से विकार का कर्ता यदि न हो तो हट जा, इस बात का उपदेश आ नहीं सकता। संघवी! सुनाई देता है? सुनाई देता है थोड़ा-थोड़ा? हैं? (मशीन) रखी है? हाँ, ठीक मशीन रखी है।

यह आत्मा क्यों अकारक है?—कि प्रभु का उपदेश जब वर्तमान और भविष्य के राग से हट जा, (ऐसा है तो) ऐसा कहने का आशय यह है कि अकेला आत्मा विकार को करता है, ऐसा है नहीं। समझ में आया? क्योंकि अकेला आत्मा वह तो द्रव्य और गुण पवित्रता का पिण्ड है। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु है। अरेरे! कैसे बैठे? अतीन्द्रिय प्रभुता का पिण्ड आत्मा है, परमेश्वर है, प्रभु है, भगवत् है, भगवान है। आहाहा! ऐसा उसका वास्तविक स्वरूप ऐसा है। वह भगवान स्वयं अपने आश्रय से विकार करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। इसलिए प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का उपदेश ऐसा सूचित करता है कि उसे पर्याय में वह करता है; द्रव्य में वह है नहीं। आहाहा! और वह भी... है?

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध (दो प्रकार का) उपदेश है... अब क्या कहते हैं जरा? कि वर्तमान में निमित्त जो परद्रव्य है, इस आत्मा स्वद्रव्य के अतिरिक्त जितने परद्रव्य है, चाहे तो स्त्री-कुटुम्ब हो या चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र हो, परन्तु वे सब निमित्त जो हैं, द्रव्य निमित्त, उस निमित्त को

यहाँ द्रव्य कहा है। क्योंकि निमित्त के लक्ष्य से विकार करता है। निमित्त से नहीं, द्रव्य स्वभाव से निविकारी पर्याय नहीं। सूक्ष्म बात है, भगवान! क्या कहा, समझ में आया?

फिर से, वस्तु जो भगवान आत्मा अनन्त आनन्द का कन्द है, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द पिण्ड है। वह स्वयं विकार करे, ऐसा स्वरूप है ही नहीं। तथा निर्विकारी पर्याय भी द्रव्य के कारण हो, ऐसा भी नहीं है। मात्र द्रव्य पर पर्याय लक्ष्य करती है, इसलिए उस पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद की पर्याय स्वतन्त्र षट्कारकरूप से परिणमती हुई खड़ी होती है। जो द्रव्य के कारण से भी नहीं। इसी प्रकार यहाँ जब द्रव्य में गुलांट खाता है, परद्रव्य में जब लक्ष्य जाता है, तब परद्रव्य से विकार होता नहीं। जैसे स्वद्रव्य से निर्विकारी पर्याय नहीं होती। ऐ... चन्दुभाई! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो साधारण अभी बात यह। अरेरे! सुनने को मिलता नहीं, वह समझे कब? उसके जन्म-मरण कब मिटें? आहाहा! भविष्य में तो अनन्त-अनन्त काल बिताना है। आत्मा तो अनादि-अनन्त है। अज्ञान में यहाँ से छूटकर कहीं तो जाएगा। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि अकेला आत्मा... आहाहा! पर्याय में विकार करे, ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। वह निर्विकारी पर्याय जो धर्म की होती है, वह भी स्वतन्त्र पर्याय द्रव्य के लक्ष्य से होती है परन्तु द्रव्य से नहीं होती। ऐसा अपना जब लक्ष्य और आश्रय छोड़कर, अकेला आत्मा अकारक है, इसलिए उसका लक्ष्य परद्रव्य निमित्त पर जाता है। निमित्त से होता नहीं। जैसे निर्विकारी चीज़ भगवान है, इसलिए निर्विकारी धर्मदशा नहीं होती, धर्मदशा स्वतन्त्र होती है; वैसे विकार भी आत्मा स्वयं करता है, यह तो है नहीं। तब विकार होता है न, वह क्या है? कि परद्रव्य उसमें निमित्त है। विकार करे, उसमें परद्रव्य निमित्त है और विकार उसमें नैमित्तिक है। वह नैमित्तिक विकार निमित्त के लक्ष्य से करता है, परन्तु निमित्त से नहीं होता। चन्दुभाई! आहाहा! ऐसा अब कहाँ निवृत्ति इसमें? पूरे दिन पाप। धर्म तो नहीं होता परन्तु पुण्य का भी ठिकाना नहीं होता। चार-चार घण्टे वाँचन, मनन। सच्चे सत्शास्त्र, हों! आधा घण्टा-घण्टा भर पढ़े और शुभभाव हो। ऐरण की चोरी और सुई का दान। वह तो ऐरण की चोरी। स्वर्णकार की लोहे की ऐरन आती है, उसकी चोरी और सुई का दान। ऐसा घड़ी दो घड़ी भक्ति, पूजा करके, (बाकी) तेईस घण्टे पाप में (जाते

हैं)। आहाहा! ऐरण की चोरी और सुई का दान। ऊँचा नहीं आता, वह पुण्य धर्म तो नहीं परन्तु पुण्य भी उत्कृष्ट नहीं आता, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु का तीनलोक के नाथ का ऐसा पुकार है कि आत्मा स्वयं अकारक है। क्योंकि उसे निवृत्त होने का उपदेश है, उसका अर्थ यह है कि वह निवृत्त होना, उसका स्वरूप ही है। तब वह विकार होता है, वह किस प्रकार से? पर का प्रतिक्रमण करता नहीं, अर्थात् हटता नहीं, भविष्य में से हटता नहीं। एक बात। अब इसके दो प्रकार। वर्तमान में निमित्त से हटता नहीं और निमित्त के आश्रय से होते विकार से हटता नहीं। सूक्ष्म है, भाई! यह तो चौथी बार चलता है। आहाहा! सूक्ष्म बातें। वीतराग का मार्ग अलग है। जन्म-मरण के अन्त लाने का मार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा!

कहते हैं कि अकेला आत्मा विकार का अकारक है। क्योंकि विकार से हटने का उपदेश जब वीतराग का है, तब वह ऐसा सूचित करता है कि अकेला आत्मा अकारक है। तब अब यह विकार होता है न? तब कहते हैं कि विकार का प्रतिक्रमण करता नहीं, करता नहीं, प्रत्याख्यान करता नहीं। वह भावअप्रत्याख्यान और (भाव) अप्रतिक्रमण की व्याख्या की। अब वह अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के दो प्रकार वापस। एक निमित्त पर लक्ष्य है, इसलिए उसका प्रतिक्रमण करता नहीं, वहाँ से हटता नहीं और निमित्त के आश्रय से होता विकार, उससे हटता नहीं। इसलिए निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से विकार की प्रसिद्धि होती है। आहाहा! निमित्त से नहीं। समझ में आया? समझ आये, उतना समझो, बापू! यह मार्ग तो कोई अलौकिक है। दुनिया में कहीं मिले, (ऐसा नहीं है)। अभी तो सम्प्रदाय में भी यह बात नहीं है। आहाहा! बात सब गड़बड़ चढ़ गयी है। क्या कहा?

शुद्धनय का अधिकार है, इसलिए अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान शब्द (लिया है)। नहीं तो यहाँ प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान ही है। प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान के दो प्रकार हुए। एक तो द्रव्य निमित्त। कहा? वास्तव में द्रव्य अर्थात् परवस्तु और भाव (अर्थात्) उस निमित्त के आश्रय से होता विकार, वह भाव। अर्थात् द्रव्य अप्रतिक्रमण, भाव अप्रतिक्रमण। द्रव्य अप्रत्याख्यान, भाव अप्रत्याख्यान। ऐसे दो-दो भेद पड़े। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो गुजराती सरल है। भाव तो बहुत महँगे हैं, बापू! आहाहा!

निमित्त (अर्थात्) परद्रव्य। चाहे तो स्त्री, कुटुम्ब-परिवार द्रव्य हो, चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र हो, परन्तु परद्रव्य निमित्त है और निमित्त के आश्रय से विकार हो, वह नैमित्तिक है। आत्मा के आश्रय से नहीं होता। आत्मा के आश्रय से तो निर्विकारी पर्याय भी नहीं होती। आहाहा! गजब बात है। निर्विकारी पर्याय स्वतन्त्र अपने से कर्ता, कर्म छह कारक से परिणमती / होती, धर्म की पर्याय उत्पन्न होती है। इसी प्रकार विकार जो होता है, उसमें लक्ष्य है निमित्त, परद्रव्य है; परन्तु परद्रव्य से होता नहीं। यह विकार की पर्याय भी षट्कारक से परिणमती निमित्त की अपेक्षा बिना स्वतन्त्र होती है। आहाहा! .... स्थानकवासी में सामायिक करो, प्रोषध करो... मन्दिरमार्गी में पूजा करो, भक्ति करो। यह सम्मेदशिखर और गिरनार जाओ... हो गया धर्म! धूल में धर्म नहीं, बापू! बापू! तुझे खबर नहीं। आहाहा! धर्म कोई अलौकिक चीज है, प्रभु! आहाहा!

भगवत् भगवानस्वरूप तो प्रभु तुझे बुलाते हैं। भगवानरूप से बुलाते हैं। यह भगवान आत्मा स्वयं अपने से विकार करे, ऐसा स्वरूप उसमें है ही नहीं। पर्याय में विकार करे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! अनादि से उसे स्वद्रव्य का आश्रय नहीं है और इसीलिए उसे परद्रव्य का आश्रय है। देव-गुरु और शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, देह, पैसा और लक्ष्मी, ये सब परद्रव्य हैं, यह निमित्त द्रव्य है और इनके आश्रय से होता नैमित्तिक विकार, यह निमित्त और नैमित्तिक। है ?

वह, द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,... आहाहा! क्या शब्द! यह अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त मुनि। आहाहा! गजब काम करते हैं। कहते हैं, कि प्रभु! एक बार सुन! तेरा नाथ परमेश्वर परमात्मा है, वह तो द्रव्य-गुण से शुद्ध ही है। परन्तु उसका आश्रय करके पर्याय हो, उसका लक्ष्य करके पर्याय हो परन्तु वह पर्याय भी स्वतन्त्र है। निर्दोष निर्विकारी धर्म, आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद ऐसा जो धर्म, वह स्वतन्त्र होता है। वैसे इस ओर में जब विकार होता है, तब वहाँ स्व का आश्रय नहीं है। तथा पर्याय में निर्विकारी दशा नहीं है, इसलिए परद्रव्य जो निमित्त है, उसमें इसका लक्ष्य जाता है। निमित्त कराता नहीं, निमित्त से होता नहीं परन्तु निमित्त पर लक्ष्य जाता है, इससे अन्दर नैमित्तिक मिथ्यात्व, अज्ञान, राग-द्वेष विकार होता है। आहाहा! यह वहाँ

स्वीट्जरलैण्ड में कहीं सुना नहीं, धूल में। ऐई! हिम्मतभाई! यह तुम्हारे भतीजे को उल्हाना देते हैं। आहाहा! प्रभु... प्रभु..! क्या मार्ग... क्या मार्ग...! आहाहा!

द्रव्य और भाव ऐसे दो (भेद) कहे। द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य और भाव अप्रत्याख्यान। पहले अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दो ही कहे। वर्तमान प्रतिक्रमण, भविष्य का प्रत्याख्यान। पश्चात् उनके दो भेद किये। क्योंकि जो दोष है, वह दोष स्वतन्त्र पर्याय में पर के लक्ष्य बिना नहीं होता। होता है स्वयं से, परन्तु जो मिथ्यात्व दोष है, वह देव-गुरु-शास्त्र (अर्थात्) कुदेव आदि उसमें निमित्त है। और पुण्य परिणाम होते हैं उसमें देव-गुरु-शास्त्र निमित्त है। उस विकार में जो द्रव्य निमित्त है और उसके निमित्त से होता नैमित्तिक विकारीभाव, उस द्रव्य-भाव के **निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,...** आहाहा! गजब बात है, बापू! दुनिया से अलग प्रकार है, भाई! पाप के कारण निवृत्ति-फुरसत नहीं मिलती। धर्म तो नहीं परन्तु पुण्य का भी ठिकाना नहीं होता। चार-चार घण्टे तक वाँचन, सत् सत् वाँचन। सच्चे शास्त्र का (वाँचन)। और सच्चा समागम (हो तो) पुण्य तो बाँधे, धर्म तो एक ओर रहा।

यहाँ कहते हैं कि द्रव्य और भाव जो प्रसिद्ध होता है... है? **द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,...** द्रव्य, वह निमित्त और भाव, वह नैमित्तिक विकार। मिथ्याभ्रान्ति, राग-द्वेष आदि। वह प्रसिद्ध करता हुआ, निमित्त-नैमित्तिक को प्रसिद्ध करता हुआ **आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है।** हैं?

मुमुक्षु : अकारकपना सिद्ध किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अकारकपना सिद्ध किया। ओहोहो! भगवान आत्मा...! इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं लगता। आहाहा! अकेला प्रभु सच्चिदानन्द अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय प्रभुता और अतीन्द्रिय वीतरागस्वरूप। शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... अनन्त अनन्त शान्ति और वीतरागभाव से भरपूर भगवान, वह स्वयं भगवान आत्मा स्वयं के लक्ष्य से पर्याय में विकार करे, ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। आहाहा! वह तो अकारक है। क्यों अकारक है? कि द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की व्याख्या की, वही बताता है कि च्युत होने का, हटने का कहते हैं तो वह छूट जाता है, उसमें

है नहीं। और उसमें भी वापस द्रव्य और भाव दो प्रकार कहे। क्योंकि विकार होता है वह निमित्त के लक्ष्य से होता है। निमित्त से नहीं, निमित्त से नहीं, निमित्त के लक्ष्य से होता है। आहाहा! कहो, रतिभाई! यह तुम्हारे लिये फिर से लिया, हों! रामजीभाई ने कहा था, चन्दुभाई आवे तो फिर से कहना पड़ेगा। आहाहा! यह भाई भी पहला-पहला सुनते हैं न! आहाहा! सूक्ष्म बात बहुत, प्रभु! क्या करें? आहाहा!

धर्म कोई ऐसी सूक्ष्म चीज़ है और इसके बिना जन्म-मरण मिटे, ऐसा नहीं है, प्रभु! मर गया अनन्त बार। नरक में, निगोद में (गया)। आहाहा! रत्नकरण्ड श्रावकाचार तो ऐसा कहता है कि प्रभु! इस नरक के तैंतीस सागर के दुःखों में तू अनन्त बार गया। अनन्त बार गया, प्रभु! उसके एक क्षण के दुःख, नाथ! क्या कहें? एक क्षण के दुःख करोड़ों भव में और करोड़ों जीभों से नहीं कहे जा सकते, ऐसे क्षण के दुःख तूने भोगे। ऐसे-ऐसे सागरोपम, तैंतीस सागरोपम अनन्त निकाले। आहाहा! प्रभु! तुझे विचार नहीं आया। तेरी जाति को कैसे उगारना इसका विचार नहीं आया, प्रभु! आहाहा! और परजाति के निमित्त में घिर गया। आहाहा! निमित्त ने घेरा डाला है। निमित्त ने घेरा नहीं डाला, निमित्त में स्वयं ने घेरा डाला है। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है, भाई! न्यालभाई! हैं? मार्ग तो यह है, बापू! मार्ग ऐसा है, प्रभु! क्या करें? भाई! आहाहा!

प्रभु ऐसा कहते हैं कि द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण जो दो कहने में आये और द्रव्य तथा भाव दो अप्रत्याख्यान कहने में आये, उसमें ऐसा सिद्ध हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और निमित्त के लक्ष्य से मिथ्यात्व, राग-द्वेष, अज्ञान होता है। यह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध ऐसा प्रसिद्ध करता है कि आत्मा स्वयं अकारक है। आहाहा! गुजराती भी सूक्ष्म पड़े, हिन्दी में तो मुश्किल पड़े। मार्ग कोई अलग प्रकार है, प्रभु! आहाहा! ऐसी चीज़ है। क्या हो?

परमात्मा दिव्यध्वनि द्वारा पुकार करते हैं, सन्त आड़तिया होकर जगत को बताते हैं। आहाहा! माल प्रभु का है, आड़तिया होकर सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं कि प्रभु ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रभु! तू आत्मा भगवत्स्वरूप है, नाथ! सब देह में विराजमान प्रभु हैं। इस देह से भिन्न है। आहाहा! उसकी पर्याय में... पर्याय समझ में आता है? अवस्था, उसकी अवस्था में—उसकी पर्याय में कर्म, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, धन्धा इसकी पर्याय में है

ही नहीं। इसकी पर्याय-अवस्था जो है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है, द्रव्य वस्तु, गुण तो त्रिकाल ध्रुव है, परन्तु इसकी वर्तमान दशा है, अवस्था जो पर्याय / हालत है, यह विचार बदलते हैं, उस पर्याय में कर्म, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, धन्धा, देव-गुरु और शास्त्र तेरी पर्याय में है नहीं। आहाहा! तब इसकी पर्याय में है क्या? निमित्त के लक्ष्य से (निमित्त का) आश्रय करके विकार करता है, वह तेरी पर्याय में है। वह विकार द्रव्य-गुण में नहीं, वह विकार पर से नहीं होता। चन्दुभाई! आहाहा!

वह विकार संसार का जो दुःख है, राग और द्वेष अकेला दुःख है, प्रभु! तुझे खबर नहीं कि मैं दुःखी हूँ। अज्ञानी मूढ़ता के कारण... आहाहा! बालक छोटा हो और उसकी माँ ने दूध बहुत अधिक पिलाया हो तो पतले दस्त होते हैं। गर्मी के दिन हों तो बालक उसे चाटता और मानता है कि मुझे ठण्डक होती है। इसी प्रकार प्रभु! अज्ञानभाव से अनादि से परद्रव्य में सुख है, ऐसी कल्पना करके दुःख को चाटता है। आहाहा! दुःख को वेदता है, दुःखी है। अरबोंपति राजा, देव सब दुःखी हैं। आत्मा के ज्ञान और भान बिना दुःखी हैं। वह दुःख कैसे उत्पन्न हुआ? कि परद्रव्य पर लक्ष्य है, इसलिए यहाँ दुःख की दशा उत्पन्न होती है। यह निमित्त-नैमित्तिक ऐसा प्रसिद्ध करता है कि आत्मा स्वयं अकारक है। न्याय समझ में आता है? भाई! समझ में आये ऐसा है यह तो। जरा कठिन है। आहाहा! भाई! ऐसा समय कब मिलेगा? बापू! सुनना भी मुश्किल। उसे समझना और अन्दर परिणमना... ओहोहो! इसके बिना जन्म-मरण के अन्त नहीं आयेंगे, नाथ! चौरासी के अवतार किये।

यह निमित्त-नैमित्तिक ऐसा प्रसिद्ध करता है, निमित्त कराता नहीं परन्तु विकार, मिथ्यात्व, राग-द्वेष में लक्ष्य पर के ऊपर जाता है, इसलिए वह निमित्त और यह नैमित्तिक, ऐसा व्यवहार सम्बन्ध ऐसा प्रसिद्ध करता है कि ऊपर से पर्याय में और निमित्त में दो को सम्बन्ध है। यह निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार ऐसा प्रसिद्ध करता है कि आत्मा अकेला विकार का कर्ता नहीं है, आत्मा अकारक है। आहाहा! वह राग का भी कर्ता नहीं। दया, दान के विकल्प का कर्ता आत्मा नहीं है। अरर! अब ऐसी बातें। समझ में आया? आहा! क्योंकि वह विकार है। विकार द्रव्य में नहीं, गुण में नहीं तो किसके आश्रय से विकार करे? आहाहा!

यह विकार तो निमित्त परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य (जाता है तो होता है)। विकार परद्रव्य से (होता) नहीं, परद्रव्य से नहीं। जैसे निर्मल मोक्षमार्ग की पर्याय स्वद्रव्य से नहीं (होती), भले लक्ष्य वहाँ किया है परन्तु पर्याय स्वतन्त्र उत्पन्न की है। मोक्ष का मार्ग अन्दर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय स्वतन्त्र-स्वतन्त्र कर्ता-कर्म से उत्पन्न हुई है। वैसे विकार स्वतन्त्ररूप से मिथ्यात्व और राग-द्वेष करता है। मात्र उसका लक्ष्य निमित्त पर जाता है। उस निमित्त पर लक्ष्य जाने से, स्व का लक्ष्य छूटने से, नैमित्तिक दशा में—पर्याय में विकार जो होता है, वह विकार नैमित्तिक और चीज़ निमित्त, ये दो पर्याय में अध्धर से ऐसा प्रसिद्ध करते हैं कि अकेला आत्मा अकारक है। समझ में आया? रतिभाई! यह रुपये-बुपये से दूसरी सब बातें है। आहाहा!

यह **निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ,...** आहा! वस्तु जो त्रिकाली द्रव्य और गुण परमात्मस्वरूप है, उसका आश्रय न लेकर, पर्याय में पर्यायबुद्धिवाला निमित्त पर लक्ष्य करता है, इसलिए उसे नैमित्तिक दशा स्वयं से स्वयं में होती है, निमित्त से नहीं होती। अरे! अरे! इसमें कितना याद रखना? यह बहियों-वहियों में कहीं आता नहीं होगा उनमें कहीं। आहाहा! समझ में आये ऐसा है, भगवान! समझ में आये उसे समझाया है न? यह कहीं जड़ को नहीं कहते। यह तो जड़ है। अन्दर राग भी जड़ है। अन्दर भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु है न? उसे कहते हैं, प्रभु! तू स्वयं अकेला विकार का अकर्ता है, हों! स्वयं अकर्ता न होवे तो निमित्त-निमित्त सम्बन्ध ऐसा प्रसिद्ध करता है कि उसके कारण से विकार होता है, निमित्त के लक्ष्य से होता है; तेरे लक्ष्य से विकार नहीं होता। आहाहा! समझ में आये उतना समझना, भगवान! यह तो वीतराग का मार्ग है, प्रभु! सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव एक समय में तीन काल-तीन लोक जिन्होंने देखे, उनका यह दिव्यध्वनि का उपदेश सन्त महाविदेह में से लाये। आहाहा! भगवान सीमन्धर प्रभु विराजते हैं, वहाँ से यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव लाये, उसका अर्थ अमृतचन्द्राचार्य ने वहाँ गये बिना ऐसे अर्थ किये। आहाहा! यह क्या कहा?

आत्मा स्वयं अकेला अकारक है। क्यों? कि पर निमित्त है, उसके ऊपर उसका लक्ष्य जाता है। यहाँ (स्वरूप में) लक्ष्य न जाकर, वहाँ लक्ष्य जाता है। और यहाँ लक्ष्य होवे तो निर्विकारी पर्याय स्वतन्त्र पर्याय हो। इस ओर लक्ष्य नहीं तो ऐसे लक्ष्य करता है, इसलिए

वह निमित्त उसे विकार नहीं कराता परन्तु निमित्त के सम्बन्ध से यह विकार करता है, वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा प्रसिद्ध करता है कि आत्मा अकेला अकारक है। निमित्त के लक्ष्य बिना अकेला आत्मा अकारक है। आहाहा! समझ में आया? इसमें लिखा तेरे ऐसा इसमें कुछ नहीं। ऐसी चीज़ है, प्रभु!

आत्मा के अकर्तृत्व को ही... प्रसिद्ध करता है। देखा? आत्मा स्वयं से रागादि का अकारक है, ऐसा पहला शब्द था न? उसे यहाँ सिद्ध किया। अकारक है, उसे इस प्रकार से सिद्ध किया। आहाहा! यह कहीं वार्ता नहीं, बापू! यह कथा नहीं, प्रभु! यह तो अन्तर की बातें हैं। आहाहा! जन्म-मरण कैसे कर रहा है? वह जन्म-मरण चौरासी के अवतार कैसे कर रहा है? अकेले आत्मा के आश्रय से नहीं कर रहा। मात्र उसका लक्ष्य इस (अन्तर) की ओर न जाकर, उस ओर (बाहर) जाता है तो निमित्त के लक्ष्य से अध्धर विकार करता है। उस विकार के कारण परिभ्रमण होता है। निमित्त से नहीं, द्रव्य-गुण से नहीं। समझ में आया? आहाहा! यह तो चाहे जितनी बार बात करे तो इसकी गम्भीरता का पार नहीं होता। आहाहा!

दूसरे प्रकार से कहें तो द्रव्य जो वस्तु है, उसकी यदि बुद्धि करे तो पर्याय में निर्मल, निर्विकारदशा स्वतन्त्र होती है। वह द्रव्य के कारण नहीं। द्रव्य के कारण होवे तो एक सरीखी (पर्याय) होनी चाहिए, परन्तु पर्याय की स्वतन्त्रता, भले लक्ष्य वहाँ है, परन्तु लक्ष्य में कर्तापने में स्वतन्त्ररूप से लक्ष्य करके, द्रव्य का स्वतन्त्ररूप से लक्ष्य करके, पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्म होता है। वह नहीं होता, तब यह विकार होता है—यह क्या है? कि द्रव्य और गुण का लक्ष्य नहीं करता, उसकी पर्याय का लक्ष्य निमित्त के ऊपर जाता है। जिसकी पर्याय है, उसका लक्ष्य वहाँ न जाकर, जिसकी पर्याय है, वहाँ न जाकर, जिसकी पर्याय नहीं और जिसमें वह नहीं, वह पर्याय जिसमें नहीं और वह चीज़ पर्याय में नहीं (उसके ऊपर लक्ष्य करता है तो विकार होता है)। आहाहा! समझ में आया? यह निमित्त-नैमित्तिक ऐसा प्रसिद्ध करता है कि अकेला आत्मा भगवान अकारक है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से विकार करके वह भटक मरा है। आहाहा! कहो, समझ में आया या नहीं? भाषा तो सादी है। परन्तु अब क्या हो? प्रभु! प्रभु का विरह पड़ा, लोगों ने ऐसी वाणी

से अर्थ स्वच्छन्द के अनेक किये, अनेक प्रकार से किये। जो चीज़ कहना चाहते हैं, उसे छोड़कर ऐसा का ऐसा अनादि से भटकता है। आहाहा!

इसलिए यह निश्चित हुआ... क्या कहते हैं? देखो! **इसलिए यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है...** इसमें लोग जोर देते हैं। परद्रव्य निमित्त है। निमित्त है, उसका अर्थ कि दूसरी चीज़ लक्ष्य में है, इतना। परद्रव्य निमित्त है, इसलिए उससे होता है- ऐसा नहीं है। आहाहा! बातें गजब। पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में कहा है न? ३२-३३ वर्ष पहले ईसरी में बहुत बड़ी चर्चा हो गयी है। आत्मा में विकार होता है वह षट्गुण— कर्ता, कर्म षट्कारक के होता है। विकार की पर्याय कर्ता, कर्म, सम्प्रदान, अपादान स्वयं से होता है, निमित्त से नहीं, द्रव्य-गुण से नहीं। आहाहा! उसी प्रकार धर्म की पर्याय भी निमित्त से तो नहीं, वहाँ लक्ष्य है नहीं, परन्तु इस द्रव्य का लक्ष्य करता है, इसलिए द्रव्य के कारण यहाँ निर्मल पर्याय होती है, यह व्यवहार भाषा है। बाकी स्वतन्त्र निर्मल पर्याय स्वयं उस रूप से कर्ता, कर्म होकर निर्दोष धर्म की दशा प्रगट करता है। इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि अकेला आत्मा निमित्त के लक्ष्य के सम्बन्ध बिना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा प्रसिद्ध करता है कि वह सम्बन्ध है, तब राग का कर्ता होता है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध न करे तो द्रव्य अकेला है, वह विकार का कर्ता है नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम। इतनी लाईन में ऐसा निकालना। मार्ग ऐसा है, प्रभु! आहाहा! बाहर का उत्साह मार डालता है। आहाहा!

अपनी चीज़ जो अन्दर है... निमित्त का प्रश्न उठा है न? अपना स्वभाव जो अनन्त आनन्दादि है, उसकी इसे विस्मयता, आश्चर्यता नहीं और आश्रयता नहीं। विस्मयता, आश्रयता, आश्चर्यता इसे इसके अतिरिक्त दूसरी किसी भी चीज़ —पैसा, स्त्री, पुत्र, शरीर रूपवान, पैसा, मकान की इसे विस्मयता, आश्चर्यता और अधिकता आत्मा से विशेष भासित होती है। आहाहा! यही इसे मार डालता है, संसार में भटकाता है। है न?

इसलिए यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है... निमित्त है, इसमें विवाद उठता है। निमित्त है या नहीं? परन्तु वस्तु किसने निषेध किया? निमित्त है परन्तु निमित्त यहाँ विकार कराता है, ऐसा कहाँ है? निमित्त को नैमित्तिक स्पर्श भी नहीं करता। नैमित्तिक

विकार जो करता है, वह निमित्त को स्पर्श भी नहीं करता। तथा निमित्त है, वह विकार को स्पर्श नहीं करता। मात्र इसका लक्ष्य वहाँ जाता है। यहाँ न जाकर, वहाँ जाता है; इसलिए वह निमित्त है, परद्रव्य निमित्त है। निमित्त, कारण है, इसलिए होता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। वह तो दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, पूजा करो, भगवान का फोटो (मूर्ति) रखकर एक घण्टे भक्ति करे, पढ़े... हो गया। (बाकी के) तेईस घण्टे पाप (करे)। .... ऐसा है, बापू! आहाहा! भगवान! तेरे लिये घण्टा, आधा घण्टा भी नहीं? पर के लिये, इस व्यवहार के लिये घण्टा भर निकालना, यह ध्यान हो गया, अपने धर्म हो गया। आहाहा!

मुमुक्षु : बाहर का पदार्थ तो जीव को मिलता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कब मिलता है? कभी मिला नहीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता न। यह अँगुली इस वस्त्र को स्पर्श नहीं करती। कौन माने? समयसार तीसरी गाथा में भगवान ऐसा पुकारते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चूमता नहीं, छूता नहीं, स्पर्शता नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपनी शक्ति-गुण और पर्याय को स्पर्श करता है; पर को स्पर्श नहीं करता। प्रभु! कठिन बात है, बापू! क्या हो? आहाहा!

अग्नि शरीर को स्पर्श नहीं करती और यहाँ जलता है। इसे अग्नि नहीं छूती। क्योंकि अग्नि के परमाणुओं में और इन परमाणुओं में, दोनों के बीच अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव के कारण अग्नि इसे—शरीर को नहीं छूती। आहाहा! इस कपड़े को गज से मापते हैं न? दो-तीन-चार। यह गज वस्त्र को स्पर्श भी नहीं करता, कहते हैं। इस कपड़े को नहीं करते? हैं? नापते हैं। सब देखा है न? बहुत कपड़ेवालों को देखा है। आहाहा! माप करे, माप। कहते हैं कि यह क्या कहलाता है? गज, कपड़े को स्पर्श नहीं करता। कपड़े को तेरे हाथ ने स्पर्श नहीं किया। यह तो साधारण बात है। यह (चलती है) वह बात जरा सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : यह सूर्य का प्रकाश है, उसकी झांई है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल झूठी बात है। प्रकाश यहाँ स्पर्श नहीं करता। झांई कुछ स्पर्श नहीं करती। आहाहा! अरेरे! इसे कहाँ जाना?

यदि ऐसा न माना जाए... देखा? है न? **यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न माना जाए तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा,...** भगवान ऐसा कहते हैं कि राग से छूट जा, निमित्त से छूट जा। यह उपदेश निरर्थक जाए। आहाहा! यदि आत्मा स्वतन्त्र कर्ता हो तो यह कर्तापने का छुड़ाते हैं। इसका अर्थ—यह कर्ता नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

निरर्थक ही होगा, और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा,... देखा? यहाँ भी 'निमित्त' शब्द प्रयोग किया है। 'निमित्त' शब्द से (आशय है) कारण। आत्मा को कारणपना आ पड़े। विकार का आत्मा कारण है ही नहीं। आहाहा! उसमें ऐसा था, आया था न? **द्रव्य प्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा,...** ऊपर आया था न? परद्रव्य निमित्त है, परद्रव्य निमित्त है। ऊपर तीसरी लाइन में आया था। यहाँ कहा कि ऐसा होवे तो **निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा,...** निमित्त के लक्ष्य से विकार होता है, स्वभाव के लक्ष्य से नहीं—ऐसा जो भगवान का उपदेश है, वह निरर्थक होगा, यदि आत्मा स्वयं कर्ता होवे तो। समझ में आया? ऐसी बातें, लो। बहियों का कपड़ा बदलना हो तो धमाधम-धमाधम करे, लो! हैं? आहाहा! चार पैसे का घासलेट जलावे। क्यों मिलता नहीं? क्यों मेल नहीं खाता? परन्तु इसमें क्यों मेल नहीं खाता? ऐसा कभी मेल किया है?

और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जाएगा,... देखो! वापस यहाँ निमित्त (कहा)। रागादि को निमित्तपना अर्थात् कारण। यदि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से विकार न हो, ऐसा यदि निरर्थक करो तो अकेले आत्मा को रागादिभावों का कर्तापना आ पड़े। आहाहा! **आ जाएगा, जिससे नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जाएगा,...** क्या कहते हैं अब? आहाहा! वह तो पर्याय में क्षणिक था, निमित्त के लक्ष्य से विकार करता था, वह तो क्षणिक था। यदि विकार का आत्मा भी कर्ता हो तो आत्मा नित्य है। अतः आत्मा नित्य त्रिकाल कर्ता रहे और कभी मुक्ति हो नहीं। आहाहा! क्या कहा?

फिर से, कि निमित्त के लक्ष्य से विकार होता है, इस अपेक्षा से आत्मा अकर्ता है। परन्तु यदि आत्मा राग का कर्ता सिद्ध करो, निमित्त के लक्ष्य बिना अध्धर सीधा (कर्ता सिद्ध करो) तो आत्मा नित्य है, तो नित्य राग करे। नित्य राग-द्वेष, पुण्य-पाप, मिथ्यात्व किया ही करे, कभी मुक्ति तो हो नहीं। आहाहा! है? ऐसा **सिद्ध होगा। मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा।** नित्य हो गया न? आत्मा नित्य द्रव्य त्रिकाल है और त्रिकाल विकार का कर्ता होवे तो कभी मुक्ति नहीं हो। इसलिए निमित्त-नैमित्तिक पर्याय ऐसा सिद्ध करती है कि आत्मा स्वयं तो अकारक है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध करता है तो विकार होता है। इसलिए आत्मा स्वतन्त्र अकारक है। विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३५२, गाथा-२८३ से २८५ गुरुवार, मगसर शुक्ल ३
दिनाङ्क - २२-११-१९७९

समयसार, २८३ से २८५ (गाथा)। यहाँ तक आया था। आत्मा रागादि का अकारक ही है। यहाँ तक आया था। है अन्दर? नीचे से पाँचवीं लाईन। क्या कहा यह? आत्मा आनन्द और ज्ञान शुद्धस्वरूप है। वह स्वयं अपने से स्व के लक्ष्य से और आश्रय से विकार करे, ऐसा नहीं होता। शुद्ध चैतन्य वस्तु है, परमात्मस्वरूप है, वह स्वयं अपने से विकार करे—ऐसा नहीं होता। क्योंकि आत्मा स्व से तो अकारक है, परन्तु उसका पर्याय में पर के ऊपर लक्ष्य जाने से, निमित्त का आश्रय लेने से, नैमित्तिक विकारदशा हो, उस निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से विकार का कर्ता पर्याय में होता है। ऐसा सूक्ष्म है। यह तीन बार तो चल गया है। है?

मुमुक्षु : सूक्ष्म बहुत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो मक्खन है।

भगवान आत्मा स्वस्वरूप से, स्वस्वरूप तो उसका शुद्ध अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीतरागता आदि अनन्त शुद्ध शक्तियों का सागर है। वह स्वयं अपनी जाति से, अपने अवलम्बन से, अपने आश्रय से विकार करे—ऐसा उसके स्वरूप में नहीं है। अनन्त

वीतरागता अपनी जाति से अपने अवलम्बन से, अपने आश्रय से विकार करे—ऐसा उसके स्वरूप में नहीं है। आत्मा विकार का अकर्ता है। शुभ-अशुभभाव विकारी परिणाम जितने दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, यह कमाना, भोगना, विषयवासना सब पाप (होते हैं) उनका आत्मा स्वयं तो कर्ता नहीं, परन्तु उसकी पर्याय, अर्थात् दूसरी भाषा लें तो द्रव्यदृष्टि से तो विकार का कर्ता नहीं। क्योंकि द्रव्य विकार करे—ऐसा स्वरूप नहीं है, परन्तु उसकी वर्तमान दशा अपने द्रव्य के लक्ष्य को छोड़कर दूसरे द्रव्य जो अन्य उससे भिन्न हैं, उनके ऊपर लक्ष्य जाने से निमित्त के आश्रय से अपने में विकार अज्ञान, मिथ्यात्व, राग-द्वेष होते हैं। निमित्त से नहीं होते, द्रव्यस्वभाव से नहीं होते। पर्याय में निमित्त के आश्रय से होते हैं। इस अपेक्षा से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की प्रसिद्धि करने से आत्मा अकारक सिद्ध होता है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। सूक्ष्म बात है, बापू! जन्म-मरण रहित की बात बहुत सूक्ष्म है।

इसलिए यहाँ सिद्ध किया कि स्वयं पर्याय में मिथ्यात्व और राग-द्वेष निमित्त के लक्ष्य से करे तो वह विकार का कर्ता, परिभ्रमण का कर्ता होता है, परन्तु अपने स्वभाव की जाति में विकार का होना या विकार का उपजना, वह अपने स्व के आश्रय से नहीं है। आहाहा! इसलिए जिसे कल्याण करना हो, उसे निमित्त के सम्बन्ध में नैमित्तिक जो होता है, उसका आश्रय छोड़कर, चैतन्य पूर्णानन्द का नाथ, उसका आश्रय और अवलम्बन लेने से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हों, वह मोक्ष का मार्ग है। वे गये? हिन्दी लोग थे, वे गये? दोपहर को कहा था कि होगा परन्तु दोपहर में भूल गये। थे या नहीं? सवेरे कहा था न? सवेरे तो सूक्ष्म है। दोपहर में याद आया नहीं। वे थे।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि अकारक ही है, ऐसा सिद्ध हुआ। **(इस प्रकार यद्यपि आत्मा रागादि का अकारक ही है)**... संसार की विकारी दशा का अकारक है। आहाहा! वस्तु स्वरूप तो अकारक ही है, **तथापि जब तक वह निमित्तभूत द्रव्य का**... अर्थात् अपने अतिरिक्त के दूसरे द्रव्यों की ओर का लक्ष्य नहीं छोड़े और निमित्त के लक्ष्य से विकार (होता) है, उसे न छोड़े। है? **जब तक वह निमित्तभूत द्रव्य का (-परद्रव्य का) प्रतिक्रमण**... उस निमित्त से हटे नहीं और प्रत्याख्यान करता नहीं, भविष्य में निमित्त की ओर का झुकाव छोड़ता नहीं, **तब तक नैमित्तिकभूत**... निमित्त अर्थात् परद्रव्य के आश्रय

से **नैमित्तिकभूत भावों का (–रागादिभावों का) प्रतिक्रमण नहीं करता,...** निमित्त की ओर के लक्ष्य को नहीं छोड़ता, निमित्त की ओर के आश्रय को नहीं छोड़ता तथा भविष्य का **प्रत्याख्यान नहीं करता,...** भविष्य में भी निमित्त की ओर नहीं जाना, निमित्त की ओर नहीं झुकना, तथा निमित्त की ओर झुकने से भाव होते हैं, वह नहीं करना—ऐसा जब तक नहीं करता, तब तक **नैमित्तिकभूत भावों का (–रागादिभावों का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता,...**

और जब तक इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता... वजन यहाँ आया। पहले तो निमित्त की ओर का लक्ष्य नहीं छोड़ता, ऐसा आया। पश्चात् निमित्त की ओर के होते भाव को नहीं छोड़ता, तब तक वह **कर्ता ही है;...** तब तब वह मिथ्यात्व-भ्रान्ति, राग-द्वेष का कर्ता है। ऐसा अधिकार आया। समझ में आया? अकेला प्रभु, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द का दल है। अतीन्द्रिय वीतराग की मूर्ति आत्मा तो है। उसे आत्मा कहते हैं। वह आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान, आनन्द और वीतरागता का सागर स्व के आश्रय से विकार करे, ऐसा तो कभी तीन काल में बनता नहीं। परन्तु वह अपना आश्रय छोड़कर परद्रव्य जो उसमें नहीं; जो उसमें है, उसका आश्रय नहीं लेकर, उसमें नहीं है, उनका आश्रय लेता है; इसलिए उसे नैमित्तिक विकारभाव होता है। आहाहा! समझ में आया इसमें? इसमें कहीं स्वीटजरलैंड में सुनने को मिले, ऐसा नहीं और भटकने का है। पाप... पाप। सवेरे से शाम तक पाप। यह लिया और यह दिया और यह किया। ऐई! हिम्मतभाई! यह पैसा लिया और यह दिया और इसका यह आया और इसका आया, इसे इतने दिये और यह लिये... अकेला पाप। धर्म तो नहीं, परन्तु पुण्य भी नहीं। अरर! अब इसे जाना कहा? हैं?

मुमुक्षु : हमारे करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्या करना, इसकी तो बात चलती है। आत्मा जैसा है, वैसा जानकर परसन्मुख के लक्ष्य को छोड़कर, लक्ष्य के आश्रय से होनेवाले विकार को भी छोड़कर स्व के आश्रय में जाना, यह करना और इससे धर्म होता है। अब ऐसा कहाँ (सुनने को मिले)? पूरी दुनिया का बड़ा भार उठाकर चलता है, उसे कहते हैं कि दया, दान और व्रत के राग का विकल्प है न? वह विकल्प भी निमित्त के लक्ष्य से होता है, इसलिए उस

निमित्त का भी लक्ष्य छोड़ और निमित्त से होते विकार का भी लक्ष्य छोड़ और जिसमें विकार तथा निमित्त नहीं, ऐसे आत्मा का आश्रय कर। आहाहा! यशपालजी! बात तो ऐसी है, भाई! आहाहा!

यहाँ तो अभी प्रथम सम्यग्दर्शन की बात चलती है। मिथ्यादर्शन जो अनादि से है। वह पूर्ण सच्चिदानन्द प्रभु, अनाकुल शान्ति और शान्ति तथा आनन्द के सागर के सन्मुख एक समय भी देखा नहीं और एक समय भी पर के सामने देखे बिना रहा नहीं। आहाहा! जो इसमें नहीं, उसे अपना मानकर पर-सन्मुख का लक्ष्य छोड़ता नहीं और जो अपने में है, उसके लिये एक समय भी नजर करता नहीं। आहाहा! यह तो चौथी बार चलता है, तीन बार तो आ गया है। पश्चात् एक ही बात आवे, इसलिए.... नहीं। आहाहा! हैं? आहाहा!

यहाँ तो यहाँ तक कहते हैं कि स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी, व्यापार-धन्धा, यह तो सब पर है। पर का लक्ष्य करे, तब उसे विकार हुए बिना नहीं रहता और उस विकार में लाभ है, ऐसा माने तो मिथ्यात्व हुए बिना रहता नहीं और मिथ्यात्व अर्थात् उस मिथ्यात्व में अनन्त भव करने की शक्ति है। आहाहा! अरे! बातें ऐसी हैं, बापू!

यहाँ तो देव-गुरु और शास्त्र, वे भी स्वद्रव्य से (भिन्न) परद्रव्य है। उस परद्रव्य की ओर का जब तक झुकाव है, तब तक उसे पर्याय में विकार हुए बिना नहीं रहता और वह विकार होता है, उससे मुझे लाभ होता है, ऐसा माने तो मिथ्यात्व हुए बिना नहीं रहता। और यह मिथ्यात्व होता है, वह अनन्त संसार का कारण होता है। आहाहा! छोटाभाई! ऐसी बातें हैं। हैं? अभी की है? यह लाखों, हजारों वर्ष (पहले की है)। आहाहा! क्या टीका... क्या टीका... गजब बात है! अमृतचन्द्राचार्य ने हृदय खोल डाला है, कलेजे को उत्कीर्ण कर डाला है!

प्रभु! तू एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में पूर्ण आनन्द और पूर्ण वीतराग और पूर्ण शान्ति का सागर है। एक समय में तेरी शान्ति और वीतरागता का माप न आवे, ऐसी वीतरागता तुझमें है। एक समय में तुझमें ज्ञान का माप न आवे, ऐसा अनन्त ज्ञान है। एक समय में आनन्द का भी माप न आवे, इतना प्रभु अनन्त आनन्दस्वरूप है। आहा! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। ऐसी-ऐसी अतीन्द्रिय शक्तियाँ—गुण का सागर, उसके सन्मुख प्रभु! तूने

एक क्षण भी देखा नहीं। तेरी प्रभुता को तूने प्रभुतारूप से स्वीकार नहीं किया। आहाहा! और जो प्रभुता तेरी नहीं है और पर की है, उसकी-पर की प्रभुता पर लक्ष्य जाकर उसमें विस्मय और बहुमान तूने किया है। पर का विस्मय और बहुमान तूने किया है, इसलिए तेरी विस्मयता और बहुमान छूट गया है। आहाहा! क्या टीका! गजब है!

आत्मा निमित्त के आश्रय बिना नैमित्तिक विकार भटकने का न हो, वह ऐसा सूचित करता है कि अकेला आत्मा विकार का अकारक है। मात्र निमित्त-निमित्त सम्बन्ध में जाता है, तब विकार का कर्ता होता है। समझ में आया? आहाहा! इस प्रकार से आत्मा अकारक होने पर भी जब तक परद्रव्य की ओर का झुकाव न छोड़े और परसन्मुख के झुकाव से होते विकार को न छोड़े, तब तक तो वह विकार और मिथ्यात्व का कर्ता ही है। आहाहा!

क्या अमृतचन्द्राचार्य! आहाहा! अमृत बहाया। इतनी लाईनों में भी अमृत रखा है। आहाहा! दिगम्बर मुनि थे। आहाहा! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् हजार वर्ष (बाद) हुए। उनकी चाबी खोली। अमृतचन्द्राचार्य ने परमात्मा कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शास्त्रों के आगम की चाबी खोल डाली। आहाहा! वह भी बहुत ही थोड़े शब्दों में और बहुत ही गहरी बातें। परन्तु प्रभु! इसे पहुँचना चाहिए। आहाहा! बाकी यह धूलधाणी भटकता राम अनादि का नरक और निगोद के भव कर-करके मर गया। थोथा उड़ गया है। कीड़ी के, कौवे के, कुत्ते के... अरेरे! नरक। पहले नरक की दस हजार वर्ष की स्थिति में अनन्त बार उपजा। दस हजार और एक समय की स्थिति में दूसरी स्थिति से अनन्त बार उपजा। दस हजार और दूसरे समय भी अनन्त बार उपजा। ऐसे ठेठ सागर तक असंख्य... असंख्य... असंख्य... वर्ष उसमें जाते हैं। उस प्रत्येक समय में अनन्त बार वहाँ उपजा है, प्रभु! आहाहा! क्योंकि अनन्त का नाथ भगवान, पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, जिसमें संसार का लेप नहीं, जिसमें विकल्प की गन्ध नहीं—ऐसी चीज़ को देखने को, जानने को, पहिचानने को, माहात्म्य करके देखने की कभी मेहनत नहीं की। आहाहा! साधु हुआ, हजारों रानियाँ छोड़ी परन्तु अन्दर में निमित्त-निमित्त सम्बन्ध को नहीं छोड़ा। आहाहा! अर्थात् कि पर के लक्ष्य के झुकाव को नहीं छोड़ा। इसलिए इसे स्व के लक्ष्य का झुकाव नहीं आया। आहाहा!

अब कहते हैं कि जब तक यह भविष्य के.... वर्तमान के निमित्त और भविष्य के निमित्त तथा वर्तमान के नैमित्तिक विकार और भविष्य के नैमित्तिक (विकार को) न छोड़े

तब तक वह उनका कर्ता ही है;... तब तक कर्ता ही है। अकारक है, वह कर्ता है, ऐसा सिद्ध किया। पहले ऐसा सिद्ध किया कि भगवान प्रभु तो अन्दर अकर्ता ही है। वह अकर्ता है परन्तु कब अकर्ता होगा? कि जब तक उसका निमित्त और नैमित्तिक के लक्ष्य के सम्बन्धवाला मिथ्यात्व भाव छोड़े नहीं, तब तक वह अकारक होता नहीं। तब तक वह राग और विकार और मिथ्यात्व का कर्ता होकर भटक मरता है। आहाहा! अब इसमें दया पालना, व्रत करना, और अपवास करना, ऐसी बातें तो आती नहीं।...

तब तक वह उनका कर्ता ही है;... है? नीचे से तीन लाईन। नीचे से तीसरी लाईन वह बहियाँ नहीं है, यह पुस्तक अलग प्रकार की है। इसकी एक-एक लाईन समझना कठिन है। वे पोथे समझ-समझ कर करोड़ों रुपये इकट्ठे किये, पाप के, पाप कर-करके। और वापस उन्हें सम्हालने के लिये पाप, प्रयोग के लिये पाप, और जिसे देगा, उसके लिये पाप (किये)। हैं? पाप में देगा। लड़की को दे, दामाद को दे। वे सब पाप करेंगे। आहाहा! यहाँ तो बात ही नहीं है। पाप और पुण्य स्वरूप में है ही नहीं। आहाहा!

प्रभु! तू कौन है? मैं तो राग अर्थात् निमित्त की ओर के लक्ष्यवाला राग और मिथ्यात्व भाव से तो रहित हूँ। ऐसा हूँ। पर की दया पालनेवाला और पर की हिंससा करनेवाला और पर की भक्ति करनेवाला, वह मैं नहीं। आहाहा! मैं तो सूक्ष्म में सूक्ष्म गुण-गुणी के भेद—आत्मा गुणी है और उसमें ज्ञान, दर्शन आदि गुण है—ऐसा भेद का जो विकल्प उठे, उसका भी मैं कर्ता नहीं—ऐसा मेरा स्वरूप है, परन्तु तो भी भेद डालकर विकल्प का कर्ता होता है। जब तक वहाँ से छोड़ता नहीं, तब तक कर्ता होता है। कहो, वीरचन्दभाई! समझ में आया? समझ में आता है या नहीं? आहाहा! यह कलकत्ता में कहीं मिले, ऐसा नहीं है। धूल में भी यह। आहाहा! क्या बात की है!... यहाँ तक आया?

तब तक वह उनका कर्ता ही है; जब... अब कर्तापना कब छूटे? (यह कहते हैं)। आहाहा! गजब काम किया है! दिगम्बर सन्तों ने निहाल कर डाला है। जगत को निहाल कर डाला है। संसार का (छेद) करके मोक्ष में पधारे। भगवान पधारो मोक्ष में, ऐसी बातें की है। आहाहा! भगवान! यहाँ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध में रहना, वह तेरा स्वरूप नहीं है, नाथ! आहाहा! सन्तों का पुकार है कि तेरे द्रव्य के अतिरिक्त दूसरे द्रव्य भले देव-

गुरु और शास्त्र, हम भी हों, ऐसा कहते हैं। देव और गुरु हों, वह हमारी ओर के लक्ष्य को छोड़े नहीं, तब तक तेरा कल्याण होगा नहीं। आहाहा! यह सन्त वाणी कहे, यह वीतरागी सन्त कहे। मुख के सामने ग्रास किसे खोटा लगे? हमारी भक्ति करो, तुम्हारा कल्याण होगा। यहाँ तो कहते हैं, हमारी भक्ति (कर तो भी) हम परद्रव्य हैं। तेरे स्वद्रव्य की अपेक्षा से हम परद्रव्य हैं। समझ में आया? गजब काम किया है।

एक ओर राम तथा एक ओर गाँव। एक ओर अखण्डानन्द नाथ अतीन्द्रिय का सागर प्रभु भरा है। लबालब ठसाठस (भरा है)। आहाहा! एक शब्द आया था न कहीं? उसमें आया था—नियमसार में। आत्मा अमृत के सागर से दृढ़ीभूत भरा है। आहाहा! परन्तु किसे जँचे? कभी आत्मा क्या है इसकी बात भी (सुनी नहीं)। आहाहा! तीन लोक का नाथ अनन्त अनन्त केवलज्ञानी की पर्याय प्रगट करे, ऐसा एक-एक तो गुण इसका! एक समय की केवलज्ञान पर्याय, ऐसी अनन्त पर्याय प्रगट करे, ऐसा तो एक गुण। ऐसे-ऐसे अनन्त गुण का सागर नाथ, तुझे यह शोभा नहीं देता, प्रभु! ऐसा कहते हैं। आहाहा!

तेरी चीज़ को छोड़कर, प्रभु! परद्रव्य के लक्ष्य में तुझे जाना, यह व्यभिचार तुझे खड़ा होता है। आहाहा! प्रभु ऐसा कहते हैं कि हमारे ऊपर भी तेरी नजर जाती है तो तेरे स्वद्रव्य को छोड़कर हमारे परद्रव्य पर लक्ष्य गया, प्रभु! तुझे अन्दर व्यभिचार हुआ, राग हुआ—व्यभिचार हुआ। वीतरागी मूर्ति भगवान में राग (हुआ), वह व्यभिचार हुआ। आहाहा! कहाँ ऐसा सुने? बापू! मिले कहाँ? एक तो सुनने को मिलता नहीं, वह कब समझे? और कब (परिणमन में उतारे)? आहाहा! ५७ वर्ष हुए, उसे अब कहीं ५७ निकलनेवाले नहीं हैं। ऐ... हिम्मतभाई! निकलनेवाले हैं? नहीं? हैं?

मुमुक्षु : कल की खबर नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कल की खबर नहीं, लो! यह तो प्रत्येक की बात है। आहा! पूरी दुनिया। ५०-६० वर्ष हुए, फिर से ५० निकलनेवाले हैं? यहाँ से छूटकर जाना है, बापू! उसकी अवधि छूट जाएगी, भाई! तेरी अवधि नहीं है। तेरी अवधि नहीं है, तू तो अनादि-अनन्त है, अवधिरहित है। आहाहा! यह अनादि-अनन्त अवधिरहित, जिसे काल लागू नहीं पड़ता... आहाहा! जिसमें राग की गन्ध नहीं दिखती, ऐसा जो भगवान अन्दर परमानन्द

का नाथ प्रभु है न! प्रभु! तू परमानन्दस्वरूप है न! परन्तु जब तक तेरा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध में लक्ष्य रहेगा, तब तक तुझे राग और मिथ्यात्व का कर्तापना तुझमें नहीं टलेगा। आहाहा! भाषा तो सादी है, समझ में आये ऐसा है न? भाई! वीरचन्दभाई! भाषा तो सादी है, बापू! आहाहा! तुम भगवान हो, बापू। यहाँ तो अन्दर तो सब भगवान है। आहाहा!

जब तक इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता, तब तक वह उनका कर्ता ही है;... अर्थात? जब तक निमित्त की ओर का झुकाव नहीं छोड़ता, तब तक निमित्त के लक्ष्य से होता विकार नहीं छूटता, तब तक तो उस विकार का, विकार शब्द से अन्दर बन्ध और मिथ्यात्व, हों! क्योंकि विकार होता है, वह मेरा है—यह मान्यता मिथ्यात्व है। आहाहा! हैं?

मुमुक्षु : वहाँ निमित्त-नैमित्तिक कहाँ गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस एक निमित्त की ओर का झुकाव होकर विकार हो, वह मेरा है, त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है (ऐसा न मानकर विकार है) तथा वह मेरा है, (ऐसा मानता है), वह मिथ्यात्व है। आहाहा! प्रभु का पुकार है, भगवन्त का पुकार है, भगवन्त तेरा स्वरूप है। उसमें हमारे सन्मुख देखने से भी तुझे राग होता है। और वह राग है, वह मुझे लाभदायक होगा, तो वह मिथ्यात्व है। आहाहा! यह वीतराग कहते हैं, दूसरा कोई नहीं कहता, बापू! हैं? आहाहा! इसमें तो इतना भरा है... इतना भरा है इसमें, यह टीका... आहाहा! गजब बात भरी है। पार न आवे ऐसी बात है। पार आ जाए ऐसी बात है, स्वरूप का पार आ जाए और बाहर की बात का पार न आवे, ऐसी इसमें बात है। आहाहा!

कहते हैं, भले अरबों रुपये हों परन्तु तेरा लक्ष्य वहाँ जाता है, इसलिए वहाँ पाप ही खड़ा होता है। वह पाप नैमित्तिक है, लक्ष्मी निमित्त है। यह निमित्त-नैमित्तिक ऐसा प्रसिद्ध करता है कि आत्मा स्वयं (अपने को) भूल कर उसका-राग का कर्ता होता है। आहाहा! और यह कर्ता होता है, वह निमित्त-निमित्त प्रसिद्ध करते हुए, इसका वस्तु का स्वरूप अकर्ता ही है—ऐसा सिद्ध होता है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से विकार होता है, ऐसा प्रसिद्ध होने पर, अकेला भगवान आत्मा राग का कर्ता तीन काल-तीन लोक में है नहीं। आहाहा! चन्दुभाई! ऐसी बातें हैं। थोड़ा-थोड़ा समझना, बापू! भगवान! यह तो तेरे घर की

बात है। अरे! इसने अपनी बात कभी प्रेम से सुनी नहीं कि यह क्या है? यह क्या चीज़ है?

जब वह निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण... क्या कहते हैं? जब उस निमित्तभूत। निमित्त अर्थात् स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा, देव-गुरु और शास्त्र, इन सब निमित्तभूत की ओर का लक्ष्य जब छोड़े, निमित्तभूत द्रव्य को प्रतिक्रमे अर्थात् वहाँ से विमुख हो। तेरे द्रव्य के अतिरिक्त दूसरे द्रव्य में से विमुख हो। आहाहा! भगवान तो ऐसा कहते हैं कि मुझसे भी जब विमुख हो... आहाहा! जगत को बैठना कठिन, इसलिए सोनगढ़ को निश्चयाभास कहते हैं, एकान्त कहते हैं। इन्दौर में से एकान्त को निकाल डाला। अरे! भगवान! बापू! जैसा है, वैसा है, नाथ! तू कौन है, यह भूल गया है, प्रभु! आहाहा!

जब वह निमित्तभूत द्रव्य... निमित्तभूत द्रव्य अर्थात् आत्मद्रव्य के अतिरिक्त दूसरे द्रव्य। द्रव्य अर्थात् पैसा? पैसा नहीं, पैसा धूल तो कहीं रह गयी। यह देव-गुरु और शास्त्र भी परद्रव्य है। स्त्री, कुटुम्ब और परिवार तो परद्रव्य है ही; वह तो कहीं तेरी चीज़ नहीं, तुझमें नहीं, उनमें तू नहीं, वह तो भिन्न-भिन्न है। परन्तु जो देव-गुरु और शास्त्र (भी) परद्रव्य है। स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा-लक्ष्मी, दुकान, धन्धा, वह परद्रव्य है। यह जब तक निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण नहीं करता (अर्थात् कि) निमित्त से परान्मुख नहीं होता। जब तक अनन्त निमित्त हैं, एक ओर भगवान आत्मा एक है, ऐसे अनन्त निमित्त हैं। आहाहा! भगवान आत्मा अन्तर में पूर्णानन्द का नाथ एकरूप है। तब निमित्त बाहर अनन्त हैं। उस निमित्तभूत को, निमित्तभूत द्रव्य अर्थात् वस्तु को प्रतिक्रमण नहीं करता अर्थात् वहाँ से वापस नहीं मुड़ता, प्रत्याख्यान नहीं करता अर्थात् भविष्य में मुझे निमित्त की आवश्यकता नहीं है, इस तरह प्रत्याख्यान नहीं करता (तब तक कर्ता है)।

तभी नैमित्तिकभूत भावों का प्रतिक्रमण करता है,... समझ में आया? निमित्तभूत द्रव्य को प्रतिक्रमता है, निमित्त का लक्ष्य छोड़ता है, तब उसे भविष्य के लिये प्रत्याख्यान है। आहाहा! यह आत्मद्रव्य के अतिरिक्त अनन्त द्रव्य की ओर का लक्ष्य वह वर्तमान में छोड़ता है, तब भविष्य में भी उसे छोड़ता है। आहाहा! **निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है, तभी नैमित्तिकभूत भावों का प्रतिक्रमण करता है,...** तब ही निमित्त की ओर के झुकाव के विकारभाव को छोड़ता

है। निमित्त को लक्ष्य में से छोड़ता है, तब ही उसकी ओर के विकार के भाव को भी लक्ष्य में से छोड़ता है। आहाहा! ऐसी बात। ऐसा किस प्रकार का उपदेश है?

वह कहे, एक घटे भगवान की भक्ति करो, हो गया। जाओ! फिर तेईस घण्टे करो पाप। अरे! भगवान! यहाँ तो चौबीस घण्टे की बात है। चौबीसों घण्टे वर्तमान अनन्त निमित्त की ओर जब तक दृष्टि है, तब तक नैमित्तिक विकार का कर्ता है। परन्तु जब उस अनन्त द्रव्यों—निमित्तों से विमुख होता है, तब भविष्य में भी विमुख होता है। है?

तभी नैमित्तिकभूत भावों का प्रतिक्रमण करता है,... तब ही परसन्मुख के झुकाववाला जो विकार, तब उसे छोड़ता है। निमित्त की ओर का जब लक्ष्य छोड़ता है, तब निमित्त की ओर के झुकाव के विकार को भी छोड़ता है। आहाहा! **नैमित्तिकभूत भावों का प्रतिक्रमण करता है,...** अर्थात्? वर्तमान में परमात्मा आनन्दस्वरूप है, उसकी जहाँ दृष्टि करता है, तब उससे (भिन्न) दूसरे अनन्त द्रव्य हैं, उस निमित्त से प्रतिक्रमण होता है, वहाँ से वापस मुड़ जाता है। भविष्य में भी अपनी ओर का जहाँ झुकाव है, इससे पर सन्मुख के झुकाव के भाव से भी प्रत्याख्यानरूप छूट जाता है। आहाहा! (जब निमित्तभूत द्रव्य को) प्रतिक्रमण करता है, प्रत्याख्यान करता है, तब ही नैमित्तिकभाव को, विकारभाव को (प्रतिक्रम करता है)। आहाहा! यहाँ तो पुकार ऐसा (करते हैं)। अरे! बस! ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करो। करोड़ों का दान (करो), अरबों के मन्दिर बनाओ, लो!

मुमुक्षु : भजन में आता है कि भगवान की भक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो राग है, कहा न? भभूतमल नहीं? भभूतमल। अपने उसमें दिये न? भभूतमल नहीं? बैंगलोर में मन्दिर बनाया न? रुपये तो दो करोड़ हैं, परन्तु आठ लाख का मन्दिर बनाया है। अभी अपने यहाँ आये (थे) न? इसमें सवा लाख दिये न? नया मकान बनाना है न? (उसमें) सवा लाख दिये। बहुत उदार व्यक्ति है। पैसा तो दो करोड़ है। लड़का है। छोटा भाई मर गया है, उसके चार लड़के हैं। पिता और सबको लेकर आया था। उसमें आठ लाख दिये। बैंगलोर में मन्दिर बनवाया, उसमें आठ लाख दिये। बहुत

उदार व्यक्ति है। अभी यहाँ सवा लाख दिये न? कौन सी तिथि? कार्तिक शुक्ल पंचमी। सवा लाख दिये न? रुपये तो दो करोड़ है। उदार, बहुत उदार। आठ लाख (देकर) तो उसके गाँव में मन्दिर बनाया। तो भी कहा कि देखो! आठ लाख तेरे ... इसलिए दिये, इसलिए धर्म होता है, ऐसा नहीं है। यहाँ तो स्पष्ट बात है। सुनते हैं, ऐसे नरम व्यक्ति है। छोटी उम्र है, ४७ वर्ष की उम्र है, परन्तु पैसा, धन्धा बड़ा है। उदार बहुत, पैसा बहुत खर्च करता है, धर्म के नाम से, हों! दूसरे उल्टे-सीधे नहीं। शास्त्र—पुस्तकें, नया अपने बनता है न? क्या कहलाता है तुम्हारा? विश्रान्तिगृह में सवा लाख दिये न? अभी मुहूर्त किया। उन्होंने आठ लाख वहाँ दिये। बैंगलोर में आठ लाख का मन्दिर बनाया और चार लाख तो फिर जुगराजजी मन्दिरमार्गी श्वेताम्बर हैं। जुगराजजी स्थानकवासी है (उनके पास) एक करोड़ रुपया है, उन्होंने चार लाख दिये हैं। बारह लाख। तीन लाख दूसरे (ऐसे) पन्द्रह लाख का मन्दिर बैंगलोर में बना है। दिगम्बर मन्दिर नया (हुआ है)। परन्तु बात यह कि, बापू! उसमें भाव शुभ है। वह भाव शुभ है, पुण्य का कारण है। धर्म का कारण नहीं, भव के अभाव का कारण नहीं है। (भव के) अभाव का कारण नहीं है, इसलिए नहीं होता, ऐसा नहीं होता, भाव होता है। परन्तु उसमें यदि तुम्हें ऐसा हो जाए कि हमने आठ लाख रुपये मन्दिर में दिये। पैसे (रुपये) दो करोड़ हैं। मैंगनीज... क्या कहलाता है? लोहा... स्टील... स्टील का धन्धा। उम्र छोटी है, ४७ वर्ष है। परन्तु कहा कि इसमें धर्म नहीं है, यहाँ स्पष्ट बात है। वह होती है, वह राग घटकर शुभभाव होता है परन्तु वह शुभभाव निमित्त के लक्ष्य से होता है, आत्मा के लक्ष्य से शुभभाव नहीं होता। है?

मुमुक्षु : रुपये खर्च करने से बढ़ते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी उससे नहीं बढ़ते। बना ऐसा कि सहज... आठ लाख डाले। दो करोड़ में से आठ लाख (दिये)। लड़का है, भाई के लड़के हैं। छोटा भाई मर गया है, उसके चार लड़के हैं। सब कुटुम्ब तो भी स्वयं... क्या कहा? आठ लाख खर्च किये, वह दो करोड़ की स्टील थी। जो पैसा दो करोड़ उसके पास था, उसकी स्टील थी। मैं वहाँ रहा, तब मेरे में रुका, उसमें भाव बढ़ गया। खर्च किये आठ लाख, आमदनी हुई चालीस लाख। चालीस लाख पैदा हुए! लोगों को ऐसा हो गया कि आहाहा! इन्होंने आठ

लाख खर्च किये और चालीस लाख हो गये। बापू! यह तो पुण्य की बातें है। (लोगों को ऐसा लगता है कि) महाराज के नाम से खर्च किये हैं (तो पैसे आये)। वह तो पूर्व का पुण्य हो और मेल खा गया। इससे उसमें धर्म होता है, (ऐसा नहीं है)। इसमें जन्म-मरण की गाँठ नहीं गलती, भाई! आहाहा! समझ में आया? उदार बहुत। ४७ वर्ष की छोटी उम्र है। कर्ता-हर्ता स्वयं है। उदार बहुत। तथापि उससे कहा, देखो भाई! राग मन्द होवे तो पुण्य है। समझ में आया? आहाहा! अरे! लड़के आये तो थे पाँच सौ रुपये डाल गये। वे लड़के दोपहर में डाल जाते हैं न? लड़कों को देने के लिये। बादाम का एक त्रांसा... क्या कहलाता है? तपेला। तपेला भरकर बादाम, तपेला भरकर काजू, तपेला भरकर द्राक्ष, तपेला भरकर खारेक... खारेक। भूल गये। खारेक ढेर बन्ध लाये। दोपहर में लड़कों को बाँटने के लिये। खारेक... खारेक। भाई! इस चीज में राग मन्द करे तो पुण्य है। इससे जन्म-मरण मिटे, और संसार के दुःख मिटे, यह है नहीं। यहाँ स्पष्ट बात है।

मुमुक्षु : .... तो पैसे तो बढ़ते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, नहीं। उससे पैसे नहीं बढ़ते। वह तो पूर्व के पुण्य के कारण पैसे (आते हैं)। पूर्व का पुण्य था, पड़ा होगा, तब मेल ऐसा हो गया कि आठ लाख खर्च किये और चालीस बढ़ गये। दो करोड़ चालीस लाख। स्टील का धन्धा है। आहाहा! वह यह आठ लाख खर्च किये, इसलिए बढ़े—ऐसा भी नहीं है। यहाँ तो स्पष्ट बात है।

यहाँ तो कहते हैं, निमित्त की ओर का लक्ष्य जब तक है, तब तक विकार है। फिर चाहे जो निमित्त हो। देव-गुरु-शास्त्र है। लाखों-करोड़ों के बड़े मन्दिर बनाओ। आहाहा! जब निमित्तभूत द्रव्य की ओर का लक्ष्य छोड़ता है... आहाहा! एक आत्मा के अतिरिक्त अनन्त द्रव्य जो हैं, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, देव-गुरु-शास्त्र, मन्दिर, शास्त्र इत्यादि निमित्त की ओर का लक्ष्य छोड़ता है... है न? **निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण है...** अर्थात् विमुख हो जाता है अथवा **प्रत्याख्यान है...** भविष्य में भी उस निमित्त की ओर मुझे नहीं जाना, निमित्त की ओर झुकाव करना नहीं। आहाहा!

तभी नैमित्तिकभूत भावों का प्रतिक्रमण है... तब उस निमित्त के आश्रय से जो विकार होता था, उसे वह प्रत्याख्यान करता है, वह प्रत्याख्यान है, इसका नाम प्रत्याख्यान

है। बाहर ऐसे प्रत्याख्यान करके बैठे, वह प्रत्याख्यान नहीं है। समझ में आया? आहाहा! निमित्त जो अनन्त पर। एक ओर प्रभु तथा एक ओर अनन्त द्रव्य। उन अनन्त द्रव्य की ओर का लक्ष्य छोड़ता है, तब नैमित्तिकभूत विकार का प्रतिक्रमण करता है। उसका नाम प्रतिक्रमण है, उसका नाम धर्म है। आहाहा! किस प्रकार की बात? तब वह प्रत्याख्यान करता है। वर्तमान पर निमित्त सन्मुख के नैमित्तिकभाव को छोड़ता है और भविष्य में भी निमित्त की ओर के झुकाव को छोड़ता है, वह प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान इसका नाम है। अनन्त परद्रव्य निमित्त की ओर के झुकाव के विकार को छोड़े, उसका नाम प्रत्याख्यान है। आहाहा! यह तो मुझे यह चलता नहीं, करो प्रत्याख्यान। यह प्रत्याख्यान हो गया। यह प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान नहीं है। आहाहा!

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कहो या धर्म कहो, वह धर्म तब होता है कि अपने आत्मद्रव्य के अतिरिक्त अनन्त द्रव्य की ओर के झुकाव को और उसके झुकाव में होते विकार को छोड़ता है, तब उसे वर्तमान प्रतिक्रमण होता है और भविष्य में भी उस निमित्त की ओर का झुकाव छोड़ता है, तब निमित्त और उसके झुकाववाले दोनों भाव को त्यागता है। तब उसे स्वभाव-सन्मुख, ध्रुव-सन्मुख झुकाव होता है, तब उसे प्रत्याख्यान कहने में आता है। आहाहा! किस प्रकार की बात यह?

जब भाव को **प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है, तब वह साक्षात् अकर्ता ही है।** तब साक्षात् अकर्ता होता है। साक्षात् क्यों कहा? कि वस्तु तो अकारक ही है, परन्तु पर्याय में निमित्त की ओर के झुकाव से विकार होता है, उसे छोड़े, तब साक्षात् पर्याय में अकर्ता होता है। द्रव्य तो अकारक है ही। आहाहा! समझ में आया? इसमें कहीं साक्षात् शब्द लिया है न? पहले यहाँ लिया, **आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है;...** पहली लाईन ऐसी थी। वस्तुरूप से जो द्रव्य वस्तु है, वह तो अकारक ही है, विकार और निमित्त की ओर के झुकावरहित चीज़ है, परन्तु जब यह पर्याय में भी निमित्त की ओर से झुकाव छोड़ता है और निमित्त की ओर के झुकाव से विकार को छोड़ता है, तब वह पर्याय में साक्षात् अकारक होता है। यह द्रव्य से अकारक है, यह पर्याय से भी अकारक होता है। आहाहा! इस प्रकार का उपदेश।

इतनी लाईन में कितना अधिक भरा है। **तब वह साक्षात् अकर्ता ही है।** अकर्ता

'ही' है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द और पूर्ण ज्ञान का सागर, उस ओर झुकने से, निमित्त की ओर का झुकना तथा उससे होते विकार का होना, उससे विमुख हुआ, उसका नाम प्रतिक्रमण और भविष्य में नहीं करे, उसका नाम प्रत्याख्यान। तब वह आत्मा साक्षात् अकर्ता होता है। द्रव्य अकारक है। वस्तु जो है, वह अकारक है, परन्तु यह निमित्त-नैमित्तिक भाव से छोड़े, तब पर्याय में साक्षात् अकर्ता होता है। आहाहा! यह तो बहुत दिन चला। यह चार दिन चला। उसका भावार्थ विशेष कहा जायेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३५३, गाथा-२८३ से २८५ शुक्रवार, मगसर शुक्ल ४
दिनाङ्क - २३-११-१९७९

भावार्थ, २८३-२८४-२८५ भावार्थ है न? यह किसकी बात चलती है? प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान। प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कब, कैसे, किस प्रकार होता है? और नहीं करता, तब क्या होता है? यह बात चलती है।

भावार्थ – अतीत काल में... गत काल में **जिन परद्रव्यों का ग्रहण किया था,...** अपने आत्मद्रव्य के अतिरिक्त दूसरे द्रव्यों को जो लक्ष्य में लिया था, ग्रहण किया था अर्थात् लक्ष्य में लेकर मेरे हैं, ऐसा माना था। ग्रहण करने का अर्थ कहीं स्वद्रव्य परद्रव्य को ग्रहण कर सकता नहीं, पकड़ सकता नहीं, परन्तु स्वयं अपने को भूलकर अपने अतिरिक्त अनन्त द्रव्यों के आश्रय से ममता की, **ग्रहण किया था,...** अर्थात् ममता की (थी), मेरे हैं—ऐसा किया था।

उन्हें वर्तमान में अच्छा समझना,... गत काल में-अतीत काल में अनन्त परद्रव्यों का आश्रय और लक्ष्य किया, उन्हें वर्तमान में भला जानना, वह अप्रतिक्रमण दोष है। आहाहा! **उनके संस्कार रहना,...** पूर्व के द्रव्य जो निमित्त थे, उनके संस्कार रहना कि निमित्त ठीक है, ठीक था, हमें अनुकूल निमित्त मिले थे, ऐसे संस्कार रहना। **उनके**

प्रति ममत्व रहना,... परद्रव्य के प्रति ममत्व रहना। परद्रव्य स्वयं पकड़ में नहीं आता, परद्रव्य कहीं स्वद्रव्य में नहीं आता। मात्र स्वद्रव्य को भूलकर अनन्त परद्रव्य (को) भला जानना, संस्कार रहना और ममत्व रहना, **वह द्रव्य अप्रतिक्रमण है...** वह द्रव्य अप्रतिक्रमण अर्थात् पर की ओर से (विमुख) हुआ नहीं, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण है।

और उन परद्रव्यों के निमित्त से... इसमें निमित्त आया, देखो! **परद्रव्यों के निमित्त से...** निमित्त से नहीं परन्तु निमित्त से। परद्रव्य के निमित्त से विकार नहीं होता परन्तु परद्रव्य पर लक्ष्य जाने से उसके निमित्त से **रागादिभाव हुए थे,...** पूर्व भव में जो राग-द्वेष, मिथ्याभ्रम, वह मेरे हैं, मैं उनका हूँ—ऐसी जो भ्रमणा हुई थी... आहाहा! **उन्हें वर्तमान में अच्छा जानना,...** पहले निमित्त की बात की थी, पश्चात निमित्त सम्बन्धी विकारभाव नैमित्तिक होता है, उसकी बात करते हैं। यह चार बार अपने चल गया है। यह तो भावार्थ है।

एक ओर भगवान आत्मा पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द और पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान, वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा तो है। उसे छोड़कर परद्रव्य के—निमित्त के आश्रय से जो कुछ ममता, संस्कार रहना, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण—पर से विमुख न होना, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण है। और उस निमित्त के आश्रय से अपने में अपने से होते रागादि, द्वेषादि भावों को वर्तमान में भला जानना... आहाहा! बहुत संक्षिप्त में (बहुत भर दिया है)। **उनके संस्कार रहना,...** आहाहा! पूर्व में हमारे पिता थे, पूर्व में हमारी माँ थी, पूर्व में हमारी स्त्री थी, पूर्व में हमारे ये पुत्र थे—ऐसे परद्रव्य के प्रति ममता रहना, संस्कार रहना, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण कहलाता है। परन्तु उनके निमित्त से होता विकार, उसको भाव अप्रतिक्रमण कहा जाता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : आज तो विषय जरा कठिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चार दिन से तो चलता है, बापू! चार दिन से चलता है न? वीरचन्दभाई! चार दिन से तो चलता है। तुम्हारे आज पहला-पहला आया है, रमणीक को नया लगेगा। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो जो भरे हैं वे हैं, बापू!

भगवन्त! तू परमात्मस्वरूप है न, प्रभु! उसके प्रेम को छोड़कर और निमित्त अनन्त

द्रव्यों के प्रेम में गया, तो वह निमित्त का-परद्रव्य का अप्रतिक्रमण कहलाता है और उसके निमित्त से अपने में, अपने कारण से; निमित्त से नहीं; राग और द्वेष और पुण्य-पाप के भाव जो होते हैं, उसे भाव अप्रतिक्रमण कहते हैं। कहो, समझ में आया? झांझरीजी! भाषा तो सादी है। भाव तो कठिन है। बात सच्ची। आहाहा!

उसके निमित्त से, निमित्त से, हों! निमित्त का अर्थ (यह कि) उससे नहीं। उसके लक्ष्य से पूर्व में माँ, बाप, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, पैसा, मकान, हवेली, इज्जत यह याद आने पर, उनके निमित्त का आश्रय करने से, वह निमित्त का अप्रतिक्रमण है और उसका आश्रय करके होता विकार, वह भाव अप्रतिक्रमण है। भाषा तो सादी है परन्तु अब भाव तो जो हो (वह होता है), दूसरा क्या होगा? यह तो अपने चार दिन से चलता है। यह तो भावार्थ है। टीका चार दिन चली है। मूल वस्तु है न? बन्ध अधिकार। बन्ध कैसे होता है?—कि अपने अतिरिक्त के परद्रव्य पर लक्ष्य जाता है, इसलिए उसके बन्ध के—भावबन्ध के वे निमित्त हैं। इसलिए निमित्त का अप्रतिक्रमण है और उससे उत्पन्न होते भाव अपने में अपने कारण से राग-द्वेष, अज्ञान, वह भाव अप्रतिक्रमण है। छोटाभाई! आहाहा! समझ में आया? हैं?

मुमुक्षु : परद्रव्य को तो ग्रहण करता नहीं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ग्रहण किया का अर्थ यह। इसलिए अर्थ किया न पहला? परद्रव्य तो कहाँ पकड़ में आते हैं? परन्तु वे मेरे हैं, मैं उनका हूँ—ऐसा मानना, वही ग्रहण किया कहलाता है। यह एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को तो कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! यह प्रभु आत्मा अन्दर है, वह इस शरीर को स्पर्श नहीं करता तथा यह शरीर है, वह आत्मा को स्पर्श नहीं करता तथा कर्म हैं, वे आत्मा को स्पर्श नहीं करते क्योंकि परद्रव्य है। परद्रव्य की अस्ति में स्वद्रव्य की अस्ति को स्पर्श करे, ऐसा नहीं होता। आहाहा! यह ग्रहण करने का अर्थ यह हुआ कि पर निमित्तों को मेरा माना, उनमें प्रेम रहा, उनके संस्कार रहे, वह सब संयोग था, वह ठीक था, पूर्व में सब संयोग अनुकूल (था), वह ठीक था—ऐसा जो निमित्त की ओर के झुकाव के भाव (रहना), वह निमित्त का अप्रतिक्रमण कहलाता है। उससे हटा नहीं। और निमित्त के आश्रय से अपने से अपने में होते, यह मेरे हैं, मैं इनका हूँ—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, (वह भाव अप्रतिक्रमण है)। मुख्य तो मिथ्यात्व की ही पूरी बात है। आहा!

परद्रव्य मेरे और मैं उनका, यह मिथ्यात्व है और परद्रव्य के निमित्त से होते, मेरा निमित्त है—ऐसा भाव, वह भी भाव मिथ्यात्व है। आहाहा! इसका नाम अप्रतिक्रमण—भाव अप्रतिक्रमण है। निमित्त की ओर से न हटना, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण और पश्चात् भाव होते हैं, उनसे नहीं हटना, वह भाव अप्रतिक्रमण है। है? **वह भाव अप्रतिक्रमण है।** यह वर्तमान प्रतिक्रमण की व्याख्या की। इन दो बोल में वर्तमान प्रतिक्रमण की व्याख्या की। दो बोल में भूतकाल के निमित्त का लक्ष्य और निमित्त से होते विकार, इन दोनों द्रव्य और भाव का अप्रतिक्रमण, यह वर्तमान की बात की। भूतकाल का तो गया है, उसका क्या काम है? भूतकाल का तो गया। गत काल का वर्तमान में उसके संस्कार की ममता होना, ऐसा। ऐसा कहा न? देखो!

उन्हें वर्तमान में अच्छा समझना,... देखा? पहली लाईन ही यह है। **अतीत काल में जिन परद्रव्यों का ग्रहण किया था, उन्हें वर्तमान में अच्छा समझना,...** भूतकाल तो गया ही है। आहाहा! उन्हें पूर्व में बहुत अच्छा संयोग था और अच्छे संयोग में हम थे तो हमें ठीक पड़ता था। वह संयोगी चीज़ निमित्त है, उसका अप्रतिक्रमण, उसका दोष, उसका इसे पाप है। आहाहा!

मुमुक्षु : परद्रव्य को अनुकूल मानना, वह पाप?

पूज्य गुरुदेवश्री : परद्रव्य दोष का कारण नहीं है। परद्रव्य मेरे हैं और मैं उनका हूँ—ऐसा भाव वह दोष है। वह द्रव्य की ओर का दोष है, ऐसा। दोष तो है अपने में, परन्तु पर के लक्ष्यवाला वह दोष है। और फिर वर्तमान में जो विकार—दोष होता है, वह वर्तमान अप्रतिक्रमण है। इस प्रकार वर्तमान में परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से; निमित्त से अर्थात् अपने में निमित्त द्वारा अपने से होता विकार, इन दो का जब अप्रतिक्रमण है, विमुख नहीं होता, उसे द्रव्य-भाव अप्रतिक्रमण कहने में आता है। यह तो अकेले न्याय भरे हैं। बनिये को—व्यापारी को न्याय की खबर नहीं पड़ती। धन्धा.. धन्धा... धन्धा में (रचपच गया)। यह विषय वीतराग का तो न्यायमार्ग है।.... न्याय-लॉजिक, नीति, न्याय से बात करते हैं। आहाहा! थोड़ा भी जैसा है, वैसा सत्य होना चाहिए न?

कहते हैं कि द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण किसे कहना? द्रव्य अप्रतिक्रमण और

भाव अप्रतिक्रमण किसे कहना? अर्थात् कि द्रव्य से मुड़ा नहीं और भाव से मुड़ा नहीं। मूल तो प्रतिक्रमण किया नहीं, ऐसा कहना है। यह पर के निमित्त के संस्कार और ममता को याद करके प्रसन्न होना, वह निमित्त की ओर का झुकाव है और वर्तमान में उस निमित्त की ओर के भावना-संस्कार ठीक रहना और वह ठीक था, ऐसे भाव वर्तमान में वापस होना, वह वर्तमान भाव अप्रतिक्रमण है। समझ में आया? हैं?

मुमुक्षु : दृष्टान्त दीजिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या दृष्टान्त इसमें? यही दृष्टान्त है न। यह कहा न? अधकर्मी का दृष्टान्त देंगे। यह तो सिद्धान्त सिद्ध करके फिर अधकर्मी का दृष्टान्त देंगे। लोगों को समझने के लिये। बाद की गाथा में आता है न! आहाहा! वह दृष्टान्त देंगे।

यहाँ तो सीधी बात है। कोई भी आत्मा वस्तु है यह, इसका लक्ष्य छोड़कर इसमें जो वस्तु नहीं, ऐसी जो परचीज़ निमित्त... यह तो उपादान है, परचीज़ जो निमित्त है, उसे भला जानना, संस्कार रहना और उसमें चिन्तवन रहने से अच्छा जानना और ममत्व रहना। उस परद्रव्य की ओर के ममत्व का भाव, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण और वर्तमान में उस निमित्त के लक्ष्य से हुए उस काल के भाव को वर्तमान में ठीक मानना, वर्तमान में उन्हें ठीक मानना, राग और द्वेष, पुण्य और पाप, मिथ्याभ्रान्ति है। विषय सुख की कल्पना जो पूर्व में हुई, उसे वर्तमान में ठीक मानना, हम देव में थे तो इन्द्राणी का सुख था, अरबोंपति सेठ थे, तब हमें सुख था... आहाहा! यह भाव, पाप और भाव अप्रतिक्रमण कहने में आता है। निमित्त और नैमित्तिक की अप्रतिक्रमण की बात की। वास्तव में तो दोनों का प्रतिक्रमण नहीं किया, ऐसा कहना है।

इसी प्रकार... जैसे भूतकाल के निमित्त और नैमित्तिक की बात की, **इसी प्रकार आगामी काल सम्बन्धी...** अब भविष्य काल (लेते हैं)। भविष्य काल **सम्बन्धी परद्रव्यों को इच्छा रखना,...** हमें भविष्य में स्वर्ग का अच्छा भव मिले, सेठाई मिले, ऐसा मिले, वैसा मिले—ऐसी जो परद्रव्य की वाँछा रखना। आहाहा! मुझे मेरी पूर्णानन्ददशा मिले, ऐसी वाँछा न करके मुझे बाहर के संयोग (अच्छे मिलें), यहाँ से देह छूटे तो मुझे स्वर्ग मिले, सेठाई मिले, अच्छी गति मिले—ऐसी जो वाँछा। आहाहा! उसकी ममता रखना। अच्छा

स्वर्ग का भव मिले, सेठ का मिले, सेठाई का मिले, उसकी ममता रखना। आहाहा! भव मिले, वह तो नुकसानकारक है। भव तो इसके स्वभाव में है नहीं। भव होना तो कलंक है। आहाहा!

भगवान भव रहित आत्मा, उसे भव तो कलंक है। तो भी भविष्य के भव की वाँछा रखना कि यहाँ से मरकर मैं स्वर्ग में जाऊँ या जुगलिया में (भोगभूमि में) दीर्घ मनुष्य का आयुष्य (मिले)। तीन-तीन पल्योपम का आयुष्य है न? मनुष्य—देवकुरु-उत्तरकुरु। आहाहा! या भविष्य में मैं सिंह और बाघ होऊँ, वन का राजा कहलाऊँ, वन में मेरा चले, ऐसे भविष्य के भव के निमित्त की वाँछा रखना, ममता करना। आहाहा! भला जानना। है? उनकी **इच्छा रखना, ममत्व रखना, भाव अप्रत्याख्यान है...** पहले निमित्त की बात थी, अब यहाँ भाव जो है, वह अप्रत्याख्यान। उसके प्रति का जो भाव भविष्य में होगा, उसे अभी न छोड़ना, वह अप्रत्याख्यान है।

इस प्रकार द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण... द्रव्य अप्रतिक्रमण अर्थात् भूतकाल के और भविष्य के निमित्त जो हैं, उनका-द्रव्य का अप्रतिक्रमण और द्रव्य का अप्रत्याख्यान। **तथा द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान है...** वह प्रतिक्रमण था, यह प्रत्याख्यान है। वर्तमान में उसका प्रत्याख्यान नहीं, भविष्य में उसका प्रत्याख्यान नहीं।

ऐसा जो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का दो प्रकार का उपदेश है, वह द्रव्य-भाव के निमित्तनैमित्तिक-भाव को बतलाता है। वह ऐसा बतलाते हुए भगवान ऐसा बतलाते हैं कि वहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हुआ। स्वभाव सम्बन्ध नहीं रहा। आहाहा! जो आत्मा में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है नहीं, ऐसा सम्बन्ध खड़ा किया। यहाँ तो आत्मा आनन्द और ज्ञान स्वभाव के सम्बन्धवाला है। उस आनन्द और ज्ञान के स्वभाव का सम्बन्ध द्रव्य के साथ है। उसके सम्बन्ध को न करके, भविष्य के और वर्तमान के द्रव्य और भाव के प्रति ममता रखने से... आहाहा!

इससे यह सिद्ध हुआ कि-परद्रव्य तो निमित्त हैं... परद्रव्य निमित्त है, हों! वे कहते हैं कि तुम निमित्त का इनकार करते हो। निमित्त है अवश्य, निमित्त से होता नहीं है। यह बड़ा सिद्धान्त है। आत्मा स्व उपादान और पर वस्तु सब निमित्त तो है अवश्य, परन्तु

उस निमित्त से आत्मा में हो ऐसा नहीं है। निमित्त के लक्ष्य से, आश्रय से आत्मा में हो, वह स्वयं से होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह स्वयं तो राग का अकारक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं वस्तु से तो अकारक है, परन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से कारक बनता है, इसलिए पर्याय में कारक होता है। आहाहा!

दो प्रकार का उपदेश है, वह द्रव्य-भाव के निमित्तनैमित्तिक-भाव को बतलाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि-परद्रव्य... जो आत्मा के अतिरिक्त.... आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी या देव-गुरु-शास्त्र, वे सब परद्रव्य हैं। वे परद्रव्य तो निमित्त हैं। वह निमित्त इसे कुछ कराता नहीं है। **और रागादिभाव नैमित्तिक हैं।** और उसके लक्ष्य से होते, मेरे माने, यह होने पर ऐसा विकारभाव, वह जीव का नैमित्तिक विकार पर्याय में है। द्रव्य-गुण में तो है नहीं। इसकी पर्याय में जो द्रव्य-गुण में नहीं, ऐसी पर्याय में— अवस्था में विकार के नैमित्तिक भाव उत्पन्न किये। है?

इस प्रकार आत्मा रागादिभावों को स्वयमेव न करने से... आहाहा! क्या कहा यह? स्वयं ज्ञायकस्वरूप प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान, वीतरागस्वभावी पिण्ड प्रभु, जो ज्ञान की पर्याय में ज्ञात होता है, वह तो पूरा ज्ञान का पिण्ड है, ऐसा पर्याय जानती है। जो आनन्द की पर्याय ज्ञात होती है, वह ऐसा जानता है कि यह तो पूरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। ऐसे आत्मा के स्वभाव को न जानकर। है? आहाहा! **इस प्रकार आत्मा रागादिभावों को स्वयमेव न करने से...** अपने आनन्द और ज्ञान के स्वभाव के सम्बन्ध से तो यह रागादि होते नहीं। इसलिए द्रव्य स्वयमेव तो अकारक है। द्रव्य जो आत्मा है, वस्तु जो है, वह स्वयमेव तो विकार का अकारक है। समझ में आया?

न करने से रागादिभावों का अकर्ता ही है... भगवान आत्मा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध बिना अकेला आत्मा तो विकार का कर्ता है ही नहीं, वह तो अकर्ता है। वह तो अपने त्रिकाली स्वभाव का लक्ष्य छोड़कर वर्तमान पर्याय में निमित्त-निमित्त का सम्बन्ध खड़ा करता है, तब उसे विकार होता है। तब उसे उस विकार का कर्ता कहने में आता है। पर्याय में विकार का कर्ता अज्ञानी को कहने में आता है। अज्ञानी को द्रव्य, वह अकर्ता है, यह तो है नहीं। आहाहा! अब ऐसा स्वरूप।

जिसे भव का भय लगे... बापू! अरेरे! मैं यहाँ से कहाँ जाऊँगा? यहाँ की अवधि तो पूरी हो जाएगी। पाँच-दस-पच्चीस वर्ष देह को... पश्चात आत्मा कहाँ जाएगा? भाई! आत्मा तो अविनाशी है, वह तो नाश होता नहीं, तो वह कहाँ जाएगा? कहाँ रहेगा? कैसे भाव को करके दुःखी होगा? आहाहा! ऐसा जिसे भव का डर और दवाब लगा है, वह इस निमित्त-निमित्त सम्बन्ध को छोड़ता है। आहाहा! सूक्ष्म है। सत्य तो ऐसा है। आहाहा!

इस प्रकार आत्मा... इस प्रकार से अर्थात्? परद्रव्य के निमित्त में लक्ष्य जाता है और उससे इसे रागादि अपने में होते हैं और इससे निमित्त-निमित्त सम्बन्ध में रुकने से इसे चार गति में भटकना होता है। **इस प्रकार आत्मा रागादिभावों को स्वयमेव न करने से...** निमित्त-निमित्त सम्बन्ध के बिना अकेला आत्मा राग को करे, ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐसी बात मीठी मधुर बात है। दुनिया का मोह और ममता... आहाहा! बाहर के चमक की इसे महिमा आने पर अन्दर की वस्तु की महिमा इसको नहीं आती। आहाहा! इस कारण जब यह बाहर की वस्तु के चमक पर रुकता है, इसलिए यह राग का कर्ता होता है। इस हिसाब से अकेला आत्मा स्वयमेव तो अकारक है। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध बिना आत्मा अकेला तो विकार का अकर्ता है। आहाहा! समझ में आया इसमें? यह तो पाँचवीं बार चलता है। आहाहा! यह वस्तु है न! बन्ध अधिकार की अन्तिम गाथाएँ हैं।

बापू! बन्ध कैसे होता है? जो तू तो अबन्धस्वरूप है न! भगवान तो अबन्धस्वरूप है। दूसरे प्रकार से कहें तो वह मुक्तस्वरूप है। उस मुक्तस्वरूप में यह बन्ध क्या? मुक्तस्वरूप स्वयं ही है, वह तो विकार का अकारक ही है। आहाहा! परन्तु उसकी पर्याय में बन्ध जो दिखता है, वह निमित्त के लक्ष्य से, निमित्त से विमुख होता नहीं और निमित्त के आश्रय से होते विकार से विमुख होता नहीं, इसलिए उस बन्ध के भाव का (कर्ता होता है)। अबन्धस्वरूप, वह तो अबन्धस्वरूप से ही है। पर्याय में वह बन्ध का कर्ता होता है। आहाहा! चिमनभाई! ऐसी बात लोगों को सूक्ष्म पड़ती है। इसलिए बाहरवाले को लगता है कि यह क्रियाकाण्ड करना और यह करना, यह करना, यह करना—ऐसी बात तो इसमें कहीं आती नहीं।

भाई! तू तो आत्मा आनन्द है न! तू ज्ञानस्वरूप है न! ज्ञान क्या करे? ज्ञान क्या करे? ज्ञान राग को जाने, ऐसा कहना वह व्यवहार है तो राग को करे, यह ज्ञान में कहाँ से आया?

आहाहा! भगवान चैतन्यरस, ज्ञायकस्वभाव का पिण्ड, वह ज्ञायक पर को जाने, राग को जाने, निमित्त को जाने, यह कहना, वह व्यवहार है। उसके बदले इस राग को, निमित्त को करे, यह वस्तु के स्वरूप में कहाँ है? परन्तु वस्तु के स्वरूप को भूलकर अबन्ध अर्थात् मुक्तस्वरूप परमात्मा स्वयं, उसे भूलकर और जो उसमें नहीं है, ऐसी चीज़ की ममता में जुड़ गया; इसलिए उस निमित्त का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान हुआ तथा निमित्त के लक्ष्य से विकार हुआ, उसे अन्दर भाव अप्रतिक्रमण और भाव अप्रत्याख्यान हुआ। यह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध ऐसा प्रसिद्ध करता है, पर्याय में अध्धर से निमित्त-निमित्त (सम्बन्ध होता है)। परद्रव्य और यहाँ विकारी पर्याय, वह ऐसा सिद्ध करता है कि द्रव्य स्वयं अकारक है। आहाहा! भगवान आत्मा तो विकार का और संसार का तथा निमित्त की ओर के आश्रय का अकारक है। थोड़ा सूक्ष्म है, भाई! परन्तु इसे समझना पड़ेगा, भाई!

यह मनुष्य देह चला जाता है, देखो! आहाहा! बाहर का उत्साह और चमक में अपनी चमक भूल जाता है। आहाहा! इसलिए निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से पर्याय में, पर्यायदृष्टि से पर्याय में, निमित्त-निमित्त दृष्टि से बन्ध का कारण, कारक होता है। परन्तु उस निमित्त-निमित्त सम्बन्ध को छोड़े तो द्रव्यस्वभाव ऐसा है कि राग और निमित्त की ओर जुड़े, ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। आहाहा! ऐसी बात कठिन पड़ती है, अभी चलती नहीं है। सम्प्रदाय में भी अभी तो यह करो, यह करो (चलता है)। क्या कहते हैं यह?

भगवान! तुझे न्याय से बैठना चाहिए, भाई! प्रभु! तू एक चीज़ है या नहीं? तो चीज़ है, वह वस्तु स्वयं स्वतः विकारी कैसे हो सकती है? दुःखी कैसे हो सकती है? स्वतः चीज़ दुःखी और विकारी कैसे होगी? आहाहा! तब विकार दिखता है न? तथा सुख और आनन्द दिखता नहीं न? वह ऐसा प्रसिद्ध करता है कि वर्तमान पर्याय में निमित्त और निमित्त सम्बन्ध के अन्दर में वापस हटता नहीं, वहाँ हट से खड़ा रहा है। आहाहा! यह हट से करके निमित्त-निमित्त सम्बन्ध में खड़ा रहा है, वह ऐसा सिद्ध करता है कि निमित्त-निमित्त सम्बन्ध रहित जो भगवान आत्मा, वह तो अकारक है। वह तो विकार का कारक है नहीं। आहाहा!

ऐसी बात वीतराग के अतिरिक्त, उसमें भी दिगम्बर मुनियों के अतिरिक्त कहीं बात नहीं है। दूसरे को दुःख लगे (कि) हमारा खोटा करते हैं। भाई! खोटा है, उसे खोटा कहने

से तुझे लाभ का कारण है। खोटे को खोटा समझने से प्रभु! तुझे लाभ का कारण है। खोटे को खोटा समझकर रहने से प्रभु! तुझे नुकसान है। खोटे को खोटा न समझे और खोटे है, वह बराबर है (यह तो नुकसान है)। आहाहा! इसमें किसी की सिफारिश चले, ऐसा नहीं है, बापू! आहाहा! मरते हुए नब्ज खिंचेगी, शरीर ऐसा होगा, कुछ रोग... ओहोहो! बेभान हो जाए, असाध्य हो जाए। आहाहा! शरीर में जीव जीते जी असाध्य हो जाए। बाहर से, हों! मिथ्यात्व के कारण तो असाध्य है ही। निमित्त और नैमित्तिक के सम्बन्ध से तो स्वभाव में असाध्य है क्योंकि उसका स्वभाव-सन्मुख का साध्य—ध्येय नहीं है। असाध्य है। उसका साध्य और ध्येय तो निमित्त-नैमित्तिक है। आहाहा! आचार्यों ने काम किया है! यह कहीं पैसा देने से मिले, ऐसा है? हैं? छोटभाई! लाख रुपये दे और करोड़े दे (तो मिले ऐसा है)? आहाहा! क्या इनकी शैली! क्या सन्तों की शैली! कि जिसके हृदय में चोट लग जाए और फेरफार हो जाए, एकदम...! आहाहा!

भगवान! तू तत्त्व है या नहीं? प्रभु! तत्त्व है तो स्वभाव रहित तत्त्व होगा या स्वभाव है? तत्त्व है, वह नित्य है तो उसका स्वभाव भी नित्य है। अनन्त आनन्द और ज्ञान, शान्ति, वीतरागता, वह नित्य है। यदि प्रभु! तेरी दृष्टि नित्य पर हो, तब तो यह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध रहे नहीं, तो परिभ्रमण रहे नहीं। आहाहा! क्या बात की है! गजब की है!! यह अमृतचन्द्राचार्य! पण्डितजी ने भावार्थ भी कैसा किया है! पण्डित जयचन्द्रजी गृहस्थ। आहाहा!

स्वयं से अकारक है, ऐसा सिद्ध हुआ। **इस प्रकार यद्यपि यह आत्मा...** यह आत्मा। प्रत्यक्ष भगवान चैतन्यमूर्ति आत्मा, यह आत्मा। आहाहा! **रागादिभावों का अकर्ता ही है...** स्वरूप से वस्तु, पर्याय में निमित्त के लक्ष्य बिना, नैमित्तिक के भाव बिना, अकेला स्वभाव है, वह तो अकर्ता ही है। राग दया, दान के परिणाम का भी अकर्ता है। आहाहा! फिर ऐसा सूक्ष्म लगता है न? यशपालजी! फिर कहे, सोनगढ़ का ऐसा है, सोनगढ़ का ऐसा है। तेरा मिथ्याभास है, बापू! भगवान! परमसत्य है, प्रभु! और उद्धार का मार्ग यह है, शरण यह है। दूसरा निमित्त और राग का शरण लेने जाए (तो) मिथ्यात्व होगा। आहाहा! क्योंकि स्वरूप में वह है नहीं। आहाहा! यहाँ मुख्य तो मिथ्यात्व की बात है। समझ में आया? ऐसा कहाँ मिले ऐसा है? वीरचन्दभाई! कलकत्ता में मिले ऐसा है वहाँ? पैसा और धूल मिले, धूल। आहाहा!

एक ओर अनन्त आनन्द की लक्ष्मी का बादशाह, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का बादशाह का आश्रय छोड़कर, जो (चीज़) वस्तु में नहीं; यह तो है, है, उसका लक्ष्य छोड़कर, नहीं है; उसके लक्ष्य में जाता है, इसलिए वह चीज़ तुझे विकार नहीं कराती परन्तु तू है, उसमें न जाकर; नहीं है, उसमें जाता है, इसलिए तेरी पर्याय में विकार होता है। आहाहा! गजब बात है। ऐसी बात दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त कहीं है नहीं। आहाहा! एक व्याख्यान गजब करते हैं। आहाहा!

ऐसा अकर्ता होने पर भी **जब तक उसके निमित्तभूत परद्रव्य के अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है,...** ऐसा तो स्वरूप होने पर भी, द्रव्यस्वभाव तो अकर्ता है, तथापि पर्याय में निमित्त और नैमित्तिक का सम्बन्ध जब तक न छूटे, तब तक वह राग का कर्ता और मिथ्यात्व का कर्ता है। आहाहा! दूसरी भाषा में मिठास से कहें तो द्रव्यदृष्टि छोड़कर पर्यायदृष्टि में जाता है, तब उसे निमित्त-नैमित्तिक का सम्बन्ध होता है। आहाहा! त्रिकाली आनन्द का नाथ, प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का ढ़ेर, पुंज पड़ा है बड़ा पुंज, उसके सामने न देखकर तेरी चीज़ में एक समयमात्र भी परचीज़ नहीं है। यह तो त्रिकाल रहनेवाली चीज़ है, आनन्द, ज्ञान और शान्ति त्रिकाली रहने की चीज़ तुझमें है। प्रभु! उसे तू देखता नहीं। उसका स्वीकार नहीं करता और तेरी चीज़ में एक समयमात्र भी नहीं, ऐसी निमित्त चीज़ों को तू ममता से 'मेरी' मानता है। आहाहा! जिससे त्रिकाली स्वभाव का आश्रय लेने से, स्वीकार करने से पर्याय में जैसे निर्मलता प्रगट होती है, वह स्वतन्त्र है। उसी प्रकार तेरी दृष्टि वहाँ न होने से, तुझमें नहीं है, उसमें दृष्टि करने से तेरी पर्याय में; वस्तु में नहीं—ऐसा विकार उत्पन्न होता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? रमणीकभाई! समझ में आता है न? आहाहा! यह तो आज ही आये हैं न? आहाहा! चार-पाँच दिन से चलता है। नये को जरा नया लगता है। आहा! नया नहीं है, प्रभु!

ऐसा विद्यमान स्वभाव नित्यानन्द प्रभु, अस्तिवाला तत्त्व, अनन्त ज्ञान और आनन्द से भरपूर भगवान का स्वीकार न करके, जो तुझमें नहीं है, ऐसी निमित्त चीज़ फिर चाहे जो हो—राज हो, स्त्री हो, परिवार हो या अरबों पैसा हो, वह तेरी पर्याय में नहीं है; द्रव्य-गुण में तो नहीं, पर्याय में नहीं, उसमें तेरा लक्ष्य जाकर ममता करता है कि यह मेरा। आहाहा! वहाँ तक निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, वहाँ तक वह अज्ञान से राग का, मिथ्यात्व का कर्ता

है। वह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध ऐसा बतलाता है कि अकेला प्रभु चैतन्य, निमित्त के सम्बन्ध के लक्ष्य को छोड़कर अकेला त्रिकाली स्वभाव है, उसका आश्रय करे तो वह अकारक है। उसे संसार है ही नहीं। आहाहा!

ऐसा होने पर भी **जब तक उसके निमित्तभूत परद्रव्य के...** ऐसी वस्तु तो है, अकारक, कहते हैं। परन्तु जब तक तुझे परसन्मुख का अप्रतिक्रमण नहीं... आहाहा! और अप्रत्याख्यान है **तब तक उसके निमित्तभूत रागादिभावों का...** मिथ्यात्व आदि का **अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है,...** वहाँ तक तुझे राग, मिथ्यात्व का त्याग नहीं, प्रत्याख्यान नहीं है, प्रतिक्रमण नहीं है, विमुख नहीं हुआ है। उसे छोडूँ, भविष्य में छोड़ना है, ऐसा तुझे नहीं हुआ। वर्तमान में छोड़ा नहीं, इसलिए भविष्य में छोड़ना है—ऐसा भी वर्तमान में है नहीं। आहाहा! एकबार तो मध्यस्थ व्यक्ति सुने तो उसे ऐसा हो जाए कि मार्ग तो यह है, भाई! झगड़ा-बगड़ा सब छोड़ दे, बापू! आहाहा! यह सच्चा है और यह खोटा है, (यह छोड़ दे)।

उसने और ऐसा कहा, रयणसार में 'वोच्छामि' आता है न? 'वोच्छामि'। उसका बलभद्र ने अर्थ किया कि कुन्दकुन्दाचार्य कर्ता नहीं, वे तो वक्ता हैं, कहनेवाले हैं। उसके कर्ता नहीं। कहो, ऐसा अर्थ किया। अरे! प्रभु! क्या करता है? समयसार में भी 'वोच्छामि' है। वे समयसार के कर्ता नहीं, वक्ता ही है। कहाँ लगाते हैं युक्ति, प्रभु! यहाँ तो कहते हैं, कर्ता नहीं—यह बात सत्य, परन्तु किस अपेक्षा से? वह वाणी की क्रिया है, इसलिए वक्ता भी नहीं और कर्ता भी नहीं। भाई! उसने तो कर्ता नहीं ऐसा कहा और वक्ता है, ऐसा कहा है। रयणसार में। यहाँ तो (कहते हैं), कर्ता भी नहीं और वक्ता भी नहीं। आहाहा! वाणी का कर्ता भी नहीं और वक्ता भी नहीं। आहाहा!

आबाल-गोपाल सब भगवानरूप से विराजते हैं। आहा! उन्हें भगवानस्वरूप होने की यह बात है। पामर में रहे नहीं, प्रभु! तुझे शोभा नहीं देता। आहाहा! पामर की पर्याय में यदि अहंपना आवे, वह शोभता नहीं है, नाथ! प्रभुता से भरपूर भगवान का अहंपना आने पर पामर पर्याय की तुच्छता छूट जाती है। आहाहा! समझ में आया?

यह कहते हैं, जब तक रागादिभावों का अप्रतिक्रमण है, **जब तक रागादिभावों**

का अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है... तब तक वह रागादिभावों का कर्ता ही है;... आहाहा! अकर्ता अकारक—ऐसा भगवान आत्मा, द्रव्यस्वभाव और ध्रुवस्वभाव और मुक्तस्वभाव की दृष्टि करता नहीं, तब तक पर्यायदृष्टि में परसन्मुख का झुकाव और पर की ओर के होते भाव को छोड़ता नहीं, तब तक वह विकार का कर्ता ही है। नन्दाभाई सूरतवाले गये? है? गये। आहाहा!

जब वह निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करता है,... अर्थात् कि पर से हटकर स्वभाव का आश्रय करे, जो स्वभाव का आश्रय छोड़कर पर का आश्रय करता (था), वहाँ तक कर्ता था। पर का आश्रय छोड़कर स्व का आश्रय करे, तब उसे **नैमित्तिक रागादिभावों का भी प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है,...** आहाहा! अकेले न्याय-मणिरत्न भरे हैं। **जब वह निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करता है,...** अर्थात् उस ओर से लक्ष्य हट जाता है, **तब उसके नैमित्तिक रागादिभावों का भी प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है,...** तब उसे राग-द्वेष नहीं होते। आहाहा! निमित्त का प्रत्याख्यान हुआ, अर्थात् उससे लक्ष्य छोड़ा, इसलिए उसे उस ओर के भाव उसको नहीं होते।

और जब रागादिभावों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है, तब वह साक्षात् अकर्ता ही है। यह क्या कहा? अपने आप तो अकर्ता है ही, परन्तु पर्याय में पर के लक्ष्य से कर्ता होता था, वह जब पर से हटकर स्व में आया, तब पर्याय में साक्षात् अकर्ता हुआ। द्रव्य तो अकर्ता है ही, वस्तु भगवान आत्मा तत्त्वदृष्टि से तो स्वयं अकारक ही है, ज्ञाता-दृष्टा ही है, परन्तु निमित्त-निमित्त सम्बन्ध में जो कारक होता था, वह वहाँ से प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करके हट गया, तब पर्याय में जैसा द्रव्य अकारक है, पर्याय में वैसा अकारक हुआ। समझ में आया इसमें? जैसा द्रव्य और गुण विकार के अकारक हैं, उस प्रकार से पर्याय में भी निमित्त-निमित्त सम्बन्ध को छोड़कर पर्याय में भी राग का अकर्ता हुआ अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा हुआ। ज्ञाता-दृष्टा हुआ अर्थात् आनन्द की दशा में रमणशील हुआ। उस दुःख की दशा में रमता था। विशेष कहा जाएगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २८६-२८७

द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावोदाहरणं चैतत् -

आधाकम्मादीया पोग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्व-गुणा दु जे णिच्चं।।२८६।।

आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गल-मयं इमं दव्वं।
कह तं मम होदि कयं जं णिच्च-मचेदणं वुत्तं।।२८७।।

अध:कर्माद्या: पुद्गलद्रव्यस्य च इमे दोषा:।
कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणास्तु ये नित्यम्।।२८६।।

अध:कर्मोद्देशिकं च पुद्गल-मय-मिदं द्रव्यं।
कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तम्।।२८७।।

यथाध:कर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बन्धसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे, तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाण-स्तन्निमित्तिकं भावं न प्रत्याचष्टे। यथा चाध:कर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषान्न नाम करोत्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वा-भावात्, ततोऽध:कर्मोद्देशिकं च पुद्गलद्रव्यं न मम कार्यं नित्यमचेतनत्वे सति मत्कार्यत्वाभावात् इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बन्धसाधकं भावं प्रत्याचष्टे, तथा समस्तमपि परद्रव्यं प्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तं भावं प्रत्याचष्टे।

एवं द्रव्यभावयोरस्ति निमित्तनैमित्तिकभाव:।।२८६-२८७।।

अब द्रव्य और भाव की निमित्त-नैमित्तिकता का उदाहरण देते हैं:-

हैं अध: कर्मादिक जु पुद्गलद्रव्य के ही दोष ये।
कैसे करे 'ज्ञानी' सदा परद्रव्य के जो गुणहि हैं?।।२८६।।

उद्देशि त्यों ही अध:कर्मी पौद्गलिक यह द्रव्य जो।
कैसे हि मुझकृत होय नित्य अजीव वर्णा जिसहि को।।२८७।।

गाथार्थ : [अध:कर्माद्या: ये इमे] अध:कर्म आदि जो यह [पुद्गलद्रव्यस्य दोष:] पुद्गलद्रव्य के दोष हैं, (उनको ज्ञानी अर्थात् आत्मा करता नहीं है); [तान्] उनको [ज्ञानी] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [कथं करोति] कैसे करे [ये तु] कि जो [नित्यम्] सदा [परद्रव्यगुणा:] परद्रव्य के गुण हैं?

इसलिए [अध:कर्म उद्देशिकं च] अध:कर्म और उद्देशिक [इदं] ऐसा यह [पुद्गलमयम् द्रव्यं] पुद्गलमय द्रव्य है (जो मेरा किया नहीं होता); [तत्] वह [मम कृतं] मेरा किया [कथं भवति] कैसे हो [यत्] कि जो [नित्यम्] सदा [अचेतनम् उक्तम्] अचेतन कहा गया है?

टीका : जैसे अध:कर्म से उत्पन्न और उद्देश से उत्पन्न हुए निमित्तभूत (आहारादि) पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (-मुनि) नैमित्तिकभूत बन्ध साधक भाव का प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं करता, इसी प्रकार समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्त से होनेवाले भाव को नहीं त्यागता। और, 'अध:कर्म आदि पुद्गलद्रव्य के दोषों को आत्मा वास्तव में नहीं करता क्योंकि वे परद्रव्य के परिणाम हैं, इसलिए उन्हें आत्मा के कार्यत्व का अभाव है; इसलिए अध:कर्म और उद्देशिक पुद्गलकर्म मेरा कार्य नहीं है क्योंकि वह नित्य अचेतन है, इसलिए उसको मेरे कार्यत्व का अभाव है'-इस प्रकार तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा (मुनि) जैसे नैमित्तिकभूत बन्धसाधक भाव का प्रत्याख्यान करता है, उसी प्रकार समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ (त्याग करता हुआ) आत्मा उसके निमित्त से होनेवाले भाव का प्रत्याख्यान करता है। इस प्रकार द्रव्य और भाव को निमित्त-नैमित्तिकता है।

भावार्थ : यहा अध:कर्म और उद्देशिक आहार के दृष्टान्त से द्रव्य और भाव की निमित्तनैमित्तिकता दृढ़ की है।

जिस पापकर्म से आहार उत्पन्न हो, उसे अध:कर्म कहते हैं, तथा उस आहार को भी अध:कर्म कहते हैं। जो आहार, ग्रहण करनेवाले के निमित्त से ही बनाया गया हो, उसे उद्देशिक कहते हैं, ऐसे (अध:कर्म और उद्देशिक) आहार का जिसने प्रत्याख्यान नहीं किया, उसने उसके निमित्त से होनेवाले भाव का प्रत्याख्यान नहीं किया और जिसने तत्त्वज्ञानपूर्वक उस आहार का प्रत्याख्यान किया है, उसने उसके निमित्त से होनेवाले

भाव का प्रत्याख्यान किया है। इस प्रकार समस्त द्रव्य और भाव को निमित्त-नैमित्तिकभाव जानना चाहिए। जो परद्रव्य को ग्रहण करता है, उसे रागादिभाव भी होते हैं, वह उनका कर्ता भी होता है और इसलिए कर्म का बन्ध भी करता है; जब आत्मा ज्ञानी होता है, तब उसे कुछ ग्रहण करने का राग नहीं होता, इसलिए रागादिरूप परिणमन भी नहीं होता और इसलिए आगामी बन्ध भी नहीं होता। (इस प्रकार ज्ञानी परद्रव्य का कर्ता नहीं है।)

प्रवचन नं. ३५४, गाथा-२८६, २८७ शनिवार, मगसर शुक्ल ५
दिनाङ्क - २४-११-१९७९

२८६, २८७ गाथा।

आधाकम्मादीया पोग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्व-गुणा दु जे णिच्चं।।२८६।।

आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गल-मयं इमं दव्वं।
कह तं मम होदि कयं जं णिच्च-मचेदणं वुत्तं।।२८७।।

हैं अधः कर्मादिक जु पुद्गलद्रव्य के ही दोष ये।
कैसे करे 'ज्ञानी' सदा परद्रव्य के जो गुणहि हैं?।।२८६।।

उद्देशि त्यों ही अधःकर्मी पौद्गलिक यह द्रव्य जो।
कैसे हि मुझकृत होय नित्य अजीव वर्णा जिसहि को।।२८७।।

अभी तक ऐसी बात की थी कि निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से जो विकार होता है, वहाँ तक वह उसका कर्ता है। वस्तुस्वरूप से चैतन्य ज्ञायक द्रव्यस्वभाव से तो अकारक है। परन्तु जब तक अपने द्रव्य के अतिरिक्त दूसरे द्रव्य के प्रति का लक्ष्य नहीं छोड़ता और उसके निमित्त से होनेवाले विकार को नहीं छोड़ता, तब तक वह पर्याय में विकार का कर्ता है। द्रव्य से अकारक होने पर भी वस्तु है, वह भगवान चैतन्यस्वरूप निर्मल आनन्द, वह तो विकार का अकारक है। द्रव्य तो त्रिकाल निरावरण और विकार का अकारक है ही, परन्तु उसकी पर्याय में जितना निमित्त की ओर लक्ष्य जाता है, निमित्त का आश्रय करता है, उतना

निमित्त के आश्रय से अपने में जो विकार होता है, उसका उसे दोष है, उस दोष का वह कर्ता होता है। समझ में आया? उसका यह दृष्टान्त है। इस गाथा में उसका दृष्टान्त है। मुनिपने की मुख्यता की बात है न? इसलिए मुनिपने की मुख्यता से बात की है।

टीका :- जैसे अधःकर्म से उत्पन्न... साधु के लिए बनाया हुआ, किया हुआ आहार और पानी **और उद्देश से...** उसने कुछ कहा हो और न कहा हो, उसका उद्देशिक, उसके लिये बनाया हो। उसने कहा न हो। कुछ कहा हो कि ऐसा करो, तब तो अधःकर्म में जाता है। परन्तु कहा न हो और उसके लिये बनाया हुआ हो, गाँव में साधु आये (हों) तो उन्हें आहार देना तो पड़े न? पश्चात् उनके लिये आहार बनाया हो, उसे उद्देशिक कहते हैं। वह **अधःकर्म से उत्पन्न और उद्देश से उत्पन्न हुए निमित्तभूत (आहारादि)...** वह परवस्तु तो निमित्त है। निमित्त-निमित्त का दृष्टान्त देते हैं। वह तो निमित्त है।

पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ... मुनि उनके लिये बनाये गये आहार को, पानी को नहीं छोड़ता हुआ। आहाहा! उस निमित्त को नहीं छोड़ता और निमित्त सम्बन्धी होते विकार को नहीं छोड़ता। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! साधु के लिये बनाया हो और वह स्वयं ले तो वह चीज़ तो निमित्त है, परद्रव्य है परन्तु उसके आश्रय से जो लेने का भाव हुआ, वह नैमित्तिक विकार है। वह विकार है, तब तक उस विकार का त्यागी नहीं है। तब तक वह मुनि नहीं है। आहाहा! क्योंकि उसकी भूमिकाप्रमाण वह निमित्त जो उसके लिये बनाया हुआ है, उसे नहीं लेना चाहिए। उसके लिये बना हुआ जो लेता है, वह निमित्त सम्बन्धी के दोष में, राग और द्वेष के दोष में आता है और इससे नैमित्तिक राग-द्वेष का वह कर्ता होता है। आहाहा! आहार-पानी न मिले तो करना क्या? गाँव में साधु आये हों और न मिले तो करना क्या? बनाना पड़े। वह बनाया हुआ जो ले तो उसके सम्बन्धी का जो दोष है, उसका उसे त्याग नहीं है। इसलिए वह मुनि नहीं है। आहाहा!

उसके लिये पानी बनाया (प्रासुक) किया हो। क्या कहा जाता है उसे? कमण्डल, कमण्डल में पानी डालने के लिये बनाया, (प्रासुक किया हो) हाथ धोने के लिये, पिलाने के लिये, वह बनाया हुआ पानी तो निमित्त है परन्तु उससे होता जो दोष है, वह विकार है, वह राग दोष है वह जब तक उसे नहीं छोड़ता, तब उसे राग का भी प्रत्याख्यान और राग का त्याग नहीं है। उसे राग का प्रतिक्रमण नहीं है। आहाहा! ऐसी कठिन बात।

मुमुक्षु : मुनि को आर्तध्यान तो है नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आर्तध्यान है नहीं। परन्तु वह मुनि कहाँ है? उसके लिये (बनाया हुआ) लेता है, वह मुनि नहीं है। झांझरीजी! इन सेठियों को क्या, परन्तु गाँव में साधु आवे तो उसे करना पड़े या नहीं? भूखे रखना उसे?

मुमुक्षु : अभी तो ऐसा ही चलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी चलता है। बात सच्ची।

वह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का दृष्टान्त है। अपने आत्मा का आश्रय छोड़कर जितना निमित्त—परद्रव्य का आश्रय करता है, वह परद्रव्य कहीं दोष का कारण नहीं है, परन्तु उसका आश्रय करता है, वह दोष है। इसलिए उस निमित्त का भी प्रतिक्रमण नहीं और दोष का भी प्रतिक्रमण नहीं; इसलिए उसे अप्रतिक्रमण है। आहाहा! भारी कठिन काम। अभी तो चौका बनाते हैं, समाचार पत्र में लिखते हैं। चौका लेने आना, साधु के लिये चौका बनाना है। प्रभु... प्रभु..! यह तो वस्तु की स्थिति है।

वह **पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ...** उसके लिये बनाया हुआ आहार, उसे नहीं छोड़ता। उसके लिये बनाया हुआ पानी, औषध (उसे नहीं छोड़ता)। पाँचवें काल के साधु.. यह टीकाकार तो हजार वर्ष पहले हुए। अमृतचन्द्राचार्य तो अभी हुए। वे स्वयं कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य तो दो हजार वर्ष पहले कहते हैं। वस्तु तो तीनों काल में एक ही होती है। 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पंथ' उसमें कुछ दूसरी मिलावट नहीं होती। पंचम काल हल्का काल है, इसलिए कुछ ऐसे थोड़ी गड़बड़ हो तो दिक्कत नहीं है (ऐसा नहीं होता)। यहाँ जैनधर्म में यह नहीं चलता। इसीलिए यह दृष्टान्त दिया है।

जब तक उसके लिये बनाया हुआ पानी, रस, आहार, दाल, भात, सब्जी (लेता है), स्वयं के लिये घर में बनाना हो और थोड़ा सा उनके लिये साथ में डाले। घर में दो व्यक्ति हों और आहार देना हो, गाँव में तीन-चार साधु आये हों तो उनके लिये अधिक डाले, वह सब उद्देशिक आहार है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह डाले, इसमें साधु का क्या दोष?

पूज्य गुरुदेवश्री : साधु को खबर नहीं कि यह तो दो व्यक्ति हैं और इतना अधिक आहार कहाँ से ? दो व्यक्ति हैं और आहार तथा पानी (इतना) कहाँ से आया ? इनके लिये बनाया, उन्हें खबर नहीं। हमारे तो यह सब अनुभव हो गये हैं न! हमारे सम्प्रदाय के गुरु थे। वे तो ऐसे थे, बाह्य क्रिया में निर्दोष (थे)। दो-तीन कोस का विहार हो तो विहार करके दूसरे गाँव में जाए। तुरन्त गाँव में प्रवेश न करे, बाहर बैठे। क्या कहलाता है ? नेरुं। नेरुं होता है न ? नेरुं। पानी की खाली .... होवे वहाँ बैठे। एकान्त, किसी को खबर न पड़े ऐसे। फिर जब समय हो, साढ़े नौ-दस। चौका हो गया हो, रोटी बनती हो, उस समय गाँव में जाए। गाँव में जाकर जो तैयार हुआ हो, उसमें से एक-दो आहार ले। उनके लिये बनाया हुआ हो तो लेते नहीं थे। ऐसे थे। दृष्टि खोटी, श्रद्धा तो सच्ची कहाँ थी ? स्थानकवासी की श्रद्धा मिथ्यात्व है। परन्तु उनके आचरण में, उनकी क्रिया में ऐसे सख्त थे।

गाँव में पाँच-छह घर हों, चार साधु आवे तो पानी लेने जाए और पानी दस सेर अधिक देखे (तो) पूछे कि यह पानी इतना कैसे ? (वह कहे), नहाने के लिये किया है। तो पूछे, नहाने के लिये तुम कितने व्यक्ति हो ? दो व्यक्ति हो और नहाने के लिये इतना अधिक पानी ? बहुत पूछते। देखे थे तुमने ? तुमने नहीं देखे होंगे। (संवत्) १९७४ में गुजर गये। क्रिया सख्त थी। जरा सी खबर पड़े कि मेरे लिये पानी बनाया है और मेरे लिये थोड़ा बढ़ाया है (तो) लेते नहीं थे। उस क्रिया में बेचारे थे। दृष्टि तो विपरीत थी। मार्ग तो था नहीं।

यह तो सम्यग्दर्शनपूर्वक की बात है। अर्थ में आयेगा, अर्थ में आयेगा। तत्त्वज्ञानपूर्वक। सम्यग्दर्शनपूर्वक। साधु के लिये बनाया हुआ आहार-पानी ले नहीं और ले तो वह दोष है, तो वह साधुपना वहाँ नहीं रहता, ऐसा कहेंगे। समझ में आया ? झांझरीजी ने कहा न ? सेठियों को तो ऐसा सब करना पड़े। गाँव में सेठियों को कहाँ जाना ? आहारदान देना, पानी बनाना, फिर तिष्ठ-तिष्ठ, फिर झूठ बोलना। आहार शुद्ध, पानी शुद्ध। झांझरीजी! बनाया हो उनके लिये (और) बोले ऐसा—आहार शुद्ध, पानी शुद्ध, मन शुद्ध, वचन शुद्ध, काय शुद्ध। ऐसा झूठ बोले। और वे भी झूठ बोलना स्वीकार करके ले। मार्ग बहुत कठिन, प्रभु! किसी व्यक्ति के लिये बात नहीं है। मार्ग ऐसा है।

जितना अपना द्रव्यस्वभाव है, उसका आश्रय छोड़कर जो निमित्त के आश्रय से

नैमित्तिक जितने भाव करे, वे सब दोष हैं। उस दोष को न छोड़े, तब तक उसे उसका प्रत्याख्यान नहीं है। उसे उसका प्रतिक्रमण नहीं है। व्यक्तिगत की बात नहीं है। सबकी जवाबदारी है। सबके परिणाम में सबको फल मिलेगा। परन्तु मार्ग ऐसा है। आहाहा!

साधु के लिये दस सेर गर्म पानी बनाया हो और खबर पड़े कि यह पानी तो मेरे लिये बनाया है। इसके घर में कहाँ (इतनी आवश्यकता) है? और ले तो वह पानी तो निमित्त है परन्तु उसे लेने का जो भाव है, वह नैमित्तिक भाव दोष है। उस दोष को जब तक (छोड़ता नहीं), निमित्त को और दोष को छोड़ता नहीं, तब तक दोनों के प्रति प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान उसे नहीं है। आहाहा! आचार्य महाराज ने यह दृष्टान्त दिया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने दृष्टान्त दिया है। आहाहा!

अभी तो ऐसा चलता नहीं। जहाँ हो वहाँ उनके लिये चौका ही करते हैं। साधुपना मनावे और माननेवाले भी साधु मानकर दे। यह मार्ग नहीं है। मार्ग नहीं है, बापू! वीतराग के मार्ग में सम्यग्दर्शनसहित राग मेरा स्वरूप नहीं है, दया-दान के विकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसे भान सहित मुनि की दशा, उनके लिये बनाये हुए आहार-पानी के राग का त्याग होता है। आहाहा! कहो, देवीलालजी!

यह यहाँ कहते हैं, **प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (-मुनि) नैमित्तिकभूत बन्ध साधक भाव का प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं करता,...** उनके लिये बनाया हुआ आहार, पानी, केला लावे, आम का रस बनावे, मौसम्बी का रस निकाले... आहाहा! वह सब उनके लिये बनाये हुए का त्याग न करे, तब तक उसे निमित्त तथा निमित्त सम्बन्धी का प्रत्याख्यान नहीं है, त्याग नहीं है, अत्यागी है। यशपालजी! ऐसा यह किया होगा या नहीं? तुमने सब सुना है या नहीं? आहाहा! ऐसा मार्ग है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्पष्ट दृष्टान्त देते हैं। निमित्त-नैमित्तिक की बात की और अब किसे निमित्त-नैमित्तिक कहना? तो यह अधःकर्मी का एक दृष्टान्त दिया। उनके लिये बनाया हुआ (आहार आदि) **न करता हुआ आत्मा (-मुनि) नैमित्तिकभूत...** निमित्त के आश्रय से होता विकार, दोष को **बन्ध साधक भाव का...** नहीं छोड़ता।

इसी प्रकार समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ... यह तो दृष्टान्त

दिया। अध:कर्मी और उद्देशिक आहार का दृष्टान्त दिया। उसी प्रकार आत्मा के अतिरिक्त आहाहा! सब परद्रव्य की ओर का लक्ष्य न छोड़े, तब तक उसे निमित्त और नैमित्तिक का त्याग नहीं है। आहाहा! प्रभु तो ऐसा कहते हैं कि जब तक हम देव-गुरु-शास्त्र परद्रव्य हैं, हमारे ऊपर तेरा लक्ष्य जाएगा तो हम निमित्त हैं और तुझे राग होगा। आहाहा! यह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध छोड़ता नहीं, तब तक तुझे उसका प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण नहीं है। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग है।

कल अखबार में ऐसा आया, त्याग होता है, पुण्य के कारण त्यागी होता है। अरर्र! सुननेवाले लोग भी क्या करते हैं? ऐसा कि पुण्यशाली प्राणी ही त्यागी हो सकता है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि निर्धन हो, गरीब हो, आहार-पानी भी मिलते न हों, तथापि अन्तर में आत्मज्ञान सहित स्वरूप की रमणता (सहित), निमित्त की ओर के झुकाव और निमित्त का त्याग कर सकता है। आहाहा! अत्यन्त निर्धन हो, गरीब हो तो भी वह आत्मा का ज्ञान करके, आत्मा के आनन्द का अनुभव करके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के दोष को छोड़ता है। आहाहा! इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पुण्यशाली है।

पर का त्याग करने में पुण्य का क्या काम है? राग का त्याग और निमित्त की ओर के लक्ष्य का त्याग, उसमें पुण्य का क्या काम है? पुण्य स्वयं छोड़ने योग्य है। क्योंकि पुण्य जो है, वह निमित्त के ऊपर लक्ष्य से पुण्य होता है। पुण्य है, वह नैमित्तिक भाव है और उसका निमित्त पर के ऊपर (लक्ष्य) जाता है। फिर भले कोई गरीब को देना हो या भक्ति करना हो परन्तु लक्ष्य निमित्त के ऊपर जाता है न? उस निमित्त पर लक्ष्य जाता है, तब वह शुभभाव होता है। जब तक निमित्त और नैमित्तिकभाव को नहीं छोड़ता, तब तक उसे उसका प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण नहीं है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, देखो! जैसे वह अध:कर्मी और उद्देशिक आहार, उसे खबर है कि उसके लिये बनता है, यह बना है, उसे नहीं छोड़ता—लेता है, तब तक उसे उस उद्देशिक आहार और उससे (हुए) दोष का उसे प्रत्याख्यान नहीं, प्रतिक्रमण नहीं, उसका उसे त्याग नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है। यह तो दृष्टान्त दिया। उद्देशिक और अध:कर्मी का तो दृष्टान्त दिया।

इसी प्रकार समस्त परद्रव्य का... समस्त परद्रव्य को। भाषा तो देखो! आहाहा! भगवान कहते हैं कि मैं भी परद्रव्य हूँ। देव-गुरु-शास्त्र भी परद्रव्य है। आहाहा! यह भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु, उसके अवलम्बन और आश्रय बिना परद्रव्य चाहे जो हो, उनकी ओर के झुकाववाला भाव दोष ही है। यह भगवान बात करते हैं। आता है, अशुभ से बचने के लिये शुभभाव की बात करे। समझ में आया? भगवान की भक्ति, पूजा, ऐसा भाव हो। परन्तु कहते हैं कि यह भाव है, वह निमित्त के आश्रय से तुझमें तुझसे हुआ है, उसे तू छोड़ता नहीं, तब तक उसका तुझे प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं है। आहाहा! कठिन बात है। यह कोई पक्ष की बात नहीं। यह तो स्वद्रव्य और परद्रव्य के विभाजन की बात है। आहाहा! भगवान के मार्ग में कहीं एक ही द्रव्य है? अनन्त द्रव्य हैं। अनन्त द्रव्यों में से अकेला तेरा द्रव्य, उसका आश्रय करने से निमित्त की ओर के झुकाव का आश्रय छूट जाता है। आहाहा!

समस्त परद्रव्य... ओहोहो! गजब बात की है न! उसमें आता है न? ३१ गाथा में। **'इंदिये जिणित्ता'**। गाथा में पाठ इतना ही है कि इन्द्रिय को जीतकर; और टीकाकार ने अर्थ में क्लिष्ट कर डाला। क्योंकि टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य ने यहाँ तक लिया कि इन्द्रियों को जीतना अर्थात् क्या? कि यह द्रव्य इन्द्रिय जड़, भाव इन्द्रिय एक-एक विषय को जाननेवाली भाव इन्द्रिय और इन्द्रियों का विषय। चाहे तो स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, व्यापार-धन्ध, देव-गुरु और शास्त्र, यह सब इन्द्रिय है। ऐसा अर्थ किया तो (वह कहे) अर्थ में क्लिष्ट कर डाला। आहाहा! परन्तु प्रभु! उसमें क्या हुआ? **'इंदिये जिणित्ता'** का अर्थ कि अनीन्द्रिय में जा। इसलिए इसका अर्थ यह हुआ कि अनीन्द्रिय की ओर जा तो इस ओर के सब झुकाव छूट गये। इसका अर्थ ही ऐसा हुआ अन्दर से। आहाहा! यह टीकाकार ने क्लिष्ट नहीं किया, प्रभु! टीकाकार ने तो इसमें रहे हुए भाव को स्पष्ट किया है। अरे! परन्तु कहना किसको? आहाहा!

ऐसे अमृतचन्द्राचार्य। अरे। बनारसीदास, टोडरमल, राजमलजी ने ऐसी टीका (करके) क्लिष्ट कर डाला। समयसार में सीधा-सादा अर्थ था, उसका क्लिष्ट कर डाला क्योंकि **'जो इंदिये जिणित्ता'**। अर्थात् इन्द्रियों को जीतना, बस! अब टीकाकार ने इसका अर्थ इतना किया कि इन्द्रिय अर्थात् यह जड़ इन्द्रिय; भावेन्द्रिय—एक-एक विषय को जाननेवाली

भावेन्द्रिय और इन्द्रिय का विषय भगवान और वाणी, सब इन्द्रिय। देव-गुरु और शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब और परिवार, पैसा, लक्ष्मी और मकान। यह सब इन्द्रिय में जाता है। क्योंकि वह अनीन्द्रिय नहीं। वह अनीन्द्रिय नहीं - ऐसा अर्थ तो बराबर निकाला। भाई! आहाहा! अरेरे! उन्हें आरोप देते हैं कि क्लिष्ट कर डाला। इन्द्रिय को जीतना, इतना था, उसमें से बड़ा लम्बा विस्तार करके इन्द्रिय का विषय है, उसे भी इन्द्रिय कर डाला। इसमें समझ में आया? ३१ गाथा है। **'इंदिये जिणित्ता'**। गाथा तो संक्षिप्त है न? गाथा में तो गूढ़ गम्भीर भाव भरे हैं।

'इंदिये जिणित्ता' का अर्थ कि अनीन्द्रिय ऐसे भगवान आत्मा के आश्रय में जा। आहाहा! अनीन्द्रिय ऐसा जो भगवान आत्मा, इसलिए फिर आचार्यों ने-सन्तों ने इन्द्रिय का अर्थ अनीन्द्रिय के अतिरिक्त जो चीज़ें, उन सबको इन्द्रिय ही कहा है। वह तो बराबर उचित किया है, यथार्थ किया है। आहाहा! अब उन्हें ऐसा कहना कि यह क्लिष्ट कर डाला। दुर्बोध... क्या कहा? दुर्बोध। हैं? दुरुह... दुरुह... दुरुह किया। अरर्र! प्रभु... प्रभु! क्या करता है? भगवान नहीं मिलते, केवली नहीं मिलते। ऐसे कोई अवधिज्ञान, मन्त्रज्ञान नहीं मिलता। सुननेवाले भी बेचारे साधारण मनुष्य। सिर पर कुछ त्यागी देखे और जो कहे उसे प्रमाण प्रभु! यह तो वीतरागमार्ग है न, भाई! सर्वज्ञ वीतराग त्रिलोकनाथ, **'इंदिये जिणित्ता'** का अर्थ ही यह किया, भाई! कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु ने ऐसा कहा, इन्द्रियों को जीतकर। **'णाणसहावाधियं मुणदि आदं'**—ऐसा कहा है न? भाई! इसका अर्थ क्या हुआ? आहाहा! इन्द्रियों को जीतकर **'णाणसहाव'** ज्ञानस्वभाव से अधिक पर से भिन्न। पर से भिन्न अर्थात् सबसे भिन्न हो गया। भगवान, भगवान की वाणी, शास्त्र से भिन्न हो गया। सबसे ज्ञानस्वभाव से अधिक—भिन्न है। आहाहा!

'जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।' उसे निश्चय के साधु ने जितेन्द्रिय कहा है। आहाहा! गजब बात है। परमसत्य, अमृत-अमृत बहाया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने थोड़े शब्दों में अमृत-अमृत बहाया है। टीकाकार ने भी उसका अमृत का अर्थ ही जैसा है, वैसा निकाला है। प्रभु! उसे दुरुह कहना, उसे क्लिष्ट कहना, प्रभु, तुझे शोभा नहीं देता। भगवान! तू वीतरागमूर्ति प्रभु है न! तो उसमें तेरे आश्रय में पूर्ण जा, पर से-सबसे हट जा। उसमें ही यह आ गया, प्रभु! आहाहा!

यहाँ यह दृष्टान्त देकर (कहा है)। अध:कर्मी और उद्देशिक आहार त्यागता का नहीं, वह उसके भाव को त्यागता नहीं और उसे प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार। यह तो दृष्टान्त कहा। है न? **इसी प्रकार समस्त परद्रव्य का...** आहाहा! एक स्वद्रव्य के अतिरिक्त। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, सच्चिदानन्द अखण्ड अभेद चैतन्य दल, इस स्वद्रव्य के अतिरिक्त जितने दूसरे समस्त परद्रव्य। है इसमें? **समस्त परद्रव्य का...** इसमें देव-गुरु-शास्त्र आ जाते होंगे? परद्रव्य में देव-गुरु-शास्त्र आ जाते होंगे? है? आ जाते हैं? आहाहा! सिद्धान्त तो वह कहलाता है कि जिसमें से स्व का आश्रय प्रगट हो, पर का आश्रय छूट जाए। आहाहा! इसमें वाद-विवाद की आवश्यकता नहीं है, प्रभु! आहाहा!

भरपूर भगवान है न! पूर्ण प्रभु है न, प्रभु! तुझमें क्या कमी है? भजन में आया है, नहीं? 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा, प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा, पर की आश कहाँ करे प्रीतम' देव-गुरु-शास्त्र की भी (आशा नहीं)। यह स्तुति है। 'पर की आश कहाँ करे प्रीतम, किस बात में तू अधूरा, किस बात से तू अधूरा, प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा।' आहाहा! प्रभु! तू अनन्त गुणों से पूर्ण है न! किस बात से तू अधूरा है? नाथ! कि तुझे परद्रव्य का आश्रय लेना पड़े? आहाहा! ऐसी बात है। यशपालजी! सत्य बात ऐसी है, भगवान! फिर उसे एकान्त कहे, यह कहे। चाहे जो कहो, प्रभु! आहाहा! उल्टा पड़ने की भी इसमें शक्ति, योग्यता है। शक्ति नहीं, पर्याय में योग्यता है। इसके द्रव्य-गुण में उल्टा पड़ने की शक्ति नहीं है। आहाहा!

भगवान! द्रव्य और गुण से तो परिपूर्ण है। इसमें कोई शक्ति अपूर्णरूप से होने की, राग की योग्यतारूप से होने की, प्रभु! तेरे में कोई गुण ही नहीं है। पर्याय में, एक समय की पर्याय में योग्यता, वह पूरा संसार है। आहाहा! उस पर्याय में योग्यता में भी निमित्त का आश्रय जो लेता है, उतना पर्याय में नैमित्तिक विकार होता है। उसे वह प्रतिक्रमण नहीं करता, इसलिए उस दोष में आता है। परन्तु जो कोई अपने स्वद्रव्य का-गुण का आश्रय लेकर समस्त परद्रव्य की ओर का लक्ष्य छोड़कर... यहाँ तो समस्त परद्रव्य आया, उसमें याद क्या आया? वह इन्द्रिय का (याद) आया। **'जो इंदिये जिणित्ता'**। उसमें यह सब आये न? आहाहा!

तू अनीन्द्रिय प्रभु है, पूर्णानन्द का नाथ अनीन्द्रिय, उस ओर जाने से तुझे किस ओर के झुकाव का भाव रह जाता है ? अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु, उस ओर जाने से कौन सा परद्रव्य की ओर का आश्रयभाव तुझे पूर्ण द्रव्य का आश्रय होने पर रह जाता है ? स्वद्रव्य का आश्रय लेने से सम्यक् होता है परन्तु अभी आश्रय थोड़ा हो, इसलिए निमित्त के आश्रय में जाए तो उतना तो दोष है। आहाहा! भगवान आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु, पूर्णानन्द का नाथ भगवन्त स्वरूप है, उसे पूर्ण रीति से जहाँ आश्रय करे तो किसी भी द्रव्य का, निमित्त का आश्रय लेने की तुझे आवश्यकता नहीं। आहाहा! समझ में आया ? सूक्ष्म बात, बापू! अन्दर का मार्ग बहुत (सूक्ष्म)। यथार्थ वस्तु, यथार्थ वस्तु। आहाहा! क्या उसका वर्णन! क्या इनकी शैली! आहाहा!

जैसे अध:कर्मी और उद्देशिक आहार, मुनि के लिये बनाया (होवे), उन्हें ख्याल में आता है कि यह दो व्यक्ति हैं और आहार इतना अधिक कैसे ? तो भी वे लेते हैं तो वह अध:कर्मी और उद्देशिक का निमित्त की ओर का झुकाववाला दोष है, उसे छोड़ता नहीं, इसलिए वह मुनि नहीं हैं। आहाहा! **इसी प्रकार समस्त परद्रव्य का नहीं** छोड़ता। आहाहा! बात तो सादी है परन्तु भाव तो बहुत गहरे हैं। हैं ? भाषा तो सादी है। प्रभु! तू बड़ा है, नाथ! यहाँ तो तेरी बातें चलती है। आहाहा! कहते हैं कि तुझमें क्या अधूराश है ? कि जिससे तुझे परद्रव्य का आश्रय लेना पड़े ? आहाहा! और जितना परद्रव्य के आश्रय के ऊपर लक्ष्य जाता है, उतना दोष है, ऐसा स्वीकार कर। भले स्वद्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन हुआ, तो भी जितना अभी परद्रव्य के आश्रय में जाए, उतना दोष है, यह ज्ञान में, श्रद्धा में रखना, नहीं तो गड़बड़ होगी। आहाहा!

यह अध:कर्मी, उद्देशिक, यह तो निमित्त है, परन्तु लेनेवाले का उसका भाव है, वह नैमित्तिक है। उस नैमित्तिक भाव और निमित्त, दोनों को जो नहीं छोड़ता, उसे उनका त्याग नहीं है। आहाहा! उसे अध:कर्मी और उद्देशिक आहार का त्याग नहीं है। और मुनि को तो त्याग होना चाहिए। आहाहा! जैसे उनका त्याग होने पर मुनि को मुनिपना का यथार्थपना उत्पन्न होता है। **इसी प्रकार समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ...** आहाहा! आत्मा के अतिरिक्त अनन्त द्रव्य, चाहे तो सिद्ध भगवान हो, आहाहा! पंच परमेष्ठी हो या

स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, धन्धा-व्यापार-पानी, यह सब पूरे दिन धमाल, धन्धा वह निमित्त है। उसके आश्रय से होता दोष है, उसे छोड़ता नहीं, तब तक वह पापी है। आहाहा!

मुमुक्षु : स्त्री, पुत्रों का करना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्त्री कहाँ थी? बापू! किस क्षण में देह छूट जाएगी? बैठे-बैठे कुछ नहीं हो और फू.... हो जाएगा। आहाहा!

मुमुक्षु : जीव को खबर तो पड़े न....

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ खबर भी नहीं आती कि इतना रोग आया। मलकापुरवाला कहता था न? मलकापुरवाला एक भाई नहीं अपना? हैं? स्वरूपचन्द! स्वरूपचन्द छोटी उम्र का कपड़े का व्यापारी है। अभी विवाह नहीं हुआ था। मोक्षमार्गप्रकाशक मुखाग्र, कण्ठस्थ। बहुत प्रश्न करता था। मलकापुर का। आया है न? एक पत्र आया है। मलकापुर की एक प्रतिमा वींछिया में पंच कल्याणक करायी है। अपने मुमुक्षु थे। वह मन्दिर में स्थापित की है। अब एक जज का पत्र आया है। कोई काम में गयी है। अब उस मूर्ति को दोनों व्यक्ति पूजते हैं। तेरापन्थी और बीसपन्थी। जज जरा मध्यस्थ व्यक्ति है। इसलिए जज पूछते हैं कि महाराज! इसमें आपका नाम है तो मुझसे अन्याय न हो तो इसके लिये आप कुछ कहो कि मुझे क्या करना इसमें? कहा, हम तो कुछ कहते नहीं। जज का पत्र है। कोर्ट में चढ़े हैं। ऐसा कि आपका नाम है, इसलिए आप जो कहो तत्प्रमाण मैं न्याय (दूँगा), नहीं तो अन्याय (हो जाएगा)। बड़ा पत्र आया है। भाई को कहा था, रामजीभाई! हाँ, कहा था। कल किसी दूसरे का एक पत्र आया है। अजैन है परन्तु जैन होना चाहता है। यह और दूसरा। आलू के इतने टुकड़े में अनन्त जीव हैं, लौकी के टुकड़े में भी अनन्त जीव हैं। जहाँ हो वहाँ अनन्त... अनन्त... महाराज! इसमें मुझे क्या करना? ऐसा बड़ा पत्र आया है। आता है। वे निगोद के जीव पूरे लोक में है न? जहाँ-तहाँ सर्वत्र हैं परन्तु सभी कहीं लौकी खाने से निगोद नहीं मरते। सूक्ष्म निगोद उसमें नहीं आता। सूक्ष्म निगोद अलग रह जाता है। है प्रत्येक में सूक्ष्म निगोद। इस पानी में सूक्ष्म निगोद है परन्तु पानी पीने से वह सूक्ष्म निगोद अन्दर में नहीं आता। वह अलग रहता है। यह सब लम्बी बातें हैं। बेचारे ने बड़ा लिखा है। मुझे कुछ जवाब दो। यहाँ किसी को (जवाब) नहीं देते। यहाँ आवे और प्रश्न (पूछे

उसका) उत्तर देते हैं। यहाँ कहाँ ऐसी फुरसत है ? आहाहा!

मलकापुर में तो ऐसी विवाद। ऐसा कि मूर्ति में आपका नाम है। आप इसमें क्या कहना चाहते हो ? उस अनुसार मैं न्याय दूँ। नहीं तो मुझसे अन्याय न हो जाए। कौन कहे ? बापू! ऐसे विवाद... अरर्र! अरे! तीन लोक का नाथ जिन्हें सच्चे सन्त और देव-गुरु-शास्त्र का तो निमित्तपना, वह भी नैमित्तिक दोष को उत्पन्न करता है, उसे ऐसे विवाद में क्या ? भाई! ऐसे विवाद नहीं होते। आहाहा! यहाँ देखो न! यह क्या कहा ?

समस्त परद्रव्य का नहीं... छोड़ता आत्मा। आहाहा! इसमें देव आये, अरिहन्त आये, पंच परमेष्ठी आये, सिद्ध आये। जब तक परद्रव्य की ओर का लक्ष्य नहीं छूटता, तब तक उसे राग होगा। निमित्त राग नहीं कराता परन्तु निमित्त की ओर के झुकाव में राग हुए बिना नहीं रहता। और वह भी ऐसा बतलाया है न ? भाई! सातवीं गाथा में। रागी है, इसलिए राग होगा। परवस्तु का लक्ष्य करे, इसलिए राग होगा —ऐसा नहीं है। यह क्या सिद्धान्त कहा ? समझ में आया ? परद्रव्य का लक्ष्य करने से राग होवे तो भगवान तो तीन लोक को जानते हैं, तो उन्हें राग होना चाहिए। परन्तु प्रभु! तू रागी है, इसलिए तुझे परद्रव्य की ओर झुकाव होने पर, रागी है, इसलिए तुझे राग होगा। परद्रव्य का-निमित्त का लक्ष्य करता है, इसलिए राग होगा, ऐसा नहीं है। हैं ? आहाहा! शास्त्र में ऐसे न्याय भरे हुए हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! परन्तु समझ में आये ऐसी है। ऐ.. नन्दाभाई! पकड़ में आये ऐसी है न ?

मुमुक्षु : आपको इनकार कैसे किया जाए ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सादी बात है।

यह स्वद्रव्य है, प्रभु! इसमें पूर्ण पूर्णता पड़ी है। इसलिए इसे परद्रव्य के निमित्त के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। तो भी स्वद्रव्य का आश्रय लिया होने पर भी, सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ होने पर भी, निर्बलता के कारण निमित्त की ओर के झुकाव से नैमित्तिक दोष होगा और तब तक उसे नैमित्तिक का त्याग नहीं, परन्तु त्याग करने योग्य है। उसके श्रद्धा-ज्ञान में तो यह आना चाहिए। निमित्त की ओर के झुकाव का भाव, दोनों का त्याग करनेयोग्य है। आहाहा! भले मैं चौथे गुणस्थान में होऊँ या पाँचवें में, भले मुझे पर के आश्रय से राग हो और पर का आश्रय आवे, परन्तु श्रद्धा में इसे आना चाहिए कि जितना पर

में लक्ष्य जाता है, उतना राग होता है, वह छोड़ने योग्य है। आहाहा! ऐसी बातें। इसमें वाद-विवाद खड़ा करे, समाये ऐसा नहीं, प्रभु!

एक ओर राम, एक ओर गाँव—समस्त द्रव्य। समस्त द्रव्य में क्या बाकी रह गया? वीतराग की वाणी बाकी रह गयी? हैं? वे कहते हैं न? विद्यानन्दजी! वीतराग की वाणी निमित्त है, उससे ज्ञान नहीं होता, ऐसा माने नहीं, वह मिथ्यादृष्टि है। ऐसा मानते हैं। अरे..! प्रभु! आहाहा! समाज बेचारा साधारण है। समाज को विचार करने की शक्ति थोड़ी, सिर पर जो बैठा हो, वह जो कहे, वह किया करते हैं। वीतराग की वाणी ऐसा कहे, निमित्त है परन्तु उससे तो यहाँ ज्ञान होता है। उसके बदले कहे कि निमित्त से ज्ञान नहीं होता। आहाहा! भाई! यहाँ क्या कहते हैं? परद्रव्य में कौन सा बाकी रह गया? वीतराग की वाणी और साक्षात् वीतराग समवसरण में विराजते हैं, परन्तु प्रभु! तेरे द्रव्य से वे परद्रव्य हैं। जब तक तेरा परद्रव्य की ओर लक्ष्य जाएगा, तब तक उसका विकल्प उठेगा। इसलिए स्वद्रव्य के आश्रय से पूर्ण होने पर निमित्त-नैमित्तिक का सम्बन्ध छूट जाता है। निमित्त का ज्ञान नहीं छूटता। उस निमित्त का कुछ ज्ञान नहीं, ज्ञान तो अपना है। परन्तु निमित्त के आश्रय से यह जो राग होता है, वह राग अपना नहीं है। क्या कहा यह?

निमित्त परमात्मा है, पंच परमेष्ठी है, उनका ज्ञान हो। वह ज्ञान कहीं जाता नहीं। वह भी उनका ज्ञान नहीं। वह तेरी पर्याय का ज्ञान है और यह राग है, वह तेरा स्वभाव नहीं। निमित्त जो अनन्त पर है, उनकी ओर के आश्रय में जो राग होता है, वह दोष है। वह दोष छोड़ने योग्य है। ऐसा तो इसे पहले निर्णय करना चाहिए। आहाहा!

समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ... समस्त परद्रव्यों को दृष्टि में से नहीं छोड़ता। आहाहा! नहीं त्यागता **आत्मा उसके निमित्त से होनेवाले भाव को नहीं त्यागता।** छोड़ता नहीं। आहाहा! गजब टीका है न! ओहोहो! क्या इसकी गम्भीरता! अब ऐसे अमृतचन्द्राचार्य (उन्हें कहे) समयसार की टीका (करके) दुरुह कर डाला। अरे! बापू! भगवान! ऐसा रहने दे, बापू! स्पष्ट कर डाला है। एक-एक को स्पष्ट कर डाला है। आम हथेली में बतावे, ऐसा बताया है। आहाहा! सादी भाषा, सत् की पूरी दशा। आहाहा! प्रभु! तेरी सत् की पूरी दशा कब हो? कि समस्त परद्रव्य के निमित्त की ओर से

झुकाव छूट जाए तब। आहाहा! रहे, साधक हो, तब तक रहे, तो भी रहे वह नैमित्तिक दोष है, ऐसा तो तेरी दृष्टि में रहना चाहिए। नहीं तो उसे छोड़कर फिर सिद्ध हो, यह तो हो नहीं सकता। निमित्त की ओर के झुकाव का राग अच्छा है और ठीक है, वह मुझे कल्याण का कारण होगा—(ऐसा मानेगा वहाँ तक) तो उसे छोड़कर अन्दर में जा नहीं सकेगा। आहाहा! न्याय समझ में आता है? आहाहा! ऐसा उपदेश है। स्त्री, पुत्र, धन्धा और मकान तो कहीं रह गये। वे तो सब परद्रव्य हैं। उनके आश्रय से तो नैमित्तिक दोष होगा, होगा और होगा। वह तो पाप होगा। वह तो पाप दोष होगा और भगवान, पंच परमेष्ठी आदि के आश्रय से पुण्यभाव होगा। आहाहा! दोनों भाव का प्रत्याख्यान नहीं करता। यह दृष्टान्त (हुआ)।

और, 'अधःकर्म आदि पुद्गलद्रव्य के दोषों को आत्मा वास्तव में नहीं करता... क्या कहते हैं? वास्तव में मुनि है, वह अधःकर्मी आहार को नहीं लेता अर्थात् कि करता नहीं, ऐसा। लेता नहीं अर्थात् उसे करता नहीं। ले तो करता है, ऐसा कहा जाए। लेता नहीं। आहाहा! वास्तव में! **और, 'अधःकर्म आदि पुद्गलद्रव्य के दोषों को आत्मा वास्तव में नहीं करता...** करता नहीं का अर्थ क्या? वह तो आहार करनेवाला भी आहार को करता नहीं, परन्तु यहाँ करता नहीं अर्थात् क्या? कि उनके लिये जो आहार तैयार करे, उसे लेता नहीं। लेता नहीं अर्थात् करता नहीं, ऐसा। आहाहा! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

वास्तव में नहीं करता... अर्थात् मुनि है, वह उद्देशिक आहार और अधःकर्मी आहार लेता ही नहीं। उनको ऐसा नैमित्तिक भाव आता ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **वे परद्रव्य के परिणाम हैं...** वह तो परद्रव्य के परिणाम हैं। उन्हें लेना, वह तो दोष के परिणाम हैं। आहाहा! **उन्हें आत्मा के कार्यत्व का अभाव है;...** वह दोष आत्मा का कार्य है, इसका तो अभाव है। आहाहा! इसलिए अधःकर्मी क्रिया तो पर है, परन्तु उसे लेने का भाव, वह दोष का कार्य है। आहाहा! उस कार्य का तो मुनि को अभाव है। उस दोष के कार्य का उसे अभाव है। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बात दी है। ओहोहो!

इसलिए अधःकर्म और उद्देशिक पुद्गलकर्म मेरा कार्य नहीं है... अर्थात् कि मुझे लेने योग्य नहीं है, ऐसा। मेरा कार्य नहीं अर्थात् कार्य तो करनेवाला भी नहीं, है तो पर्याय उसकी। परन्तु मेरा कार्य नहीं अर्थात् मुझे लेने योग्य नहीं। मुझे लेनेयोग्य नहीं अर्थात्

मेरा कार्य नहीं, ऐसा। आहाहा! **क्योंकि वह नित्य अचेतन है,...** वह तो अचेतन है। लेने का दोष है, वह अचेतन है और वह वस्तु भी अचेतन है। **इसलिए उसको मेरे कार्यत्व का अभाव है।** आहाहा! मुनि ऐसा कहते हैं कि वह अध:कर्मी और उद्देशिक लेने का जो भाव है, वह दोष है और वह तो अकार्य है, मेरा कार्य नहीं। आहाहा! है? ऐसा.... विशेष आयेगा..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३५५, गाथा-२८६, २८७, श्लोक-१७८ रविवार, मगसर शुक्ल ६
दिनाङ्क - २५-११-१९७९

समयसार, भावार्थ है। २८६-२८७ का भावार्थ है। **यहाँ अध:कर्म और उद्देशिक आहार के दृष्टान्त से द्रव्य और भाव की निमित्तनैमित्तिकता दृढ़ की है।** इसका भी उसे त्याग नहीं है। यह दृष्टान्त दिया है, मुनि का दृष्टान्त है। उद्देशिक और अध:कर्मी आहार बना है, वह निमित्त है परन्तु उसे जो लेता है, उसे निमित्त का त्याग नहीं तथा निमित्त से हुए विकारी भाव का भी उसे त्याग-प्रत्याख्यान नहीं है।

अब कहते हैं **जिस पापकर्म से आहार उत्पन्न हो, उसे अध:कर्म कहते हैं,...** उस पापकर्म को ही अध:कर्म कहा जाता है। पाप से उसके लिये बनावे न? उस वस्तु को पापकर्म कहते हैं अथवा आहार को भी अध:कर्म कहा जाता है, आहार को भी अध:कर्मी कहने में आता है। दो बातें की। **जो आहार, ग्रहण करनेवाले के निमित्त से ही...** जो आहार, ग्रहण करनेवाले के निमित्त से ही। देखो न दृष्टान्त भी स्वयं साधु का दिया। **बनाया गया हो, उसे उद्देशिक कहते हैं, ऐसे (अध:कर्म और उद्देशिक) आहार का जिसने प्रत्याख्यान नहीं किया...** उद्देशिक और अध:कर्म आहार लेना जिसने छोड़ा नहीं।

उसने उसके निमित्त से होनेवाले भाव का प्रत्याख्यान नहीं किया... आहाहा! जो अध:कर्म आहार जो लेता है, उस निमित्त को छोड़ा नहीं और उसके निमित्त से होनेवाले भाव का भी उसके प्रत्याख्यान नहीं है। आहाहा! ऐसा तो दृष्टान्त (दिया है)। (अभी तो) साधु के लिये तो सब बनावे, आहार-पानी। यहाँ कहते हैं कि वह जिसने छोड़ा नहीं, उसे

उसका त्याग नहीं, प्रत्याख्यान नहीं, तथापि प्रत्याख्यान—त्याग माने वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा! उसके लिये बनाया हुआ उद्देशिक आहार ले, उसका उसे प्रत्याख्यान नहीं-त्याग नहीं, तथापि वह अपने को श्रावक या मुनि माने तो कहते हैं कि वह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

और जिसने... अब यहाँ सिद्धान्त है। **तत्त्वज्ञानपूर्वक उस आहार का प्रत्याख्यान किया है,...** अकेला उसके लिये न बनाया हुआ ले, वह तो बहुत होते हैं। हमारे गुरु सम्प्रदाय के थे। उनके लिये बनाया हुआ आहार-पानी ले नहीं परन्तु दृष्टि मिथ्यात्व (थी)। समझ में आया? उनके लिये बनाया हुआ आहार-पानी ले नहीं। एक आर्यिका ऐसा कहती, हम हमारे लिये बनाया हुआ लेते नहीं, हम त्यागी साधु हैं।

यहाँ तो तत्त्वज्ञानपूर्वक—सम्यग्दर्शनपूर्वक (की बात कहते हैं)। आत्मा ज्ञायक है, पूर्ण स्वरूप है, उसका अनुभव हो, तत्त्वज्ञान के अनुभवसहित विशेषरूप से स्थिरता करके उसका त्याग किया हो, उसे यथार्थ प्रत्याख्यान कहने में आता है। सम्यग्दर्शन बिना अधःकर्मी या उद्देशिक कदाचित् न ले, उसके लिये बनाया हुआ आहार-पानी न ले तो भी वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

देखो न, पाठ में ऐसी बात आ गयी थी, टीका में आ गयी थी। **तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ...** टीका में आ गया है। इस टीका की व्याख्या भावार्थ में डाली, अन्तिम लाईन है। अन्तिम लाईन, टीका की अन्तिम लाईन। तत्त्वज्ञानपूर्वक। यह यहाँ भावार्थ में डाला है। क्या कहा? यह सब प्रसंग तो हमारे बहुत बने हुए हैं। एक आर्यिका थी, वह कहे, हमारे लिये (बनाया हुआ) आहार नहीं लेते। हम तो बराबर साधु हैं। परन्तु दृष्टि का ठिकाना नहीं तो साधु कहाँ से आये? दृष्टि मिथ्यात्व है। देव-गुरु-शास्त्र जिसके मिथ्या हैं, उन्हें माने और उसके लिये बनाया हुआ आहार-पानी भले न ले तो भी वह मिथ्यादृष्टि अव्रती ही है। आहाहा! ऐसा सब परन्तु कहाँ परीक्षा करने जाए?

इसलिए **तत्त्वज्ञानपूर्वक...** ऐसा कहा न? ज्ञायक आत्मा ज्ञाता-दृष्टा आनन्दकन्द स्वरूप शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, ऐसी दृष्टि और अनुभव हुआ हो, वह जीव उसके लिये बनाये

गये आहार-पानी का त्याग करे, प्रत्याख्यान करे तो वह प्रत्याख्यान बराबर है। तत्त्वज्ञान -सम्यग्दर्शन बिना उसके लिये बनाया हुआ आहार-पानी न ले तो भी वह मिथ्यादृष्टि अविरति ही है। समझ में आया इसमें? आहा! ओहो!

टीका में आया था। टीका में अन्तिम लाईन इसमें है **तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ...** ऐसा टीका में है। उसकी-टीका की ही व्याख्या की है। अमृतचन्द्राचार्य ने टीका में डाला है कि तत्त्वज्ञान-सम्यग्दर्शन (पूर्वक)। आत्मा अत्यन्त निर्विकल्प—राग के भाव से रहित, पूर्ण स्वरूप शुद्ध चैतन्य दल है। जहाँ उसका ज्ञान और श्रद्धा नहीं है, वे जीव भले उनके लिये बनाये हुए आहार का त्याग करे और पानी न ले, इससे वे त्यागी नहीं कहलाते, इससे उन्हें प्रत्याख्यान नहीं कहा जाता। वे मिथ्यादृष्टि अविरति हैं। आहाहा! ऐसा है।

हमारे सम्प्रदाय में जो गुरु थे, वे उनके लिये बनाया हुआ नहीं लेते थे। बिल्कुल नहीं लेते थे। चार-चार कोस, पाँच-पाँच कोस का विहार करके आये हों तो भी स्वयं आहार लेने जाए और जहाँ से निर्दोष हो, वहाँ से ले। कहीं भी शंका पड़े कि, यहाँ हमारे लिये बनाया (है तो) ले नहीं। देव-गुरु-शास्त्र मिथ्या, उन्हें मानना और उस मान्यतासहित भले आहार-पानी उनके लिये बनाये हुए न ले। इससे यहाँ यह मूल मुद्दा डाला है। बाहर का त्याग कदाचित् हो, आहार-पानी आदि त्याग हो। उसके लिये बनाये हुए न ले और जंगल में बसता हो परन्तु तत्त्वज्ञान न हो तो उसे वह त्याग नहीं कहलाता। आहाहा! ऐसी बात है।

तत्त्वज्ञानपूर्वक उस आहार का प्रत्याख्यान किया है, उसने उसके निमित्त से होनेवाले भाव का प्रत्याख्यान किया है। सम्यग्दर्शनसहित, उसके लिये बनाये हुए आहार-पानी जिसने छोड़े हैं, उसका प्रत्याख्यान सच्चा है, उसका भाव सच्चा है। कहा न? उसके भाव का प्रत्याख्यान है। आहाहा! **उसने उसके निमित्त से होनेवाले भाव का प्रत्याख्यान किया है।** निमित्त से होते का अर्थ?—निमित्त से कुछ होता नहीं, उससे भी निमित्त के लक्ष्य से वह लूँ, ऐसा भाव आया न इसमें? वह निमित्त के लक्ष्य से, उस निमित्त से होते—ऐसा कहने में आया?

इस प्रकार समस्त द्रव्य को... पूर्ण द्रव्य को। आहाहा! एक ओर भगवान (आत्मा) पूर्ण द्रव्य है तथा एक ओर सब आत्मा और परमाणु। उन सब परद्रव्य की ओर

से लक्ष्य न छोड़े, तब तक उनकी ओर के भाव को, राग को नहीं छोड़ता। आहाहा! बहुत कठिन काम। दुर्लभ, दुर्लभ है भाई! लोगों ने अपनी कल्पना से सस्ता करके माना है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इस प्रकार समस्त द्रव्य और भाव को निमित्त-नैमित्तिकभाव जानना चाहिए। यह तो अधःकर्म आहार और उद्देशिक का दृष्टान्त दिया। (यह) निमित्त (और) नैमित्तिक का अत्याग। उसका निमित्त-निमित्त सम्बन्ध का दृष्टान्त लिया। इसी प्रकार एक आत्मा के अतिरिक्त सब परद्रव्यों की ओर में निमित्त का कुछ भी लक्ष्य रहे, तब तक समस्त निमित्तों का इसे त्याग नहीं है। आहाहा! ऐसा है। ग्रहण करे अर्थात् यह। परद्रव्य कहीं ग्रहण नहीं किया जा सकता। आहाहा! परन्तु परद्रव्य है, आत्मा के अतिरिक्त जितने परद्रव्य हैं, उन्हें अपना मानकर, अपने जानकर और लेता है **जो परद्रव्य को ग्रहण करता है, उसे रागादिभाव भी होते हैं,...** आहाहा! बहुत विस्तार। देव-गुरु-शास्त्र के ऊपर लक्ष्य जाए तो भी कहते हैं, राग होगा (क्योंकि) परद्रव्य है। यहाँ कहते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करे, पूजा करे तो उससे कल्याण होगा। इतना अधिक अन्तर है। क्या हो? मार्ग की रीति तो यह है।

एक ओर भगवान स्वद्रव्य का जितना आश्रय करे, उतना ही उसे धर्म होता है और जितना परद्रव्य का आश्रय करे, उतना उसे अधर्म होता है। यह सिद्धान्त है। आहाहा! समझ में आया? एक ओर भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान की मूर्ति प्रभु, वह तो समस्त द्रव्य को जानने-देखनेवाला जिसका स्वभाव है, वह भी पर के कारण नहीं। अपना ही स्वभाव पर का-अनन्त का जानना और देखना, ऐसा स्वभावी जो आत्मा, उसके आश्रय बिना; और आश्रय किया होने पर भी जितना अभी परद्रव्य के निमित्त का आश्रय रहे, उतना अभी उसे अत्याग और उसे आहार है। आहाहा! ऐसा है। इतना सब कब सीखने जाए? मार्ग ऐसा है, बापू!

वह उनका कर्ता भी होता है... क्या कहा? जब तक जितने अंश में आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य का आश्रय ले, उसके प्रमाण में उसे विकार भी होता है और उसके प्रमाण में उसे विकार का परिणमन भी होता है। ज्ञानी होवे तो परिणमन होने पर भी, उसका कर्ता

नहीं होता और अज्ञानी को परिणमन होने पर कर्ता होता है। इतना अन्तर। आहाहा! क्या कहा? फिर से, **समस्त द्रव्य और भाव को निमित्त-नैमित्तिकभाव जानना चाहिए। जो परद्रव्य को ग्रहण करता है, (स्वामीरूप से) उसे रागादिभाव भी होते हैं, वह उनका कर्ता भी होता है...** मिथ्यात्व है, तब तक उसका कर्ता भी होता है। पश्चात् तत्त्वज्ञान होने के बाद निमित्त का आश्रय जरा रहे और दोष भी हो परन्तु उसका कर्ता नहीं रहता, उसका जानने-देखनेवाला रहता है। समझ में आया? ऐसा उपदेश है।

और इसलिए कर्म का बन्ध भी करता है;... आहाहा! अज्ञानी परद्रव्य को अपना मानकर स्वामीरूप से उससे होनेवाले विकार का भी स्वामीरूप से होकर अज्ञानी कर्म बाँधता है। ज्ञानी (को) तत्त्वज्ञान की दृष्टि है, परन्तु जितना अभी स्व का आश्रय पूर्ण हुआ नहीं और पर का आश्रय रहा है, उतना परद्रव्य के निमित्त से अन्दर राग होता है परन्तु तो भी (उसका कर्ता नहीं होता)। परमार्थ से परिणमन है, इसलिए कर्ता कहा जाता है, परिणमता है, इसलिए कर्ता कहा जाता है परन्तु करनेयोग्य है, इस प्रकार से कर्ता नहीं हो सकता। आहाहा! समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : इसमें ही समझने योग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर से, जब तक तत्त्वज्ञान नहीं है, तत्त्व की दृष्टि नहीं है, तब तक तो समस्त परद्रव्य के निमित्त से, आश्रय से होते भाव का वह कर्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि है। परन्तु सम्यग्दृष्टि (कि जिसे) स्व के दर्शन हुए हैं, तत्त्व का भान हुआ है परन्तु तत्त्व का पूर्ण आश्रय अभी लिया नहीं, इतना अभी परसन्मुख में, निमित्त की ओर में आश्रय जाता है, उतना राग होता है। परिणमन की अपेक्षा से कर्ता कहा जाता है, परिणमन है, इसलिए (कहा जाता है) परन्तु कर्ताबुद्धि (अर्थात्) करनेयोग्य है, ऐसी बुद्धि उसे नहीं होती। समझ में आया इसमें? ऐसा है। आहाहा!

ऐसा धर्म कहाँ से निकाला? कोई कहे। निकाला कहाँ? यह तो अनादि का मार्ग है। सुना न हो और न समझ में आये, इसलिए मार्ग कहीं दूसरा हो जाएगा। आहाहा! भले दूसरे इनकार करें। आहाहा! वे तो यहाँ तक कहते हैं कि निमित्त के आश्रय से, वीतराग की वाणी के आश्रय से नैमित्तिक ज्ञान होता है, इससे इनकार करे, वह मिथ्यात्वी है और जितना

बाह्य त्याग करे, उतना पुण्यशाली वह त्याग कर सकता है। अरे! ऐसी बात। और समाज पूरा चूक जाता है। क्या हो?

यहाँ कहते हैं कि आत्मा के ज्ञान-भान बिना बिना जितना पूर्ण परद्रव्य का आश्रय है—निमित्त, इससे उसे वह मिथ्यात्वसहित विकार का कर्ता है। और सम्यग्दर्शन होने पर पूर्ण आश्रय अभी नहीं है (और जितना) पर में लक्ष्य जाता है, आश्रय होता है, उतना ही उस परिणमन की अपेक्षा कर्ता कहा जाता है; करने (योग्य है, ऐसी) बुद्धि की अपेक्षा से कर्ता नहीं है। आहाहा! कहो, बराबर समझ में आता है? आहाहा! ऐसा वस्तु का स्वरूप है। अरे! यह बात थी कहाँ? आहाहा! लाठी और बोटाद और पालीयाद और राणपुर चातुर्मास करते थे। यह सब क्रिया की बातें करते थे। आहाहा! यह करो और यह करो और यह करो और यह करो। मूल सम्यग्दर्शन क्या, यह चीज़ नहीं। आहाहा! मूल के बिना की बातें।

यहाँ कहते हैं कि मूल मिथ्यात्व जिसने तोड़ा नहीं, उसे तो सब देव-गुरु और शास्त्र तक, उन्हें स्वयं अपना माने, स्वामी होवे, इसलिए वह तो निमित्त सहित मिथ्यात्व है। आहाहा! है?

वह उनका कर्ता भी होता है और इसलिए कर्म का बन्ध भी करता है;... जितने अंश में आत्मा स्व का आश्रय छोड़कर पर के ऊपर लक्ष्य जाए, उतने अंश में विकारी भाव भी होता है और उससे बन्धन भी होता है। ज्ञानी हो तो भी बन्धन होता है। जितने अंश में परद्रव्य की ओर लक्ष्य जाता है, स्वभाव का पूर्ण आश्रय नहीं है, तब तक उसे बन्धन है। अज्ञानी (को) तो सर्वथा परद्रव्य की ओर ही आश्रय है। स्वद्रव्य की तो खबर भी नहीं। आहाहा! ज्ञानानन्द सहजानन्द तीन काल, समस्त परद्रव्य का वह ज्ञाता-दृष्टा है। वह मानता है कि समस्त परद्रव्य; स्वद्रव्य की खबर नहीं, इसलिए समस्त परद्रव्य वे सब मेरे हैं। एक भी दो, चार द्रव्य भी अपने माने, उसने पूरी दुनिया के द्रव्य अपने माने। आहाहा! क्योंकि यह आत्मा अन्दर ज्ञाता-दृष्टा है। समस्त परद्रव्य का जाननेवाला-देखनेवाला है। यह देव-गुरु-शास्त्र का भी वास्तव में तो यह जाननेवाला-देखनेवाला है। यह भी व्यवहार कहा जाता है। अपनी पर्याय को जानता है, ऐसा ही उसका स्वभाव है। अपने अस्तित्व में पर्याय है, अपने अस्तित्व में परद्रव्य तो नहीं। आहाहा! अपने ज्ञान की पर्याय के अस्तित्व में, मौजूदगी में पर तो नहीं, इसलिए पर को जानता है—ऐसा कहना, यह व्यवहार है। अपने

अस्तित्व में है, उसे जानना कहना, यह निश्चय है। आहाहा! कर्ता-भोक्ता तो ज्ञानी को है ही नहीं। अज्ञानी को अज्ञानी की पर्याय में भी परद्रव्य तो है नहीं, तथापि उस स्वद्रव्य की दृष्टि नहीं, इसलिए पर्याय में परद्रव्यपने का ही उसे मान्य है। परद्रव्य (कहकर) अभी टीका (में) आयेगा। मूल, परद्रव्य जिसका मूल है, ऐसा पाठ आयेगा। अर्थात् कि परद्रव्य जिसका मूल स्वामीपना है, ऐसा। कलश आयेगा, कलश। आहाहा!

जब आत्मा ज्ञानी होता है,... शुद्ध चैतन्य तीन काल, तीन लोक के समस्त द्रव्यों, उनके गुण और पर्याय का जाननेवाला-देखनेवाला है। मेरी अस्ति में उनके सम्बन्धी के ज्ञान को देखनेवाला-जाननेवाला (हूँ—ऐसा ज्ञान हुआ) **तब उसे कुछ ग्रहण करने का राग नहीं होता,...** तब उसे पर को अपना मानने का राग नहीं। ग्रहण का अर्थ यह। पर को अपना मानने का उसे राग नहीं है। **इसलिए रागादिरूप परिणमन भी नहीं होता...** इसलिए उसे राग-द्वेष आदि के परिणाम भी नहीं है। **और इसलिए आगामी बन्ध भी नहीं होता।** भविष्य में बन्ध, वह भी उसे नहीं है। **(इस प्रकार ज्ञानी परद्रव्य का कर्ता नहीं है।)** ऐसी बात है, भाई!

मुमुक्षु : परद्रव्य का करना नहीं तो रोटियाँ खाना या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन खाता है? कौन खा सकता है? रोटियों की क्रिया, यह दाढ़ की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। दाढ़ से रोटी के टुकड़े नहीं कर सकता। आहाहा! रोटी के टुकड़े को गले नहीं उतार सकता। अरे! अरे! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : पूरी दुनिया से उल्टा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा स्वद्रव्य भगवान के अतिरिक्त जितने परद्रव्य हैं, उन सबका वह ज्ञाता-दृष्टा है। किसी भी द्रव्य की एक समय की भी पर्याय, वह द्रव्य निकम्मा नहीं है कि उस पर्याय को यह करे। आहाहा! जगत के जितने द्रव्य हैं, उतने निकम्मे नहीं हैं, किसी समय निकम्मे नहीं हैं। वे निकम्मे नहीं है अर्थात् कार्यरहित नहीं हैं, अर्थात् कि पर्याय रहित नहीं है। जिस-जिस समय में उस-उस द्रव्य की पर्याय होती है, वह-वह कार्य उसका करता है। दूसरा द्रव्य उसका कार्य किस प्रकार करे? आहाहा!

मुमुक्षु : लड़के का कुछ करना या नहीं करना चाहिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़का कौन बड़ा करे? लड़का था कब? सुमनभाई का सुमनभाई था, उनका-रामजीभाई का था कब? कहो! वीरचन्दभाई! लड़के का करना या नहीं? रमणीकभाई का और बाद में उसके उस लड़के के लड़के। घर का पूछते हैं। आहाहा! किसका करे? बापू! लड़का कौन? स्त्री कौन? यह शरीर कौन? वाणी कौन? शरीर और वाणी वह परद्रव्य है। परद्रव्य के स्वामीरूप से होकर यदि काम करे, तब तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! बहुत कठिन पड़े। अभी तो प्रवाह दूसरा चला है। पूरी प्रवाह की लाईन बदल गयी है। आहाहा! क्या हो? प्रभु!

वीतराग सर्वज्ञदेव जिनेश्वरदेव तो यह हुकम है। परमेश्वर परमात्मा ऐसा उन्होंने तो तीन काल-तीन लोक देखे हैं। यह भी व्यवहार है। किसी का कुछ किया है, ऐसा है नहीं। शिष्य का भी किया है, गणधर का भी उन्होंने किया है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! उन्होंने उपदेश भी किया है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! उपदेश—वाणी तो जड़ है। समस्त परद्रव्य में यह आ जाता है। आहाहा! किसे करे? प्रभु! और वह पुद्गल उनकी वर्तमान पर्याय बिना के नहीं हैं। तथा आत्मा पर्याय बिना का नहीं है, वे पर्याय बिना के नहीं तो उनकी पर्याय इसकी पर्याय को (करे, ऐसा नहीं होता)। पर्याय बिना का नहीं है, इसकी पर्याय कैसे करे? आहाहा! ऐसा सुनना मुश्किल पड़े, ऐसा है। आहाहा!

कलश - १७८

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं, जिसमें परद्रव्य के त्यागने का उपदेश है:-

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्,
तन्मूलां बहुभाव-सन्तति-मिमा-मुद्धर्तुकामः समम्।
आत्मानं समुपैति निर्भर-वहत्पूर्णैक-सम्विद्युतं,
येनोन्मूलित-बन्ध एष भगवा-नात्मात्मनि स्फूर्जति ।।१७८।।

श्लोकार्थ : [इति] इस प्रकार (परद्रव्य और अपने भाव की निमित्त-नैमित्तिकता को) [आलोच्य] विचार करके, [तद्-मूलां-इमाम् बहुभावसन्ततिम् समम् उद्धर्तुकामः] परद्रव्यमूलक बहुभावों की सन्तति को एक ही साथ उखाड़ फेंकने का इच्छुक पुरुष, [तत् किल समग्रं परद्रव्यं बलात् विवेच्य] उस समस्त परद्रव्य को बलपूर्वक (-उद्यमपूर्वक, पराक्रमपूर्वक) भिन्न करके (-त्याग करके), [निर्भरवहत्-पूर्ण-एक-संविद्-युतं आत्मानं] अतिशयता से बहते हुए (धारावाही) पूर्ण एक संवेदन से युक्त अपने आत्मा को [समुपैति] प्राप्त करता है, [येन] कि जिससे [उन्मूलितबन्धः एषः भगवान् आत्मा] जिसने कर्मबन्धन को मूल से ही उखाड़ फेंका है, ऐसा वह भगवान आत्मा [आत्मनि] अपने में ही (आत्मा में ही) [स्फूर्जति] स्फुरायमान होता है।

भावार्थ : जब परद्रव्य की और अपने भाव की निमित्त-नैमित्तिकता जानकर समस्त परद्रव्यों को भिन्न करने में-त्यागने में आते हैं, तब समस्त रागादिभावों की सन्तति कट जाती है और तब आत्मा अपना ही अनुभव करता हुआ कर्म बन्धन को काटकर अपने में ही प्रकाशित होता है। इसलिए जो अपना हित चाहते हैं, वे ऐसा ही करें।।१७८।।

कलश - १७८ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं, जिसमें परद्रव्य के त्यागने का उपदेश है:- परद्रव्य को त्यागने का उपदेश का अर्थ (यह कि) परद्रव्य का स्वामीपना छोड़ने का उपदेश (करते हैं)। आहाहा! परद्रव्य का तो त्याग ही है। भगवान आत्मा अनन्त परद्रव्य का तो अभाव-स्वभावरूप है और वे द्रव्य भी इस द्रव्य के स्वभावरूप नहीं। तो अब फिर यह उनका क्या करे? वे इसका क्या करें? आहा! यहाँ कहे, परद्रव्य के त्यागने का। फिर इसमें से ले, छोड़ना, स्त्री छोड़ो, पुत्र छोड़ो, हरितकाय छोड़ो, खाना नहीं कन्दमूल छोड़ो।

यह कहेंगे गाथा में।

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्,
तन्मूलां बहुभाव-सन्तति-मिमा-मुद्धर्तुकामः समम्।

आत्मानं समुपैति निर्भर-वहत्पूर्णैक-सम्विद्युतं,
येनोन्मूलित-बन्ध एष भगवा-नात्मात्मनि स्फूर्जति ।।१७८।।

आहा! **जब परद्रव्य की और अपने भाव की निमित्त-नैमित्तिकता जानकर...** देखा! क्या कहते हैं? स्वद्रव्य भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु और परद्रव्य अत्यन्त भिन्न (है)। कर्म, वाणी, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, धन्धा, नौकर-चाकर, पैसा, कपड़ा, गहना, अलमारी, सन्दूक यह सब परद्रव्य है। आहाहा! इसका क्या करना? बाबा होवे तो ऐसा हो। बाबा ही है। परद्रव्य कहाँ अन्दर घुस गये हैं? आहाहा! समझ में आया? भाई! रमणीकभाई! ऐसी बात है। वहाँ कलकत्ता (में) मिले—ऐसी नहीं, हों! यह तुम्हारे पिता के पास से मिले, ऐसी नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। विशेषता आयेगी।

इस प्रकार (परद्रव्य और अपने भाव की निमित्त-नैमित्तिकता को)... परद्रव्य निमित्त और अपना विकारी भाव नैमित्तिक। निमित्त के सम्बन्ध में हुआ भाव, वह नैमित्तिक। जैसे कि शरीर निमित्त है और शरीर मेरा—ऐसा भाव हो, वह नैमित्तिक। पैसा है निमित्त, परन्तु पैसा मेरा है—ऐसा भाव नैमित्तिक है। सब्जी है, वह पर निमित्त, परन्तु उसे मैं खाता हूँ और उसे मैं पचाता हूँ और उसके टुकड़े करता हूँ—ऐसा जो नैमित्तिक भाव, वह विकार है। आहाहा!

मुमुक्षु : जीभ को दाँत नहीं तो चबाकर खाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं दाँत-फाँत (इसके नहीं हैं)। यह दाँत यहाँ से निकल गया हो तो फिर छूने नहीं देते। यह तो यहाँ पड़ा हो, तब तक रहता है। बाहर निकले तो उंहू...! छूना नहीं, छूना नहीं (ऐसा कहते हैं)। वीरचन्दभाई! यहाँ दाँत है, जब तक दाँत और दाढ़ है, तब तक दूधपाक, रोटी चबावे, सब करे, परन्तु निकल गया हो तो फिर कहे, उंहूं...! छूना नहीं। तुझे यह क्या हो गया? (दाँत) यहाँ था, तब मैं मानो चबा सकता हूँ और सब बाहर निकल गया तो भ्रश हो गया। क्या कहलाता है? ऐंठूं ऐंठूं। ऐठो हो गया। आहाहा! ऐसा है।

यह वीतराग का मार्ग पहले तो प्रगट समझना महामुश्किल है, बापू! और उसका फिर चारित्र का परिणमन, वह तो कोई अलौकिक बातें हैं। आहाहा! धन्य अवतार! धन्य

काल! **इस प्रकार (परद्रव्य और अपने भाव की निमित्त-नैमित्तिकता को) विचार करके,...** ऐसा कहा न? **'आलोच्य'** बराबर विचार करके। आहाहा! चाहे जो चीज़ (हो), सामने नाटक हो, देखने जाते हैं न नाटक? भर्तृहरि का वेश और पींगला का वेश... कहते हैं कि यह सब परद्रव्य है। उन्हें देखकर तुझे जो राग हो (कि) आहा! गजब वेश लाये! वह नैमित्तिक विकार है। ऐसे निमित्त-निमित्त सम्बन्ध को [**आलोच्य**] **विचार करके,...** आहाहा! यह वस्त्र भी ठीक से पहनकर, बराबर ठीक से पहनाये और ठीक रहे, ऐसा जो वस्त्र सम्बन्धी का लक्ष्य, वह निमित्त और उसके नैमित्तिक में विकार हो, वह नैमित्तिक अपनी पर्याय में। यह है, वह उसकी पर्याय में है और विकार होता है, वह आत्मा की पर्याय में है। ऐसा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध का विचार करके। छोटाभाई! ऐसा है। आहाहा! ऐसा वीतराग का मार्ग। लाखों लोगों को तो यह बैठना मुश्किल पड़े। बाहर की, व्यवहार की बातें होवे तो ओहोहो! प्रसन्न, प्रसन्न और वाह! वाह! (हो जाए)। अरे! प्रभु! वाह! वाह! तो तेरी होना चाहिए प्रभु! तू ज्ञाता-दृष्टा (है और) वह तो निमित्त है। उसका आश्रय करने से तुझे विकार होगा। उसका आश्रय छोड़कर जितना स्व का आश्रय करे, उतना निर्विकार होगा, यह वाह! वाह! है। आहाहा! आहाहा!

परद्रव्य... परद्रव्य में कोई बाकी रह गया? देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, मकान, पैसा, गहना, कपड़ा, इज्जत... आहाहा! सब परद्रव्य है। यह शरीर परद्रव्य है, कपड़ा परद्रव्य है, वाणी परद्रव्य है, यहाँ मन है (जो) विचार में निमित्त (होता है), वह परद्रव्य है। इन सब परद्रव्य का और... है? परद्रव्य का और अपने भाव का। परद्रव्य निमित्त है। निमित्त कराता नहीं परन्तु निमित्त के लक्ष्य से होता है, इसीलिए उसे निमित्त-नैमित्तिकपना विचार करके—(ऐसा कहा है)। आहाहा! यहाँ अब सिद्धान्त आया। यहाँ गड़बड़ उठती है।

[तद्-मूलां-इमाम् बहुभावसन्ततिम् समम् उद्धर्तुकामः] परद्रव्यमूलक... यहाँ पूरा विवाद उठता है। अर्थात् कि परद्रव्य जिसके स्वामीपने का मूल है। अपना स्वामीपना छोड़कर कोई भी रजकण मेरे हैं, ऐसा स्वामीपना (करता है), उस नैमित्तिक विकार में उसका स्वामीपना, वह निमित्त है। परद्रव्य इसे विकार का कारण नहीं है। परद्रव्य विकार का कारण (होवे तो) भगवान तो परद्रव्य देखते हैं। तीन काल-तीन लोक

देखते हैं। हैं ? आहाहा! **परद्रव्यमूलक...** अर्थात् कि विकार में निमित्त मूल है। निमित्त के लक्ष्य से विकार होता है और उस निमित्त का स्वामीपना जिसका मूल है, स्व का स्वामीपना जिसने छोड़ा है। आहाहा!

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, अस्तिरूप से-सत्रूप से-सत्तारूप से विराजमान है, उसकी सत्ता का पूर्ण संग्रह, अनन्त गुण का संग्रह है—ऐसा जो स्वद्रव्य, आहाहा! और परद्रव्य। है ? ऐसा विचार करके **बहुभावों की सन्तति को एक ही साथ उखाड़ फेंकने का इच्छुक... परद्रव्यमूलक...** अर्थात् कि स्वद्रव्य का आश्रय छोड़कर जितना परद्रव्य का आश्रय स्वामीपने / मालिकपने / मेरेपने करता है, ये मेरे हैं, मुझसे होता है, मुझसे रहते हैं, मेरे से टूटते हैं, मुझसे खण्डित होते हैं, आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य के किसी भी भाव को मुझसे रखा जाता है, मुझसे छोड़ा जाता है, मुझसे उसका उपयोग होता है—ऐसा जो परद्रव्य जिसका मूल है। आहाहा! ऐसा है। लड़का अच्छा होवे तो अपना माने नहीं ? लड़का यहाँ आवे। आहाहा! किसका लड़का और किसकी लड़की ? बापू! शरीर और वाणी भी जड़ के हैं। यह वाणी और शरीर जड़ के हैं। जिसे उनका स्वामीपना है, वह परद्रव्य जिसका मूल है। विकार में, नैमित्तिक में परद्रव्य मूल है, विकार में स्वद्रव्य मूल नहीं। आहाहा! समझ में आया ? कहो, झांझरीजी! है न अन्दर ? आहाहा!

भगवान स्वद्रव्य है और उसके अतिरिक्त दूसरे सब कर्म, वाणी, शरीर, मन, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, मकान, इज्जत, पैसा, कपड़े, देव-गुरु और शास्त्र, मन्दिर, भगवान के मन्दिर, ये सब परद्रव्य हैं। परद्रव्य जिसका मूल है परन्तु उस परद्रव्य का स्वामी होता है, वह जिसका—विकार का मूल है, विकार का मूल वह है। आहाहा! कर्म के कारण विकार होता है, ऐसा नहीं है। वह कर्म परद्रव्य में जाता है, निमित्त में जाता है। कर्म भी निमित्त में जाता है, वह तो निमित्त है परन्तु कर्म मेरा है—ऐसा जो मूल, परद्रव्य का मूल स्वामीपना।

परद्रव्यमूलक बहुभावों की सन्तति को... देखो! परद्रव्य के लक्ष्य से होती यह बहुभावों की सन्तति। सन्तति (अर्थात्) पुत्र-पौत्र, पुत्र-पौत्र आदि ऐसे होते हैं न ? इसी प्रकार विकार की सन्तति एक के बाद एक, पश्चात् एक के बाद एक विकार... विकार... आहाहा! ऐसा है। **परद्रव्यमूलक...** स्वद्रव्य जिसका मूल तो मोक्ष का है। स्वद्रव्य मूल तो मोक्ष का मूल है। वह विकार का मूल नहीं है। परद्रव्य का निमित्त विकार का मूल है।

विकार करता है, उसे मूल निमित्त कहा जाता है। परद्रव्य निमित्त है, इसलिए विकार होता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! गजब बात है। समझ में आया? विकारी भाव में चाहे तो मिथ्यात्व हो, राग हो, दया हो, विषय (हो), दया हो, भक्ति हो, पूजा हो, व्रत हो-इस विकार में मूल द्रव्य परद्रव्य का स्वामीपना है। ऐसे परद्रव्य के स्वामीपने से। **बहुभावों की सन्तति**... बहु विकारभाव की परम्परा। आहाहा!

जैसे डोरा सांधते हैं... क्या कहलाती है वह? पुणी। यन्त्र होता है न, यन्त्र? चरखा... चरखा! तुम्हारे नाम भी भूल जाते हैं। चरखा में एक के बाद एक पुणी सांधते हैं न? पुणी। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि परद्रव्य जिसका स्वामित्व है, ऐसी-ऐसी विकार की सन्तति, विकार की एक के बाद एक, एक के बाद एक उत्पत्ति। आहाहा! क्या आचार्यों ने थोड़े शब्दों में इतना समाहित कर दिया है! आहाहा! **बहुभावों की सन्तति... परद्रव्यमूलक बहुभावों की सन्तति**... अर्थात् परद्रव्य से होता है, ऐसा नहीं कहा। परद्रव्य जिसका मूल है, ऐसी यह सन्तति। परद्रव्य का लक्ष्य है, ऐसी यह बहुत भावों की सन्तति—विकार। उस निमित्त से तो विकार होता नहीं। तथा द्रव्य के—स्वद्रव्य के आश्रय से विकार होता नहीं।

पर्याय में, परद्रव्यमूलक बहुभावों की सन्तति को एक ही साथ उखाड़ फेंकने का... आहाहा! एक ओर प्रभु आत्मा पूर्णानन्द और परद्रव्य जिसका मूल है, उसकी जो सन्तति, निमित्त के आश्रय से होती विकार दशा। उसे जो उखाड़ डालना चाहता हो, नाश करना चाहता हो। आहाहा! **पुरुष, [तत् किल समग्रं परद्रव्यं बलात् विवेच्य] उस समस्त परद्रव्य को बलपूर्वक (-उद्यमपूर्वक, पराक्रमपूर्वक) भिन्न करके (-त्याग करके),**... भिन्न अर्थात् एकत्व माना था। भिन्न तो भिन्न ही है। आहाहा!

मुमुक्षु : लड़के-लड़की सब भिन्न हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : माना था, उसे भिन्न करके। आहाहा! समझ में आया? कुछ अभिन्न नहीं हो गया था। मान्यता में था कि यह मेरे, इतना। उस मान्यता को भिन्न करके। आहाहा! पहली बात तो यह है। यहाँ से धर्म की शुरुआत होती है। आत्मा के अतिरिक्त सभी समस्त परद्रव्यों को **'बलात्'**—पुरुषार्थ से। देखा! पुरुषार्थ से। अन्तर-सन्मुख के झुकाव के पुरुषार्थ से। स्वद्रव्य जो अनन्त गुण का धाम, उसकी ओर के पुरुषार्थ के बल

से। आहाहा! **भिन्न करके (-त्याग करके),...** भिन्न करके अर्थात् त्याग करके। अपने स्वभाव-सन्मुख होकर और पर की सन्मुखता का जो भाव था, उसे छोड़कर। पर का त्याग अर्थात् यह। जो पर के लक्ष्य से भाव था, वह स्व के लक्ष्य से भाव करके, पर के लक्ष्य को छोड़कर, उस राग के भाव को त्याग करके। आहाहा! जरा अटपटी बात है। इसमें से ऐसा निकालते हैं कि मूल द्रव्य, जिसका मूल द्रव्य है। विकार, जिसका मूल (पर) द्रव्य है, ऐसा।

[निर्भरवहत्-पूर्ण-एक-संविद्-युतं आत्मानं] अतिशयता से बहते हुए (धारावाही) पूर्ण एक संवेदन... आहाहा! परद्रव्य अनन्त, उनके कारण भाव की सन्तति थी, ऐसा कहते हैं। अनेक प्रकार के विकार थे। परद्रव्य अनन्त हैं तो उसके आश्रय से अनन्त प्रकार के विकार थे। उसे आत्मा के अन्तर बल द्वारा, स्वभाव से। आहाहा! **एक संवेदन से...** भगवान ज्ञाता-दृष्टा का एक संवेदन। बस, एकरूप, वह स्वयं एक है। **अतिशयता से बहते हुए (धारावाही) पूर्ण एक संवेदन...** अर्थात् अन्दर में जाने का प्रवाह एकाकार करते-करते एकरूप संवेदन हो जाना। आहाहा! भाषा अनजानी, भाव अनजाने।

संवेदन से युक्त... (संवेदन) से युक्त। पर के निमित्त से होते भाव से मुक्त और स्व अकेले संवेदन से युक्त। ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव से युक्त और पर के निमित्त से होते विकार से मुक्त। **ऐसे अपने आत्मा को...** ऐसे अपने आत्मा को प्राप्त करता है। **ऐसे अपने आत्मा को प्राप्त करता है,...** लो! आहाहा! सर्व परद्रव्यों के आश्रय से होते भाव में परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर और उससे होते भाव को छोड़कर, धारावाही आत्मा में संवेदन में आकर एकरूप संवेदन होने पर आत्मा को प्राप्त करता है। वह आत्मा को पाता-अनुभव करता है। आहाहा! बात तो बहुत अच्छी आयी। सूक्ष्म, बहुत सूक्ष्म।

अपने आत्मा को... भाषा कैसी आयी, देखी! आहाहा! **अपने आत्मा को प्राप्त करता है,...** पर आत्मा पर में रहे। पर आत्मा का लक्ष्य भी जहाँ छूट जाता है। अकेला आत्मा अन्दर में स्वयं को प्राप्त करता है। **कि जिससे जिसने कर्मबन्धन को मूल से ही उखाड़ फेंका है...** कर्म के बन्धन को मूल से उखाड़ डाला। **ऐसा वह भगवान**

आत्मा... आहाहा! **ऐसा वह भगवान आत्मा अपने में ही (आत्मा में ही) स्फुरायमान होता है।** स्वयं अपने में प्रगट होता है। पर्याय में (प्रगट होता है)। जो स्वभाव में था, वह अन्तर पुरुषार्थ से पर्याय में अपने में **स्फुरायमान होता है।** जैसे कमल खिले, वैसे भगवान आत्मा पर्याय में स्फुरायमान होता है। इसका नाम धर्म और मोक्ष का मार्ग है। (विशेष कहेंगे....) (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३५६, श्लोक-१७८, १७९ रविवार, मगसर शुक्ल १२
दिनाङ्क - ३०-११-१९७९

समयसार, १७८ कलश का भावार्थ। **भावार्थ :- परद्रव्य की और अपने भाव की निमित्त-नैमित्तिकता जानकर...** देखो! निमित्त आया न! निमित्त का अर्थ एक दूसरी चीज़ है। अध:कर्मी आदि या कोई भी चीज़, वह निमित्त है। उसका लक्ष्य होता है, उससे नैमित्तिक विकार होता है। विकार निमित्त से नहीं होता। विकार निमित्त को स्पर्श नहीं करता; विकार को निमित्त स्पर्श नहीं करता, तथापि निमित्त कहलाता है। वह निमित्त और नैमित्तिक। परद्रव्य के लक्ष्य से होनेवाले विकार को यहाँ नैमित्तिक कहा जाता है। इसमें बड़ा घोटाला उठता है। निमित्त-नैमित्तिक है न? परन्तु है अर्थात् क्या? निमित्त से होता है? निमित्त कर्ता है? निमित्त कर देता है? निमित्त तो नैमित्तिक को स्पर्श भी नहीं करता। निमित्त को तो खबर भी नहीं। जड़ हो, उसे (खबर भी नहीं।)

मुमुक्षु : आठ कर्म के अभाव को निमित्त कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अभाव का निमित्त है परन्तु यह तो सद्भाव का निमित्त, यह तो वर्तमान सद्भाव का निमित्त है। अभाव का (निमित्त) तो एक साधारण बात है। यहाँ तो निमित्त सद्भाव है। दूसरी चीज़ स्वद्रव्य के अतिरिक्त है, उसके ऊपर लक्ष्य जाने से जो नैमित्तिक विकार होता है, उसे नैमित्तिक कहते हैं और जो लक्ष्य जाता है, उसे निमित्त कहते हैं परन्तु निमित्त उसे कराता नहीं है, निमित्त, नैमित्तिक को स्पर्श नहीं करता; नैमित्तिक, निमित्त को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! कठिन काम।

कर्म में भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कर्म निमित्त है और जीव नैमित्तिक है। विकार नैमित्तिक जीव करता है, तब उस कर्म को निमित्त कहा जाता है। निमित्त कराता नहीं है। विकार निमित्त को स्पर्श नहीं करता; निमित्त है, वह विकार को स्पर्श नहीं करता। उसमें-निमित्त-नैमित्तिक में बड़ा घोटाला है न?

परद्रव्य की... अर्थात् एक स्वद्रव्य के अतिरिक्त सभी परद्रव्य, हों! एक स्वद्रव्य के अतिरिक्त जितने परद्रव्य हैं, उन परद्रव्य का और अपने भाव का। द्रव्य के साथ तो कुछ सम्बन्ध नहीं, निमित्त-निमित्त सम्बन्ध भाव के साथ है। चन्दुभाई! द्रव्य के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। द्रव्य की पर्याय के साथ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, द्रव्य-गुण के साथ सम्बन्ध है नहीं। इसलिए कहा है कि **परद्रव्य की और अपने भाव की...** आहाहा! **निमित्त-नैमित्तिकता जानकर...** निमित्त-नैमित्तिकपना जानकर **समस्त परद्रव्यों को भिन्न करने में-त्यागने में आते हैं,...** उसे त्यागा जाए, इसका अर्थ (यह कि) लक्ष्य छोड़ा जाए। परद्रव्य का त्याग-ग्रहण तो आत्मा में है ही नहीं। त्यागने में आवे, इसका अर्थ परसन्मुख का लक्ष्य छोड़ने में आवे, ऐसा इसका अर्थ है। आहाहा! परद्रव्य के त्याग-ग्रहण से तो शून्य है। आत्मा परद्रव्य के त्याग-ग्रहण से नहीं, वह शून्य है। आहाहा! राग के त्याग-ग्रहण से भी द्रव्य तो शून्य है। द्रव्य जो वस्तु आत्मतत्त्व है, वह भी राग और विकार के ग्रहण-त्याग से शून्य है। पर्याय में ग्रहण-त्याग है। पर का ग्रहण-त्याग नहीं, द्रव्य में ग्रहण-त्याग नहीं। पर्याय में ग्रहण-त्याग है। इसलिए अभाव लिया है। अपने भाव में, ऐसा। समझ में आया?

परद्रव्य की और अपने भाव की निमित्त-नैमित्तिकता... नैमित्तिकपना। निमित्त के ऊपर लक्ष्य जाने से विकार हो, वह नैमित्तिकपना। **जानकर समस्त परद्रव्यों को भिन्न करने में...** आने पर। समस्त परद्रव्य। भावार्थ है न? १७८ का भावार्थ। **समस्त परद्रव्यों को भिन्न करने में आने पर...** भिन्न तो है परन्तु लक्ष्य छोड़ने पर, इसका नाम भिन्न किये जाने पर। समझ में आया? स्वद्रव्य और परद्रव्य भिन्न ही है। एक दूसरे में अत्यन्त अभाव है, परन्तु पर के ऊपर लक्ष्य है, उस लक्ष्य को छोड़े, उसे भिन्न किये जाने पर - ऐसा कहा जाता है। आहाहा!

समस्त (कहा तो) समस्त में देव-गुरु और शास्त्र भी आ गये। समस्त द्रव्य अर्थात् स्वद्रव्य के अतिरिक्त समस्त परद्रव्य। कर्म, शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत, देव-गुरु और शास्त्र। इन सभी **समस्त परद्रव्यों को भिन्न करने में-त्यागने में आते हैं,...** लो! यहाँ तो त्याग किये जाने पर, ऐसा कहा। परन्तु भाषा क्या हो? एक ओर कहे, परद्रव्य का त्याग-ग्रहण आत्मा में है ही नहीं। समझाना किस प्रकार? त्याग किये जाने पर अर्थात् परसन्मुख का लक्ष्य छोड़ने में आने पर है। यह तो सूक्ष्म बात है न!

भिन्न करने में-त्यागने में आते हैं, तब समस्त रागादिभावों की सन्तति कट जाती है... निमित्त की ओर का लक्ष्य छोड़ता है, तब आत्मा में विकारी भाव कट जाते हैं, वे विकारीभाव उत्पन्न नहीं होते। वे कट जाते हैं अर्थात् यह (अर्थात् उत्पन्न नहीं होते)। आत्मा स्वद्रव्य का आश्रय लेने से, परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ने से उसे विकारी भाव जो उत्पन्न होते थे, वे उत्पन्न नहीं होते, उसे कट जाता है—ऐसा कहने में आता है। आहाहा! यह राग है, इसे काटूँ—ऐसा है उसमें अन्दर? मात्र स्वभाव का आश्रय लेने से जो पर के लक्ष्य से उत्पन्न होता विकार, वह उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वह कट जाता है—ऐसा कहने में आता है। ऐसी बातें हैं। ऐसी-ऐसी सूक्ष्म-सूक्ष्म बातें। दया पाले और व्रत करे और भक्ति करे और पूजा करे। आहाहा!

प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, उसके गुण भी स्वतन्त्र है और पर्याय विकारी-अविकारी करने में भी स्वतन्त्र है। विकारी या अविकारी (पर्याय) करने में स्वतन्त्र है। वह विकारी पर्याय भी षट्कारकरूप से परिणमती हुई स्वयं से होती है। वह कर्ता-कर्म स्वयं से होती है। वे समझे कि निमित्त अर्थात् लक्ष्य जाता है, इसलिए निमित्त कहा जाता है। आहाहा!

कट जाती है... लो! कट जाता है। राग था, (वह) कट जाता है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि जहाँ स्वद्रव्य का आश्रय लिया, वहाँ परद्रव्य का लक्ष्य छूट गया, इतना विकार हुआ नहीं, वह विकार कट गया—ऐसा कहने में आता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। समझे बिना सामायिक, प्रौषध और प्रतिक्रमण (करे)। क्या तत्त्व है, कहाँ दृष्टि देनी है, कहाँ से हटाना है और कहाँ लगाना है? (इसकी तो खबर नहीं)। क्योंकि अनन्त द्रव्य हैं। तेरे अतिरिक्त भी अनन्त द्रव्य हैं। इसलिए अनन्त में से हटाकर एक में—द्रव्य में

लानी है। आहाहा! इसमें तो अनन्त द्रव्य की प्रतीति आयी, अनन्त द्रव्य की ओर का लक्ष्य था, उसे छोड़ा—यह आया और स्वद्रव्य का आश्रय भी आया। तब विकार नहीं हुआ तो उसे कट गया है, ऐसा कहने में भी आया। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

और तब आत्मा अपना ही अनुभव करता हुआ... अर्थात् कि परद्रव्य की ओर का लक्ष्य और आश्रय तथा अवलम्बन को छोड़कर। आलम्बन कहो, आश्रय कहो या लक्ष्य कहो। ऐसा लक्ष्य इसे (करना है) वहाँ कहाँ आलम्बन देता है? 'आलम्बन' शब्द प्रयुक्त होता है। १४ बोल है न? उसमें आलम्बन (शब्द) बहुत प्रयोग किया है। समयसार नहीं? १४ बोल अन्तिम। पशु... पशु... एकान्ती। कलश (है)। एकान्ती पर का आलम्बन लेता हुआ। उसमें १४ बोल में बहुतों में आलम्बन शब्द पड़ा है। आलम्बन का अर्थ पर का लक्ष्य है। वहाँ दूसरा क्या? आलम्बन क्या है? आहाहा! भारी सूक्ष्म बात, भाई!

डोरी होती है, एक डोरी। इसे नीचे से चढ़ना हो तो डोरी की ऐसे मुट्ठी बाँधकर चले तब चढ़े। यहाँ कहते हैं कि ऐसा नहीं है। उस मुट्ठी में वह डोरी पकड़ में नहीं आयी, डोरी को मुट्ठी ने स्पर्श ही नहीं किया। इस दुनिया से विरुद्ध है। यह चढ़ते हैं न मंजिल पर? देखो न सीढ़ियाँ। ऐसी सीढ़ियाँ छोटी हो तो मोटी डोरी रखते हैं न? डोरी रखते हैं। उस डोरी को स्पर्शता भी नहीं, कहते हैं। और पैर जो हैं, वे सीढ़ियों को स्पर्श नहीं करते। वे सीढ़ियाँ जो चढ़ता जाता है, वह सीढ़ियों को स्पर्श नहीं करता और पैर ऊँचा होता है अपने आप स्वयं से; आत्मा से नहीं। ऐसी सूक्ष्म बातें।

स्वतन्त्रता का ढिंढ़ोरा है। द्रव्य स्वतन्त्र, गुण स्वतन्त्र, पर्याय स्वतन्त्र तीनों स्वतन्त्र सत् है। सत् है, इसलिए स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र है, इसलिए तू तेरा काम कर सकता है। पर के ऊपर लक्ष्य जाए तो विकार करे और स्व के ऊपर लक्ष्य जाए तो अविकारी हो। एक ही बात है। आहाहा! **आत्मा अपना ही अनुभव करता हुआ...** निमित्त के ऊपर से दृष्टि हटने पर, आत्मद्रव्यस्वभाव, वह दृष्टि में आने पर उसका ही अनुभव करना रहा। समझ में आया? आहाहा! इतना तो इन्होंने भावार्थ किया है। पाठ में तो है परन्तु पण्डित जयचन्द्रजी ने इतना भावार्थ किया है, कहो! गृहस्थ ने!

अपना ही अनुभव... अपना ही...'ही' रखा है। निमित्त समस्त परद्रव्य की

ओर से लक्ष्य छोड़ा तो जरा भी पर का लक्ष्य रहा नहीं, अकेला आत्मा का अवलम्बन रहा। आहाहा!

अपना ही अनुभव करता हुआ कर्म बन्धन को काटकर... आहाहा! कर्म के बन्धन को स्पर्श नहीं करता, बन्धन करे नहीं, बन्धन को नहीं रखता, बन्धन को नहीं तोड़ता। परन्तु निमित्त से समझाना है, वह किस प्रकार समझावे? भाषा का व्यवहार हो, तत्प्रमाण समझाया जाए न? **बन्धन को काटकर अपने में ही प्रकाशित होता है।** जो निमित्त के लक्ष्य से विकार में प्रकाशता था, विकार की प्रसिद्धि में था, अपने अतिरिक्त परद्रव्य के लक्ष्य से विकार में प्रसिद्धि में था, वह परद्रव्य के लक्ष्य को छोड़कर स्वद्रव्य के आश्रय में आया, वह चैतन्य के प्रकाश से प्रसिद्धि में आया। समझ में आया इसमें? इसका नाम धर्म। अपने चैतन्य के प्रकाश में (आया)। (पहले) प्रकाश पर में रुका था, ऐसा कहते हैं। आहाहा! चैतन्य के प्रकाश में आया। **इसलिए...** ऐसी वस्तु की स्थिति है, इसलिए, ऐसा। इस प्रकार ही वस्तु की स्थिति की मर्यादा है। **इसलिए जो अपना हित चाहते हैं,...** जो अपने आत्मा का हित चाहता है, **वे ऐसा ही करें।** वह ऐसा करो। आहाहा! संक्षिप्त तो संक्षिप्त तो बहुत कहा। अब अन्तिम कलश रहा। १७९।

कलश - १७९

अब बन्ध अधिकार को पूर्ण करते हुए उसके अन्तिम मंगल के रूप में ज्ञान की महिमा के अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(मन्दाक्रान्ता)

रागादीना-मुदय-मदयं दारयत्कारणानां,
कार्यं बन्धं विविध-मधुना सद्य एव प्रणुद्य।
ज्ञानज्योतिः क्षपित-तिमिरं साधु सन्नद्ध-मेतत्,
तद्बद्यद्वत्प्रसर-मपरः कोऽपि नास्यावृणोति।।१७९।।

श्लोकार्थ : [कारणानां रागादीनाम् उदयं] बन्ध के कारणरूप रागादि के उदय को [अदयम्] निर्दयतापूर्वक (उग्र पुरुषार्थ से) [दारयत्] विदारण करती हुई, [कार्यं विविधम् बन्धं] उस रागादि के कार्यरूप (ज्ञानावरणादि) अनेक प्रकार के बन्ध को [अधुना] अब [सद्यः एव] तत्काल ही [प्रणुद्य] दूर करके, [एतत् ज्ञानज्योतिः] यह ज्ञानज्योति- [क्षपिततिमिरं] कि जिसने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश किया है वह-[साधु] भलीभाँति [सन्नद्धम्] सज्ज हुई, [तद्-वत् यद्-वत्] ऐसी सज्ज हुई, कि [अस्य प्रसरम् अपरः कः अपि न आवृणोति] उसके विस्तार को अन्य कोई आवृत नहीं कर सकता।

भावार्थ : जब ज्ञान प्रगट होता है, रागादिक नहीं रहते, उनका कार्य जो बन्ध वह भी नहीं रहता, तब फिर उस ज्ञान को आवृत करनेवाला कोई नहीं रहता, वह सदा प्रकाशमान ही रहता है।।१७९।।

इति बन्धो निष्क्रान्तः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ बन्धप्ररूपकः सप्तमो-ऽङ्कः।

टीका : इस प्रकार बन्ध (रंगभूमि से) बाहर निकल गया।

भावार्थ : रंगभूमि में बन्ध के स्वांग ने प्रवेश किया था। जब ज्ञानज्योति प्रगट हुई कि तब वह बन्ध स्वांग को अलग करके बाहर निकल गया।

सवैया तेईसा

जो नर कोय परै रजमाहिं सचिक्कण अंग लगै वह गाढै,
त्यो मतिहीन जु रागविरोध लिये विचरे तब बन्धन बाढ़ै;
पाय समै उपदेश यथारथ रागविरोध तजै निज चाटै,
नाहिं बँधै तब कर्मसमूह जु आप गहै परभावनि काटै।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में बन्ध का प्ररूपक सातवाँ अंक समाप्त हुआ।

कलश - १७९ पर प्रवचन

रागादीना-मुदय-मदयं दारयत्कारणानां,
कार्यं बन्धं विविध-मधुना सद्य एव प्रणुद्य।
ज्ञानज्योतिः क्षपित-तिमिरं साधु सन्नद्ध-मेतत्,
तद्बध्यद्वत्प्रसर-मपरः कोऽपि नास्यावृणोति।।१७९।।

आहाहा! यह बन्ध अधिकार में अन्तिम कलश है।

श्लोकार्थ :- [**कारणानां रागादीनाम् उदयं**] **बन्ध के कारणरूप रागादि...** नया जो बन्ध होता है, उसका कारण राग और द्वेष तथा पुण्य और पाप आदि, दया-दान आदि, यह बन्ध का कारण है। परमाणु का बन्धन है, वह स्वतन्त्र है। उस काल में उसके परमाणु में वह बन्धन होने की योग्यता से वह बन्धन हुआ, परन्तु उसे निमित्त कारण है, उसकी बात यहाँ की। आहा! **बन्ध के कारणरूप रागादि के उदय को...** उसके प्रगट होने को [**अदयम्**] **निर्दयतापूर्वक (उग्र पुरुषार्थ से)...** अथवा परमात्मप्रकाश में लिया है (कि) अपने बन्धु को मारता है। क्योंकि अनादि का इसके साथ है। बाँधव रूप से यह दूसरे भाई तो अमुक एक भव रहे और यह तो अनादि से कर्म का सम्बन्ध है। ऐसा बाँधव, ऐसा जो बन्धुरूपी बाँधव, उसे ज्ञानी बाँधव को मार डालता है, छेद डालता है। वह बाँधव का मारनेवाला है। आहाहा! समझ में आया? अनादि का जो कर्म बन्धन साथ में है, अनादि का। यह भाई कुटुम्ब तो पच्चीस-पचास-सौ वर्ष (रहे), और दूसरे भव में दूसरे, तीसरे भव में तीसरे। यह बन्धन तो अनादि से ऐसा का ऐसा है नया... नया... नया... नया... नया... यह बन्धन है, उसे बन्धुरूप से गिनकर, साथ में रहनेवाला गिनकर, बन्धु को छेदनेवाला आत्मा है, बन्धु को मारनेवाला आत्मा है, (ऐसा कहा)।

मुमुक्षु : ज्ञानी ऐसे निर्दय होते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न, निर्दय है। इस प्रकार से। आहाहा! वहाँ परमात्मप्रकाश में यह अर्थ किया है, निर्दय है, निर्दय। सगा बन्धु! अनादि का सम्बन्ध—साथ में (रहे), उसे तोड़ डाला एकदम। अपने में जहाँ दृष्टि देता है, वहाँ छूट जाता है। ऐसा निर्दय है।

अनादि से साथ में रहनेवाले को एक समय में तोड़ डालता है। आहाहा!

मुमुक्षु : कर्म तो उपकारी है, वे जीव का उपकार करनेवाले हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपकार करनेवाले नहीं, उपकार करनेवाले भी नहीं, कुछ करनेवाले नहीं। परद्रव्य है। यह भाषा आती है, (बाकी) कुछ करनेवाले नहीं हैं। वह तो परद्रव्यरूप से है। उस परद्रव्य को स्पर्श भी नहीं करता। उसे खबर भी नहीं कि हम कर्म हैं या नहीं? उसे खबर नहीं कि हमारे ऊपर लक्ष्य करके जीव विकार करता है। यह तो उसे खबर भी नहीं और हमारा लक्ष्य छोड़कर हमारा नाश करता है, ऐसी उसे खबर नहीं। यह तो वस्तु की स्थिति है। वस्तु का यह स्वभाव है कि पर के ऊपर लक्ष्य करने से बन्धन होता है, स्व के ऊपर लक्ष्य करने से बन्धन छूट जाता है। आहाहा! ऐसा काम है। ऐसा कठिन धर्म। वे तो व्रत करे, सामायिक करे, प्रौषध करे, प्रतिक्रमण करे, हो गया, लो! मिथ्यात्व गये बिना सामायिक, प्रौषध थे कब तुझे? मिथ्यात्व का रंग तो अन्दर चढ़ गया है पूरा। इसको मैं करूँ, इसको मैं करूँ। आहाहा! पर की दया पालूँ और पर को मार सकूँ, पर को जिला सकूँ—ऐसे भाव तो पड़े हैं। यह तो मिथ्यात्वभाव है। मिथ्यात्वभाव में सामायिक कैसी? आहाहा! कठिन काम है, भाई! मार्ग कोई ऐसा है। यह वीतरागमार्ग में है, बाकी इसके अतिरिक्त कहीं है नहीं। आहाहा!

निर्दयता पूर्वक (उग्र पुरुषार्थ से)... फिर स्पष्टीकरण किया न? ऐसा कि धीरे-धीरे नहीं, ऐसा। इसका अर्थ ऐसा है। धीरे... धीरे... और धीरे... धीरे... धीरे... धीरे... नहीं। एकदम गुलाँट खाने पर, जैसे पर के ऊपर लक्ष्य है, वह गुलाँट खाने पर पूर्ण द्रव्य पर दृष्टि स्थिर होने पर कर्म का निर्दय रीति से तोड़ डालता है। जरा सा अंश भी रहने नहीं देता। आहाहा!

कर्म छूटे तो आत्मा निर्मल हो सकता है, ऐसा नहीं है—ऐसा सिद्ध करना। स्वयं अपने पुरुषार्थ से स्वभाव की सम्हाल लेते हुए भगवान चिदानन्द प्रभु, स्व-अस्ति सत् सत्ता वस्तु है। वह वस्तु है तो महा अनन्त गुण से भरपूर तत्त्व है। उसमें अनन्त पुरुषार्थ है, अनन्त ज्ञान है, अनन्त आनन्द है। उस अपने द्रव्य की सम्हाल लेने से कर्म वस्तु टूट जाती है। आहाहा! अपवास करे और इतने अपवास करे, इसलिए निर्जरा हो जाए, धूल भी

नहीं होती। वह सब लंघन है। यह अपवास करते हैं न? वर्षीतप करते हैं, अपवास करते हैं, रात्रिभोजन नहीं करते, और नकोरडा (निर्जल उपवास करे), लंघन है। अभी मिथ्यात्व किसे कहना (इसकी खबर नहीं)। लंघन समझे न? इसमें कुछ लांघन कहते होंगे? लंघन, आहाहा!

जाति की खबर नहीं होती कि चैतन्य कौन अन्दर है? महाप्रभु है, परमेश्वर है, भगवत्स्वरूप है, प्रभु है। आहाहा! उस प्रभु का प्रभु कोई है ही नहीं जगत में। स्वयं प्रभु स्वतन्त्र है। आहाहा! अपने जैसे अनन्त प्रभु भले हों, परन्तु सब प्रभु स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नहीं है और दूसरे प्रभु के कारण अपनी प्रभुता प्रगट होती है, ऐसा भी नहीं है। अपनी प्रभुता अपने आश्रय से ही प्रगट होती है। आहाहा! वह क्रियाकाण्ड से प्रगट नहीं होती। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, वह तो सब क्रियाकाण्ड राग है, पुण्य है, संसार है, आहाहा! कठिन काम। कठिन लगे न फिर?

यहाँ तो कहते हैं कि यह निर्दय रीति से विदारती ज्ञानज्योति। ज्ञानज्योति प्रभु चैतन्य, ज्ञान के प्रकाश का पूर, नूर—तेज, अकेला ज्ञानप्रकाश से भरपूर भगवान अरूपी, उसके ऊपर नजर पड़े बिना निधान दिखता नहीं। विद्यमान चीज़ है, उसे अविद्यमान कर डाली है। विद्यमान चीज़ है, वही विद्यमान एक ही है। दूसरी चीज़ के कारण वह नहीं है। दूसरे परमेश्वर अनन्त हो गये, हुए, उनके कारण नहीं, स्वयं ही अपनी विद्यमान चीज़ अस्ति तत्त्व है, सत्ता तत्त्व है, मौजूदगीवाला भाव-तत्त्व है। ऐसे भाव के आश्रय से... आहाहा!

उनके उदय को **विदारण करती हुई, उस रागादि के कार्यरूप (ज्ञानावरणादि) अनेक प्रकार के बन्ध को...** आहाहा! भाषा देखी? **अब...** [**अधुना**] बाद में करूँगा, कल करूँगा, बाद में करूँगा, (ऐसा नहीं)। यदि तुझे यह रुचता हो (तो) रुचिकर चीज़ को वायदा नहीं होता। जिसकी जिसे रुचि, उसका वायदा नहीं होता, कि अभी यह बाद में करूँगा, बाद में। ऐसा कहते हैं। आहाहा! इसलिए कहा [**अधुना**] **अब** [**सद्यः एव**] **तत्काल ही... अब तत्काल ही...** वापस यह भी साथ में लिया। **अब तत्काल ही दूर करके,...** इस बन्धन की सन्तति को दूर करके। आहाहा!

अपने स्वभाव का (आश्रय लेकर), ज्ञानानन्द आनन्दस्वरूप भगवान पूर्ण वीर्य,

पूर्ण शान्ति, पूर्ण वीतराग, उसके स्वभाव की सावधानी से तुरन्त ही—अभी ही... आहाहा! **दूर करके,...** थोड़ा ऐसा कर और पश्चात् यह कर और पश्चात् यह कर—ऐसा यहाँ वायदा नहीं किया। आहाहा! इस भव में इतना कर और दूसरे भव में पूरा करना, ऐसा भी नहीं कहा। आहाहा! दिगम्बर आचार्यों के वचन पुरुषार्थ (प्रेरक) हैं। श्रीमद् कहते हैं न, श्रीमद्? दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण रहस्य को समझा जा सकता है। तीव्र वचन! श्वेताम्बर की शिथिलता के कारण रस ठण्डाता गया। विपरीतता बढ़ती गयी। आहाहा!

अपने स्वभाव-सन्मुख होकर **तत्काल ही दूर करके,...** [**एतत् ज्ञानज्योतिः**] **यह ज्ञानज्योति...** ज्योति क्यों कही? जैसे यह अग्नि है न? यह ज्योति है, वह दीमक को जला डालती है। लकड़ी को तो जलावे, वह तो कठिन है, उसे जलावे। यह तो दीमक को जैसे जलावे... आहाहा! दीमक समझ में आती है? इतने छोटे सफेद जीव होते हैं। बहुत कोमल (होते हैं)। ऐसी धूप-गर्मी लगे, वहाँ मर जाते हैं। मैंने देखे हैं, एक बार बाहर गये थे। कितने ही निकले थे परन्तु सूर्य की धूप लगी, वहाँ घुल जाए, मर जाए। बहुत पोचे होते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि सब कर्म-फर्म पोचा-पोचा... यह क्या कहा यह? दीमक-दीमक की भाँति है। आहाहा! वह लोहा और लकड़ी नहीं। आहाहा! तू प्रभु है, परमेश्वर है, आहा! तुझमें अनन्त-अनन्त पुरुषार्थ भरा है। आहाहा! अनन्त आनन्द भरा है, अनन्त शान्ति पड़ी है, प्रभु! तेरी अनन्त का पार न आवे, इतनी शक्तियाँ अन्दर पड़ी है। उस शक्ति के बल से अभी भी उस दीमक की भाँति सबको जला डाल, दूर कर दे। आहाहा!

ज्ञानज्योति कि जिसने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश किया है... अज्ञान अर्थात् राग का कण रहने नहीं दिया। आहाहा! राग अज्ञान है, राग में ज्ञान नहीं, राग में ज्ञान नहीं। चाहे तो दया, दान का राग हो, व्रत का राग हो परन्तु वह अज्ञान है। अज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान नहीं। उसमें ज्ञान का अभाव है। चैतन्यज्योति ज्ञान की मूर्ति प्रभु आत्मा चैतन्य के प्रकाश का पुंज, उसके आश्रय से कर्मबन्धन को तोड़ डाल, तोड़ डाल। आहाहा!

अन्धकार का नाश किया है... आहाहा! राग कुछ जानता नहीं, ऐसे को नाश करके ज्ञानप्रकाश किया है। आहाहा! राग चाहे जो राग होओ, तीर्थंकरगोत्र बँधे ऐसा राग हो परन्तु वह राग अज्ञान है। अज्ञान अर्थात् राग में ज्ञान नहीं है, राग जानता नहीं है, राग

अन्धकार है। आहाहा! भगवान ज्ञान ज्योति है, राग अन्धकार है। ज्ञानज्योति के समक्ष अन्धकार टिक नहीं सकता। आहाहा!

ऐसा कहकर यह कहा कि उसे नाश करने का हमने भले कहा, परन्तु जहाँ ज्ञानज्योति प्रगट होती है, वहाँ अन्धकार—राग रहता ही नहीं, अन्धकार होता ही नहीं। आहाहा! उसका नाश करना, ऐसा करना कहकर अन्तिम योगफल ऐसा कहते हैं। **ज्ञानज्योति...** आहाहा! है न, [**एतत् ज्ञानज्योतिः**] [**क्षपिततिमिरं**] **क्षपिततिमिरं**— तिमिर अर्थात् अज्ञान, तिमिर अर्थात् अन्धकार का जिसने नाश किया है। आहाहा!

भलीभाँति... आहा! **सज्ज हुई,...** [**साधु**] साधु शब्द पड़ा है न? साधु अर्थात् भले प्रकार से। अच्छी रीति से सज्ज करके। ज्ञानज्योति को बराबर उज्ज्वल जैसी है, वैसी प्रगट करके। आहाहा! ज्ञानज्योति को सज्ज करके, [**तद्-वत् यद्-वत्**] **ऐसी सज्ज हुई, कि...** आहाहा! ज्ञान चैतन्यज्योति भगवान अन्दर (विराजता है)। एक और गाँव और एक ओर राम। एक ओर तीन काल, तीन लोक के द्रव्य और एक ओर ज्ञानस्वरूप भगवान। सबको एक समय में जान सके, इतना ताकतवाला तत्त्व है। आहाहा!

बाहर की कोई भी चीज़, रुपवान शरीर से लेकर वाणी, मन, बाह्य चीज़ स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, कपड़े, गहने, मकान में कुछ भी इसे अधिकता लगे (तो) यह अन्ध है। अधिक—बड़ा भगवान है, चैतन्य है, उसकी अधिकता न भासित होकर उसकी विस्मयता में अधिकपने में घिर गया। आहाहा! यह दुकान के ठाठ चलें, घर के घर में विवाह हो, लो! आहाहा! ठाठ-बाट। देखो न! यह विवाह है न? उस पूनमचन्द के पुत्र का। मुम्बई। बीस लाख की तो एक मोटर लाये हैं। एक मोटर बीस लाख की। कितने ही पैसे, लाखों, कितने ही लाखों विवाह में खर्च करनेवाले हैं। कितने ही लाखों! आहाहा! हम कितने बड़े और कितने थे, किसी ने किया नहीं, ऐसा काम हमने किया—ऐसा माने। आहाहा! संसार ऐसा है। पैसा है। पैसे बहुत करोड़ों हैं। चार-पाच करोड़ रुपये हैं। पहला-पहला लड़का, इसलिए इज्जत (रखने के लिये खर्च करे)। वह मोटर में बैठकर यहाँ मुम्बई स्टेशन बैठाने लाये थे। वह मोटर लाये। कितने की है? कि बीस लाख की। एक मोटर बीस लाख की। पागल ही हो या दूसरा क्या हो? ऐसे-ऐसे गहने, ऐसे कपड़े, दस-

दस हजार की एक-एक साड़ी हो। आहाहा! कोट हो पाँच-पाँच हजार, दस-दस हजार के। जरी भरे हुए और हीरा के। मार डाले। भगवान तीन लोक का नाथ, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, उससे कुछ भी दूसरी चीज़ में विस्मयता आवे, आश्चर्य लगे, वह आत्मा को घात डालता है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : पुण्य के उदय से आवे तो क्या करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : आवे, न आवे तो उसके घर में रहा। यहाँ किसके पास आता है? यहाँ आता है? आत्मा में आता है? आत्मा में आता है पैसा?

मुमुक्षु : पुण्य आत्मा के नसीब से आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दुनिया पूरी फेरफार। ओहोहो! बाहर की चमक और बाहर के शृंगार को देख-देखकर लोग आ..हा..हा..! (करे)। तीन लोक का नाथ अन्दर विराजता है, जिसकी एक समय की पर्याय की कीमत नहीं हो सकती। वह इस दुनिया की पर्याय की कीमत करे, स्वयं को भूले। आहाहा! क्या करती है दुनिया?

यह तो कहते हैं, भगवान ज्ञानज्योति भली प्रकार से सज्ज करके। है? [**क्षपिततिमिरं**] और [**साधु**] होकर। भली रीति से —साधु अर्थात् अच्छी, भली। ज्ञान को भली रीति से सज्ज करके। **ऐसी सज्ज हुई, कि...** आहाहा! [**अस्य प्रसरम् अपरः कः अपि न आवृणोति**] **उसके विस्तार को अन्य कोई आवृत नहीं कर सकता।** उसके विस्तार को अब कोई आवृत्त नहीं कर सकता। आहाहा! अन्त में भारी मांगलिक रखा है। एकदम बन्ध का अभाव। बन्ध अधिकार में बन्ध का अन्तिम अभाव। कहने का आशय कहीं बन्ध को समझाना ही अकेला नहीं है, बन्ध को समझाकर बन्ध का अभाव करने की बात है। आहाहा! यह हड्डियाँ और चमड़ी, इसमें वह दिखायी नहीं देता। सवेरे प्रश्न पूछा नहीं? लड़का पूछता था न? कोई लड़का था। यह आत्मा क्यों ज्ञात नहीं होता। ऐसा।

मुमुक्षु : 'परेश' 'परेश'

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ का?

मुमुक्षु : जामनगर का परेश जयसुखभाई का पुत्र।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, छह वर्ष का था एक। छोटा था, छोटा। आत्मा अन्दर क्यों ज्ञात नहीं होता ?

मुमुक्षु : अन्दर देखते हैं तो अन्धकार दिखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा, ज्ञात नहीं होता, ऐसा कौन जानता है ? ज्ञात नहीं होता, ऐसा जानता कौन है ?

मुमुक्षु : जिसका जानने का स्वभाव हो वह।

पूज्य गुरुदेवश्री : वही जाननेवाला वही है। छह वर्ष का छोटा था। आहाहा!

अरे! ऐसा भगवान! पूर्ण बन्धरहित, अबन्ध जिसका स्वभाव / स्वरूप। कहते हैं, उसका आश्रय करने से बन्ध का पूर्ण छेद होकर वह ज्ञानज्योति ऐसी प्रगट होती है, कि जिसे फिर से अब कोई आवरण नहीं करे। है ? **विस्तार को अन्य कोई आवृत नहीं कर सकता।** विस्तार हुआ, उसे अब कोई आवृत्त नहीं कर सकता। उसमें ऐसा करके ऐसा भी रखा है कि आत्मा जहाँ प्रकाशमान पूर्ण प्रगट हुआ, मोक्ष जाए और फिर किसी समय अवतार धारण करे, अनन्त काल में फिर अवतार धारण करे, ऐसा कहते हैं न कितने ही ? वह बात भी मिथ्या है। यह तो हुआ मोक्ष, वह तो चना भुना सो भुना, भुनने से उगेगा नहीं और खाने से मिठास देगा।

मुमुक्षु : चने को सेंका सो सेंका।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेंका वह सेंका। आहाहा!

ऐसी ज्ञानज्योति **सज्ज हुई,...** आहाहा! **अन्य कोई आवृत नहीं कर सकता।**

भावार्थ :- जब ज्ञान प्रगट होता है,... राग से भिन्न पड़कर मैं चैतन्यमूर्ति हूँ, ऐसा जब (ज्ञान) प्रगट करता है। मैं हूँ या नहीं ? सत्ता-अस्तिरूप वस्तु है या नहीं ? उस चीज़ को है, ऐसा जानता है, उस जाननेवाले की अस्ति है या नहीं ? यह चीज़ है, यह सब है, उसे जानता है, उस जाननेवाले की अस्ति में ही ज्ञात होता है कि यह नहीं जानता, उसमें यह ज्ञात होता है ? जाननेवाले की अस्ति में यह ज्ञात होता है। यह ज्ञात होता है, वह उसमें ज्ञात नहीं, वास्तव में तो वह ज्ञान ज्ञात होता है। आहाहा! वाक्य-वाक्य में अन्तर। धर्म महँगी

चीज़ है, धर्म कोई साधारण चीज (नहीं है)। पूरे दिन धन्धा करे, दो घड़ी सुनने जाए या दो घड़ी सामायिक कर ले या दो घड़ी भगवान की पूजा कर ले, हो गया धर्म, जाओ! धूल भी धर्म नहीं। यह धर्म कैसे होता है, इसकी भी अभी खबर नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **जब ज्ञान प्रगट होता है, रागादिक नहीं रहते,...** आहाहा! विकृत अवस्था का राग, वह जिसमें नहीं रहता। अविकृत अवस्था है, वह प्रगट हो जाती है। **उनका कार्य जो बन्ध वह भी नहीं रहता,...** राग का कार्य बन्ध है। राग नहीं रहता, फिर बन्ध नहीं होता। आहाहा! देखो! 'बन्ध अधिकार' बताते हुए साथ में बन्ध के अभाव का बतलाया। यह बन्ध तब उसने जाना कहलाये कि बन्ध से पृथक् पड़कर जाने, तब बन्ध को जाना कहलाये। पश्चात् अत्यन्त पृथक् पड़े, तब मोक्ष हो। आहाहा! ऐसा उपदेश अब। बातें वे सुनते, ऐसा करें और दया पालन की और इसने व्रत पालन किये और इसने अपवास किये और इतने रात्रिभोजन नहीं किये और इतने निर्जल उपवास किये, इससे तपस्या हुई और फिर इसे निर्जरा.... ऐसी बातें सुने। धूल में भी (धर्म नहीं है)। वह तो सब संसार की बातें हैं। आहाहा!

यह जो राग है, चाहे तो शुभराग हो, उसका कार्य तो बन्ध है। शुभराग होवे तो भी... वह स्वयं भावबन्ध है न? भावबन्ध है तो द्रव्यबन्ध होता है। **नहीं रहता,... उनका कार्य जो बन्ध...** राग नहीं, तब उसका कार्य जो बन्ध है, वह रहता नहीं, **तब फिर उस ज्ञान को आवृत करनेवाला कोई नहीं रहता, वह सदा प्रकाशमान ही रहता है।** चैतन्य ज्योति, जलहल ज्योति, सादि-अनन्त प्रकाशमय ऐसा का ऐसा अनन्त आनन्द का अनुभव करती हुई रहती है। तब उसने बन्ध का अभाव किया। आहाहा!

टीका :- इस प्रकार बन्ध (रंगभूमि से) बाहर निकल गया। लो!

भावार्थ :- रंगभूमि में बन्ध के स्वांग ने प्रवेश किया था। जब ज्ञानज्योति प्रगट हुई कि तब... अन्धकार नहीं रहता। **तब वह बन्ध स्वांग को अलग करके...** जहाँ ज्ञान का प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकार नहीं होता; इसी प्रकार जहाँ चैतन्यप्रकाश प्रगट हुआ, वहाँ बन्ध नहीं रहता। (स्वांग को) **अलग करके बाहर निकल गया।**

'जो नर कोय परै रजमाहिं सचिक्कण अंग लगै वह गाढै,...' जिस मनुष्य

ने शरीर में तेल लगाया हो और रजकणवाली जगह में वह नाचे या रहे (तो) **अंग लगै...** वहाँ उसे चिकनाई के कारण रज (धूली) लगती है। शरीर के कारण नहीं, चिकनाई के कारण (धूल लगती है)। तेल हो, मक्खन मलमल... क्या कहलाता है वह? मलहम-मलहम। मलहम लगाया होता है। **सचिक्कण अंग लगै वह गाढै,...**

त्यो मतिहीन जु रागविरोध लिये विचरे तब बन्धन बाढ़ै;... उन राग-द्वेष के कारण बन्धन होता है और बन्धन के कारण **मतिहीन जु रागविरोध लिये विचरे तब बन्धन बाढ़ै;...** तब बन्धन बढ़े वापस। जहाँ राग करे, वहाँ बन्धन बढ़े। आहाहा!

पाय समै उपदेश यथारथ... परन्तु यथार्थ अवसर में जब सच्चा उपदेश मिले। आहाहा! **पाय समै...** अवसर—ऐसा कोई काल मिला कि उसे यथार्थ उपदेश मिले, यथार्थ उपदेश मिले, यथार्थ। उपदेश तो मिलता है परन्तु यथार्थ उपदेश मिले। **रागविरोध तजै...** तब राग और द्वेष। विरोध अर्थात् द्वेष, दोनों को तजे। **निज चाटै,...** निज का अनुभव करे। राग—विरोध तजकर निज का अनुभव करे, **चाटै,...** चाटे अर्थात् अनुभव करे। आहाहा! ऐसी बातें हैं। राग विरोध का-दुःख का अनुभव करता था, उसे टालकर आत्मा का अनुभव किया। अब अनुभव को चाटे अर्थात् अनुभव करे। राग-द्वेष को चाटता था, अनुभव करता था। उस राग-द्वेष रहित होकर आत्मा का अनुभव करे। इसका नाम मोक्ष का मार्ग और मोक्ष है। मोक्ष के मार्ग में आनन्द का अनुभव होता है। बन्धमार्ग में दुःख का अनुभव है। अनादि संसारी दुःखी प्राणी है। यह करोड़पति और अरबोंपति सब पापी-दुःखी, पापी-दुःखी है। आहाहा!

मुमुक्षु : पापी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा नहीं था? कहा था न एक बार? यह पैसा मिलता है, वह पुण्य के कारण, परन्तु पैसा स्वयं परिग्रह है। चौदह प्रकार का अन्तरंग परिग्रह और दस प्रकार का बाह्य परिग्रह (ऐसा) चौबीस प्रकार का परिग्रह (है), तो यह (पैसा) परिग्रह में है, पाप में। मिला है पुण्य से, परन्तु है पाप। आहाहा! जगत से उल्टा है। आहाहा! सब कहे, पुण्यशाली है। दस करोड़ रुपये, पाँच करोड़ रुपये, पच्चीस करोड़ रुपये। यहाँ कहते हैं, पापी है। क्योंकि वह परिग्रह है और परिग्रह है, वह पाप में होता है।

अन्तर परिग्रह मिथ्यात्व, अव्रत, अज्ञान (और) बाह्य परिग्रह दस प्रकार। खेत, पैसा आदि दस, खेतवत्थु आता है न? वे चौबीस परिग्रह पाप है। इसलिए उसे पाप में वृद्धि हुई। वह मानता है कि हम पुण्यशाली हैं। दूसरे भी ऐसा कहे, पुण्यशाली कितने! देखो! आहाहा! दस-दस लाख महीने में पैदा करते हैं। महा बड़े पुण्यशाली हैं! कोई रास्ते में नहीं आया था? लुहाणां, लुहाणां नहीं? बहुत करोड़ का। मुम्बई में एक लोहाणा का था न कुछ? बहुत करोड़ रुपये हैं। रास्ते में कोई कहता था, बहुत करोड़, बहुत करोड़। बहुत करोड़ों की आमदनी। लोग मानो कि आहाहा! अधिक पैसा, तो अधिक पाप। आहाहा! उल्टा है, बापू!

यहाँ तो यह कहते हैं **रागविरोध तजै निज चाटै, नाहिं बँधै तब कर्मसमूह...** फिर उसे कर्मसमूह नहीं बँधते। **जु आप गहै परभावनि काटै।** अपना अनुभव करे। आप अर्थात् आत्मा, उसे ग्रहे-पकड़े। चैतन्यस्वरूप को पकड़े और पर को छोड़े। है न? **परभावनि काटै।** अपने को पकड़े और पर को काटे, तब बन्धन रहित होकर, तब सुखी हो। बाकी सब दुःखी और सब दुखिया के सरदार हैं। पैसेवाले और सब करोड़ों, अरबोंपति सब भिखारी-रंक हैं, माँगनेवाले हैं। पैसा लाओ... पैसा लाओ... पैसा लाओ... मांगनेवाले... मांगनेवाले भिखारी! कुछ मर्यादा भी नहीं होती। लाओ... लाओ... लाओ... लाओ... शास्त्र में वरांका कहा है। वरांका अर्थात् भिखारी। रांक है। सन्तोष ही नहीं अन्तर में लक्ष्मी भरी है, उसकी खबर नहीं होती। अन्तर आनन्द-लक्ष्मी भरी है, उसकी खबर नहीं होती। इस धूल की लक्ष्मी से स्वयं को बड़ा मानता है, वह भिखारी है। **आप गहै परभावनि काटै।** अपना अनुभव करे और पर को काटे, लो।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में बंध का प्ररूपक सातवाँ अंक समाप्त हुआ। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)